विषय सूची

पाठ्यक्रम परिचय

एम. ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम का यह प्रथम पाठ्यक्रम है। हिन्दू अध्ययन की अवधारणा एवं स्वरूप इस पाठ्यक्रम में सम्पूर्ण विषयवस्तु का समावेश है। हिन्दू क्या है? इसके प्राचीन और अभिनव दोनों पक्षों का वर्णन प्रथम खण्ड में प्रस्तुत है, जिसमें प्राकृत, पालि एवं लोकसाहित्य में हिन्दू विषयक तथ्यों का वर्णन किया गया है। मनुष्य की स्वदृष्टि,स्वधर्म और समाज, राष्ट्र एवं जगत् से उसके सम्बन्ध का हिन्दू विश्वदृष्टि के अनुरूप वर्णन द्वितीय खण्ड में प्रस्तुत है। भारत का अध्ययन कर उसकी अवधारणा, समझ को आधुनिक समय में लोक से समक्ष प्रस्तुत करने वाले कतिपय प्रमुख व्यक्तियों, जैसे तिलक, गांधी, मदमोहन मालवीय, टैगोर, क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, राजगोपालाचारी, धर्मपाल इत्यादि, का परिचय एवम् उनके अवदान का वर्णन तृतीय खण्ड में प्रस्तुत किया गया है। विश्व की भारत से इतर सभ्यताओं ने प्राचीन समय से आधुनिक समय तक भारत को किस दृष्टि से देखा और जानाध इस विषय पर ग्रीक, रोमन, चीनी, अरबी–फारसी तथा यूरोपीय वृतान्तों एवम् साहित्य के तथ्यों को चतुर्थ खण्ड में वर्णित किया गया है। पश्चिम ने किस दृष्टि से भारत का अध्ययन किया और भारत को किस प्रकार विश्व में प्रस्तुत किया ध इस सन्दर्भ में मिशनरी साहित्य, इन्डॉलाजी, साम्राज्यवादी विमर्श, भारतीय ज्ञान परम्परा एवं ग्रन्थों पर पाश्चात्य दृष्टि इत्यादि का वर्णन पंचम खण्ड में प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ खण्उ में मार्क्सवादी दृष्टिकोण, संरचनावादी दृष्टिकोण, प्राच्यवाद, तुल्वात्मक– ऐतिहासिक अध्ययन, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा उत्तर आधुनिकतावाद आदि विमर्श की पश्चिमी विधियों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है। प्रवासी हिन्दुओं ने किस प्रकार धर्म एवं भारतीयता को अपने जीवन में उपस्थित रखा ध सप्तम खण्ड में इन प्रवासी समूहों के धर्म, संस्कृति, पहचान, उनके साहित्य, राष्ट्र्वाद आदि के सन्दर्भ में वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

उक्तानुसार हिन्दू अध्ययन की अवधारणा स्वरूप नामक इस पाठ्यक्रम के सात खण्डों में कुल 30 शीर्षकों के भीतर समाहित विषयवस्तु का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप हिन्दू संकल्पना के प्राचीन एवम् आधुनिक सन्दर्भ, हिन्दू विश्वदृष्टि, राष्ट्र् की संकल्पना, प्रमुख भारत–विद् और उनके अवदान, भारत से इतर सभ्यताओं का भारत पर विमर्श, आधुनिक पश्चिमी दृष्टि में भारत, पश्चिमी विमर्श की दृष्टियॉं, प्रवासी– हिन्दू एवम् उनकी भारतीयता, संस्कृति इत्यादि इन सभी विषयों का स्पष्ट वर्णन करने में सक्षम होंगे।

खण्ड 1
हिन्दू की संकल्पना

खण्ड 1 परिचय

एम.ए. हिन्दू कार्यक्रम के प्रथम पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड मे आपका स्वागत है। इस पूरे खण्ड में चार इकाईयों के माध्यम से हिन्दू संकल्पना को स्पष्ट किया गया है। हिन्दू की संकल्पना इस खण्ड का नाम है। हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम का यह आरम्भिक खण्ड है। इसी के दृष्टिगत सबसे पहले हिन्दू की अवधारणा को प्राचीन साहित्य से समझने का प्रयास किया गया। इसके अलावा लोकसाहित्य और अभिनव दृष्टिकोण में हिन्दू की स्थिति को देखा गया है। प्रथम इकाई हिन्दू संकल्पना के प्राचीन सन्दर्भ में आप वैदिक प्रमाणों के साथ–साथ पौराणिक एवं महाकाव्य कालिक साहित्य के माध्यम से हिन्दू को जानगें। प्राकृत पालि के साहित्य में भी हिन्दू संकल्पना का अध्ययन करने के लिए द्वितीय इकाई का विषय प्रस्तुत है। लोक में प्रचलित कथाओं, गीतों, नाटकों, मुहावरों के साथ–साथ लोक संस्कृति के सभी पक्षों में हिन्दू की व्याप्ति का वर्णन तृतीय इकाई में किया गया है। सम्पूर्ण विश्व में हिन्दू विषयक विचार–विमर्श को देखते हुए नवीन संकल्पनाओं के लिए उपस्थित अभिनव दृष्टिकोण के अनुसार इस खण्ड की चौथी एवं अन्तिम इकाई में हिन्दू संकल्पना के अभिवन दृष्टिकोण को वर्ण्यविषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उक्तानुसार आप चार इकाइयों के माध्यम से हिन्दू संकल्पना के प्राचीन एवं अभिनव स्वरूप की व्याख्या करने में सक्षम हो जाएंगें।

इकाई 1 हिन्दू : संकल्पना के प्राचीन सन्दर्भ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

हिन्दू अध्ययन के प्रथम पाठ्यक्रम की इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- हिन्दू विषयक वैदिक सन्दर्भ को बता सकेंगें
- हिन्दू से सम्बन्धित अन्य प्राचीन सन्दर्भों का परिचय दे सकेंगें।
- हिन्दू शब्द किसका वाचक है? इसका विशलेषण कर सकेंगें।
- हिन्दू राष्ट्र विषयक अवधारणा को स्पष्ट कर पायेंगें।
- 'आर्यावर्त' और 'भारत' की तथ्यपरक व्याख्या बता सकेंगें।
- हिन्दू शब्द की संकल्पना को बता सकेंगें।

1.1 प्रस्तावना

वस्तुतः भारत के किसी भी ज्ञान–विज्ञान का मूल वेद है। कोई भी संकल्पना प्रमाण के रूप में वेद में ही ढूढ़ी जाती है। प्रश्न यह उठता है कि क्या हिन्दू अथवा हिन्दू विषयक शब्दों का उल्लेख वेद में मिलता है?इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान मानते हैं कि हिन्दू शब्द वेद में नहीं है अतः यह सम्प्रत्यय नया है। कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दू शब्द भले ही सीधे–सीधे अनुपलब्ध हो किन्तु एक भौगोलिक तथा वंशावली के सम्प्रत्यय के रूप में उपस्थित है। इसके उत्तर के लिए हम वैदिक मनीषा की ओर जाते हैं तो पाते हैं कि, कहीं पर इन शब्दों का उल्लेख देशवाचक है और कहीं पर गुणवाचक। ऋग्वेद के आठवें मण्डल में इसका

उदाहरण देखा जा सकता है–

य ऋक्षादंहसो मुचद्यो वार्यात् सप्त सिन्धुषु।
वधर्दासस्य तुविनृम्ण नीनमः।।

यहाँ पर बताया गया कि हे इन्द्र आप हमें विकट मानसिक पापों से मुक्त करते हैं। यही कारण है कि हम इस आर्य भूमि सप्तसिन्धु देश में सुख और सम्पन्नता पूर्वक रह रहें हैं। आप से प्रार्थना है कि दुष्ट और अनाचारी लोगों का वध करें।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में इस तरह कि बातें मिलती हैं। सप्तसिन्धु शब्द इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध है जैसे–ऋग्वेद में पाँच अन्य स्थलों पर भी सप्त सिन्धु आया है। इसी प्रकार अथर्ववेद में चतुर्थ काण्ड के द्वितीय अनुवाक् (छठे सूक्त) का दूसरा मन्त्र हैः

यावती द्यावा पृथिवी वरिम्णा
यावत सप्त सिंधवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं,
तामितो निरवादिषम्।।

अर्थात् इस सप्त सिन्धु देश के सम्पूर्ण विस्तार में तथा समस्त् पृथ्वी और द्यौ लोक में विषाक्त वाणी का अभाव हो। विष से रहित वाणी हो। विषाक्त वाणी को सर्वत्र दूर ही रखा जाय।

इस प्रकार उक्तानुसार हिन्दू संकल्पना के प्राचीन सन्दर्भो का विस्तृत अध्ययन इस इकाई में आप करेंगें। अध्ययन के पश्चात् हिन्दू अर्थ वाले शब्दों, संकल्पनाओं एवं अवधारणाओं की विस्तृत विवेचना करने में सक्षम हो जायेंगें। हिन्दू विषयक तथ्यों के साथ भारत एवं आर्यावर्त का स्पष्ट उल्लेख भी कर पायेंगें।

1.2 हिन्दू शब्द का वैदिक मूल

प्रश्न : हिन्दू संकल्पना के प्राचीन सन्दर्भ क्या हैं?

उत्तर : हिन्दू संकल्पना का मूल है वेद। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में भारतवर्ष के लिए ''सप्त सिन्धवः'' एवं 'सिन्धवः' शब्दों का प्रयोग है।

प्रश्न : वेदों में इन शब्दों का उल्लेख किस रूप में हुआ है?

उत्तर : अधिकांश स्थलों पर इन शब्दों का उल्लेख देशवाचक है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के 24वें सूक्त का 27वां मन्त्र है :–

य ऋक्षादंहसो मुचद्यो वार्यात् सप्त सिन्धुषु।
वधर्दासस्य तुविनृम्ण नीनमः।।

अर्थात् हे इन्द्र, आप हमें ऋक्ष (भालू) जैसे विकट मानसिक पापों से मुक्त करते हैं। इसी कारण हम इस आर्यभूमि सप्त सिन्धु देश में सुख–सौभाग्य से सम्पन्न हैं। आप दुष्ट उपद्रवकारी, अनार्य आचरण वाले लोगों के वध के लिए वज्र प्रहार करें।

ऋग्वेद में पाँच अन्य स्थलों पर भी सप्त सिन्धु आया है। इसी प्रकार अथर्ववेद में चतुर्थ काण्ड के द्वितीय अनुवाक् (छठे सूक्त) का दूसरा मन्त्र है :

यावती द्यावा पृथिवी वरिम्णा

यावत सप्त सिंधवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं,
तामितो निरवादिषम्।।

अर्थात् इस सप्त सिन्धु देश के सम्पूर्ण विस्तार में तथा समस्त् पृथ्वी और द्यौ लोक में विषाक्त वाणी का अभाव हो। विष से रहित वाणी हो। विषाक्त वाणी को सर्वत्र दूर ही रखा जाय।

इस प्रकार इस समस्त् राष्ट्र को सप्त सिन्धु कहा गया है।

प्रश्न : 'सिन्धु' को हिन्दू कैसे कह सकते हैं।

उत्तर : संस्कृत का 'स' प्राकृत में 'ह' हो जाता है। हिन्दू शब्द सिन्धु का ही प्राकृत रूप है। वेद में निरूक्त के नियमानुसार सकारहकार रूप में भी उच्चरित होता है। सरस्वती, सिन्धु आदि को क्रमशः 'हरस्वती' व 'हिन्धु' भी उच्चरित किया जाता है।

अतः 'सिन्धवः' को 'हिन्धवः' तथा 'हिन्दवः' भी उच्चारित करेंगे। यह निरूक्त का नियम है।

इस प्रकार हिन्दू शब्द वैदिक है और वह सिन्धु का ही उच्चरित रूप है।

पारसीक भाषा में तो सिन्धु को हिन्दू ही कहते हैं। सप्तसिन्धु के लिये वहाँ हप्तहिन्दू कहा जाता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भविष्य पुराण में भी प्रतिसर्ग पर्व के अध्याय 5 में 'हप्तहिन्दू' शब्द का उल्लेख हुआ है।

यूनानी भाषा में भी 'ह' का लोप हो जाता है और 'स' के लिये वहाँ भी 'ह' का प्रयोग होता है। इस प्रकार प्राचीन वृहद भारत के विशाल क्षेत्र में 'सकार' का 'हकार' बोलने और लिखने की प्राचीन परम्परा है। इसीलिये निरूक्त में उसका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार 'हिन्दू' शब्द वैदिक है और परम पवित्र है। मूल शब्द में ही सभी शब्दों का इतिहास और संस्कृति रहती है। इसलिये हिन्दू शब्द का भारत की समस्त् संस्कृति से अभिन्न सम्बन्ध है।

प्रश्न : यदि सीधे–सीधे 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं है तो क्या वैदिक धर्म मानने वालों को हिन्दू कहना ठीक है?

उत्तर : पहली बात, जैसे पूर्व में बता चुके हैं, निरूक्त के नियमानुसार 'हिन्दवः' भी वैदिक शब्द ही कहा जाएगा। दूसरी बात, वेद धर्म का मूल हैं। उनमें धर्म का ही मूल प्रतिपादन है। अपने देश और समाज को भारतवासी किस नाम से पुकारें, किस से नहीं, इसका कोई निर्देश वेद में नहीं है।

इसकी जगह प्रत्येक व्यक्ति में चिन्मय सत्ता का अंश वेद बताते हैं। अतः व्यक्ति और समाज मूल भाव के अनुरूप यथोचित् शब्द प्रयोग के अधिकारी हैं। इसलिए वेदों में जिन्हें हिन्दू शब्द सीधे नहीं समझ में आये तो भी उन्हें यह जानना चाहिये कि ऐसी स्थिति में भी हिन्दू शब्द के प्रयोग में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि वेदों में तो वैदिक संस्कृत भाषा का ही प्रयोग है। वर्तमान में तो भारत के निवासियों द्वारा वैदिक संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ व्यवहार में हैं। संस्कृत से निकली प्राकृत, अपभ्रंश तथा वर्तमान भारत की समस्त् भाषाएँ इन दिनों स्वाभाविक प्रयोग में आती हैं। अतः 'सप्तसिन्धवः' और 'सिन्धव' वैदिक शब्द के स्थान पर 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग स्वाभाविक है।

मूल तथ्य यह है कि स्वयं वैदिक नियमों के अनुसार 'सिन्धवः' ही 'हिन्दवः' है जो हिन्दू का बहुवचन है। अतः 'हिन्दू जन' यह वैदिक पद ही माना जाएगा। परन्तु राष्ट्रीय समाज जिस प्रकार वैदिक संस्कृत के स्थन पर उससे निकली विविध भाषाएँ बोलते हैं, उसी प्रकार अपने समाज के लिए वर्तमान में प्रचलित 'हिन्दू' शब्द बोलते हैं, यह भी पर्याप्त आधार है।

इस सन्दर्भ में एक बात और है जो नितान्त भिन्न प्रकार की है। वह यह कि संसार के अनेक प्रमुख समाज अपने लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो उनके मूल पवित्र ग्रन्थों में नहीं हैं। जैसे, इस्लाम मजहब का सर्वमान्य दैवी ग्रन्थ कुरानशरीफ है। कुरानशरीफ में कहीं भी यह नहीं कहा है कि अल्लाह ने आखिरी पैगम्बर साहब के जरिए 'इस्लाम' नामक मजहब का पैगाम भेजा। वहाँ केवल मजहब के पैगाम दिए गए हैं। उसका अलग से नाम नहीं गिनाया गया है। फिर भी कुरानशरीफ एवं सर्वशक्तिमान अल्लाह और आखिरी पैगम्बर साहब पर ईमान लाने वाले लोग अपने मजहब को इस्लाम कहते हैं। उन पर कोई यह प्रश्न नहीं खड़ा करता कि आपकी पाक त्तिाब में तो मजहब को इस्लाम नाम नहीं दिया गया है, तब आप लोग अपने मजहब को इस्लाम और स्वयं को मुसलमान क्यों कहते हैं? अभी 75 वर्ष पहले तक यूरोप के लोग इस्लाम को मुहम्मदनिज्म कहते थे। परन्तु अब क्योंकि मजहब को मानने वाले लोग अपने मजहब को इस्लाम कहते हैं तो यूरोपीय लोगों ने भी उनके मजहब को इस्लाम कहना शुरू कर दिया है।

इसी तरह उस मजहब को मानने वाले, उस पर ईमान लाने वाले, आज्ञाकारी लोगों के लिए 'मोमिन' शब्द कुरान में है। उन्हें मुस्लिम या मुसलमान कहा जाए, ऐसा कोई पैगाम अल्लाह ने आखिरी पैगम्बर के जरिए नहीं भेजा। फिर भी वे स्वयं को मुस्लिम या मुसलमान कहते हैं। उस समाज का मुस्लिम नाम स्वाभाविक या सर्वमान्य है। अतः इसी प्रकार स्वयं को हिन्दू कहने वाले समाज का नाम हिन्दू है। यह भी स्वाभाविक एवं सर्वमान्य है।

इसी प्रकार, ईसाई लोगों (क्रिश्चियन्स)की पवित्र पुस्तक न्यू टेस्टामेंट (बाइबिल) में यह कहीं भी नहीं कहा है कि उन पर 'फेथ' लाने वाले लोग 'क्रिश्चियन' या ईसाई कहे जाएँगे। फिर भी वे सभी लोग जो जीसस में 'फेथ' लाते हैं, स्वयं को क्रिश्चियन या ईसाई कहते हैं। यही स्वाभाविक एवं सर्वमान है।

अतः इसी प्रकार हिन्दुओं द्वारा स्वयं को हिन्दू कहना स्वाभाविक एवं सर्वमान्य है।

1.3 पौराणिक तथा आगमिक प्राचीन सन्दर्भ

प्रश्न : यह तो समझ में आ गया कि वैदिक 'सप्तसिन्धवः' और 'सिन्धवः' ही हिन्दू शब्द का मूल है। क्योंकि निरूक्त के नियमानुसार सिन्धवः को 'हिन्दवः' भी उच्चारित करेंगे। परन्तु उन मूल शब्दों के स्थान पर सीधे वर्तमान में प्रयुक्त 'हिन्दू' शब्द किन–किन प्राचीन ग्रन्थों में आया है?

उत्तर : ऋग्वेद का आगम कहा जाता है बृहस्पति आगम को। 'आगम' का अर्थ है व्यवहार–परम्परा। जो निगम यानी श्रुति–परम्परा की पूरक है। बृहस्पति–आगम को ऋग्वेद का आगम माना जाता है। बृहस्पति–आगम का परम्परा से प्रसिद्ध श्लोक है :–

> हिमालयं समारभ्य यावदिन्दु सरोवरम्।
> तं देवनिर्मितं देशं 'हिन्दूस्थानं' प्रचक्षते।।

अर्थात हिमालय से प्रारम्भ कर इन्दु सरोवर तक विस्तृत स्वाभाविक (दैवकृत) देश को हिन्दूस्थान कहा जाता है। हिमालय के प्रथम अक्षर 'हि' से आरम्भ करके इन्दु सरोवर के अंतिम शब्द 'न्दु' की समाप्ति पर्यन्त विस्तृत देवनिर्मित देश को 'हिन्दूस्थान' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'मेरू तन्त्र' नामक प्राचीन शास्त्र का कथन है – जिसमें 33वें प्रकरण में भगवान शिव जगदम्बा पार्वती से कहते हैं –

हिन्दूधर्मप्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः।
हीनं च दूषयत्वेव स हिन्दूः उच्यते प्रिये।।

अर्थात् हे प्रिये, भविष्य में हिन्दू धर्म का विलोप करने अर्थात उसे राजधर्म के रूप में संरक्षण नहीं देने वाले सम्राट भी होंगे। जो हीन विचारों, हीन भावों और हीन आचार को दूषित मानकर उन्हें त्याज्य मानता है, वह हिन्दू है। 'भविष्य पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के प्रथम खण्ड में कहा गया है –

'सप्त हिन्दूर्यावनी च'। अतः हिन्दू शब्द का वहाँ भी प्रयोग है। भविष्य पुराण में हिन्दू शब्द का प्रयोग अनेक बार है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भविष्य पुराण में सिन्धु स्थान और हिन्दू शब्द दोनों का ही प्रयोग हुआ है। भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के खण्ड दो में लिखा है –

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।

अर्थात् सिन्धु स्थान 'या हिन्दू स्थान' आर्यों का उत्तम राष्ट्र है। भविष्य पुराण में ही अनेक भारतीय राजाओं का विस्तार से वर्णन है। उसमें प्रतिसर्ग पर्व के तृतीय खण्ड में हिन्दूस्थान की सीमाओं का वर्णन है – ''पूर्व में कपिलस्थान अर्थात् गंगा सागर, पश्चिम में बाह्लीक, उत्तर में चीन देश और दक्षिण में सेतुबन्ध। इस क्षेत्र में महाराज अनंगपाल के शासन में तथा अन्य अग्निवंशीय राजाओं के शासन में म्लेच्छ लोग भी आर्यधर्म का ही पालन करते थे। जिससे कलियुग भयभीत होकर नीलाचल पर्वत पर चला गया था।''

इसी पुराण में प्रतिसर्ग पर्व के इसी खण्ड में कहा गया है कि ''चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य का पौत्र शालिवाहन महाप्रतापी था और उसने दुष्टों को कठोर दण्ड दिया तथा उनका सारा कोष छीन लिया एवं सिन्धु स्थान (हिन्दूस्थान) को आर्यों का उत्तम स्थान निर्धारित किया तथा म्लेच्छों को सिन्धु के उस पार के प्रदेश में रहना नियत किया।''

'अद्भुत कोष' में लिखा है 'हिन्दूहिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विघर्षणें।' अर्थात् 'हिन्दू दुष्टों के मान–मर्दन के लिये प्रसिद्ध है।' इसी प्रकार 'शब्द कल्पद्रुम कोष' में आया है 'हीनं दूषयति इति हिन्दूः'। अर्थात् 'जो हीन भावों एवं हीन आचरण से दूरी बनाकर रखता है, वह हिन्दू है।'

'हेमन्तकविकोष' की उक्ति है – 'हिन्दूर्हि नारायणादिदेवताभक्तः।' अर्थात् 'हिन्दू उसे कहा जाता है, जो नारायण आदि देवों का भक्त है।' 'रामकोष' की उक्ति है –

हिन्दुर्दष्टो न भवति नानार्यो न विदूषकः।
सद्धर्मपालको विद्वान् श्रौतधर्मपरायणः।।

तात्पर्य यह कि 'हिन्दू न तो दुर्जन होता है, न अनार्य होता है और न निन्दक ही होता

है। जो सच्चे धर्म का पालक, विद्वान् और वेदधर्म में निरत है, वही हिन्दू है।'

'माधवदिग्विजय ग्रन्थ' में हिन्दू की परिभाषा यह दी हुई है –

> ओंकारमूलमन्त्राढयः पुनर्जन्मदृढाशयः।
> गोभक्तो भारतगुरूर्हिन्दुर्हिंसनदूषकः।।

अर्थात् ओंकार को मूलमन्त्र मानने वाला, पुनर्जन्म में दृढ़ श्रद्धा रखने वाला, गौभक्त तथा किसी भारतीय को ही गुरू मानने वाला और हिंसा को निंदनीय मानने वाला व्यक्ति हिन्दू है। उल्लेखनीय है कि इस परिभाषा में सभी सनानत धर्मावलंबी हिन्दूजन तो आते ही हैं सिक्ख, जैन, बौद्ध तथा आर्यसमाजी भी इसमें समाहित हैं। इस प्रकार यह हिन्दू का सुस्पष्ट लक्षण है।

पारसीकों का प्राचीन धर्मग्रन्थ है 'अवेस्ता'। उसमें भी हिन्दू शब्द का उल्लेख है।

'हुएनसांग की भारतयात्रा' पुस्तक के दूसरे अध्याय में हुएनसांग ने आरम्भ में ही कहा है– ''भारत का प्राचीन नाम 'शिन्तो' और 'हीन्दो' था। परन्तु शुद्ध उच्चारण 'इन्दु' है। यह उच्चारण सुनने में सुंदर है। चीनी भाषा में इसका अर्थ चन्द्रमा होता है। यह प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण प्राणी अज्ञान रूपी रात्रि में संसार चक्र का निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। उन्हें किसी अन्य नक्षत्र का सहारा नहीं है। चन्द्रमा ही उस रात्रि में प्रकाश देता है। ठीक ऐसा ही प्रकाश महात्माओं और पवित्र विद्वानों का है। वे चन्द्रमा के समान संसार के जीवों को मार्ग दिखाते हैं। अतः अपनी पवित्रता और विद्वता के कारण इन विद्वानों के देश को 'इन्दु' कहा जाता है। इतिहास में इसी कारण लोग सामान्यतः भारतवर्ष को ब्राह्मणों का देश कहते हैं। जिसका अर्थ है विद्वानों और महात्माओं का देश। इसीलिये इसका मूल नाम 'इन्दु' है और हम इसे इन्दु नाम से ही वर्णन करेंगे। इसके तीन तरफ समुद्र है और उत्तर में हिमालय पर्वत है। पूर्व में घाटियाँ और मैदान हैं जिनमें पानी की अधिकता है। इसलिये फलफूल और अन्न आदि की बहुत अच्छी उपज होती है। दक्षिणी प्रान्त वनों और जड़ी–बूटियों से भरा है जबकि पश्चिमी भागी रेतीला, पथरीला और ऊसर सा है। यही इस देश का साधारण विवरण है।

इस प्रकार शास्त्रों, तन्त्र ग्रन्थों तथा पुराणों में हिन्दू शब्द के प्राचीन प्रयोग हैं। साथ ही, यवनों और पारसीकों के शास्त्रों एवं वृतान्तों में हिन्दू शब्द का प्राचीन प्रयोग पाया जाता है।

1.4 हिन्दू शब्द देशवाचक है या गुणधर्मवाचक?

प्रश्न : तो क्या हिन्दू शब्द देशवाचक है?

उत्तर : वैदिक काल में हिन्दू शब्द निश्चय ही देशवाचक था। क्योंकि तब तक समस्त् हिन्दूस्थान में सनातनधर्म को जानने और मानने वाले हिन्दू ही रहते थे। जो धर्म को सार्वभौम मतों एवं नियमों के ही रूप में जानते थे और जानते हैं। अतः किसी भी महान विभूति को उसका प्रवर्तक नहीं मानते। पोषक, रक्षक, पालक और साधक ही मानते हैं। परन्तु इस्लाम, ईसाइयत आदि धर्म नहीं हैं। न्यू आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में धर्म शब्द की प्रविष्टि अलग है, रिलीजन शब्द की प्रविष्टि अलग है।

तदनुरूप, धर्मवह है जो हिन्दुओं एवं बौद्धों द्वारा मान्य सार्वभौम नियम एवं मूल्य हैं। किसी भी आस्था प्रवर्तक विभूति के वचनों द्वारा धर्म निर्धारित नहीं होता। धर्म सार्वभौम

मानव–मूल्य हैं। इस्लाम, ईसाइयत आदि रिलीजन हैं। वे क्रमशः पैगंबर साहब हजरत मुहम्मद तथा जीसस द्वारा प्रवर्तित आस्था–पंथ हैं। अतः मुसलमानों, ईसाइयों आदि को हिन्दू नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सार्वभौम मानव मूल्यों में श्रद्धा रखते ही मजहब और रिलीजन का वर्तमान स्वरूप स्थिर नहीं रह जाता। धर्म 'मोमिन' और 'काफिर', 'बिलीवर' और 'नान बिलीवर' मनुष्यों में कोई भेद नहीं कर सकता। वह तो धर्म और अधर्म का ही भेद मानता है। अर्थात असत्य, चोरी, हिंसा, अनाचार आदि अधर्म हैं तथा सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच, आचार धर्म हैं। यही हिन्दू धर्म द्वारा प्रतिपादित मानव – धर्म है। जो सभी मनुष्यों द्वारा अवश्य पालनीय है। इसलिए भारत में रहने वाले मुस्लिम ईसाई आदि तब तक हिन्दू नहीं कहला सकते, जब तक वे सार्वभौम मानव–मूल्यों में श्रद्धा को सर्वमान्य नहीं मान लेंगे। अर्थात् सत्य, अहिंसा, अस्तेय, संयम और संग्रह की मर्यादा, आन्तरिक और बाहरी पवित्रता, आदर्श के लिए कष्ट सहन, सर्वव्यापी भगवान में श्रद्धा, हर जीव में ईश्वर का अंश विद्यमान मानना और इस सत्य का बारम्बार स्मरण करना – इन यमों और नियमों में श्रद्धा रखने वाले मुस्लिम और ईसाई भी हिन्दू ही हैं।

यदि वे यह मान लें कि सभी मनुष्यों की पहचान और उनसे व्यवहार सार्वभौम मानव–मूल्यों का पलान करने या न करने के ही आधार पर किया जाना चाहिए, तो वे हिन्दू ही मान्य होंगे। इसी प्रकार अन्य देशों में रहने वाले भी वे सभी लोग हिन्दू कहे जाएँगे जो वेदों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित सार्वभौम मानव–मूल्यों में श्रद्धा रखें।

इस प्रकार समस्त् धर्मनिष्ठ भारतीय ही 'हिन्दू' हैं। क्योंकि 'हिन्दू' शब्द का मूल वेदों में है।जो हिन्दू वेदों और वेद सम्मत शास्त्रों के अनुसार अपना जीवन जीते हैं, उन्हें आर्य कहा जाता है और जिस क्षेत्र में विशेषकर निष्ठापूर्वक वैदिक धर्म का पालन किया जाता रहा है उसे मनुस्मृति में आर्यावर्त कहा गया है। समस्त् भारतवर्ष में वेदों के प्रति असीम श्रद्धा रही है। इसलिये प्रायः समस्त् भारत को ही आर्यावर्त कह दिया जाता है। हिन्दुओं का अपना राष्ट्र वही है जहाँ वैदिक धर्म का पालन हो। इस अर्थ में ऋग्वेद में त्रसदस्यु ने कहा है कि 'मेरा राष्ट्र दोनों ओर है।' जिसका अर्थ भारतरत्न डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने दोनों गोलार्ध में उस समय भारत राष्ट्र होना बतायाहै। ऋग्वेद के ही सप्तम मण्डल में 'राष्ट्र' शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में माता पृथ्वी से प्रार्थना है कि वह 'राष्ट्र' को बल और दीप्ति दे। इस प्रकार यह 'हिन्दू राष्ट्र' को बलशाली और तेजोमय बनाने के लिये की गई प्रार्थना है।

1.5 'हिन्दू राष्ट्र' का विस्तार कहाँ तक है

प्रश्न : हिन्दू राष्ट्र का विस्तार कहाँ तक है?

उत्तर : भारतवर्ष ही हिन्दू राष्ट्र है। प्राचीनतमकाल से जिसे हिन्दू राष्ट्र कहा जाता रहा है, उसे ही भारतवर्ष भी कहा गया है। महाभारत में भीष्म पर्व के अन्तर्गत जम्बूखण्ड विनिर्माण पर्व में धृतराष्ट्र को संजय भारतवर्ष की सीमायें बताते हैं और उसमें 250 जनपदों का उल्लेख करते हैं। जिनमें मुख्य हैं – कुरू, पाँचाल, शाल्व–माद्रेय–जांगल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल, मत्स्य, कुशल्य, कौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, करूष, भोज, सिन्धु–पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पाँचाल, धुरंधर, गोधा, मद्र कलिंग, काशी, कुक्कुर, अवन्ति, गोमन्त, विदर्भ, अश्मक, गोपराष्ट्र, मल्लराष्ट्र, शक, विदेह, मगध, अंग, वंग, बाह्लीक, आभीर, अपरान्त, परान्त, केकय, अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, भार्गव, पुण्ड्र, भग, किरात, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ऋत, कुन्तल, सिन्धु सौवीर, गान्धार, बर्बर, सिद्ध, ताम्रलिप्तक, औण्ड्र, म्लेच्छ, कच्छ, वज्र, वध्र, करीषक,

कुलिन्द, द्रविड़, केरल, कर्णाटक, चोल, कोंकण, कटक, कूकुर, काक, यवन, चीन, काम्बोज, दरद, हूण, पारसीक, काश्मीर, खाशी, पह्लव, आभीर, शूद्र आदि। इसी विवरण को गुरूजी के नाम से प्रसिद्ध श्री माधव सदाशिव गोलवलकर ने सरल ढंग से इन शब्दों में कहा है – 'हिमालय की समस्त् उपत्यकाओं एवं गिरि–गहवरों सहित तीनों ओर से समुद्र से घिरा हुआ यह राष्ट्र हिन्दू राष्ट्र है।' स्पष्ट रूप से इसमें तिब्बत, अजरबेजान, कजाकिस्तान, ताजकिस्तान, तुर्क्रमेनिस्तान, खोतान, मंगोलिया, उत्तर चीन तथा रूस के अनेक भागों सहित सम्पूर्ण क्षेत्र आता है। जिस समुद्र से भारत घिरा हुआ है उसे मूल रूप में इन्दु सागर कहते थे और इन्दु सागर से आवेष्टित भूमि को 'सिन्धु' राष्ट्र या 'हिन्दू राष्ट्र' कहा जाता रहा है। इन्दु सागर को अरब सागर कहना अंग्रेजों ने 20वीं शती ईस्वी में आरम्भ किया है। वस्तुतः सिन्धु का अर्थ भी इन्दु यानी चन्द्रमा होता है। स्पष्ट रूप से यह विश्व का एक प्राचीनतम नैसर्गिक राष्ट्र है। पृथ्वी में इस राष्ट्र की स्थिति के विवरण प्राचीन काल से प्राप्त होते हैं। पुराणों और धर्मशास्त्रों में भी इसकी सीमाओं के विवरण विस्तार से दिए गए हैं।

मत्स्य महापुराण में अध्याय 121 एवं 122 में पुनः जम्बूद्वीप तथा भारतवर्ष के विषय में और अध्याय 123 में गोमेदकद्वीप एवं पुष्कर द्वीप के विषय में वर्णन दिये गये हैं। इनमें से अध्याय 121 के 82 श्लोकों में भारतवर्ष का विस्तार से वर्णन दिया गया है। प्रारम्भ में हिमालय पर्वत का और उसके पृष्ठभाग में स्थित कैलास पर्वत का वर्णन है और उसके बाद कैलास की उपत्यका में मन्दोदकं सरोवर का वर्णन है जिसका जल पवित्र, निर्मल और शीतल है। वहाँ से मन्दाकिनी नदी निकलती है और उसके निकट ही अच्छोद सरोवर है।

कैलाश के दक्षिण पूर्व में हेमश्रृंग नामक विशाल पर्वत है और उसके पदप्रान्त में लोहित सरोवर है जहाँ से लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नद निकलता है। इसके बाद इस पुराण में महाराज भगीरथ की तपस्या और गंगाजी को भूतल पर लाने का विवरण दिया हुआ है। इसके साथ ही गंगाजी की पश्चिम में बहने वाली धाराओं के रूप में सिन्धु, चक्षु, सीता आदि सात नदियों का विवरण दिया है और यह बताया है कि सिन्धु के तट पर दरद, गांधार, कुहू, सैन्धव आदि कई राज्य हैं। इसके बाद मेरू पर्वत के पार्श्व भाग से चन्द्रप्रभ नामक सरोवर से पुण्यसलिला जम्बूनदी के निकलने का वर्णन है। जिसमें जाम्बूनद नाम का स्वर्ण पाया जाता है। आगे इस पुराण में कुरू राज्य का वर्णन है जिसमें अत्यन्त विस्तृत 12 सरोवर हैं, जो कमलों और मछलियों से भरे रहते हैं। ये नदियाँ बिना वर्षा के भी कुरू राज्य को उर्वर और सरस रखती हैं। दक्षिण में समुद्र तक विस्तृत दक्षिणापथ है। इस प्रकार भारतवर्ष का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। इसी पुराण के 124वे एवं 125वे अध्याय में सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का वर्णन है तथा उसके आगे ग्रहों के विषय में वर्णन है।

विष्णु पुराण के द्वितीय अंश के दूसरे अध्याय में भी जम्बूद्वीप एवं उसके अन्तर्गत भारतवर्ष का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरू पर्वत है जिसकी ऊँचाई 84 हजार योजन है और यह पृथ्वी के भीतर 16 हजार योजन धंसा हुआ है। यह पर्वत इस पृथ्वीरूपी कमल की कर्णिका (कोश) जैसा है। मेरू पर्वत के दक्षिण की ओर भारतवर्ष है। उत्तर की ओर उत्तर कुरू है। इस प्रकार विष्णु पुराण में भारतवर्ष की समायें अंक्ति हैं।

द्वितीय अंश के तीसरे अध्याय के पहले ही श्लोक में कहा गया है कि जो समुद्र के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण में स्थित है, उस देश को भारतवर्ष कहते हैं और भारतवर्ष की सन्ततियों को भारती अर्थात् भरतवंशी कहते हैं। उसका विस्तार भी दूसरे

एवं तीसरे श्लोक में दिया हुआ है तथा अगले दो श्लोकों में इसकी महिमा बताई गई है—

नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।।2

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः।।3

अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात्प्रयान्ति वै।
तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने।।4

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्म भूमौ विधीयते।।5

अर्थात् इसका विस्तार 9 हजार योजन है। स्वर्ग और मोक्ष दोनों प्राप्त कराने वाली कर्मभूमि यही है। यहाँ पापकर्म करने वाले लोग नरक जाते हैं अथवा पशु—पक्षी आदि योनियों में जन्म लेते हैं। मध्य स्तर का अर्थात् मिश्रित सा जीवन जीने वाले यहाँ पुनः मनुष्य बनकर जन्म लेते हैं। पृथ्वी में यहाँ के सिवा और कहीं भी मनुष्य के लिये कर्मभूमि नहीं है। इसके आगे के श्लोकों में भारतवर्ष के विषय में और भी महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दी हुई हैं।

भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निशामय।
इन्द्रद्वीपः कसेरूश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।।6

नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारूणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।।7

योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात्।
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।।8

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः।
इज्यायुधवाधिज्याद्यैर्वर्तयन्तो यवस्थिताः।।9

शतद्रूचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिर्गताः।
वेदस्मृतिमुखाद्याश्च पारियात्रोद्भवा मुने।।10

नर्मदा सुरसाद्याश्च नद्यो विन्ध्याद्रिनिर्गताः।
तापीपयोष्णीनिर्विन्ध्याप्रमुखा ऋक्षसम्भवाः।।11

गोदावरी भीमरथी कृष्णवेण्यादिकास्तथा।
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः।।12

कृतमाला ताम्रपणीप्रमुखा मलयोद्भवाः।
त्रिमासा चार्यकुल्याद्या महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः।।13

ऋषिकुल्याकुमाराद्याः शुक्तिमत्पादसम्भवाः।
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्याश्च सहस्रशः।।14

तास्विमे कुरुपान्चाला मध्यदेशादयो जनाः।
पूर्वदेशादिकाश्चैव कामरूपनिवासिनः।।15

पुण्ड्राः कलिंगा मगधा दक्षिणाद्याश्च सर्वशः।
तथापरान्ताः सौराष्ट्राः शूराभीरास्तथाबर्फदाः।।16

कारूषा मालवाश्चैव पारियात्रनिवासिनः।
सौवीराः सैन्धवा हूणाः साल्वाः कोशलवासिनः।
माद्रारामास्तथाम्बष्ठाः पारसीकादयस्तथा।।17

आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सहिताः सदा।
समीपतो महाभाग हृष्टपुष्टजनाकुलाः।।18

चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न कंचित्।।19

तपस्तप्यन्ति मुनयो जुह्वते चात्र यज्विनः।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्।।20

पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा।।21

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।।22

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंच्यात्।।23

अर्थात् इस भारतवर्ष के नौ भाग हैं। यह समुद्र से घिरा हुआ द्वीप भारत (कुमारी द्वीप) है। यह द्वीप उत्तर से दक्षिण तक नौ सहस्र योजन है। इसके पूर्वीय भाग में किरात लोग और पश्चिम में यवन बसे हुए हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण वर्णविभागानुसार मध्य में रहते हैं। हे मुने! इसकी शतद्रू और चन्द्रभागा आदि नदियाँ हिमालय की तलैटी से पारियात्र पर्वत से निकलती हैं। वेदों और स्मृतियों की रचना इसी पवित्र भूमि में हुई है। नर्मदा और सुरसा आदि विन्ध्याचल से तथा तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या आदि ऋक्षगिरि से निकली हैं। गोदावरी, भीमरथी और कृष्णवेणी आदि पापहारिणी नदियाँ सह्यपर्वत से उत्पन्न हुई हैं। कृतमाला और ताम्रपर्णी आदि मलयाचल से, त्रिमासा और आर्यकुल्या आदि महेन्द्रगिरि से तथा ऋषिकुल्या और कुमारी आदि नदियाँ शुक्तिमान् पर्वत से निकली हैं। इनकी और भी सहस्रों शाखा नदियाँ और उपनदियाँ हैं।

इन नदियों के तट पर कुरु, पान्चाल और मध्यदेशादि के रहने वाले, पूर्वदेश और कामरूप के निवासी, पुण्ड्र, कलिंग, मगध और दाक्षिणात्यलोग, अपरान्तदेशवासी, सौराष्ट्रगण तथा शूर, अभीर और अबर्फदगण, कारूष, मालव और पारियात्रनिवासी,

सौवीर, सैन्धव, हूण, साल्व और कोशल देशवासी तथा माद्र, आराम, अम्बष्ठ और पारसीगण रहते हैं। हे महाभाग! वे लोग सदा आपस में मिलकर रहते हैं और इन्हीं का जल पान करते हैं। इनकी सन्निधि के कारण वे बड़े हृष्ट–पुष्ट रहते हैं।

(इन श्लोकों तथा पुराणों और शास्त्रों के अन्य बहुत से वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शक, यवन, किरात, हूण, दरद, बल्ख, बाह्लीक, पारसीक आदि सभी भारत के ही निवासी हैं और भारत की सीमा पश्चिम में यवन देश तक, उत्तर में रूस की सीमा तक तथा पूर्व, दक्षिण और दक्षिण पश्चिम में तीनों ओर से समुद्र से वेष्ठित है। यूरोपीय लोगों ने कुछ तो अज्ञानवश और कुछ दुष्टतावश यवनों, शकों, हूणों, किरातों, पारसीक आदि को भारत से बाहर के लोग समझा या प्रचारित कियापरन्तु हमारे सभी शास्त्र इन सबको भारतीय ही बताते हैं। साथ ही बहती हुई स्वच्छ जलवाली नदियों के जल में विशेष पोषक शक्ति है, यह भी सभी पुराणों में बारम्बार कहा है।)

आगे के श्लोकों में कहा है – हे मुने! इस भारतवर्ष में ही समय–समय पर ये चार युग होते हैं – सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। अन्यत्र कहीं ये चार युग नहीं होते। क्योंकि भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। अन्यान्य देश तो भोग–भूमियाँ हैं (जिस प्रकाश पशु भोग योनियाँ हैं, कर्मयोनि नहीं है। उसी प्रकार भारत से बाहर के देश भोग भूमि हैं, कर्मभूमि नहीं। वे स्वभाव से बन्धे हुये बरतते हैं। भारतीय मनुष्य को शास्त्रों के ज्ञान और पवित्र भूमि की विशेषता के कारण सद्–असद्, धर्म–अधर्म, आदि का शास्त्र सम्मत विवेक होता है। अतः यहाँ किये गये कर्म अगली गति निर्धारित करते हैं)। इस क्षेत्र में यज्ञों द्वारा यजन किया जाता है और भगवान विष्णु का अनुग्रह प्राप्त होता है। इसलिये जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है और उसमें भी भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है। अन्य द्वीपों में और अन्य देशों में अन्य प्रकार से उपासनायें होती हैं। भारतवर्ष में अनेक जन्मों के पुण्य के उदय से ही जन्म होता है।

इसके आगे 24वाँ श्लोक भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है –

> गायन्ति देवाः किल गीतकानि
> धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।
> स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
> भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।24

अर्थात् देवता भी भारतभूमि का यश गाते हैं। वे कहते हैं कि भारतभूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं क्योंकि वे स्वर्ग और मोक्ष दोनों गतियाँ देने वाली भारत भूमि में जन्म लेते हैं।

इस प्रकार भारत वर्ष की सीमायें और इसकी महिमा, दोनों का पुराणों और धर्मशास्त्रों में विस्तार से वर्णन है। यही कारण है कि यहाँ के सभी पर्वतों और नदियों तथा उनके तट पर या उनके मध्य अथवा तलैटी में स्थित तीर्थों का भी धर्मशास्त्रों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

1.5.1 हिन्दू राष्ट्र और भारत

प्रश्न : इसका अर्थ है कि हिन्दू राष्ट्र या हिन्दू स्थान के ही समान भारतवर्ष भी प्राचीन नाम है?

उत्तर : निश्चय ही, भारत नाम भी अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में भरतवंश का वर्णन है। यद्यपि वहाँ एक देश या राष्ट्र के रूप में भारत का पृथक उल्लेख नहीं है। वेदों में

समस्त् विश्व के विषय में ही अधिकांश कथन हैं। वहाँ तो मनुष्य मात्र को अमृततत्त्व की सन्तति कहा गया है।

यजुर्वेद के 11वें अध्याय का का प्रसिद्ध 5वाँ मन्त्र है–

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः।
श्रृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।।

अर्थात् हे अमृत तत्त्व (अर्थात् परमात्मा) के पुत्र, ध्यान से सुनो। ब्रह्म से योगसम्बन्ध रखनेवाले पूर्व में जो महान योगी हुये हैं, उन पुण्य श्लोकों का मार्ग ही वीरों और विद्वानों का मार्ग है। उस मार्ग पर चलकर ही तुम दिव्य धामों को प्राप्त करोगे।

इस प्रकार वेद तो समस्त् मनुष्यों को अपने अमृतपुत्र होने की अर्थात् जन्म से ही दिव्य और श्रेष्ठ होने की घोषणा करते हैं और उस मूल स्वरूप को प्रत्येक व्यक्ति जाने, यह उपदेश करते हैं। परन्तु साथ ही ऐतरेय ब्राह्मण में भारतवर्ष का और उसकी सीमाओं का स्पष्ट उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का ही ब्राह्मण ग्रन्थ है और उसमें भारतवर्ष की सीमाओं का स्पष्ट वर्णन है। विशेषकर प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, दक्षिण एवं ध्रुव मध्यमा प्रतिष्ठा – भारत के इन पाँच भागों का वहाँ स्पष्ट वर्णन है। परन्तु मुख्य बात यह है कि मनु ने भारत के विभिन्न भूभागों का विशेषकर मध्यदेश, ब्रह्मावर्त और आर्यावर्त का स्पष्ट वर्णन किया है तथा महाभारत में भी समस्त् भारतवर्ष की सीमायें वर्णित हैं। हिन्दू देश या हिन्दू राष्ट्र ही भारतवर्ष है, यह ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत तथा मनुस्मृति से स्पष्ट हो जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में तो यह भी कहा है कि – 'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्।'

अर्थात् समुद्र पर्यन्त यानी समुद्र सहित जितनी भी यह सम्पूर्ण पृथ्वी है, वह सब एक ही आर्य राजा के शासन में होना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल तक वस्तुतः हिन्दू देश या हिन्दू राष्ट्र यह समस्त् पृथ्वी ही था। इसी प्रकार महाभारत काल से समस्त् मध्य एशिया और उत्तरी ध्रुव से हिन्दू महासागर तक विस्तृत क्षेत्र को ही भारतवर्ष कहा गया है। इस प्रकार भारत नाम भी प्राचीन है।

मत्स्य पुराण के अनुसार स्वायम्भुव मनु के वंश में उत्पन्न महाबली वेन चक्रवर्ती सम्राट थे परन्तु वे धर्मविमुख हो गएँ तब महर्षियों ने उन्हें नष्ट कर उनके पुत्र पृथु को सम्राट बनायाँ पृथु समस्त् भूमण्डल के राजा हुये। उनके कारण ही इस समस्त् भूमि को पृथ्वी कहा जाता है। इसके बाद भारतवर्ष में सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी सम्राटों ने शासन किया, जिनका विस्तार से वर्णन मत्स्य पुराण तथा अन्य पुराणों में है। पुराणों में ही जम्बूद्वीप सहित पृथ्वी के सभी महाद्वीपों का वर्णन है और उनके मुख्य पर्वतों, नदियों तथा प्रत्येक महाद्वीप की लंबाई, चौड़ाई का भी वर्णन है।

अत्यन्त प्राचीन काल से भारत नाम प्रचलित है। क्योंकि मनु से ही समस्त् मानव जाति प्रवर्तित है और प्रलयकाल के उपरान्त मनु ने समस्त् पृथ्वी का भरण पोषण किया था, इसलिये मनु को ही भरत कहा जाता है। उसके उपरान्त ऋषभदेव एवं उनकी पत्नी जयंती के सबसे बड़े पुत्र भरत हुये और फिर सम्राट दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भी भरत के नाम से प्रसिद्ध हुये। उसके बाद से इस हिन्दू राष्ट्र अर्थात् भारतवर्ष में सभी चक्रवर्ती सम्राटों को भारत के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इसीलिये महाभारत में धृतराष्ट्र को भी भारत कहकर सम्बोधित किया गया है और युधिष्ठिर तथा अर्जुन को भी भारत कहा गया है। इस प्रकार भारत नाम भी अत्यंत प्राचीन है। वेदों में जिसे

हिन्दू देश (सिन्धु देश) कहा गया है, वही ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत, पुराणों, धर्मशास्त्रों, इतिहासग्रन्थों और महाकाव्यों में भारतवर्ष के नाम से वर्णित है।

1.5.2 हिन्दू राष्ट्र की व्याप्ति

प्रश्न : पृथ्वी में हिन्दू राष्ट्र भारत की स्थिति के प्राचीन विवरण कहाँ–कहाँ हैं?

उत्तर : अत्यंत प्राचीन काल से भारतीय धर्मशास्त्रों एवं पुराणों में पृथ्वी की सरंचना का और उसके विभागों का तथा उन विभागों में से एक भारतवर्ष का विवरण विस्तार से मिलता है। जिनमें से कुछ का उल्लेख हम कर चुके हैं। पुनः स्मरण कर लें कि विष्णुपुराण के द्वितीय अंश के दूसरे अध्याय में पृथ्वी का वर्णन है। पृथ्वी के सात द्वीप गिनाये गये हैं और उन सातों द्वीपों को घेरे हुये समुद्रों के नाम गिनाये गये हैं। सातवें श्लोक में बताया गया है कि उन द्वीपों के मध्य में जम्बू द्वीप है और जम्बू द्वीप के मध्य में सुवर्णमय सुमेरू पर्वत है :–

जम्बूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः।
तस्यापि मेरूर्मैत्रेय मध्ये कनकपर्वतः।।

इस जम्बूद्वीप का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी में आकाश स्थित महापुरी से गंगा जी के हिमालय में अवतरित होने का वर्णन है जो चार धाराओं के रूप में विभक्त होती है। इनमें से अलकनन्दा, उत्तर से दक्षिण की ओर भारतवर्ष में आती है और पूर्व की ओर जाकर समुद्र में मिल जाती है। इसी अंश के तीसरे अध्याय में भारतखण्ड का वर्णन है। जो समुद्र के उत्तर हिमालय तक फैला हुआ है।

विष्णु पुराण के द्वितीय अंश के इस तीसरे अध्याय का पहला ही श्लोक है :–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।

अर्थात् जो राष्ट्र समुद्र के उत्तर में और हिमालय के दक्षिण में विस्तृत है उसे भारतवर्ष कहते हैं और वहाँ की सन्ततियों को भारती कहा जाता है।

इससे आगे के श्लोकों में कहा गया है –

नवयोजनसाहस्त्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।।2

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः।।3

अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात्प्रयान्ति वै।
तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरूषा मुने।।4

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्तश्च गम्यते।
न खलवन्यत्र मर्त्यानां कर्म भूमौ विधीयते।।5

अर्थात् यह नौ हजार योजन विस्तृत है तथा यह स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त कराने वाली कर्मभूमि है। इसके नौ भाग हैं। इसमें महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र – ये सात बड़े कुलपर्वत हैं। हे मुनि, इस देश में शुभ कर्मों के द्वारा मनुष्य

स्वर्ग प्राप्त करते हैं और अधिक आध्यात्मिक उन्नति होने पर मुक्ति भी प्राप्त करते हैं तथा पापकर्म करने पर वे लोग नरक में पड़ते हैं अथवा मानवेतर योनियों में जन्म लेते हैं। अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य यहाँ से स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा पुनः मनुष्य रूप में अगला जन्म लेते हैं या नीचे की योनियों में जन्म लेतेहैं। यह सब व्यक्ति के कर्मों के अनुसार फल होता है। इसीलिये इस भारतवर्ष को कर्मभूमि कहा जाता है।

आगे पराशर ऋषि ने भारत के नौ भागों को गिनाया है और उनका विस्तार भी बताया है तथा यह भी बताया है कि यहाँ चार वर्णों के लोग स्वधर्म पालन करते हुये रहते हैं। जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है।

प्रश्न : और इण्डिया नाम कब से पड़ा?

उत्तर : यूरोप में अत्यन्त प्राचीनकाल से भारत के लिये इन्डी और इन्डिया नाम प्रचलित रहे हैं। जब वे लोग भारत आये, तब यहाँ के लोगों को भी इन्डू या हिन्डू सम्बोधित करने लगे। कुछ लोग तो उच्चारण समझ नहीं पाने के कारण गेन्टू भी कहते थे। बाद में, जब आधे से कुछ अधिक भारत में भारतीयों के सहयोग से ब्रिटिश भारतीय शासन स्थापित हुआ, तब से वे लोग अपने द्वारा शासित् क्षेत्र को 'ब्रिटिश इण्डिया' और शेष भारत को 'इण्डिया' कहने लगे। सत्ता हस्तान्तरण के बाद ब्रिटिश अधिकारियों की शर्तों के अनुसार संविधान सभा गठित हुई और भारत का संविधान बना। जिसमें इसे 'इण्डिया दैट इज भारत' कहा गया है। अर्थात् भारत के लिये शासन 'इण्डिया' के नाम का भी प्रयोग कर सकता है और 'भारत' नाम का भी। यही वर्तमान विधिक स्थिति है।

1.5.3 हिन्दू और भारतीय में भेद और अभेद

प्रश्न : तो हिन्दू भारतीय एवं अहिन्दू भारतीय में भेद कैसे करेंगे? क्या सभी भारतीयों को हिन्दू भी कहा जा सकता है?

उत्तर : मूल भारतीय ही हिन्दू हैं। जो वस्तुतः सनातन धर्म को मानते हैं और उपासना तथा जीवनशैली की विविधता को मानते हैं। इसीलिये किसी की उपासना पद्धति के आधार पर हिन्दू कभी किसी अन्य से कलह या टकराव नहीं करते। क्योंकि सृष्टि में चारों ओर व्याप्त विविधता की ही भांति आध्यात्मिक साधना और जीवनशैली की विविधता हिन्दू लोग स्वाभाविक मानते हैं। इसीलिये सनातनधर्म के शास्त्रों में मानव धर्म के बारे में लिखते समय मनुष्य–मनुष्य में कोई भेद नहीं किया है। वे किन्हीं आस्थाओं वाले मनुष्यों को अन्य आस्थाओं वाले मनुष्यों से भिन्न होने का तथ्य तो जानते हैं। परन्तु इस आधार पर दो आस्था पद्धतियों में से एक को श्रेष्ठ और दूसरी को निकृष्ट या एक को सच्ची और दूसरी को झूठी नहीं मानते। सच और झूठ का निर्णय सबके लिये सर्वमान्य कसौटियों के आधार पर ही होता है, आस्था के आधार पर नहीं। इस प्रकार सभी मनुष्यों के लिये सामान्य धर्म एक ही है। मनु के अनुसार वे हैं – धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, बाहरी और भीतरी पवित्रता, इन्द्रियसंयम, धी (बुद्धि) की निरन्तर साधना, विद्या (परा एवं अपरा दोनों प्रकार की विद्या), सत्य और अक्रोध।

ये सार्वभौम मानव मूल्य हैं। इन्हें मानवधर्म और मनुष्यमात्र का सामान्यधर्म, सामासिक धर्म तथा सार्ववर्णिक धर्म भी कहा जाता है अर्थात यह केवल हिन्दुओं के लिये नहीं है अपितु समस्त् मनुष्यों के द्वारा पालनीय यह सार्वभौम मूल्य है।

इसीलिये वे सभी भारतीय हिन्दू हैं, जो सनातन धर्म के प्रति निष्ठावान हैं अर्थात् जो सार्वभौम नैतिक मूल्यों के प्रति निष्ठावान हैं। इस अर्थ में भारत के संविधान में

नागरिकों के जो मौलिक कर्त्तव्य संविधान के अनुच्छेद 51(क) में वर्णित हैं, जिनमें बन्धुता और सभी भारतीयों के प्रति समान भाईचारा (कॉमन ब्रदरहुड) की भावना तथा समरसता की भावना रखना मूल कर्त्तव्य का अंग है, वे इस संविधान के प्रति निष्ठा रखने वाले और मूल कर्त्तव्य का पालन करने वाले सभी भारतीय हिन्दू कहे जा सकते हैं। परन्तु यदि कोई भारतीय व्यक्ति अन्य भारतीयों को भय या प्रलोभन या दबाव से अथवा बहला–फुसलाकर उसे किसी मजहब या रिलीजन विशेष में इस भाव के साथ लाये कि उसका अपना मूल धर्म गलत है और घटिया है तथा अब अमुक मजहब या अमुक रिलीजन को अपनाने में ही उसका कल्याण है और इस प्रकार 'कॉमन ब्रदरहुड' की भावना को स्पष्ट रूप से जो खंडित करे, जो हिन्दुओं की मुख्य धारा को अपने समान सम्मानित और सम्मान योग्य व्यक्तियों का समूह नहीं माने, ऐसे भारतीय को हिन्दू कदापि नहीं कहा जा सकता।

1.6 हिन्दू राष्ट्र, आर्यावर्त और भारतवर्ष

प्रश्न : हिन्दू राष्ट्र, आर्यावर्त और भारतवर्ष में क्या भेद है?

उत्तर : वस्तुतः हिन्दू राष्ट्र, आर्यावर्त और भारत वर्ष पर्याय है। मनुस्मृति में आर्यावर्त का जो विशेष गौरव किया गया है, वह तत्कालीन समय में जिस क्षेत्र में वेदों और धर्मशास्त्रों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपालन पर विशेष बल दिया जाता था, उस क्षेत्र का वर्णनमात्र है। वह कोई राष्ट्र की भौगोलिक सीमा नहीं है। भौगोलिक सीमा बताने के लिये वहाँ मध्यदेश तथा ब्रह्मावर्त शब्द आये हैं। आर्य शब्द गुणसूचक है, जातिसूचक या स्थानसूचक नहीं। अतः सनातन धर्म का पालन करने वाले समस्त् राष्ट्र को ही आर्यावर्त कहा जायेगा। वही हिन्दू राष्ट्र है। इस प्रकार हिन्दू राष्ट्र आर्यावर्त और भारतवर्ष परस्पर पर्याय है।

विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दूत्व' में स्पष्ट लिखा है कि यहाँ 'आर्य' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया गया है ताकि सिन्धु नदी के इस ओर के अपने वैभवशाली राष्ट्र के तथा जातियों के सभी अनिवार्य घटकों का उसमें समावेश हो। इसमें वैदिक या अवैदिक, ब्राह्मण अथवा शूद्र आदि भेद नहीं किया गयाकेवल समान संस्कृति, रक्त–सम्बन्ध देश तथा राज्यसंस्था का उत्तराधिकार जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे सभी 'आर्य' कहलाते हैं। इससे विपरीत हिंदुस्थान से सर्वथा भिन्न म्लेच्छ स्थान का अर्थ राष्ट्रीयता तथा जातीय एकात्मता की दृष्टि से भिन्न तथा परायों का देश ऐसा ही होता है।

1.6.1 'हिन्दू पद' के आधुनिक प्रयोग

प्रश्न : कृपया आधुनिक काल में हिन्दू शब्द के प्रयोगों के दृष्टान्त दीजिये?

उत्तर : आधुनिक काल में अनेक श्रेष्ठ काव्यों एवं गीतों में हिन्दू शब्द का प्रयोग निरन्तर होता रहा है। साथ ही आधुनिक महापुरूषों ने भी हिन्दू शब्द की बारम्बार व्याख्या की है।

12वीं शताब्दी ईस्वी के प्रसिद्ध काव्य पृथ्वीराज रासौ में कवि चन्दवरदाई ने सम्राट पृथ्वीराज के पिता को सम्बोधित करते हुये लिखा है –

> अटल ठाट महिपाठ, अटल तारागढ़ थानं,
> अटल नगर अजमेर, अटल हिंदव अस्थानं।

अटल तेज परताप, अटल लंकागढ डंडिय
अटल आप चहुवान, अटल भूमिजस मंडिय

जब उपद्रवकर्त्ता शहाबुद्दीन का वध कर दिया गया, तब कवि ने उल्लासपूर्वक कहा –

आज भाग चहुआन घर। आज भाग हिंदुवान।।
इन जीवित दिल्लीश्वर। गंज न सक्के आन।।

साथ ही यह भी लिखा –

निर्लज्ज म्लेच्छ लजे नहिं। हम हिंदु लजवानं।।

अर्थात् म्लेच्छ बेशर्म और ढीठ हैं। परन्तु हम हिन्दू तो शील–संकोच सम्पन्न होते हैं।

15वीं शताब्दी ईस्वी के 'पारिजातहरण' नामक नाटक की रचना सर्वगुणाकर ने की। इसमें एक पात्र के मुँह से पुनः 'हिन्दू' शब्द की परिभाषा स्पष्ट की गई है– 'हिनस्ति् तपसा पापान् दैहिकान् दुष्टमानसान्। हेतिभिः शत्रुवर्गे च स हिन्दूरभिधीयते'। अर्थात जो मन की दुष्ट वृत्तियों का एवं पापों का हनन करता है तथा शत्रुओं का संहार करता है, वह हिन्दू कहा जाता है।

इसी प्रकार 17वीं शताब्दी ईस्वी में महाकवि भूषण ने 'शिवराज बावनी' और 'छत्रसाल भूषण' दोनों ही ओजस्वी काव्यों में 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग बारम्बार किया है –

राखी हिंदुआनी, हिंदुआन के तिलक राख्यो
स्मृति और पुराण राख्यो वेद विधी सुनी मैं,
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा मे धरम राख्या, राख्यो गुण गुणी में।।

भूषण सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की
देस–देस कीरति बखानी तब सुनि मैं,
शाही के सपूत शिवराज शमशेर तेरी
दिल्ली दल दाबिक दिवाल राखी दुनि में।।

अर्थात् हे शाह के सपूत छत्रपति शिवराज, आपकी तलवार ने ही दिल्ली के तुर्क दल को दबाकर भारत में सबकी लाज रखी है। हिन्दुओं का तिलक और हिन्दू स्त्रियों का शील, वेदों, पुराणों और धर्मशास्त्रों की प्रतिष्ठा, राजपूतों का गौरव और राजाओं की राजधानी की रक्षा आपने ही की है। गुणीजनों के गुणों की रक्षा आपने की है और भारतभूमि में धर्म के रक्षक आप ही हैं। कवि भूषण कहते हैं कि मराठों की जीत अत्यधिक प्रशंसनीय है। उनकी कीर्ति देश–देश में बखानी जाती है और मैंने भी वह कीर्ति सुनी है।

हैवर हरट्ट साजि गैवर गरट्ट सम, पैदर थट्ट फौज तुरकांनकी

भुषण भनत रायचंपति को छत्रसाल रोप्यो रनख्याल।

अर्थात् हे महाराज चम्पतराय के सुपुत्र महाराज छत्रसाल आपने तुर्कों की ठट्ठ की ठट्ठ फौज को रोक दिया और उनके तोपों की गरज भी थाम ली। इस प्रकार रण में आपने अद्भुत शौर्य और पराक्रम दिखायाँ

इस प्रकार तुर्कों के धर्मघाती अनाचार को थामने वाले महान योद्धाओं छत्रपति शिवाजी महाराज और महाराज छत्रसाल की कीर्ति महान हिन्दू सम्राटों के रूप में ही कवियों ने गाई है।

17वीं शताब्दी ईस्वी में ही महान दशमेश गुरू गोविन्द सिंह जी ने भी कहा है –

> सकल जगत् में खालसा पंथ गाजे।
> जगे धर्म हिन्दू, सकल भंड भाजे।। (विचित्र नाटक, गुरूगोविन्दसिंह कृत)

अर्थात् महान गुरूओं के शिष्यों का खालसा पंथ सम्पूर्ण विश्व में यशस्वी हो। हिन्दू धर्म जाग्रत हो और जो भंड अर्थात् अराजक और अनाचार से युक्त पंथ हैं, वे भारत से भाग जायें।

छत्रपति शिवाजी महाराज ने 'हिन्दवी स्वराज' की स्थापना की प्रतिज्ञा की थी और विश्व के महानतम सेनापतियों में से एक श्रीमन्त बाजीराव पेशवा ने अटक से कटक तक हिन्दू धर्म की ध्वजा लहराने का संकल्प किया था।

इस प्रकार 'हिन्दू धर्म' शब्द का प्रयोग सदा व्यापक अर्थों में होता रहा है।

20वीं शताब्दी ईस्वी में लोकमान्य तिलक ने 'हिन्दू धर्म' की परिभाषा देते हुये लिखा –

'प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु। साधनानामनेकता। उपास्यानामनियमः। एतद धर्मस्य लक्षणम।'

अर्थात वेदों के प्रति प्रामाण्य बुद्धि रखना, साधना के रूपों की अनेकता पर सहज विश्वास तथा उपासना और उपास्य देवता के किसी एक ही रूप का आग्रह नहीं रखना – यह धर्म का लक्षण है। इस परिभाषा के द्वारा लोकमान्य ने 'हिन्दू धर्म' का ही लक्षण प्रतिपादित किया था।

परम पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज ने 20वीं शताब्दी ईस्वी में ही हिन्दू की यह परिभाषा दी है –

> गोषु भक्तिभवेद्यस्य प्रणवे च दृढा मतिः।
> पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दूरिति स्मृतः।।

अर्थात् जो गौभक्त हो, ओंकार में तथा पुनर्जन्म में जिसकी अटल श्रद्धा हो, वह हिन्दू है।

महात्मा गाँधी ने स्वयं को पक्का सनातनी हिन्दू कहा है। उनके अनुसार हिन्दू वह है जो निम्न मान्यताओं पर श्रद्धा रखता है –

1 वेद सृष्टि के आरम्भ से हैं और वे सर्वपूज्य हैं।

2 कर्मफल अटल है और अनिवार्य है।

3 पुनर्जन्म सत्य है।

4 ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है।

5 प्रत्येक जीव में ईश्वर का अंश है। अतः वह सदा ही पवित्र है। परन्तु अपने चित्त के मल और कषाय के कारण उसे यह आत्मज्ञान नहीं रहता।

6 अहिंसा ही परम धर्म है। अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी के प्रति द्रोहभाव का

सम्पूर्ण अभाव। किसी के भी प्रति द्रोह और द्वेष दुर्भाव रखना हिंसा है। हिंसा का अभाव अहिंसा है।

7 गौरक्षा प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है।

स्वातंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू की यह परिभाषा दी है –

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दूरिति स्मृतः।।

अर्थात् सिन्धु महानद से लेकर समुद्रपर्यन्त विस्तृत भारतभूमि को जो अपनी पितृभूमि और पुण्यभूमि माने, वह हिन्दू है।

इसी प्रकार प्रभाकर श्रीधर रोड़े ने 'वृद्धस्मृति' का एक श्लोक इस विषय में उद्धृत किया है–

हिंसया दूयते यश्च सदाचरणतत्परः।
वेदगोप्रतिमासेवी स हिन्दूमुखशब्दभाक्।।

अर्थात् जो प्राणीमात्र और समस्त् महाभूतों के प्रति किसी भी प्रकार का द्वेष और द्रोह नहीं रखे तथा सदाचरण में उत्साहपूर्वक रत रहे, वेदों के प्रति जिसकी श्रद्धा हो और उनका अध्ययन, मन्न, श्रवण करे, गौसेवा करे तथा देवप्रतिमा के प्रति श्रद्धा रखे वही हिन्दू है।

आचार्य विनोबा भावे के अनुसार हिन्दू की परिभाषा यह है –

यो वर्णाश्रमनिष्ठावान् गोभक्तः श्रुतिमातृकः।
मूर्ति च नावजानाति सर्वधर्मसमादरः।।

उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तस्मान्मोक्षणमीहते।
भूतानुकूल्यं भजते स वै हिंदुरिति स्मृतः।।
हिंसया दूयते चित्तं तेन हिंदुरितीरितः।।

अर्थात् जो वर्णाश्रम व्यवस्था में निष्ठा रखता है, गौभक्त है, श्रुतियों को अपनी माता के समान पूज्य मानता है और सभी धर्मों का समान भाव से आदर करता है जिसका अर्थ है सबके लिये एक ही कसौटी रखता है, जो देवमूर्ति की अवमानना नहीं करता, पुनर्जन्म में जिसकी श्रद्धा है और जीवन मरण के चक्र से मुक्त होने की जो अभीप्सा रखता है तथा सभी जीवों से अनुकूल बर्ताव करता है और हिंसा से जिसका चित्त दुखी होता है, वह हिन्दू है।

इस तरह आधुनिक काल में हिन्दू की परिभाषा की निरन्तरता बनी रही है। प्राचीनतम वैदिक काल से लेकर निरन्तर हजारों वर्षों से हिन्दू शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में लगातार चल रहा है। इसकी प्राचीनता प्रमाणित है और आधुनिक समय में भी इसका प्रयोग स्पष्ट और निश्चित अर्थ में ही किया जाता है। भारतवर्ष के वे सभी लोग हिन्दू हैं जो शाश्वत सार्वभौम यमों और नियमों के पालन–रूपी मानवधर्म में अटल श्रद्धा रखते हैं।

1.7 सारांश

हिन्दू शब्द की पहचान कराने वाले तथ्यों का उल्लेख वेद से ही प्रारम्भ हो जाता है। इस इकाई में आपने ऋग्वेद और अथर्ववेद के सन्दर्भों का प्रारम्भ से ही अध्ययन किया है जिनमें हिन्दू विषयक तथ्यों का उल्लेख है। उन वर्णनों में सप्तसिन्धु और आर्य जैसे शब्दों से परिभाषित करते हुए मन्त्रों को भी उदाहरण के रूप में दिया गया है। वेद के बाद अन्य प्राचीन उदाहरणों में भी आपने पुराणिक मान्यता के आधार पर भी हिन्दू विषयक जानकारी प्राप्त किया है जैसे–

'भविष्य पुराण' के प्रतिसर्ग पर्व के प्रथम खण्ड में कहा गया है –

'सप्त हिन्दूर्यावनी च'। अतः हिन्दू शब्द का वहाँ भी प्रयोग है।

भविष्य पुराण में हिन्दू शब्द का प्रयोग अनेक बार है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भविष्य पुराण में सिन्धु स्थान और हिन्दू शब्द दोनों का ही प्रयोग हुआ है। भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के खण्ड दो में लिखा है –

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।

अर्थात् सिन्धु स्थान 'या हिन्दू स्थान' आर्यों का उत्तम राष्ट्र है।

कालिका पुराण में कहा है –

कालेन बलिना नूनमधर्मकलिते कलौ।
यवनैर्घोरमाक्रान्ता हिंदवो विन्ध्यमाविशन्।।

अर्थात् बलवान कलि के प्रभाव से जब धर्म की न्यूनता हो गई, तब गंगा–यमुना क्षेत्र से चलकर हिन्दू लोग विंध्य क्षेत्र में भी बस गएँ यहाँ हिन्दू शब्द का स्पष्ट प्रयोग है।

'अद्भुत कोष' में लिखा है 'हिन्दूहिन्दूश्च प्रसिद्धौ दुष्टानां च विघर्षणें।' अर्थात् 'हिन्दू दुष्टों के मान–मर्दन के लिये प्रसिद्ध है।' इसी प्रकार 'शब्द कल्पद्रुम कोष' में आया है 'हीनं दूषयति इति हिन्दूः'। अर्थात् 'जो हीन भावों एवं हीन आचरण से दूरी बनाकर रखता है, वह हिन्दू है।'

पारसीकों का प्राचीन धर्मग्रन्थ है 'अवेस्ता'। उसमें भी हिन्दू शब्द का उल्लेख है।

'हुएनसांग की भारतयात्रा' पुस्तक के दूसरे अध्याय में हुएनसांग ने आरम्भ में ही कहा है– ''भारत का प्राचीन नाम 'शिन्तो' और 'हीन्दो' था। परन्तु शुद्ध उच्चारण 'इन्दु' है। यह उच्चारण सुनने में सुंदर है। चीनी भाषा में इसका अर्थ चन्द्रमा होता है। यह प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण प्राणी अज्ञान रूपी रात्रि में संसार चक्र का निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। उन्हें किसी अन्य नक्षत्र का सहारा नहीं है। चन्द्रमा ही उस रात्रि में प्रकाश देता है। ठीक ऐसा ही प्रकाश महात्माओं और पवित्र विद्वानों का है। वे चन्द्रमा के समान संसार के जीवों को मार्ग दिखाते हैं। अतः अपनी पवित्रता और विद्वता के कारण इन विद्वानों के देश को 'इन्दु' कहा जाता है। इतिहास में इसी कारण लोग सामान्यतः भारतवर्ष को ब्राह्मणों का देश कहते हैं। जिसका अर्थ है विद्वानों और महात्माओं का देश। इसीलिये इसका मूल नाम 'इन्दु' है और हम इसे इन्दु नाम से ही वर्णन करेंगे। इसके तीन तरफ समुद्र है और उत्तर में हिमालय पर्वत है।

इस प्रकार शास्त्रों, तन्त्र ग्रन्थों तथा पुराणों में हिन्दू शब्द के प्राचीन प्रयोग हैं। साथ ही, यवनों और पारसीकों के शास्त्रों एवं वृतान्तों में हिन्दू शब्द का प्राचीन प्रयोग पाया जाता है।

1.8 शब्दावली

1. विषाक्त वाणी – जिन कथनों से अप्रिय बात निकलती है उसे विषाक्त वाणी कहते हैं। अथवा ऐसे वचन जो हितकर न हो
2. देशवाचक–भूभाग की सीमा में रहने वाला अथवा विशिष्ट पहचान की संस्कृति वाला।
3. गुणधर्मवाचक– मानवता, मूल्य, आचार जैसे आदर्शों का पालक।
4. आर्यावर्त–भारतवर्ष का नाम है। इसके लिए सरस्वती और दृशद्वती नदियों के अन्तर अर्थात् बीच के हिस्से से पहचान कराने का अर्थ ग्रहण किया जाता है।

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

इस इकाई में दिये गये विषयों को विस्तार से जानने के लिये निम्न शास्त्रों को देखना होगा–

1. बृहस्पति आगम
2. मेरूतंत्र
3. भविष्य पुराण
4. कालिका पुराण
5. हुएनसांग की भारतयात्रा (ठाकुर प्रसाद शर्मा कृत), शब्द महिमा प्रकाशन, दिल्ली
6. महाभारत (विशेषतः उद्योगपर्व, भीष्मपर्व के अन्तर्गत जम्बखण्ड निर्माण पर्व एवं शान्तिपर्व)
7. श्रीमद्भगवद्गीता
8. भारत का संविधान
9. कल्याण का 'हिन्दू संस्कृति अंक', गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित
10. माधव सदाशिव गोलवलकर कृत – 'विचार नवनीत'
11. हिन्दुत्व (हिन्दू धर्मकोष), रामनाथ गौड़, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

1.10 बोध प्रश्न

1. वैदिक मान्यता में हिन्दू विषयक तथ्यों का वर्णन कीजिए।
2. हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. हिन्दू और भारतीय पर टिप्पणी।
4. हिन्दू शब्द के आधुनिक प्रयोग पर टिप्पणी लिखिए।
5. क्या हम 'आर्यावर्त;'भारत' एवं हिन्दू शब्द के पर्याय के रूप में देख सकते हैं? विवेचना कीजिए।

इकाई 2 पालि- प्राकृत वाङ्मय में हिन्दू संकल्पना के परिप्रेक्ष्य

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य

पालि - प्राकृत वाङ्मय में हिन्दू संकल्पना के परिप्रेक्ष्य का अध्ययन कर लेने के बाद आप:

- पालि साहित्य में पुण्यभूमि की अवधारणा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे
- पुराण, जैन एवं तिब्बती साहित्य में जम्बूद्वीप के उल्लेख और उनके संदर्भों को समझ सकेंगे
- साथ ही साथ तत्कालीन जम्बूद्वीप की भौगोलिक, राजनीतिक विस्तार और सीमाओं को समझ पाएँगे
- जम्बूद्वीप भूभाग के सांस्कृतिक, सामाजिक और व्यापारिक पहलुओं पर समझ बना सकेंगे
- अन्ततः पालि वाङ्मय में हिन्दू संकल्पना के विभिन्न परिप्रेक्ष्य पर समझ विकसित कर पाएँगे

2.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाई में आप पढ़ चुके है कि सिन्धु से लेकर समुद्रपर्यन्त विशाल भू- भाग में निवास करने वाले जनसमूह को हिन्दू नाम से जाना जाता है। भारत के इतिहास में बौद्ध- युग, सामाजिक और धार्मिक नवचेतना के साथ बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों के लिए भी जाना जाता है। सत्य और अहिंसा से दुःखों के निवारण के लिए बुद्ध और महावीर द्वारा स्थानीय भाषा में दिए गए उपदेशों का जनसाधारण और विश्व में प्रचार हुआ। महात्मा बुद्ध ने दर्शन की

जटिलताओं में न जाकर सरल आचार संहिता को अपनाने और तत्कालीन कुरीतियों का विरोध किया। विनय- पिटक, भिक्षु संघ के नियमों का संकलन है, जबकि सुत्त- पिटक में बुद्ध के प्रवचन हैं और अभिधम्म- पिटक में दार्शनिक विषयों का आलोचनात्मक वर्णन है।पालि त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में बुद्ध- काल के भारत के लिए जम्बूद्वीप (सं0जम्बद्रीप) नाम का प्रयोग किया गया है। बौद्ध- संस्कृत साहित्य में जम्बुद्वीप या भारत का एक नाम इन्द्रवर्द्धन भी है। तिब्बती परम्परा में भी भारत के लिए जम्बुद्वीप नाम का प्रयोग मिलता है। "जम्बुद्वीप" नाम के पीछे यहाँ जम्बु (जामुन) नामक वृक्ष, जिसके वृहदाकार का अतिशयोक्तिमय वर्णन किया गया है, अधिकता से पाया जाना भी बताया गया है।"

जम्बुद्वीप का चीनी रूपान्तर "चम्पु" है और इस नाम का प्रयोग चीनी यात्री यूआन् चुआङ ने किया है।यूआन् चुआङ ने भारतवर्ष के लिये जम्बुद्वीप (चीनी चम्पु) और "यिन्तु", दोनों नामों का प्रयोग किया है। चूँकि मगध देश बौद्धों का पवित्रतम स्थान था, अतः, कभी- कभी चीनी लोग सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए "मगध" नाम का भी प्रयोग करते थे।भारतीय समाज में ब्राह्मणों की प्रमुखता होने के कारण चीनी लोग "ब्राह्मण- देश" (पोलोमेनू कु- ओ) के नाम से भी भारतवर्ष को जानते थे।सिंहल के पालि इतिहास- ग्रन्थोंमें जम्बुद्वीप को सीहरु दीप (सिंहल द्वीप और तम्बपण्णि दीप (ताम्रपर्णि द्वीप) से, जिन दोनों से तात्पर्य वर्तमान लंकाद्वीप से है, अलगदेश बताया गया है।

बुद्ध के दृष्टिकोण में कुछ महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों में दुःख, मध्यम- मार्ग, अनित्यता, अनात्मवाद, कर्म और कर्मफल का सम्बन्धतथा समता,इत्यादि प्रमुख रूप से है। बुद्ध- धर्म तथा सिद्धान्तों की वैदिक तथ्यों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि बुद्ध की अनेक मौलिक शिक्षाएँ,उपनिषदों से अंगीकृत थीं।

2.2 पालि त्रिपिटक में जम्बूद्वीप का परिचय

जम्बूद्वीप के रूप में भारत की भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का विवरण बौद्ध- साहित्य में प्रचुरता से उपलब्ध है। "विसुद्धिमग्ग" में कहा गया है "अनन्त चक्रवालों और अनन्त लोक- धातुओं को भगवान् (बुद्ध) ने अपने अनन्त बुद्ध- ज्ञान से जाना, विदित किया, समझा ।"प्रत्येक चक्रवाल का विस्तार बारह लाख, तीन हजार, चार सौ पचास योजन है और प्रत्येक का अपना अलग- अलग सूर्य है, जो उसे प्रकाश देता है। हमारी पृथ्वी, इन्हीं अनन्त चक्रवालों में से एक है, चौबीस नहुत अर्थात् 2 लाख 40 हजार योजन (एक नहुत बराबर दस हजार योजन) मोटी है और चारों और समुद्र से घिरी हुई है।यह चार महाद्वीपों (चतुनं महादीपानं) से युक्त है, जिनके नाम है; जम्बुद्वीप (जम्बूद्वीप), पुब्ब विदेह (पूर्वविदेह), उत्तरकुरु और अपरगोयान। ये चारों महाद्वीप सुमेरु (सिनेरु) पर्वत के चारों ओर अवस्थित हैं।सुमेरु पर्वत की ऊँचाई 168 योजन बताई गई है। सुमेरु के चारों ओर सात पर्वतश्रेणियाँ फैली हुई हैं, जिनके नाम हैं, युगन्धर, ईसधर, करवीक, सुदस्सन, नेमिन्धर, विनतक और अस्सकण्ण।

पालि विवरण में, जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह सुमेरु पर्वत के दक्षिण में है और उसमें हिमालय पर्वत सम्मिलित है । चौरासी हजार चोटियों से युक्त हिमालय (हिमवा) जम्बूद्वीप में है।इस बात से स्पष्ट होता है कि पालि त्रिपिटक में जिस जम्बूद्वीप का उल्लेख किया गया है, वह हिमालय के दक्षिण में अवस्थित है। महा- उम्मग्ग- जातक में कहा गया है कि जम्बूद्वीप सागर से परिवृत (परिब्बत) है। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण दक्षिण भारत, जो उस

समय की तरह आज भी सागरसंवृत है, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और पश्चिम में अरब सागर से घिरा है, जम्बूद्वीप के अंग रूप में पालि परम्परा को ज्ञात था। बुद्ध के जीवन काल में, जैसा निकायों से प्रकट होता है, दक्षिणापथ के रूप में दक्षिण भारत के केवल उस भाग का ज्ञान प्रारम्भिक पालि परम्परा को था, जो गोदावरी और अस्सक अलक जनपदों से ऊपर का था। इस प्रकार अवन्ती जनपद की उज्जेनी (उज्जयिनी) और माहिस्सति (माहिष्मती) नगरियों से वह सुपरिचित थी। "अपदान" में दक्षिण भारत के अन्धका (आन्ध्र), सबरा (शबर), दमिला (तमिल) और कोलका (चोल) जैसे लोगो के उल्लेख अवश्य हैं और इसी प्रकार "जातक" में दमिलरट्ठ और चोलरट्ठ केभी। परन्तु, गोदावरी से परे दक्षिणी प्रदेश के साथ सम्पर्क के साक्ष्य बुद्ध के जीवनसे काल में नहीं मिलते। अवन्ति- दक्षिणापथ में भी बुद्ध के जीवन काल में बहुत कम भिक्षु थे।अशोक के काल में महारट्ठ या महाराष्ट्र (शिलालेख पंचम और त्रयोदश) के साथ-साथ दक्षिण भारत के सत्यपुत्र, केरलपुत्र, चोल और पाण्ड्य (शिलालेख द्वितीय) जैसे प्रदेश भी सुविज्ञात थे, ऐसा उसके अभिलेखों से प्रकट होता है। इसी प्रकार पालि त्रिपिटक के प्रथम चार निकायों में लंका का उल्लेख नहीं है, परन्तु, अशोक के समय में वह एक सुविज्ञात द्वीप था, जहाँ उसके प्रव्रजित पुत्र और पुत्री धर्म- प्रचारार्थ गये थे।

मज्झिम- निकाय के उपालि- सुत्त में कलिंगारण्य का उल्लेख है। दीघ- निकाय के महागोविन्द सुत्त में कलिंग राज्य और उसकी राजधानी दन्तपुर का उल्लेख है और इसी प्रकार दीघ- निकाय के महापरिनिव्याण- सुत्त तथा संयुत्त- निकाय के ओकिलिनी- सुत्त में कलिंग राजा के देश का उल्लेख आया है। संयुत्त- निकाय के उदायि- सुत्त, सेदक- सुत्त और जनपद- सुत्त में सुम्भ (सुझ) जनपद का उल्लेख है, जिसे आधुनिक हजारीबाग और संथाल परगने के जिलों से मिला सकते हैं।

जहाँ तक भारत या जम्बूद्वीप की पश्चिमी सीमा का सम्बन्ध है, पालि त्रिपिटक में 'अपरन्त' (अपरान्त) का वर्णन तो है ही, सुसन्धि जातक में भरुकच्छ (भड़ौच) का स्पष्टत: उल्लेख है।भगवान् बुद्ध के कई शिष्य, भरुकच्छ के निवासी थे। उदान में सुप्पारक (वर्तमान सोपारा) का उल्लेख है। सूनापरान्त जनपद (कोकंण प्रान्त या ठाणे और सूरत जिलों के कतिपय अंश) बुद्ध के जीवन काल में न केवल ज्ञात था, बल्कि बुद्ध- शिष्य स्थविर पूर्ण (जो वहाँ के निवासी थे और पहले व्यापारार्थ श्रावस्ती तक आते- जाते थे) वहाँ धर्म प्रचार करने के लिए भी गये थे।मज्झिम- निकाय के पुण्णोवाद सुत्त और संयुत्त- निकाय के पुण्ण- सुत्त में इसका उल्लेख है।

जम्बूद्वीप की उत्तर- पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि गन्धार और कम्बोज नामक जनपद जम्बूद्वीप के सोलह महाजनपदों में सम्मिलित बताये गये हैं, जिसका आधुनिक तात्पर्य यह होगा कि अफगानिस्तान और कश्मीर का काफी भाग उस समय जम्बूद्वीप की सीमा के अन्तर्गत माना जाता था। अशोक के शिलालेखों में गन्धार (शिलालेख पञ्चम) और यवन (शिलालेख पञ्चम और त्रयोदश) जनपदों का तो उल्लेख है ही, उसने अपने तेरहवे शिलालेख में सिरिया के तत्कालीन राजा अन्तियोकस को अपना पड़ोसी राजा (प्रत्यन्त नरपति) बताया है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि बुद्धकालीन जम्बूद्वीप, उत्तर में हिमालय (हिमवा) से लेकर दक्षिण में समुद्र- तट तक (यद्यपि केवल गोदावरी के तट तक के स्पष्ट वर्णन निकायों में प्राप्त हैं और उससे परे दक्षिण भारत के साथ सम्पर्क के साक्ष्य केवल अशोक के युग में मिलते हैं) और पूर्व और दक्षिण- पूर्व में बंग, सुझ, उत्कल और कलिंग से लेकर पश्चिम में सिन्धु- सोवीर और उत्तर- पश्चिम में अफगानिस्तान और कश्मीर तक फैला हुआ प्रदेश माना जाता था।

जम्बूद्वीप के आकार के सम्बन्ध में पालि त्रिपिटक में जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि जम्बूद्वीप के दक्षिण में समुद्र तट तक का ज्ञान बुद्ध के जीवनकाल में लोगों को था। दीघ-निकाय के महागोविन्द सुत्त में महापठवी(जिससे वहाँ जम्बूद्वीप से तात्पर्य है)उत्तर की ओर चौड़ी या विस्तृत (आयत) और दक्षिण की ओर वैलगाड़ी (शकट) के अग्र भाग (मुख) की शक्ल की कही गई है। "उत्तरेण आयतं दक्खिणेन सकटमुखं"।

2.2.1 पालि त्रिपिटक में जम्बूद्वीप का प्रादेशिक विभाजन

पालि त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में जम्बूद्वीप के प्रायः तीन प्रकार के प्रादेशिक विभाजन प्राप्त हैं। पहला विभाजन सोलह महाजनपदों के रूप में है। दूसरा विभाजन तीन मण्डलों के रूप में है, जिनके नाम हैं, महामण्डल, मज्झिममण्डल और अन्तिममण्डल या अन्तोमण्डल। यह विभाजन भिक्षुओं की चारिकाओं की सुविधा के लिए किया गया था, जिसका अनुगमन स्वयं भगवान् भी करते थे। समन्तपासादिका में कहा गया है कि भगवान् महापवारणा (आश्विन पूर्णिमा के दिन निकल कर महामंडल के ग्राम, निगमों आदि में चारिका करते हुए नौ मास में अपनी यात्रा को समाप्त करते थे।)। महामण्डल का विस्तार यहाँ900 योजन दिया गया है। मज्झिममण्डल, जिसे ही मध्य देश कहा जाता है, विस्तार में 600 योजन था।

पालि त्रिपिटक में मज्झिम देस को जम्बूद्वीप का सर्वश्रेष्ठ प्रदेश बताया गय है। जम्बूद्वीप में जन्म लेने का संकल्प करने के पश्चात् बोधिसत्व उसके प्रदेश के विषय में सोचते हुए मध्यम देश को ही अपनी जन्मभूमि के रूप में चुनते हैं। जातक अट्ठकथा में कहा गया है "मध्यम देश की पूर्व दिशा में कजंगल नामक कस्बा है। उसके बाद बड़े शाल के वन हैं और फिर आगे सीमान्त प्रदेश। पूर्व- दक्षिण में सललवती नामक नदी है, उसके आगे सीमार देश । दक्षिण दिशा में सेतकणिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में थूण नामक ब्राह्मण- ग्राम है, उसके पश्चात सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीर ध्वज नामक पर्वत है,तत्पश्चात सीमान्त देश।"

प्रसिद्धसंस्कृतकविराजशखरकीकाव्यमीमांसा में अन्तर्वेदी प्रदेश की सीमाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है "तत्र वाराणस्याः परतः पूर्वदेश, माहिष्मत्याः परतः दक्षिणापथः, देवसभायाः परतः पश्चाद्देशः, पृथुदकात परतः उत्तरापथः। विनशनप्रयागयोश्च गंगायमुनयोश्च अन्तरम् अन्तबंबी।" इस प्रकारमनुस्मृति और काव्यमीमांसा में मध्यदेश या अन्तर्वेदी प्रवेश को पूर्वी सीमा क्रमशः प्रयाग और वाराणसी बताई गई हैं, जबकि पालि परम्परा में उसे मगध के कजंगल नामक निगम तक बताया गया है। कजंगल की यात्रा करने के लिए चीनी यात्री यूआन् चुआङ सातवीं शताब्दी ईसवी में गया था। उसने उसे चम्पा के पूर्व 400'ली' अर्थात् करीब 67 मील की दूरी पर अवस्थित देखा था। कनिंघम ने यूआन् चुआङ के "क- चु- वेन्- कि- लो" या "कि- चु- खि- लो" की पहचान वर्तमान कंकजोल नामक स्थान से की है,जो राजमहल से अठारह मील दक्षिण में बिहार राज्य के जिला संथाल परगना में है। बुद्धकालीन कजंगल भी यही स्थान है। महापंडित राहुल सांकृत्यायनने कनिंघम की इस पहचान को स्वीकार किया है।

बौधायन धर्मसूत्र में आर्यावर्त की जो पूर्वी सीमा निर्धारित की गई है, वह कालक वन तक ही है,जिसे प्रयाग या उसके किसी समीपवर्ती स्थान से मिलाने का प्रयत्न किया गया है।इसी प्रकार मनुस्मृति में भी, जिसने आर्यावर्त देश के लिए "मध्य देश" नाम का प्रयोग किया है, "प्रत्यगेव प्रयागाच्च" कहकर प्रयाग को ही मध्य- देश की पूर्वी सीमा ठहराया गया है।

जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने प्राचीन आर्य आदर्शों को अपने व्यक्तित्व से पूर्णता प्रदान की, वही बात बौद्ध परम्परा ने मध्य देश की सीमा का सार्थक विस्तार करके की। बौद्ध परम्परा ने जो मध्य देश की सीमा को बढ़ाया है, वह आर्य संस्कृति को उसका प्रकृत गौरव देने के लिए ही किया है। हाँ, बौद्ध धर्म के कारण मगध को विशेष गौरव मिला और बाद में पौराणिक परम्परा ने उस मगध की भूमि को, जिसे प्राचीन वैदिक परम्परा ने "पाप- भूमि" माना था, पवित्र और पुण्यमयी माहात्म्य गाते हुए कहा, "कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्"। यह बौद्ध धर्म द्वारा किये गये महत् कार्य की पौराणिक ढंग से स्वीकृति ही तो है, जिसे पौराणिक परम्परा ने बौद्ध- धर्म की देन को स्वीकार करते हुए अपनाया है।

मज्झिम देश की पूर्वी सीमा के परे पालि विवरण में "महासाला" कहे गये हैं। "महासाला" का अर्थ विनय पिटक के हिन्दी अनुवाद में महापण्डित राहुल सांकृत्मायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने "बड़े शाल के वन" किया है।

अब हम मध्यदेश की दक्षिणी सीमा पर आते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, वह सेतकण्णिक नामक निगम तक थी। सेतकण्णिक की आधुनिक पहचान करने का प्रयत्न किसी विद्वान् ने नहीं किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी इसके सम्बन्ध में केवल यह लिखा है "हजारीबाग जिले में कोई स्थान था।"सुह्म नामक जनपद में महापण्डित सांकृत्यायन के अनुसार वर्तमान हजारीबाग और संथाल परगना जिलों का अंश सम्मिलित था। सुह्मों के कस्बे सेतक, सेदक या देसक में भगवान् ने विहार किया था और यहीं उन्होंने संयुत्त- निकाय के उदायि- सुत्त,सेदक- सुत्तऔर जनपद- सुत्तका उपदेश किया था।मज्झिम देश की दक्षिणी सीमा के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि बौधायन धर्म- सूत्र में आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा पारिपात्र या पारियात्र (विन्ध्य पर्वत श्रेणी का कोई भाग, सम्भवतः अरावली पर्वत) निर्धारित की गई थी, जब कि मनुस्मृति में मध्यदेश को "हिमवद्- विन्ध्ययोमध्यम्" कहा गया है।काव्यमीमांसा के "अन्तर्वेदी" की दक्षिणी सीमा माहिष्मती नगरी थी। माहिष्मती (माहिस्सति) का नाम पालि त्रिपिटक को भी ज्ञात है और उसे दीघ- निकाय के महागोविन्द सुत्त में अवन्ति- दक्षिणापथ की राजधानी बताया गया है। माहिष्मती को नर्मदा नदी पर स्थित आधुनिक मान्धाता नामक नगर से मिलाया गया हैया उसे महेश्वर (इन्दौर) भी बताया गया है।

मध्य देश की पश्चिमी सीमा पालि विवरण में थूण नामक ब्राह्मण- ग्राम बतायी गयी है। दिव्यावदानमें इसे "स्थूण" कहकर पुकारा गया है। सुरेन्द्रनाथ मजूमदार ने इसे स्थाण्वीश्वर या वर्तमान थानेश्वर (जिला करनाल) से मिलाया है।डॉ0 विमलाचरण लाहाऔर महापण्डित राहुल सांकृत्यायनका भी इसी प्रकार का मत है। बुद्ध- काल में एक ही नाम के कई नगर और ग्रामों के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं। उदाहरणत: कुण्डी या कुण्डिया नामक एक ग्राम कोलिय जनपद में था और कुण्डी, कुण्डिय या कुण्डि कोल नामक एक अन्य ग्राम कुरु जनपद में भी। इसी प्रकार वेलुव गाम नामक एक गाँव वज्जि जनपद में था और इसी से मिलते- जुलते नाम का वेलुगाम नामक एक दूसरा ग्राम अवन्ती राज्य में भी था। (उत्तर) मधुरा और (दक्षिण) मधुरा तो प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार काव्यमीमांसा में देवसभा के पश्चिम में पश्चिमी देश बताया गया है। "देवसमायाः परतः पश्चाद्देशः"। अर्थात् अन्तर्वेदी देश की पश्चिमी सीमा 'देवसभा' बताई गई है, जिसे अक्सर आधुनिक देवास से मिलाया जाता है।

मध्य देश की उत्तरी सीमा पर पालि विवरण के अनुसार उसीरद्धज (उशीर ध्वज) पर्वत अवस्थित था। हल्श ने इसे हरिद्वार के समीप कनखल के उत्तर में उशीरगिरि नामक पर्वत से

मिलाया था।जिसे ठीक माना जा सकता है। यूआन् चुआङ ने मथुरा के समीप उरुमुण्ड पर्वत के पास "शीर" या "उशीर" पर्वत का उल्लेख किया है,परन्तु, नाम साम्य होने पर भी इसका हमारे "उशीरध्वज" में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मोटे तौर पर हम देखते हैं कि पालि त्रिपिटक में निर्दिष्ट मज्झिम देस उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक फैला था और पूर्व में अंग जनपद से लेकर पश्चिम में कुरु राष्ट्र तक। जातक अट्ठकथा में मध्य देश के विस्तार के सम्बन्ध में कहा गया है कियह मध्यदेश लम्बाई में तीन सौ योजन, चौड़ाई में ढाई सौ योजन और घेरे में नौ सौ योजन है।

2.2.2 पालि साहित्य में दक्षिण भारत

विनय- पिटक के महावग्ग में सललवती (सिलई) नदी को मज्झिम देश की पूर्व- दक्षिणी और सेतकणिक नामक निगम को उसकी दक्षिणी सीमा बताया गया है। पालि परम्परा में उपर्युक्त स्थानों के दक्षिण का भाग ‘‘दक्खिणापथ" (दक्षिणापथ) कहलाता था। आचार्य बुद्धघोष ने ‘‘दक्षिणापथ" को गंगा के दक्षिण वाला जनपद बताया है।‘‘गंगाय दक्खिणतो पाकटं जनपदं। "उत्तरापथ" और "दक्षिणापथ" पहले क्रमशः उन मार्गों के नाम थे, जो श्रावस्ती से गन्धार और प्रतिष्ठान तक जाते थे। कालान्तर में यही दोनों नाम क्रमशः उन प्रदेशों के लिए प्रयुक्त होने लगे जहाँ से होकर वे मार्ग गुजरते थे। इस प्रकार "दक्षिणापथ" पर पड़ने वाले अवन्ती जनपद को उसी प्रकार "अवन्ति- दक्षिणापथ" कहा जाता था, जिस प्रकार "उत्तरापथ" मार्ग पर पड़ने बाली मधुरा (मधुरा) नगरी को "उत्तर मधुरा"। इस प्रकार "उत्तरापथ" और "दक्षिणापथ" शब्द जो पहले व्यापारिक मार्गों के लिये प्रयुक्त होते थे, कालान्तर में उन प्रदेशों के लिये होने लगे, जहाँ से होकर वे मार्ग जाते थे।'

विनय- पिटक के महावग्ग में दक्षिणापथ का उल्लेख प्राप्त होता है। धम्मपदट्ठकथामें दक्षिणापथ बैलों के लिए प्रसिद्ध बताया गया है और सुमंगल- विलासिनी में दक्षिण जनपद के लोगों के द्वारा मनाये जाने वाले ‘‘धरण’’ नामक महोत्सव का भी वर्णन किया गया है| विनय- पिटक में कहा गया है कि अवन्ति- दक्षिणापथ के लोग अक्सर चमड़े के बिछौनों का प्रयोग करते हैं और स्नान के प्रेमी होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दक्षिणापथ का ज्ञान पालि परम्परा को आरम्भ से ही था और वहाँ के लोगों के जीवन के सम्बन्ध में भी अट्ठकथाओं में सूचना मिलती है । सुत्त- निपात के पारायण- वग्ग के अनुसार गोदावरी नदी के आसपास का प्रदेश उस समय दक्षिणापथ कहलाता था। गोदावरी अस्सक और अलक (मूलक) राज्यों के बीच में होकर बहती थी । अलक गोदावरी नदी के उत्तर की ओर था और अस्सक उसके दक्षिण की ओर। सुत्त- निपात की अट्ठकथा में कहा गया है कि ये दोनों राज्य अन्धक (आन्ध्र) थे। पेतवत्थु की अट्ठकथा में ‘‘दमिल विसय" (तमिल प्रदेश) को दक्षिणापथ में बताया गया है। सामान्यतः हम विन्ध्याचल से दक्षिण के भाग को दक्षिणापथ कह सकते हैं। उसकी सीमा में बुद्धकालीन भारत के सोलह महाजनपदों में से अस्सक जनपद तो निश्चयतः सम्मिलित था ही, अवन्ती जनपद का दक्षिणी भाग (अवन्तिदक्षिणापथ) भी सम्मिलित था| विनय- पिटकऔर जातक के उक्कल (उत्कल)जनपद को भी, जिसके दो भागों ओड्ड (ओड्र) और ओक्कल (उत्कल) का अपदानमें भी वर्णन है, दक्षिणापथ में ही मानना तर्कसंगत होगा। उत्कल जनपद वंग और कलिंग के बीच में था।

दक्षिणापथ की जिन मुख्य नदियों का उल्लेख पालि त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में हुआ है, उनके नाम हैं;गोदावरी (गोधावरी), नर्मदा (नम्मदा), कावेरी, कृष्णवेणा (कण्हपेण्णा या कण्णवेणा) और तेलवाह।गोदावरी नदी, पालि परम्परा की प्रारम्भिक मान्यता के अनुसार दक्षिणापथ की उत्तरी सीमा थी।

पालि साहित्य की नम्मदा (नर्मदा) नदी आधुनिक नर्मदा नहीं है, जो अमरकंटक पर्वत से निकल कर पश्चिम में बहती हुई खम्भात की खाड़ी में गिरती है। कक्कट जातक में इस नदी में बड़े आकार के केकड़ों के पाये जाने का उल्लेख है। चित्त- सम्भूत जातक में भी नम्मदा नदी का उल्लेख है। पिटक साहित्य में वर्णित है कि सूनापरान्त जनपद के मंकुलकाराम से श्रावस्ती के लिए लौटते हुए भगवान् बुद्ध ने नर्मदा नदी को पार किया था। उन्होंने यहाँ नागराज की प्रार्थना पर नागों की पूजा के लिए नर्मदा के तट पर अपने चरण- चिह्न छोड़े थे।कण्णपेण्णा या कण्णवेण्णा नदी को एक जातक कथा में संखपाल नामक झील से निकल कर महिंसक राष्ट्र में बढ़ते दिखाया गया है और इसके उद्गम के समीप चन्दक नामक पर्वत को स्थित बताया गया है।इसी आधार पर डॉ0 मललसेकर ने इसे मैसूर (महिसक राष्ट्र) में बहने वाली कोई नदी बताया है । तेलवाह नदी का उल्लेख सेरिवाणिज जातक में है, जहाँ उसे सेरिव रट्ठ में बताया गया है। उसके तट पर अन्धपुर नामक नगर स्थित था। डॉ0 डी0 आर0 भण्डारकर ने तेलवाह नदी को मद्रास राज्य और मध्य प्रदेश की सीमाओं पर बहने वाली तेल या तेलिनगिरि नामक दो नदियों में से, जो पास- पास बहती हैं, किसी एक से मिलान का प्रस्ताव किया है।परन्तु,डॉ0 हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि सम्भवतः तुंगभद्रा- कृष्णा ही तेलवाह नदी है ।

विन्ध्य पर्वत मज्झिम देस और दक्षिणापथ की सीमा पर स्थित था। महावंसमें महाराज अशोक के स्थल मार्ग से पाटलिपुत्र से विन्ध्यारण्य (विझारञ्ञ) को पार करने के बाद ताम्रलिप्ति पहुँचने का उल्लेख है। अवन्ती राज्य में ही पपात पब्बत था, जिसे कुररघर नामक नगर के पास बताया गया है। इन्द्रिय जातक के अनुसार, ऋषि काल देवल ने निवास किया था। इसे चन्दन पर्वत के रूप में मलया गिरि या मलबार वाट से मिलाया जा सकता है।परन्तु, इस लेखक का अनुमान है कि जहाँ से नर्मदा नदी निकलती है, वहाँ विन्ध्याचल और सतपुड़ा को जोड़ने वाला मेकल या मेखल नामक पहाड़ चन्द्राकार खड़ा है। सम्भव है पालिका चन्दक पर्वत यही हो। दण्डकारण्य (दण्डकारञ्ञ) और कलिंगारण्य (कालिगारञ्ञ) वनों का उल्लेख, अन्य दो वनों, मेज्झारञ्ञ (मेध्यारण्य) और मातंगारञ्ञ (मातंगारण्य) के साथ मज्झिम- निकाय के उपालि- सुत्त में किया गया है और मिलिन्दपञ्हो'में भी। वाल्मीकि रामायण के वर्णनानुसार पाजिटर ने दण्डकारण्य का विस्तार बुन्देलखण्ड से कृष्णा नदी के तट तक माना था।परन्तु, महाभारत के सभा - पर्व और वन पर्व के अनुसार उसे केवल गोदावरी के उद्गम के समीप का वन माना जा सकता है। ललित- विस्तरके दण्डक वन को दक्षिणापथ में स्थित माना जा सकता है। अतः, पालि परम्परा के अनुसार दण्डकारण्य को हम आसानी से दक्षिणापथ में स्थित वन मान सकते हैं। कलिंगारण्य कलिंग देश में, अर्थात् महानदी और गोदावरी के बीच में, स्थित वन था। सातवीं शताब्दी ईसवी में यूआन् चुआङ ने दण्डकारण्य और कलिंगारण्य के साथ मातंगारण्य को भी उजाड़ अवस्थामें देखा था। इससे ज्ञात होता है कि दण्डकारण्य और कलिंगारण्य के समान मातंगारण्य भी, जिसका उल्लेख पालि ग्रन्थों में उपर्युक्त दो वनों के साथ ही हुआ है, दक्षिणापथ में ही कहीं स्थित था।

2.3 अन्य धर्म ग्रन्थों एवं साहित्य में जम्बूद्वीप का विवरण

भारतीय पुराणों में जम्बुद्वीप का प्रयोग विभिन्न अर्थ में हुआ है। पुराणों के अनुसार पृथ्वी सप्त द्वीपों जम्बु, शाक, कुश, शाल्मल, क्रौंच, गोमेद और पुष्कर में विभक्त है, जिनमें एक जम्बुद्वीप है। जम्बुद्वीप के नव वर्ष हैं, जिनमें एक भारतवर्ष है। इस भारतवर्ष के भी नव भेद, खण्ड या द्वीप बताये गये हैं, जिनमें आठ के नाम इन्द्र द्वीप, कशेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वरुण और नवम के सम्बन्ध में केवल इतना कहा गया है "अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः"। "सागरसंवृतः" नवम द्वीप का नाम राजशेखर- कृत काव्यमीमांसा में कुमारी द्वीप बताया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि यह नवम द्वीप (कुमारी या कुमारिक द्वीप) ही वास्तविक भारत देश है और शेष आठ भाग बृहत्तर भारत के हैं।

जैन ग्रन्थ 'जम्बुदीवपण्यत्ति' में जम्बुद्वीप (प्राकृत जम्बुदीव) को एक महाद्वीप माना गया है और (पुराणों के 9 वर्षों के स्थान पर) उसके सात वर्षों या क्षेत्रों का वर्णन किया गया है,यथा; भरह, हेमवय, हरि, विदेह, रम्मग, हेरण्णवय और एरावय। जैन परम्परा के अनुसार जम्बुद्वीप के मध्य में मेरु (सुमेरु) पर्वत स्थित है। इससे विदित होता है कि जम्बुद्वीप को यहाँ प्रायः एशिया के समान माना गया है। इसके विपरीत पालि का जम्बुद्वीप सुमेरु (सिनेरु) पर्वत के दक्षिण में स्थित है और उससे स्पष्ट अभिप्राय भारत- देश से लिया गया है। जैन- परम्परा में जम्बुद्वीप के अंगभूत भरहवास (भारतवर्ष) के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह चुल्ल हिमवन्त के दक्षिण में और पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच में स्थित है। अतः, जैन- साहित्य के इस भरहवास (भारतवर्ष) से ही हम साधारणतः पालि के जम्बुद्वीप को मिला सकते हैं।

2.4 पालि वाङ्मय में हिन्दू संकल्पना के परिप्रेक्ष्य

सिन्धु से लेकर समुद्र पर्यन्त विशाल भू- भाग में वैदिक एवं वेदेतर परम्पराएँ समान गति से प्रवाहमान थी। बौद्ध- धर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों की वैदिक तथ्यों से तुलना करने पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि बुद्ध की मौलिक शिक्षाएँ तथा उपनिषदों की शिक्षाएँ एक ही हैं। इस तथ्य का अवलोकन हम आगे करने जा रहे हैं।

2.4.1 बौद्ध- धर्म और उपनिषद्

जगत् की उत्पत्ति के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् के मतानुसार आरम्भ में असत् ही विद्यमान था। उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई । इस असत् से सदुत्पत्ति के आधार पर ही बौद्धों ने उत्पत्ति से पहले प्रत्येक वस्तु को असद् माना है। शंकराचार्य ने भाष्य में इस 'सद्भाव' के सिद्धान्त को बौद्धों का विशिष्ट मत बतलाया है। नचिकेता ने जगत् के पदार्थों के विषय में स्पष्ट कहा है कि मर्त्यों के पदार्थ कल तक भी टिकने वाले नहीं हैं, ये समग्र इन्द्रियों के तेज (या शक्ति) को जीर्ण कर देते हैं; समस्त जीवन भी मनुष्यों के लिए अल्प है; संसार में वर्ण, प्रेम तथा आनन्द के अनित्य रूप का ध्यान रखने वाला व्यक्ति अत्यन्त दीर्घ जीवन से कभी प्रेम नहीं धारण कर सकता।प्रस्तुत कथन बुद्ध के सर्वं दुःखम्' तथा 'सर्वं - अनित्यम्' सिद्धान्तों का बीज प्रतीत होता है।

भिक्षु बनकर निवृत्ति का जीवन बिताना उपनिषद् का प्रधान ध्येय था। बृहदारण्यक के अनुसार मुक्ति के अभिलाषी पुरुष संसार की तीनों एषणाओं (पुत्रैषणा = पुत्र की कामना, वित्तैषणा = धन की कामना तथा लोकैषणा = यश, कीर्ति कमाने को अभिलाषा) का परित्याग कर भिक्षा

माँग कर अपना जीवनयापन करता है। इसी सिद्धान्त का विशद् रूप बौद्ध-भिक्खु तथा जैन-यतियों की व्यवस्था में दिख पड़ता है। बुद्ध से पूर्व भी भारत में भिक्षुओं की संस्था थी। इसका विस्तृत विवरण पाणिनि की अष्टाध्यायी देती है। पाणिनि के अनुसार पाराशर तथा कर्मन्द नामक आचार्यों ने भिक्षु- सूत्रों की रचना की थी।'भिक्षुसूत्र' से तात्पर्य उन सूत्रों से है, जिनका निर्माण भिक्षुओं की चर्या तथा ज्ञान बतलाने के लिए किया गया था। बुद्ध के निवृत्तिमार्ग की कल्पना ही वैदिक है। कर्मसिद्धान्त बौद्ध- धर्म के आचारशास्त्र की आधारशिला है। प्राणी अपने किये गए भले या बुरे कर्मों का फल अवश्यमेव भोगता है। कर्म का सिद्धान्त इतना जागरूक तथा प्रभावशाली है कि विश्व का कोई भी व्यक्ति इसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता । यह सिद्धान्त उपनिषों में विशेषतः प्रतिपादित लक्षित होता है। बृहदारण्यक में जरत्कारव ने याज्ञवल्क्य से ग्रह तथा अतिग्रह के विषय में जो प्रश्न पूछा था तथा जिसके अन्तिम उत्तर के लिए उन दोनों ने एकान्त में जाकर मीमांसा की थी, वह चरम उत्तर है- कर्म की प्रशंसा। 'पुण्य कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य पुण्यशाली होता है और पाप कर्म के आचरण से पापी होता है' (पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति।) यह कर्मसिद्धान्त उपनिषदों को सर्वथा मान्य है और इसी के प्रभाव से वर्तमान हिन्दू- धर्म में यह नितान्त ग्राह्य सिद्धान्त है । बौद्ध- धर्म में इसकी जो विशिष्टता दिख पड़ती है, वह उपनिषदों के ही आधार पर है। इस प्रकार बौद्ध- धर्म में असत् की कल्पना, जीवन की क्षणिकता, भिक्षाव्रत धारण करने वाले भिक्षु की चर्या, कर्मका सिद्धान्त- ये सभी सिद्धान्त उपनिषदों को मूल मानकर गृहीत हुए हैं।

2.4.2 बौद्ध- धर्म और सांख्य

दार्शनिक प्रणाली के रूप में सांख्यमत प्राचीनतम वैदिक दर्शन है। शाक्यमुनि के उपदेशों पर सांख्य- मत का कम प्रभाव नहीं दीखता। उपनिषदों के बीजों को ग्रहण कर ही कालान्तर में सांख्य- मत का उदय हुआ। सांख्य मत बुद्ध से प्राचीन है;इसके ऐतिहासिक प्रमाणों की कमी नहीं है। महाकवि अश्वघोष के बुद्धचरित के 12 वें सर्ग से गौतम तथा अलार कालाम नामक आचार्य की भेंट का वर्णन किया है। जिज्ञासु बनकर गौतम अलार के पास गये। तब अलार जिन तथ्यों का वृहत् रूप से प्रतिपादन किया, वे सांख्य के अनुकूल हैं।अव्यक्त तथा व्यक्त का भिन्न स्वरूप, पञ्चपत्र अविद्या के प्रकार तथा लक्षण, मुक्ति की कल्पना सभी कुछ सांख्यानुकूल है।

दार्शनिक दृष्टि से दोनों मतों में पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है-

दुःख की सत्ता पर दोनों बल देते हैं। संसार में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक - इन त्रिविध दुःखों को सत्ता इतनी वास्तव है कि इसका अनुभव पद- पद पर प्रत्येक व्यक्ति को मिलता है। बौद्ध- धर्म में आर्य सत्यों का प्रथम सत्य यही 'दुःख सत्य' है । वैदिक कर्मकाण्ड को दोनों गौण मानते हैं। ईश्वरकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि संसार के दुःख का निराकरण लौकिक उपायों के समान वैदिक (अनुश्रविक) उपायों के द्वारा भी सम्पन्न नहीं हो सकता। वैदिक यज्ञानुष्ठान में अविशुद्धि, क्षय (फल का नाश) तथा अतिशय (फलों में विषमता) विद्यमान है।

ईश्वर की सत्ता पर दोनों अनास्था रखते हैं। प्रकृति और पुरुष - इन्हीं दोनों को मूलतत्त्व मानकर सांख्य सृष्टि की व्यवस्था करता है। उसके मत में ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। बुद्ध ने ईश्वर के अनुयायियों की बड़ी खिल्ली उड़ाई है । कभी- कभी ईश्वरविषयक प्रश्न पूछने पर उन्होंने मौन का आवलम्बन ही श्रेयस्कर समझा।तात्पर्य यह है कि ईश्वर को दोनों मत अपने सिद्धान्त की पर्याप्तता के लिए कथमपि आवश्यक नहीं मानते ।

दोनों जगत् को परिणामशील मानते हैं। प्रकृति सतत परिणामशालिनी है, वह जड़ होने पर भी

जगत् का परिणाम स्वयं करती है। इसलिए वह स्वतन्त्र है - किसी पर अवलम्बित नहीं रहती। बुद्ध को भी यह परिणामशीलता का सिद्धान्त मान्य है। परन्तु, सांख्य चित्- शक्ति; अर्थात्, पुरुष को परिणामी नहीं मानता। पुरुष एकरस रहता है।

अहिंसा की मान्यता- - अहिंसा को जैन तथा बौद्ध- धर्म का मुख्य सिद्धान्त मानने की प्रथा है। परन्तु, वस्तुतः इसकी उत्पत्ति सांख्यों से हुई है। ज्ञानमार्ग कर्ममार्ग को सदा से सग्राह्य मानता है। पशुयाग में अविशुद्धि का दोष मुख्य है। पशुयाग श्रुतिसम्मत होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवतत्त्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है। सांख्ययोग की दृष्टि में यज्ञ में पशुहिंसा अवश्य होती है। पशु को प्राणवियोग का क्लेश सहना ही पड़ता है। जो सत्य सब प्राणियों का उपकारक होता है, वही ग्राह्य होता है। जिससे प्राणियों का अपकार होता है, वह 'सत्य' माना ही नहीं जा सकता है । सत्य से बढ़कर अहिंसा को आदर देने का यही रहस्य है। बौद्ध- धर्म में तो यह परम धर्म है ही।

आर्यसत्य के विषय में भी दोनों मतों में पर्याप्त समता है। दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा निरोधगामिनी प्रतिपद के प्रतीक सांख्य मत में सांख्य प्रवचन भाष्य के अनुसार इस प्रकार हैं- (1) जिससे हमें अपने को मुक्त करना है वह दुःख है, (2) दुःख का कारण प्रकृति पुरुष स्वभावतः भिन्न होने पर भी आपस में मिले हुए प्रतीत होते हैं, (3) मुक्ति होने से दुःख का निरोध हो जाता है; (4) मुक्ति का साधन विवेकजन्य ज्ञान – प्रकृति- पुरुष की अन्यताख्याति, पुरुष का प्रकृति से पृथक् होने का ज्ञान है।

दोनों में इस प्रकार पर्याप्त समानता है, विषमता भी कम नहीं है। इस साम्य को देखकर अनेक विद्वान् बौद्ध- धर्म को सांख्यमत का ऋणी बतलाते हैं । इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये सिद्धान्त षष्ठ शताब्दी विक्रम पूर्व में अवश्य विद्यमान थे। अतः, उस युग में उत्पन्न होने वाले धर्म को इन सिद्धान्तों से प्रभावित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

2.4.3 गीता और महायान सम्प्रदाय

उपनिषद् तथा बौद्ध - धर्म के दार्शनिक विचारों की समता का उल्लेख अभी किया जा चुका है। अब गीताधर्म और बौद्ध- धर्म के महायान सम्प्रदाय में कहाँ तक विचारसाम्य है तथा इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति का मूल आधार क्या है ? बुद्ध ने ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता को अस्वीकार कर अपने शिष्यों को आचार की शिक्षा दी। उन्होंने सम्यक्- दृष्टि,सम्यक्- आचार, सम्यक्- दर्शन, सम्यक्- व्यवहार इत्यादि अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश कर चरित्र- शुद्धि के ऊपर विशेष ध्यान दिया। संघ के अन्दर प्रवेश करने वाले भिक्षुओं के लिए इन्होंने अत्यन्त कठोर नियमों का आदेश दिया, जिससे संघ में किसी प्रकार की बुराई न आने पावे। इसके अतिरिक्त संसार को छोड़कर जंगल में रहने तथा अपनी इन्द्रियों के दमन करने की भो इन्होंने आज्ञा दी है। बुद्ध का समस्त जीवन ही आत्म- संयम, इन्द्रिय दमन एवं त्याग का उदाहरण था। उन्होंने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन मनुष्य को निवृत्ति- मार्ग की ओर ले जाने के लिए किया। तथागत ने मनसा, वाचा, कर्मणा मानव मात्र के निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके शिष्यों को इस धर्म के प्रचार की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः, उनके निर्वाण के कुछ ही दिनों पश्चात् लोगों ने उनको 'स्वयम्भू अनादि, अनन्त तथा पुरुषोत्तम' मानना प्रारम्भ कर महायान बौद्ध- ग्रन्थों में यह भी प्रतिपादन किया जाने लगा कि असली बुद्ध सारे जगत् के पिता हैं और जनसमूह उनकी सन्तान हैं। कर्म की अवस्था बिगड़ने

पर वह धर्मकृत्य के लिये समय- समय पर बुद्ध के रूप से प्रकट हुआ करते हैं और इस देवातिदेव की पूजा करने से, मक्ति करने से और उनकी मूर्ति के सम्मुख कीर्तन करने से मनुष्य को सद्गति प्राप्त होती है। इस प्रकार शनैः- शनैः एक नवीन- सम्प्रदाय का उदय हुआ, जो अपनी विशिष्टता के कारण अपने को महायानी (प्रशस्त मार्ग वाला) कहता था और इससे पूर्व वाले सम्प्रदाय को हीनयानी नाम से अभिहित करता है। महायान सम्प्रदाय में भक्ति की प्रधानता थी। इस मत के अवलम्बी भगवान् बुद्ध को अवतार के रूप में मानने लगे और मन्दिरों में उनकी मूर्ति बनाकर पूजा अर्चना भी करने लगे। इतना ही नहीं, इन्होंने लोकसंग्रह के भावों को भी अपनाया। इस प्रकार महायान- सम्प्रदाय में भक्ति की भावना तथा लोकसंग्रह का भाव विशेष रूप से पाया जाता है। यह विचारणीय है कि इस नवीन सम्प्रदाय की उत्पत्ति कैसे हुई ? क्या निवृत्ति प्रधान हीनयान धर्म से भक्ति तथा प्रवृत्ति प्रधान महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति संभव है ?

विज्ञों की यह निश्चित धारणा है किमहायान- सम्प्रदाय की उत्पत्ति गीता से ही हुई है और इस धारणा के लिए निम्नांकित प्रधान कारण हैं-

- केवल अनात्मवादी तथा संन्यास- प्रधान मूल हीनयान बौद्ध- धर्म से ही आगे चलकर क्रमशः स्वाभाविक रीति से भक्ति प्रधान तथा प्रवृत्ति प्रधान तत्त्वों का निकलना संभव नहीं है।
- गीता के भक्ति प्रधान तथा प्रवृत्तिप्रधान तत्त्वों को महायान मतों से अर्थतः तथा शब्दतः समानता है।
- बौद्ध- धर्म के साथ ही साथ तत्कालीन प्रचलित अन्यान्य जैन तथा वैदिक पन्थों में प्रवृत्ति प्रधान भक्ति मार्ग का प्रचार नहीं था।

प्रारम्भ में बौद्ध- धर्म संन्यासप्रधान तथा निवृत्तिमार्गी था । इस सम्प्रदाय में बुद्ध की पूजा के लिये कोई स्थान न था और मानापमान तथा सुख- दुःख से ऊपर उठे हुए भिक्षु को सांसारिक वस्तुओं से कुछ काम नहीं था। उनका सम्पूर्ण पवित्र जीवन निर्वाण प्राप्तिमें ही लगा रहता था। तिब्बती भाषा में बौद्ध- धर्म के इतिहास में तारानाथ ने स्पष्टरीति से उल्लेख किया है कि 'महायान सम्प्रदाय का मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन थे तथा उनके गुरू राहुलभद्र पहले ब्राह्मण थे। महायान- पन्थ की कल्पना के लियेराहुलभद्र ने श्रीकृष्ण और गणेश से प्रेरणा प्राप्त की।' एक अन्य तिब्बती ग्रन्थ से भी इसकी पुष्टि होती है। इसी बात को पश्चिमी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। तारानाथ द्वारा श्रीकृष्ण का नामोल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि महायान- पन्थ ने अपने अनेक सिद्धान्तों का ग्रहण भगवद्गीता से किया है।महायान स पूर्व जैन तथा वैदिक- धर्म की प्रधानता थी। ये दोनों धर्म निवृत्तिपरक हैं। अतः, इनसे महायान धर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

महायान सम्प्रदाय तथा गीता के दार्शनिक विचारों में इतनी समानता है कि वे एक दूसरे से प्रभावित हुए। गीता में श्रीकृष्ण ने लिखा है कि मैं पुरुषोत्तम ही सभी लोगों का पिता, और पितामह हूँ; मुझे न तो कोई द्वेष है और न प्रिय; मैं यद्यपि अज और अव्यय हूँ तथापि धर्मरक्षणा समय पर अवतार लेता हूँ। मनुष्य कितना भी दुराचारी क्यों न हो, परन्तु, मेरा भजन करने से वह साधु हो जाता है। इस प्रकार गीता में कर्मयोग तथा भक्तियोग का जो समन्वय पाया जाता है, अक्षरशः वही बातें महायान धर्म में भी पायी जाती हैं।

2.5 सारांश

जम्बूद्वीप के रूप में भारत सम्बन्धी बौद्ध एवं जैन विचारों को समझने के लिए और उसकी सीमा विस्तार एवं आकार के सम्बन्ध में ठीक धारणा निर्माण हेतु यह आवश्यक है कि पालि साहित्य, अट्ठकथाओं एवं जैन साहित्य में निहित सृष्टि विज्ञान सम्बन्धी बौद्ध एवं जैन विज्ञान को विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

बौद्ध- धर्म को उपनिषद् मार्ग से नितान्त भिन्न मानना उचित प्रतीत नहीं होता। उपनिषदों में जिस ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन है, उसी का एकांगी विकास बौद्ध- धर्म में परिलक्षित होता है। बौद्ध- धर्म परमार्थ को, जगत् के मूल में एक व्यापक प्रभावशाली सत्ता के रूप में स्वीकार करता है; उसके लिए बौद्ध केवल निषेधात्मक शब्दों का व्यवहार करते है। वेद एवं वेदेतर धर्मों में इतना ही अन्तर है। परमतत्व के विवेचन की दो धारायें हैं- सत् धारा और असत् धारा। सत् धारा वेदों में निहित है वहीं, असत् धारा का विस्तार वेदेतर धर्म में लक्षित है। वस्तुतः, परमार्थ शब्द अनिर्वचनीय है। उपनिषदों के नेति- नेति उपदेश का एवं बुद्ध के मौनावलम्बन का तात्पर्य एक ही है। व्याख्यान हेतु इन्हें सत् एवं असत् के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। बुद्ध एवं महावीर उपनिषद् के सिद्धान्तों को मानते हैं, मूल तत्त्व की निषेधात्मक शब्दों से व्याख्या करते हैं, परन्तु, वे उसकी सत्ता कापूर्णत् निषेध भी नहीं करते। अतः,वेदेतर धर्मों को उपनिषद् परम्परा से बहिर्भूत मानना कदापि उचित नहीं जान पड़ता ।

यह जैन- दर्शन है, यह बौद्ध, यह वैदिक, यहअवैदिक; इस प्रकार के प्रयोग केवल निरूक्ति के लिए हैं, परमार्थतः, ये सभी एक में अनेक और अनेक में एक की गंभीर अनुभूति पर इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि एकमेवदर्शनम्कहना ही श्रेयस्करहोगा।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

पालि:- आर्यभाषा कुल की भाषा, जिसमें तथागत ने अपने उपदेश दिये। बुद्ध के समकालीनछः प्रमुखधर्माचार्यों ने भी पालि भाषा में अपने उपदेश दिये।

प्राकृत:- आर्यभाषा कुल की भाषा, जिसमें भगवान महावीर ने अपने उपदेश दिये।

त्रिपिटक:- भगवान बुद्ध के उपदेशों का संग्रह। कुल तीन त्रिपिटक हैं- 1) विनय- पिटक, 2) सुत्त- पिटक,3) अभिधर्म- पिटक।

मध्यम- मार्ग:- दो अन्तो के बीच का मार्ग, जिसे बुद्ध ने उपदेशित किया।

अनित्यता:- जगत में कुछ भी नित्य नहीं। सभी कुछ क्षणभंगुर है। यह बौद्ध दर्शन का वैशिष्य है।

अनात्मवाद:- नित्य सदवस्तु का विद्यमान न होना।

जातक:- भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाऍं। इनकी कुल संख्या 550 हैं। परन्तु वर्तमान में 447 जातक

प्राप्त हैं।

अट्ठकथा:- (अर्थकथा) पालि ग्रन्थों पर लिखे गए भाष्य हैं। त्रिपिटक की व्याख्या स्पष्ट करने तथा उसमें प्रयुक्त शब्दों के अर्थ बताए जाते हैं।

महापरिनिर्वाण:- महापरिनिर्वाण एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है,जीवन चक्र से मुक्ति। महापरिनिर्वाण शब्द बुद्ध के मोक्ष के लिए एवं अन्य भिक्षुओं के मोक्ष हेतु निर्वाण शब्द प्रयुक्त होता है।

दुःख:- प्रथम आर्यसत्य। संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो दुःखमय न हो।

दुःखसमुदय:- द्वितीय आर्ययत्य। समुदय- कारण। दुःख का कारण है और वह तृष्णा है।

दुःखनिरोध:- तृतीय आर्यसत्य। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का नाश होता है। जब दुःख उत्पन्न होने के

कारण विद्यमान हैं तो उससे निवृत्ति का उपाय भी है।

दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद:- चतुर्थ आर्य सत्य । प्रतिपद- मार्ग । वह मार्ग जो दुःख के निवारण के लिए है।

अष्टांगिक मार्ग:- भगवान बुद्ध की प्रमुख शिक्षाओं में से एक है जो आठ अंगों से समुपेत है। दुःखों से मुक्ति पाने एवं तथ्य- ज्ञान के साधन के रूप में अष्टांगिकमार्ग को बताया गया है।

आर्यसत्य:- आर्यों - विद्वानों के द्वारा ज्ञेय सत्य | इन्हीं के ज्ञान के कारण ही गौतम को बोधि या बुद्धत्व प्राप्तहुआ।

महायान:- ईसा पूर्व पहली शताब्दी में वैशाली में बौद्ध संगीति में माहसांगिक और हीनयानी बौद्ध पृथक् हो गए। बुद्ध की भक्ति और पूजा को प्रश्रय देने वालेमहासांगिक, आगे चलकर 'महायान' नाम से विख्यात हुए।

हीनयान:- हीनयान का शाब्दिक अर्थ है जटिल मार्ग। हीनयानीबौद्ध धर्म के प्राचीन आदर्शों को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहते थे।

उपनिषद्:- इसका साधारण अर्थ है - 'समीप उपवेशन' या 'समीप बैठना।'उप', 'नि' उपसर्ग तथा, 'सद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं : नाश होना; गति- पाना या जानना तथा अवसादन- शिथिल होना। अभी तक प्राप्त 108 उपनिषदों में से 13 मुख्य माने जाते हैं।

सांख्य:- शाब्दिक अर्थ - 'संख्या सम्बंधी' या विश्लेषण है। सांख्य की प्रमुख धारणा सृष्टि के प्रकृति- पुरुष से बनी होने की है, यहाँ प्रकृति (यानि पंचमहाभूतों से बनी) जड़ है और पुरुष (यानि जीवात्मा) चेतन।

2.7 सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची

1. अनुरुद्धाचार्य: अभिधम्मत्थसंगहो, धम्मानन्द कौसाम्बी कृत नवनीत टीका सहित, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1964
2. अभिधम्मत्थसंगहो, भिक्षु रेवतधम्म एवं रामाशंकर त्रिपाठी द्वारा हिन्दी में सम्पादित एवं अनुदित, 2 भाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1967
3. उपाध्याय, बलदेव: संस्कृत स्रोतों का इतिहास, वाराणसी, 1994
4. बौद्ध- दर्शन- मीमांसा, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1989

5. उपाध्याय, भरत सिंह: पालि साहित्य का इतिहास, तृतीय सं0, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1972
6. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, 2 भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1996
7. काश्यप, भिक्षु जगदीश, (सम्पादक):: मिलिन्द- प्रश्न (हिन्दी अनुवाद), जेतवन महाविहार पालि संस्थान,श्रावस्ती, 1972
8. Bhartçhari : Satakatrayam, ed. D. D. Kosambi. Bombay, 1946.

2.8 बोधप्रश्न

लघु प्रश्न

1. उपनिषद् को परिभाषित कीजिए।
2. बौद्ध- धर्म पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. विनयपिटक पर प्रकाश डालें।
4. हिन्दू शब्द को अपने शब्दों में लिखें।
5. प्राकृत साहित्य से क्या तात्पर्य हैं?

विस्तृत प्रश्न

1. पालि साहित्य में आगत हिन्दू संकल्पना पर एक विस्तृत निबन्ध लिखें।
2. विभिन्न साहित्यों के आधार पर जम्बूद्वीप की अवधारणा को स्पष्ट करें।
3. प्राकृत साहित्य में हिन्दू संकल्पना की विस्तृत चर्चा करें।
4. पालि- प्राकृत वाङ्मय में आगत जम्बूद्वीप के भौगोलिक एवं राजनैतिक विस्तार पर प्रकाश डाले।
5. जम्बूद्वीप के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं व्यापारिक पहलुओं की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

इकाई 3 लोक–साहित्य में हिन्दू संकल्पना

इकाई की रूपरेखा

3. 0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय लोक परम्परा में हिन्दू धर्म के विविध व्यवहारों तथा सिद्धान्तों पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- भारतीय लोक की अवधारणा तथा उसकी परम्परा से परिचित् हो सकेंगे।
- भारत की लोक संस्कृति में व्याप्त हिन्दू अध्ययन से जुड़े विविध पक्षों की व्याख्या कर सकेंगे।
- भारतीय लोक साहित्य के स्वरूप, ज्ञान विज्ञान तथा धार्मिक सामाजिक आदर्शों को समझ सकेंगे।
- लोक परम्परा में व्याप्त अनेक लोकविश्वासों और उनकी वैज्ञानिकता की प्रामाणिकता को समझ सकेंगें।
- देवविज्ञान, सामाजिक आदर्श तथा मौलिक हिन्दू सिद्धान्तों से परिचित् हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाईयों में आप वेद, पुराण, पालि, प्राकृत साहित्यों में हिन्दू संकल्पना की अवधारणा से आप परिचित् हो चुके हैं कि किस प्रकार से कुछ मौलिक सिद्धान्तों पर आरुढ़ एकभूभाग की संस्कृति अपने ज्ञान–विज्ञान का विस्तार करते हुए प्रवाहामान है।

इस इकाई में आप लोक साहित्य तथा संस्कृति में उन विषयों के सन्दर्यो तथा अवधारणा को पढ़ने जा रहे हैं।

'लोक' शब्द को पश्चिम मे विसा कहा जाता है तथा लोकसंस्कृति को विसासवतम. के रूप में अनुदित करते हैं। किन्तु पश्चिम के विसा में तथा लोक शब्द विल्कुल समानार्थी नहीं है। भारत में लोक एक जीवन्त धारा है जो समग्र ज्ञान–विज्ञान सिदान्त तथा व्यवहार को अपने सुविधा तुसम परिवर्तन परिवर्द्धन के साथ धारण कर प्रवाहमान है। इस इकाई में आप लोक की अवधारणा, लोक–साहित्य का अर्थ एवं अवधारणा के माध्यम से हिन्दू अवधारणा के संकल्पना को समझने जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति की हमें दो धाराएँ प्राप्त होती हैं। एक धारा का आधार वेद और शास्त्र था। जबकि दूसरी धारा का आधार लोक है। लोक संस्कृति का अभिप्राय उस सहज साधाारण जनता से है जिसके ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं थीं, शास्त्र नहीं थे। वह तो सरल और अकृत्रिम जीवन जीने की आदती है। लेकिन इसके बाद भी दोनों संस्कृतियों में परस्पर पूरक्ता अद्भुत रूप से पाई जाती है। आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि–'लोकसंस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है।किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहितायें दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचारिकायें हैं।यदि अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का दर्पण है। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन–जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन–जीवन से'।

संस्कृति में सामान्यतः हमारी, बोली, भाषा, रहन–सहन, तीज–त्यौहार, व्रत, पर्व, गीत, संगीत, आस्था, विश्वास और अध्यात्म सब कुछ इसमें समाहित हो जाता है। ऐसे में भारतीय लोक संस्कृति ने स्वयं को व्यक्त करने के लिए लोक साहित्य के उस स्वरूप को चुना जिसमें सम्पूर्ण समाज की भागीदारी हो। समाज के प्रत्येक पायदान पर स्थित मनुष्य उसमें अपनी आवाज मिला सके। पीढ़ी–दर–पीढ़ी उसमें रचनात्मक अनुभव जोड़ सकें। परिणाम यह हुआ कि लोकगाथाओं, लोकगीतों तथा लोककलाओं की भरपूर हिस्सेदारी बन गई, आज भी तमाम महाकाव्य आख्यान और गीत आपको ऐसे मिलेंगे जो पीढ़ियों से संरक्षित, सुरक्षित लोक कंठों के माध्यम से आज भी प्रवहमान हैं। लोकगीतों, कथाओं, कहावतों, लोकविश्वासों तथा लोकोक्तियों सहित साहित्य के अनेक पक्षों को लोक–साहित्य की वाचिक परम्परा कहा गयाभारतीय वांग्मय की सबसे बड़ी खूबसूरती यही है।

3.2 लोक की अवधारणा

भारतीय सन्दर्भ में लोक शब्द का अर्थ 'देखने' वाला होता है। ऐसे में इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत को जो देखता है उसे लोक कहा गयावेदों में लोक को 'जन' कहा गया जिससे जनता शब्द बना।इसी बात को केन्द्र में रखते हुए हिन्दी के महत्त्वपूर्ण आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि–लोक शब्द का अर्थ 'जन–पद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। लोक साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान डॉ. कपिल तिवारी लिखते हैं कि–लोक' शब्द में समाहित भारतीय दृष्टि बहुत व्यापक और विविध वर्णी है। वह जीवन जगत की चाक्षुष वास्तविकता से लेकर जीवन के व्यवहार की सहज पद्धति तक है, जिसे अनेक सदियों में भारतीय समाज ने विकसित् किया है, उसमें

लोक–आस्था, लोकमूल्य, लोकधर्म, लोकदेवता, लोक अनुष्ठान, लोक भाषाएँ, लोक साहित्य, लोक कलाएँ, लोक कौशल और शिल्प परम्पराएँ विकसित् हुई हैं।

3.3 लोक–साहित्य का स्वरूप एवं वर्गीकरण

मनुष्य के प्राकृतिक मनोभावों के अनुकूल और प्रकृति की छाया में आडम्बर और कृत्रिमता से कोसों दूर आत्मिक आनंद और मनोरंजन के लिए जो साहित्य विकसित् हुआ वही लोक साहित्य कहलायाँ लोक साहित्य की यह विशेषता होती है कि उसकी भाषा सहज, सरल, अनेक रूढ़ियों, वादों तथा अलंकारों के बोझ से मुक्त गंगा की निर्मल धारा की भांति पवित्र होती है।लोक साहित्य को परिभाषित करते हुए डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं कि–**सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है उसकी आशा–निराशा, हर्ष–विषाद, जीवन–मरण, लाभ–हानि, सुन–दुख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है उसे लोक साहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोक–साहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता के द्वारा, जनता के लिए लिखा गया हो।**विद्वानों ने लोक–साहित्य का वर्गीकरण प्रधानतया पाँच भागों में किया है–**1. लोकगीत 2. लोकगाथा 3. लोक–कथा 4. लोकनाट्य 5. लोकसुभाषित**

3.4 भारत की लोक संस्कृति

भारतीय सन्दर्भ में 'संस्कृति'ऐसी अवधारणा है जिसके विकास और विस्तार की रूपरेखा 'लोक' और 'शास्त्र' के समन्वय से बनती है।भारतीय संस्कृति एक आध्यात्मिक संस्कृति है जहाँअन्नत काल से लोक और शास्त्र एक दूसरे का मार्गदर्शन करते आ रहे हैं। शास्त्र के कुछ नियम होते हैं जिनपर वह टिका रहता है। लेकिन शास्त्र से अलग लोक की अपनी सत्ता है जहाँ शास्त्रीय नियम नहीं चलते। हमारे यहाँ लोक और शास्त्र में समन्वय का सबसे बड़ा उदाहरण यही है कि जो कार्य शास्त्र सम्मत हो किन्तु लोक के विरूद्ध हो, उसे नहीं करना चाहिए इस प्रकार भारत की लोक संस्कृति का अपना सौन्दर्य है। लोक जीवन में प्रयुक्त सभी नियम, आचार, व्यवहार एवं संस्कार भारतीय लोक संस्कृति के अंग हैं। शास्त्रीय विधानों से अलग लोकसंस्कृति के अर्थ को संस्कृत में प्रचलित एक कहावत से समझा जा सकता है–**यद्यपि शुद्धम् लोक विरूद्धम् न करणीयम् न करणीयम्।।** अर्थात कोई बात शास्त्रीय नियमों के अनुकूल हो लेकिन लोक के विरूद्ध हो तो उसे नहीं करना चाहिए बल्कि ऐसे अवसर पर उस क्षेत्र के **'चलन'** का प्रयोग करना चाहिए चलन लोक जीवन की वह पद्धति है जिसपर शास्त्र को भी कोई आपत्ति नहीं होती उसी को लोक ऋषियों ने **'चलन'** कहा है। जैसे किसी व्रत में शास्त्रीय नियमों के अनुसार यदि अमरूद के दातून करने की परम्परा है और अमरूद का दातून नहीं मिला तो आप आम का भी दातून कर सकते हैं जो 'चलन' में है। इसीलिए भारत की लोक संस्कृति विश्व की किसी भी संस्कृति से भिन्न है। सबसे पहली भिन्नता तो यही है कि भारतीय संस्कृति एक जीवित संस्कृति है जिसकी एक लम्बी और वैविध्यपूर्ण गाथा है। अनेक मध्यान्तरों पर भारत ने देखा है कि उसकी समकालीन संस्कृति अपनी अगली पीढ़ी को जगह देकर विलीन हो गई। फिर वे संस्कृतियाँ भी लुप्त हो गईं किन्तु भारतीय संस्कृति फिर भी जीवित है। उसके आत्मा के दीपक की लौ कापी तो जरूर, परन्तु कभी बुझी नहीं'। भारतीय लोक संस्कृति के महत्त्व को रेखांक्ति करते हुए **आचार्य विद्यानिवास मिश्र** लिखते हैं कि सामान्य में निहित और विकसित् अनायास विशिष्टता की खोज ही भारतीय लोक संस्कृति का मुख्य कार्य है।

3.5 लोक संस्कृति में हिन्दू संकल्पना का अर्थ

हिन्दू धर्म लोकसंग्रही धर्म है, उसका लोक बहुत विशाल है। वह किसी जाति, किसी चेहरे, किसी नस्ल या किसी का हो सकता हैं बस शर्त यह है कि वह लोक का होना चाहिएभारतीय परम्परा में लोक और शास्त्र एक दूसरे की आंखहैं अर्थात एक दूसरे के बिना दोनों ही अधूरे हैं।भारतीय लोक परम्परा के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों को समझने के लिए हमें अतीत में झांकना जरूरी है। इसीलिए आचार्य विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं कि– भारत में अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की सम्भावना का विस्तार होता है।ऐसे में हिन्दू धर्म वर्तमानजीवी धर्म है जिसकी एक व्यापक विश्व–दृष्टि है। इस हिन्दू विश्व–दृष्टि के आलोक में ही भारतीय ज्ञान–विज्ञान की उपलब्धि और उस सनातन मूल्यवत्ता की बात की जा सकती है। भारतीय लोकजीवन में हिन्दू धर्म की अनेक परम्पराएँ बहुत गहरे धंसी हुई हैं। भारतीय लोकसंस्कृति में हिन्दू संकल्पना का अर्थ उसकी परम्पराओं यज्ञ, उपासना पद्धति, भक्ति, सोलह संस्कारों तीर्थों, व्रतों, पर्वों, अनुष्ठानों, प्रकृति के प्रति समर्पण, स्नेह और सम्मान के परिवेश के आधार पर समझा जा सकता है।। विवाह में प्रयोग किए जाने वाले यज्ञोपवीत, हल, मूसल, पतलो, बांस का प्रयोग, मानर पूजन, कुएँ का पूजन, आम के वृक्ष का पूजन, विवाह में गंगाजी को निमन्त्रण, ग्रामदेवताओं को निमन्त्रण, पितरों को निमंत्रित करना, दीपावली में सर्वत्र दीप जलाना, अलग–अलग अवसरों पर मंगल गीत विवाह के गीत, पाणिग्रहण गीत, कोहबर गीत जनेव के गीत भक्ति महात्म्य के गीत बारहमासा आदि गाना, लोकविश्वासों के आधार पर यात्राएँ तय करना, तिथियों के अनुसार दिनचर्या आरम्भ करना, अन्न ग्रहण करना, उपवास रखना, बच्चे के जन्म पर सोहर के रूप में भगवान राम के गीत **चैत अजोध्या जनमेंले राम, चन्दन से कोसिला लिपवली धाम।गज मोतियन से चौक पुरवलीं, सोना के कलश अवरू धरवली** जैसे अनेक मंगल गीतों की उपस्थिति, जन्म के बाद **धगड़िन** से बच्चे का नार कटाना आदि लोकजीवन में सामाजिक सरोकारों के साथ हिन्दू संकल्पना को परिभाषित करते हैं।

भारतीय लोक परम्परा मूलतः एक आध्यात्मिक परम्परा है। इसीलिए लोकजीवन में हिन्दू संकल्पना के अन्तर्गत तीर्थयात्राओं के बहुत महत्त्व है। वर्ष भर पूरा देश अलग–अलग अध्यात्मिक परम्पराओं, तीर्थ यात्राओं तथा मेलों से गुंजायमान रहता है। तीर्थो का महत्त्व हिन्दू धर्म से जुड़े सामान्य जन के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, सिख, सभी मत पन्थों ने स्वीकार किया है। महाभारत के नायक युधिष्ठिर ने तीर्थयात्रा की, रामायण के नायक श्री रामचन्द्र ने तीर्थों की पूजा की और जहाँ–जहाँ गए, वहीं तीर्थ हो गया।इसी से अनुमान होता है कि तीर्थ की धारणा की गहरी जड़ें हिन्दू मानस में हैं। उदाहरण के रूप में **चार धाम**– बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री। **सप्तपुरियां**– अयोध्या, मथुरा, काशी, हरिद्वार, कांचीपुरम्, अवन्तिका या उज्जैनी, द्वारिकाधाम तथा कुल **बावन 52 शक्तिपीठ** जिनमें माता वैष्णो देवी, विंध्याचल देवी, मनोकामना माता, कामाख्या धाम अति महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दू जनमानस और कहीं जाए चाहे न जाए इन तीर्थो पर जाना उसके जीवन का सबसे सुन्दर अवसर होता है।

हिन्दू परम्परा लोकविश्वासों पर बहुत भरोसा करती है। दैनन्दिन जीवन में ये लोकविश्वास सामान्य जनजीवन का मार्गदर्शन करते हैं। **'लोक विश्वास'** दो शब्दों लोक और विश्वास से बना है जिसका सामान्य अर्थ है वह बात जिसको लोक द्वारा स्वीकृत किया गया या एक ऐसी बात या तथ्य जिसे सामान्य जन–जीवन में मान्यता प्राप्त है। जैसे– भूकम्प आने की लोक मान्यता शेषनाग से जुड़ी है। लोकविश्वासके अनुसार यह पृथ्वी शेषनाग के फण पर टिकी है और जब वे करवट लेते हैं या थोड़ा

भी सिर हिलाते हैं तो पृथ्वी हिलती है।हिन्दी क्षेत्र में इसे 'भूडोल'कहा जाता है। हमारे यहाँ अनेक लोक विश्वासों की बात की गई है जिनमें आकाशीय पिण्ड सम्बन्धी विश्वास हैं, पृथ्वी, पशु–पक्षी, वनस्पति, मानव शरीर, वस्तु, दिशा, रोग, औषधि तथा अनेक शुभाशुभ लोक विश्वास हैं। इन लोक विश्वासों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनकी जड़े और मान्यताएँ कभी आधारहीन नहीं होतीं। वे किसी न किसी रूप में वैदिक और पौराणिक परम्पराओं से होते हुए लोकजीवन में प्रविष्ट होती हैं। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम हम आकाश से जुड़े अनेक लोक विश्वासों को देख सकते हैं। ये विश्वास लोक और शास्त्र दोनों से जुड़े हैं।

सूर्य– सूर्य को वेदों में सविता कहा गया है। सविता शब्द 'सूअ प्राणि प्रसवे' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है प्राणियों की सृष्टि करने वाला। अतः सूर्य सम्पूर्ण सृष्टि के कर्त्ता माने गए हैं। वेदों में सविता की बड़ी महिमा गायी गई है। उन्हीं के प्रकाश से सम्पूर्ण सस्य–सम्पदा की वृद्धि होती है। सूर्य की स्तुति के लिए प्रातःकाल जिस मन्त्र के जप का विधान बताया गया है वह गायत्री मन्त्र है–

ॐ भूभूर्वः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं। भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात।।

पुराणों में सूर्य को सहत्रांशु कहा गया है जिनकी हजारों किरणों से संसार प्रकाशित होता है। सूर्य की प्रशंसा से पुराण भरे पड़े हैं।लोक में सूर्य की पूजा बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक की जाती है। प्रत्येक हिन्दू प्रातःकाल स्नान करने के पश्चात् सूर्य को अर्ध्य देता है। गायत्री मन्त्र तथा सूर्य से जुड़े अनेक स्रोत का पाठ हिन्दू परम्परा का दैनिक नियम है। सूर्य के सन्दर्भ में लोक मान्यता यह कहती है कि सूर्य की नियमित पूजा से पुत्र की प्राप्ति होती है। साथ ही अनेक असाध्य रोगों से मुक्ति मिलती है। पूरे हिन्दी क्षेत्र में विशेष रुप से बिहार राज्य के लोकवर्ण के रुप में सूर्यषष्ठी को 'छठमाता' महापर्व व्रत की मान्यता प्राप्त है। इस पर्व में माताएँ दिनभर उपवास रखकर दूसरे दिन प्रातःकाल पुष्प, अक्षत और दूध की धार के साथ सूर्य को अर्ध्य देती हैं– जिसमें ब्राह्मण निम्न मन्त्र का जाप करते हैं–

''एहिं सूर्य! सहस्त्रांशो, तेजो राशे, जगत्पते।
अनुकम्पयं मां भवन्त्या, गृहाणार्ध दिवाकरः।।

इस व्रत को करने से स्त्रियों को पुत्र प्राप्ति होती है तथा पुत्रवती स्त्रियों के बालक स्वस्थ तथा निरोग रहते हैं। इस दिन भगवान सूर्य को व्रती महिलाएँ एक विशेष प्रसाद 'ठेकुआ' चढ़ाती हैं जिस पर रथ का चक्र बना रहता है जो सूर्य का ही प्रतीक है। इस प्रसाद के साथ महिलाएँ या व्रती स्त्री सूर्योदय से पूर्व ही जल में खड़ी हो जाती हैं तथा सूर्य से प्रार्थना करती हैं कि आप जल्दी उदित हों जिससे आपको जल्दी अर्ध्य दिया जा सके।'' इसी के साथ भोजपुरी का यह गीत भी गाती चलती हैं–

''हाली–हाली उठा ए अदित मल, अरघ दियाउ।।

या

केरवा जे फरेला घवद से ओहि पर सुगा मेड़राय।
सुगवा के मारबो धनुष से सूगा गिरे मुरछाय।।

इसके अतिरिक्त सूर्योपासना से जुड़े लोकविश्वासों में यह भी शामिल है कि जो लोग कुष्ठ या चरक रोग से पीड़ित हैं वे नित्य प्रति सूर्य की पूजा करें तो जल्दी निरोग हो जाते हैं।

चन्द्रमा

चन्द्रमा को वेदों में 'सोम' कहा गया है। कृष्ण पक्ष में अमावस्या के दिन क्षय होने के कारण यह पुनः जन्म लेता है, अतः इसे 'द्विज' भी कहा गयाचन्द्रमा अपनी शीतलता के लिए सुप्रसिद्ध है, इसलिए इन्हें शीतांशु कहा गयाचन्द्रमा को लेकर भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व में ढेर सारे लोक विश्वास है। "लोगों की ऐसी दृढ़ धारणा है कि चन्द्रमा के मध्य में जो कालिमा विद्यमान है वह खरगोश का चिन्ह है। इसीलिए चन्द्रमा को शशांक अर्थात् उसमें खरगोश का चिन्ह दिखाई देता है। इसे 'शश लक्षण' या 'शश लांछन' भी कहते हैं। साधारण जनता का यह विश्वास है कि चन्द्रमा पहले पृथ्वी पर विराजमान था। किसी बुढ़िया ने इसे अपने 'मूसल' से मार दियाँ अतः यह आकाश में चला गया।" हिन्दी क्षेत्र में चन्द्रमा के सम्बन्ध में एक लोक विश्वास विशेष प्रसिद्ध है कि चतुर्थी को उदित चन्द्रमा को नहीं देखना चाहिए क्योंकि इस चन्द्रमा को देखने से लड़ाई–झगड़ा होना तय माना जाता है। लेकिन चतुर्थी का चांद इतना सुंदर होता है और चमकदार होता है कि न चाहते हुए भी आपकी नजर चली ही जाती है। अब जब देख लिया तो बचने का उपाय क्या है? तो इसका लोकविश्वास यह है कि चतुर्थी के चांद को देखने के बाद आप एक पत्थर किसी के घर या आंगन में फेंक दें। यदि उधर से किसी ने भला–बुरा कहा या गाली दी तो आप दोषमुक्त मानें जाएँगे। भोजपुर क्षेत्र में माताएँ, बच्चों को सुलाने के लिए–

> चन्दा मामा आरे आवऽ। पारे आवऽ।
> नदिया किनारे आवऽ।
> सोना के कटोरवा में दूध–भान्त लेले आवऽ।
> बबुआ के मुँहवा में घुटुक।

जैसे गीत गाती हैं जिसको सुनते ही बच्चा सो जाता है। चन्द्रमा 'सोमवार' दिन विशेष के भी कारक हैं। सोमवार के दिन काशी में बाबा विश्वनाथ के दर्शन का विधान है जो अत्यन्त शुभ माना जाता है। इसके अतिरिक्त पतियों के दीर्घायु से सम्बन्धित व्रत 'सोमवती अमावस्या' के दिन व्रती स्त्रियों के गंगा स्नान और पीपल के वृक्ष की पूजा करने का भी लोकविश्वास जनजीवन में गहराई से व्याप्त है। सोमवार को पूर्व दिशा की यात्रा वर्जित कहीं गई है जो सर्वाधिक प्रचलित लोक मान्यता है जिसे दिशाशूल कहते हैं।

शनि

शनि वैसे तो ब्रह्माण्ड के एक ग्रह के रूप में अवस्थित है लेकिन ज्योतिषीय गणना एवं लोकमान्यताओं में शनि को क्रूर ग्रह और न्याय के देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है। कुण्डली में शनि विशेष स्थान में स्थित हों तो व्यक्ति तमाम सुखों से भर जाता है। लेकिन यदि शनि का स्थान गलत हो तो व्यक्ति राजा से रंक भी बन जाता है। लोकमान्यता है कि शनि खराब होगा तो व्यक्ति अनेक व्याधियों से पीड़ित हो जाता है। शनिक की विशेष स्थिति किसी व्यक्ति की कुण्डली में साढ़ेसाती से भी आंकी जाती है। यदि साढ़े साति लग गई हजो किसी भी व्यक्ति के लिए साढ़े सात वर्ष बड़े दुखदायक होते हैं। यह इतना क्रूर ग्रह माना गया है कि – गोस्वामी तुलसीदास ने

दुष्ट मंथरा को अवध की 'साढ़ेसाती' कहकर शनि के दुष्ट ग्रह होने की ओर संकेत किया है।''

अब शनि से बचें कैसे? तो लोकविश्वास और मान्यताएँ कहती हैं कि जो भी व्यक्ति शनि से दुखी हैं, पीड़ित हैं उसे सर्वप्रथम हनुमान जी की शरण में जाना चाहिए, चालीसा का पाठ करना चाहिए फटे–पुराने जूतों का दान करना चाहिए काली वस्तुओं, काली तिल और उड़द का दान करना चाहिए इस दिन लोहा और सरसों का तेल नहीं खरीदना चाहिए और सबसे महत्त्वपूर्ण इस दिन न तो कोई शुभ कार्य करना चाहिए और न ही पूर्व दिशा की यात्रा करनी चाहिए।

मंगल

यह भी दुष्ट ग्रहों की श्रेणी में आता है लेकिन ज्योतिष गणना कहती है कि यदि कुण्डली में यह 'स्वग्रही' अर्थात् अपने ही घर में 'बैठा हो तो' व्यक्ति की सर्वविधि उन्नति सुनिश्चित है। मंगल लाल रंग का प्रतिनिधित्व करता है। अतः मंगल शुभ रखने के लिए व्यक्तिलाल वस्तुओं का प्रयोग और अशुभ होने पर लाल रंग की ही वस्तुओं का दान करे। मंगल से पीड़ित व्यक्ति को भी हनुमान जी की शरण लेनी चाहिए मंगलचार का व्रत रखना चाहिए बिना नमक वाला भोजन करना चाहिए लोक विश्वास यह है कि मंगलवार को बहू की विदाई नहीं करनी चाहिए, उत्तर दिशा की यात्रा नहीं करनी चाहिए, साथ ही नए वस्त्र नहीं धारण करने चाहिए

अगस्त्य

यह एक तारा है जिसे अगस्त्य ऋषि के रूप में मान्यता प्राप्त है। अगस्त्य ऋषि के बारे में लोकविश्वास है कि उन्होंने एक पक्षी (टिटिहरी) की प्रार्थना को स्वीकार करके समुद्र को ही सोख लिया था, पी लिया था। इसलिए इस तारे के उदित होने सम्बन्धी एक लोक विश्वास ज्यादा प्रचलित है कि इसके उदय के बाद नदियों का जल सूख जाता है। पृथ्वी पर सूखा पड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा भी है–

''उदित अगस्त् पन्थ जल सोखा।
जिमि लोभहिं सोखे सन्तोखा।

अगस्त्य तारे का उदित होना शीत ऋतु के आगमन का भी संकेत होता है।

ध्रुव

ध्रुव तारा अटलता और निश्चय के प्रतीक के रूप में पूज्य है। वह सदैव एक ही दिशा में और एक समय पर उदित होता है। ध्रुव तारे की शुभता के कारण नवविवाहित जोड़े को उसका दर्शन कराया जाता है। वह भी सिन्दूरदान के तुरन्त बाद, जिसके पीछे लोक विश्वास है कि जैसे ध्रुव तारा अटल हैवैसे ही वर–वधू का दाम्पत्यजीवन सदैव अटलसुखी और सुदृढ़ बना रहे।

सप्तर्षि

आकाश में एक विशेष स्थान पर सप्तर्षि तारों को देखा जा सकता है। इनकी महिमा विष्णु पुराण तथा पद्म पुराण में वर्णित है। मत्स्यपुराण कहता है कि ऐसे सात ऋषि जिन्हें ब्रह्मा ने संसार में धर्म की स्थापना तथा सनातन संस्कृति की स्थापना हेतु अपने मस्तक से उत्पन्न किया था। जिनको भगवान तथा उन सप्तऋषियों ने शिव ने, वेदों

और पुराणों में शिक्षित कियामनुष्यों को वेद, योग, धर्म, संस्कृति एवं पुराणों की शिक्षा दी। इनके नाम हैं– महर्षि वशिष्ठ, अत्रि, गौतम, कश्यप, जमदग्नि भारद्वाज और विश्वामित्र। इन सप्तर्षियों पर आधारित भारतीय समाज में ढेर सारी लोककथाएँ प्रचलित हैं। इन्हें अलग–अलग नामें से भी पुकारा जाता है। भोजपुरी क्षेत्र में इन्हें 'तिनडणियवा' कहा जाता है तो अन्य क्षेत्रों में 'बुढ़िया की खाट और तीन चोर' के नाम से भी जाना जाता है।

धूमकेतु

इसे लोकभाषा में पुच्छल तारा कहा जाता है। आकाश में इस तारे का दिखाई पड़ना अत्यन्त अशुभ माना गया है। लोकमान्यता है कि यदि पुच्छल तारा दिखाई पड़ा तो यह तय है कि देश किसी महान विपत्ति या अनिष्ट से घिर जाएगा। लेकिन कई बार यह लोक विश्वास अधिक बलवती दिखाई पड़ता है कि पुच्छल तारे के टूटकर नष्ट होने से पूर्व आपने देखने के साथ कोई मान्यता मान ली तो वह पूर्ण भी होती है। ऐसे में पुच्छल तारे का सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्ष हैं। वैसे यह कभी–कभार ही दिखाई पड़ता है लेकिन जब भी दिखाई पड़ेगा ऐसी अनेक आशंकाएँ और बलवती हो जाती है। उल्काओं के सम्बन्ध में अर्थवेद तथा षड्विंश ब्राह्मण में कहा गया है कि ये साक्षात् मृत्यु की सूचना देता है।

आकाशीय बिजली

आकाशीय बिजली की चमक और रंग के आधार पर एक श्लोक निम्नवत् है–

वाताय कपिला विद्युतः, आतपायातिलोहिनी।
श्यामा भवति सस्याय, दुर्भिक्षाय सिता भवेत्।।

अर्थात् यदि आकाश में भूरे रंग की बिजली दिखाई पड़े तो बड़े जोरों से अन्धड़ आता है। यदि वह लाल हो तो अतिशय गर्मी पड़ती है। काली होने पर अन्न अधिक पैदा होता है परन्तु यदि वह सफेद रंग की हो तो निश्चित ही अकाल पड़ता है। श्रीकृष्ण जन्म के अवसर पर आकाश में बिजली का चमकना अत्यन्त शुभ माना गया है। रामायण में कुम्भकर्ण के रणभूमि के लिए प्रस्थान के अवसर पर तथा रावण के युद्धभूमि में उपस्थित होने पर बिजली का गिरना उनकी भावी मृत्यु का सूचक माना गया है। लोकमान्यता के अनुसार बिजली गिरना एक अशुभ संकेत है जिसे वज्रपात भी कहते हैं। बिजली से जुड़ी अनेक लोक कहावतें कही जाती हैं जिन्हें हिन्दी क्षेत्र के लोक वैज्ञानिक और सूक्तिकार घाघ की कहावतों का बड़ा महत्त्व है। आज भी गाँव के किसान और बूढ़े बुजुर्ग खेती–बारी सम्बन्धित तैयारियों के लिए घाघ की कहावतों को आधार मानते हैं। घाघ कहते हैं कि–

उत्तर चमकै बीजली, पूरब बहै जु बाव।
घाघ कहै सुनु घाघिनी, बरधा भीतर लाव।।

घाघ अपनी स्त्री से कहते हैं कियदि उत्तर दिशा में बिजली चमकती हो और पुरूवा हवा बह रही हो तो बैलों को घर के भीतर बांध लो, वर्षा शीघ्र होने वाली है।

एक अन्य कहावत देखें–

चमके पच्छिम उत्तर कोर। तब जान्यो पानी है जोर।

अर्थात् जब पश्चिम और उत्तर के कोने पर बिजली चमके तब समझ लेना चाहिए कि वर्षा तेज होने वाली है।

घाघ की कहावतें तमाम वैज्ञानिक विकास के बाद भी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी पहले थी। उनकी आकाशीय हलचल, वर्षा, पशु, कृषि, वायु तथा नैतिक कहावतें भारतीय लोक साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। ये कहावतें लोकवश्वास तो हैं ही वे वैज्ञानिक भी हैं।

बादल– भारतीय संस्कृति में बादलों पर आधारित ढेर सारे काव्य और आख्यान रचे गए हैं। लेकिन जनपदीय जीवन में बादल कृषि हेतु आधार भूमि है। बादलों के रंगों के आधार पर लोक में शुभ–अशुभ आकलन किए जाते हैं।

भूरा बादर पानी लावै।
करिया बादर जिउ डेरवावै।

अर्थात् भूरा बादल पानी लाता है जबकि काला बादल जी डरवाता है। बादलों पर आधारित लोक कवि और वर्षा विज्ञान के आचार्य भड्डरी की एक कहावत देखें–

तीतर सरनी बादरी, रहे गगन पर छाय।
डंक कहै सुनु भड्डरी, बिन बरखै न जाय।।

बादलों पर एक कहावत भोजपुरी क्षेत्र में कही जाती है कि **सॉझि के बादर अवरु पहुना, लवटि के ना जाला**। अर्थात् यदि बादल शाम को घिरा तो वह बरसेगा जरूर और यदि कोई अतिथि शाम को आया तो वह रात में ठहरेगा जरूर।

वर्षा– वर्षा से सम्बन्धित अनेक लोक विश्वास हैं जो संस्कृत काव्यों तथा लोकजीवन में पाए जाते हैं। वर्षा नियमतः हो तो अन्न की पैदावार समय से और पर्याप्त होती है लेकिन वर्षा अधिक हो तो अकाल और सूखा भी पड़ता है। वर्षा विज्ञान के सन्दर्भ में घाघ और भड्डरी की कहावतें पुनः प्रासंगिक हैं, वे कहते हैं कि–

सावन शुक्ला सप्तमी, जो बरसै अधिरात।
तूँ पिय जायो मालवा, हम जाबै गुजरात।।

अर्थात् यदि सावन शुक्ला सप्तमी को आधी रात को वर्षा हो जाए तो इसे दुर्भिक्ष या अकाल का लक्षण समझना चाहिए एक अन्य कहावत में घाघ कहते हैं कि यदि चित्रा नक्षत्र में वर्षा होती है तो सम्पूर्ण खेती नष्ट हो जाती है। इसलिए कहा जाता है कि चित्रा नक्षत्र की वर्षा ठीक नहीं होती।

जब बरषा चित्रा में होय। सगरी खेती जावै खोय।

शास्त्रीय ग्रन्थों में वर्षा के कुल चार प्रकार बताए गए हैं– (1.) जल वर्षा, (2) धूलि वर्षा (3) रूधिर वर्षा (4) पुष्प वर्षा। इन सभी प्रकार की वर्षा के आधार पर शुभ–अशुभ का अनुमान किया जाता है।

इन्द्रधनुष

इन्द्रधनुष जो वैज्ञानिक कारणों से वर्षा के बाद सूर्य की बैगनी, हरे, पीले, नीले रंग की किरणों में अर्द्धचन्द्राकार रूप में अचानक दिखाई पड़ता है। उसका लोकविश्वास अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग मिलता है। हिन्दी प्रदेश में इसे 'रामजी का

धनुही' कहा जाता है। पंजाब में इसे बीबी बाई का झूला माना जाता है। पर्वतीय क्षेत्रों में इसे 'पनिहारिन' की संज्ञा दी गई है अर्थात् यह पृथ्वी में पानी लेती है। और बड़ी मान्यता या लोकविश्वास यह भी कि यह पृथ्वी के नीचे स्थिति शेषनाग के मुँह से निकला झाग है। इन्द्रधनुष से जुड़ी अनेकशः लोककथाएँ भी जनजीवन में व्याप्त हैं।

वायु–

अलग–अलग माह में वायु की गति और दिशाओं से जुड़े अनेक लोकविश्वास अब भी प्रचलित है जो लोक के साथ विज्ञान की कसौटी पर भी उतने ही खरे हैं। घाघ भी इसी सन्दर्भ में एक कहावत है कि–

(1) सावन के पछुआँ, दिन दुई चार।
चूल्ही के पीछै उपजै सार।।

(2) सावन मास बहै पुरवाई।
बरधा बेचि लियो धेनु गाई।

अर्थात् सावन माह में दो–चार दिन भी पुरुवा हवा चल जाए तो समझिए आपके चूल्हे के पीछे अन्न पैदा होगा यानि पर्याप्त अन्न उत्पादन की सम्भावना होगी। आज भी पुरुवा हवा चलते ही सब्जियाँ सस्ती हो जाती हैं लेकिन जैसे ही पछुवा की गर्म हवा शुरू होगी, सब्जियों की कीमत फिर से आसमान को छूने लगती हैं। कभी पुरुआ, कभी पछुआ हवा चलने लगे और क्षण–क्षण में बवण्डर बाँधकर हवा चले तो इससे वर्षा तो होगी ही साथ ही कार्तिक में हवा न बहे तो पैदावार भारी मात्रा में होगी। ऐसे ढेर सारे लोकविश्वास है जो हवा से सीधे तौर पर जुड़े हैं जिन पर आज भी किसानों को भरोसा है।

पृथ्वी सम्बन्धी लोक विश्वास– पृथ्वी की महिमा में अथर्ववेदीय पृथ्वीसूक्त में कहा गया है– 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या।' अर्थात् यह पृथ्वी या धरती हमारी माता है और हम इसके पुत्र हैं। मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का ऐसा सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। इन मन्त्रों में पृथ्वी की प्रशस्त् वन्दना है और संस्कृति के विकास और स्थिति के जो नियम हैं उनका अनुपम विवेचन भी है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए मन के वात्सल्य भावसे दुग्ध का विसर्जन करती है, उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्वती धाराओं से राष्ट्र के जन का कल्याण करती है। पृथ्वी के प्रति मातृभाव हमारी परम्परा में आज भी विद्यमान है। प्रातःकाल उठकर धरती को '*पाद स्पर्श क्षमस्व में*' श्लोक के साथ प्रणाम करना, अर्थात् मैं आपके ऊपर अपना पैर रख रहा हूँ, मुझे क्षमा कीजिए, का भाव हमारी ही संस्कृति में मिलता है। पृथ्वी सम्बन्धी अनेक लोकमान्यताओं से भारतीय समाज आज भी प्राचीन भाव से जुड़ा है। वर्ष में जब पहली बार खेत में हल चलाए जाते हैं। उस दिन सर्वप्रथम पृथ्वी की पूजा कर उनसे विनती करने की परम्परा है कि वे अधिकाधिक अन्न प्रदान करें। गाँव में गाय, भैंस जब भी बच्चा देती हैं तब दूध की पहली धार पृथ्वी माता को समर्पित की जाती है। किसी व्यक्ति की मृत्यु से ठीक पहले पृथ्वी पर लिटाने सम्बन्धी लोक विश्वास आज भी प्रचलन में है। इसके अतिरिक्त विवाह में 'मटकोड़' से वैवाहिक कार्यक्रम का शुभारम्भ मानते हैं।

भारत अनेक नदियों का संगम स्थल है। हमारे यहाँ नदियाँ मातृवत पूज्य हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी, शिप्रा आदि अनेक नदियाँ हैं जो भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष और विकास की प्रत्यक्षदर्शी रही है। इन नदियों से जुड़े लोकविश्वासों में गंगा की

प्राचीन कथा यह है कि उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के कमण्डल से हुई फिर राजा भगीरथ के प्रयास से वे पृथ्वी पर आईं। गंगा के नाम का उच्चारण करते मात्र से मनुष्य अनेक पापों से मुक्त हो जाता है। कहा भी गया है–

"नमामि गंगे तव पाद–पंकज।"
सुरासुरे वंदित दिव्य–रूपम्।।

मुत्तिञ्च भुक्तिञ्च ददासि नित्यं।
भावानुसारेण सदा नराणाम।।

मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए मनुष्य के मुख में गंगा जल और तुलसी दल दिया जाता है जिससे उसकी सद्गति होती है। यदि किसी पर्व के दिन गंगा स्नान का अवसर उपलब्ध नहीं होता तब पण्डित लोग निम्न मन्त्र से जल को अभिमंत्रित कर, उसे गंगा जल के ही समझकर स्नान करते हैं।

गंगे च यमुने चैव, गोदावरी, सरस्वती।
नर्मदे, सिन्धु, कावेरी, जलेभिन्न सन्धिं कुरू।

इसी क्रम में यमुना में कार्तिक शुक्ल द्वितीया को स्नान की मान्यता है, जिसे यम द्वितीया भी कहते हैं। इस अवसर पर यमुना में यदि भाई–बहन एक साथ स्नान करते हैं तो व्यक्ति यमराज की यातना से मुक्त होता है। प्रयागराज में संगम तट पर पर एक माह तक चलने वाला माघ मेला भारत की सांस्कृतिक एकता का जीवंत उदाहरण है जिसमें आने वाले लोग एक माह तक कल्पवास करते हुए यमुना में ही स्नान करते हैं तथा पुण्यफल प्राप्त करते हैं।

पौराणिक कथानुसार मृत्यु के बाद प्रत्येक जीवात्मा को वैतरणी नदी पार करती होती है जिसे पार करने पर हीवह स्वर्ग या नरक में जा सकता है। हमारे यहाँ लोक विश्वास है कि यदि मृत्यु शैय्या पर पड़े व्यक्ति से 'गोदान' करा दिया जाए तो मृत्यु के बाद उसी गाय की पँछ के सहारे व्यक्ति वैतरणी पार कर लेगा। लेकिन अन्ततः पुण्यात्मा इस वैतरणी को बड़ी आसानी से पार करते हैं जबकि पापियों के लिए इसेपार करना अत्यंत कठिन है।

नदियों के समान ही पर्वतों की भी महत्ता है। देश के सांस्कृतिक विस्तार में इनका योगदान अन्यतम् है। भारत में 'हिमालय' सर्वाधिक ऊँचा तथा पवित्र पर्वत है जिसे कालिदास ने अपनी पुस्तक कुमारसम्भव में 'देवात्मा' नाम दिया है। यह मान्यता है कि देवताओं का वास इसी पर्वत पर है। सम्पूर्ण भारत में इसकी श्रृंखलाएँ फैली हुई हैं जिनके मध्य अनेक तीर्थस्थलों में प्रमुख उत्तराखण्ड में बद्रीनाथ, केदारनाथ, पंजाब में ज्वाला जी, असम में कामाख्या देवी तथा अमरनाथ की गुफा महत्त्वपूर्ण है। इन सभी तीर्थों पर अनेक मेले लगते हैं तथा रथयात्राएँ निकलती हैं। देश के विभिन्न भागों से हजारों की संख्या में श्रद्धालु शामिल होते हैं, जो भारतीय समाज की विविध वर्णी छवियों का जीवन्त प्रमाण है।हिन्दी क्षेत्र में एक लोकोक्ति कही जाती है–सब तीरथ बार–बार।गंगा सागर एक बार।।

यह लोकोक्ति 'गंगा सागर' तीर्थ से जुड़ी है। भारतीय सागर क्षेत्र में बंगाल की खाड़ी में स्थित इस स्थान का हिन्दू धर्म में विशेष महत्त्व है। यह कोलकाता से लगभग 150 किमी. दूर पड़ता है। वहाँ प्रतिवर्ष मकर संक्रान्ति (14 जनवरी) के अवसर पर मेला लगता है। सम्पूर्ण भारत से लाखों श्रद्धालु इस मेले में आते हैं तथा दान, पुण्य करते

हैं। गंगा स्नान के बाद लोग कपिल मुनि के आश्रम जाकर उनका दर्शन करते हैं।इसी प्रकार कूप, कुण्ड, तालाब, बावड़ी, झील आदि का भी सांस्कृतिक महत्त्व माना गया है जहाँ वर्ष भर मनाए जाने वाले त्यौहारों पर मेले लगते हैं। अनेक शुभ कार्य जैसे बच्चे का मुंडन हो, जनेऊ हो, विवाह की रस्में या अन्य कोई धार्मिक आयोजन, सभी इन्हीं कूप और तालाबों के किनारे सम्पन्न किए जाते हैं। देश में प्रसिद्ध सरोवर या तालाब राजस्थान में पुष्कर, सांभर झील, रामकुण्ड, सीताकुण्ड, लोलार्क कुण्ड (वाराणसी) नागकूप (वाराणसी) जहाँ शास्त्रार्थ की परम्परा आज भी जारी है। मानसरोवर झील भारतीय श्रद्धालु और पर्यटकों के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण जगह है। मानसरोवर का जल स्फटिक के समान स्वच्छ और पारदर्शी है। यह पीने में अत्यंत शीतल होने के साथ ही स्वादिष्ट भी है। कैलाश पर्वत की यात्रा करने वाले भक्तगण पहले इसी मानसरोवर मे स्नान कर इस पर्वत की परिक्रमा करने के लिए प्रस्ताव करते हैं। प्रत्येक हिन्दू इस झील में स्थान करना परम पुण्य का कारण मानता है। इस प्रकार वह पाप रहित होकर स्वर्ग लोक की प्राप्ति करता है।

प्राणी जगत सम्बन्धी लोकविश्वासों में हम पेड़, पौधे, फूल, फल, सब्जी, पशु–पक्षी आदि पर विचार कर सकते हैं जिनकी भारतीय समय में बड़ी प्रतिष्ठा है। पेड–पौधों, लताओं के प्रति भारतीय समाज में सदैव सम्मान का भाव रहा है। यह परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है जहाँ वैदिक आर्य सोमरस का पान करते थे। सोमरस सोम नामक लता से निकला हुआ रस होता था जो आर्यों को रोगमुक्त तथा शक्ति प्रदान करती थी जिसकी ऋग्वेद में बड़ी प्रशंसा मिलती है। इसके अतिरिक्त इन वृक्षों का पर्यावरण संरक्षण जीवन–यापन, आध्यात्मिक प्रयोग साहित अनेक रूपों में महत्त्व रेखांक्ति किया जा सकता है।

पीपल– श्रीकृष्ण कहते हैं कि वृक्षों में मैं पीपल हूँ। अतः इस वृक्ष का यह महत्त्व तो है कि यह साक्षात् श्रीकृष्ण के रूप में खड़ा हैं, इनके अतिरिक्त अनेक कथा एवं परम्पराएँ भी इस वृक्ष से जुड़ी हैं। अनेक लोकपर्व इस अकेले पीपल वृक्ष से जुड़े हैं। जैसे– सोमवती अमावस्या का व्रत, जो पति की दीर्घायु के लिए किया जाता है, पीपल से ही जुड़ा है। लोक विश्वास कहता है कि जितना पुराना और मोटा वृक्ष होगा उतना ही पति दीर्घायु होंगे। हिन्दू परम्परा से जुड़ा कोई व्यक्ति इस वृक्ष को नहीं काटेगा।

3.6 भौगोलिक सम्प्रत्यय

भारतीय लोक का भौगोलिक सम्प्रत्यय यहाँ की प्रकृति, प्राकृतिक सुषमा, नदीयों, तालाबों, पर्वतों, पठारों, खेत खलिहानों, बाग, बगीचों में समाहित है।भोजपुरी क्षेत्र के प्रसिद्ध लोक कवि रघुवीर नारायण जी के "बटोहिया" गीत के माध्यम से भारत केभौगोलिक सौन्दर्य के साथ–साथ यहाँ की सम्पूर्ण सनातन परम्परा को समझा जा सकता है–

सुन्दर सुभूमि भैया भारत के देसवा से,
मोरे प्रान बसे हिमखोह रे बटोहिया.

एक द्वार घेरे रामा हिम कोतवलवा से,
तीन द्वार सिन्धु घहरावे रे बटोहिया.

जाउ जाउ भैया रे बटोही हिन्द देखि आउ,
जहँवा कुहुँकि कोयल बोले रे बटोहिया.

पवन सुगंध गंध अगर गगनवा से,
कामिनी विरह राग गावे रे बटोहिया.

विपिन अगम घन सघन बगन बीच,
चंपक कुसुम रंग देबे रे बटोहिया.

द्रुमवट, पीपल कदम्ब नीम्ब आमवृक्ष,
केतकी गुलाब फूल फूले रे बटोहिया.

तोता तूती बोले रामा बोले भेंगरजवा से,
पपीहा के पी पी जिया साले रे बटोहिया.

सुन्दर सुभूमि भैया भारत के देशवा से,
मोरे प्रान बसे गंगा धार रे बटोहिया.

गंगा रे जमुनवा के झगमग पनिया से,
सरजू झमकि लहरावे रे बटोहिया.

ब्रह्मपुत्र पंचनद घहरत निशिदिन,
सोनभद्र मीठे स्वर गावे रे बटोहिया.

अपर अनेक नदी उमडि घुमड़ि नाचे,
जुगन के जदुआ चलावे रे बटोहिया.

आगरा प्रयाग काशी दिल्ली कलकतवा से,
मोरे प्रान बसे सरजू तीर रे बटोहिया.

जाउ जाउ भैया रे बटोही हिन्द देखि आउ,
जहाँ ऋषि चारो वेद गावे रे बटोहिया.

सीता के विमल जस राम जस कृष्ण जस,
मोरे बाप दादा के कहानी रे बटोहिया.

व्यास बाल्मीकि ऋषि गौतम कपिलदेव,
सूतल अमर के जगावे रे बटोहिया.

रामानुज रामानन्द न्यारी प्यारी रुपकला,
ब्रह्म सुख बन के भँवर रे बटोहिया.

नानक कबीर गौरशंकर श्रीराम कृष्ण,
अलख के गतिया बतावे रे बटोहिया.

विद्यापति कालीदास सूर जयदेव कवि,
तुलसी के सरल कहानी रे बटोहिया.

जाउ जाउ भैया रे बटोही हिन्द देखि आउ,
जहाँ सुख झुले धान खेत रे बटोहिया.

बुद्धदेव पृथु विक्रमार्जुन शिवाजी के,
फिरि–फिरि हिय सुधि आवे रे बटोहिया.

अपर प्रदेस देस सुभग सुघर वेस,
मोरे हिन्द जग के निचोड रे बटोहिया.

सुन्दर सुभूमि भैया भारत के भूमि जोहि,
जन रघुवीर सिर नावे रे बटोहिया.

3.7 ज्ञान–विज्ञान

लोकजीवन में ज्ञान–विज्ञान का महत्त्वपूर्ण श्रोत लोक सुभाषित माने जाते हैं। ग्रामीण जनता द्वारा अपने दैनिक व्यवहार में कुछ ऐसी उक्तियों का प्रयोग किया जाता है जिनसे उनके चयन चातुर्य का तो पता चलता ही है साथ–साथ वे उपदेशपरक ज्ञान–विज्ञान से परिपूर्ण तथा नीतिपरक भी होती है। इन्हीं को संस्कृत साहित्य में लोकसुभाषित कहा गयाइस सन्दर्भ को प्रमाणित करते इस श्लोक को देखें–

सुनाक्तिेन, गीतेन, युवतीनां च लीलया।
मनो न रमते यस्य, सयोगी अथवा पशु।।

अर्थात् एक ऐसी उक्ति जिसे सुनकर कोई व्यक्ति यदि प्रसन्न नही।तो वह किसी योगी अथवा पशु के समान सम्वेदनहीन होगा। लोकसुभाषित के बारे में डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं कि–बच्चा जब छोटा होता है तब उसकी माता या धाय उसे पालने में सुलाकर लोरियाँ गाती है। इन लोरियों का उद्देश्य मनोहर संगीत पैदाकर बालक को निद्रा देवी की गोद में देना है। बड़े होने पर बालक अनेक प्रकार के खेलों को खेलते समय विभिन्न गीत गाते हैं। जनता के जीवन में ये लोकोक्तियाँ पहेलिया, सूक्तियाँ, मुहावरे, पालने और खेल के गीत बिखरे पड़े हैं। अतः इनको 'लोकसुभाषित' का नाम दिया गया है।

लोक सुभाषित ही लोक साहित्य में 'लोकोक्ति' कही गई अर्थात् लोक की उक्ति। इनका वैशिष्ट्य होता है कि ये समाज शैली में कही जाती हैं तथा कम शब्दों में अधिक भाव व्यक्त होता है। जिसे गागर में सागर भरना भी हम कहते हैं जैस चार्वाक की यह उक्ति है–

यावद् जीवेत् सुखं जीवेत।
ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत।।

लोकोक्तियाँ लगभग अनुभवजन्य होती हैं अर्थात् उनमें सूक्ष्म निरीक्षण की अद्भुत शक्ति दिखाई पड़ेगी। उदाहरण के लिए घाघ और भड्डरी की कहावतों को देख सकते हैं। इसकी लोकोक्तियाँ नितान्त अनुभवजन्य वैज्ञानिक, पैनी दृष्टि सम्पन्न तथा अनुसन्धानपरक होती हैं। ऋतु सम्बन्धी, कृषि सम्बन्धी या फिर नैतिक सन्दर्भ से जुड़ी घाघ और भड्डरी की लोकोक्तियाँ तब से लोक में प्रचलित हैं जब विज्ञान की ऐसी उन्नति नहीं हुई थी। दोनों कवि मौसम विज्ञान के पण्डित थे। जैसे–

सावन में पुरवईया, भादों में पछियांव।
हरवाहे हर छोड़ दे, लरिका जाय जियाव।

अर्थात् यदि सावन में पूरब दिशा की हवा चले और भादों में पश्चिम की तो किसान को हल छोड़कर आराम करना चाहिए या बच्चों की देखभाल करनी चाहिए क्योंकि इन दो महिनों में पूरब और पश्चिम की हवा चलने से फसल खूब पैदा होती है। इसी प्रकार–

रोहिणी बरसै मृग तपै, कुछ–कुछ अद्रा जाय।
कहै घाघ सुनु घाघिनी स्वान भात नहीं खाय।

दुश्मन की किरण बुरी। भली मित्र की त्रास।
आड़ंग कर गरमी करै। जद बरसन की आस।।

अर्थात् शत्रु की कृपा की अपेक्षा मित्र की डांट–डपट अच्छी है। जब कड़ाके की गर्मी पड़ती है और पसीना न सूखे तभी वर्षा भी आशा होती है।

सन्दर्भ कुछ भी हो लेकिन हमारी लोक संस्कृति पूर्णतः वैज्ञानिक है। इसके महत्त्व को रेखांक्ति करते हुए विजयदत्त श्रीधर लिखते हैं कि–''भारतीय ज्ञान परम्परा में श्रुति और स्मृति का प्रचलन रहा है। भारत के नितान्त प्राकृतिक परिवेश और पर्यावरण के बीच लगभग 500 वर्ष पूर्व विश्व के आदिग्रन्थ 'वेद' की रचना हुई।वेद हो या अन्यान्य वांगमय, सनातन ज्ञान के आदि श्रोत ऐसी ऋचाओं, श्लोकों, आख्यानों से भरे पड़े हैं जिनमें प्रकृति की महिमा और महत्ता का गुणगान है। ये भारतीय संस्कृति की कालजयी धरोहर हैं। इनका सम्बन्ध मानव जीवन की सार्थकता से है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी हमारे समाज के व्यवहार में आया यह ज्ञान लोकविज्ञान है। कालान्तर में लोक संस्कृतियों ने लोक विज्ञान को अपने इन्द्रधनुषी रंग में रंगा। उसकी छटा दैन्दिनी रीति–रिवाज, संस्कार, मान्यताओं, परम्पराओं में लोक संस्कृति के माध्यम से विस्तार पाने लगी। निषेध और वर्जनाओं प्रोत्साहन और सराहनाओं तथा स्तुतियों और आराधनाओं में भी लोक विज्ञान को पिरोया गयासैकड़ों साल से इस परम्परागत लोक–विज्ञान का जिस तरह पीढ़ी–दर–पीढ़ी अन्तरण होता आया है, उससे यह अनुभव पुष्ट होता है कि लोकसंस्कृति में प्रभावी सम्प्रेषण की जितनी सम्भावना है, प्रभावोत्पादकता है, ग्राह्यता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नर्मदा के बरमान घाट पर जल शुद्धि की एक संगोष्ठी का प्रसंग याद आता है। संस्कृत साहित्य के पण्डितों की उपस्थिति में पश्चिमी ढंग की पढ़ाई पढ़े एक विज्ञानी ने चुनौती उछाली, पुराना सोच योगा पंथ है, अनर्गल है, दकियानूसी है। आधुनिक विज्ञान ही इकलौता मार्ग है। इस बात को पुराण में इस प्रकार कहा गया है–

दशकूपसभा वापी, दशवाणीसमो ह्वदः।
दशह्वदसमः पुत्रो, दशपुत्रसमो द्रुमः।।

यह श्लोक 'भविष्यपुराण' में है। पण्डित जी ने आत्मविश्वास से भरा सवाल उठाया, क्या आधुनिक विज्ञान में और भारतीय संस्कृति से बाहर अन्यत्र कहीं प्रकृति के सम्बन्ध में ऐसी गहरी सोच मिलती है? सचमुच बड़ी गंभीर बात कहीं गई है– दस कुओं के बराबर एक बावड़ी दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष। पानी पड़े मनुष्य के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की कैसी विलक्षण व्याख्या है। यह बात पूरी हुई ही थी कि एक सेवानिवृत्त अध्यापक ने

दोहा पढ़ा–

रहिमन पानी राखिये। बिन पानी सब सून।
पानी गए न उबरे मोती मानुष चून।।

पानी पर ऐसी मार्मिक, अर्थपूर्ण एवं समग्र समझ शायद दुनिया की किसी भी संस्कृति में उपलब्ध नहीं होगी।

भारतीय लोक संस्कृति के ऐसे अनेक सन्दर्भों को व्यावहारिक तौर पर प्रयोग करने के लिए आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल जनपदीय जीवन तथा जन के अध्ययन की आवश्यकता पर बल देते हैं तथा जनपदीय अध्ययन के विद्यार्थी तैयार करने की भी बात करते हैं। वे लिखते हैं कि–भारत जनपदों का देश है। जनपदों का जीवन हजारों वर्षों की अटूट परम्परा के लिए हुए हैं। जन की सत्ता और महिमा एवं जन–जीवन की स्वाभाविक सरल निजरूपता जनपदों में सुरक्षित है। जनपद जीवन के अनेक पहलुओं की लीलाभूमि है। खुली हुई पुस्तक के समान जनपदों का जीवन हमारे चारों ओर फैला हुआ है। पास गाँव और दूर देहातों में बसने वाला एक–एक व्यक्ति उस रहस्य भरी पुस्तक के पृष्ठ हैं। प्रत्येक जनपद जब (गाँव का व्यक्ति) एक पृथ्वी पुत्र है। उसके लिए हमारे मन में सच्ची श्रद्धा होनी चाहिए हम उसे अपढ़, गंवार और अज्ञान रूप में जब देखने की धृष्टता करते हैं तो हम गाँव के जीवन में भरे हुए अर्थ को खो देते हैं। वे लिखते हैं कि जनपदों की परिभाषा लेकर गाँव के जीवन का वर्णन हमारे अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। हमें मिट्टियों और चट्टानों के नाम एकत्रित करने होंगे। प्राकृतिक भूगोल के लिए शब्दावली जनपदों से प्राप्त करनी होगी। पशु–पक्षियों, वनस्पतियों का अध्ययन जिसमें एक–एक घास, फूल फल का वर्णन हमारे पूर्वजों ने खुद जाकर अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त जनपदीय अध्ययन का रोचक विषय मनुष्य स्वयं है। इस देश में सैकड़ों प्रकार के मनुष्य बसते हैं।उनके रहन–सहन, उनके रीति–रिवाज, अनके आचार–विचार, शारीरिक विशेषताएँ, उत्पत्ति, वृद्धि, संस्कार, गीत, पर्व, उत्सव, वेश–भूषा, आभूषण उनके नाम तथा ऐसे अनेक सन्दर्भों को हमें जानने तथा खोज करने की रूचि और शक्ति हमें उत्पन्न करनी चाहिए, यही जनपदीय अध्ययन की सच्ची अदां है। इस आँख में जितना तेज आता जाएगा उतने ही अधिक अर्थ को हम देखने लगेंगे।

3.8 देवविज्ञान एवं धार्मिक आदर्श

सम्पूर्ण भारतीय भूभाग में लोक देवी देवताओं तथा उनसे जुड़े आदर्शो पर लोगों का जीवन चलता है।भारतीय ग्रामीण अंचलों में अनेक देवता अत्यन्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय हैं जिनकी पूजा बड़ी भक्ति भावना से की जाती है। इन देवताओं के मंदिर प्रायः गाँव के बाहर किसी मुख्य स्थान पर होते हैं अथवा किसी ऐसे सार्वजनिक स्थान पर इनकी प्रतिमा स्थापित की जाती है जहाँगाँव का प्रत्येक व्यक्ति आसानी से पहुंच सके।जो देवता ग्राम समाज के सभी वर्गो द्वारा पूज्य होते हैं उन्हें ग्राम देवता कहा जाता है। परन्तु जिस देवता की पूजा किसी विशेष समाज या सम्प्रदाय के लोगों द्वारा की जाती है उन्हे गृह देवता कहते हैं।उदाहरण के लिए हनुमान तथा गणेश ग्राम देवता हैं क्योंकि स्थानीय समस्त् जनता इनकी आराधना करती है परन्तु शीतला माता अथवा त्रिलोकी नाथ बाबा गृह देवता हैं जिनकी आराधना किसी विशेष परिवार द्वारा की जाती है। इसके अतिरिक्त रोगों के अलग देवी देवता होते हैं जैसे शीतला माता, ग्रामसमाज की रक्षा लिए डीह बाबा, दैत्रावीर बाबा। लोक में सत्यनारायण व्रत कथा का विधान है। पत्थर में भी भगवान को देखने का भाव, जीवों के प्रति दया, जोगी,

साधु, सन्तों को यथा सम्भव दान, असहाय और बेसहारा जीवों की हर सम्भव सहायता, देवी देवताओं के प्रति सकारात्मक भाव, खेत में नई फसल लगाते समय प्रकृति और भूमि पूजन लोकजीवन के महत्त्वपूर्ण धार्मिक आदर्श माने जाते हैं। भारत में मनाए जाने वाले अनेक लोकोत्सव, तीर्थ यात्राएँ इनके उदाहरण हैं।ये लोकोत्सव भारतीय लोकजीवन के लिए संजीवनी है। संजीवनी इसलिए कि यही एक अवसर होता है जब लोग एक भाव से किसी एक विषय पर केन्द्रित होकर सोचते हैं। अपने को खुश करते हैं। अलग–अलग तिथियों पर लोक देवी–देवताओं, अनेक मान्यताओं से जुड़े भारतीय परम्परा में लोकोत्सव तथा यात्राओं का अनूठा रंग है।

लोकात्वस

लोकोत्सवों में दशहरा, दीपावली, रामनवमी, जन्माष्टमी, फाग उत्सव, जागरा उत्सव, उत्तराखण्ड में लोकपर्व एवं उत्सवों की अलग छटा है जिसमें प्रकृति के प्रति अभूतपूर्व प्रेम और सम्मान दिखता है। दुर्गाष्टमी, नंदभाष्टमी, हरेला तथा चैत्र मास में मनाई जाने वाले मेष संक्रान्ति 'फूलदेई', घृत संक्रान्ति, आठूख्यों, खतडूवा, सिखौती, भैरवाष्टमी यहाँ के विशेष लोकोत्सव हैं। "झारखण्ड की जनजातीय संस्कृति में कुंठा और अवसाद के लिए कोई स्थान नहीं हे। माध पर्व, सा पर्व, हेरो पर्व, सोम नमा पर्व, करम पूजा, बहा, गोम्हा, सोहराई, भागे, सुरू बोंगा, सरना, सूढ़ी करम पूजा जैसे उत्सवों की साल भर धूम रहती है। प्रकृति और पर्यावरण संरक्षण से जुड़े ये सभी पर्व नैसर्गिक शक्तियों की आराधना के पर्व है। महाराष्ट्र में गणेशोत्सव, जड़ पूर्णिमा, नारकी पूर्णिमा, कोजागरी पूर्णिमा, गंगा दशहरा, पोला, नागपंचमी तथा हल्दी कुंकुम प्रमुख उत्सव हैं। इसी प्रकार बंगला के दुर्गापूजा, कालीपूजा, तो उड़ीसा में जगन्नाथ यात्रा, चन्दन यात्रा, महाविषुव संक्रान्ति, मह्मा पूर्णिमा तथा स्नान पूर्णिमा का महत्त्व है। तेलुगु या आंध्र प्रदेश में पीढ़ी–दर–पीढ़ी निहित लोक विश्वासों तथा अनेक सामाजिक सन्दर्भों को ध्यान में रखकर लोकोत्सव मनाएँ जाते हैं। जो सामूहिकता की जीवस्त् उदाहरण है। रथोत्सव तपोत्सव श्रीराम, कृष्ण तथा रंगनाथ पर केन्द्रित यहाँ का प्रमुख लोकोत्सव है जो एक से तीन दिनों तक जुलूस के रूप में मनाया जाता है।

भारतीय लोक संस्कृति के साक्षात् विग्रह रुप में 'मेलो' की बड़ी महत्ता है। साझेदारी, विश्वबन्धुत्व, सुख, आनंद, आध्यात्मिक एवं व्यापारिक सरोकारों से जुड़े ये मेले हमारी संस्कृति के प्राण तत्त्व हैं। स्त्री–पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, युवती, व्यापारी, पण्डे, पुजारी सभी का एक मिलन स्थल 'मेला' भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत् का अनोखा उदाहरण है। कुछ प्रमुख मेलों तथा उनके वैशिष्ट्य की चर्चा यहाँ आवश्यक होगी। कुम्भ मेला– उत्तर प्रदेश के प्रयागराज, महाराष्ट्र के नासिक, उत्तराखण्ड के हरिद्वार तथा मध्य प्रदेश के उज्जैन में नदी तट पर लगने वाला यह मेला विश्व का सबसे बड़ा धार्मिक मेला माना जाता है जो मकर संक्रान्ति के अवसर पर लगता है। इस अवसर पर गंगा स्नान का बड़ा महात्म्य है। कुंभ मेला हिन्दू धर्म का अकेला ऐसा मेला है जिसमें करोड़ों श्रद्धालु एक साथ शामिल होते हैं। प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन और नाशिक में प्रत्येक स्थान पर प्रति 12वें वर्ष कुम्भ तथा प्रयाग में दो कुम्भ पर्वो के बीच छह वर्ष के अन्तराल में अर्धकुम्भ भी होता है। यह मेला यूनेस्कों की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में दर्ज है। बिहार में लगने वाले अन्य मेलों में गया का पितृपक्ष मेला, वैद्यनाथ धाम का श्रावणी मेला तथा बांका जिले का बौंसी मेला महत्त्वपूर्ण हैं।

उत्तराखण्ड में उत्तरायणी मेला बागेश्वर शहर में आयोजित होता इस राज्य में लगने वाले अन्य मेलों में नन्दा देवी मेला, हरेला मेला, कांवर मेला, चैती मेला, माघ मेला तथा पूर्णागिरि मेला प्रमुख हैं।

मध्य प्रदेश का सबसे बड़ा मेला उज्जैन में लगने वाला सिंहस्थ कुम्भ माना जाता है जो मकर संक्राति के अवसर पर कुम्भ मेला प्रत्येक 12 वर्ष पर लगता है। इसके अतिरिक्त नागाजी का मेला, पीरबुधन का मेला, हीरा भूमिया मेला, अमरकंटक का शिवरात्रि मेला, जागेश्वरी देवी मेला, तंजाजी का मेला, चण्डी देवी मेला महत्त्वपूर्ण मेले हैं।

अपनी रंगीन छवियों के लिए ख्यात **राजस्थान** की लोक संस्कृति अद्‌भुत है। यहाँ का पुष्कर मेला विश्व प्रसिद्ध है। कार्तिक पूर्णिमा पर अजमेर के पुष्कर झील पर लगने वाले इस मेले का धार्मिक महत्त्व है। यहाँ पुष्कर झील में स्नान की परम्परा है। यह भी हिन्दुओं का महत्त्वपूर्ण मेला है। कुरुक्षेत्र का सूर्यग्रहण मेला, झज्जर का कीमेश्वरी देवी मेला, पंचकूला का मनसा देवी मेला जैसे 20 मेले और भी है जो अनेक धार्मिक स्थलों पर विशेष अवसरों पर लगते हैं।भारत के 51 शक्तिपीठों में महाशक्तिपीठ के रूप में मान्य 'कामाख्यादेवी' का मंदिर अपनी तन्त्र साधना के लिए विश्व विख्यात है। इसी कामाख्या मंदिर में अम्बुवाची पर्व पर लगने वाला 'अम्बुवाची' मेला **असम राज्य** का सबसे बड़ा मेला माना जाता है जो तीन दिनों तक चलता है।

भारत की लोकसंस्कृति को यदि आप समग्रता में समझना चाहते हैं तो आपको यहाँ के गाँव, पहाड़ तीर्थ, देवीमूर्ति, मन्दिरों और ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा करनी होगी तथा भारत की **प्रदक्षिणा संस्कृति** को भी समझना होगा। अपने सांस्कृतिक वैभव से परिपूर्ण भारत मूलतः एक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक देश है जिसके कण–कण में ईश्वर का वास माना जाता है। यहाँ सम्पूर्ण प्रकृति पूज्य है। सूर्य, चन्द्रमा, जल, वायु, पिण्ड, नदी, पर्वत, जीव–जन्तु सभी के प्रति भारतीय लोकमानस में अपूर्व श्रद्धा ओर आस्था है। इसी कारण भारत में अनेक यात्राएँ होती हैं। भारत के सभी राज्यों में अपनी–अपनी संस्कृति तथा लोक परम्पराओं के आधारपर अलग–अलग यात्राएँ होती हैं, वे किसी–न–किसी तीर्थ से जुड़ी होती हैं। अनेक यात्राएँ ऐसी हैं जिनमें केवल प्रदक्षिणा (परिक्रमा) की जाती है। घड़ी, दिन, महीने और वर्षो तक चलने वाली यात्राएँ/प्रदक्षिणा हमारी '**सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया**' की संस्कृति को पुष्ट करता है। **खण्डोवा यात्रा** सभी भारतीय धर्मों में ऐसे स्थल और तीर्थ है जहाँ वर्ष पर्यन्त यात्राएँ चलती रहती हैं।यात्राओं की संस्कृति की तरह ही सभी धर्मों में **प्रदक्षिणा की संस्कृति** भी है जिसका अर्थ होता है किसी खास बिन्दु या घेरे के चारों ओर किसी विशेष प्रयोजन से घूमना या उसकी परिक्रमा करना जिसका स्वरूप अलग–अलग हो सकता है। हमारे देश में प्राचीन काल से चली आ रही यह परिक्रमा कई प्रकार की होती है। जैसे देवस्थानों की परिक्रमा, पवित्र नदियों की परिक्रमा, तीर्थ स्थानों की परिक्रमा, पर्वत परिक्रमा तथा विविध अनुष्ठानों विवाह, यज्ञ आदि के दौरान होने वाली परिक्रमा। भारत में प्रदक्षिणा का वर्णन सर्वप्रथम पुराणों के माध्यम से मिलता है जहाँ श्री गणेश द्वारा प्रकाश और शक्ति स्वरूप अपने माता–पिता की प्रदक्षिणा की जाती है। दूसरा उदाहरण भगवान श्रीकृष्ण से जुड़ा है जिसमें वे स्वयं गिरिराज गोवर्धन की परिक्रमा अपने ग्वाल बाल सखाओं के साथ करते हैं। आज भी यह गोवर्धन की परिक्रमा या व्रजमण्डल की परिक्रमा के रूप में परिव्याप्त है। कुछ उदाहरण देखें–"लोक में वृक्ष पूजा का महत्त्व था। आदिम मनुष्य वृक्षों पर आत्मा का वास मानता था। वट, पीपल जैसे वृक्षों की महत्ता को लोक जान चुका था। अतः इनकी परिक्रमा का विधान यहाँ की पूजा पद्धतियों में होने लगा। वट सावित्री अमावस्या को स्त्रियाँ वह की परिक्रमा करती हैं, उसके तने में धागा लपेटती हैं। यह वृक्ष से सगेपन का बोध है। इसके अतिरिक्त घर आंगन में 'तुलसी' के चौरा की परिक्रमा का विधान है जो विशेष रुप से सोमवती अमावस्या को की जाती है। इस परिक्रमा में स्त्रियाँ चौरे

की 100 बार परिक्रमा करके कोई विशेष वस्तु 108 की मात्रा में चढ़ाती हैं। यह परिक्रमा पति की दीर्घायु के निमित्त किया जाता है। पूजन के अंतिम चरण में एक मन्त्र पढ़ा जाता है–

> ''यानि कानि च पापानि, जन्मान्तर कृतानि च।
> तानि तानि विनसयंति, प्रदक्षिणायाम पदे–पदे।।''

अर्थात् जन्म जन्मान्तर के पाप प्रदक्षिणा से नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार विग्रहों की परिक्रमा, मूर्तियों की परिक्रमा तथा मन्दिरों की परिक्रमा का विधान है। लोक जीवन के कुछ ऐसे विश्वास भी जुड़े होते हैं जिनमें परिक्रमा का महत्त्व बढ़ जाता है। जैसे यदि कोई गाँव किसी खास बीमारी से ग्रसित् हो जाता था जिसमें मनुष्य और पशु दोनों का जीवन संकट में पड़ जाए तब पूरे गाँव को किसी खास रंग या गोबर से गोंठ (घेर) देने की परम्परा थी। ठीक ऐसी ही परम्परा सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हैं। विवाह संस्कार में अग्नि के सात फेरे होते हैं। जिसे भांवर या सप्तपदी कहते हैं। मृत्यु में अंतिम संस्कार करने वाला व्यक्ति जल से भरा घर लेकर चिता की परिक्रमा करता है। इस दौरान घड़े में एक छेद होता है जिससे जल गिरता रहता है जिससे मृतक केचारों ओर एक घेरा भी बनता जाता है। इस प्रकार अनेक सन्दर्भों में हमारे यहाँ प्रदक्षिणा या परिक्रमा का महत्त्व अक्षुण्ण है। कुछ बड़ी प्रदक्षिणाएँ यात्राओं के रुप में विकसित् हो चुकी है। इनमें 'देवघर' (बिहार) की कांवड़ यात्रा, मध्य प्रदेश की नर्मदा यात्रा, काशी की पंचक्रोशी यात्रा, दक्षिणी महाराष्ट्र के पंढ़रपुर के विठोवा (भगवान कृष्ण) मंदिर से जुड़ी पंढरपुर वारी यात्रा, खण्डोवा यात्रा, उड़ीसा की जगन्नाथ यात्रा, चन्दन यात्रा, उत्तराखण्ड की नंदा देवी आदि यात्राएँ भारत की गौरवशाली संस्कृति को प्रवाहमान बनाए रखने में आज भी समर्थ है। ऐसे तमाम सन्दर्भ यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि भारतीय लोकसंस्कृति की सरिता अन्नत काल से अखण्ड प्रवाहमान है। उस प्रवाह में अलग–अलग कालखण्डों में अनेक संस्कृतियाँ मिलती गईं जिनको हमारी संस्कृति ने आत्मसात करते हुए स्वयं को समृद्ध कियाद्रविण, आर्य, निषाद एवं गुप्त, कुषाण, मौर्य जैसी संस्कृतियों मेंव्याप्त पूजा पद्धति, उपासना, लोकविश्वास तथा अन्य पारम्परिक पद्धतियाँ जैसे–जैसे हमारी संस्कृति में मिलती गई, वैसे–वैसे भारतीय लोक संस्कृति की सरिता का प्रवाह विशाल होता गयाआचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि केले के पेड़ में जैसे एक के ऊपर एक चढ़े हुए परतों के भीतर उसकी गाथा रहती है, वैसा ही कुछ हमारी भारतीय संस्कृति का स्वरूप है, जिसमें अनेक शास्त्र, वेद, पुराण, आस्था, विश्वास, धर्म, मान्यताएँ, निज अनुभव, पर अनुभव सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, गण, वृक्ष, नदी, पर्वत, समुद्र, दृश्य, अदृश्य सब कुछ समाया हुआ है।

3.9 सामाजिक आदर्श

सभी जीव ईश्वर की सन्तान हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी हमारी माता है, सभी मनुष्य सहोदर हैं तथा '**सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मां कश्चिद् दुखः भाग भवेत्**' की भावना ही हिन्दू परम्परा के सामाजिक आदर्शों की व्याख्या करता है। हिन्दू विश्व दृष्टि मनुष्य और प्रकृति दोनों को अविलग देखती है। हिन्दू दर्शन के अनुसार बाहर से जो सूर्य का प्रकाश है, वही भीतर बुद्धि का प्रकाश है, बाहर जो अधंकार है वही भीतर का भय है, बाहर जो तृण और वृक्षों में उपर उठने की प्रक्रिया है, वही भीतर की उमंग है। इसी भाव को धारण किए हुए लोक की हिन्दू अवधारणा कहती है कि व्यक्ति का अपना कल्याण दूसरों के कल्याण से जुड़ा है। हिन्दू परम्परा में सेवा तथा करुणा की भावना का काफी महत्त्व है। सामाजिक दायित्वों के प्रति हिन्दू

परम्परा यह कहती है कि जीवन पर्यंत सभी के प्रति एक समान भाव धारण करना चाहिए परिवार और समाज में आयोजित सोलह संस्कार तथा अनेकानेक शुभ अशुभ कर्मों में समाज के सभी वर्गों की भागीदारी इस पक्ष का सबसे बड़ा उदाहरण है। हिन्दू परम्परा आपकी सामाजिक भूमिका तय करती है। वह कहती है कि एक ऐसी भूमिका जो आप से जो अपेक्षित है और आप उसे पूर्ण कर सकते हों तो अवश्य करें क्योंकि उसे पूर्ण करने के बाद आपको जो आत्मिक सुख और सन्तोष प्राप्त होगा वह आपके के लिए अमूल्य होगा। हिन्दू परम्परा त्याग, क्षमा, करूणा, दया के आधार पर अपनी सामाजिक समरसता को अभिव्यक्त करता है। इस समरसता को अनेक सन्तों ने अपनी वाणियों में अनेक रूपों में जीवन्त किया है तथा अनेक लोकगीत भी इन सामाजिक आदर्शों की व्याख्या करते हैं।

सन्त कबीर लिखते हैं–

> हम तो एक एक करि जानां।
> दोइ कहैं तिनहीं कौं दो जग, जिन नाहिंन पहिंचानां।।
>
> एकै पवन एक ही पानीं, एक जोति संसारा।।
> एक ही खाक घड़े सब भाड़े, एक ही सिरजनहारा।।

सनातन की समरसता और सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए सूरदास कहते हैं–

> चकई री, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
> जहं भ्रम–निसा होति नहिं कबहँ, सोइ सायर सुख जोग।
>
> जहाँ सनक–सिव इंस, मीन मुनि, नख रवि–प्रभा प्रकास।
> प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुबास।

लोक में जनता परमसत्ता पर भरोसा करती है। लोक की मुकम्मल आवाज गोस्वामी तुलसीदास सबके कल्याण की कामना करते हुए भगवान राम से प्रार्थना करते हैं–

> स्वामी सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम तात।
> मन मंदिर तिन्ह के बसहुं सीय सहित दोउ भ्रात।।
>
> अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनुहित संकट सहहीं।
> गुन तुम्हार समझई निज दोसा।जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा।
> राम भगतप्रिय लागहीं जेही। तेहि उर बसहु सहित वैदेही।

परार्थ अर्थात आपके कर्मों से दूसरे सुखी हों तभी आपके होने का सुख है।एक अवधी लोकगीत इसी बात की पुष्टि करता है। लोकगीत यह बताता है कि किसी कार्य के होने में सफलता नहीं है बल्कि उससे कितने लोग लाभान्वित हो रहे हैं उसमें सफलता है–

> कुंअवां खोदाए कवन फल, हे मोरे साहब
> झोंकवन भरे पनिहारिन, तबै फल होइहैं।
>
> बगिया लगाए कवन फल, हे मोरे साहब
> राही बांट अमवा जे खइहैं, तबै फल होइहैं।

पोखरा खोदाए कवन फल, मोरे साहब
गउवा पीयैं जुड़ पानी, तबै फल मोरे साहब।

तिरिया के जनमें कवन फल, हे मोरे साहब
पुतवा जनम जब लेइहैं, तबै फल होइहैं।

पुतवा के जनमें कवन फल, हे मोरे साहब
दुनियाँ अन्नद जब होई, तब फल होइहैं।

3.10 मौलिक हिन्दू सिद्धान्त

हिन्दू धर्म ज्ञान को आचरण से जोड़ते रहने की सतत प्रक्रिया है।हिन्दू धर्म के कुल चार मौलिक सिद्धान्त हैं। इस प्रक्रिया की सबसे बड़ी और पहली विशेषता है–जीवन में निरन्तरता और अखण्डता का अनुभव करते रहना। जन्मजन्मान्तर का सिद्धान्त इसी निरन्तरता के अनुभव का ही एक निष्कर्ष है। हिन्दू जीवन प्रक्रिया की दूसरी मुख्य विशेषता है कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त जिसका अर्थ उन सभी आचरणों या कार्यों से है जिन्हें मनुष्य जानबूझकर या अनजाने में सम्पादित करता है। गीता में कहा गया है कि मन, वाणी तथा शरीर से की गयी सभी क्रियायें कर्म हैं। मनुष्य अपने कर्मों के प्रति इसलिए सचेत रहता है कि प्रत्येक कर्म का उसे फल अवश्य मिलता है। गीता में कहा गया है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। कर्म का परिणाम कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है।हिन्दू जीवन प्रक्रिया की तीसरी विशेषता है उसकी आनृण्य या ऋण व्यवस्था।वर्णाश्रम व्यवस्था इस आनृण्य व्यवस्था के कार्यान्वयन के रूप में आगे आई।शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य जीवन में कुल चार ऋण होते हैं। (1) ऋषिऋण (2) पितृऋण (3)देवऋण (4) भूत या मनुष्य ऋण।जिससे उऋण होने के लिए आपको क्रमशः अपने तप और अनुभव से प्राप्त ज्ञान को समाज में प्रसारित करना होगा। समाज को एक ऐसा उत्तराधिकारी प्रदान करना जो आपके पुरखों की परम्पराओं को जीवन्त बनाए रखे। स्वयं को आजीवन विनम्र बनाएँ रखें, देवोपासना के प्रति समर्पित रहें।नामहीन, सत्ताहीन होकर सेवा–भाव रखते हुए दूसरों के दुखः के प्रति करूणा, सुख में प्रसन्नता, असत् कार्यों की उपेक्षा तथा सभी के प्रति समान आदर रखना।हिन्दू जीवन प्रक्रिया की चौथी विशेषता है पुरुषार्थ इन्हीं को चार मुख्य कर्त्तव्य और जीवन मूल्य भी कहा गया है। इसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष कहा गया है। चारों को सम्मिलित रूप से पुरुषार्थ कहा जाता है। यहाँ धर्म का अर्थ कर्त्तव्यों की पूर्ति से है। अर्थ का सम्बन्ध ईमानदारी से जीविका उपार्जन करना है। काम का सम्बन्ध सन्तान को जन्म देकर उनका पालन–पोषण से है तथा माता–पिता के ऋणों को पूरा करने से है। मोक्ष का तात्पर्य सभी कर्त्तव्यों को पूरा करके पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करना है।कालान्तर में मोक्ष को भी अतिक्रमण करने वाले हिन्दू धर्म के पाँचवें मौलिक सिद्धान्त को भक्ति कहा गया है। भक्ति एक ऐसे भागवत भाव की जिसे पाकर मुक्ति की भी उपेक्षा करने का मन हो जाएँयही इक्षा बनी रहे कि मुक्त होकर भी दूसरों का दुखः दूर करने के लिए जीवन अर्पित होता रहे जिससे भगवान में जीने की सार्थकता प्रमाणित होती रहे। इन सब के अतिरिक्त हिन्दू परम्परा आत्मा की अमरता में विश्वास करती है उसका मानना है कि शरीर नाशवान है लेकिन आत्मा अमर होती है। आत्मा ही शरीर को जीवन देती है व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म मिलता है लेकिन आत्मा इन कर्मों से प्रभावित नहीं होती है।

भारत में लोक और शास्त्र को एक दूसरे की आंख कहा गया है। शास्त्रों में जिसेकर्मवाद, पुरूषार्थ, ऋण और भक्ति के नाम से व्याख्यायित किया गया है वे सभी परम्पराएँ आज भी लोक जस की तस आपको प्रयोग में मिलेंगी अन्तर यही है कि लोक इसे अपने ढंग से व्याख्यायित एवं प्रयोग करता है।

3.11 सारांश

इस इकाई में आप नें भारतीय लोक–साहित्य और संस्कृति में हिन्दू संकल्पना के विविध स्वरूपों को समझा। आपनें भारतीय लोकसंस्कृति में हिन्दू संकल्पना का अर्थ उसकी परम्पराओं यज्ञ, उपासना पद्धति, भक्ति, सोलह संस्कारों तीर्थों, व्रतों, पर्वों, अनुष्ठानों, प्रकृति के प्रति समर्पण, स्नेह और सम्मान सहित भारतीय सनातन हिन्दू परम्परा के उन अर्थों को भी समझा जो हज़ारों वर्षों की अपनी लोक परम्पराओं के साथ आज भी प्रवहमान है। इस इकाई में भारत की सम्पूर्ण लोक परम्परा में निहित अनेक लोकपर्वों की वैज्ञानिकता तथा उसके सामाजिक, नैतिक निहितार्थों, मौलिक सिद्धान्तों सहित अनेक बिन्दुओं पर चर्चा की गई है।इस आधार पर आप अपनी हिन्दू संकल्पना के सन्दर्भ एवं सूत्रों को और अधिक स्पष्ट कर सकेंगे।

3.13 शब्दावली

- चलन : शास्त्रीय नियमों से अलग लोक की वह परम्परा जिसमें कोई कार्य आसानी से हो जाता है।
- मानर पूजन : विवाह के दौरान की जाने वाली एक पूजा विधि।
- अद्रा : आर्द्रा नक्षत्र
- पछियांव : पश्चिम दिशा से बहने वाली हवा
- धगड़िन : बच्चों के जन्म के बाद मां से जुड़ी नाल को अलग करने वाली एक प्रशिक्षित स्त्री।
- बटोही : यात्री
- कर्मवाद : एक ऐसी अवधारणा जो बताती है कि आपके कर्म के अनुसार ही आपको सुख या दुखः की प्राप्ति होगी।
- पुरूषार्थ : लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयुक्त मार्ग –धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।
- प्रदक्षिणा : किसी खास बिन्दु या घेरे के चारों ओर किसी विशेष प्रयोजन से घूमना
- आनृण्य : हिन्दू परम्परा में मोक्ष प्राप्ति हेतु व्यक्ति को ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण से मुक्त होना होगा।

3.13 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. वासुदेवशरण अग्रवाल रचना संचयन, कपिला वात्स्यायन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2012
2. लोक और शास्त्र : अन्वय और समन्वय, विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
3. भारत की लोकसंस्कृति, सम्पादक– हेमंत कुकरेती, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली,

2018

4. लोकसंस्कृति की रूपरेखा, कृष्णदेव उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019
5. लोक–साहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019

3.14 बोध प्रश्न

1. भारत की लोक संस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ लोक संस्कृति है। कथन की पुष्टि कीजिए
2. लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है, सोदाहरण समझाइए
3. लोक में हिन्दू संकल्पना के सिद्धान्तों को सोदाहरण समझाइए
4. लोकविश्वास किसे कहते हैं? हिन्दू संकल्पना में इनका प्रयोग समझाइए
5. हिन्दू परम्परा में लोक पर्वों तथा तीर्थ यात्राओं का महत्त्व बताइए
6. हिन्दू परम्परा में लोक प्रचलित मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

इकाई 4 हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

हिन्दू विषयक अभिनव संकल्पना के वर्णन वाली इस इकाई का अध्ययन कर लेने केबाद आप :

- हिन्दू के सन्दर्भ में समकालीन मान्यताओं को बता सकेंगें।
- हिन्दूत्व के आधारभूत गुणों का उदाहरण दे सकेंगें।
- गैर हिन्दू भारतीय और हिन्दू भारतीय को स्पष्ट रूप से बता सकेंगें।
- हिन्दू की पारिवारिक व्यवस्था का उल्लेख कर सकेंगें।
- ब्रिटिश प्रभाव से आयी हुई विकृतियों को बता सकेंगें।
- वर्तमान परिवर्तित स्थितियों की व्याख्या कर सकेंगें।

4. 1 प्रस्तावना

यह सही है कि हिन्दू विषयक ज्ञान के लिए हमें वैदिक वर्णन का सहारा लेना पड़ता है। इसी के साथ–साथ वेदांग आदि में भी हिन्दू विषयक पहचान को देखना होता है। आगम, आरण्यक आदि में भी इन तत्त्वों की प्राप्ति होती है, जिनसे हम हिन्दू को अथवा हिन्दूत्व को पारिभाषित करने में सक्षम हो पाते हैं।पुराण का साहित्य भी हिन्दू

की अस्मिता के लिए प्राप्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार भारतीय मनीषा के अनेक ग्रन्थ हिन्दू विषयक प्रमाणों को प्रस्तुत करते है जिनके विषय में आपने प्रथम इकाई में सम्यक् रूप से जानकारी प्राप्त कर लिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या समस्त् प्राचीन जानकारियाँ ही इसके लिए पर्याप्त हैं?

इस बात का निर्णय करने के लिए हमें वैश्विक परिस्थितियों को देखना होगा। साथ ही मूल को भी सुरक्षित रखना होगा। इस सन्दर्भ में जो नई घटनायें घटित हुई हैं, उनमें मुख्य तो यह है कि विश्व परस्पर अधिक निकट आया है, विभिन्न समाज और संस्कृतियाँ सघनता से अन्तःक्रिया कर रही हैं और इसके लिये नई–नई पहचान भी प्रतिपादित की जाती रहती हैं। जैसे कि 'डाइएसपॉरा' शब्द प्रचलन में आया है जो किसी एक पहचान के विश्वव्यापी विस्तार का द्योतक है।हिन्दू नृवंश या हिन्दू 'डाइएसपॉरा' का भी विचार स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में जो विविध कर्मकाण्ड भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर सरलता से होते हैं और आनंद देते हैं, उन्हें नितान्त भिन्न जलवायु में और भिन्न परिवेश में यथावत नहीं दुहराया जा सकता। जैसे कि नित्य उषःकाल में स्नान अथवा ग्रीष्म ऋतु में दो या तीन बार स्नान या कि गंगाजी या अन्य पवित्र तीर्थ में जाकर तर्पण क्रिया करना आदि सम्भव नहीं है।कर्मकाण्डों में देश और काल के अनुसार परिवर्तन सदा होते रहे हैं और अब यूरोप, संयुक्त राज्य अमेरिका, अफ्रीका तथा अरब एवं मध्य एशिया के क्षेत्रों के हिन्दुओं के लिये उन कर्मकाण्डों के पूर्ण अनुसरण का आग्रह नहीं किया जा सकता जो भारतवर्ष में नित्य कर्म के रूप में पालनीय कहे जाते रहे हैं।

कुर्सी, मेज आदि में और डाइनिंग टेबल पर भोजन करते समय बलिवैश्वदेव की क्रिया सामान्यतः अटपटी या असुविधाजनक लगेगी। परन्तु भोजन मन्त्र पढ़ना सरल है और वह किया जा सकता है। इस प्रकार परिवेश और देशकाल के अनुरूप हिन्दू संकल्पना को लेकर नवीनता लाना स्वाभाविक है। इस प्रकार उक्त विचारों के आलोक में आप इस इकाई के विषय का अध्ययन करने के बाद हिन्दू की संस्कृति अथवा हिन्दूत्व विषयक अवधाराणा की व्याख्या करने के लिए सक्षम हो जाएँगें।

4.2 हिन्दू संकल्पना का आधुनिक विस्तार

प्रश्न : वर्तमान समय में हिन्दू संकल्पना प्राचीन शास्त्रों की निरन्तरता के साथ समकालीन वैश्विक सन्दर्भ में क्या होगी? क्या उसका वैदिक मूल होना पर्याप्त है या उसकी समकालीन व्याप्ति का भी संज्ञान अपेक्षित है?

उत्तर : समकालीन विश्व की परिस्थितियों का संज्ञान सदा ही लेते रहना आवश्यक है और हिन्दू परम्परा यह कार्य सदा से करती रही है। अतः नई वैश्विक परिस्थितियों का संज्ञान लेते हुये मूल को यथावत रखते हुये समकालीन व्याख्या और विस्तार आवश्यक है और यह कार्य हिन्दू मनीषी सदा से करते रहे हैं।

इस सन्दर्भ में जो नई घटनायें घटित हुई हैं, उनमें मुख्य तो यह है कि विश्व परस्पर अधिक निकट आया है, विभिन्न समाज और संस्कृतियाँ सघनता से अन्तःक्रिया कर रही हैं और इसके लिये नई–नई पहचान भी प्रतिपादित की जाती रहती हैं। जैसे कि 'डाइएसपॉरा' शब्द प्रचलन में आया है जो किसी एक पहचान के विश्वव्यापी विस्तार का द्योतक है। इसका आरम्भ तो विश्व भर में फैले यहूदियों की पहचान को रेखांक्ति करने से हुआ। परन्तु अब यह मुस्लिम, ईसाई आदि सभी समुदायों के विश्व भर में फैले नृवंश के लिये होता है।

अतः हिन्दू नृवंश या हिन्दू 'डाइएसपॉरा' का भी विचार स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में जो विविध कर्मकाण्ड भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर सरलता से होते हैं और आनंद देते हैं, उन्हें नितान्त भिन्न जलवायु में और भिन्न परिवेश में यथावत नहीं दुहराया जा सकता। जैसे कि नित्य उषःकाल में स्नान अथवा ग्रीष्म ऋतु में दो या तीन बार स्नान या कि गंगाजी या अन्य पवित्र तीर्थ में जाकर तर्पण क्रिया करना आदि सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में हिन्दूत्व के जो आधारभूत गुणपरक लक्षण हैं तथा कण–कण में व्याप्त परमात्मा और प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान आत्मा के परमात्मा का ही अंश होने का बोध और साथ ही कर्मफल एवं पुनर्जन्म के आधारभूत नैतिक सूत्रों को स्मरण करना ही मूल है।

कर्मकाण्डों में देश और काल के अनुसार परिवर्तन सदा होते रहे हैं और अब यूरोप, संयुक्त राज्य अमेरिका, अफ्रीका तथा अरब एवं मध्य एशिया के क्षेत्रों के हिन्दुओं के लिये उन कर्मकाण्डों के पूर्ण अनुसरण का आग्रह नहीं किया जा सकता जो भारतवर्ष में नित्य कर्म के रूप में पालनीय कहे जाते रहे हैं।

इसी प्रकार कुर्सी, मेज आदि में और डाइनिंग टेबल पर भोजन करते समय बलिवैश्वदेव की क्रिया सामान्यतः अटपटी या असुविधाजनक लगेगी। परन्तु भोजन मन्त्र पढ़ना सरल है और वह किया जा सकता है। इस प्रकार परिवेश और देशकाल के अनुरूप हिन्दू संकल्पना को लेकर नवीनता लाना स्वाभाविक है।

प्रश्न : हिन्दू समाज व्यवस्था को लेकर आधुनिक समय में क्या नियम सम्भव होंगे?

उत्तर :परम्परा से हिन्दू समाज व्यवस्था में वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था अन्तर्निहित रही है। वर्तमान काल में न तो ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन कराने वाले गुरूकुल पर्याप्त संख्या में हैं और न ही सन्यास की व्यापक परम्परा सबके लिये अनिवार्य है। भारत से बाहर रहने वाले प्रवासी हिन्दुओं के लिये भी और स्वयं भारत में भी शिक्षा संस्थान आधुनिक यूरोपीय और अमेरिकी ढंग के हैं तथा उनमें ही शिक्षा लेने की व्यापक स्थिति है। गुरूकुल भारत में चलते हैं परन्तु थोड़ी ही संख्या में। ऐसे में गुरूकुल में वास करते हुये ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन बहुत समय से विश्रृंखलित है और वैसे गुरूकुल अपवाद रूप में ही हैं।

अतः भारत में शासन के नियन्त्रण में चल रहे विद्यालयों में ही विद्यार्थी जाते हैं और या तो घर पर रहकर ही विद्यार्थी जीवन जीते हैं या आवासीय विद्यालयों में जाते हैं तो भी गुरूकुलों वाली किसी परम्परा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। विदेशों में भी ऐसी ही स्थिति है। इसलिये हिन्दू किशोर और युवा परम्परागत अर्थ में ब्रह्मचर्य का पालन और ब्रह्मचर्य आश्रम का जीवन जीने का कार्य नहीं कर पाते। उसका आग्रह वर्तमान परिवेश में सम्भव नहीं है। परिवेश बदलने पर या शासन का संकल्प और नीतियाँ बदलने पर भारत में वह सम्भव हो भी सकता है परन्तु प्रवासी भारतीयों के लिये तो वह असम्भव ही है। केवल संयमित जीवन पर बल देना पर्याप्त होगा।

वानप्रस्थ आश्रम को लेकर एक नया उभार देखा जाता है जिसे हम आश्रमों के विषय में अभिनव दृष्टिकोण कह सकते हैं। वानप्रस्थ की आयु में देशभक्त और धर्मनिष्ठ बहुत से हिन्दू दंपत्ति अपना जीवन समाजसेवा के कार्य के लिये समर्पित करते हैं। यह वानप्रस्थ आश्रम के विषय में अभिनव दृष्टिकोण है।

इसी प्रकार सन्यास आश्रम में विरले लोग ही जा पाते हैं। परन्तु वहाँ भी एक अभिनव दृष्टिकोण का प्रवेश हुआ है। देशभक्ति की बातें अब सन्यास आश्रमों में भी प्रधानता पा गई हैं। पहले यह काम गृहस्थ आश्रम के लोगों द्वारा ही सम्पन्न होता था। क्योंकि सन्यास आश्रम को मुमुक्षु के लिये बना आश्रम माना जाता रहा है, जहाँ आत्मा और परमात्मा तथा जीवन और जगत के विषय में ज्ञान की साधना ही मुख्य होती है। क्योंकि तब भारत और हिन्दू समाज तथा हिन्दू धर्म के समक्ष किसी विदेशी शक्ति का या विदेशी संस्था का हस्तक्षेप तथा आक्रमण का खतरा नहीं होता था। मुस्लिम मजहब का स्वयं को मानने वाला बताते हुये बहुत से लोगों ने हिन्दुओं के सामान्य जीवन में हस्तक्षेप 11वीं शताब्दी ईस्वी से शुरू किया और उनका दबाव बढ़ता ही गयाइसके बाद ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रहार करना अपना मिशन बना लियाइसके द्वारा वे प्रायः हिन्दुओं की राष्ट्रभक्ति की भावना पर ही चोट करते रहे हैं और भारत से बाहर के राष्ट्रों के प्रति निष्ठा जगाने का काम हिन्दुओं के बीच करते रहे हैं। जिससे कि व्यवहार में उनसे प्रभावित हिन्दू व्यक्ति की धर्मनिष्ठा ही शिथिल हो जाती है। इसीलिये वर्तमान परिस्थिति में भारत के श्रेष्ठ सन्यासी देश और धर्म दोनों के विषय में प्रबोधन करते हैं और चेतना का विस्तार करते हैं। इस दृष्टि से यह अभिनव दृष्टिकोण सन्यास संस्था में उभरा है।

वर्णों की परम्परागत व्यवस्था भी अब नहीं रही है। यद्यपि गुणकर्म के अनुसार वह व्यवस्था विश्वव्यापी है। बौद्धिक एवं ज्ञानात्मक कार्य, सेना, कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य, व्यवसाय, उद्यम एवं शिल्प के कार्य तथा सेवाकार्य और साथ ही राज्य से जुड़ी सेवा व्यवस्था के कार्य अलग–अलग ढंग से विश्व भर में चलते ही हैं। परन्तु उनकी संज्ञायें अलग–अलग हैं। भारत में वर्णों को लेकर ऊँच–नीच का भाव फैलाने के कतिपय ईसाई मिशनरियों के प्रचण्ड अभियान का इतना असर हुआ कि वर्णों के नाम से बचने का प्रयास होने लगा। भारत का वर्तमान शासन किसी वर्ण व्यवस्था को नहीं मानता और वर्ण या जाति या किसी भी आधार पर ऊँच–नीच का कोई भी भेद करना राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध है। अतः वर्णों की परम्परागत व्यवस्था अब अस्तित्त्व में नहीं है। जातियों की पहचान विवाह एवं अन्य पारिवारिक संस्कारों तक सिमट गई है और उसमें भी अनुलोम के साथ–साथ तथा प्रतिलोम विवाहों की प्रचुरता हो गई है। अतः जाति भी व्यवहार में अब पहचान का मुख्य आधार नहीं बची है। इसीलिये हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण में जाति और वर्ण तथा आश्रमों का विचार प्रधान नहीं है। हिन्दू होने की पहचान पर ही मुख्य बल दिया जाता है। यही हिन्दू संकल्पना का अभिनव दृष्टिकोण है।

4.3 गैर हिन्दू भारतीय और हिन्दू भारतीय

प्रश्न : क्या गैर हिन्दू भी भारतीय के अर्थ में हिन्दू कहे जा सकते हैं?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से समझना होगा। हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण में एक दृष्टिकोण यह सामने आया है कि भारतवर्ष मूलतः हिन्दू भूमि है इसलिये यहाँ रहने वाले सभी नागरिक, उनकी उपासना पद्धति चाहे जो हो, हिन्दू कहे जा सकते हैं। यह दृष्टिकोण हिन्दू को भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध मानकर चलता है। परन्तु इसमें कई बाधक तत्त्व सामने आते हैं।

सबसे पहली समस्या तो यह है कि भारत में गैर हिन्दुओं में सबसे बड़ा समुदाय स्वयं को मुसलमान या मोमिन कहने वालों का है और दूसरा बड़ा समुदाय ईसाइयों का है। इस्लाम और ईसाइयत दोनों का सम्बन्ध किसी भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है।

ईसाइयत का जन्म जेरूसलम में हुआ और आज जेरूसलम ईसाइयों का अपना राज्य नहीं है। इसी प्रकार इस्लाम का उद्भव और विकास मक्का और मदीना में हुआ और इन दिनों वह सऊदी अरब का अंग है जो स्वयं में वहाबी शासक हैं और इस्लाम के उस रूप को नहीं मानते जिसे शिया और सुन्नी मुसलमान मानते हैं।

इस प्रकार ईसाइयत और इस्लाम किसी भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध नहीं रह गये हैं अपितु उनकी एक वैश्विक पहचान है। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं की केवल दैशिक या भौगोलिक पहचान बनाना और मानना हिन्दुओं की स्थिति को कमजोर बनाने वाला सिद्ध होगा। वर्तमान में हिन्दू नृवंश विश्व भर में फैला है। ऐसे में भारत के भौगोलिक क्षेत्र को हिन्दूत्व का पर्याय बताना और यहाँ रह रहे गैर हिन्दुओं को भी हिन्दू कहना भ्रांति ही फैलायेगा।

इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि नागरिक स्वतन्त्रता और समानता के इस युग में हम किसी को तब तक हिन्दू नहीं कह सकते, जब तक वह स्वयं को हिन्दू नहीं कहे। अपनी पहचान किसी पर बलपूर्वक नहीं लादी जा सकती। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी इसके विरूद्ध हैं।

अतः भारत के गैर हिन्दुओं को हिन्दू कहना एक प्रिय लगने वाला कथन भले हो परन्तु उसकी कोई विधिक महत्ता नहीं है। साथ ही यदि गैर हिन्दू स्वयं को हिन्दू नहीं कहते तो फिर उन्हें हिन्दू कहना अप्रिय लगेगा। वे इसका विरोध ही करेंगे। इसलिये भी भारत के निवासी गैर हिन्दुओं को हिन्दू ही कहने का प्रस्ताव सर्वमान्य नहीं हो सकता।

4.4 हिन्दू परिवार व्यवस्था का वर्तमान रूप

प्रश्न : क्या हिन्दू परिवार व्यवस्था विश्व भर के हिन्दुओं में सहज रूप से प्रतिष्ठित है या हो सकती है?

उत्तर : आज की परिस्थिति में यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। परिवार का आधार गृहस्थ आश्रम है। गृहस्थ आश्रम की मान्यतायें शास्त्रों में वर्णित हैं। परन्तु इस समय उनमें से अधिकांश का कोई विधिक अस्तित्त्व नहीं है।

हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार वर्णित हैं और उनमें से 5 तो प्रशंसित् हुये हैं– ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य और गंधर्व। परन्तु इन दिनों हिन्दू विवाह अधिनियम में ऐसा कोई विभेद मान्य नहीं है। पवित्र अग्नि के फेरे और सप्तपदी ही हिन्दू विवाह का सर्वमान्य आधार है। विदेशों में रह रहे प्रवासी हिन्दू इसके साथ ही सम्बंधित देश के कानून के अनुसार 'मैरिज' सम्पन्न करते हैं। उसके अपने नियम हैं।

विवाह और 'मैरिज' में बहुत अन्तर है। 'मैरिज' एक अनुबन्ध है। विवाह शब्द का अर्थ है दोनों पक्षों द्वारा नये दायित्व के वहन का संकल्प एवं प्रतिज्ञा जो अग्नि के समक्ष और साक्ष्य की विधि से सम्पन्न हो। वाह का अर्थ है वहन करना यानी दायित्व स्वीकार करना और वि का अर्थ है विशिष्ट। इस प्रकार दोनों पक्षों से विशिष्ट दायित्व की धार्मिक स्वीकृति एवं संकल्प ही विवाह है। शास्त्रों के अनुसार अग्नि के समक्ष एक बार ऐसा संकल्प और प्रतिज्ञा करने के बाद जीवन में कभी भी उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा करना जीवन के परित्याग के समान है। इसलिये हिन्दू विवाह एक ही बार होता है और कभी भी उसमें विवाह–विच्छेद का कोई भी प्रावधान नहीं रहा है। परन्तु आधुनिक कानूनों में विवाह–विच्छेद के स्पष्ट प्रावधान रखे हैं। यह

अवश्य है कि पति के क्लीव होने पर या सन्यास ग्रहण कर लेने पर या वर्षों तक दिखाई नहीं देने पर अथव मृत्यु हो जाने पर कन्या के विवाह की अनुमति शास्त्रों में है। परन्तु सामान्यतः इस अनुमति का उपयोग बिरले ही होता रहा है। मनमुटाव या आपसी कलह को विच्छेद का आधार हिन्दुओं के शास्त्र नहीं मानते क्योंकि वे मन की मौज या तरंग के आधार पर व्यवहार की अनुमति नहीं देते। साथ ही, विवाह दो व्यक्तियों का अनुबन्ध नहीं है अपितु पूरे गाँव या नाते–रिश्तेदारों की उपस्थिति में दो कुलों का धार्मिक संकल्प और कृत्य है। इसलिये पति और पत्नी अपने व्यवहार के लिये स्वच्छंद नहीं हैं। माता–पिता और परिजनों को उनके बीच हस्तक्षेप का तथा समझाने–बुझाने का और दबाव बनाने का भी पूर्ण अधिकार हिन्दू शास्त्रों में है। इसलिये विवाह विच्छेद हिन्दू धर्म में अमान्य है। परन्तु वर्तमान मे हिन्दुओं के लिये बने विवाह अधिनियम में विवाह विच्छेद का स्पष्ट प्रावधान किया गया है। इसलिये हिन्दू परिवार व्यवस्था का परम्परागत स्वरूप आधुनिक कानून में पूर्ववत मान्य नहीं है।क्योंकि यह दो वयस्क व्यक्तियों के बीच का एक विधिवत अनुबन्ध मात्र है।

आधुनिक शिक्षा युवकों और युवतियों को मन पर अन्यों का कोई दबाव मानने या बन्धन मानने की शिक्षा नहीं देती। अतः आधुनिक दंपत्ति कलह की अधिकता में विवाह विच्छेद के लिये आवश्यक विधिक प्रक्रिया अपनाते देखे जाते हैं। यह अन्तर आया है। इसके कारण परिवार की परम्परा बाधित हुई है।

इसके अतिरिक्त एक बड़ी समस्या यह उत्पन्न हुई है कि अधिकांश बहुशिक्षित युवक एवं युवतियाँ विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होना पसन्द नहीं करते और कानून उन्हें यह स्वतन्त्रता देता है। बहुशिक्षित और मेधावी तथा सुसंस्कृत अनेक स्त्रियाँ हैं जो अकेले ही रहकर अपना दायित्व भलीभांति निभा रही हैं। ऐसी स्त्रियों की संख्या हिन्दुओं में अच्छी खासी है। उनका परिवार में क्या स्थान हो और कैसे समायोजन हो, इस पर अभी तक हिन्दू समाज के मनीषियों ने कोई विचार नहीं किया है।

एक से अधिक विवाह होने पर (विवाह विच्छेद विधिवत होने के बाद ही) सन्तानों को लेकर परिवार की व्यवस्था भी आती है। शास्त्रों में पूर्व पत्नी की सन्तति या पूर्व पति की सन्तति जैसी कोई अवधारणा नहीं है। उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों के विषय में कोई विवेचना नहीं है। सब कुछ 'एडहॉक' चल रहा है। अतः हिन्दू परिवार व्यवस्था के सन्दर्भ में इन सब प्रश्नों को सुलझाना होगा।

आजीविका के क्रम में दूर किसी नगर या दूर देश में जीवन जी रहे बच्चे माता–पिता के प्रति शास्त्रोचित् कर्त्तव्य का निर्वाह कर ही नहीं सकते। अतः परिवार के स्वरूप पर और उसके प्रत्येक सदस्यों के कर्त्तव्य के विषय में इन सब पक्षों पर विचार आवश्यक हो गया है और इसके लिये अभिनव दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

वृद्धावस्था में माता–पिता को वृद्धाश्रम भेज देने या वृद्धाश्रम जाने को विवश कर देने की घटनायें भी बड़ी संख्या में बढ़ रही हैं। शास्त्रों में तो इस विषय पर कोई दिशा निर्देश नहीं हैं। स्वेच्छा से सन्यास लेने वाले माता–पिता या अकेले पिता को सहज रूप से बिना किसी सम्प्रदायगत शर्तों के स्वीकार करने वाले आश्रम भी अत्यल्प ही हैं। प्रायः आधुनिक आश्रम आधुनिक सोसायटी या ट्रस्ट के अन्तर्गत पंजीकृत हैं और वे अपनी शर्तें तथा नियमावली रखते हैं। यह परम्परा से पूरी तरह हट कर है।

सम्पत्ति और स्वत्व की हिन्दू शास्त्रों की मान्यतायें वर्तमान कानून व्यवस्था में अल्प स्थान रखतीं हैं। इसलिये वृद्ध माता–पिता का अपनी ही सम्पत्ति पर स्वत्व व्यवहार में परिवार के लोग ही समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार वृद्ध माता और वृद्ध पिता के प्रति

गौरवभाव और आज्ञाकारिता का भाव हिन्दू परिवारों में विलुप्त प्राय है। ऐसी स्थिति में परिवार व्यवस्था पर अभिनव दृष्टिकोण की आवश्यकता स्पष्ट है। मुख्य बात यह है कि सम्पत्ति और स्वामित्व की तथा सम्पत्ति विभाजन

और दायभाग की शास्त्रीय मान्यतायें विधि के द्वारा वर्तमान भारत में अमान्य कर दी गई हैं। साथ ही कुल परम्परा जैसी किसी व्यवहारगत या ज्ञानात्मक या आजीविका सम्बन्धी मान्यता का कोई विधिक अस्तित्त्व नहीं है। अपने परिवार के बच्चों की शिक्षा के स्वरूप और पढ़ाये जा रहे सामाजिक विषयों तथा व्यवहार सम्बन्धी प्रतिमानों पर परिवार के वृद्धजनों का कोई भी अधिकार न मान्य नहीं है और बच्चे पूरी तरह शासन के नियंत्रण में चल रहे विद्याकेन्द्रों तथा बाजार और संचार की शक्तियों पर निर्भर हैं। ऐसी स्थिति में परिवार के वृद्ध की ज्ञानात्मक प्रतिष्ठा और व्यवहार सम्बन्धी मान्यता का कोई विधिक आधार नहीं बचा है और भावनात्मक आधार भी आधुनिक शिक्षा और संचार माध्यमों के द्वारा लगातार खंडित किया जाता रहता है। इस प्रकार हिन्दू परिवार व्यवस्था के अनेक आधारभूत तत्त्व आज विधिक अस्तित्त्व से रहित हैं।

पति और पत्नी के अधिकारों और कर्त्तव्यों के शास्त्रीय आधारों पर भी अभिनव चिन्तन की आवश्यकता है। इस विषय में बहुत अस्पष्टता है और प्रत्येक पक्ष अपने ही अपने अधिकार की दावेदारी जताने में अधिक व्यस्त् रहते हैं और दूसरे के कर्त्तव्यों का स्मरण दिलाते रहते हैं। यह स्थिति परिवार व्यवस्था की सुचारू गतिशीलता को बाधित करती है। इन सभी विषयों पर अभिनव चिन्तन की आवश्यकता है।

4.5 हिन्दू वंश विस्तार : वैश्विक स्थिति

प्रश्न : विश्व भर में फैले हुये हिन्दुओं की वास्तविक स्थिति क्या है और उसके विषय में किसी व्यवस्थित चिन्तन की आवश्यकता है क्या?

उत्तर : इस समय विश्व में साढ़े सात अरब आबादी है। इनमें लगभग डेढ़ अरब हिन्दू हैं। जो विश्व की कुल जनसंख्या का एक पंचमांश हैं। वे लगभग 100 देशों में फैले हुये हैं। इनमें मुख्य हैं भारत, नेपाल, भूटान, मारीशस, गुआना, श्रीलंका, म्यांमार, सूरीनाम, त्रिनिडाड, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, मलयेशिया, बांग्लादेश, ठण्डोनेशिया, चीन, पाकिस्तान, संयुक्त अरब अमीरात, कुवैत, वियतनाम, यमन, ओमान, सिंगापुर, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूजीलैंड, जिब्राल्टर आदि। इन सब देशों में हिन्दू अपने परिश्रम और पुरूषार्थ से यशस्वी हो रहे हैं और सम्बंधित देश की भलीभांति सेवा करते हुये हिन्दू धर्म और संस्कृति को जीवित तथा जाग्रत रखने का बड़ा काम करते रहे हैं। इस इस प्रकार हिन्दू 'डाइएस्पॉरा' (नृवंश) उल्लेखनीय संख्या में है और विश्व में संस्कृति तथा राजनीति एवं ज्ञान तथा विज्ञान के क्षेत्रों में निर्णायक योगदान देने की स्थिति में है। इन सब स्थानों पर हिन्दू संकल्पना का अभिनव दृष्टिकोण ही व्यवहार में उपयोगी हैं और आवश्यक समायोजन तथा लचीलेपन के कारण ही बिना किसी बाधा के उन्होंने अपनी पहचान स्थापित करने में सफलता पाई है। इसलिये हिन्दू वंश विस्तार को आगे बढ़ाना और सुरक्षित तथा सुसंस्कृत जीवन सुनिश्चित करना भारत सरकार का दायित्व है। वर्तमान भारत सरकार इस विषय में सजग है।

स्पष्ट है कि इन लगभग 100 देशों में और विशेषकर 25 से अधिक उन देशों में जहाँ उल्लेखनीय संख्या में हिन्दू नृवंश है, हिन्दू संकल्पना का अभिनव दृष्टिकोण ही उनमें आत्मविश्वास एवं आत्मगौरव को जाग्रत रखेगा और शास्त्रों की मूल मान्यताओं का मर्म सुरक्षित रखते हुये और समझते हुये देशकाल के अनुरूप आवश्यक व्यवहार निश्चित

करना होगा। इसीलिये वर्ण और आश्रम अथवा जाति के आग्रह इस आधुनिक दृष्टिकोण का अंग नहीं बन सकते।

इसी प्रकार आजीविका के परम्परागत रूपों में संलग्न परिवारों की परम्पराओं से हट कर उन परिस्थितियों पर विचार करके दृष्टिकोण में आवश्यक परिमार्जन लाना होगा और अभिनव दृष्टिकोण को विकसित् करना होगा जिससे कि इन देशों में रह रहे हिन्दुओं को हिन्दू गौरव तथा हिन्दू उपलब्धियों का उत्तराधिकारी बनने में किसी भी बाधा का अनुभव न हो बल्कि वे गर्वपूर्वक उससे जुड़कर अपने और हिन्दू समाज के वैभव में वृद्धि करते रह सकें।

हिन्दू धर्म से द्वेष रखने वाले कतिपय खीस्तपंथी मिशनरियों ने वनवासी समूहों के बीच अलगाव की भावना पनपाई है और बहुत परिश्रमपूर्वक उन्हें हजारों वर्षों की हिन्दू पहचान को नकार कर अपनी कोई अलग–अलग, नई–नई पहचान बनाने के लिये उकसाया है। यद्यपि वनवासियों का बहुत बड़ा अंश अभी भी मूल से सहज रूप से सम्बद्ध है। वनवासियों के बीच हिन्दू धर्म और दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त और तत्त्व गहराई से विद्यमान हैं। सर्वव्यापी परमात्मा के प्रति अडिग श्रद्धा और उनकी अनेक देवशक्तियों के होने पर अटल श्रद्धा तथा पुनर्जन्म एवं कर्मफल में गहरी श्रद्धा – वे सिद्धान्त और तत्त्व हैं जो हिन्दू धर्म का मर्म हैं और वनवासियों में गहराई तक जड़े जमाये हैं। हिन्दू धर्म की एक बड़ी धारा में ऐसी अनेक मान्यतायें सम्भव हैं, जिनसे वनवासियों की मान्यतायें थोड़ी भिन्न हैं। उनका परम्परागत रहन–सहन और जीवनशैली तथा घर बनाने और घर–आँगन की साज–सज्जा, रंगोली और विविध फूलों तथा पशु–पक्षियों का भित्ति पर अंकन, पूर्वजों को श्रद्धांजलि के नियमित अनुष्ठान, खेती की पद्धति और नैतिक जीवन का आग्रह – ये वे मूलतत्त्व हैं, जो अन्य हिन्दुओं में और वनवासी हिन्दुओं में एक से ही हैं।

आधुनिक शिक्षा के द्वारा जहाँ हिन्दुओं के अलग–अलग सम्प्रदायों के बीच अपनी–अपनी उपासना पद्धति को ही एकमात्र श्रेष्ठ पद्धति मानने का आग्रह फैलाने का प्रयास किया गया है, वहीं वनवासियों के कर्मकाण्डों को लेकर और विश्वासों को लेकर पादरियों और उनके हिन्दू शिष्यों ने उन्हें अन्य हिन्दुओं से नितान्त भिन्न और सर्वथा स्वतन्त्र प्रदर्शित करने के लिये प्रचुर प्रचार सामग्री नृतत्त्वशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्रों में फैलाई गई है और अप्रामाणिक परिकल्पनाओं को सिद्ध तथ्य की तरह प्रचारित किया है। ऐसे में हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण में वनवासियों और अन्य हिन्दुओं के बीच जो सामान्य तत्त्व हैं, उन पर ही अधिक ध्यान देते हुये और उनका ही अधिक आग्रह रखते हुये कर्मकाण्डों की भिन्नता और विविधता कोसम्प्रदायों के वैविध्य के रूप में सहज मानने का परम्परागत भाव नये सिरे से सुदृढ़ करना होगा। यह कार्य सामाजिक संगठनों के स्तर पर व्यापक रूप में किया जाना आवश्यक है।

इसके लिये भारत के राष्ट्रीय आत्मगौरव से सभी हिन्दुओं को एकाकार होने की अनुभूति आवश्यक है और इस दिशा में प्रयास चल भी रहे हैं। इन प्रयासों का विस्तार होने से यह अनुभूति गहरी और स्थिर हो जायेगी।

4.5.1 राष्ट्रीय आत्मगौरव से एकाकार हिन्दू

प्रश्न : हिन्दुओं के राष्ट्रीय आत्मगौरव से हिन्दू संकल्पना का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : यह तथ्य है कि इस्लाम और ईसाइयत में राष्ट्रीयता की भावना को केन्द्रीय

स्थान प्राप्त नहीं है। फिर भी सभी मुस्लिम नेशन और सभी क्रिश्चियन नेशन भी जहाँ अपने रिलीजन पर गर्व करते हैं, वहीं अपने–अपने नेशन का आत्मगौरव भी सबमें भरपूर है।

हिन्दुओं के पास तो राष्ट्रीय आत्मगौरव के आधार सर्वाधिक हैं। सबसे प्राचीन काल से भारतवर्ष में सनातन धर्म अर्थात हिन्दू धर्म की व्याप्ति है। वेदों में ही 'सप्तसिन्धवः' एवं 'सिन्धवः' शब्दों का प्रयोग है और नियमानुसार संस्कृत का 'स' प्राकृत में 'ह' हो जाता है तथा 'ध' का 'द' हो जाता है। अतः 'सिन्धवः' का ही प्राकृत रूप 'हिन्दवः' है। इस प्रकार वैदिक काल से अब तक अत्यन्त प्राचीन हिन्दू परम्परा सब प्रकार से गौरव के योग्य है। इसके ब्रह्मर्षियों, अवतारी विभूतियों, योगियों, सिद्धों, भक्तों, सन्तों, वैज्ञानिकों, शूरवीरों, चक्रवर्ती सम्राटों एवं साम्राज्ञियों, गुणी एवं कलाविद श्रेष्ठ नर–नारियों, श्रेष्ठ शिल्पियों, उद्यमियों, कृषि गौरक्षा और वाणिज्य कर्म में लगे दानी तथा धर्मनिष्ठ महाजनों, विद्वानों और जीवन के सभी क्षेत्रों में विशिष्ट पुरूषार्थ करने वाली विभूतियों का तथा अपने पवित्र पर्वतों और नदियों तथा सरोवरों का, तीर्थों और महापुरियों का एवं वैभव और ऐश्वर्य के शिखर व्यक्तित्वों का प्रबुद्ध हिन्दू जन नित्य ही स्मरण करते हैं। इस प्रकार हिन्दू आत्मगौरव की अटूट परम्परा भारत में विद्यमान है।

विश्व में केवल हिन्दू ही एकमात्र ऐसा समुदाय हैं जो 130 करोड़ हिन्दू एक ही राष्ट्र में आत्मभाव से और सहज सामंजस्य तथा समन्वय के साथ रहते हैं। इनके बीच विषमता और विलगाव लाने की बहुत अधिक चेष्टायें 1000 वर्षों से शक्तिशाली समूहों द्वारा की जाती रही हैं, इसके बाद भी यह सामंजस्य और समन्वय बना हुआ है। अतः मानवीय इतिहास में यह सर्वाधिक आत्मगौरव के योग्य दृष्टान्त है।

यह प्रसन्नता की बात है कि प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी के कुशल नेतृत्व में हिन्दू नृवंश (डाइएस्पोरा) की एकता और आत्मीयता को सुदृढ़ करने वाली नीतियों और कार्यों से विश्व भर का हिन्दू समुदाय अत्यधिक उल्लसित् और गर्वित है। विश्व में हिन्दुओं की प्रतिष्ठा उनके कारण बढ़ी है। भारत का मान बढ़ा है। अतः स्वाभाविक ही भारत के राष्ट्रीय आत्मगौरव से विश्वभर के हिन्दू एकाकार हो रहे हैं और यह बहुत ही आशाप्रद एवं विश्वासदायक घटनाप्रवाह है।

4.5.2 आध्यात्मिक विकृतियों का आरोपण अस्वीकार

प्रश्न : तो क्या हिन्दुओं का यह आत्मगौरव मुस्लिम और ईसाई आत्मगौरव जैसा ही नहीं है? उनसे इसका क्या भेद है?

उत्तर : मुस्लिम एवं ईसाई आत्मगौरव से हिन्दुओं के आत्मगौरव का आधारभूत भेद है। यह भेद मूलतः आध्यात्मिक स्तर पर है। मुस्लिम और ईसाई आत्मगौरव का आधार एक ऐसी आध्यात्मिक अवधारणा है, जिसके अनुसार परमसत्ता या परमात्मा अथवा परमेश्वर का सच्चा रूप केवल उसे ही ज्ञात हो सकता है जो उनके अपने मजहब के पैगम्बर या क्रिश्चियनिटी के चर्च की शरण में आये। जो अल्लाह के आखिरी रसूल को एकमात्र मार्गदर्शक माने अथवा 'गॉड' के आज तक हुये एकमात्रपुत्र को ही एकमात्र आस्था योग्य मानना क्रमशः मुस्लिम एवं ईसाई आस्था का सार और मर्म है।

अन्य मनुष्यों को वे तब तक जहालत या अन्धकार में डूबा मानते हैं, जब तक वे इनकी ही आस्था को पूरी तरह स्वीकार न कर लें। अगर अन्य मनुष्य इनकी आस्था के प्रति गहरा आदरभाव रखते हुये भी अपनी आस्था को महत्त्व दें और उसे अपने लिये वरेण्य मानें तो ये उन मनुष्यों को अन्धकार में या जहालत में पड़ा हुआ ही मानते

रहेंगे और उनको बहला—फुसला कर या बलप्रयोग से अपनी आस्था में ले आना अपना कर्त्तव्य मानते रहेंगे। इस प्रकार इस्लाम और ईसाइयत दोनों के अनुयायी सम्पूर्ण मानवजाति को अपनी—अपनी दृष्टि से दो स्पष्ट और परस्पर विरोधी वर्गों में विभक्त करके देखते हैं — मोमिन और काफिर तथा रिलिजस और हीदन। फिर इसके और भी भेद करते हैं। इस्लाम में मोमिन के अतिरिक्त मुनाफिकीन, मुशरिक और काफिर ये तीन अलग—अलग वर्ग हैं जिनमें वे लोग मनुष्यों को बांट कर देखते हैं। जो स्वयं को मुसलमान कहे परन्तु साथ ही हिन्दुओं या किसी भी गैर मुसलमान की आस्था का भी सम्मान करे, उसे मुशरिक कहते हैं और जो कुरान तथा हजरत पैगम्बर के द्वारा निर्देशित तथा प्रस्तुत आचरण का पूरी तरह पालन नहीं करे, उसे मुनाफिक कहते हैं। इस प्रकार वे मनुष्यों के ये चार अलग—अलग स्पष्ट और परस्पर विरोधी वर्ग बताते हैं। जिनमें से हर एक के लिये आचरण के नियम अलग—अलग हैं। मोमिन को हक है कि वह मुनाफिकीन, मुशरिक और काफिर को दंडित करे। परन्तु मुनाफिकीन, मुशरिक और काफिर को अपने ऊपर किये जाने वाले इस अन्याय का विरोध करने और दण्ड का बदला लेने का अधिकार नहीं है।

इसी प्रकार क्रिश्चियन्स सभी गैर क्रिश्चियन को अन्धकार में डूबा हुआ बताकर उनका उद्धार करना अपना आध्यात्मिक दायित्व मानते हैं और उन्हें बहला फुसलाकर या समझा बुझाकर या बलप्रयोग से चर्च की शरण में लाना अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानते हैं। इसमें भी यहूदियों से उन्हें विशेष घृणा है क्योंकि उनके अनुसार यहूदियों ने ही अपने बीच के श्रेष्ठ यहूदी जीसस को तत्कालीन रोमन शासक को सौंपा, जिसने उन्हें सूली पर चढ़ा दियाँ इसके लिये क्रिश्चियन लोग रोमनों से कोई भी द्वेष या घृणा नहीं करते अपितु स्वयं को रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी ही बताते हैं। परन्तु यहूदियों से घृणा करते हैं और समय—सयम पर उनका उत्पीड़न, उनके साथ नृशंसता और हत्यायें तक करते रहे हैं।

इस आधार पर ये दोनों ही आस्था समूह अन्य व्यक्तियों की आत्मा में कोई ईश्वरीय प्रकाश या चेतना विद्यमान नहीं मानते। इस तरह मनुष्यों की आत्माओं के बीच वे मजहबी या रैलिजस आधार पर आधारभूत भेद और टकराव मानते हैं। ईसाई तो 'आत्माओं की फसल' काटने को अपना लक्ष्य बताते हैं जिसका अर्थ है कि आत्मा को चर्च की शरण में लाना फसल को घर में लाने जैसा है।

हिन्दू दृष्टि से यह आध्यात्मिक विकृति है या आध्यात्मिक तमस या अन्धकार है। क्योंकि जैसा श्रीमद्भवगद् गीता में कहा है — 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृददेशे तिष्ठति।' अर्थात् समस्त् प्राणियों के हृदय में ईश्वर विराजमान है। अपने भीतर के तमस को देखकर और पहचानकर सात्विक आचरण करते हुये अर्थात् सत्य, अहिंसा, संयम, आन्तरिक और बाहरी पवित्रता तथा दूसरों के धन के प्रति लोभ का सम्पूर्ण अभाव — इन पाँच सार्वभौम मूल्यों का पालन करते हुये अपने भीतर विद्यमान ईश्वरीय प्रकाश की अनुभूति प्रत्येक जीवात्मा कर सकती है। उसमें आस्था के रूप विशेष की कोई अलग भूमिका नहीं है। इसीलिये आस्था के रूप की विविधता और उपासना पद्धति की विविधता रखते हुये भी पाँच सार्वभौम मूल्यों को जीवन में साकार करने वाले प्रत्येक जीवात्मा के लिये ईश्वरीय प्रकाश की अनुभूति सहज ही सम्भव है। इसलिये आस्थारूप के आधार पर आत्माओं के बीच भेद करना आध्यात्मिक तमस या अन्धकार है और आध्यात्मिक विकृति है। शरीर और मन तथा बुद्धि के विविध स्तरों पर व्यक्तियों में भेद स्वाभाविक है। परन्तु आत्माओं के बीच ऐसा कोई भेद नहीं है क्योंकि सभी आत्मायें एक ही परमेश्वर का अंश हैं। सभी में एक ही चैतन्य प्रकाशित है।

इस प्रकार हिन्दू दृष्टि आध्यात्मिक विकृतियों के सभी आरोपणों को अस्वीकार करने पर बल देती है। चूँकि आध्यात्मिक विकृतियाँ मानवीय बुद्धि और मानवीय मन की लालसाओं, आकांक्षाओं और योजनाओं का ही फल हैं, इसलिये यह स्वाभाविक है कि हिन्दुओं में भी कभी कोई समुदाय या व्यक्ति आध्यात्मिक विकृति यानी तमस से ग्रस्त् होकर ईसाइयों या मजहबी लोगों जैसा कोई दावा प्रस्तुत करे और वह यह दावा करे कि प्रकाश का एकमात्र स्रोत उसके अपने उपासना पंथ की शरण में आना ही है। परन्तु जाग्रत हिन्दू समाज में धर्म के ज्ञाता और शास्त्रज्ञ विद्वानों की अविच्छिन्न परम्परा के कारण ऐसे दावों को कभी भी सही नहीं माना जाता है। समस्त् आध्यात्मिक विकृतियों के आरोपणों को अस्वीकार करना ही हिन्दू इतिहास है। अतः इस विषय में हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण में यह आधारभूत तत्त्व भी निहित है कि सभी प्रकार की आध्यात्मिक विकृतियों के आरोपण को अस्वीकार किया जाये और सभी जीवात्माओं में एक ही परमेश्वर का चैतन्य विद्यमान है, इस तथ्य का सदा स्मरण रखा जाये।

इस विषय में हिन्दुओं में आई आध्यात्मिक विकृति मजहब और रिलीजन के नाम पर आई आध्यात्मिक विकृतियों से भिन्न है। हिन्दुओं में तमस का रूप है ऐसी आस्थाओं को भी सनातन सत्य मान लेना जो सनातन सत्य का स्पष्ट विरोध करती हैं। जैसे कि – रिलीजन को ही धर्म मान लेना। अथवा 'मोनोथीइज्म' को एकेश्वरवाद या अद्वैतवाद (मोनिज्म) समझ लेना।

'मोनोथीइज्म' पूर्णतः स्पष्ट शब्द है। इसका अर्थ है – 'मोनो' अर्थात एकमात्र। 'थी' अर्थात उपासना पद्धति या आस्था का मार्ग। 'इज्म' अर्थात वाद यानी इसे ही मानने का आग्रह। इस प्रकार 'मोनोथीइज्म' का अर्थ है – 'एकमात्रपंथवाद' या 'एकपंथवाद'। इसे ही 'ममेश्वरवाद' भी कहते हैं। केवल मेरे द्वारा उपास्य परमेश्वर का रूप ही सत्य है और केवल वही एकमात्र मार्ग है। शेष सभी मार्ग पाप हैं, असत्य हैं। अतः उन्हें नष्ट करना हमारा यानी सच्ची और एकमात्र आस्था वालों का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। इसके लिये ईसाइयत में गॉड से जीसस के करार का दावा किया जाता है और इस्लाम में आखिरी रसूल को सीधे अल्लाह का हुक्म प्राप्त किया गया बताया जाता है।

इस तरह 'मोनोथीइज्म' अन्य सभी उपासना पद्धतियों और उपासना रूपों तथा परमेश्वर के आराध्य रूपों का शत्रु है। हिन्दुओं में से कुछ ने आध्यात्मिक तमस और राजनैतिक लोभ के कारण 'मोनोथीइज्म' को भी धर्म कह दिया और उसकी तुलना विविध उपासना रूपों और विविध साधना पद्धतियों को सहज स्वाभाविक मानने वाले हिन्दू धर्म से कर दी। भ्रमवश कुछ हिन्दू इस प्रोपेगंडा के शिकार हो गये कि बेचारे एकपंथवादी समुदाय तो हिन्दुओं का तमस दूर करना चाहते हैं और अनेक देवों अर्थात परमेश्वर की सत्ता और चेतना के अनेक चैतन्य रूपों और अनन्त विभूतियों को मानना हिन्दुओं का तमस है। जबकि स्वयं यह भ्रम ही आध्यात्मिक तमस का साकार रूप है। यदि परमेश्वर की अनन्त सत्ता और उस सत्ता तथा चेतना के अनन्त रूपों को ध्यान में नहीं रखा जाये तो परमेश्वर भी साधारण मनुष्यों की ही तरह की कोई इकहरी बुद्धि वाला और एक ही प्रकार की विशेषताओं वाला व्यक्तित्व विशेष बन जायेगा। मनुष्य परमात्मा को मानवीय रूप में ही देखने का आग्रह करें तथा उनके अनन्त विस्तार, अनन्त रूप और अनन्त सामर्थ्य को अस्वीकार करें, यह तो सबसे बड़ा आध्यात्मिक अन्धकार है।

दूर–दूर गाँव देहात और वनों में रहने वाला भी प्रत्येक हिन्दू यह जानता है कि परमेश्वर कण–कण में व्याप्त है और उसकी ही एकमात्र सत्ता है। विभिन्न देवशक्तियाँ

उस एक परमेश्वर की ही शक्तियाँ हैं जो मनुष्यों की पात्रता और सामर्थ्य के अनुरूप परमेश्वर के अनुग्रह के रूप में अलग–अलग ढंग से साधकों पर अनुग्रह करती हैं। इसमें परस्पर विरोधी देवताओं जैसी कोई भी धारणा हिन्दू धर्म में नहीं है। परन्तु मुस्लिम और ईसाई प्रचारकों ने बहुत से किस्से गढ़कर हिन्दू देवी देवताओं में मानवीय ईर्ष्या, जलन एवं द्वेष तथा प्रतिशोध तक की भावना का आरोपण कियाऐसे किस्सों को सच मानना ही हिन्दुओं का आध्यात्मिक अन्धकार है। अनेक देवताओं और एकमात्र परमेश्वर में भेद और विरोध देखना आध्यात्मिक तमस है। ऐसा भेद प्रचारित करने वाले पंथों को धर्म कहना भी आध्यात्मिक अन्धकार है। इस प्रकार हिन्दुओं की आध्यात्मिक विकृतियों का स्वरूप इस्लाम और ईसाइयत के नाम पर फैली विकृतियों से पूर्णतः भिन्न है। आध्यात्मिक विकृतियों के सभी प्रकार के आरोपणों को अस्वीकार करना ही हिन्दू संकल्पना का अभिनव दृष्टिकोण है।

4.5.3 ब्रिटिश प्रभाव से आत्मारोपित संकुचन का विरोध

प्रश्न : यदि हिन्दुओं के आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति और प्रगति के इतिहास की निरन्तरता रही है तो फिर वर्तमान में हिन्दूत्व का जो भी भाव समाज में है, वह तो स्वाभाविक और स्वस्थ ही माना जायेगा?

उत्तर : निरन्तरता का अर्थ उतार और चढ़ाव या संकुचन और विकास के भेद का अभाव नहीं है। इतिहास की निरन्तरता में उन सभी चरणों को समझना होता है। कब मूल स्वरूप एवं स्वभाव में संकुचन आया, विकृति आई और कब पुरूषार्थियों के पुरूषार्थ से वह संकुचन दूर हुआ और विकृति समाप्त हुई, इसे जानना ही इतिहास को जानना है। ऐसा बारम्बार होता आया है, और जो होता आया है उसे जानना ही इतिहास है। 'इति' अर्थात ऐसा ही 'ह आस' यानी 'होता आया है'।

भारत के हिन्दुओं का ही एक वर्ग विभिन्न कारणों और आकर्षणों से मुसलमान बन गया और हिन्दू मन्दिरों तथा ज्ञानकेन्द्रों को नष्ट करने का कार्य भी कियायह बाहरी संकुचन हुआ अर्थात् हिन्दुओं के राजनैतिक प्रभुत्व का क्षेत्र सिमटा और विद्याकेन्द्रों की संख्या में कमी आई।

परन्तु ब्रिटिश काल में बौद्धिक एवं मानसिक स्तर पर भी बहुत संकुचन आयाँ यद्यपि ईसाई पादरियों ने और चर्च के लोगों ने सम्पूर्ण हिन्दू समाज व्यवस्था के प्रत्येक अंग को 'ईविल' और 'विकृत' प्रचारित करने का कार्य बहुत पहले से शुरू कर दिया, परन्तु 1858 ईस्वी में लगभग आधे से कुछ अधिक भारत में पहली बार ब्रिटिश राज्यशासन ने कतिपय भारतीय राजाओं और रानियों के सहयोग से संधिपूर्वक हस्तक्षेप किया और वचन तो यह दिया कि हम भारतीयों की धार्मिक एवं ज्ञानात्मक तथा राजनैतिक परम्पराओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे, परन्तु भारतीय विद्यापरम्परा को शासन द्वारा संरक्षित मुख्य धारा से बाहर कर दिया और शासन के नियन्त्रण में ऐंग्लों क्रिश्चियन शिक्षा को ही नई भारतीय शिक्षा प्रचारित कर हिन्दू समाज के बारे में विशेषकर भ्रांतियों और कुप्रचार को शिक्षा का अंग बना दियाँ इसके कारण हिन्दुओं के मन में अपनी ज्ञान परम्परा और समाज व्यवहार की परम्पराओं के विषय में भांति–भांति के संकुचन आ गये। जिस अवधि में हिन्दू शासक दूर–दूर तक अपना विस्तार कर रहे थे और ठण्डोनेशिया, मलयेशिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि द्वीप–द्वीपान्तरों तक हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्रचार हो रहा था, उस अवधि को हिन्दुओं के संकुचन और पराभव की अवधि प्रचारित कर दिया तथा एक ओर तो दिल्ली और आगरा के बीच की जागीर के जागीरदारों को ही सम्पूर्ण भारत का शासक प्रचारित कर दिया और

दूसरी ओर उसी अवधि में हिन्दू धर्म और हिन्दू राज्य व्यवस्था के द्वीप–द्वीपान्तरों तक विस्तार को उन शासकों का कार्य भी नहीं बतायाँ जिससे कि सामान्य विद्यार्थियों के मन में हिन्दूत्व के विस्तार की स्मृति अंक्ति ही नहीं हो पाई और केवल दिल्ली आगरा के बीच जागीर के जागीरदारों की बात ही विस्तार से पढ़ाई जाती रही। इस प्रकार अपने राजनैतिक ऐश्वर्य के विषय में हिन्दुओं में आत्मविस्मृति और संकुचन तथा गहरी ग्लानि भर दी गई।

इसी प्रकार जातियों के विषय में विशाल प्रचार सामग्री रचकर भांति–भांति की भ्रातियाँ खड़ी की गईं और उनमें परस्पर विरोध को अन्तर्निहित प्रचारित किया गयाराज्य बल का उपयोग करके ऐसी प्रचार सामग्री का प्रचार करने वालों को आधुनिक शिक्षित, विद्वान और विदुषी प्रचारित किया गयाहिन्दू मन में इसका धीरे–धीरे अवसादकारी प्रभाव बढ़ता गया

सत्ता के हस्तान्तरण के बाद मानविकी विद्याओं के क्षेत्र में हिन्दुओं में हीनता भरने के प्रयास अकादमिक संस्थाओं के स्तर पर राजकीय संरक्षण पाकर बहुत विस्तार पाते गये। परन्तु कुछ समय बाद संस्कारी और प्रबुद्ध हिन्दुओं को इस प्रचार के विषय में सन्देह उत्पन्न होने लगा और इनके पीछे खोट नजर आने लगी। इस कारण प्रबुद्ध और सत्यनिष्ठ हिन्दुओं ने व्यापक पुरूषार्थ किये और भारतीय सत्य को सामने लाने का कार्य भी होने लगा। यह कार्य ही हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण का आधार है।

आर्य आक्रमण की भाषा वैज्ञानिक परिकल्पनाओं को भाषा विज्ञान के स्तर पर ही अनेक भारतीय विद्वानों ने असत्य प्रमाणित कर दियाँ सरस्वती नदी की वैज्ञानिक खोज ने तो आर्य आक्रमण की सभी प्रचारित कहानियों के आधार को ही ध्वस्त् कर दियाँ इस कारण आर्यों के भारत से बाहर से आकर भारत पर आक्रमण करने या यहाँ बसने का झूठ प्रमाणित हो गया और आर्य द्रविड़ विभाजन भी निराधार सिद्ध हो गयाहिन्दू चेतना के नवोन्मेष का यह परिणाम है। हिन्दू संकल्पना का अभिनव दृष्टिकोण इसी नवोन्मेष का फल है। जिसमें सत्य के अनुसन्धान पर आग्रह है और झूठ को अस्वीकार करने की बौद्धिक सजगता है। इसी सजगता के कारण कर्मकाण्डों और उपासना रूपों के स्तर पर वैविध्य को हिन्दुओं की कमजोरी और टकराहट का कारण बताने सम्बन्धी समस्त् प्रोपेगंडा जाग्रत हिन्दुओं ने अस्वीकार कर दिया है और वे समकालीन विश्व में हिन्दुओं के आत्मगौरव की पुनः प्रतिष्ठा के लिये जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं। विश्व के अन्य समाजों, विशेषकर हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म के प्रति अकारण आक्रमण का भाव और विरोध की वृत्ति रखने वाले समुदायों का अध्ययन हिन्दुओं की इस जागृति में सहायक है। वे देख रहे हैं कि जिन दोषों और दुर्गुणों को 1858 ईस्वी के बाद राज्यबल के प्रयोग से हिन्दुओं में होना प्रचारित किया गया है, वे सभी दोष और दुर्गुण उन प्रचारकों के समुदायों में ही विद्यमान हैं और भयंकर रूप से विद्यमान हैं। अन्य समाजों के प्रति हिंसा और शत्रुता का भाव, उन्हें नष्ट कर डालने का भाव, इसके लिये निरन्तर झूठा प्रोपेगंडा करने में समय अैर शक्ति का नियोजन तथा अपने काले अतीत को अन्धकार युग कहकर अथवा अन्य तरह से ढकने का प्रयास करना, ये सब तथ्य प्रबुद्ध हिन्दू देख रहे हैं और ये समझ रहे हैं कि अपने इस कुरूप सच को छिपाने के लिये ही इन समुदायों ने हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के विरूद्ध झूठा प्रोपेगंडा किया है। प्रबुद्ध हिन्दू यह भी देख रहे हैं कि ऐसे प्रोपेगंडा के झूठ की विकरालता को देखते हुये भी हिन्दुओं ने शान्तचित्त से, नीरक्षीर विवेक का भाव रखते हुये उस प्रोपेगंडा का परीक्षण किया है और फिर सही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

यह भी अब सर्वविदित है कि हिन्दुओं में समस्त् मानवीय गुणों के प्रति समादर है और सत्य, अहिंसा, संयम, आन्तरिक और बाहरी पवित्रता तथा अन्यों के धन–सम्पत्ति के प्रति गिद्ध दृष्टि कभी भी नहीं रखने – जैसे सार्वभौम जीवनमूल्य हिन्दू समाज में सदा से व्यवहार में साकार होते रहे हैं। इस प्रकार हिन्दुओं का आत्मगौरव सत्य पर आधारित है, किसी प्रोपेगंडा या परिकल्पना पर नहीं। इसीलिये सर्वतोमुखी विकास ही हिन्दू धर्म और हिन्दू परम्परा का मर्म और मूल है। इस सत्य का बोध जाग्रत हिन्दुओं में सहज आत्मगौरव का संचार कर रहा है।

4.5.4 वीरता का निषेध स्वीकार नहीं

प्रश्न : यदि कुछ समुदाय हिन्दुओं के प्रति अकारण आक्रमण को ही अपना मजहबी या रिलिजस कर्त्तव्य मानें तो उसका सामना हिन्दू समाज कैसे कर सकता है?

उत्तर : हिन्दू ज्ञान परम्परा तथा अध्यात्म परम्परा और हिन्दू इतिहास में कभी भी वीरता का निषेध नहीं किया गया है। अकारण आक्रमण करने वाले व्यक्तियों और समूहों को हिन्दू शास्त्रों में आततायी कहा जाता है। आततायियों का वध ही धर्म है। शास्त्र कहते हैं –

'आततायिनं आयान्तं हन्यादेव अविचारयन्'।

अर्थात आक्रमण करने के लिये आ रहे आततायी का वध बिना किसी दुविधा के कर देना चाहिये।

अब वर्तमान कानून व्यवस्था में यह दायित्व शासन ने स्वयं ले रखा है। अतः आततायियों का वध शासन का दायित्व है। हिन्दू राजनीतिशास्त्रों में इसे कंटकशोधन कहा जाता है। कंटकशोधन राजधर्म है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कंटकशोधन का एक अलग ही परिच्छेद है जो चतुर्थ अधिकरण कहा गया है। इसमें इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आततायियों और दुष्टों से नागरिकों की रक्षा के लिये कंटकशोधन अधिकरण के छठे सातवें और आठवें अध्याय में इसका विस्तार से प्रतिपादन है। इसी प्रकार 11वें, 12वें एवं 13वें अध्याय में भी अलग–अलग प्रकार के आततायियों के दमन की व्यवस्था है। विशेषकर 13वें अध्याय में ऐसे लोगों के दण्ड का विस्तृत प्रावधान है और योगवृत्त नामक 5वें अधिकरण के पहले अध्याय में भी इस पर निर्देश दिये गये हैं। अतः आततायियों का दमन और कंटकशोधन राजधर्म है।

इसके अतिरिक्त हिन्दू परम्परा के अनुसार नागरिकों के समूहों को शस्त्रशिक्षण और शस्त्रसंचालन की विद्या व्यापक रूप से प्रदान की जा सकती है और नागरिकों के स्तर पर अपने ढंग से आततायियों का दमन और प्रतिरोध किया जा सकता है। वीरता का निषेध हिन्दू धर्म में कहीं भी नहीं किया गया है और इसलिये वीरता का निषेध हिन्दुओं को स्वीकार नहीं है।

इस विषय में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 1858 ईस्वी में ब्रिटिश भारतीय शासन ने अपने हिस्से के भारत में शस्त्र अधिनियम बनाकर नागरिकों द्वारा शस्त्र रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और केवल शासकों की अनुमति से ही नागरिकों को शस्त्र दिये जाने लगे। जिनका पूरा विवरण प्रशासन के पास रहता था और प्रशासन को यह विवरण देना नागरिकों के लिये विधिक अनिवार्यता थी। (वह नियम अभी तक बना हुआ है)।

ऐसी स्थिति में नागरिक एकता के द्वारा दबाव बनाना ही एक सामान्य उपाय ब्रिटिश शासन के विरोध में बच रहा। यद्यपि क्रान्तिकारी लोग प्रबल देशभक्ति की भावना से अंग्रेजों को बाहरी और अजनबी घुसपैठिये के रूप में देखते हुये उन्हें भगाने के लिये शस्त्र का अवलम्बन भी लेते थे। परन्तु नये बने कानूनों के कारण शस्त्रों का संग्रह अत्यधिक कठिन था।

दूसरी बात यह है कि तब तक स्वयं इंग्लैंड में 'स्टैण्डिंग आर्मी' नहीं थी। तब भी ईस्ट इण्डिया कंपनी ने अपने गोदामों और कारखानों तथा व्यापार की रक्षा के नाम पर भारत के शासकों से अनुमति लेकर भारतीय सिपाहियों की भर्ती बड़े पैमाने पर की थी और यह संख्या लाखों तक पहुँच गई थी।

ब्रिटिश उत्पीड़नों के कारण भारत में बहुत से शिल्प एवं रोजगार तथा आजीविका के साधन नष्ट किये जा चुके थे। इसलिये वीर भारतीयों को सिपाही बनकर अर्जन करना आत्मगौरव के अनुकूल लगता था और उन्हें यह अनुमान नहीं था कि यह कार्य भारत के वास्तविक हितों के विरूद्ध है। अपने स्वामी के प्रति निष्ठा की भारतीय परम्परा के कारण और भारतीय राजाओं, रानियों तथा नवाबों के बीच आपसी टकराव के कारण उन्हें उस पक्ष के प्रति ही निष्ठा अपना कर्त्तव्य लगती थी, जिसने अपनी रक्षा के लिये उन्हें रखा है। इस प्रकार लाखों की एक बड़ी 'स्टैण्डिंग आर्मी' के सामने थोड़े से क्रान्तिकारियों की सशस्त्र वीरता पर्याप्त प्रभावी नहीं हो पा रही थी। ऐसे में नागरिक एकता और नागरिक दबाव का बहुत महत्त्व हो गया था। अतः लोकमान्य तिलक और विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपत राय आदि ने व्यापक स्तर पर नागरिक सजगता उत्पन्न की और ब्रिटिश भारतीय प्रशासकों पर न्याय के पक्ष में नागरिक दबाव बनाने लगे। परन्तु लोकमान्य तिलक आदि के बाद अंग्रेजों की चाल से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में लंदन में एँग्लो–क्रिश्चियन शिक्षा में दीक्षित और अंग्रेजों के मित्र नेताओं का वर्चस्व होने लगा और उन्होंने भारतीयों को वीरताविहीन तथा विनम्र और आज्ञाकारी होने की प्रेरणा देने का काम शुरू किया

अंग्रेजों की कुनीति और वंचना के विरूद्ध भारतीयों के क्षोभ और रोष को देखते हुये लोकप्रियता के लिये ब्रिटिश भारतीय अन्याय का विरोधी दिखना आवश्यक था। अतः अंग्रेजों के मित्र ये सभी नेता अंग्रेजों के विरोधी तो दिखते रहे, परन्तु वस्तुतः वे भारतीय लोकमानस में अंग्रेजों के प्रति अधिकाधिक अनुकूलता और विनम्रता तथा आज्ञाकारिता को बढ़ाने वाले बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रतिपादन करने लगे और भारतीयों में वीरता के विरूद्ध एक निषेध का भाव इस तर्क के साथ फैलाया कि भारतीय तो स्वभाव से अहिंसक और विनयशील होते हैं तथा वे अन्याय का विरोध भी सदा शान्तिपूर्वक और मर्यादा में रहकर ही करते हैं।

अंग्रेजों द्वारा सत्ता हस्तान्तरण के बाद सत्तारूढ़ बने नेतृत्व को भी भारतीयों में यही भाव पोषित करना अपने अनुकूल लगा। इस प्रकार भारतीयों में सेना के अतिरिक्त अन्यत्र वीरता के किसी भी भाव का प्रदर्शन अनुचित् बताया जाने लगा। सेना के प्रति अपनी सुदीर्घ परम्परा के कारण हिन्दुओं में गहरा आदर और प्रेम यथावत बना रहा। परन्तु वीरता के अन्य रूपों को हिन्दू मानस के विरूद्ध बताये जाने का काम शिक्षा और संचार माध्यमों द्वारा इतने बड़े स्तर पर सम्पूर्ण राष्ट्र में किया गया कि आततायियों का वध भारत में शास्त्रों का आदेश है, यह भाव संस्कार रूप में तो बना रहा तथापि शिक्षा क्षेत्र और संचार माध्यमों के प्रचार के कारण भारतीयों को बर्बर हिंसक समूहों के सामने भी आवश्यक वीरता का प्रदर्शन करने में सार्वजनिक स्तर पर संकोच का ही अनुभव होने लगा।

समस्त् नागरिक अधिकार और सुविधायें भोग रहे कतिपय बर्बर और हिंसक स्वभाव वाले समुदायों द्वारा अकारण हिंसा और बर्बरता का बारम्बार अभियान ही चलाये जाने के कारण हिन्दुओं में भी अब स्वाभाविक ही वीरता के परम्परागत संस्कार पुनः जाग उठे हैं। वीरता का निषेध हिन्दू परम्परा और हिन्दू शास्त्रों को स्वीकार नहीं है। अतः जाग्रत वीरता की संयमित और उचित् अभिव्यक्ति के लिये शासन और समाज दोनों के ही स्तरों पर आवश्यक नीतियों और कार्यक्रमों की अपेक्षा है।

4.5.5 अपात्रों के उपदेश अस्वीकार

प्रश्न : हिन्दुओं को वीरता का निषेध सिखाने वाले लोगों के प्रति आज्ञाकारिता का भाव कैसे आया?

उत्तर :हिन्दुओं में अपात्रों का उपदेश अस्वीकार करने की प्रशस्त् परम्परा है। वे सदा किस विषय में कौन अधिकारी है और किस विषय का कौन सुपात्र है, इसका विचार करते रहते हैं। क्योंकि हिन्दू शास्त्र यही सिखाते हैं। प्रत्येक विषय में गहन और प्रशस्त् ज्ञान की परम्परा के कारण वीरता के विषय में भी हिन्दू शास्त्र और हिन्दू लोकमानस में ज्ञान की व्यापकता और विस्तार है। वीरता के अनेक प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं :– धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर, ज्ञानवीर तथा महावीर। जिस व्यक्ति में वीरता के प्रथम चार प्रकार एक साथ हों, उसे ही महावीर कहते हैं। अतः हिन्दुओं में वीरता का निषेध सिखाने वाले चतुर हिन्दुओं ने अंग्रेजों के प्रति अपनी मैत्री भावना के बाद भी वीरता का निषेध सीधे नहीं सिखायाँ क्योंकि वे जानते थे कि वीरता का निषेध सिखाते ही हिन्दुओं में प्रतिक्रिया होगी। अतः उन्होंने अहिंसा के ऐसे व्यापक रूप का उपदेश देना शुरू किया जो देखने में शास्त्रों की निरन्तरता में लगे परन्तु मर्म में शास्त्र और परम्परा के विरूद्ध हो।

इस विषय में महात्मा गाँधी जी के प्रतिपादन अवलोकनीय हैं। उन्होंने यह कहा कि हिन्दू शास्त्रों में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म कही गई है। यह बात सत्य भी है। स्वयं महाभारत में यह उद्घोष है – 'अहिंसा परमो धर्मः'। योगदर्शन में भी यही कहा है। गाँधीजी ने अहिंसा की अपनी व्याख्या में महर्षि पतंजलि के 'योगदर्शनम्' के द्वितीय पाद के तीसवें सूत्र का और उस पर महर्षि व्यास द्वारा की गई टीका का उद्धरण देते हुये यह स्पष्ट किया कि सर्वथा, सर्वदा समस्त् प्राणियों के प्रति द्रोह भाव का सम्पूर्ण अभाव ही अहिंसा है और प्राणियों के प्रति द्रोह भाव ही मूल हिंसा है। इसको विस्तार देते हुये उन्होंने ईसाइयत के प्रचारक मिशनरियों की सभा में कई बार यह तक कहा कि यदि आप एकान्त में भी किसी हिन्दू को ईसाइयत की प्रेरणा देने की प्रार्थना अपने आराध्य जीसस और उनके पिता (गॉड) से करते हैं तो यह हिन्दू धर्म के प्रति द्रोहभाव होने के कारण हिंसा ही है।

ऐसी सुन्दर व्याख्याओं से लोकमानस में गाँधी जी के प्रति गहरा आदर बढ़ता गयापरन्तु कई बार उन्होंने मजहबी उग्रवादियों के विरोध में भी शस्त्र नहीं उठाने का तर्क अहिंसा के नाम पर दियाँ इससे हिन्दुओं में उनके प्रति दुविधा का भाव फैल गया15 अगस्त् 1947 ईस्वी के बाद शासन की प्रेरणा और संरक्षण से गाँधीजी का नाम लेकर हिन्दुओं में वीरता के निषेध का भाव बहुत बल देकर फैलाया जाने लगा। इससे हिन्दू मानस का भ्रम गहरा हुआ और दुविधा का भाव भी गहराई से फैल गया

इस प्रकार वस्तुतः हिन्दुओं में शास्त्रों की दुहाई दिये जाने के कारण इस विषय में यह दुविधा उत्पन्न हुई। आज्ञाकारिता तो कभी भी नहीं आई। क्योंकि संस्कार से ही हिन्दू वीर हैं। जैसा स्वयं गाँधीजी ने बारम्बार कहा था – 'हिन्दुओं के सभी देवी–देवता

शस्त्रधारी हैं।' अतः इन देवियोंऔर देवताओं के उपासक हिन्दू वीरता का निषेध कैसे स्वीकार कर सकते हैं।

वीरता के निषेध के उपदेश के प्रति आज्ञाकारिता का भाव हिन्दुओं में कभी भी नहीं आयाँ परन्तु एक दुविधा अवश्य उत्पन्न हुई जिसे स्वयं बर्बर मजहबी उग्रवादियों की बर्बरता ने समाप्त कर दिया है। क्योंकि हिन्दुओं को लगने लगा कि ऐसे बर्बर आतंकवाद के विरूद्ध वीरता आवश्यक है और ऐसी वीरता का संरक्षण और प्रोत्साहन राजधर्म है। हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण में जो नया उन्मेष हुआ है, उनमें से एक यह भी है कि वीरता का निषेध अब हिन्दुओं को सांकेतिक रूप में भी स्वीकार नहीं है। वीरता के उनके सुदीर्घ संस्कार पुनः जाग्रत और प्रबल होने लगे हैं। अपात्रों का उपदेश हिन्दुओं को सदा से अस्वीकार रहा है और गाँधी जी का नाम लेकर उनके बाद अपात्रों द्वारा ऐसे ही उपदेश दिये गये हैं।

4.6 परिवर्तित वैश्विक परिस्थितियों में अभिनव हिन्दू की भूमिका

प्रश्न : विश्व की परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं और संचार क्षेत्र में प्रौद्योगिकी की प्रगति के कारण सामान्य हिन्दुओं को भी उनका सामान्य ज्ञान होता रहता है। ऐसी स्थिति में हिन्दू मानस पर उनका क्या प्रभाव पड़ रहा है?

उत्तर : विश्व की परिस्थितियाँ निरन्तर तेजी से बदलती ही रहती हैं। संचार माध्यमों में जो क्रान्ति हुई है, उसके कारण उन घटनाओं का ज्ञान सार रूप में सबको होता रहता है। 15 अगस्त् 1947 ईस्वी के बाद नेहरू जी के प्रशंसकों ने उनको विश्व शान्ति और पंचशील के पैरोंकार के एक बड़े प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया और उन्हें गाँधीजी की ही निरन्तरता में ही प्रचारित कियापरन्तु एक तो विश्व की घटनाओं की जानकारी के कारण हिन्दुओं को भी यह तथ्य बार–बार ज्ञात होता रहता है कि विश्व में सभी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन युद्ध के बल पर ही हो रहे हैं और विश्व में आये दिन नये नेशन स्टेट बन रहे हैं और पुराने विलुप्त हो रहे हैं। इस प्रकार राष्ट्र रक्षा के लिये सैन्य बल का महत्त्वहिन्दुओं के चित्त में भी और अधिक अंक्ति होता गया

इसके साथ ही नेहरू जी के पक्ष में प्रचार की भावना से ही सही, गाँधीजी की इतनी अधिक बात की गई कि पुनर्जन्म और कर्मफल में गाँधीजी की श्रद्धा तथा गौरक्षा को दिया जाने वाला महत्त्व और रामनाम जपने का महत्त्व बारम्बार चर्चा में आता गयातब हिन्दुओं को लगा कि नेहरू जी की धारा वाली कांग्रेस तो गौहत्या को बिल्कुल नहीं रोक रही है अपितु प्रौद्योगिकी का प्रयोग व्यवस्थित ढंग से गौवध के लिये हो रहा है तथा ट्रैक्टर आदि के प्रयोग में शासन के स्तर पर वृद्धि के कारण गौवंश की उपयोगिता भी घटाई जा रही है। इसके साथ ही आध्यात्मिकता का निषेध शिक्षा के स्तर पर हो रहा है और रामनाम के महत्त्व की तो चर्चा ही शासकीय स्तर पर लुप्त है। जबकि गाँधीजी के लिये रामनाम और गौरक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं, यह स्वयं शासन के द्वारा भी प्रचारित तथ्यों से सामने आता रहा है।

इस प्रकार गाँधीजी की निरन्तरता की दावेदारी पूरी तरह असत्य लगने लगी और हिन्दुओं को लगा कि गाँधीजी के नाम से भी उन्हें ठगा जा रहा है और गाँधीजी की जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें हैं, उनके विरोध में काम करते हुये केवल बर्बर आततायियों के समक्ष झुकने को ही गाँधीवाद बताया जा रहा है तो उसके प्रति अस्वीकार का भाव जाग्रत हुआ है। सशस्त्र आततायियों के सम्मुख अहिंसा का कौन

सा प्रयोग सफल हुआ है या होगा, इसका एक भी उदाहरण सामने नहीं आ सका है। अतः हिन्दू मानस में वीरता का महत्त्व पुनः प्रबल होने लगा है और आततायियों पर कठोरता से नियन्त्रण को शासन का कर्त्तव्य मानने का भाव दृढ़ हुआ है।

इसके साथ ही वैज्ञानिक खोजों की जानकारी मिलने से विश्व की अन्तर्निहित एकता की पुष्टि हुई है और वृक्ष तथा वनस्पति सहित समस्त् जगत में चेतना की विद्यमानता की हिन्दू दृष्टि का वैज्ञानिक समर्थन सामने आया है। पर्यावरण के प्रति गहरे सम्मान का जो भाव हिन्दू परम्परा में रहा है, उसका महत्त्व नये सिरे से उभर कर आया है। प्रकृति से हम जो कुछ लेते हैं, उसे लौटाते रहने की आवश्यकता है, यह तथ्य वैज्ञानिक रूप से भी सामने आने के बाद अनेक हिन्दू परम्पराओं का महत्त्व नये रूप में विदित हुआ है। नदियों और जलस्रोतों के प्रति पवित्रता के भाव का महत्त्व समझ में आया है। वृक्षारोपण तथा तुलसी, पीपल और बरगद जैसे वृक्षों एवं पौधों को पवित्र मानकर उनके संरक्षण और पोषण की हिन्दू परम्परा का एक वैज्ञानिक पक्ष भी सामने आया है। इस तरह हिन्दू धर्म की परम्पराओं के पक्ष में विज्ञान की नई स्थापनायें भी सामने आने से हिन्दुओं के आत्मविश्वास और आत्मगौरव में वृद्धि हुई है।

इतिहास एवं पुरातत्त्वसम्बन्धी खोजों के कारण बहुत सी भ्रांतियाँ दूर हुई हैं। भाषाविज्ञान के आधार पर आर्य आक्रमण की जो कहानी जानबूझकर गढ़ी गई थी, भाषाविज्ञान के ही आधार पर विद्वानों ने उसे ठुकरा दिया है। इसी प्रकार पूर्व सोवियत संघ एवं मध्य एशिया से चीन तक के विस्तृत क्षेत्र में हिन्दू देवी—देवताओं की मूर्तियों के प्रमाण मिलने से हिन्दू संस्कृति की व्यापकता का ज्ञान फैला है।

इसी प्रकार स्वयं यूरोप के लोगों ने अपने अतीत को खोजते हुये प्रकाशनों की एक श्रृंखला ही प्रारम्भ की है — 'पीपुल्स ऑफ दि यूरोप' नाम से। उसमें यूरोप की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण जातियों को मध्य एशिया से ही गया हुआ बताया जा रहा है। उधर मध्य एशिया शताब्दियों संस्कृतभाषी रहा है, यह स्वयं अर्नाल्ड टायनबी ने लिखा है। हिन्दू देवी—देवताओं की मूर्तियों की प्रचुरता पुरातात्विक उत्खनन में सामने आने से इस क्षेत्र के शताब्दियों हिन्दू रहने का प्रमाण मिला है। इस प्रकार हिन्दुओं में आत्मगौरव के वैज्ञानिक आधार सामने आ रहे हैं। इसके साथ ही यूरोपीय लोगों को कोई एक अलग और उन्नत नस्ल मानने और बताने का आधार समाप्त हो गया है। क्योंकि वे मध्यएशिया से ही गये हुये लोग हैं, यह वे स्वयं लिख रहे हैं। ऐसे में नस्लवाद एक झूठी कल्पना ही सिद्ध हो रही है। उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में नस्लवाद जैसी कोई भी अवधारणा कभी भी नहीं रही है और हिन्दू शास्त्र समस्त् मनुष्यों को एक ही मानकर 'मानवधर्म' का प्रतिपादन करते रहे हैं। अतः ये सभी बातें हिन्दू संकल्पना में अभिनव दृष्टिकोण का विस्तार करती हैं।

4.6.1 हिन्दुओं की निर्बाध ऊर्जा का प्रकटनःसच्चे नेतृत्व की भूमिका

प्रश्न : यदि हिन्दू परम्पराओं और मान्यताओं के पक्ष में इतने तथ्य सामने आ रहे हैं तो फिर हिन्दू ऊर्जा की अभिव्यक्ति में बाधायें क्या हैं?

उत्तर :हिन्दुओं की निर्बाध ऊर्जा के प्रकटन में कोई भी बाधा नहीं है। केवल अनुकूल परिवेश की आवश्यकता है। वैज्ञानिकता का नाम लेकर ही हिन्दूत्व का विरोध शासन और प्रशासन में कुछ लोग करते रहे हैं। परन्तु समय के साथ उस विरोध के आधार असत्य सिद्ध हुये हैं। क्योंकि हिन्दुओं में न तो उस प्रकार का कोई एकदेववादी या एकपंथवादी आग्रह है जो अन्यों के प्रति असहिष्णु होता है और न ही किसी विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड पर ऐसी एकांतिक श्रद्धा है जो कर्मकाण्ड के अन्य रूपों का वैसा

विरोध करे, जैसा मजहब या रिलीजन के नाम पर कई समुदाय करते हैं। इस प्रकार हिन्दुओं को पिछड़ेपन का आग्रही बताना निराधार सिद्ध हुआ है। उनमें विज्ञान और वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति सहज स्वीकार्यता है और ईसाइयों ने वैज्ञानिकों का प्रारम्भ में जैसा बर्बर दमन किया, वैसा तो हिन्दू परम्परा में कभी कोई कल्पना करने का भी दुस्साहस नहीं कर सकता। हिन्दुओं की विज्ञान परम्परा बहुत प्राचीन है और यहाँ वैज्ञानिकों और गणितज्ञों की विश्व में सबसे सुदीर्घ परम्परा है। जीवनशैली और आहार विहार सम्बन्धी मानकों की विविधता हिन्दू जीवनदृष्टि का सहज अंग है। अतः मानवीय ऊर्जा की अभिव्यक्ति की अवरोधक कोई भी परम्परा या कोई भी बात हिन्दू धर्म में मिलती ही नहीं। इसलिये हिन्दुओं की ऊर्जा की निर्बाध अभिव्यक्ति में एकमात्र बाधा नीति और दिशा के विषय में सम्यक नेतृत्व का अभाव ही रहा है। समुचित् परिवेश उपलब्ध होने पर और सच्चे तथा सही नेतृत्व के होने पर कोई भी बाधा नहीं बचती। वित्त व्यवस्था, वैज्ञानिक प्रगति, व्यापारिक प्रगति तथा रक्षा व्यवस्था सहित सभी क्षेत्रों में विगत 10 वर्षों में हिन्दू ऊर्जा जैसे भव्य रूप में प्रगट हुई है और परम्परागत अनेक मान्यताओं को जितने लचीलेपन के साथ हिन्दुओं ने नये रूप दे दिये हैं, उससे हिन्दू शास्त्रों में वर्णित हिन्दू संकल्पना की निरन्तरता में अनेक नवीन पक्ष सामने आये हैं। हिन्दू नृवंश की एकता का भाव गहरा हो रहा है और किन्हीं भी संकीर्ण आग्रहों को कोई भी महत्त्व अभिनव हिन्दूत्व में नहीं दिया जाता।

जिसे वैज्ञानिक प्रवृत्ति कहते हैं, वह हिन्दुओं में सहज स्वाभाविक है। विगत 10 वर्षों में जितनी सहजता से 'कैशलेस इकानॉमी' को हिन्दुओं ने अपना लिया है वह बहुतों के लिये आश्चर्यजनक है। कोरोना काल में हिन्दू विश्व के सर्वाधिक अनुशासित् समाज के रूप में प्रमाणित हुये हैं। प्रधानमन्त्री के एक आव्हान पर सबने मास्क लगाने तथा सेनिटाइजेशन को व्यापक रूप में अपना लियाइसी प्रकार जहाँ सार्वजनिक स्थानों पर गंदगी फैलाने और उसके प्रति उदासीनता को हिन्दुओं का स्वभाव बताया जाने लगा था, वहीं प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी की पहल और आव्हान से समस्त् राष्ट्र में स्वच्छता का एक विस्मयकारी परिदृश्य देखने में आ रहा है। बच्चे और किशोर तक स्वच्छता का आग्रह रखने लगे हैं। भारत ने चन्द्रयान का सफल परीक्षण किया है और इसरो की उपलब्धियाँ नित्य नये आयाम छू रही हैं। भारतीय सेनाओं की वीरता की गौरवशाली परम्परा का पूर्ण सम्मान करते हुये प्रधानमन्त्री ने स्वयं अनेक बार उनके बीच जाकर उनमें आत्मगौरव का भाव और गहरा किया है। भारत के शत्रुओं को भारतीय सेनाओं से भय लगने लगा है। सैनिकों को यह विश्वास हो गया है कि युद्ध के प्रत्येक मोर्चे पर उनकी आवश्यकताओं का ध्यान शासन द्वारा रखा जायेगा। शिक्षा के क्षेत्र में भी भारतीय ज्ञान परम्परा का महत्त्व सामने लाया जा रहा है। इस प्रकार हिन्दू संकल्पना में नये नये पक्ष भी जुड़ रहे हैं। क्योंकि हिन्दूत्व किसी एक ग्रन्थ पर आधारित रूढ़ियों का समुच्चय या संकलन नहीं है। अतः देश काल के अनुरूप आवश्यक तत्त्वों और प्रवृत्तियों का समायोजन और समावेश हिन्दूत्व में सहज ही है। यही हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण का आधार है और मुक्त हृदय तथा जाग्रत बुद्धि से समय और आवश्यकता के अनुरूप संस्थाओं और क्रियाओं के स्तर पर नवाचार हिन्दूत्व में सहज स्वीकार है। हिन्दू संकल्पना में अभिनव दृष्टिकोण का फैलाव इसी का परिणाम है।

4.7 सारांश

आपने अभी तक हिन्दू संकल्पना के अभिनव दृष्टिकोण को पढ़ा अब उसे सारांश के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। वैदिक काल के आचार–व्यवहार अपने मूल रूप

में समकालीन विश्व के लिए सहज नहीं हैं। किन्तु उनकी बुनीयादी बातें अभी भी नये कलेवर में कहीं–कही पूर्ण रुप से, कहीं आंशिक रूप से उपस्थित हैं। गुरूकुल की कठोर ब्रह्मचर्य साधना समकालीन विश्व में संयमित जीवन के रूप में परिणत हो चुकी है। वानप्रस्थी समाजसेवी के रूप में कार्य कर रहे हैं। सन्यास आश्रम के व्यक्ति देशसेवा तथा धर्मविषयक प्रबोधन एवं उनके प्रचार–प्रसार में संलग्न हो रहे हैं। इसी प्रकार वर्ण एवं जाति का अभिज्ञान शिथिल होकर हिन्दू मात्र की पहचान प्रबल हुई है। जहाँ तक गैर हिन्दू संस्कृति से आये हुए पंथो के अनुयायियों की स्वतन्त्रता तथा समादर की बात है, एक मानव मात्र के रूप में वे आपके सहोदर हैं किन्तु हिन्दू मूल संस्कृति के सांस्कृतिक साथी वे तभी माने जा सकते हैं जब उन्हें इसका स्वयं अवबोध हो अन्यथा नहीं।

परिवार एवं विवाह के स्वरूप को लेकर जो कई अभिनव दृष्टियाँ विकसित् हुई हैं, स्वत्व तथा सम्पत्ति सम्बन्धी धर्मशास्त्रों का विधान कानून व्यवस्था में किञ्चित ही उपलब्ध है। दायभाग तथा पति–पत्नी के आधिकारों और कर्त्तव्यों हेतु अभिनव चिन्तन की आवश्यकता है।

धर्मशास्त्रों में विवाह के आठ प्रकार वर्णित हैं और उनमें से 5 तो प्रशंसित् हुये हैं – ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य और गंधर्व। परन्तु इन दिनों हिन्दू विवाह अधिनियम में ऐसा कोई विभेद मान्य नहीं है। पवित्र अग्नि के फेरे और सप्तपदी ही हिन्दू विवाह का सर्वमान्य आधार है। विदेशों में रह रहे प्रवासी हिन्दू इसके साथ ही सम्बंधित देश के कानून के अनुसार 'मैरिज' सम्पन्न करते हैं। उसके अपने नियम हैं। विवाह और 'मैरिज' में बहुत अन्तर है। 'मैरिज' एक अनुबन्ध है। विवाह शब्द का अर्थ है दोनों पक्षों द्वारा नये दायित्व के वहन का संकल्प एवं प्रतिज्ञा जो अग्नि के समक्ष और साक्ष्य की विधि से सम्पन्न हो। वाह का अर्थ है वहन करना यानी दायित्व स्वीकार करना और वि का अर्थ है विशिष्ट। इस प्रकार दोनों पक्षों से विशिष्ट दायित्व की धार्मिक स्वीकृति एवं संकल्प ही विवाह है। शास्त्रों के अनुसार अग्नि के समक्ष एक बार ऐसा संकल्प और प्रतिज्ञा करने के बाद जीवन में कभी भी उसका परित्याग नहीं किया जा सकता।

इस समय विश्व में साढ़े सात अरब आबादी है। इनमें लगभग डेढ़ अरब हिन्दू हैं। जो विश्व की कुल जनसंख्या का एक पंचमांश हैं। वे लगभग 100 देशों में फैले हुये हैं। इनमें मुख्य हैं भारत, नेपाल, भूटान, मारीशस, गुआना, श्रीलंका, म्यांमार, सूरीनाम, त्रिनिडाड, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, मलयेशिया, बांग्लादेश, ठण्डोनेशिया, चीन, पाकिस्तान, संयुक्त अरब अमीरात, कुवैत, वियतनाम, यमन, ओमान, सिंगापुर, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूजीलैंड, जिब्राल्टर आदि। इन सब देशों में हिन्दू अपने परिश्रम और पुरूषार्थ से यशस्वी हो रहे हैं और सम्बंधित देश की भलीभांति सेवा करते हुये हिन्दू धर्म और संस्कृति को जीवित तथा जाग्रत रखने का बड़ा काम करते रहे हैं।

मुस्लिम और ईसाई आत्मगौरव का आधार एक ऐसी आध्यात्मिक अवधारणा है, जिसके अनुसार परमसत्ता या परमात्मा अथवा परमेश्वर का सच्चा रूप केवल उसे ही ज्ञात हो सकता है जो उनके अपने मजहब के पैगम्बर या क्रिश्चियनिटी के चर्च की शरण में आये। जो अल्लाह के आखिरी रसूल को एकमात्र मार्गदर्शक माने अथवा 'गॉड' के आज तक हुये एकमात्रपुत्र को ही एकमात्र आस्था योग्य मानना क्रमशः मुस्लिम एवं ईसाई आस्था का सार और मर्म है।

इस प्रकार हिन्दू दृष्टि आध्यात्मिक विकृतियों के सभी आरोपणों को अस्वीकार करने पर बल देती है। चूँकि आध्यात्मिक विकृतियाँ मानवीय बुद्धि और मानवीय मन की

लालसाओं, आकांक्षाओं और योजनाओं का ही फल हैं, इसलिये यह स्वाभाविक है कि हिन्दुओं में भी कभी कोई समुदाय या व्यक्ति आध्यात्मिक विकृति यानी तमस से ग्रस्त् होकर ईसाइयों या मजहबी लोगों जैसा कोई दावा प्रस्तुत करे और वह यह दावा करे कि प्रकाश का एकमात्र स्रोत उसके अपने उपासना पंथ की शरण में आना ही है।

विश्व में केवल हिन्दू ही एकमात्र ऐसा समुदाय हैं जो 130 करोड़ हिन्दू एक ही राष्ट्र में आत्मभाव से और सहज सामंजस्य तथा समन्वय के साथ रहते हैं। इनके बीच विषमता और विलगाव लाने की बहुत अधिक चेष्टायें 1000 वर्षों से शक्तिशाली समूहों द्वारा की जाती रही हैं, इसके बाद भी यह सामंजस्य और समन्वय बना हुआ है। अतः मानवीय इतिहास में यह सर्वाधिक आत्मगौरव के योग्य दृष्टान्त है।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. हिन्दू विश्वदृष्टि के लिये देखिये – श्री रामस्वरूप कृत "Hindu View of ChristianityAnd Islam' &Also 'On Hinduism" भारत भारती, नई दिल्ली तथा प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज द्वारा अनूदित एवं सम्पादित उक्त का हिन्दी अनुवाद – योग की अध्यात्म–विद्या और सेमेटिक धर्मपंथ, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2007 ईस्वी।
2. आर्य आक्रमण की परिकल्पनाओं और उनके खण्डन के लिये देखिये - Nicholas Kazanas :^Indo-Aryan Origins',Aditya Prakashan, New Delhi, 2011
3. 11वीं से 17वीं शताब्दी ईस्वी तक हिन्दुओं के द्वीप दीपान्तर तक विस्तार के लिये देखिये– प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज एवं प्रो. कुसुमलता केडिया कृत 'कभी भी पराधीन नहीं रहा है भारत', साहित्य संगम, इलाहाबाद, 2015 ईस्वी।
4. Peter Heather: The Goths (The Peoples of Europe), Bleckwell Publishers, Oxford, UK

4.10 बोध प्रश्न

1. समकालीन हिन्दू संस्कृति की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
2. अभिनव हिन्दू दृष्टिकोण में काल बाह्य तत्त्व शिथिल हो चुके हैं।
3. विवाह एवं परिवार सम्बन्धी अभिनव हिन्दू प्राविधान की विवेचना करें।
4. अभिनव हिन्दू धर्मशासत्र के रूप में भारतीय संविधान प्रमुख स्रोत के रूप में मान्य है।

खण्ड 2
हिन्दू अध्ययन के तात्विक पक्ष

खण्ड 2 परिचय

एम.ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के प्रथम पाठ्यक्रम के द्वितीय खण्ड में आपका स्वागत है। इस पूरे खण्ड में तीन इकाइयों के माध्यम से हिन्दू अध्ययन के तात्विक पक्षों को समझाया गया है। इस खण्ड का नाम हिन्दू अध्ययन के तात्विक पक्ष है। इसके अन्तर्गत हिन्दू मन एवं जीवन को विश्वदृष्टि के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। इसके अलावा स्वधर्म सर्वमंगल की भावना, राष्ट्र आदि विषयों को हिन्दू दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। प्रथम इकाई में आप हिन्दू परिप्रेक्ष्य के अनुसार मन एवं बुद्धि की संकल्पना को जानेंगें साथ ही आदर्श हिन्दू दिनचर्या एवं जीवन से भी अवगत होंगे। स्वबोध क्या है?इन प्रश्नों के उत्तर जानते हुए आप यह भी जानेंगें कि किस प्रकार हिन्दू स्वबोध और स्वधर्म सर्वमंगल की भावना में परिणत होते हैं। यह वर्णन द्वितीय इकाई में प्रस्तुत है। इस खण्ड की तृतीय एवम् अन्तिम इकाई में आप हिन्दू चिति की संकल्पनपा तथा राष्ट्र की संकल्पना और इनके अन्तः सम्बन्धों का अध्ययन करेंगें। उक्तानुसार इन तीन इकाइयों के अध्ययन के बाद आप हिन्दू अध्ययन के अन्तर्गत उपस्थित इन सभी तात्विक पक्षों का वर्णन करने में समर्थ हो जाएँगें।

इकाई 1 हिन्दू मन एवं हिन्दू जीवन : विश्वदृष्टि

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

हिन्दू अध्ययन प्रथम पाठ्यक्रम के द्वितीय खण्ड की इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- हिन्दू विश्वदृष्टि एवं सच्चिदानन्द स्वरूप की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेगें।
- हिन्दू विश्वदृष्टि के अनुसार मानव जीवन के लक्ष्य के विषय को समझा सकेगें।
- हिन्दू जीवनशैली एवं संस्कारों की अवधारणा का विवरण दे सकेगें।
- मन एवं बुद्धि की सङ्कल्पना और विश्वदृष्टि से उनके सम्बन्ध को समझा सकेगें।
- आदर्श हिन्दू जीवनचर्या के विषय को समझा सकेगें।
- मानव जीवन, समाज एवं विश्व पर हिन्दू विश्वदृष्टि के प्रभाव का उल्लेख कर सकेगें।

1.1 प्रस्तावना

आप हिन्दू संकल्पना की प्राचीन तथा अभिनव संकल्पना से परिचित् हो चुके है। अब आप इस व्यापक संकल्पना एवं स्वरूप वाले अवधारणा को कुछ बुनियादी बातों के आधार पर समझने जा रहे हैं। इस समझ को विकसित् करने हेतु इस एक शब्द के रूप में इस देश से जुड़े मानवीय सम्पदा के सामूहिक एवंव्यक्तिगत मानसिक अभिरुचि एवं अभिवृत्ति को जानना आवश्यक है।

एक राष्ट्र की अवधारणा और उसके सुगठित स्वरूप का परिचय वैदिक साहित्यों,पुराणों, धर्मशास्त्रो, महाकाव्यों में जगह–जगह प्राप्त होते हैं। वेद में एक न

केवल 'राष्ट्र' शब्द बार–बार आया है बल्कि राष्ट्र के स्वरूप का विवेचन भी प्राप्त होता है। चूंकि मनुष्य उन्हीं सभी कार्यों को दृढतापूर्वक सम्पादित करता है जिसकी संकल्पना उनका मन करता है। मन एक सूक्ष्म भौतिक तत्त्व है जिसका निश्चित भौगोलिक दिशाओं से एक अटूत सम्बन्ध है।

इस इकाई में आप पूर्व के खण्ड में पढ़ चुके अवधारणाओं के तात्त्विक धरातल के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपएक राष्ट्र के रूप में हिन्दुस्तान की संकल्पना तथा इस देश के नागरिकों के मध्य पाये जाने वाली रूचियों की उपलब्धता की आधारभूत तथ्यों से परिचित् हो सकेंगें, साथ ही आप यह भी बता सकेंगे कि किस प्रकार से भारत में राष्ट्रप्रेम पश्चिमी या अन्य संस्कृतियों के राष्ट्र प्रेम से विशिष्ट एवं व्यापक है।

1.2 हिन्दू विश्व दृष्टि

प्रश्न : हिन्दू विश्व दृष्टि का सामान्य स्वरूप क्या है?

उत्तर : हिन्दू विश्व दृष्टि यह है कि यह सम्पूर्ण विश्व सच्चिदानंदमय है। सच्चिदानंद का अर्थ है– सत, चित् एवं आनन्दमय ब्रह्म। सत् अर्थात् अस्तित्त्व। जो है, वही सत् है। जो नहीं है, वह असत् है। परन्तु मन और बुद्धि की मलिनता से या निर्बलता से कई बार असत् भी सत् प्रतीत होता है। इसे ही आभास कहते हैं। जैसे मरूस्थल में दूर से जल का आभास। सत्ता मात्र या अस्तित्त्वमात्र सत् है। उसके बारे में विचार करना, सुनना, मन्न करना और बोध को दृढ़ करना यह चित–मूलक क्रियायें हैं। चित् का अर्थ है चिन्मयता। आनंद तो स्पष्ट रूप से आनंद ही है। ज्ञानलाभ से ही आनंद होता है। अतः अस्तित्त्व को जानना, उसके वास्तविक स्वरूप को जानना और अवास्तविक आभास को भी आभास रूप में यानी यह आभास है, यह जानना तथा इस ज्ञानात्मक क्रिया से आनंद प्राप्त करना यह प्रत्येक व्यक्ति के मन और बुद्धि का प्रयोजन है। परन्तु मन और बुद्धि के ये व्यापार अन्नत हैं। इसलिये आनंद के भी अन्नत रूप हैं।

प्रश्न : सत्ता का स्वरूप क्या है?

उत्तर : सर्वव्यापी सत्ता का नाम है ब्रह्म। ब्रह्म की सर्वत्र सत्ता है। उसे विराट पुरूष भी कहा गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इसे अर्थात् विराट पुरूष को सत् और असत् जैसे भेदों से परे कहा गया है। उसका कोई एक रूप चित्रित या व्यक्त नहीं हो सकता। इसे ही यजुर्वेद में इस प्रकार कहा गया है – 'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद् यशः'। अर्थात् उस विराट पुरूष का यश महत् है, विराट है। अतः उसकी कोई एक प्रतिमा नहीं बनाई जा सकती। अन्नत प्रतिमायें, अन्नत मूर्तियाँ उस विराट पुरूष की ही अलग–अलग छवियाँ हैं। मूर्ति का अर्थ होता है अभिव्यक्ति। अतः उस अर्थ में प्रत्येक जीव और प्रत्येक मनुष्य भी एक मूर्ति है। जो मूर्त रूप है, वह मूर्ति है। अतः सभी मूर्तियाँ उस एक विराट पुरूष की ही आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं। परन्तु किसी भी मूर्ति के द्वारा वह सम्पूर्णतः व्यक्त नहीं होता।

इसीलिये कहा है कि एक ही मूल तत्त्व को विद्वान अलग–अलग गुणों और क्रियाओं के अभीष्ट संकेत के लिये अलग–अलग नामों से पुकारते हैं या कहते हैं। जैसे – अग्नि, यम, मातरिश्वा, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अज् और प्रजापति आदि। वही मूलतत्त्व सर्वत्र प्रकाशित है। समस्त् सृष्टि उनसे ही ओतप्रोत है। समस्त् मनुष्य और समस्त् जीव तथा समस्त् महाभूत उनसे ही उत्पन्न हैं। उनके असंख्य शीर्ष हैं,

असंख्य आँखें हैं और असंख्य पैर हैं। वर्तमान भूत और भविष्य जगत सभी कुछ वही है। वे जगत के नियामक धर्म हैं और मुक्ति के भी स्वामी वही हैं। यही हिन्दू विश्वदृष्टि है।

1.3 परमसत्ता या मूलतत्त्व का ज्ञान : सत, चित, आनन्द (सच्चिदानन्द)

प्रश्न : उस मूल तत्त्व का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है?

उत्तर : उस मूल तत्त्व को मनुष्य अपने भीतर की चिदग्नि को जाग्रत कर जान सकता है। अपने भीतर स्थित इस अमृत तत्त्व को जानकर मनुष्य ज्ञानवान होता है। अतः उसे ही चिदग्नि कहते हैं और उसके ज्ञान की प्रक्रिया को चिदग्निविद्या या अग्निविद्या कहते हैं। इस अग्नि को जानने की साधना ही यज्ञ है। इस ज्ञानसाधना का मार्गदर्शन गुरू करते हैं।

उपनिषदों में इसका विस्तार से वर्णन है। मुण्डक उपनिषद् में प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड का 9वां मन्त्र है :–

> ''यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
> तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।''

अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं, सर्वविद्याओं के स्वामी हैं, यह ज्ञानमय तप जिनका है, उनसे ही नाम–रूपात्मक जगत और समस्त् अन्न आदि समस्त् जगत है, यह ब्रह्म ही है।

फिर उसी उपनिषद में द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड का दूसरा मन्त्र है –

> दिव्यो ह्यमूर्तः पुरूषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
> अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।।

अर्थात् जो दिव्य पुरूष परमात्मा हैं वे अमूर्त हैं और बाहरी और भीतरी समस्त् जगत में व्याप्त हैं। जगत के भीतर भी हैं और जगत के बाहर भी। वे जीवन के लिये प्राण पर निर्भर नहीं हैं। और भावनाओं या क्रियाओं के लिये मन पर निर्भर नहीं हैं। वे अविनाशी परमात्मा सर्वथा शुद्ध हैं और अत्यंत श्रेष्ठ हैं।

पुनः इसी खण्ड में दसवाँ मन्त्र है –

> पुरूष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
> एतद्यो वेद निहितं गुहायाँ सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।

अर्थात् ब्रह्मर्षि अंगिरा एक महान गुरुकुल जो, आधुनिक विश्वविद्यालय के समान थे, अधिष्ठाता और 88 हजार ब्रह्मचारी ऋषियों को ज्ञान देने वाले महर्षि शौनक से कहते हैं कि हे सौम्य शौनक तप, कर्म और सम्पूर्ण विश्व, सबकुछ ब्रह्म ही है। वे हृदयरूपी गुफा में छिपे हुये अन्तर्यामी हैं। उन्हें जानने वाला मनुष्य जीवन में ही अविद्या की ग्रन्थि को खोल डालता है।

इसी प्रक्रिया को द्वितीय खण्ड के चौथे श्लोक में स्पष्ट किया गया है –

> प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

अर्थात् ओंकार को धनुष और आत्मा को बाण समझो। इस धनुषबाण से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को वेधना है यानी उसकी प्राप्ति कर उससे एकाकार हो जाना है। प्रमाद रहित होकर यह बाण चलाना पड़ता है। तब जीव परमात्मा से एकाकार हो जाता है।

इसी खण्ड के ग्यारहवें श्लोक में कहा है –

> **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।**
> **अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।**

अर्थात् जो सामने है, जो पीछे है, जो दायीं ओर है, जो बायीं ओर है, जो ऊपर है और जो नीचे है, यह सब ओर फैला हुआ विश्व वस्तुतः ब्रह्म ही है।

प्रश्न : क्या सत् ही चित् है?

उत्तर : हाँ, जो सत् है, जो आत्मसत्ता है और जो परमसत्ता है, वह विशुद्ध चित् है। चिन्मय है। आत्मसत्ता परमसत्ता का ही अंश है जो प्रत्येक प्राणी की हृदयगुफा में ज्योति की तरह निरन्तर प्रकाश फैलाती रहती है। वह परम आनन्दमय है। सत, चित् और आनन्द उसी परम सत्ता की संज्ञा है।

प्रश्न : तो क्या आत्मदर्शन ही एकमात्र आनन्द है? और कुछ आनन्द नहीं है?

उत्तर : पहली बात, आत्मदर्शन का अर्थ ही है समस्त् दृश्य जगत का जो द्रष्टा है, उसे जान लेना। यह बुद्धि का उच्चतम स्तर है। परन्तु उसके पहले के स्तरों में आनन्द के भी विविध स्तर हैं। ज्ञान के सभी स्तरों में आनन्द है। ज्ञानपूर्वक किया गया कर्म ही सत्कर्म या सुकृत है। सुकृत आनन्ददायक है। आनन्दमय नहीं। दोनों का अन्तर जानना चाहिए

आत्मज्ञान का अर्थ है सत्, चित्, आनन्दमय आत्मा को जानना। वह आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। क्योंकि आत्मा आनन्दमय है। स्वयं ही आनन्दमय है। जबकि ज्ञानपूर्वक किए गए पुरूषार्थ आनन्ददायक होते हैं। उनसे आनन्द मिलता है। जो मिलता है, उसकी सीमा है। एक समय–सीमा के बाद वह अपना प्रभाव मात्र छोड़ जाता है। बस।

जैसे, आपने जान लिया कि पृथ्वी का स्वरूप क्या है या राष्ट्र का स्वरूप क्या है या समाज का स्वरूप क्या है? या शासन का स्वरूप क्या है? यह जानना आनन्द देगा। परन्तु इसकी समय–सीमा है। वह सदा नहीं रहेगा। उसके बाद फिर, अपने लक्ष्य के अनुरूप कार्य का संकल्प आप करेंगे। यह क्रम चलता रहेगा।

आत्म–स्वरूप को जानना अर्थात अपने मूल रूप की, आत्मा की आनन्दमय स्थिति एवं स्वरूप को जानना, वह ज्ञान आनन्ददायक नहीं है। वह स्वयं आनन्द से एकाकार हो जाना है। वह अस्तित्त्व की सर्वोच्च स्थिति है। यह अत्यंत दुर्लभ दशा है।

शेष समय व्यक्ति आत्मसत्ता का अनुभव करते हुए विविध पुरूषार्थ करता है। ज्ञानपूर्वक किए गए सभी पुरूषार्थ आनन्ददायी होते हैं। वे आनन्द की अनुभूति देते हैं। मन को, बुद्धि को, आत्मसत्ता को। इसे ही रस कहते हैं। रस से अनुभव होता है कि आनन्दमय सत्ता ही इसका स्रोत है। परम आनन्दमय परमात्मा ही जगत रूप में व्यक्त है। इसीलिए यह जगत सुकृत है। जगत के नियमों के ज्ञान के साथ किए जाने वाले सब कार्य भी सुकृत कहे जाते हैं।

रस चिन्मय है। चेतनामय है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानंद वल्ली के 7वें अनुवाक् में कहा गया है –

'यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसॅं ह्योवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।'

अर्थात् जो सुकृत है, सत्कर्म और श्रेष्ठ पुरूषार्थ हैं, वही रस है। उस रस को प्राप्त कर जीवात्मा आनंदयुक्त होता है। क्योंकि परमात्मा आनन्दमय है और उनके इस विश्व रूप में जो कुछ भी सृष्टि चक्र के सनातन नियम हैं, उनका पालन करते हुये पुरूषार्थ करना ही आनंद का वास्तविक मार्ग है।

परमात्मा के सिवाय आनंद का स्रोत और कोई नहीं। परमात्मा के ही कारण यह चिदाकाश है और प्राण हैं। प्राणों की क्रिया उनसे ही सम्भव है। उस परमात्मा को पाने से (जानने से) निर्भय पद प्राप्त हो जाता है (अथ सोऽभयं गतो भवति)।

प्रश्न : क्या गुरू के उपदेश से ही मूलतत्त्व का ज्ञान हो जाता है?

उत्तर : नहीं। गुरू वाणी से जो उपदेश देते हैं, उसे आपका मन और बुद्धि ग्रहण करते हैं। इस मन और बुद्धि के ग्रहण की प्रक्रिया का विस्तार हमारे शास्त्रों में है। विशेषकर योगशास्त्र मन और बुद्धि के विषय में ही ज्ञान देते हैं। उस ज्ञान के अनुरूप मन को शुद्ध और बुद्धि को निर्मल बनाना होता है। परन्तु इसके साथ ही सांसारिक जीवन में अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसकी भी एक प्रक्रिया है और उसमें भी उचित् और अनुचित, सद और असद, सही और गलत का विवेक आवश्यक होता है। यह विवेक भी शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त होता है। यद्यपि सर्वोच्च ज्ञान तो आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही है।

प्रश्न : तो क्या आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की साधना ही मानवजीवन का लक्ष्य है?

उत्तर : नहीं, वह जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। परन्तु जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण लक्ष्य भी हैं। जीवन के इन लक्ष्यों को चार पुरूषार्थों के रूप में हिन्दू शास्त्रों ने विभाजित किया है। वे हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरूषार्थों की जीवन में साधना की जाती है। कुछ ऐसे उन्नत चित्त व्यक्ति होते हैं जो बोध का स्तर प्राप्त करते ही सर्वोच्च लक्ष्य की साधना की ओर अग्रसर होते हैं। पर ऐसे लोग थोड़े ही होते हैं। भगवान बुद्ध ने भी कहा है – 'अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः'। अर्थात् भवचक्र से पार जाने की योग्यता वाले व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। शेष लोग अपने संस्कारों के अनुरूप पुरूषार्थ करते हैं।

इस परमसत्ता या ब्रह्म के ज्ञान की साधना विशेष तप और विशेष स्वाध्याय मांगती है। परन्तु शेष समय सामान्यतः लोग अपने संस्कारों के अनुरूप ही बरतते रहते हैं। धर्म, धर्ममय अर्थ और धर्ममय काम – ये त्रिवर्गीय पुरूषार्थ उनके कार्यक्षेत्र हैं। उन पुरूषार्थों से भी आनन्द प्राप्त होता है। वे सब आनन्द–रूप भी परमानन्द परब्रह्म की ही आंशिक झलक हैं। विशिष्ट लोग परमानन्द परब्रह्म और आत्म–स्वरूप को जानने का पुरूषार्थ करते हैं। उसे ही परम पुरूषार्थ कहा जाता है। तब शेष सब पुरूषार्थों का मोह छूट जाता है। इस प्रकार संस्कार–भेद से जीवन के लक्ष्यों में भिन्नता होती है।

प्रश्न : संस्कारों का निर्माण किस प्रकार होता है?

उत्तर : चित्त में यानी बुद्धि और मन में किसी भी विषय के ज्ञान का जो प्रभाव पड़ता

है, उसे संस्कार कहते हैं और साथ ही जो इच्छा और आकांक्षा तथा संकल्प जन्म लेते हैं, उनका प्रभाव भीमन और बुद्धि पर पड़ता है, उसे भी संस्कार कहते हैं। साथ ही व्यक्ति जो भी क्रियायें करता है उन क्रियाओं से सम्बंधित कार्यव्यापार सम्बन्धी जानकारियों और मनोभावों की भी एक छाप पड़ती है उसे भी संस्कार कहते हैं।

प्रत्येक भाव प्रत्यय एवं विचार प्रत्यय संस्कार के रूप में चित्त में रह जाते हैं। संस्कारों की बहुत शक्ति होती है। चित्त का कोई ज्ञान या कोई भी क्रिया होने से उस पर जो प्रभाव या छाप पड़ती है या धृतभाव यानी इम्प्रेशन रह जाता है, उसे ही संस्कार कहा जाता है। संस्कार ज्ञानमूलक और क्रियामूलक दोनों प्रकार के होते हैं। स्मृति से ज्ञानसंस्कार बनते हैं और क्रियाओं से क्रियासंस्कार बनते हैं। संस्कार ही कर्म का प्रेरक बनता है।

प्रत्येक जीव या प्रत्येक व्यक्ति जन्म–जन्मान्तर में जो क्रियायें करता है अथवा जो ज्ञान – साधना करता है या जो अभीप्सायें और आकांक्षायें करता है, तीव्र या प्रबल होने पर वे संस्कार के रूप में सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ी रहती हैं। अतः वर्तमान जन्म में वे संस्कार ही अलग–अलग आकांक्षाओं, लालसाओं और संकल्प को जन्म देते हैं। इनकी पूर्ति के प्रयास को ही भोग कहते हैं। संस्कारों का भोग करना ही होता है। योगी उन्हें योगसाधना से नष्ट कर देते हैं अर्थात् दग्धबीज कर देते हैं। तब वे संस्कार नहीं बचे रहते। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति के भीतर वर्तमान जन्म और विगत जन्म के संस्कार होते हैं। जो उसमें कतिपय कार्य करने और कतिपय उद्देश्य सिद्धि की तीव्र आकांक्षा जगाते रहते हैं। अनुकूल परिवेश होते ही वे आकांक्षाएँ कर्म का कारक या कर्म की प्रेरक बनती हैं। इसीलिये संस्कारों का परिष्कार करना कर्त्तव्य है। अर्थात् संस्कारों को निखारना या ऊँचा उठाना आवश्यक है। यह कार्य मन की गति और स्वभाव को जानकर ही सम्भव है। जानना बुद्धि की क्रिया है। इसलिये बुद्धि के स्वरूप को भी जानने पर हिन्दू जीवन में बल दिया गया है। जब हम बुद्धि और मन के स्वरूप के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब मन स्ववश हो जाता है और बुद्धि कर्त्तव्य का सही मार्ग दिखाती है।

1.4 मन और बुद्धि का स्वरूप

प्रश्न : मन और बुद्धि के स्वरूप को कैसे जानें?

उत्तर : सर्वप्रथम तो इनके स्वरूप को शास्त्रों को पढ़कर ही जाना जाता है। परन्तु शास्त्रों को पढ़ने की योग्यता भी जन्मजात नहीं होती। शिक्षा के द्वारा वह योग्यता अर्जित की जाती है। फिर इनके स्वरूप को एकबार पढ़ लेने या सुन लेने पर भी वह ज्ञान स्थिर नहीं रहता। अतः उस जाने हुये को स्थिर करने के लिये साधना की कतिपय प्रक्रियायें आवश्यक होती हैं।

प्रश्न : मन और बुद्धि का वह स्वरूप है क्या?

उत्तर : मन को 11वीं इन्द्रिय कहा गया है। उसे अन्तरिन्द्रिय भी कहा गया है। 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, ये 10 इन्द्रिया होती हैं। 5 कर्मेन्द्रियाँ हैं – हाथ, पैर, वाणी, मलद्वार, मूत्रद्वार। 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हैं – आँख, कान, नाक, जीभ और स्पर्श की सम्वेदना में समर्थ त्वचा। मन इनके अतिरिक्त 11वीं इन्द्रिय है। संकल्प–विकल्प सब मन में ही होते हैं।

सांख्यदर्शन के द्वितीय अध्याय का 26वाँ सूत्र है –

'उभयात्मकं मनः'।

अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ सम्बद्ध है। बाह्य इन्द्रियाँ या कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् वाणी, हाथ, पैर, जांघ, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (मूत्रद्वार) भी मन से सम्बद्ध हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धीन्द्रियाँ – नाक, कान, आँख, रसना और त्वचा भी उससे सम्बद्ध है। सभी इन्द्रियाँ अहम् भाव की ही उत्पत्ति हैं। इन्द्रियाँ सत्वगुण प्रधान हैं। इसीलिये वे अर्थ–प्रकाशक हैं। विषय के साथ इन्द्रियों का ही सम्बन्ध होता है। बाहरी विषयों के साथ आँख आदि का सम्बन्ध होने पर ही देखना, सुनना, सँघना, चखना तथा स्पर्श की प्रतीति होती है। परन्तु बुद्धि तक उन प्रतीतियों और अनुभवों को मन ही पहुँचाता है। इन्द्रियाँ करण हैं जिनके द्वारा विषयों का अर्थ बुद्धि तक मन के द्वारा पहुँचता है। इन्द्रियों का यह समस्त् कार्यव्यापार ही इन्द्रियवृत्ति कहलाता है।

इसी द्वितीय अध्याय का 32वां सूत्र है – 'क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः'।

अर्थात् इन्द्रियों की प्रवृत्ति क्रमशः होती है और कई बार कई स्थितियों में इतनी तीव्रता से होती है कि वे एक साथ हो रही दिखती हैं।

सामान्यतः सभी इन्द्रिय व्यापार क्रमशः ही होते हैं। जैसे कोई वस्तु सामने दिखती है तो आँखों से उसे देखने की क्रिया होती है। फिर मन उसके विषय में संकल्प–विकल्प करता है कि वह वस्तु सचमुच क्या है। अन्त में बुद्धि उसका निश्चय करती है कि यह अमुक वस्तु है। तो जो उस विषय में संकल्प–विकल्प है, वह मन का कार्य है और उस विषय में निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचना बुद्धि का कार्य है। फिर बुद्धि ही उसके विषय में निर्णय लेती है। बुद्धि का यह निर्देश मन सम्बंधित इन्द्रिय तक पहुँचाता है और तब इन्द्रिय वह व्यापार करती है। जैसे आपने फूल को देखा। देखने का कार्य आँखों ने कियामन ने उस सम्वेदना को बुद्धि तक पहुँचायाँ बुद्धि ने पहचाना कि यह फूल है और इसे तोड़कर आज पूजा में ले जाना है। बुद्धि के इस निर्णय को मन ने इन्द्रिय तक पहुँचाया और हाथ उसे तोड़ने के लिये बढ़ गये। यह क्रम व्यापार है जो क्रमशः होता है। परन्तु कभी–कभी ऐसा भी होता है कि जैसे जंगल में या अन्धेरे में आप जा रहे हैं जहाँ कुछ सूझ नहीं रहा। तभी बिजली चमकती है और सामने एक सांप दिखता है। आप तेजी से पीछे हटते हैं। इस प्रकार इन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार एक साथ काम करते दिखते हैं। अहंकार यहाँ इसलिये कहा कि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि सभी अहम् भाव के ही परिणाम है। देखना, पहचानना, दूर जाने का निर्णय लेना सब एक साथ होता है, ऐसा लगता है। क्योंकि वह बड़ी तीव्रता से एक–एक कर होता है। तीव्रता से होने के कारण उनके बीच का अन्तर बहुत कम होता है। इसलिये वह एकसाथ होता दिखता है।

बाहरी विषयों के बुद्धि तक पहुँचने में इन्द्रियों का अत्यधिक सहयोग है। इसीलिये इन्द्रियों को करण माना गया है। बुद्धि तक बाहरी विषय पहुँचाने का काम इन्द्रियाँ और मन ही करते हैं। ये इन्द्रियाँ कुल 11 कही गई हैं, 5 कर्मेन्द्रियाँ और 5 बुद्धीन्द्रियाँ (या ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा 11वा मन जो आन्तर इन्द्रिय है।

सांख्यदर्शन, द्वितीय अध्याय का 40वा सूत्र है – 'द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु'।

अर्थात् मन आन्तर और बाह्य दोनों का ही प्रधान करण है। दसों बाहरी इन्द्रियों की आन्तर इन्द्रिय मन है। इसलिये मन उस मुख्य राजपुरूष की तरह है जो राजारूपी

बुद्धि की इच्छानुसार इन्द्रियरूपी भृत्यों से सब काम कराता है। सभी दसों इन्द्रियाँ अपने नियत विषय का ही ग्रहण करती हैं, जैसे– आखें देखती हैं, वे सुन नहीं सकती। इसी प्रकार कान सुनते हैं, देख नहीं सकते। इसी प्रकार जीभ चखती है, देख और सुन नहीं सकती तथा नाक सँघती है, अन्य इन्द्रिय–कार्य नहीं कर सकती। मन इन समस्त् विषयों का ग्रहण और संकल्प–विकल्प करता है और बुद्धि अन्तिम निश्चय करती है। इसीलिये मन को प्रधान और आन्तर इन्द्रिय कहा गया है। बुद्धि इन सबमें प्रधान है क्योंकि अन्त में बुद्धि ही उस विषय में निर्णय करती है।

वस्तुतः चित्त–रूप में परिणत जो सत्व गुण है, वही बुद्धि है। उसे ही विशुद्ध ज्ञानवृत्ति भी कहते हैं। योगसूत्र में समाधिपाद के दूसरे सूत्र – 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के व्यासभाष्य में व्यास कहते हैं – 'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्वं।' विवेकबुद्धि सत्वगुण प्रधान है। इसे ही बुद्धि का प्रकाश कहते हैं। विवेक ही बुद्धि का प्रकाश है। अविवेक बुद्धि का अन्धकार है।

योगसूत्र के विभूतिपाद का 35वे सूत्र का भाष्य करते हुये व्यास कहते हैं – 'बुद्धिसत्वं प्रख्याशीलं', अर्थात् बुद्धिसत्व प्रकाशक है यानी वह ज्ञानरूपी प्रकाश देने में समर्थ है। यही बुद्धिसत्व जब रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर आत्मा के सम्यक स्वरूप को देखता है, तब वह आत्मा के सदृश ही दिखायी पड़ने लगता है। जब बुद्धि उस स्तर को प्राप्त कर लेती है कि वह शुद्ध आत्मा का प्रतिबिंब बन जाती है, तब यह ज्ञान की उच्चतम दशा है।

न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय का 15वा सूत्र है – 'बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।'

अर्थात् बुद्धि, ज्ञान और ज्ञानात्मक उपलब्धि ये तीनों एक ही हैं। 'बोधनम् बुद्धि' अर्थात् जानना ही बुद्धि है और इस रूप में यह पद ज्ञान का पर्यायवाची हो जाता है।

बुद्धि की एक अन्य व्याख्या है– 'बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः'।

अर्थात् जिससे जाना जाये, वह बुद्धि है। इस अर्थ में बुद्धि ज्ञान का साधन है। बुद्धि के ये दोनों ही रूप होते हैं। विशुद्ध बुद्धि वस्तुतः विशुद्ध ज्ञान है और शेष समय बुद्धि ज्ञान का साधन है।

मनुष्य जो भी प्रवृत्ति करता है वह शरीर, वाणी और बुद्धि से की जाने वाली क्रियाओं का रूप ही है। न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय का 17वा सूत्र है – 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः'।

इसीलिये कहा गया है कि बुद्धि वह भोग है जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि अर्थों और विषयों के अनुभव के रूप में आत्मा को होता है। इस अर्थ में समस्त् भोग और समस्त् अनुभव वस्तुतः बौद्धिक भोग एवं बौद्धिक अनुभव ही हैं। आत्मा का मूल स्वरूप उनसे अप्रभावित रहता है। क्योंकि आत्मा विशुद्ध है, चिन्मय है, चिति है, अपरिणामिनी और अपरिवर्तनशील है। समस्त् भोग आत्मा के समक्ष उपस्थित बौद्धिक अनुभव हैं। आत्मा बुद्धि के द्वारा भोक्ता है परन्तु वस्तुतः वह शुद्ध चिन्मयसत्ता है। भगवद्गीता में कहा है कि आत्मा इस रूप में उपद्रष्टा, अनुमन्ता (यानी अनुमति देने वाला), भोक्ता तथा भर्ता है। परन्तु उसका मूल रूप शुद्ध चैतन्य है। बुद्धि के द्वारा वह भोगता है। परन्तु उस रूप में समस्त् भोग दृश्य मात्र हैं। वे अविकारी दृष्टा पर कोई भी प्रभाव डालने में असमर्थ रहते हैं। दृष्टा दृश्य को जान लेता है। यही उसका भोग है। दृष्टा शुद्ध चिन्मय सत्ता है और सदा सभी भोगों से अलिप्त रहता है। परन्तु दृष्टा शुद्ध

चिन्मय सत्ता है, यह बोध जन्मजात नहीं होता। क्योंकि व्यक्ति विविध संस्कारों और चित्तमल या कषाय के साथ ही जन्म लेता है। अतः सुदीर्घ साधना के द्वारा ही वह मन और बुद्धि के स्वरूप को जानकर आत्मसत्ता की उनसे निर्लिप्तता को जान पाता है।

ऐसा बोध होते ही समस्त् बुद्धि–व्यापार अर्थात् समस्त् भोग दृष्टा के लिये व्यर्थ हो जाते हैं। उनसे विरक्ति हो जाती है। वे आत्मबोध में बाधा दिखते हैं। अर्थात शुद्ध चैतन्य रस यानी आनन्द में वे बाधा दिखते हैं। मलप्रवाह दिखते हैं। कषाय राशि दिखते हैं। अतः उधर गति ही नहीं होती। जिस प्रकार शौच यानी आन्तरिक और बाह्य पवित्रता से अंगो के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है (इसे ही योगदर्शन में कहा गया है – 'शौचात् स्वांग जुगुप्सा, परैरसंसर्गः'), उसी प्रकार आत्मज्ञान से बुद्धि व्यापारों से ही जुगुप्सा हो जाती है और उससे संसर्ग का संकल्प नहीं उठता। तब द्रष्टा स्वरूप में अवस्थित होता है। योगदर्शन की भाषा में – 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेः अवस्थानं'।

प्रश्न : तो क्या मन और बुद्धि का स्वरूप जानने का प्रयोजन केवल आत्मज्ञान यानी द्रष्टा का स्वरूप ज्ञान ही है?

उत्तर : नहीं। केवल द्रष्टा यानी आत्मा को जानने का भाव और संस्कार ही मुख्य हो, ऐसे लोग विरले ही होते हैं। परन्तु संसार में अपना काम दक्षता और कुशलता से करने के लिये भी मन और बुद्धि के स्वरूप को जानना आवश्यक है।

हम जो कुछ भी जानते हैं, उस जानने को प्रमा कहा जाता है। प्रमा का अर्थ है यथार्थ और सम्यक ज्ञान। इसका उलटा अप्रमा है। अप्रमा का अर्थ है अयथार्थ या भ्रान्त ज्ञान। अतः प्रमा और अप्रमा दोनों का स्वरूप जानने से मन और बुद्धि स्वस्थ सम्यक रहते हैं।

1.5 मन के गुण और धर्म

प्रश्न : मन और बुद्धि के गुण और धर्म क्या है?

उत्तर : क्रमशः इन्हें समझना उचित् होगा। सर्वप्रथम मन के गुण और धर्म को समझते हैं। मन अभौतिक पदार्थ है। वह महाभूतों से उत्पन्न नहीं होता। मन अहम्भाव से उत्पन्न है। इसे न्यायदर्शन में 12 प्रमेयों में से एक कहा गया है।

प्रश्न : प्रमेय क्या हैं और वे क्तिने होते हैं?

उत्तर : प्रमा का अर्थ है यथार्थ ज्ञान। जिन वस्तुओं का या तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, उन्हें प्रमेय कहते हैं। प्रमा का जो करण है अर्थात् साधन या माध्यम है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण बुद्धि के विषय हैं। उन पर विचार आगे बुद्धि पर विचार के क्रम में करेंगे। प्रमा से जो जाना जाता है, उसे प्रमेय कहते हैं। ये प्रमेय न्यायदर्शन के अनुसार 12 हैं। जिनका उल्लेख न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के 9वें सूत्र में है –

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।।

अर्थात् 12 प्रमेय हैं – आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। इनमें आत्मा ही प्रधान है। क्योंकि वही चेतन तत्त्व है और वही द्रष्टा और भोक्ता है। शरीर आत्मा के भोगों का आधार है। अर्थात् शरीर के रहने पर ही सुख दुःख आदि के भोग होते हैं। शरीर के बिना कोई भोग प्राप्त होना सम्भव नहीं होता। इन्द्रियाँ ही भोग का करण हैं और मन आन्तर इन्द्रिय है तथा बुद्धि समस्त्

अनुभवों का आधार है। इसीलिये मन और बुद्धि को जानना, उनके सम्यक स्वरूप को जानना सर्वोपरि आवश्यक है। आत्मा के भोक्तव्य विषय को अर्थ कहते हैं। गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये आधारभूत अर्थ हैं। ये इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होते हैं और मन इनको बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय शरीर कहा जाता है(चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्यायदर्शन 1/1/11)। ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नपूर्वक होने वाली क्रिया को चेष्टा कहते हैं। शरीर ही इसका आधार है।

प्रवृत्ति और दोष शरीर तथा इन्द्रियों से सम्बंधित है। एक देह त्यागकर अन्य देह में जाने की गति का नाम प्रेत्यभाव है। सुःख दुःख आदि सभी उपभोग फल कहे जाते हैं। अपवर्ग का अर्थ हैमोक्ष। इस प्रकार ये 12 प्रमेयो की सार रूप में व्याख्या है। न्यायदर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुःख दुःख और ज्ञान ये आत्मा के परिचायक चिन्ह (लिंग) हैं। उक्त अध्याय और आह्निक का 10वां सूत्र है – 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।'

इन्द्रियों की रचना पंचमहाभूतों से है। पृथ्वी से गंध, जल से रस, अग्नि से तेज, आकाश से शब्द और वायु से स्पर्श। ये पाँच आधारभूत इन्द्रिय विषय हैं।

मन का चिन्ह यह कहा कया है कि वह एक साथ ज्ञान को ग्रहण नहीं करता, क्रमशः ही करता है। प्रतिकूल अनुभूति का होना ही दुःख है। दुखों की अत्यन्त समाप्ति को अपवर्ग कहते हैं।

1.6 बुद्धि के गुण और धर्म

प्रश्न : बुद्धि के गुण और धर्म क्या हैं?

उत्तर : बुद्धि एक महान शक्ति है। वह प्रकृति का एक अतिविशिष्ट रूप है। उसके द्वारा ही व्यक्ति बोध ग्रहण करता है। बोध ग्रहण करने की प्रक्रिया औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा से ही निर्धारित होती है। इसी को महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में साधनपाद नामक दूसरे अध्याय के 17वें सूत्र में इन शब्दों में कहा है – 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।'

अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही हेय का हेतु है। आत्मसत्ता या पुरूष को ही द्रष्टा कहा जाता है। मनुष्यों को जो भी सुख या दुख के अनुभव होते हैं, वे बुद्धि में ही होते हैं। वस्तुतः जिसे वासना कहते हैं, उसकी केवल स्मृति होती है। जब वह कर्माशय का आधार बनती है, तब वह सुख या दुख देती है। वासना कर्माशय का आधार किस प्रकार बनती है, इसका वर्णन योगशास्त्र में किया गया है। पुण्य कर्मों से पुण्य कर्माशय बनते हैं और पापकर्मों से पाप के कर्माशय बनते हैं। इस प्रकारपुण्य और पाप का विवेक आवश्यक है। यह विवेक भी बुद्धि में ही होता है। अतः बुद्धि के द्वारा शास्त्रों का अध्ययन करके अथवा गुरू से सुनकर पुण्य और पाप के स्वरूप को जानना आवश्यक है। चित्त का जैसा स्तर होगा, वैसी ही उसकी दृष्टि होगी। इसलिये स्वस्थ विश्वदृष्टि के लिये स्वस्थचित्त का होना आवश्यक है।

प्रश्न : स्वस्थ चित्त और अस्वस्थ चित्त का भेद समझाइए?

उत्तर : ज्ञान सम्पन्न चित्त स्वस्थ है। अज्ञान में डूबा या निमग्न या अज्ञान में रत चित्त अस्वस्थ है। स्वस्थ चित्त सदा प्रामाणिक ज्ञान की खोज में रहता है। वह विपर्ययों या विकल्पों में अर्थात मानसिक भटकावों में नहीं भटकता। प्रमाण में ही ध्यान देता है।

प्रश्न : प्रमाण क्या हैं और वे त्किने प्रकार के हैं?

उत्तर : प्रमा का करण ही प्रमाण है। अर्थात ज्ञान का जो साधन है, वही प्रमाण है। सत्य ज्ञान, सम्यक ज्ञान, सही ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रमाण के मुख्य भेद तीन हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। योगसूत्र में समाधिपाद का सातवां सूत्र है – 'प्रत्यक्ष अनुमान आगमः प्रमाणानि।' जो प्रत्यक्ष दिखता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिसका अनुमान किया जाए और तर्क तथा विवेक से प्रामाणिक सिद्ध हो, वह अनुमान प्रमाण है। जो शास्त्रों एवं आप्त पुरूषों के कथन हैं, वे आगम प्रमाण हैं। जिसने तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया है उसे आप्त कहते हैं।

प्रमाण से स्मृति अलग है। पहले से अनुभूत विषय का स्मरण रहना या स्मरण होना स्मृति है। जबकि प्रमाण का प्रश्न नवीन ज्ञान के सन्दर्भ में उठता है।

शास्त्रों में प्रमाणों की सूक्ष्म विवेचना विस्तार से की गई है। न्यायदर्शन में उपमान को चौथा प्रमाण कहते हैं जो इन तीन के अतिरिक्त भेद हैं। सादृश्य के आधार पर परीक्षण कर उपमान प्रमाण निश्चित किया जाता है। विलक्षणता के आधार पर भी उपमान का निश्चय हो सकता है। जैसे अगर कोई वनवासी किसी किसान को बताये कि वन में उड़द जैसा कोई पौधा दिखे तो उसे माषपर्णी औषधि जानो। किसान वन में जाकर उसे सादृश्य के आधार पर पहचान ले, तो यह उपमान हुआ।इसी प्रकार कोई बताये कि विशाल भैंसे जैसा कोई प्राणी वन में दिखे, जिसकी नाक पर सींग हो, तो वह गेंडा होगा। तो वन में जाकर विलक्षणता के आधार पर उसे पहचान लेना भी उपमान प्रमाण है।

स्वस्थ चित्त व्यक्ति विद्या के द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि प्रमाणों के आधार पर किसी वस्तु या तत्त्व को प्रामाणिक रूप से जानता है।

प्रश्न : अस्वस्थ चित्त के क्या लक्षण हैं?

उत्तर : अज्ञान में डूबा चित्त अस्वस्थ चित्त है। चित्त की अस्वस्थता अविद्या से होती है अर्थात् अज्ञान से होती है। इसलिये अज्ञान को दूर करना परम कर्त्तव्य है। अज्ञान दूर होने पर ही विश्व का सही स्वरूप जाना जा सकता है। अगर बुद्धि अज्ञानग्रस्त् है या उसमें मल और कषाय भरे हैं, तो वह विश्व को भी दूषित रूप में देखेगी। इसीलिये बुद्धि की निर्मलता की साधना सर्वाधिक आवश्यक है।

प्रश्न : बुद्धि की मुख्य वृत्तियाँ क्या हैं?

उत्तर : बुद्धि की तीन वृत्तियाँ होती हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त। जाग्रत बुद्धि में ही प्रत्यय का स्पष्ट ज्ञान होता है। स्वप्न और सुषुप्ति की वृत्तियों में अभाव का प्रत्यय होता है जो बुद्धि के सत्वगुण को ढक लेता है। इसे ही तमोगुणी प्रभाव कहते हैं।

प्रश्न : बुद्धि के कार्य क्या हैं?

उत्तर : बुद्धि का अर्थ है ज्ञान होना। अतः ज्ञान ही बुद्धि का कार्य है। इसके साथ ही ज्ञान का साधन भी बुद्धि ही है। अतः ज्ञान प्राप्त करना यानी ज्ञान का साधन बनना, यह भी बुद्धि का कार्य है। इस विषय में न्यायदर्शन में प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक का 15वां सूत्र है –

'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।'

अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये तीनों ही पद एक ही अर्थ के वाचक हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम तो सामान्यतः बुद्धि का मुख्य कार्य है – जानना। 'बोधनं बुद्धिः'। अतः इस अर्थ में बुद्धि ज्ञान का पर्यायवाची ही हो जाती है। ज्ञान की ही उपलब्धि होती है। अतः बौद्धिक उपलब्धि ज्ञान ही है। परन्तु इसके साथ ही बुद्धि का एक निर्वचन यह भी है कि 'बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः' अर्थात् जिससे जाना जाये, वह बुद्धि है। इस अर्थ में बुद्धि ज्ञान का साधन है। इस प्रकार बुद्धि ज्ञान है और ज्ञान का साधन भी है। बुद्धि का मुख्य कार्य ज्ञान ही है। ज्ञान का बोध चेतन आत्मा को होता है।

प्रश्न : सृष्टि के स्वरूप पर प्रकाश डालें?

उत्तर : सृष्टि के मूल में त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ये तीन गुण हैं – सत्व, रज और तम। साम्यावस्था में ये प्रकृति में साम्य रूप में रहते हैं। जब इन गुणों की विषमता होती है अर्थात् साम्य अवस्था भंग होती है और विक्षोभ होता है, तभी यह विविधतापूर्ण सृष्टि बनती है। इस क्षोभ और विषमता की स्थिति को प्रकृति की विकृति कहते हैं। पाँच महाभूत, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय मन। ये 16 विकृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त 7 ऐसे तत्त्व होते हैं जिन्हें प्रकृति–विकृति कहते हैं। वे हैं – प्रकृति से महत् तत्त्व का बनना। महत् तत्त्व से महान अहंकार या अहम् तत्त्व और फिर उनकी 5 तन्मात्रायें। जिन्हें रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, गन्ध तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा और शब्द तन्मात्रा कहते हैं। ये 5 तन्मात्रायें और अहम् तथा महत् इन 7 को प्रकृति–विकृति कहते हैं।

इस प्रकार एक प्रकृति, 7 प्रकृति–विकृति और 16 विकृतियाँ ये 24 तत्त्व हुये। 25वाँ तत्त्व है पुरुष यानी जीवात्मा। जो 24 तत्त्वों से स्वतन्त्र है। इन 25 तत्त्वों से यह सृष्टि होती है। अतः इन 25 तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद मन के स्वरूप को ठीक–ठीक जाना जा सकता है।

प्रश्न : सृष्टि को हम जानते कैसे हैं?

उत्तर : बुद्धि के द्वारा। यह बुद्धि महत तत्त्व की अभिव्यक्ति है। वह बुद्धि ही 16 विकृतियों को जान पाती है और स्वाध्याय तथा अभ्यास से प्रकृति–विकृति और प्रकृति को भी जान पाती है। यानी वह 24 तत्त्वों को जान सकती है। इसीलिये बुद्धि सर्वाधिक उन्नत तत्त्व है। सबकुछ उसके द्वारा ही जाना जाता है। परन्तु बुद्धि को भी क्रमशः अधिक उन्नत और परिष्कृत बनाने की साधना करनी होती है। बुद्धि ही मन पर नियन्त्रण रख सकती है। इसी को भगवद् गीता में अध्याय 3 के श्लोक 42 में इन शब्दों में कहा गया है –

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

अर्थात् स्थूल रूप से दिखने वाले सामान्य शरीर की तुलना में इन्द्रियाँ अधिक सूक्ष्म और अधिक बलवान होती हैं। अतः वे शरीर से श्रेष्ठ मानी जाती हैं। इन्द्रियों से श्रेष्ठ है मन और उस मन से भी श्रेष्ठ है बुद्धि। जो बुद्धि से श्रेष्ठतम है और परे है, वह है आत्मा।

इसीलिये भगवान कृष्ण ने अगले श्लोक में अर्जुन को निर्देश दिया –

> एवं बुद्धेः परंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
> जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।

अर्थात् हे अर्जुन आत्मा को बुद्धि से भी पर अर्थात श्रेष्ठतर, सूक्ष्मतर और अधिक बलवानजानकर बुद्धि के द्वारा मन को वश में रखो तभी तुम कामनाओं और ऐषणाओं तथा मोह, लोभ, क्रोध, मद, राग और द्वेष सभी को नियन्त्रित कर सकोगे।

इस प्रकार यह मन और बुद्धि के विषय में हमारे शास्त्रों का साररूप श्रीमद्भगवद् गीता में बताया गया है।

1.7 मन और बुद्धि का विश्वदृष्टि से सम्बन्ध

प्रश्न : क्या विश्वदृष्टि मन और बुद्धि से रूपायित होती है?

उत्तर : निश्चय ही। समस्त् विश्व को प्रत्येक व्यक्ति अपने—अपने मन और बुद्धि के द्वारा ही देख पाता है। किसी भी वस्तु या क्रिया का स्वरूप, देखने वाले मन और बुद्धि की संरचना से निर्धारित होता है। अर्थात् देख रही दृष्टि और घट रही या विद्यमान घटना और क्रिया दोनों जीवात्मा के स्तर पर युगपत अर्थात् साथ—साथ हैं। दोनों की अन्तःक्रिया का परिणाम देखना होता है। अतः एक ही घटना और क्रिया को मन और बुद्धि की संरचना के भेद से व्यक्ति अलग—अलग रूप में देखते और समझते हैं। इसी प्रकार विश्व को भी व्यक्ति कैसे देखता और समझता है, यह उसके मन और बुद्धि के स्वरूप पर निर्भर है। यानी विश्वदृष्टि बनती है बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान से और मन की वृत्तियों से।

प्रश्न : स्मृति, अनुभव और विश्व का परस्पर सम्बन्ध क्या है?

उत्तर : अनुभव किये हुये विषय का चित्त में यथावत ज्ञान होना स्मृति है। स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है। अनुभव से जानी हुई बात को या वस्तु को अनुभूत कहते हैं। प्रत्येक अनुभूत वस्तु का संस्कार भी चित्त में पड़ता है। इस प्रकार बुद्धि की देखने की शक्ति ज्ञान से निर्धारित होती है और हम विश्व को वैसे ही देखते हैं जैसी हमारी बुद्धि होती है। इसीलिये बुद्धि को निर्मल करने पर हिन्दू धर्म में निरन्तर बल दिया जाता है। इस निर्मल बुद्धि से ही सही विश्वदृष्टि प्राप्त होती है। शास्त्रों का ज्ञान ग्रहण करने के लिये भी सही विश्वदृष्टि आवश्यक है जो निर्मल बुद्धि के द्वारा सम्भव है।

शास्त्रों में वर्णित विश्व इस प्रकार का है। बृहदारण्यक उपनिषद के शब्दों में — 'आरम्भ में पुरूष के रूप में केवल ब्रह्म था। उसने अन्य की कामना से अपना विस्तार कियातब एक ही दो भागों में विभक्त हो गया — नर और नारी रूप में। मनुष्य को उत्पन्न करने के साथ ही ब्रह्म ने अनगिनत जीव उत्पन्न किये। वे सभी जीव ब्रह्म से उत्पन्न हुये और उसमें ही लीन हो जाते हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई सगुण विश्व नहीं। वस्तुतः ब्रह्म का पूरी तरह वर्णन करना इसलिये असम्भव है कि वर्णन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ब्रह्म का ही अंश है। अतः अंश अंशी का वर्णन नहीं कर सकता। जैसे हमारा हाथ स्वतः हमारे व्यक्तित्व के विषय में पूर्ण रूप से नहीं लिख सकता। मन, बुद्धि, अध्ययन, ज्ञान, शास्त्र, लोक सबका आश्रय लेकर ही वह समस्त् व्यक्तित्व का वर्णन कर सकता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति ब्रह्म का अनुभव और दर्शन साधना के द्वारा कर सकता है। परन्तु ब्रह्म का पूरा वर्णन कोई भी व्यक्ति रूप में नहीं कर सकता। जबकि स्वयं ब्रह्ममय आत्मा को या आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप को साधना और तप के द्वारा जान सकता है, देख सकता है।

अतः विश्व के विषय में किये गये सभी वर्णन – वर्णनकर्त्ता की बुद्धि से रूपायित और निर्धारित होते हैं। उसमें विश्व का आंशिक निरूपण ही हो पाता है। विश्व इन सभी निरूपणों से वृहत्तर और महत्तर है। इसीलिये शास्त्रों में कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों और अन्नत कोटि सृष्टियों की बात कही गई है जिनको सामान्य बुद्धि से देखा जाना सम्भव नहीं है। इसी बात को शास्त्रों ने कहा है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है, वर्णनातीत है। उस वर्णनातीत ब्रह्म को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूपों में संकेतित किया है।

प्रश्न : जीवात्मा, ईश्वर और जगत का सम्बन्ध शास्त्रों के अनुसार क्या है?

उत्तर : ईश्वर, जीवात्मा और जगत – इन तीनों के विषय में भारतीय शास्त्रों में विराट साहित्य है। सामान्य व्यक्ति उस सबको पढ़ भी नहीं पाता, जानना तो बहुत दूर की बात है। अतः मुख्य बात यह है कि शास्त्रों के ज्ञान के प्रकाश में सामान्य मानवधर्म का भलीभांति ज्ञान प्राप्त कर अपने संस्कारों और समाज में अपनी स्थिति तथा अपनी आन्तरिक सामर्थ्य के अनुरूप स्वधर्म का निश्चय करें और उसके लिये ही कार्य करें।

परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि विश्व के विषय में ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं। ऐसा होता तो हमारे पुराणों में विश्व का इतने विस्तार से वर्णन नहीं होता। पुराणों में जगत का विशद रूप वर्णित है। द्वीपों, वर्षों, पर्वतों, समुद्रों, नदियों, उनके पास के देशों एवं उनके स्वरूप–वर्णन का विस्तार, सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों की गतियों, युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों का उल्लेख, शास्त्रों में विस्तार से पाया जाता है। इसके साथ ही पुराणों में प्राचीन भारत के भूगोल और इतिहास का भी वर्णन मिलता है।

सृष्टि रचना की प्रक्रिया का वर्णन सामान्यतः इस प्रकार हुआ है कि अव्यक्त प्रकृति से महत् तत्त्व, अहंकार एवं तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। देवों, पितरों, मानवों, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, गुल्मों आदि का भी वर्णन वहाँ है।

विश्व के सभी द्वीपों का वर्णन है और जम्बू द्वीप का विस्तार से वर्णन है। अशोक के रूपनाथ प्रस्तर लेख में जम्बूद्वीप का उल्लेख है। मत्स्य पुराण ने जम्बूद्वीप, शकद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंच द्वीप, शाल्मलि द्वीप, गोमेदक द्वीप एवं पुष्कर द्वीप का विस्तार से वर्णन किया है तथा इन्हें घेरने वाले समुद्रों का भी वर्णन किया है। इसके बाद भारतवर्ष का बहुत विस्तार से वर्णन पुराणों में है और उसके राजवंशों का भी वर्णन पुराणों में है। अतः विश्व के विषय में इन सबसे एक दृष्टि बनती है जो विश्व की अन्नतता और विराटता को सामने लाती है। विश्व या जगत ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति या मूर्ति है। अमूर्त का मूर्तन है विश्व। इसमें प्रकृति जड़ है, पुरूष या आत्माएँ चैतन्य हैं और विशुद्ध चेतन तत्त्व परमात्मा है। परमात्मा समस्त् उपाधियों से परे हैं। जीव में उस परमसत्ता का बीज रूप होता है, वही आत्मा है। जगत या विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के निमित्त कारण परमात्मा हैं। उपादान कारण प्रकृति हैं। शुद्ध चेतन तत्त्व अव्यक्त हैं। वे सत्य हैं, ज्ञान हैं, अन्नत हैं। वही ज्योतियों की ज्योति हैं। कूटस्थ, निर्विकार, अपरिणामी हैं। प्रकृति सक्रिय, विकारी और परिणामी है। उसमें क्रिया, नियम, व्यवस्था और ज्ञान चेतन तत्त्व की सन्निधि से है। जीव के भीतर निहित चेतन तत्त्व आत्मा है। समस्त् चैतन्य बीजों के कारक परमात्मा हैं। इसे ही गीता में सरल ढंग से इस प्रकार समझाया गया है :–

> मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।
> हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। (अध्याय 9, श्लोक 10)

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। (अध्याय 14, श्लोक 3 एवं 4)

अर्थात् हे अर्जुन, मेरी अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत रचती है। यह जगत सतत परिवर्तनशील है। महत्तत्व ही परम चेतना की योनि है, जिसमें ये परम चेतन ब्रह्म चिन्मय ज्योति रूप गर्भ स्थापित करता है। समस्त् जीवों की उत्पत्ति महत्तत्व और चिन्मय ज्योति के संयोग से ही होती है (जीव सम्भव होते हैं)। महत्तत्त्व की अंशभूत समस्त् योनियों (महद् योनिः) में उत्पन्न होने वाले सभी शरीरों में चेतन–तत्त्व को डालने वाला (बीजप्रदः) पिता मैं ही हूँ। इस प्रकार परमात्मा सभी आत्माओं के पिता हैं। इसीलिए उन्हें परमपिता कहा जाता है।

विश्व को, आत्मा को और परमात्मा को, तीनों को जानने के योग्य बुद्धि और मन को उन्नत और निर्मल बनाने का महत्त्व स्पष्ट है। विश्व, आत्मा और ब्रह्म तीनों को जानने के लिये मन और बुद्धि का निर्मल और पवित्र होना तथा परिश्रमशील, तपस्वी एवं साधक होना आवश्यक है।

प्रश्न : मन और बुद्धि को निर्मल बनाने और शक्तिशाली बनाने की प्रक्रिया क्या है?

उत्तर : मन और बुद्धि के विषय में प्रामाणिक ज्ञान के लिये कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को जानना आवश्यक है। क्योंकि अनेक जन्मों के संस्कार चित्त में उपस्थित रहते हैं और बुद्धि की सामर्थ्य भी तदनुसार ही होती है तथा मन और बुद्धि का झुकाव भी संस्कारों और कर्माशयों से निर्धारित होता है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू धर्म का मूल है। इसे बहुत विस्तार से शास्त्रों में बताया है। माता–पिता और सन्तानों से दैहिक और मानसिक समनुरूपता तो पाई जाती है परन्तु फिर भी एक ही माता–पिता की सन्तानों में एक सी शिक्षा पाने पर भी अलग–अलग संस्कार विगत जन्मों के कारण ही प्रतिफलित होते हैं। यद्यपि आत्मा अपने भावी जन्म के लिये अपने माता–पिता का चयन कर्मफल के नियमों के अनुसार करने को प्रेरित होती है। तथापि एक ही कुल में जन्म लेने पर भी भिन्न–भिन्न सन्तानों के संस्कार और बौद्धिक सामर्थ्य भिन्न–भिन्न देखे जाते हैं। इसका कारण विगत जन्म के संस्कार ही हैं।

महाभारत और उसके अंग भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो का विस्तृत विवेचन है और उसके बहुत से उदाहरण भी दिये गये हैं। इस विषय में ज्ञातव्य है कि अनेक यवन दार्शनिकों ने अपने पूर्वजन्म का उल्लेख किया और पुनर्जन्म में अटल विश्वास व्यक्त किया था। स्वयं प्लेटो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म पर विश्वास करता था। यवन दार्शनिक एम्पीडॉकिल्स अपने कई जन्मों का स्मरण करता था। जिसमें वह कभी लड़का था और कभी लड़की तथा एक जन्म में पक्षी भी था और किसी जन्म में मछली भी था। इतना ही नहीं एक विगत जन्म में वह झाड़ी के रूप में भी रहा था।

पुनर्जन्म का दर्शन आत्मा के अविनाशी होने का दर्शन भी है। परन्तु बौद्ध दर्शन कर्मफल और पुनर्जन्म को मानते हुये भी आत्मा के विषय में अधिक प्रकाश नहीं डालता। फिर भी जैनों, बौद्धों, सिखों, आर्यसमाजियों और सभी सनातनी हिन्दुओं में पुनर्जन्म एक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। विगत जन्मों के परिणामस्वरूप

वर्तमान जन्म में सुख और दुख तो प्राप्त होते ही हैं, वर्तमान जन्म के पुरूषार्थ के कारण भी बहुत से सुख और दुख मिलते हैं। परन्तु मन और बुद्धि का स्तर और पवित्रता या मलिनता का निर्धारण मुख्यतः विगत जन्मों के कर्माशय के कारण होता है।

इसका सम्बन्ध पाप और पुण्य की अवधारणा से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ा है।

प्रश्न : मन और बुद्धि के स्वरूप–विशेष से हिन्दू विश्वदृष्टि किस प्रकार बनती है?

उत्तर : बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसे सम्यक् रूप से समझना आवश्यक है। उदाहरणपूर्वक ही यह सरल ढंग से समझा जा सकेगा।

पहले हिन्दू विश्वदृष्टि के उदाहरण लें, जो संस्कारी मन और शास्त्रों से अवगत बुद्धि से बनते हैं। इसके दृष्टान्त प्रत्येक सनातनी संस्कारी हिन्दू की दिनचर्या से ही प्रारम्भ देखे जा सकते हैं।

संस्कारी हिन्दू की दिनचर्या –

ब्राह्ममुहूर्त में जागरण : संस्कारी हिन्दू ब्रह्ममुहूर्त में उठता है। क्योंकि सूर्योदय से चार घड़ी (लगभग डेढ़ घंटे) पूर्व ही ब्राह्ममुहूर्त का आरम्भ होता है। ब्राह्ममुहूर्त में ही जग जाना चाहिये। इस समय सोना शास्त्र द्वारा वर्जित है। 'आचारेन्दु शेखर' नामक ग्रन्थ का प्रसिद्ध श्लोक है –

> ब्राह्मे मुहूर्ते या निद्रा सा पुण्यक्षयकारिणी।
> तां करोति द्विजो मोहात् पादकृच्छ्रेण शुद्ध्यति।।

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त में सोने से पुण्य का क्षय होता है। अगर उस समय कोई सोता रहे, तो उसे पादकृच्छ नामक व्रत के द्वारा प्रायश्चित करना चाहिये।

करावलोकन : ब्राह्ममुहूर्त में उठकर सर्वप्रथम करावलोकन करते हैं अर्थात् अपने दोनों हाथ देखते हैं और इस मन्त्र का पाठ करते हैं –

> कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
> करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्।।

अर्थात् हमारे हाथ के अग्रभाग में यानी पुरूषार्थ की प्रबलता में लक्ष्मी जी का निवास है। मध्य में सरस्वती का निवास है अर्थात् विद्यापूर्वक ही पुरूषार्थ किया जाता है। मूल में सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा जी हैं। अतः प्रभात काल में करावलोकन करना चाहिये। कुछ सम्प्रदायों में इस मन्त्र के दूसरे भाग में करमूल में शक्ति को स्थित कहते हुये पाठ करते हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे भी बार–बार सुनकर इसे रट लेते हैं या अपने ढंग से इसके भाव का स्मरण कर दोनों हाथ देखकर फिर दोनों हथेलिया मलकर, मुँह में फेरते हैं।

पृथ्वीवन्दना : इसके बाद पृथ्वीवन्दना की जाती है। जिसका मन्त्र है –

> समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते।
> विष्णु पत्नी नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

अर्थात् हे भगवती पृथ्वी, आप स्वयं भगवान विष्णु के द्वारा रक्षित और पोषित उनकी प्रिय पत्नी हैं। समुद्र ही आपके वसन हैं और पर्वत ही आपके पयोधर हैं। मैं आप पर चरण रख रहा हूँ। इसके लिये क्षमायाचना करता हूँ।

अब जो हिन्दू इस प्रकार से पृथ्वी से क्षमायाचना करते हुये दिनचर्या प्रारम्भ करता है, उसकी विश्वदृष्टि यही होती है कि यह पृथ्वी तो स्वयं भगवान विष्णु के द्वारा रक्षित और पोषित है। अन्यत्र एक श्लोक में यह भी कहा गया है कि पृथ्वी लक्ष्मी माता की प्रिय सखी हैं। ऐसे में संस्कारी हिन्दू कभी भी पृथ्वी के विषय में और पृथ्वी के भविष्य के विषय में हताश निराश नहीं होता।

मानसिक शुद्धि : इसके बाद प्रत्येक संस्कारी हिन्दू भगवान का स्मरण करते हुये और वन्दन करते हुये माता–पिता और उपस्थित गुरूजनों को प्रणाम करते हैं। साथ ही इस मन्त्र का पाठ करते हैं। जिससे कि मानसिक शुद्धि के भाव दृढ़ हो जाते है –

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।।

अतिनीलघनश्यामं नलिनायतलोचनम्।
स्मरामि पुण्डरीकाक्षं तेन स्नातो भवाम्यहम्।।

अर्थात् शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशा में कमलनयन भगवान विष्णु का स्मरण करना चाहिये। जिनका वर्ण नीले बादलों जैसा या नीले आकाश जैसा है। मैं उनका स्मरण करता/करती हूँ जिससे कि स्नान से प्राप्त शुद्धता मुझमें बनी रहे।

प्रार्थना : तदुपरान्त हाथ जोड़कर भगवान से यह प्रार्थना की जाती है –

त्रैलोक्यचैतन्यमयादिदेव! श्रीनाथ! विष्णो! भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये।।

सुप्तः प्रबोधितो विष्णो! हृषीकेशेन यत् त्वया।
यद्यत् कारयसे कार्यं तत् करोमि त्वदाज्ञया।।

अर्थात् हे तीनों लोकों में चैतन्य के रूप में विद्यमान भगवान, मैं आपकी आज्ञानुसार प्रातः उठकर यह संसार यात्रा करूँगा। आपने मुझे जो प्रेरणा दी है, उसके अनुसार सभी कार्य जो आज करणीय हैं, सम्पन्न करूँगा। (इसमें दी गई आज्ञा या प्रेरणा का अर्थ है शास्त्रों में कहे गये कार्य। क्योंकि ब्रह्मपुराण और आचारेन्दु शेखर आदि शास्त्रों में भगवान का स्पष्ट कथन है कि 'वेद और धर्मशास्त्र मेरी ही आज्ञा हैं')।

अजपाजप : इसके बाद यह भाव लाना चाहिये कि दिनभर जो हमारी श्वास प्रश्वास की क्रिया चलती है, उसकी ओर शान्त क्षण में हम ध्यान दें और सांस लेते समय 'सः' तथा छोड़ते समय 'हं' – इन शब्दों का मानसिक उच्चारण हो रहा है। जिसका अर्थ है कि श्वास–श्वास में यह भगवान की कृपा ही भीतर जा रही है। इसे ही श्वास–श्वास में भगवान का रमना या भगवान का स्मरण भी कहा जाता है। इसके लिये संस्कृत में कई श्लोक भी हैं। जिनका यहाँ उल्लेख आवश्यक नहीं लग रहा है।

देवस्मरण : इसके उपरान्त सर्वप्रथम श्रीगणेश की वन्दना करते हैं और फिर विष्णुभगवान, शंकर भगवान, जगदम्बा दुर्गा तथा सूर्यदेव का स्मरण और वन्दन करते हैं। इसके उपरान्त तीनों देवों – ब्रह्म, विष्णु, महेश का पुनः स्मरण करके नौ ग्रहों का सभी ऋषियों का तथा सप्तस्वरों का सात अधोलोकों का, सातों समुद्रों का, सातों कुलपर्वतों का, सप्तऋषियों का और सातों महावनों का, सातों द्वीपों का और सातों लोकों का स्मरण करते हैं। सबसे अन्त में प्रकृति के पाँचों तत्त्वों का इस श्लोक के साथ स्मरण करते हैं –

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः
स्पर्षी च वायुर्ज्वलितं च तेजः।

नभः सशब्दं महता सहैव
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्।।

अर्थात् पृथ्वी सुगन्ध से भरपूर रहे। सभी जलाशय सरस हों, वायु मधुर स्पर्श देती रहे और तेज प्रज्वलित रहे। शब्द सहित आकाश एवं महत् तत्त्व जीवन में कल्याण की वृद्धि करते रहें और दिन मंगलमय हो।

इसके बाद बहुत से श्लोकों के स्मरण का विधान है। जिन लोगों को श्लोक आदि नहीं भी आयें तो वे तुलसी, सूर, कबीर, मीराबाई आदि के प्रसिद्ध भजनों का गायन करते हैं जिन्हें प्रभाती गायन कहा जाता है। सबसे अन्त में यह श्लोक पढ़कर फिर दिनचर्या प्रारम्भ की जाती है –

महर्षिर्भगवान् व्यासः कृत्वेमां संहितां पुरा।
श्लोकैश्चतुर्भिर्धर्मात्मा पुत्रमध्यापयच्छुकम्।।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदाराशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे।।

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

इमां भारतसावित्रीं प्रातरूत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति।।

अर्थात् भारत संहिता (महाभारत) सम्पूर्ण कर महर्षि वेदव्यास अपने पुत्र शुकदेव जी महाराज को पढ़ाते हैं– "हे पुत्र, सभी मनुष्यों का हजारों बार जन्म हो चुका है। हजारों हजार बार अलग–अलग माता–पिता हुये हैं और हजारों हजार बार सबके अलग–अलग सन्तानें और पति तथा पत्नी आदि होते रहे हैं। इस तथ्य को जानकर पण्डितजन अर्थात ज्ञानीजन कभी भी विचलित नहीं होते। जबकि इस तथ्य से अनजान लोग हजारों बार हर्षित और हजारों बार भयभीत होते रहते हैं।

इसीलिये जन्म चक्र का ध्यान रख मैं बार–बार हाथ उठाकर कहता हूँ कि धर्म का ही पालन करना चाहिये। धर्ममय अर्थ और धर्ममय काम ही पुरूषार्थ है। अतः धर्म ही प्रधान है। किसी कामना के वेग से या लोभ से या भय से धर्म को कभी भी त्यागना नहीं चाहिये। क्योंकि संसार में सुख और दुख तो अनित्य हैं परन्तु धर्म ही नित्य है। जीवात्मा नित्य है परन्तु इसके जन्म और भोग के विविध हेतु अनित्य हैं। वे निरन्तर परिवर्तनशील हैं।"

ये श्लोक भारतसावित्री कहलाते हैं और इनका नित्य प्रातः पाठ करने वाले को सम्पूर्ण महाभारत के पाठ का फल मिल जाता है और परमात्मा की प्राप्ति होती है।

स्पष्ट है कि दिनचर्या का आरम्भ ऐसी पवित्र भावना और व्यापक तथा उदार चिन्तन के साथ करने वाले की दृष्टि और भाव सदा व्यापक लक्ष्यों का ध्यान रखने वाले रहेंगे। उसमें कोई क्षुद्रता या संकीर्णता नहीं आयेगी और अगर आ गई तो उसके लिये लज्जा और संकोच का भाव होगा। इस भावना के साथ जो विश्वदृष्टि प्राप्त होती है, वह सम्पूर्ण विश्व के प्रति सर्वप्रथम मैत्री के भाव से ही दृष्टिपात करती है। वैदिक वचन है–

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष्ये।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।' (यजुर्वेद 26/18)

अर्थात् मैं समस्त् प्रकृति तथा प्राणियों और जीवों को मैत्री भाव से ही देखँ। हम सब परस्पर मैत्री भाव से देखते हुये ही एक दूसरे के गुण दोष की समीक्षा करें।

इसी प्रकार अथर्व वेद में भी ऐसे अनेक वचन हैं, जिनमें प्रार्थना की गई है कि हम सदा सद्बुद्धि और सद्भावना का विस्तार करें और सबके लिये कल्याण की ही बात सोचें।

इस आदर्श से सामाजिक जीवन के प्रति भी समतामूलक भाव ही आते हैं। इस विषय में ऋग्वेद के तीन प्रसिद्ध सौमनस्य मन्त्र हिन्दू समाज द्वारा प्रत्येक समारोह और आयोजनों में गाये जाते हैं –

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

समानो मन्त्रः समितिः समानी।
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

अर्थात् हम सब साथ–साथ प्रगति करें, परस्पर अनुकूल वाणी बोलें और हमारे मन सद्भाव से भरे हुये हों। जिस प्रकार कि देवता परस्पर प्रीति करते हैं और अविरोध भाव से अपने–अपने दायित्व को पूरा करते हैं, वैसे ही हम रहें। हमारी मन्त्रणायें समतामूलक हों। हमारी सभा में सौमनस्य रहे और विचारों तथा चित्त में सामंजस्य रहे। हमारे अभिप्राय और हमारी भावनायें परस्पर पूरक हों तथा एकता की सुदृढ़ भावना हमारी सामुदायिक शक्ति का विकास करे। इस विश्वदृष्टि के साथ एक हिन्दू विवेकपूर्वक लोकजीवन में व्यवहार करता है। इसीलिये वह आन्तरिक और बाहरी पवित्रता पर सदा ध्यान रखता है। प्रत्येक हिन्दू के लिये छः कर्म नित्य करणीय माने गये हैं –

संध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्।
वैश्वदेवं तथातिथ्यं षट् कर्माणि दिने दिने।।

अर्थात् ये छः कर्म नित्य करने चाहिये– संध्या, स्नान, जप, देवपूजा, बलिवैश्वदेव तथा आये हुये अतिथि का सत्कार। इनमें से बलिवैश्वदेव को भूतयज्ञ भी कहते हैं। उसकी विधि शास्त्रों मे दी हुई है। परन्तु संक्षेप में इन्हें देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ

और ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। इसमें नित्य पाँच बलिभाग निकाले जाते हैं। बलि का अर्थ है अंश। अतः अंश निकालना ही बलि है। (मूर्ख लोगों ने और कुछ दुष्टों ने बलि का अर्थ कुर्बानी या 'सेक्रीफाइस' प्रचारित कर रखा है।)

ये पाँच बलिया हैं – गोबलि अर्थात् भोजन का एक अंश पत्ते पर रखकर मन्त्र के साथ कहते हैं कि यह गायों का अंश है, हमारा नहीं है। इसी प्रकार एक दूसरा अंश कुत्तों के लिये निकालते हैं और मन्त्र में कहते हैं कि ये कुत्तों का अंश है, हमारा नहीं। इसके बाद कौओं के लिये बलि निकालते हैं और फिर चीटियों के लिये तथा देवताओं के लिये भी बलि निकालते हैं। हर बार मन्त्र पढ़कर या बिना मन्त्र के ही भावना यह की जाती है कि यह इनका अंश हम निकाल रहे हैं। यह इनका ही है, हमारा नहीं। ये पाँचों भाग भोजन से निकालकर गाय का अंश गाय को खिलाया जाता है, कुत्ते का अंश कुत्ते को खिलाया जाता है और कौओं तथा चीटियों का अंश उपयुक्त स्थान पर पृथ्वी में रख दिया जाता है। देवताओं के लिये जो अंश निकालते हैं, उसमें भोजन का वह अंश नही होता, जिसमें नमक मिला हो। अर्थात् दाल, सब्जियाँ, कढ़ी आदि का अंश उसमें नहीं होता। उसे गाय को ही खिला देते हैं क्योंकि गौ में सभी देवता सूक्ष्म और दिव्य रूप में हैं।

ये पाँच बलिया नित्य दी जाती हैं। अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय लोगों ने गौबलि का यह अर्थ प्रचारित कर दिया कि हर हिन्दू नित्य एक गाय काटता है और उसकी बलि देता है। जो घोर अज्ञान अथवा घोर दुष्टता से प्रचारित है। (वे स्वयं नियमित गोमांसभक्षी हैं, इसलिये उन्होंने स्वयं को हिन्दू शास्त्रों पर आचरण करने वालों के समान प्रचारित कियाजिससे उनका विरोध न हो)।

अतिथि यज्ञ का अर्थ है भोजन के समय जो भी ब्राह्मण द्वार पर आ जाये उनको सम्मानपूर्वक भोजन कराये। अतिथि का अर्थ 'मेहमान' या 'गेस्ट' नहीं होता। भ्रांतिवश 'गेस्ट' का अनुवाद अतिथि करके अतिथि सत्कार का गलत अर्थ प्रचारित कर दिया गया है। जबकि अतिथि का सुनिश्चित अर्थ ऐसा ब्राह्मण है जो स्वयं खेती या व्यवसाय न करे अपितु वेदों को पढ़े और पढ़ाये तथा भोजन के लिये समय पर धार्मिक सद्गृहस्थों के यहाँ द्वार पर पहुँचे। ऐसा अतिथि कभी भी भोजन की याचना नहीं करता अपितु श्रद्धालु और धार्मिक लोग उन्हें देखते ही उनका पूजन, वन्दन और स्वागत सत्कार कर भोजन के लिये सादर निमंत्रित करते हैं। शास्त्रों में यह कहा गया है कि द्वार पर आये ऐसे ब्राह्मण को साक्षात नारायण ही समझना चाहिये और उनसे कोई कुल या विद्या आदि सम्बन्धी पूछताछ नहीं करनी चाहिये।

इसके साथ ही ब्रह्मयज्ञ भी नित्य किया जाता है जिसका अर्थ है धार्मिक साहित्य का पढ़ना–पढ़ाना और ओंकार का जप या गुरू द्वारा दिये गये मन्त्र का जप। इसी प्रकार हिन्दू विश्वदृष्टि पितरों के लिये नित्य तर्पण एवं पितृ पक्ष में श्राद्ध का भी विधान करती है। यह पूर्वजों को स्मरण रखने तथा उनके प्रति कृतज्ञता की गहरी अभिव्यक्ति है।

नित्य यज्ञ अथवा कम से कम साप्ताहिक यज्ञ या सार्वजनिक पूजा उत्सव आदि हिन्दू गृहस्थ के लिये अनिवार्य है। इस दिनचर्या और जीवनशैली का पालन संस्कृत से और शास्त्रों से अनजान हिन्दू भी अपने–अपने ढंग से अवश्य करते हैं। अतः हिन्दू विश्वदृष्टि ऐसी ही उदार और व्यापक तथा कोमल और भावपूर्ण दृष्टि है। जो न्याय और समता का सदा आग्रह रखती है।

इसके साथ ही हिन्दू विश्वदृष्टि का अभिन्न अंग है – दान देना तथा जाने अनजाने जो भूलें और दोष हो जायें उनका प्रायश्चित करना। दान पर धर्मशास्त्रों में बहुत विस्तार से चर्चा है। मनुस्मृति, महाभारत, याज्ञवल्क्य स्मृति, दक्ष स्मृति, देवल स्मृति तथा सभी पुराणों में दान की महिमा गायी गई है। दान किन्हें देना चाहिये अर्थात दान के पात्र कौन हैं, दान का काल क्या है, देय पदार्थ क्या हैं, अदेय पदार्थ क्या हैं और दान के स्थल क्या हैं तथा महादान क्या है, इस सब पर शास्त्रों में बहुत विस्तार से वर्णन है। दान के अर्थ की भी मीमांसा है। जिस वस्तु पर अपना स्वामित्व है, उस पर से अपना स्वामित्व हटाकर यानी स्वामित्व का त्याग करके अन्य का स्वामित्व स्थापित करना दान कहलाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के दान प्रकरण में इसकी स्पष्ट विवेचना है।

वैदिक काल से ही दान की महत्ता चली आई है। ऋग्वेद में विविध प्रकार के दानों का उल्लेख है और दाताओं की प्रशस्ति् है। इनमें गोदान की प्रशस्ति् सर्वाधिक है। साथ ही अन्न सत्रों का भी उल्लेख है और परिधान दान की भी महिमा कही गई है। वैदिक काल में अश्वदान का भी प्रशंसापूर्ण उल्लेख है। अन्न सत्रों को इन दिनों भंडारा, लंगर आदि नाम भी दिए जाते हैं। प्रतिदिन कई करोड़ लोगों को समस्त् भारत में जगह–जगह भंडारे, लंगर, अन्न सत्रों में बिना किसी भी भेदभाव के भोजन कराया जाता है।

मनु के अनुसार दान के चार अंग है दाता, ग्रहीता, श्रद्धा और देय। देवल के अनुसार इसके छः अंग हैं – दाता, प्रतिग्रहीता, श्रद्धा, धर्मयुक्त देय, उचित् काल और उचित् देश। दान के तीन प्रकार हैं – नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। जो प्रतिदिन दिया जाये, उसे नित्य दान कहते हैं। जो किसी विशिष्ट अवसर पर दिया जाये, उसे नैमित्तिक दान कहते हैं और जो किसी कामना विशेष से दिया जाये उसे काम्य दान कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता ने दान के तीन प्रकार बताये हैं – सात्विक, राजस एवं तामस।

दान के पात्र –

माता–पिता, गुरू, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी व्यक्ति, दीन, अनाथ और विशिष्ट गुण वाले व्यक्तियों को दान देना पुण्यप्रद है। इन्हें दान देना ही सफल दान है। किन्तु धूर्तों को अपनी चाटुकारिता या वन्दना करने वालों को, कुश्ती लड़ने वालों को, कुवैद्य को, जुआरी को, वंचक को, चारण को और चोर को दिया गया दान निष्फल होता है।

महाभारत के वन पर्व में अध्याय 200 में दान के योग्य एवं अयोग्य पात्रों का वर्णन है। वेदपाठी एवं मन्त्रजप तथा यज्ञ करने वाले और स्वाध्यायशील ब्राह्मणों को दान देने से उनके आशीर्वाद से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। इसके स्थान पर 16 प्रकार के दान को व्यर्थ या निष्फल बताया गया है।

16 प्रकार के ये दान व्यर्थ हैं– यानी इन 16 प्रकार के लोगों को दान देने से कोई फल नहीं मिलता–सन्ततिहीन, धर्मभ्रष्ट, दूसरों की ही पाकशाला (रसोई) में भोजन करने वाला, केवल अपने लिये भोजन बनाने वाला, वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम में जाकर फिर से गृहस्थ बनने वाला (आरूढ़–पतित), अन्याय से अर्जित धन वाला, पतित ब्राह्मण, चोर, मिथ्यावादी गुरूजन, पापी, कृतघ्न, ग्रामयाजक, वेदविक्रयी, बिना मन्त्र जाने यज्ञ कराने वाला, ब्रह्मबन्धु अर्थात् नाममात्र का ब्राह्मण, पतित ब्राह्मण, स्त्रीसमूह (क्योंकि स्त्रियाँ अपने–अपने घरों की स्वामिनी हैं। वे दाता होती हैं, वे कभी भी दान लेती नहीं), सांप को पकड़ने का व्यवसाय करने वाला तथा सेवक। सेवक आदि को जो धन दिया जाता है, वह अनुग्रह कहलाता है, दान नहीं। किसी दीन स्त्री को धन

दिया जाए तो वह भी अनुग्रह कहलाता है, दान नहीं। गृहणियाँ तो स्वयं ही दाता तथा स्वामिनी होती हैं।

श्रेष्ठ विद्वानों को ही दान देना चाहिये क्योंकि उससे बड़ा फल मिलता है। आगे यह भी कहा है कि जिनका रंग जुगुप्सा जनक हो या जिनके नाखून काले पड़ गये हों या जो कोढ़ी हों अथवा धूर्त हों, ऐसे ब्राह्मणों को भी दान देने पर कोई फल नहीं मिलता। सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान को दान देने से बहुत पुण्य मिलता है।

देय –

दान के पदार्थों एवं उपकरणों के विषय में बहुत–से नियम बने हैं। अनुशासनपर्व के मत से संसार के सर्वश्रेष्ठ पदार्थ तथा जिसे व्यक्ति बहुत मूल्यवान् समझता है, उसका गुणवान् व्यक्ति को दिया जाना अक्षय पुण्य देनेवाला दान कहा जाता है। देवल के मत से वह वस्तु देय है जिसे दाता ने बिना किसी को सताये, चिन्ता एवं दुःख दिये स्वयं प्राप्त किया हो, वह चाहे छोटी हो या मूल्यवान् हो। देय की बड़ाई या छोटाई अथवा न्यूनता या अधिकता पर पुण्य नहीं निर्भर रहता, वह तो मनोभाव, दाता की समर्थता तथा उसके धनार्जन के ढंग पर निर्भर रहता है। श्रद्धा से जो कुछ सुपात्र को दिया जाय, वह सफल देय है, किन्तु अश्रद्धा से या कुपात्र को दिया गया धन निष्फल होता है। अपनी समर्थता के अनुसार देना चाहिए

देय पदार्थों में कुछ उत्तम, कुछ मध्यम एवं कुछ निकृष्ट माने जाते हैं। उत्तम पदार्थ हैं– भोजन, दही, मधु, रक्षा, गाय, भूमि, सोना, अश्व एवं हाथी। मध्यम हैं – विद्या, आश्रयगृह, घरेलू उपकरण, औषधें। निकृष्ट हैं – जूते, हिंडोले, गाड़ियाँ, छत्र, बरतन, आसन, दीपक, लकड़ी, फल या अन्य जीर्ण–शीर्ण वस्तुएँ। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि गाय, भूमि, तिल, स्वर्ण आदि सुपात्र को देना चाहिये। परन्तु पात्रता के विषय में भी स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि पात्रता न केवल विद्या से आती है और ना ही केवल तप से। जिसका वृत्त उत्तम है अर्थात् जीवनक्रम उत्तम है और साथ ही विद्या और तप भी है, वही सुपात्र है। वेद के अध्ययनशील विद्वान श्रेष्ठ हैं। उनमें भी जो क्रियानिष्ठ हैं, वे उनसे भी श्रेष्ठ हैं और अध्यात्मवेत्ता विद्वान सर्वश्रेष्ठ हैं। देवल स्मृति ने भी सुवर्ण दान, गोदान, भूमिदान आदि को सभी पापों के प्रायश्चित का कारण बताया है। यह प्रायश्चित करने के बाद व्यक्ति शुद्ध हो जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का कहना है कि जिस वस्तु के दान के विषय में कुटुम्ब का कोई विरोध न हो, ऐसी सभी वस्तुयें गृहपति दान में दे सकता है। पत्नी और बच्चे दान में नहीं दिये जा सकते और घर में सन्तान के होने पर उनका ध्यान रखकर ही दान दिया जा सकता है। सन्तान सम्पन्न गृहपति सबकुछ दान नहीं दे सकता। इसी प्रकार जो वस्तु एक बार दे दी गई हो, उसका फिर दुबारा दान नहीं हो सकता। जो दान दिया जाये, उसे लोक में प्रकाशित कर देना चाहिये अर्थात् सबको विदित होना चाहिये कि यह दान दिया गया है। गुप्तदान की अलग महिमा है और उसके विषय में भी विस्तार से शास्त्रों में लिखा गया है। यश की कामना न रखकर धर्मभावना से अनेक बार गुप्तदान किये जाते हैं।

दान की अतिशय महिमा होने पर भी उस पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, बृहस्पति स्मृति, व्यास स्मृति, अग्निपुराण, आपस्तम्बधर्मसूत्र और बौधायन धर्मसूत्र– सभी ने ऐसे दान के ऊपर प्रतिबन्ध लगाये हैं, जो कुटुम्ब के भरण पोषण और भृत्यों के पोषण की उपेक्षा करके दिया जाये।

व्यक्ति यदि दान देने में समर्थ है, तब भी वह अवश्यभरणीय, अवश्यपोषणीय स्वजनों के दुखित रहने पर दान नहीं दे सकता। क्योंकि ऐसा करना धर्म का प्रतिरूप है यानी वह अधर्म है। ऐसा दान दाता को प्रारम्भ में तो प्रसिद्धिदायक लगने से मधुर लगता है परन्तु बाद में वह विष के समान ही सिद्ध होता है क्योंकि वह नरक–फल का कारण बनता है यानी इस प्रकार का दान देने वाले को नरक मिलता है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में भी यही बात कही गई है। अध्याय 37 का तीसरा श्लोक है–

> अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम।
> पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति।।

अर्थात् अपने ऊपर जिनके भरण पोषण का भार है उस सब – माता–पिता, पत्नी–बच्चे, स्वजन एवं भृत्यवर्ग को पीड़ा दिये बिना ही दान करना चाहिये। जो गृहपति पोष्य वर्ग को कष्ट देकर या अभावग्रस्त् रखकर दान देता है उसका अपकर्ष ही होता है।

इस प्रकार अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति के बाद शेष धन ही देय है। उसके ही दान में पुण्य है। कर्त्तव्य कर्म स्वयं में पुण्यप्रद हैं और वस्तुतः दान भी कर्त्तव्य कर्म ही है। परन्तु किसी एक कर्त्तव्य के लिये अन्य कर्त्तव्यों की उपेक्षा धर्मशास्त्र नहीं सिखाते। इस प्रकार सनातन धर्मशास्त्र सन्तुलन और विवेक पर ही सदा बल देते हैं और उसे ही सर्वोपरि बताते हैं। यह है हिन्दू विश्वदृष्टि। संसार में ऐसी भी विश्वदृष्टियाँ हैं जो अपने पंथ या मजहब के सिवाय अन्य किसी का अस्तित्त्व सहन नहीं करतीं और उनका धर्मांतरण या उनको मार डालना – ये दो ही करणीय कर्त्तव्य मानती हैं। इस प्रकार बुद्धि और मन यदि अलग प्रकार का हुआ, तो विश्वदृष्टि भी अलग प्रकार की बन जाती है। जैसे, कम्युनिज्म नामक विचार रखने वाले कम्युनिज्म के अनुयायियों ने करोड़ों धनियों, किसानों आदि को मार डाला। यह विश्वविदित है। अतः विश्वदृष्टि के बनने में मन के भावों और बुद्धि के विचारों की निर्णायक भूमिका है।

1.8 पुण्य, पाप और प्रायश्चित : मन और बुद्धि पर प्रभाव

प्रश्न : पुण्य क्या है और पाप क्या है? उनका मन–बुद्धि पर क्या–क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर : करणीय कर्म के अन्तर्गत ही ऐसे सभी कर्म जो समाज में शुभ और कल्याणकारी भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं कर्मों की प्रतिष्ठा करते हैं या उनको बढ़ाते हैं, उन्हें पुण्य कहा जाता है। धर्म (सार्वभौम नियमों) का पालन पुण्य कर्म है। इसके लिये धर्म और स्वधर्म का ज्ञान आवश्यक है। अविद्या, राग, द्वेष आदि के विरूद्ध जो कर्म होते हैं अथवा जिन कर्मों के द्वारा राग, द्वेष आदि अविद्यामूलक संस्कार क्षीण होते हैं, वे सब पुण्य कर्म कहलाते हैं। जबकि अविद्या आदि के पोषक कर्म अपुण्य और अधर्मकर्म कहलाते हैं। धृति (सन्तोष एवं धैर्य तथा सत्व में स्थिरता), क्षमा, संयम, अस्तेय, आन्तरिक और बाह्य पवित्रता, धी (बुद्धि एवं बुद्धिमूलक कर्म), विद्या, सत्य एवं अक्रोध ये दस धर्म कर्म हैं, जो पुण्य कर्म हैं। अविद्या के विरोधी दान, परोपकार आदि करूणामूलक कर्म एवं प्राणियों के प्रति मैत्री भावना से उत्पन्न कर्म पुण्य कर्म होते हैं। क्रोध, लोभ (सम्पत्ति या यश या अधिकार–पद–प्रतिष्ठा का) और मोह मूलक सभी कर्म यथा अन्य की सम्पत्ति का हरण या उसके हरण की भावना, चोरी, झूठ, हिंसा, द्रोह आदि पापकर्म हैं। जो पुण्य के विपरीत हैं। सांख्यकारिका के भाष्य में गौड़पाद का

कथन है कि यम, नियम, दया और दान ये पुण्य कर्म हैं। इनसे विपरीत कर्म पापकर्म हैं।

पाप की परिभाषा सनातन धर्म में बिल्कुल अलग है। इस्लाम या ईसाइयत में गुनाह और 'सिन' की जो धारणायें हैं, उनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। ईसाइयत के विषय में वर्तमान स्थिति जानने के लिये हमें बारबोअर की प्रसिद्ध पुस्तक 'सिन एण्ड दि न्यू साइकॉलोजी' का यह अंश देखना होगा–

"ऐसी धारणा बहुत घर करती चली जा रही है कि ईसाई भावना में पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है। किसी व्यक्ति का जीवन दुष्कर्म से परिपूर्ण हो सकता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व विच्छिन्न हो सकता है, किन्तु यह पाप नहीं है। यह मानसिक दुष्कर्म है जिसकी व्याख्या के मूल में मानसिक कारण हैं और सम्भवतः मनोवैज्ञानिक चिक्तिसा से यह दूर किया जा सकता है . . . .।"

आधुनिक यूरोपीय मनोविज्ञान पाप को परिवेश में व्याप्त आस्थाओं और मान्यताओं के प्रभाव से चित्त में उपजने वाले 'ऑब्सेसिव कम्पल्सिव डिसऑर्डर' बता देते हैं और उसे मनोवैज्ञानिक उपचार से ठीक करने के उपाय बताते हैं। परन्तु इसमें नैतिक जीवन की कोई बाध्यता नहीं होती। मन के अपराधबोध को निजी मानसिक प्रबन्धहीनता बताकर उस अपराधभाव से मुक्त होने के लिये मानसिक प्रबन्धन पर बल देना सामाजिक जीवन को नैतिकता से रहित बनाना है। परन्तु वेदों और धर्मशास्त्रों में वर्णित पापमोचन की भावना का सम्बन्ध ब्राह्मण्डीय नियमों और मानवधर्म के पालन में की गई चूक और गलतियों के सन्दर्भ में है। उसमें मन को तो शुद्ध और हल्का करने की विधि है ही, साथ ही मानवधर्म तथा सुव्यवस्था का भी पूर्ण विचार है। जिसे अंग्रेजी में 'कॉस्मिक ऑर्डर' कहते हैं, उसका ध्यान रखकर उसे सदा व्यवस्थित करने में व्यक्ति का अपना योगदान जो अपेक्षित है, उसका विचार करके धर्मशास्त्रों ने पापमोचन की सारी विधि निर्धारित की है। यही कारण है कि पुण्य और पाप सम्बन्धी आधारभूत विचार का सम्बन्ध सत्य और ऋत से है। ऋत के विषय में वैदिक साहित्य में बहुत ही गंभीर और भावपूर्ण और सुन्दर विवेचना है। इसी के कारण पातक के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद में उन्मेषशालिनी एवं हृदय–स्पर्शिनी अभिव्यन्जनाएँ पायी जाती हैं और यह प्रकट होता है कि प्राचीन ऋषियों में व्यक्ति, समुदाय और समाज तथा राष्ट्र सभी स्तरों पर सबके पापरहित होने की उदात्त और उद्दाम इच्छा रहती थी। ऋग्वेद की यह भावना ऋत की धारणा से गुम्फित है।

ऋत के तीन स्वरूप हैं – प्रकृति की गति, ब्रह्माण्ड की गति के सार्वभौम नियम तथा तदनुरूप मानव व्यवहार अर्थात् नैतिक आचरण। इसीलिये वेदों में कहा गया है कि ऋत से ही समृद्धि और प्रीति प्राप्त होती है। ऋत पातकों का नाश करता है। ऋत का यश सर्वव्यापी है। ऋत से ही सूर्य और चन्द्र गतिशील हैं। सूर्य की किरणें ही (वेदों में सूर्य का मूल अर्थ सर्वव्यापी चेतनासूर्य है) ऋत को हम तक लाती हैं और सर्वत्र विस्तारित करती हैं। ऋत पृथ्वी में बहुत गहराई तक व्याप्त है।

इस प्रकार जो एक ब्रह्माण्डीय व्यवस्था (कॉस्मिक ऑर्डर) है, वह ऋत है। नैतिकता का मूल आधार ऋत सम्बन्धी चिन्तन और बोध ही है। इसीलिये ऋत ही वास्तविक ऐश्वर्य है। क्योंकि वह ब्रह्माण्डीय नियमों का अनुवर्तन है और इसीलिये वह सूक्ष्म शक्तियों द्वारा बाधित नहीं होता और उन्हें बाधित नहीं करता। ऋत सम्पन्न जीवन ही नैतिक जीवन है। जो ऋत का पालन करता है, वह कभी भी अनृत नहीं होता, अनृत नहीं बोलता और अनृत कर्म नहीं करता। ऋत और सत्य परस्पर जुड़े हुये हैं। ऋत की

अवज्ञा और उल्लंघन ही अनृत है। अनृत ही पाप का मूल है।

वेदों में पाप के वाचक अनेक शब्द हैं जिनमें मुख्य हैं – आगस्, एनस्, अध, दुरित, दुष्कृत, दुग्ध, अंहस् और वृजिन। ऋजु का विपरीत है वृजिन। आदित्य अवृजिन हैं।वेदों का कथन है कि सर्वत्र प्रकाशित एवं सर्वत्र व्याप्त चेतना–सूर्य मनुष्यों के अच्छे और बुरे सभी कर्मोंको देखता रहता है। कोई भी पाप सर्वव्यापी चेतना–सूर्य से छिपा नहीं रहता – 'ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्'।

साथ ही यह भी कहा गया है कि सूर्य (मित्र), अर्यमा एवं वरूण देवतागण ऋत में निवास करते हैं और अनृत से घृणा करते हैं। कोई भी पाप उनसे छिपा नहीं रहता।

ऋग्वेद में द्यौः को पिता और पृथ्वी को माता कहा है तथा यह कहा गया है कि वे साधक को दुरित से बचायें। ऋग्वेद में यह भी आया है कि विद्वानों और बुद्धिमानों ने सात मर्यादायें बनाई हैं जो व्यक्ति इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है उसे पाप लगता है :–

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।

इसकी व्याख्या करते हुये निरूक्त में छठें अध्याय में पंचम पाद में 112वें मन्त्र में व्याख्या है :–

'सप्त एव मर्यादाः कवयश्चक्रुः।तासामेकामपि अधिगच्छन्नंहस्वान् भवति।

स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके अनुतोद्यमिति।'

अर्थात् ज्ञानी पुरूषों ने सात मर्यादायें निर्धारित की हैं। अर्थात् ये सात कर्म कभी नहीं करने चाहिये। यह मनुष्य के लिये नैतिक मर्यादा है। उनमें से एक को भी करना पाप है। ये सात कर्म हैं– स्तेयम् अर्थात् चोरी, तल्पारोहणम् अथात् पर–स्त्री के साथ समागम, ब्रह्म–हत्या, भ्रूण–हत्या, सुरा–पान, दृष्कृत कर्म को बार–बार करना और सातवां हैं, पाप करने पर उसे छिपाने के लिये झूठ बोलना।

यहाँ मर्यादा शब्द का भी मूल स्वरूप समझना उचित् होगा। निरूक्त के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में बताया गया है कि 'सीमा मर्यादा, विसीव्यति देशाविति'। अर्थात् सीमा ही मर्यादा है। सीमा ही दो स्थानों की हदबन्दी करती है। अतः सीमा ही मर्यादा है। सीमा को पार करना यानी मर्यादा का उल्लंघन! मनुष्य की यह मर्यादा दिव्य सत्ता द्वारा निर्धारित कर दी गई है कि वह उक्त सातों कार्य न करें। आगे चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में कहा गया है कि– मर्यो मनुष्यो परम–धर्मा।

यानी मरण धर्मा होने से मुनष्य को मर्य कहा है। उसके लिए जो सीमा निर्धारित है, उसे मर्यादा कहते हैं – 'मर्यैः अदीयते' – मनुष्यों के लिए निर्धारित है, अतः 'मर्यादाभिधानम्' – मर्यादा नाम पड़ा।

यहाँ मृत्यु का शास्त्रीय अर्थ भी स्मरणीय है। ऋग्वेद का मन्त्र है –

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्।। (ऋग्वेद 10/18/1)

इस पर निरुक्त का निर्वचन है – 'मृत्यु के विषय में कथन है कि हे मृत्यु, देवयान मार्ग से भिन्न जो तुम्हारा अपना मार्ग है उस पर जाओ। हमारी सन्तानों की हिंसा मत

करो। हमारे वीरों की हिंसा मत करो।' आगे निरुक्त में विवेचना है कि शतबलाक्ष मौद्गल्य मृत्यु का निर्वचन करते हैं कि– 'मृतं च्यावयति', मृत्यु प्राणी को इस योनि से छुड़ाकर दूसरी योनि में ले जाती है। अतः मृत्यु में अस्तित्त्व समाप्त नहीं होता। अपितु उसकी अगली गति होती है।

प्राणियों की तीन गतियाँ हैं। सर्वोत्तम है देवयान। उस मार्ग से जाने वाले प्राणी मुक्त हो जाते हैं। अतः देवयान गति से मृत्यु का कोई सम्बन्ध नहीं। (इसलिये जो व्यक्ति देवयान मार्ग से जाते हैं, उनके लिये वस्तुतः यह कथन सही नहीं है कि उनकी मृत्यु हो गई। वे तो केवल 'चले गये हैं', इतना ही कहना उचित् है)।दूसरी गति है पितृयान। पितृयान मार्ग श्रेष्ठ है और यह स्वर्गलोक या पितरलोक (पितृलोक) ले जाता है।

तीसरी गति है 'जायस्व म्रियस्व'। अर्थात् उत्पन्न होना और मरना। यह सामान्य गति है और तीनों में से सबसे निम्न गति है। मृत्यु लोक में ही बारम्बार आना–जाना, यह है निम्न गति।

प्राणियों की उपरोक्त वर्णित गति को इसे हम एक ग्राफ से समझने का प्रयास करते हैं–
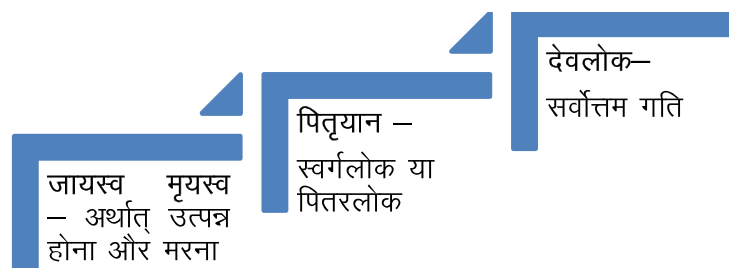
मृत्यु के उपरान्त प्राणियों को प्राप्त होने वाली तीन गतियाँ

एक कठिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यक्ति के मन में पाप का उदय किस प्रकार होता है। भगवद्गीता के अध्याय तीन में 36वें श्लोक में अर्जुन का योगेश्वर श्रीकृष्ण से यही प्रश्न है। इसका उत्तर श्रीकृष्ण अगले श्लोक में देते हैं – 'रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करते हैं। क्योंकि काम कभी भी तृप्त नहीं होता, यह 'महाशन' है अर्थात् अत्यधिक भोजन करने वाला है। जिसका अर्थ है कि भोग से यह कभी भी तृप्त नहीं होता। इसीलिये इसे महापापी भी कहा गया है। यही स्थिति क्रोध की है। वह नाना रूपों में व्यक्ति को मथता रहता है और वैर तथा प्रतिशोध की ओर ले जाता है। इन रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध के कारण मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। यह जो काम है, यह निरन्तर धधकती हुई अग्नि है। यह अग्नि चिदग्नि को सदा ढके रहती है और कभी भी शमित ही नहीं होती। इसीलिये इसे कभी भी पूर्ण या शान्त न होने वाली आग और ज्ञान की महा वैरी कहा गया है।'

भगवद्गीता के अध्याय 16 के 21वे श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण पुनः बताते हैं कि 'नरक के द्वार तीन हैं – काम, क्रोध तथा लोभ। ये व्यक्ति का नाश कर देते हैं। इनसे मुक्त होने के लिये ही प्रयास करना चाहिये।'

वस्तुतः सत्व, रज और तम ये तीन गुण सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं। रजोगुण की क्रियाशीलता प्रायः पाप की ओर ले जाती है। विभिन्नव्यक्तियों में ये तीन गुण विभिन्न

अनुपातों में होते हैं। रजोगुण की तीव्रता से सक्रियता भी होती है और ज्ञान का नियन्त्रण नहीं रहे तो यह सक्रियता पाप की ओर भी आकर्षित करती है। प्रत्येक जीवात्मा अनादिवासना से संचालित है और सबमें उनके अपने–अपने पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप ये तीन गुण भिन्न–भिन्न अनुपात में रहते हैं।

वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अर्थात् कोई भी जीवात्मा कहाँ जन्म लेता है, उसकी आयु क्तिनी रहती है और उसके भोग क्या–क्या रहते हैं, यह पूर्व के कर्माशय पर निर्भर होता है। कर्माशय का अर्थ है कर्म–संस्कार। धर्म और अधर्म रूप कर्माशय ही कर्म संस्कार होता है। चित्त में कोई भाव जगने पर उस भाव की एक छाप चित्त में रह जाती है, उसे ही संस्कार कहते हैं। ये संस्कार ज्ञानमूलक या प्रज्ञामूलक भी होते हैं और अज्ञानमूलक भी। संस्कारों के समुच्चय का ही नाम कर्माशय है। कर्माशय से ही जन्म, आयु और भोग ये तीन विपाक या फल होते हैं। कर्माशय बीज है, वासना क्षेत्र है और सुख–दुख इस क्षेत्र में बीज से उपजने वाले फल हैं। जन्म ही वृक्ष है। कौन जीव कहाँ जन्म लेता है, यह कर्माशय से निर्धारित होता है और फिर उसके अनुसार ही आयु और भोग प्राप्त होते हैं। योगशास्त्र में इसका विस्तार से विवेचन है कि क्या एक कर्माशय एक ही जन्म का कारण होता है या अनेक जन्मों का। विवेचना का सार यह है कि एक कर्माशय एक ही जन्म का कारण बनता है। परन्तु कुछ कर्माशय ऐसे होते हैं जो इस नियम के अपवाद होते हैं। वे अन्य जन्म तक जाकर फल को निष्पन्न करते हैं। एक जन्म में जो कर्माशय संचित् होता है, वह उसी जन्म में कुछ नष्ट भी हो सकता है। अतिप्रबल या प्रधान कर्माशय यदि किसी जन्म में फल दे रहे हैं तो अप्रधान कर्माशय उससे दबे रहते हैं और वे किसी अगले जन्म में जाकर फलित होते हैं। इसको उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया गया है कि किसी व्यक्ति ने थोड़ा धर्माचरण किया परन्तु बाद में विषयलोभ से अनेक पापकर्म किये। उन पापकर्मों का कर्माशय प्रधान हो गयाअतः अगला जन्म उसका पशुयोनि में होगा। वहाँ वह उन पापकर्मों का फल भोगेगा। परन्तु जो पुण्य कर्म किये हैं, जो धर्माचरण किया है वह संचित् रहेगा और वह बाद में मानवजन्म लेने पर प्रकाशित होगा। इस प्रकार जन्म, आयु और भोग पुण्य के कारण सुखफल देने वाले और अपुण्य या पाप के कारण दुखफल देने वाले हैं।

इस सनातन दृष्टि को ध्यान में रखकर ही हमारे यहाँ प्रायश्चित का विधान ऋषियों और ज्ञानियों ने किया है। क्योंकि आत्मा तो कभी पाप या पुण्य में लिपटती नहीं। जो भी संस्कार होते हैं वे मन, बुद्धि और चित्त में ही होते हैं। अतः पाप दूषित मन, विकृत या विचलित बुद्धि और मलिन चित्त का कार्य है। इसलिये इस दूषण या मल को हटाने पर मन, बुद्धि और चित्त निर्मल हो जाते हैं। यही प्रायश्चित का प्रयोजन है। अतः पाप और पुण्य जीवात्मा के मन, बुद्धि और चित्त को प्रभावित करने वाले गुण हैं।

वर्तमान में प्रभावी अन्य मजहब या रिलीजन में गुनाह या 'सिन' की जो मान्यता है, वह भारतीय पाप के बोध से पूर्णतः भिन्न है। वहाँ 'सिन' या गुनाह या फितना वह है जो पंथ प्रवर्तक के आदेशों से हटकर काम किया जाये। वहाँ उद्देश्य पांथिक नियन्त्रण है। (आइडियालॉजी आधारित पार्टी नामक पंथ भी इन्हीं मजहबों या रिलीजन की नकल में परिकल्पित है। वहाँ भी उद्देश्य पांथिक नियन्त्रण है)।

इसीलिये मजहब यानी 'मोनोथीइस्ट' यानी एकपंथवादी 'रिलीजन' सदा एकदेववादी होते हैं। कुछलोग अज्ञानतावशइन्हें ही अद्वैतवादी कहते देखे जाते हैं, जो अनुचित और सत्य के विपरीत है। वे एक ही देवसत्ता को सर्वपूज्य मानते हैं और अन्य देवसत्ताओं से उसका विरोध मानते हैं तथा अपने द्वारा पूजित देवसत्ता को एकदेशीय मानकर

किसी सन्देशवाहक के माध्यम से ही अपना सन्देश अन्यों तक पहुँच सकने योग्य मानते हैं। इस प्रकार वहाँ व्यक्ति की आत्मसत्ता मजहब, रिलीजन या पंथ के अधीन है और सिन या गुनाह से आत्मा ही मलिन होती मानी जाती है। उस आत्मा को ही शुद्ध करने के लिये सन्देशवाहक के माध्यम से प्राप्त सन्देश में और उस सन्देश के अनुसायी पंथ में एकान्तिक श्रद्धा और सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक होता है। अतः वहाँ 'सिन' और गुनाह का सारा ही प्रतिपादन पांथिक नियन्त्रण के लिये होता है। भारतीय ज्ञान परम्परा अर्थात सनातन धर्म में पुण्य और पाप जीवात्मा के मन, बुद्धि और चित्त के उत्कर्ष या अपकर्ष के आधारभूत कारण के रूप में ही वर्णित है। अतः पाप का प्रायश्चित मन, बुद्धि और चित्त के निर्मल होने तथा तेजोमय होने के लिये आवश्यक है। जीवात्मा का ना तो उत्थान होता है, ना पतन। ना वह मलिन होती है, ना शुद्ध। वह तो सदा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन है। विशुद्धा है और अपरिणामिनी है। आत्मा का ना जन्म होता है, ना मृत्यु। उस अविनाशी और विशुद्धा आत्मा को ना तो पाप मलिन कर पाते और ना ही पुण्य उज्जवल। मलिन होते हैं केवल मन, बुद्धि और चित्त और इनकी ही मलिनता दूर करने पर इनमें ज्ञान का उज्जवल प्रकाश दीप्त हो उठता है। अतः पाप का प्रभाव मन, बुद्धि और चित्त पर पड़ता है। पुण्य का प्रभाव मन, बुद्धि और चित्त को पाप से उपजी मलिनताओं से मुक्त करता है। हिन्दू धर्म और इस्लाम या ईसाइयत जैसे पंथों में यही अन्तर है और यह आकाश–पाताल का अन्तर है।

पाप और महापाप

अत्यंत प्राचीनकाल से दुष्कृत्यों और पापों का वर्गीकरण होता रहा है। ऊपर हमने सात मर्यादाओं की विवेचना की है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने पापों की दो कोटियाँ गिनाई हैं – पतनीय एवं अशुचिकर। पतनीय पाप वे हैं, जिनसे पतन होता है और जातिच्युत होने की स्थिति आ जाती है। अशुचिकर पाप वे हैं जो जातिच्युत तो नहीं बनाते परन्तु अपवित्रता का कारण बनते हैं।

पतनीय पाप हैं – स्वर्ण की चोरी, लांछित करने वाले अपराध, उपेक्षा या प्रमाद से वेद विद्या का पूर्ण ह्रास, भ्रूण हत्या, माता–पिता या एक ही गर्भ से उत्पन्नसन्तानों से व्यभिचार, सुरापान, वर्जित लोगों से समागम, किसी अपरिचित् की पत्नी से समागम आदि।

अशुचिकर पाप हैं – मलमूत्र आदि खा लेना या ग्राम के शूकर अथवा कुक्कुट अथवा कुत्ते का मांस खाना, छोड़ा हुआ भोजन करना, अपात्र स्त्रियों के साथ समागम। आपस्तम्ब ने यह भी कहा है कि पतनीय पापों के अतिरिक्त शेष सभी पाप अशुचिकर समझे जाने चाहिये। ये अपवित्र बनाते हैं।

वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार पापियों की तीन कोटियाँ हैं – एनस्वी, महापातकी और उपपातकी। एनस्वी उन्हीं लोगों को कहा गया है जिन्हें आपस्तम्ब में पतनीय कहा गया है। महापातकों का वर्णन गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में है। सामान्य रूप से महापातकों की संख्या पाँच है। ये हैं – ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरूतल्पगमन और महापातकी का संसर्ग।

इसके अतिरिक्त उपपातक अनेक हैं। वशिष्ठ धर्मसूत्र में पाँच उपपातक गिनाये हैं – यज्ञ प्रारम्भ कर बीच में उसे छोड़ देना, गुरू को कुपित करना, नास्तिक होना, नास्तिक से जीविका का सम्बन्ध रखना (नास्तिक के यहाँ नौकरी करना या काम करना या उसके साथ व्यापार करना) और सोमलता की बिक्री करना। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार उपपातक ये हैं :– पशु हनन, वेदमन्त्र का विस्मरण, राजघात, अपात्र को

पुजारी बनाना या उसके लिये पूजा करना आदि। याज्ञवल्क्य स्मृति में तथा अग्निपुराण में उपपातकों की लम्बी सूची दी गई है। जो इस प्रकार है :— गौवध, निश्चित आयु में उपनयन नहीं करना, चोरी (स्वर्ण चोरी महापातक है, शेष चोरियाँ उपपातक हैं), ऋण नहीं चुकाना, अग्निहोत्र न करना, जिन चीजों की बिक्री नहीं करनी चाहिये, जैसे नमक, उनकी बिक्री करना, बड़े भाई के रहते छोटे भाई द्वारा विवाह कर लेना, ऐसे शिक्षक से वेद पढ़ना जो वृत्ति लेते हों अर्थात नियमित वेतन लेते हों, व्यभिचार, धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित मात्रा से अधिक ब्याज लेना, नारी हत्या,निन्दित धन पर जीविका चलाना, नास्तिकता, ऐसे व्रतों का परित्याग जिनके करने में व्यक्ति समर्थ है, अनाज की चोरी, पशुओं की चोरी, साधारण धातु की चोरी, पतित का पुरोहित होना, पिता—माता या पुत्र को बिना पर्याप्त कारण के घर से निकालना, तालाब या बगीचा बेचना, कुटिलता, केवल अपने लिये भोजन बनाना, आरम्भ किये गये व्रत को पूर्ण किये बिना दोड़ देना, शराब पीने वाली स्त्री से समागम, पुत्र का त्याग, सगे सम्बंधियों का भरण—पोषण न करना, पशुओं का हनन, जादू या इंद्रजाल से जीविकोपार्जन, ऐसे यन्त्रों का उपयोग या उनकी स्थापना जो जीवों को पीड़ा दे या उनकी हत्या करें, धन के लिये दासता स्वीकार करना, पतित के यहाँ नौकरी करना, नीच लोगों से मित्रता करना, नीच स्त्री से समागम का सम्बन्ध बनाना, चारों आश्रमों से बाहर रहना, मुफ्त का दान या मुफ्त का अन्न खाकर रहना, नास्तिकों के ग्रन्थों का अध्ययन और प्रचार तथा पतित का सेवक बनना। इन सभी पापों के लिये प्रायश्चित के भी विधान दिये गये हैं। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि भिक्षुक को दी गई भिक्षा पर उसका धर्मविहित अधिकार है और उसे मुफ्त का अन्न नहीं माना जाता है। इसी प्रकार पुरोहित या मंदिर के पुजारी को दिया गया दान पूर्णतः धर्मविहित है और उस पर उनका धर्मसम्मत अधिकार है। वह भी मुफ्त का दान या मुफ्त का अन्न श्रेणी में परिगणित नहीं होता। पापों की संख्या और उनकी कोटियों पर धर्मशास्त्रों में बहुत विस्तार से विचार है।

1.9 सारांश

जैसी कि अब तक विवेचना की गई है, हिन्दू विश्व—दृष्टि व्यक्ति के मन और बुद्धि को तो उदार और व्यापक तथा कर्मशील बनाती ही है, वह समाज में समरसता, न्यायभावना, सामंजस्य, मैत्रीभाव, बन्धुता, प्रेम, करूणा, वीरता और पवित्रता के भावों को व्यापक बनाती है और इन सबका जीवन में आग्रह दृढ़ करती है। जिसके कारण हिन्दू अपने जीवन में धर्ममय होते हैं। धर्म की व्याख्या एवं उसका स्वरूप तथा परिणाम भी स्पष्ट है। सार्वभौम नियम ही धर्म हैं। जिनमें सत्य, अहिंसा, दूसरे के द्रव्य पर गिद्धदृष्टि या लोभदृष्टि नहीं रखना, संयमपूर्ण जीवन तथा भोग एवं भोग्य वस्तुओं के संग्रह में मर्यादा रखना। ये ही आधारभूत सार्वभौम नियम हैं। इनके साथ ही आन्तरिक और बाहरी पवित्रता, सन्तोष का भाव, आध्यात्मिक एवं श्रेष्ठ शास्त्रों एवं साहित्य का अध्ययन, ईश्वर की भक्ति तथा श्रेष्ठ जीवन के लिये आवश्यकता पड़ने पर कष्ट सहना — ये भी धर्म के ही अंग हैं। समाज में धर्म की भावना व्यापक होने पर जहाँ अपने समाज को वीर और तेजस्वी तथा सामंजस्यपूर्ण एवं न्यायपूर्ण बनाने पर सदा ध्यान दिया जाता है, वहीं अन्यों के अन्याय या आक्रमण या आघात के प्रति वीरतापूर्ण प्रतिकार की भी भावना प्रबल होती है। इस प्रकार हिन्दू विश्वदृष्टि जहाँ सम्पूर्ण विश्व के प्रति आत्मीयता का बोध कराती है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना देती है, वहीं इस भावना को किसी मूढ़ता या कायरता में ढलने नहीं देती। अर्थात् न्याय की भावना और अन्याय के प्रतिकार की भावना जाग्रत रहने पर ही 'वसुधैव

कुटुम्बकम्' का धर्ममय स्वरूप व्यक्त होता है। अन्यथा अविवेकपूर्ण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रायः अपने समाज के प्रति उदासीनता या अन्यता का भाव और किसी गलत या अनैतिक समुदाय के प्रति अनुचित् उदारता का भाव रखने की आड़ बन जाती है। इसलिये 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सदा विवेकपूर्ण दृष्टि के साथ ही चरितार्थ होता है। हिन्दू विश्व दृष्टि व्यक्ति, समूह या समुदाय, समाज एवं राष्ट्र सभी को श्रेयस्कर जीवन का अनुशासन और मार्ग दिखाती है। यह समस्त् विश्व के लिये कल्याणकारी है।

1.10 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

इस इकाई में दिये गये विषयों की अधिक विस्तार से समझ के लिये निम्नांक्ति शास्त्रों को देखना उपादेय होगा :—

1. याज्ञवल्क्य स्मृति
2. महाभारत (विशेषतः आदिपर्व, वनपर्व, शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व तथा अनुशासन पर्व)
3. कमलाकर भट्ट कृत — निर्णयसिन्धु
4. काशीनाथ उपाध्याय कृत — धर्मसिन्धु
5. नागोजि भट्ट कृत — आचारेन्दु शेखर
6. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत — सांख्य दर्शन भाष्य
7. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत — वेदान्त दर्शन भाष्य
8. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत — न्याय दर्शन भाष्य
9. आचार्य उदयवीर शास्त्री कृत — वैशेषिक दर्शन भाष्य
10. श्रीस्वामी ओमानन्द तीर्थ कृत — पातंजल योगप्रदीप

1.11 बोध प्रश्न

1. मन एवं बुद्धि से आप क्या समझते हैं?
2. हिन्दू शास्त्रों में वर्णित मन और बुद्धि के स्वरूप तथा संगठन की विवेचना कीजिए?
3. हिन्दू मन से आप क्या समझते हैं, सविस्तार विवेचना कीजिए?
4. हिन्दू जीवन पद्धति की विवेचना कीजिए?
5. हिन्दू विश्वदृष्टि पर प्रकाश डालिए?

इकाई 2 स्वबोध, स्वधर्म, सर्वमंगल की भावना

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः

- हिन्दू परिप्रेक्ष्य में स्वबोध एवम् इसके स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे।
- स्वबोध और स्वधर्म के सम्बन्ध को समझा पाएँगे।
- मनवधर्म एवं सनातन धर्म के स्वरूप का विवरण दे सकेंगे।
- धर्म, स्वधर्म और सर्वमंगल की भावना के सम्बन्धों को स्पष्ट कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

स्व अर्थात् आत्म या स्वयं से सम्बन्धित, इस स्व के ज्ञान को ही स्वबोध कहते हैं। तथा धर्म के अनुरूप होना ही स्वधर्म है। इस इकाई में आप स्वबोध की परिभाषा, किस प्रकार स्व का बोध प्राप्त किया जा सकता है और हिन्दू परिप्रेक्ष्य में स्वबोध से क्या समझ सकते हैं?इन विषयों का अध्ययन करेंगे। इस क्रम में आप जानेंगे कि किस प्रकार स्व की परिभाषा से स्वबोध की संकल्पना में भी परिवर्तन आ जाता है, स्व को आत्मा मानने से किस प्रकार स्वबोध की अवधारण बनती है तथा षड् दर्शनों एवं बोद्ध – जैन मतों में भी किस प्रकार स्व तथा स्वबोध को समझा गया है। परन्तु इस वैविध्य के रहते हुए भी किस प्रकार से हिन्दू संकल्पना में दर्शन के कुछ सामान्य लक्षण उपस्थित हैं। धर्म का बोध भी स्वधर्म के उपरान्त ही स्वतः होता है, क्योंकि स्व का बोध ही आत्मबोध है तथा वह जगत परमात्म बोध भी है। इसी से आत्म का जगत्एवं परमात्म से क्या सम्बन्ध है इसका भी बोध होता है और क्रमशः धर्म का भी बोध होता है। धम्रके भी स्तर हैं, जैसे– सामान्य धर्म, मानवधर्म, आपद्धर्म, स्वधर्म आदि इसकी समानताओं एवं विशिष्टताओं का भी अध्ययन करेंगे।

इस अध्ययन के पश्चात् आप स्वबोध, स्व, धर्म, दर्शन, मानव धर्म, सनातन धर्म, सामान्य धर्म इत्यादि एवं स्वबोध एवं स्वधर्म के ज्ञान से सर्वमण्डल की भावना के उदय को स्पष्ट रूप से जान पाएँगे।

2.1 स्वबोध का अर्थ तथा पूर्ण स्वबोध प्राप्ति की प्रक्रिया

प्रश्न : स्वबोध किसे कहेंगे?

उत्तर : स्व का बोध ही स्वबोध है। अतः 'स्व' किसे मानते हैं, इससे स्वबोध का स्वरूप निर्धारित होता है। यदि कोई व्यक्ति केवल स्वयं को ही 'स्व' माने तो उसके लिये स्वबोध का अर्थ है उसकी इन्द्रियों और मन को दिखने वाला जगत या दृश्य। दृश्य के दृष्टा को स्वामी कहते हैं। सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्वत्व या स्वामित्व का विचार धर्मशास्त्रों में विस्तार से है। दार्शनिक सम्बन्ध में 'स्व' का विस्तार बोध और दृष्टि के विस्तार के साथ होता है। हम स्वयं को व्यक्ति रूप में देखते हैं या अपने कुल और समाज तथा राष्ट्र के एक अंग के रूप में या समष्टि के एक अवयव के रूप में? इससे 'स्व' का निर्धारण होता है। हिन्दू के सन्दर्भ में हिन्दू का 'स्व' वह है जो वेदों और धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित है। जिसमें व्यक्ति अपने कुल, समाज, राष्ट्र का एक सजीव और अभिन्न अव्यव है तथा साथ ही आत्मसत्ता सम्पन्नव्यक्ति के रूप में ब्रह्माण्डीय इकाई भी है। 'स्व' के इन सभी रूपों को जानना चाहिये और उसके सन्दर्भ में व्यक्ति के रूप में अपना स्वधर्म निश्चित करना चाहिये।

प्रश्न : स्व का बोध कैसे प्राप्त करें?

उत्तर : यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सबसे पहले तो व्यक्ति के स्तर पर पर ही स्व को जानने का पुरूषार्थ करना होगा। इसका सम्बन्ध भी परिवेश और शिक्षा से है। फिर हिन्दू समाज 'स्व' का बोध कैसे प्राप्त करें? यह जानने के लिये स्वयं हिन्दू के विषय में बोध की स्पष्टता आवश्यक है। जब आप हिन्दू के विषय में अर्थात् हिन्दू समाज, हिन्दू राष्ट्र, हिन्दू परम्परा और हिन्दू इतिहास का ज्ञान अर्जित कर लेते हैं, तब हिन्दू के विषय में बोध की स्पष्टता सम्भव होती है। जिस सीमा तक यह ज्ञान सम्यक और प्रामाणिक होगा, उसी सीमा तक बोध भी सम्यक और प्रामाणिक होगा। मन की विकलता या मलिनता से और बुद्धि की संकीर्णता से बोध भी संकीर्ण और मलिन होता है। अतः बोध प्राप्त करने के लिये जिस करण से अर्थात् बुद्धि और मन से उसे प्राप्त किया जाता है, उसका स्वस्थ, परिपक्व और शुद्ध होना आवश्यक है।

भगवान बुद्ध इस विषय में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सुपरिचित् उपमा देते थे। वे भिक्षुओं से प्रायः कहते थे कि क्या तुम भिक्षा के समय ऐसे कमण्डलु में खीर ग्रहण कर लोगे, जिसमें पहले से गोबर भरा हो? यदि ग्रहण कर भी लिया तो क्या सचमुच उसे खा पाओगे?

यही बात मन और बुद्धि के लिये भी लागू होती है। यदि बुद्धि में अज्ञान और भ्रम भरा है या चित्त मलिन है, तो उसमें शास्त्रों का ज्ञान भी सम्यक रूप से ग्रहण नहीं होगा। उसे विकृत रूप में ही ग्रहण कर सकेंगे। इसीलिये सर्वप्रथम मन और बुद्धि को स्वस्थ एवं सत्वयुक्त बनाने की साधना आवश्यक है।

स्वस्थ और ज्ञान सम्पन्न बुद्धि के द्वारा ही 'स्व' का सम्यक बोध प्राप्त होता है।

प्रश्न : हिन्दुओं के स्वबोध का सम्यक और प्रामाणिक स्वरूप क्या है?

उत्तर : किसी भी समाज के स्वबोध की प्रक्रिया यही है कि उस समाज के ज्ञानियों और ज्ञान की परम्परा तथा शास्त्रों के ज्ञान के द्वारा ही स्वबोध प्राप्त होता है। धर्मशास्त्रों का ज्ञान प्रामाणिक आचार्यों और गुरूओं के द्वारा प्राप्त होने पर स्वबोध होता है। अपनी ज्ञान परम्परा और अपने शास्त्रों का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय एवं मन्न करने

से तथा उस पर गहराई से चिन्तन करने से स्वबोध प्राप्त करना सरल है। हिन्दू के सन्दर्भ में स्वबोध का अर्थ है हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज तथा हिन्दू राष्ट्र का बोध।

यहाँ उल्लेखनीय है कि भारतवर्ष और हिन्दूस्थान पर्याय हैं। जिस सीमा तक सनातन धर्म का विस्तार हो, वह समस्त् क्षेत्र हिन्दू क्षेत्र है। कभी समस्त् जम्बू द्वीप ही हिन्दू क्षेत्र था। सम्पूर्ण मध्य एशिया, यवन–क्षेत्र, गांधार, पारसी, त्रिविष्टप, उत्तर कुरू सहित समस्त् हिमालय क्षेत्र हिन्दू क्षेत्र रहा है।

हिन्दुओं के स्व–बोध और स्वधर्म का मूल क्षेत्र हैं वेद। वेद चार हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। इन चारों के एक–एक उपवेद भी हैं। ऋग्वेद का उपवेद अर्थवेद, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है। इन सबमें जो मनुष्य के द्वारा तथा भारत क्षेत्र के या सनातन धर्म के समस्त् अनुयायी मनुष्यों के द्वारा कर्त्तव्य कर्म (धर्म) प्रतिपादित हैं, उनको जानना ही हिन्दुओं का स्वबोध है।

मनु ने कहा है – ''वेदोऽखिलो धर्ममूलं''। (मानव धर्मशास्त्र या मनुस्मृति, अध्याय 2, श्लोक 6)। अतः वेदों के ज्ञान से 'स्व' के बोध का आधार या मूल प्राप्त होता है। वेद पढ़ पाना तप का कार्य है। जो यह तप नहीं कर पाएँ, वे उपनिषदों, धर्मशास्त्रों तथा पुराणों को पढ़कर या सुनकर 'स्व' का बोध प्राप्त करते हैं। इसकी भी विराट परम्परा है।

मूल को जानना तो महत्त्वपूर्ण है ही, परन्तु विस्तार को जानना भी आवश्यक है। विस्तार ही ऐश्वर्य है। इस प्रकार देखें तो हिन्दू ज्ञान परम्परा का विराट विस्तार है। वह सब 'स्व' का ही अंग है।

ज्ञान की प्रत्येक शाखा में हिन्दू ज्ञान का विस्तार है। अध्यात्म के क्षेत्र में वेद, उपवेद, ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषद हैं। कुल 108 उपनिषद हैं, जिनमें से 11 मुख्य हैं – ईश, केन, कठ, मुंडक, माण्डूक्य, प्रश्न, छांदोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर एवं ऐतरेय। वेदों के अंतिम अंश उपनिषद हैं। इसीलिए इन्हें वेदान्त दर्शन या वेदान्त भाग भी कहते हैं।

इनके साथ ही वेदान्त दर्शन मुख्यतः ब्रह्मसूत्र को माना जाता है। वेदांत दर्शन पर अनेक शास्त्र एवं ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार 6 मुख्य भारतीय दर्शन हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं वेदान्त (उत्तर मीमांसा)। ये 6 प्रसिद्ध भारतीय दर्शन हैं। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिससे सत्य को देखा जाता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसके साथ ही जैन, एवं बौद्ध दर्शन प्रसिद्ध है। कुछ लोग चार्वाक को भी दर्शन कहते हैं, पर वह नाम से ही अ–दर्शन है। जन–सामान्य में जो बातें प्रथम दृष्टि में रूचिकर लगें, उसे चार्वाक कहते हैं। चारू यानी भला या भली। वाक् यानी वाणी। जो भली सी लगे, भले ही वह सत्य हो या असत्य, हितकर हो या अहितकर, वह है चार्वाक। परन्तु उसके कुछ कथन ही मिलते हैं। उसका कोई शास्त्र आजतक नहीं मिला है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म एवं यज्ञ का विधि–निर्देश है। इसके साथ ही 6 वेदांग हैं जो वेदों के अंग हैं। ये निम्नानुसार हैं –

1. शिक्षा– जिसका उपयोग वैदिक वर्णों, स्वरों और मात्राओं के बोध कराने में होता है।
2. कल्प– जो आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन और कात्यायन आदि ऋषियों के

बनाये श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र हैं, जिनमें योग के प्रयोग, मन्त्रों के विनियोग की विधि है।

3. व्याकरण– जो प्रकृति और प्रत्यय आदि के उपदेश से पद के स्वरूप और उसके अर्थ का निश्चय करने के लिये उपयोगी हैं।
4. निरुक्त– जो पदविभाग, मन्त्र का अर्थ और देवता के निरूपण द्वारा एक–एक पद के सम्भावित और अवयवार्थ का निश्चय करता है।
5. छन्द– जो लौकिक और वैदिक पादों की अक्षर–संख्या को नियमित करने, पाद, यति और विराम आदि की व्यवस्था करने में उपयोगी है।
6. ज्योतिष– जो यज्ञादि–अनुष्ठान के कालविशेष की व्यवस्था करता है। इसमें काल सम्बन्धी विराट गणनायें हैं तथा बाद में फलित ज्योतिष के रूप में भी इसके ग्रहों आदि की गति और स्थिति को लेकर फलादेश जानने और बताने की विद्या विकसित् हुई है।

इन सबका ज्ञान 'स्व' के बोध का अंग है। जिसमें जितनी सामर्थ्य हो, उसे उतना ही जानना सम्भव है।

षड् दर्शनों के सभी रूपों को जानना उपादेय है और बोध की प्रक्रिया का आवश्यक अंग है। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है –

1. न्यायदर्शन – गौतम मुनि ने न्यायदर्शन का प्रवर्तन किया है। न्यायदर्शन में पाँच अध्यायहैं। इनमें से प्रत्येक अध्याय में दो–दो आह्निक हैं। न्यायशास्त्र में प्रमा, प्रमेय, प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति इन पाँच का गहन विश्लेषण है। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं और अयाथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहते हैं। संशय और विपर्यय आदि अप्रमा हैं। प्रमा का करण अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन प्रमाण कहलाता है। प्रमा के द्वारा जो जाना जाता है उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय 16 हैं। जानने वाले को प्रमाता कहते हैं। जो जाना गया उसे प्रमिति कहते हैं। न्यायशास्त्र में इन सबका वर्णन है।
2. वैशेषिक दर्शन – कणाद मुनि द्वारा प्रवर्तित दर्शन वैशेषिक दर्शन कहलाता है। इसमें 'विशेष' नामक प्रत्यय और पदार्थ की गहरी विवेचना है। इसलिये इसे वैशेषिक कहते हैं। कणाद द्वारा प्रवर्तित होने से इसे काणाद भी कहते हैं और कणाद के पिता उलूक के नाम पर उलूक–पुत्र के इस दर्शन को औलूक्य भी कहते हैं। वैशेषिक सूत्रों की संख्या 370 है जो दस अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। वैशेषिक दर्शन सात पदार्थों को मानता है – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। विश्व के सभी पदार्थों का इन सात में समाहार है। पद का अर्थ ही पदार्थ है। अभिधेयत्व पदार्थ का सामान्य लक्षण है यानी जिन्हें यथार्थ ज्ञान के द्वारा जाना जा सके, वे सब तत्त्व पदार्थ हैं।

   प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य, गुण तथा कर्म के लक्षण तथा विभाग का और दूसरे में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्याय में नौ द्रव्यों का, चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में परमाणुवाद का तथा द्वितीय में अनित्य द्रव्य विभाग का, पाँचवें अध्याय में कर्म का, छठे अध्याय में वेद–प्रामाण्य के विचार के बाद धर्म–अधर्म का, सातवें तथा आठवों अध्याय में कतिपय गुणों का, नवें अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का और दसवें में सुख–दुःख–विभेद तथा विविध कारणों का वर्णन किया गया है। वैशेषिक दर्शन चार प्रमाणों का प्रतिपादन करता है –

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

वैशेषिक दर्शन में हेय, हेय–हेतु, हान और हानोपाय – इन चारों प्रतिपाद्य विषयों को समझने के लिये सात पदार्थों का निरूपण किया गया है – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय तथा अभाव। इन सबके सामान्य धर्म और विशेष धर्म के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष मिलता है, यह प्रतिपादन ही वैशेषिक दर्शन का विषय है।

3 सांख्य दर्शन – प्रकृति और पुरूष सम्बन्धी ज्ञान को सांख्य दर्शन कहा जाता है। प्रकृति के 24 अंग और 25वां पुरूष, इन 25 तत्त्वों की विवेचना करने के कारण इसे सांख्य कहते हैं। संख्या का एक अर्थ सम्यक ख्याति भी होता है। महाभारत में कहा है –

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्।।

अर्थात् दोषों और गुणों का तथा प्रमाण का विश्लेषण करते हुये अर्थ का ज्ञान कराना ही सांख्य है। आदि शंकराचार्य ने कहा है कि शुद्ध आत्मतत्त्व का विज्ञान ही सांख्य है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक श्री कपिल मुनि हैं। जिनके विषय में भगवद्गीता में दसवें अध्याय में विभूतियोग में भगवान कृष्ण ने कहा है कि मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ (सिद्धानां कपिलो मुनिः)।

श्वेताश्वतर उपनिषद में भी कहा गया है कि कपिल मुनि प्रथम मुनि हैं। वे ज्ञान से सम्पन्न हैं – 'ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति।' इन्हें आदि मुनि भी कहा जाता है। जो सृष्टि के आदि में धर्म–ज्ञान–वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न प्रकट हुएँ सांख्यदर्शन के अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुये हैं। जिनमें से प्रमुख हैं – आसुरिमुनि, पंचशिखाचार्य, पतंजलि, जैगीषव्य, वार्षगण्य, विन्ध्यवासी, जनक, पराशर, व्यास, ईश्वरकृष्ण, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पंचाधिकरण, कौण्डिन्य, मूक, गर्ग, गौतम।

कपिल मुनि रचित् तत्त्व समास, उस पर विज्ञान भिक्षु के शिष्य भाव गणेश द्वारा 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन' टीका, शिवानन्दकृत 'सांख्यतत्त्वविवेचन' एवं अन्य टीकायें प्रसिद्ध हैं। ईश्वरकृष्ण रचित् 'सांख्यकारिका' (सांख्यसप्तति) और उस पर वाचस्पति मिश्र द्वारा की गई 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' टीका प्रसिद्ध है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य सूत्र पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखा है। सांख्य दर्शन में चेतन तत्त्व और जड़ तत्त्व की विस्तृत विवेचना है। मूल प्रकृति को प्रधान कहा जाता है और उसके सात भेद हैं – महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ तथा 16 विकार हैं – पंचमहाभूत, पाँच बुद्धीन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और आन्तर इन्द्रिय मन। ये कुल मिलाकर 24 तत्त्व हुये जो जड़ हैं तथा 25वा तत्त्व पुरूष है जो चेतन है। यह चेतन तत्त्वव्यक्ति के हृदय में स्थित आकाश में रहता है। यह अमृत और ज्योतिर्मय है। जीव के भीतर विद्यमान इस चेतन तत्त्व को आत्मा कहते हैं। ब्रह्माण्ड में यह समस्त् जगत से जुड़ा हुआ है। सांख्य दर्शन इन सबका वर्णन करता है।

प्रकृति के तीन गुण हैं – सत्व, रज और तम। यानी प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति। इन तीनों गुणों की सक्रिय अभिव्यक्ति सृष्टि है और इनका अपने कारण में समाहित हो जाना प्रलय है। सृष्टि के तीन पक्ष हैं – आध्यात्मिक, आधिदैविक

और आधिभौतिक।

बुद्धि की पाँच वृत्तियाँ हैं – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

ज्ञान के पाँच स्रोत हैं – आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा। जो क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद एवं स्पर्श का ज्ञान–प्रवाह भीतर बहाते हैं। शरीर में पाँच प्राण (वायु) हैं – प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।

कर्म की पाँच शक्तियाँ हैं – बोलना, पकड़ना, चलना, मूत्र–विसर्जन, मल–विसर्जन। ये क्रमशः वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और मलद्वार (गुदा) इन कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न होते हैं।

अविद्या पाँच प्रकार की है – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अशक्तियाँ 28 प्रकार की हैं – ग्यारहों इन्द्रियों की अक्षमता, नौ प्रकार की तुष्टि की अक्षमता और आठ प्रकार की असिद्धि। ये 28 अशक्तियाँ हुईं।

9 तुष्टियाँ हैं – जिनमें से 4 आध्यात्मिक तुष्टि हैं। प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य। 5 बाह्य तुष्टियाँ हैं जो रूप, रस, गन्ध, स्वाद एवं स्पर्श सम्बन्धी तुष्टि है।

सिद्धियाँ आठ हैं – ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःखहान, आधिदैविक दुःखहान एवं आधिभौतिक दुःखहान। इन सब पर सांख्य दर्शन में विस्तृत विवेचना है।

10 मौलिक अर्थ हैं – अस्तित्त्व, संयोग, वियोग, शेष वृत्तित्व, एकत्व, अर्थवत्व, परार्थ्य, अन्यता, अकर्तृत्व एवं बहुत्व।

भगवान का अनुग्रह ही सृष्टि है। इसके प्रकृति का अनुग्रह भी कह सकते हैं। बन्ध और मोक्ष के तीन प्रकार हैं। चेतन और जड़ ये दो अनादि तत्त्व हैं। तीन प्रमाण हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम।

4. योगदर्शन – योगदर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है योगसूत्र। जो महर्षि पतंजलि द्वारा रचित् है। उसमें चार चरण हैं – समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। इन चारों में क्रमशः 51, 55, 55 तथा 34 सूत्र हैं, कुल 195 सूत्र। पतंजलि के योगसूत्र पर व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। इसके बाद अनेक महत्त्वपूर्ण योगियों ने उस पर टीकायें लिखीं। जिनमें प्रमुख हैं – व्यासभाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्ववैशारदी, विज्ञानभिक्षु कृत योगवार्तिक आदि। आधुनिक काल में श्री स्वामी ओमानंद तीर्थ कृत 'पातंजल योगप्रदीप' तथा स्वामी हरिहरानंद आरण्य कृत 'पातंजल योगदर्शनम्' सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकायें हैं। योगदर्शन का प्रयोजन आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से देख सकने की साधना का प्रतिपादन है। इसीलिये समस्त् शास्त्र योग की महिमा गाते हैं।

चित्त की समस्त् वृत्तियाँ सामान्यतः बहिर्मुखी होती हैं। जिसके कारण उनमें रज और तम की मात्रा बढ़ती जाती है। इन वृत्तियों की बहिर्मुखता को रोककर इन्हें अन्तर्मुखी करने से रजोगुण और तमोगुण शमित होते हैं और सत्व का प्रकाश बढ़ता है। उच्चतर साधना के द्वारा अन्त में बुद्धि पूर्णतः दृश्य के मूल स्वरूप को देख लेती है और पूर्ण वैराग्य की स्थिति में वह धर्ममेघ समाधि में स्थित होती है जहाँ शुद्ध आत्मा उसके भीतर प्रतिबिंबित होता है। इस प्रकार उस योगी के लिये प्रकृति की समस्त् गुण–विकार–प्रकृति समाप्त हो जाती है और पुरूषार्थ शून्य

गुणों का प्रलय हो जाता है तथा चितिशक्ति स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाती है। इस प्रकार आत्मदर्शन होता है। यही योग की अंतिम सिद्धि है।

अतः स्व के बोध में इस समस्त् ज्ञान का विस्तार समाहित है। परन्तु साथ ही दृष्टा या आत्मस्वरूप में स्थिति तो वस्तुतः स्व के समस्त् विस्तार का विलोप है। परन्तु व्यवहारिक जीवन में तो विस्तार का ऐश्वर्य ही प्रमुख है और दो अलग व्यक्तियों या समाजों या राष्ट्रों में ऐश्वर्य के स्वरूप के भेद से ही भिन्न–भिन्न स्व की पहचान सम्भव है।

अतः हिन्दू समाज का स्व केवल आत्मज्ञान या परमात्मा के ज्ञान से वर्णित नहीं हो सकता। वह तो पराविद्या का ज्ञान है। परन्तु अपरा विद्या का भी अभूतपूर्व विस्तार हिन्दू समाज में हुआ है। राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, वित्तशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्यवहारशास्त्र (न्यायशास्त्र), शिल्पशास्त्र, कृषिशास्त्र, व्यापार और वाणिज्य के शताधिक क्षेत्रों से सम्बंधित शास्त्र तथा इनके द्वारा सम्पादित पुरूषार्थरूपों को जानना भी हिन्दू स्व या स्वत्व का बोध है। इसीलिये प्रातः स्मरण में ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों, संगीतज्ञों, कलाविदों, महात्माओं, सन्तों, शूरों, वीरों, महाजनों, शिल्पियों तथा सभी प्रमुख विभूतियों का स्मरण किया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसीलिये भगवद्गीता के दसवें अध्याय विभूतियोग में अपने अनेक विभूतिरूपों का वर्णन किया है। जैसे – देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, प्राणियों की चेतना, 11 रूद्रों में शंकर, यक्षों और राक्षसों में धन का स्वामी कुबेर, वसुओं में अग्नि, पर्वतों में सुमेर, पुरोहितों में बृहस्पति, सेनानियों में स्कंद, जलाशयों में सागर, महर्षियों में भृगु, यज्ञों में जप यज्ञ, स्थावरों में हिमालय, सभी वृक्षों में पीपल का वृक्ष, देवर्षियों में नारद, दैत्यों में प्रहलाद, पशुओं में मृगराजसिंह, पक्षियों में गरूड़ आदि बताते हुये अन्त में कहा है कि यह समस्त् जगत मेरे अंशभूत विभूतियों से प्रकाशित है। जहाँ भी शील और सत्व का विशेष उन्मेष दिखे और जो कुछ भी कांतियुक्त और शक्तियुक्त दिखे, उस सब विभूति को मेरे ही तेज की अभिव्यक्ति जानो। इसीलिये जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारे यहाँ प्रचुर ग्रन्थ लिखे गये हैं। जैसे राजनीतिशास्त्र में महाभारत में विस्तार से राजधर्म की विवेचना है और उसमें बृहस्पति, भरद्वाज आदि को पहले के राजशास्त्र प्रणेता कहा गया है। पंचतन्त्र के प्रथम श्लोक में मनु, बृहस्पति, शुक्र, पाराशर, व्यास, चाणक्य आदि को नृपशास्त्र के रचयिता कहा गया है। इसका ही एक अन्य नाम है दण्डनीति। महाभारत और रामायण में राजनीति की विस्तार से विवेचना है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्सृति में भी इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसके साथ ही विष्णु धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, वृद्धहारीत, मत्स्य पुराण, गरूण पुराण, कालिका पुराण, मार्कण्डेय पुराण, विष्णु धर्मोतर पुराण तथा शुक्रनीति, शुक्रनीतिसार, सोमदेव रचित् नीतिवाक्यामृत, महाराज भोज रचित् युक्तिकल्पतरू, लक्ष्मीधर का कृतकल्पतरू, नीलकंठ का नीतिमयूक, अन्नतदेव का राजधर्मकौस्तुक, सम्भाजी महाराज का बुधभूषण तथा केशव पण्डित की दण्डनीति आदि प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार समस्त् धर्मशास्त्र धर्म और समाजशास्त्र दोनों के ही ग्रन्थ हैं। इनमें मुख्य हैं – गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन और वसिष्ठ धर्मसूत्र तथा पारस्कर गृह्यसूत्र। साथ ही मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, अंगिरा स्मृति, नारद स्मृति, देवल स्मृति, व्यास स्मृति, कात्यायन स्मृति, मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका, याज्ञवल्क्य स्मृति की विश्वरूप टीका तथा अपरार्क टीका, कल्हण की राजतरंगिणी, वरदराज का व्यवहार निर्णय, मदनसिंह देव द्वारा रचित् मदनरत्न नामक निबन्ध संग्रह, वाचस्पति मिश्र रचित् शुद्ध चिन्तामणि, तीर्थ

चिन्तामणि आदि, कमलाकर भट्ट का निर्णयसिन्धु, काशीनाथ उपाध्याय का धर्मसिंधु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा टीका और उस पर बालम्भट्ट की बालम्भट्टी टीका आदि प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय रचनायें हैं जो 19वीं शताब्दी ईस्वी तक निंरतर होती रही हैं यह सब हिन्दुओं के स्वबोध का ही अंग है।

5 मीमांसा (पूर्व मीमांसा) दर्शन – मीमांसा शब्द 'मान ज्ञाने' धातु से बना है। इसमें वेदमन्त्रों सम्बन्धी कर्मकाण्ड की विस्तृत विवेचना है। महर्षि जैमिनि ने इसे लिखा है। इसका पहला सूत्र है – 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (अब धर्म की जिज्ञासा करते हैं)। यज्ञीय कर्मकाण्डों से स्वर्ग एवं ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

6 वेदान्त (उत्तर मीमांसा) – ब्रह्मसूत्र उत्तर मीमांसा है। इसे ही ब्रह्म मीमांसा भी कहते हैं। इसके चार अध्याय हैं – समन्वय, अविरोध, साधन और फल अध्याय। हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय का विचार कर ब्रह्म–दर्शन की साधना का मार्ग इसमें दर्शाते हैं।

7 बौद्ध दर्शन – तथागत गौतम बुद्ध द्वारा उपदेशित हिन्दू दर्शन को बौद्ध दर्शन कहा जाता है। वे सूर्यवंशी राजा थे। उन्होंने पृथ्वी पर ज्ञान–शासन कियाभारतीय इतिहास उनका समय 1860 ईसापूर्व बताते हैं और यूरोपीय लेखक उनका समय ईसापूर्व 448 बताते हैं। वे महाराज शुद्धोदन एवं मायादेवी के पुत्र थे। 19वे वर्ष में उन्होंने सन्यास लिया और 4 वर्ष बाद वैशाखी पूर्णिमा को उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। बुद्ध तथा प्रतिबुद्ध शब्द उपनिषदों में भी प्रयुक्त रहे हैं। बोध–प्राप्त व्यक्ति को बुद्ध कहते हैं। अतः बुद्ध केवल सिद्धार्थ गौतम के लिये प्रयुक्त नहीं है। यह एक संज्ञा है जो प्रत्येक बोध प्राप्त व्यक्ति के लिये है। परन्तु बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध तथागत गौतम से है।'यथा ऋषयः आगतः तथा स आगतः, तस्मात् तथागतः'। अर्थात् जैसे ऋषि आते रहे हैं, वे वैसे ही आये, इसीलिये तथागत कहलाये। अतः वे वैदिक ऋषियों की परम्परा में हैं। उच्च चेतना स्तर के कारण वे अवतार माने जाते हैं। 56 वर्षों तक सतत् धर्मचक्र प्रवर्तन के कारण वे विशाल क्षेत्र में मान्य हुये। 80 वर्ष की आयु में उन्होंने निर्वाण प्राप्त कियावे महान तपस्वी महापुरूष हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती ऋषियों की ही तरह धर्मचक्र का प्रवर्तन कियाविस्तृत क्षेत्र में व्याप्ति के बाद उनके मत के चार भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय हो गये। उन्होंने योगदर्शन की ही भांति आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया – सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति एवं सम्यक समाधि।

दुःख आर्यसत्य है। दुःख समुदय आर्यसत्य हैं। दुःख निरोध आर्यसत्य है। दुःध निरोधगामिनी प्रतिपदा भी आर्यसत्य है। जो अष्टागिक मार्ग है। ये चार आर्यसत्य हैं। दुःख निरोध निर्वाण की दशा है। शील, समाधि एवं प्रज्ञा से निर्वाण प्राप्त होता है।

8 जैन दर्शन – सूर्यवंशी सम्राट नाभि एवं महारानी मरूदेवी से भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ। जो प्रथम तीर्थंकर हैं। उनके पुत्र भरत हुये। मनु प्रथम भरत हैं, जिनके नाम से यह देश भारतवर्ष कहलायाँ उसके बाद ऋषभदेव के पुत्र भरत दूसरी ऐसी विभूति हुये जिनके नाम से भारतवर्ष और अधिक प्रसिद्ध हुआ। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुये और 24वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुये। उनका जन्म ईसापूर्व 599 में हुआ तथा समाधि उन्होंने 527 ईसापूर्व में ली। वे 72 वर्ष रहे।

आत्मा, पुनर्जन्म एवं कर्मफल जैनदर्शन के भी तात्विक आधार हैं। सप्तभंगी नये और स्यादवाद इसके तर्कशास्त्र हैं जो सत्य के अनेकान्त होने पर बल देते हैं। इस प्रकार जीवन की विविधता और विराटता और चैतन्य की अन्नतता जैन दर्शन का भी सार है।

जीव चैतन्यमय है। उसका साक्षात लक्षण ज्ञान है। वह निसर्गतः अन्नतज्ञान–विशिष्ट है। परन्तु कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप दृष्टि से ओझल रहता है।

ज्ञान दो प्रकार का है – प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। इन्द्रिय–मन सापेक्ष ज्ञान परोक्ष है। आत्म सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष है क्योंकि उसमें आत्मा को अन्य किसी करण की सहायता अपेक्षित नहीं है। परोक्ष के दो भेद हैं – मति एवं श्रुत। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं – अवधि, मनः पर्याय और केवल।

प्रश्न : दर्शन के इतने प्रकार और वैविध्य के बाद भी हिन्दू दर्शन के सामान्य लक्षण क्या हैं?

उत्तर : आत्मा और परमात्मा तथा कर्म, कर्मफल और पुनर्जन्म तथा इतने विराट ज्ञान के कारण शील और सदाचार पर बल देना – यही हिन्दू दर्शनों के सामान्य लक्षण हैं। कोई भी हिन्दू दर्शन सदाचार की उपेक्षा और शील में शिथिलता स्वीकार नहीं करता। इसीलिये चार्वाक को वस्तुतः हिन्दू दर्शन नहीं माना जाता अपितु अविकसित् मन–बुद्धि वालों को सुहानी लगने वाली बातों का वह एक छिटपुट संकलन मात्र है। शील और प्रज्ञा सभी हिन्दू दर्शनों का सार और मर्म हैं जो जीवात्मा को अपने सच्चे स्वरूप और परम सत्ता के सच्चे स्वरूप को जानने और इस जगत की प्रक्रिया के आधारभूत नियमों और सत्य को जानने पर बल देते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू वर्तमान में विश्व की सबसे प्राचीन जाति है।

शास्त्रों और परम्पराओं से हमें ज्ञात होता है कि हिन्दू वर्तमान समय में विश्व की सबसे प्राचीन जाति यानी नेशन हैं। संसार में अन्य प्राचीन जातियाँ यानी नेशन्स विलुप्त हो गये या रूपान्तरित हो गये हैं। वे अपने हजारों वर्ष पुराने किसी भी शास्त्र को या तो सुरक्षित रख पाने में सफल नहीं हुये हैं या फिर उसकी उपेक्षा कर दी है। सम्पूर्ण ईसाई जगत विगत लगभग 1000 वर्षों में ईसाइयत के द्वारा फैलाये गये ज्ञान और बाद में यूरोपीय साइंस के द्वारा विकसित् ज्ञान को ही जानता है। उससे पहले की ज्ञान परम्परा के विषय में यूरोप में विस्तार से कुछ भी उपलब्ध नहीं है। वे प्रायः अपने ज्ञान की प्राचीनता के सन्दर्भ में ग्रीस यानी यवन देश का उदाहरण देते हैं। परन्तु यह उदाहरण देना भी केवल 200 वर्ष पहले शुरू हुआ है। उसके पहले तक यूरोपीय लोग किसी भी यवन दार्शनिक को अपना और अपनी परम्परा का विद्वान नहीं मानते थे।

इसी प्रकार अरब जगत में इस्लाम से पहले की ज्ञान पंरपरा और शास्त्र आज विस्तार से उपलब्ध नहीं है। भारत में स्थिति नितान्त भिन्न है। यहाँ हजारों साल पुराने शास्त्र सुलभ हैं। जिनके द्वारा हिन्दू समाज अपनी परम्परा को जान सकता है और स्वबोध को प्राप्त कर सकता है।

उससे ज्ञात होता है कि भारत के हिन्दुओं को अत्यन्त प्राचीन काल से सृष्टि के विषय में विस्तृत जानकारी थी। उन्हें बारम्बार होने वाले प्रलय और पुनः सृष्टि की परम्परा भी ज्ञात थी। साथ ही प्राचीनतम काल से हिन्दू लोग यह मानते आये हैं कि सृष्टि का प्रथम कारण ईश्वर है। जिनकी सृजनात्मक बुद्धि का ही प्रतिफल सृष्टि है। उपनिषदों

ने परमब्रह्म को जीवों और पंचतत्त्वों या महाभूतों, दोनों का ही सृष्टा कहा है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत 7, 8 एवं 9वें अध्यायों को तैत्तिरीय उपनिषद कहा जाता है। इस उपनिषद की तृतीय वल्ली को भृगुवल्ली कहा जाता है। क्योंकि वरूणदेव ने अपने पुत्र भृगु ऋषि को जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था, उसका वर्णन इस वल्ली में है। इस भृगु वल्ली के प्रथम अनुवाक में कहा गया है –

> यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
> यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।।

अर्थात् जिससे समस्त् प्राणी और समस्त् महाभूत भी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के उपरान्त जिससे सब जीवित रहते हैं तथा जिसमें वे पुनः लौट जाते हैं या समा जाते है वह ब्रह्म है। उन्हें ही जानना चाहिये।

इसी उपनिषद में दूसरी वल्ली – 'ब्रह्मानन्द वल्ली' में कहा है कि – 'सत्यं ज्ञानमन्नतं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायाँ परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।'

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, वे ही ज्ञान हैं और वे अन्नत हैं। प्राणियों के हृदयरूपी गुफा में वे ही विद्यमान हैं। जो उन्हें जानता है, वही समस्त् कामनाओं और समस्त् भोगों के मूल को जान जाता है और वही वास्तविक भोग को जानता है।

इसी में आगे कहा है कि उसी ब्रह्म से आकाश सम्भूत हुआ। उससे वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वृक्ष–वनस्पतियाँ और औषधियाँ जो मनुष्यों का भोजन है। इसीलिये मनुष्य अन्नमय और रसमय है। अन्न से ही प्रजा की वृद्धि होती है और वे जीवित रहते हैं तथा अन्त में पृथ्वी में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न और रसमय मनुष्य शरीर से भिन्न, उस शरीर के भीतर ही रहने वाला प्राणमय शरीर है। जो अन्नमय स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है और शरीर के अंग–प्रत्यंग में व्याप्त है। प्राणों के द्वारा ही चेष्टा होती है। अतः प्राण ही प्राणियों की आयु है।

उस प्राणमय पुरूष या जीव से भिन्न उसके भीतर विद्यमान मनोमय पुरूष है। यह मनोमय शरीर अत्यंत गतिमय और छंदोमय तथा ज्ञानमय है। उससे परे उस मनोमय पुरूष का भी अन्तर्वर्ती एक स्वरूप है जो विज्ञानमय है। विज्ञानमय शरीर ऋत यानी वैश्विक नियमों का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और योग के द्वारा परमात्मा से जुड़ने में भी समर्थ है। इस विज्ञानमय शरीर के भीतर एक आनंदमय शरीर है। जो परमात्मा के बोध में समर्थ है। परमात्मा ही जानने योग्य हैं। अतः परमात्मा का बोध ही वास्तविक बोध है।

प्रश्न : तो क्या आत्मबोध एवं परमात्मा का बोध ही स्वबोध है?

उत्तर : नहीं। यह सही है कि हिन्दू परम्परा में स्वबोध का मूल अर्थ है आत्मा और परमात्मा का बोध। परन्तु हिन्दू दर्शन और ज्ञान परम्परा केवल आत्मा और परमात्मा के बोध की और बोध प्रक्रिया की विवेचना तक ही सीमित नहीं है। वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों के स्वरूप को विस्तार से जानने पर भी बल देती है और इन सभी स्तरों का ज्ञान तथा उनसे जुड़े पुरूषार्थ और ऐश्वर्य हिन्दू परम्परा में ज्ञान और जीवन का अंग बताये गये हैं। सभी ऐश्वर्य परम ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ही अंश या उनकी ही तरंगे हैं। अतः किसी भी ऐश्वर्य को स्वयं में स्वप्रतिष्ठ और स्वतन्त्र नहीं मान लेना चाहिये। वे सभी ऐश्वर्य परमेश्वर का ही अंश हैं। क्योंकि

परमेश्वर में परम ऐश्वर्य साकार है। अतः सभी प्रकार के ऐश्वर्य और पुरूषार्थ की साधना करते हुये परमेश्वर का ज्ञान जाग्रत रखना चाहिये। यही परम पुरूषार्थ की दिशा है। इस प्रकार स्वबोध में आत्मबोध एवं परमात्मा का बोध सन्निहित है। साथ ही जगत का बोध भी उसमें निहित है। इसीलिये हिन्दू अध्यात्म परम्परा में जगत का वैभव और विस्तार भी सम्यक रूप से जाना जाता है और उसकी साधना एवं उपलब्धि को भी सम्यक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार हिन्दू जीवन परम्परा में भौतिक और आध्यात्मिक या जागतिक और आध्यात्मिक जैसा कोई आत्यन्तिक विभाजन नहीं है। यही कारण है कि हिन्दुओं ने अध्यात्म जगत और पदार्थ जगत दोनों में साथ–साथ ऐश्वर्य की विराट साधनायें की हैं। भौतिक ऐश्वर्य और आध्यात्मिक ऐश्वर्य दोनों ही हिन्दू जीवन का सहज सामान्य अंग हैं। क्योंकि समस्त् जीव और समस्त् महाभूत परमेश्वर से ही उत्पन्न हैं। यह जानना ही स्वबोध है।

2.2 स्वबोध और स्वधर्म की परस्पराश्रयता

प्रश्न : स्वबोध से स्वधर्म का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : स्वबोध से ही स्वधर्म का ज्ञान होता है। क्योंकि स्वबोध का अर्थ है आत्मस्वरूपका बोध और परमात्मा का बोध तथा जगत के सम्यक स्वरूप का बोध। अतः इस ज्ञान के साथ ही जगत और आत्मसत्ता दोनों के धर्म का भी बोध होता है। धर्म के व्यापक बोध में समाज के विविध अंगों के –व्यक्ति, कुल, कुलसमूह, गाँव, क्षेत्र, जनपद, वर्ण, आश्रम, श्रेणी, गुरूकुल, विद्यापरिषद, शिष्टपरिषद तथा राज्य के धर्मों का बोध प्राप्त करना सहज अंग है। क्योंकि इस सब को जानकर ही समाज में अपनी स्थिति के अनुसार स्वधर्म का ज्ञान होता है और स्वधर्माचरण का निश्चय किया जाता है।

प्रश्न : तो क्या जीवमात्र का धर्म ही मानवधर्म भी है?

उत्तर : नहीं। जीवों का धर्म सामान्य, जैविक प्रकार का है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है –

आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च, समानमेतत पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषाम् अधिकः विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समाना।।

अर्थात् सभी जीवों या पशुओं और मनुष्य में यह सामान्य समानता है कि सभी जीवों मेंभोजन, नींद और जोड़ा बनाने की प्रवृत्ति होती है तथा अप्रिय या घातक वस्तु या क्रिया से भय होता है। मनुष्य की विशेषता इसके अतिरिक्त यह है कि वह धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है और तदनुसार धर्ममय आचरण करता है। यदि मनुष्य धर्मविहीन है, तब वह पशु या अन्य जीवों जैसा ही है। धर्म के बोध के कारण मनुष्य की विशेषता है। इसलिये मानवधर्म का विस्तार से प्रतिपादन हमारे सभी धर्मशास्त्र करते हैं।

अतः जगत का बोध प्राप्त करने के क्रम में जगत का धर्म, जीवों का धर्म और मानवधर्म – तीनों को ही जानना आवश्यक होता है। जगत का धर्म है उत्पत्ति, स्थिति, गति और प्रलय तथापुनः उत्पत्ति। क्योंकि प्रलय वस्तुतः आत्यन्तिक विनाश नहीं है अपितु प्रकृति का अपने मूल त्रिगुणात्मक रूप में सिमट जाना है। अतः प्रलय के उपरान्त पुनः त्रिगुण जगत रूप में क्रियाशील होते हैं। जो उत्पत्ति नजर आती है परन्तु वस्तुतः उत्पत्ति नहीं है, प्रस्फुटन है, विकसन है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का गुण प्रवर्तन है। मूल रूप में इसीलिये सृष्टि को अनादि और अन्नत कहा जाता है। क्योंकि

वह भी सनातन है। वह सनातन परमात्मा का ही अंग है।

जीवधर्म आधारभूत अस्तित्त्व और प्रत्येक जीव के स्वभाव के अनुरूप धर्म है। उन पर भी आयुर्वेद में विस्तार से चर्चा है। मानवधर्म अन्य जीवों से मानवों की विशिष्टता बतलाता है।

प्रश्न : तो क्या सनातन धर्म से मानवधर्म भिन्न है?

उत्तर : नहीं, सनातन धर्म का ही अन्तर्वर्ती अंग है मानवधर्म।

प्रश्न : सनातन धर्म का अंग रूप वह मानवधर्म क्या है?

उत्तर : मानवधर्म मनुष्य मात्र के द्वारा अवश्य करने योग्य कर्त्तव्यों के आधारभूत प्रतिमान हैं। इसीलिये इन आधारभूत प्रतिमानों को सामान्य धर्म या सामासिक धर्म कहा है। मनु के अनुसार वे दस हैं। मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) के अध्याय 6 का 92वा श्लोक है –

> **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।**
> **धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।92।।**

अर्थात् सामान्य धर्म के दस लक्षण हैं – धृति (जो सन्तोष और धैर्य का आधार है), क्षमा (चित्त की उदारता), दम (मन का अविकारी यानी विकार रहित रहना), अस्तेय (किसी का भी धन लेने की इच्छा नहीं रखना और लेने का कार्य भी नहीं करना), आन्तरिक और बाहरी पवित्रता (शौच), इन्द्रियनिग्रह (विषयों में इन्द्रियों की मनमानी गति नहीं होने देना अर्थात् संयम रखना), धी (शास्त्र आदि के ज्ञान में प्रवृत्त रहने वाली बुद्धि), विद्या, सत्य (यथार्थ ज्ञान और कथन) तथा अक्रोध।

ये मनुष्यमात्र के द्वारा करणीय कर्त्तव्य हैं। अन्य स्मृतियों ने इनमें कुछ और भी लक्षण जोड़ें हैं तथा महाभारत ने 21 कर्त्तव्यों को सामान्य धर्म बताया है।

प्रश्न : सभी मनुष्यों का धर्म सामान्य मानवधर्म है। तो फिर स्वधर्म का बोध कैसे प्राप्त करें? क्या मानवधर्म और स्वधर्म में भेद होता है?

उत्तर : सामान्य धर्म के अनुशासन में फिर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जन्मजात विशेषताओं और सामर्थ्य तथा सीमाओं का विचार करते हुये अपने कुल, समाज और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों के सन्दर्भ में स्वधर्म का निश्चय करना होता है। यह स्वधर्म–निश्चय भी स्वबोध का अंग है। स्वबोधपूर्वक ही स्वधर्म का निश्चय सम्भव है। यही स्वबोध से स्वधर्म का सम्बन्ध है।

प्रश्न : तो क्या प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का निर्णय स्वयं कर सकता है?

उत्तर : सामान्य रूप में ऐसा सम्भव नहीं होता। क्योंकि पहले आत्मा, परमात्मा, जीव और जगत के स्वरूप और धर्म को जानकर फिर मानवधर्म का भी शास्त्र सम्मत ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही कोई व्यक्ति स्वधर्म का निर्णय कर सकता है। सामान्यतः हर व्यक्ति में यह सब ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा ही नहीं होती और प्रवृत्ति भी नहीं होती। तब उस स्थिति में स्वधर्म के विषय में ज्ञान अपने परिवेश, राष्ट्र, समाज और कुल की मान्यताओं और मर्यादाओं के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। परन्तु इसके साथ ही व्यक्ति को अपनी आन्तरिक विशेषतायें, गुण, सामर्थ्य और सीमायें भी जाननी होती हैं और फिर अपनी परिस्थिति और परिवेश के अनुसार अपने जीवन के विषय में निर्णय लेना होता है। उस निर्णय से ही स्वधर्म का सम्बन्ध है। जैसे आप चिकित्सक या

अधिवक्ता या प्रशासक या इंजीनियर या राजनेता या कलाकार या लेखक, कवि या संगीतकार, नर्तक, चित्रकार, मूर्तिकार, किसी अन्य शिल्प का विशेषज्ञ या पशुओं और जीवों का विशेष जानकार या वन अथवा भूमि अथवा जल अथवा अन्तरिक्ष के विषय में विद्याओं का जानकार या व्यापारी या किसान या पुरोहित या कुछ और, क्या बनना चाहते हैं, इससे स्वधर्म का सन्दर्भ उभरता है। इसलिये अपनी रूचि, सामर्थ्य, सीमाओं और परिवेश का ज्ञान रखते हुये स्वधर्म का निर्धारण होता है। इसमें स्वाभाविक ही व्यक्ति अपने माता–पिता या अन्य अभिभावकों और गुरूजनों या समाज के विशेषज्ञों से मार्गदर्शन प्राप्त करता है। उनकी सहायता से अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित करते हैं और उसी लक्ष्य के सन्दर्भ में स्वधर्म का निश्चय हो जाता है।

1.3 धर्म, स्वधर्म और सर्वमंगल की भावना

प्रश्न : प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने लक्ष्य के अनुरूप स्वधर्म का निर्धारण कर कार्य करने से समाज को क्या लाभ है?

उत्तर : पहली बात तो यह है कि जैसा पूर्व में बता चुके हैं, स्वधर्म को जानने का अर्थ है सनातन धर्म के अंग रूप मानव धर्म के अन्तर्गत सामान्य धर्मों का पूर्णतः पालन करते हुये अपने विशेष धर्म को जानना है। इस प्रकार सनातन धर्म और सामान्य मानवधर्म का पालन तो आधारभूत है, वह मूल में है। स्वधर्म उसके ही अन्तर्गत उसकी एक इकाई के रूप में व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व और विशेषताओं तथा सीमाओं के सन्दर्भ में अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये पुरूषार्थ करने का नाम है। अतः सनातन धर्म और सामान्य मानवधर्म तो उसकी नींव है। यह लोकयात्रा निरन्तर चलती रहे, इसके लिये सनातन धर्म का पालन आवश्यक है।

सनातन धर्म का ध्यान रखते हुये स्वधर्म का पालन करने पर सदा ही सभी के कल्याण की भावना जीवन में बनी रहती है। क्योंकि यह समस्त् सृष्टि ही सच्चिदानंद का व्यवहारिक रूप है। शास्त्रों में और पुराणों में विश्वविद्या और विश्वविवरण के हजारों श्लोक हैं। प्रत्येक पुराण में सृष्टि के विषय में प्रकाश डाला जाता है और फिर पुनः सृष्टि और प्रलय के विषय में तथा काल के विस्तृत खण्डों के विषय में विवेचना की जाती है। जिन्हें युग और मन्वन्तर तथा कल्प कहा गया है। इसके साथ ही वहाँ महान राजाओं और महान ऋषियों तथा लोकजीवन की महान विभूतियों की कथायें वर्णित की गई हैं। जिन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों में विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण पुरूषार्थ किये। उन सबका ज्ञान प्राप्त करने पर स्वधर्म का स्वरूप स्थिर होने में सहायता मिलती है।

इस प्रकार स्वधर्म के पालन में सनातन धर्म के अन्तर्गत मानवधर्म की नींव होने के कारण सबके कल्याण की, सर्वमंगल की भावना अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। व्यक्ति का वर्ण और आश्रम तथा कार्यक्षेत्र कुछ भी हो, धार्मिक क्रियाओं और अनुष्ठान के सन्दर्भ में उसे शान्तिपाठ और स्वस्तिवाचन करना ही होता है। इन दोनों में ही सर्वमंगल की भावना निहित होती है।

प्रश्न : शान्तिपाठ और स्वस्तिवाचन क्या है तथा उससे सर्वमंगल की भावना का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर : प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान के आरम्भ और अन्त में शान्तिपाठ किया जाता है। उसका सामान्य स्वरूप वह है जो शुक्ल यजुर्वेद में दिया हुआ है –

ओम् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।

वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ँशान्तिः शान्तिरेव

शान्तिः सा मा शन्तिरेधि।।
यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरू।
शं नः कुरू प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।। सुशान्तिर्भवतु।।

अर्थात् स्वर्ग एवं आकाश में शान्ति व्याप्त हो। अन्तरिक्ष में शान्ति हो, पृथ्वी शान्तिमय हो। पृथ्वी की समस्त् औषधियाँ एवं वनस्पतियाँ शान्त हों और शान्ति प्रदान करें। विश्व की सभी दैवी शक्तियाँ शान्ति प्रदान करें। ब्रह्म हमें शान्ति प्रदान करे। सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो और हम सदा शान्तचित्त, शान्तमन रहें। समस्त् जगत से हमें और हमसे समस्त् जगत को अभय रहे। समस्त् प्रजायें निर्भय रहें और उनका सबका कल्याण हो। समस्त् पशु भी कल्याण को प्राप्त करें। सर्वत्र शान्ति हो।

इस प्रकार चारों ओर शान्ति की कामना सर्वमंगल की भावना का ही प्रतिफल है। इसी प्रकार सभी धार्मिक क्रियाओं के अन्त में प्रार्थना की जाती है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्।।

अर्थात् सभी सुखी हों, सभी निरोग रहें, सभी भद्र भावना से और कल्याण की दृष्टि से सबको देखें और किसी को कोई दुख व्याप्त न हो।

एक अन्य प्रसिद्ध प्रार्थना है –

स्वस्ति् प्रजाभ्यः परिपालयन्तं
न्यायेन मार्गेण मही महीशाः।

गो ब्राह्मणेभ्यो शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।।

अर्थात् समस्त् प्रजायें सदा सुखी रहें। राजा इस प्रकार से न्यायमार्ग से प्रजा का पालन करे और उनके लिये गौयें और ब्राह्मण शुभ भाव रखें तथा समस्त् लोक सदा सुखी रहे।

इसी प्रकार अन्य अनेक कल्याणकारी भावनायें हिन्दू यज्ञ, उत्सव, आयोजन और समारोहों तथा धार्मिक क्रियाओं में सामूहिक पाठ के साथ व्यक्त की जाती हैं जो सब सर्वमंगल की भावना की ही वाचक हैं।

उदाहरण के लिये, यहाँ कुछ वैदिक मन्त्रों का उल्लेख उचित् होगा –

ओम् मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिव ँ रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता।।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ2 अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः।।

अर्थात् सभी ऋतुओं में मधुर कल्याणकारी हवायें बहें। नदियाँ और समुद्र हमारे लिये कल्याणकारी हों। औषधियाँ हमारे जीवन के लिये कल्याणकारक हों। ऊषाकाल से रात्रि पर्यन्त सब कुछ मधुमय अर्थात् कल्याणकारी हो। पृथ्वी की रज भी हमारे लिये कल्याणकारी हो। हमारे पिता सदृश आकाश हमें माधुर्य और कल्याण से भरते रहें। वनस्पतियाँ मधुमती हों और सूर्य हमारे लिये मधुमान हो। सूर्य की किरणें हम तक माधुर्य और कल्याणभावना ही लेकर आयें।

इसमें स्पष्ट रूप से व्यापक लोककल्याण और सर्वमंगल की भावना निहित है।

किसी भी यज्ञ एवं बड़े उत्सवों में, पूजा और अनुष्ठानों में तथा दीपावली पूजन आदि सभी कर्मों में प्रारम्भ में ही स्वस्तिवाचन किया जाता है। वह स्वस्तिवाचन सर्वमंगल की भावना से ही ओतप्रोत है। जिसमें यही प्रार्थना की जाती है कि कल्याणकारी भावनायें ही हम तक आयें और चारों ओर भद्रता का प्रसार हो। इन्द्र, पूषा, विश्वेदेव, गुरू ब्रहस्पति आदि सभी हमारे लिये कल्याणकारी हों। हम निरन्तर भद्र ही सुनें, भद्र ही देखें और चारों ओर सभी का कल्याण हो।

प्रश्न : सर्वमंगल की यह भावना तो अत्यन्त पवित्र और श्रेष्ठ है। यह समस्त् विश्व का आदर्श होना चाहिये। क्या विश्व में अन्य धर्मों में और अन्य समाजों में ऐसी ही सर्वमंगल की भावना नहीं है?

उत्तर : समकालीन विश्व में विविध राष्ट्र एवं विविध समाज अपने–अपने प्रयोजनों से सक्रिय हैं। इनमें से कुछ राष्ट्रों और समाजों का लक्ष्य अन्यों को बलपूर्वक नियन्त्रण में लेना और उनसे अपनी योजना के अनुसार कार्य कराना अर्थात् अपनी सेवा में नियोजित रखना है। अतः वर्तमान में हिन्दुओं के स्वबोध में विश्व बोध का राजनैतिक एवं व्यावहारिक स्वरूप भी समाविष्ट करना अनिवार्य है। क्योंकि ऐसी विश्वशक्तियाँ हैं जो हिन्दुओं के उत्कर्ष में सहयोगी हैं तथा ऐसी भी विश्व शक्तियाँ है जो इस उत्कर्ष में बहुत बड़ा अवरोध हैं। अतः इन सबको जानना वर्तमान में प्रत्येक सक्षम हिन्दू के लिये स्वबोध के निर्धारण के लिये आवश्यक है। अतः वह ज्ञान भी अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये। इसके साथ ही, इस वैश्विक सन्दर्भ में राष्ट्र की भूमिका के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हुये अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार स्वधर्म का निर्धारण करना उचित् होगा।

प्रश्न : अन्य समाजों और सभ्यताओं में विश्व के प्रति क्या दृष्टि रही है और वहाँ सर्वमंगल की भावना क्यों नहीं है?

उत्तर : मुख्य बात यह है कि आज भी हम सबको विश्व की सभी सम्यताओं और समाजों के विषय में पर्याप्त जानकारी नहीं है। विगत 100 वर्षों में यूरोप के लोगों ने गैर यूरोपीय समाजों अर्थात् एशिया, अफ्रीका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के विषय में अपनी दृष्टि से कुछ लिखा है। परन्तु एक तो वे उन भाषाओं के जानकार नहीं थे और किसी प्रकार परिश्रम करके उन्होंने विविध भाषाओं की साधारण सी जानकारी पाने की कोशिश की है। परन्तु वह जानकारी छिछली और सतही है। क्योंकि किसी भी भाषा में निहित ज्ञान और जानकारी जानने के लिये उस भाषा का बहुत व्यापक और गहरा ज्ञान आवश्यक है जो बाहरी लोगों के लिये थोड़े समय में प्राप्त कर पाना असम्भव है। फिर यूरोप के इन लोगों का प्रयोजन भी विविध समाजों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना नहीं था। दुनिया के विविध समाज अपने विषय में और सृष्टि के विषय में तथा परमात्मा के विषय में क्या ज्ञान रखते हैं, यह जानने की यूरोपीय लोगों को कोई जिज्ञासा ही नहीं थी। वे तो उनके विषय में कतिपय रोचक और कुतूहलवर्धक

जानकारियाँ अपने यहाँ के लोगों को देने के लिये ही श्रम कर रहे थे और उनमें से अधिकांश तो यूरोपीय ईसाइयत के मध्ययुगीन चर्चों से त्रस्त् लोग थे। अतः वे चर्च की उन कठोर और अमानवीय धारणाओं और कठोरताओं से लड़ते हुये यह सब जानकारियाँ लिख रहे थे। वे अपने प्रयोजन में सफल रहे और मध्ययुगीन चर्च आज यूरोप में समाप्त है तथा आधुनिक चर्च ने विज्ञान का विरोध त्याग दिया है और वह वैज्ञानिक अनुसन्धानों और निष्कर्षों को समायोजित करते हुये उनके साथ तालमेल बनाकर अपने को निरन्तर सुधारता रहा है तथा आधुनिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है। परन्तु मुख्य बात यह है कि ऐसा करते हुये यूरोपीय लोगों ने जो कुछ भी लिखा, वह उनके अपने समाज के लिये कुछ उपयोगी था। परन्तु अन्य समाजों के लिये उसका कोई उपयोग नहीं है। उससे केवल भ्रांति फैलती है। उदाहरण के लिये भारत और हिन्दू धर्म के विषय में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह बहुत छिछला और उथला है तथा सतही और भ्रामक है। अतः विश्व के अन्य समाजों के विषय में भी वह ऐसा ही होगा। इसलिये विश्व के प्राचीन समाजों में सर्वमंगल की भावना थी या नहीं, थी तो कितनी थी, इसे प्रामाणिक रूप से जान पाना अभी सम्भव नहीं है। विश्व जितना तेजी से निकट आ रहा है, उसके चलते सम्भवतः कुछ वर्षों में यह जान पाना सम्भव होगा।

अभी तो केवल इस्लाम और ईसाइयत के बारे में प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। अतः उन दोनों के बारे में यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि उनमें सर्वमंगल की भावना नहीं है। केवल अपने मजहब और अपने रिलीजन के लिये ही कल्याण भावना इन दोनों में है और अन्य उपासना पद्धतियों तथा श्रद्धा रूपों के प्रति उनमें तिरस्कार भावना है। इस्लाम को मानने वाले लोग कुरान से अपरिचित् या कुरान के प्रति उदासीन लोगों को जाहिल और काफिर मानते हैं और उनको बदल डालने के लिये अथवा न बदल पायें तो समाप्त कर देने के लिये तत्पर रहते हैं। क्योंकि वे इसके द्वारा जाहिलिया का खात्मा चाहते हैं।

ईसाई लोग उन सबको अन्धकारग्रस्त् और पतित मानते हैं जो जीसस क्राइस्ट को गॉड को इकलौता बेटा न माने और चर्च को गॉड की दुल्हन न माने तथा चर्च में, जीसस क्राइस्ट में और जीसस के पिता गॉड में अनन्य निष्ठा न रखें। ऐसे लोगों पर वे दया करते हैं और तरस का भाव रखते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि वे लोग झूठे देवी देवताओं को पूज रहे हैं और अन्धविश्वास का शिकार हैं तथा जब निर्णय का अंतिम दिन आयेगा और सभी आत्मायें गॉड के समक्ष जीवित होकर उपस्थित होंगी, तब गॉड जीसस की गवाही से केवल उन लोगों को पैराडाइज यानी स्वर्ग भेजेंगे जिन्होंने जीसस और उनके पिता में आस्था लाई है। शेष सब लोगों को वे अन्तहीन नरक में भेज देंगे, भले ही उन्होंने जीवन भर सदाचार और तपस्या का ही जीवन जिया हो और सत्य तथा अहिंसा एवं सच्चरित्रता तथा विद्या ही उनका जीवन रहा हो। इसीलिये वे सबको जितना जल्दी हो सके, ईसाई बनाने को विकल रहते हैं और इसे ही वे 'हार्वेस्टिंग दि सोल' (आत्माओं की फसल काटना) कहते हैं। तो स्पष्ट है कि वहाँ सर्वमंगल की कोई भी भावना नहीं है।

संसार में कुछ धर्मों ने, अपने विरोधियों पर भीषण अत्याचार किये हैं और उन्हें भयंकर यातनायें दी हैं। फिर चाहे वे वास्तव में विरोधी रहे हों या उन पर केवल शंका की गई हो। क्योंकि उनकी पुस्तकों में ही अन्यों के प्रति असहिष्णुता और कठोरता के प्रावधान दिये गये हैं। ऐसे लोगों को इस बात का अभिमान रहा है कि वे अन्य समाजों से श्रेष्ठ हैं और इसलिये अपने मत और अपनी आस्था का प्रचार और प्रसार करने के लिये केवल वे अधिकृत हैं, अन्य समाज और अन्य सभ्यतायें इसकी अधिकारी नहीं हैं।

इसी प्रकार कम्युनिज्म नाम का एक मतवाद मार्क्स और ऍंगल्स के लेखन के बाद लगभग 60 वर्षों तक धीरे–धीरे विश्व भर में फैला और 1917 ईस्वी में सोवियत संघ में कम्युनिस्ट शासन आने के बाद से उसमें बहुत तेजी आई। तब उसने घोषणा की कि वह पूंजीवाद के शिंकजे से संसार के सब समाजों को छुड़ायेगा और उन्हें कम्युनिस्ट शासन के अन्तर्गत लाकर पृथ्वी को ही स्वर्ग बनायेगा। पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने की यह घोषण मूल रूप में ईसाइयों और कम्युनिस्टों की है। ईसाइयों की यह घोषणा बड़ी घुमावदार भाषा में है। परन्तु कम्युनिस्टों की यह घोषण सपाट ढंग से है। पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने के इस अभियान में विगत 100 वर्षों में कम्युनिस्ट शासकों ने 13 करोड़ से अधिक निर्दोष लोगों की हत्या की है, अधिकांश को भूखों मरने को विवश कर दिया है और लाखों लोगों को भयंकर यातनायें देकर मार डाला है। माओ द्वारा बड़े पैमाने पर लोगों की हत्यायें सर्वविदित तथ्य है।

इसी प्रकार हिटलर ने जर्मनी में यहूदियों को भयंकर यातनायें देकर मार डाला तथा इस्लाम के नाम पर भी मजहबी उग्रवाद और आन्तकवाद कई जगह फैलाया जा रहा है जो स्वयं में सर्वमंगल की भावना का निषेध है। स्पष्ट रूप से ऐसी आस्थाओं में सर्वमंगल की भावना अनुपस्थित रहती है। जबकि हिन्दू धर्म में सभी महत्त्वपूर्ण उत्सवों, कर्मकाण्डों, आयोजनों और दैनिक जीवन के कृत्यों में सर्वमंगल की भावना ही व्याप्त रहती है। सनातन धर्म और उसके अन्तर्गत मानवधर्म का व्यापक ज्ञान होने के कारण ही हिन्दू समाज में सर्वमंगल की भावना सर्वव्यापक है।

हिन्दू दृष्टि में मानव जीवन के चार ध्येय

इस सम्पूर्ण सन्दर्भ में यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि शास्त्रों के अनुसार मानवजीवन के 4 ध्येय हैं – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। 'धर्म' का अर्थ है नैतिक जीवन और सृष्टिकर्त्ता का सदा ध्यान रखते हुये सृष्टि यज्ञ और सृष्टि चक्र को प्रवर्तित रखने में अपनी भूमिका को जानना और स्मरण रखना तथा तदनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह करना। 'अर्थ' पुरूषार्थ का अर्थ है अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये आवश्यक साधनों का संग्रह कर प्रयोजन को सिद्ध करना या प्राप्त करना। 'काम' पुरूषार्थ का अर्थ है अपने जीवन के निर्धारित प्रयोजन के अनुरूप कामनाओं का सन्तुलन एवं उपभोग। ये तीन पुरूषार्थ सभी मनुष्यों के जीवन को सार्थक और सम्पन्न बनाते हैं।

चौथा पुरूषार्थ है 'मोक्ष'। जो सबके द्वारा साध्य नहीं है। थोड़े से लोग ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। इसे परम पुरूषार्थ कहा गया है। जिसे साधना सबके वश का नहीं है।

धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ ही तीन प्रकार के ऋणों का ऋणी हो जाता है– देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। सुयोग्य सन्तति के उत्पादन और पोषण द्वारा व्यक्ति वंश परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना योगदान देकर पितृऋण से उऋण होता है। ऋषियों की ज्ञान परम्परा का ही अंश हमें ज्ञान के रूप में प्राप्त होता है। अतः उस ज्ञान को आगे बढ़ाना, विद्या का संरक्षण और पोषण तथा प्रसार करना और उस विद्या को आगे बढ़ाने में यथाशक्ति योगदान देना ऋषिऋण से उऋण होने का मार्ग है। सृष्टि के संचालन के जो नियम हैं, जिन्हें सनातनधर्म के द्वारा प्रतिपादित किया गया है, उन नियमों की परम्परा प्रवाहित रहे और देवता जो चिन्मय शक्तियाँ है, उनके प्रति श्रद्धा का भाव दृढ़ और गहरा रहे, ऐसे कामों को करना देवऋण से उऋण होना है। इसमें नित्य पंचबलि देना अर्थात् गौबलि, श्वानबलि, वायसबलि, पिपीलिकादि बलि एवं देवबलि। नित्य कर्म के रूप में करना आवश्यक है। बलि का अर्थ है भाग या अंशदान करना। अतः गाय के लिये भोजन का अंश निकालना गौबलि है जिसे गौग्रास

निकालना भी कहते हैं। कुत्तों और कौवों के लिये अंश निकालान श्वानबलि और वायसबलि है तथा चीटियों को मीठी वस्तु के साथ आटा आदि खिलाना या मधुर भोजन के सूक्ष्म अंश भूमि पर जहाँ चीटियाँ रहती हैं वहाँ फैला देना यह पिपीलिकादि बलि है। ये पाँच छोटे–छोटे कृत्य हैं जिनके द्वारा सृष्टिकर्त्ता का अपने ऊपर ऋण अनुभव किया जाता है।

इसके साथ ही वर्ष भर में देवपूजन और देवप्रतिष्ठा आदि के बड़े–बड़े आयोजन करना, मंदिर बनवाना, यज्ञ करना, पूजा, उत्सव आदि बड़े समारोह करना और शास्त्रों को पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना तथा ऐसे बड़े आयोजन करना जिसमें आस–पास के सभी लोग शास्त्रों का श्रवण करना यह देवऋण से उऋण होने के बड़े कार्य हैं। इसी प्रकार ज्ञान के प्रसार में गुरूकुलों आदि की स्थापना और संचालन में योग देना तथा भारतीय शास्त्र परम्परा को लोक में व्यापक बनाने के लिये अपेक्षित कार्य करना ऋषिऋण से उऋण होना है। इसी प्रकार श्राद्ध एवं पितृपक्ष आदि तथा नित्य तर्पण आदि के द्वारा पितृऋण को अदा किया जाता है और पितरों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती है।

ये तीनों ऋण अदा करना गृहस्थ का कार्य है। ब्रह्मचारी या वानप्रस्थी या सन्यासी का नहीं। इसीलिये स्वधर्म परम्परा और स्वबोध परम्परा के प्रवाहित रहने में गृहस्थों की भूमिका ही सबसे बड़ी है। गृहस्थ आश्रम पर ही शेष तीन आश्रम अवलम्बित हैं।

मनु ने तथा अन्य शास्त्रों ने बारम्बार स्पष्ट किया है कि इन तीनों ऋण से उऋण होने के बाद ही सामान्यतः सन्यास ग्रहण करना चाहिये – 'ऋणानि त्रीणि अपाकृत्वा ततो मोक्षे निवेशयेत'।

अतः धर्मचक्र के प्रवर्तन में गृहस्थ आश्रम ही धुरी है। परन्तु ब्रह्मचर्य के द्वारा ही धर्ममय गृहस्थजीवन की तैयारी सम्भव है और निर्धारित अवधि के बाद वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम भी देवऋण एवं ऋषिऋण से उऋण होने के लिये आवश्यक है। श्रेष्ठ और सफल आश्रम के द्वारा गृहस्थ आश्रम के द्वारा पितृऋण से तो उऋण होना हो जाता है परन्तु देवऋण और ऋषिऋण अधिक व्यापक हैं और इनको अदा करने के लिये जीवन भर निरन्तर प्रयास करते रहना कर्त्तव्य है। इसलिये ही ऋषियों का सन्देश है जो ईशोपनिषद में पहले ही मन्त्र में सुन्दरता से कहा गया है – 'सौ वर्ष तक कर्म करते हुये ही जीवित रहने का संकल्प लेना चाहिये। यही मनुष्य का कर्त्तव्य है।'

2.5 सारांश

इस इकाई में आपने 'स्व' विभिन्न प्रकार के रूपों को जाना और सन्दर्भों से परिचित् हुए, जैसे– स्वयं को व्यक्ति के रूप में देखना अथवा अपने कुल, समाज, राष्ट्र, विश्व आदि के अंग के रूप में किया अध्ययन हिन्दू के सन्दर्भ में 'स्व' वेदों और धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित है तथा विभिन्न परम्पराओं दर्शनों एवं विधाओं द्वारा उसका स्वरूप बोध होने में सहायता हो सकती है। स्व का बोध कैसे प्राप्त हो? इस क्रम में आपने जाना कि स्वस्थ और ज्ञान सम्पन्न बुद्धि के द्वारा ही 'स्व' का सम्यक् बोध प्राप्त होता है। हिन्दुओं के स्वबोध का सम्यक् स्वरूप हिन्दू ज्ञान परम्परा और शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है, जिसमें वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र, छः दर्शन आदि सम्मिलित हैं तथा व्यापक परिप्रेक्ष्य में बौद्ध, जैन एवं सिख मतों का भी सहयोग है। इस प्रकार ज्ञान परम्पराओं एवं दर्शन के वैविध्य को जानने पर आपने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार हिन्दू दर्शन के सामान्य लक्षण भी हैं, जो इस विविधता के मूल में हैं। उसके बाद आपने

स्वबोध से स्वधर्म के सम्बन्ध के विषय में जानते हुए जीवमात्र के धर्म, मानवधर्म, व्यक्ति धर्म, राजधर्म इत्यादि के बारे में अध्ययन कियाऔर यह भी जाना कि मानवधर्म किस प्रकार सनातन धर्म का अन्तर्वर्ती अंग है तथा प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का निर्णय कैसे कर सकता है।

इसके पश्चात् आपने अध्ययन किया कि धर्म और स्वधर्म से किस प्रकार समाज में हित एवं मण्डल की भावना का उदय होता है। यजुर्वेदीय शान्तिपाठ के उदाहरण से आप शान्तिपाठ तथा उसके अर्थों से अवगत हुए और अन्य कई उदाहरणों के द्वारा विश्वकल्याण एवं सर्वमण्डल की भावनाप को स्पष्ट कियाकिस प्रकार हिन्दू अवधारणाओं में कल्याण और सर्वमण्डल की भावना आद्यन्त उपस्थित है। अन्त में आपने हिन्दू दृष्टि में मानव जीवन के चार ध्येयों को जान आपने पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, तथा तीन ऋण—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण का अध्ययन करते हुए ऋणमुक्ति और पन्चमहायज्ञों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

2.6 परिभाषिक शब्दावली

2.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

इस इकाई में दिये गये विषयों की अधिक विस्तार से समझ के लिये निम्नांक्ति शास्त्रों को देखना उपादेय होगा :—

1. एकादश उपनिषद
2. पातंजल योगदर्शनम् (स्वामी हरिहरानंद आरण्य कृत)
3. श्रीमद्भगवद्गीता
4. वाल्मीकीय रामायण
5. कौटिल्य का अर्थशास्त्र
6. स्मृति सन्दर्भः सातों खण्ड (नाग प्रकाशन, दिल्ली, जिसमें सभी महत्त्वपूर्ण स्मृतियाँ हैं)
7. यूरोप (नार्मन डेविस कृत, हार्पर पेरेनियल, न्यूयार्क, 1998)
8. हिन्दू दृष्टि में ईसाइयत और इस्लाम (श्री रामस्वरूप कृत)
9. गाँधीजी और ईसाइयत (प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली)

2.8 बोध प्रश्न

1. स्वधर्म से आप क्या समझते हैं?
2. हिन्दू मन सर्वमंगल की भावना से ओतप्रोत है। इस कथन की समीक्षा कीजिए?
3. स्वबोध और स्वधर्म एक दूसरे पर आधारित हैं। इस कथन की पुष्टि कीजिए?
4. हिन्दू विश्वदृष्टि को अपने शब्दों में लिखिए?

इकाई 3 चिति एवं राष्ट्र की संकल्पना

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- राष्ट्र की संकल्पना का समझा सकेंगें।
- राष्ट्र सम्बन्धित शास्त्रीय विवरणों का उल्लेख कर सकेंगे।
- राष्ट्र में रहने वाले जनों की विशेषताओं का विवरण प्रदान कर सकेंगे।
- राष्ट्र की चिति को निरूपित कर, उसके स्वरूप का वर्णन कर सकेंगे।
- राष्ट्र की इकाईयों और चिति के सम्बन्ध को निरूपित कर पाएँगे।
- राष्ट्र तथा राज्य के साम्य और वैशम्य को तथा उनके सम्बन्ध की स्पष्टतया विवेचना कर सकेंगे।
- चिंति की केन्द्रीयता तथा उसके राष्ट्र की आत्मा होने को समझा सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारत एवं भारतीय सभ्यता और संस्कृति वैदिक काल से ही अनवरत रूप में आज तक विद्यमान है, इसका उदय वेद से हुआ इसलिए इसके मूल को भी वेदों में ही खोजा जाता है तथा उसके पश्चात् ही क्रमशः अन्य वेदों से अर्वाचीन स्रोतों में। इस इकाई में आप राष्ट्र की संकल्पना, जो कि एक वैदिक धारणा है, उसका अध्ययन करेंगे तथा नेशनस्टेट से इसकी भिन्नता व साम्य को भी जानेंगे। राष्ट्र को किस प्रकार शास्त्रों में, विशेषतः पुराणों में विस्तृत रूप से निरूपित किया गया है और उसका विवरण किस प्रकार दिया गया है यह आप समझ सकेंगे।

यथा– उत्तर यत्समुद्रस्य. . . . . सन्ततिः।।

राष्ट्र के जनों का विवरण तथा गुणों के आधार पर राष्ट्र के क्षेत्रों का वर्णन भी आप प्राप्त करेंगे।जैसे–

महोत्साह. . . . . नराधिपः।।

आप जानेंगे कि विजित राज्यों के प्रति भारतीय परम्परा में किस प्रकार व्यवहार करने का उपदेश प्राप्तहै, जैसे–

यस्मिन्देशे. वशमुपागतः

चिति क्या है? यह राष्ट्र की आत्मा किस प्रकार से है तथा कैसे राष्ट्र राज्य व नेशनस्टेट से भिन्न होता है, चिति की उपस्थिति के कारण

3.2 राष्ट्र की संकल्पना

प्रश्न : राष्ट्र क्या है?

उत्तर : 'राष्ट्र' शब्द वैदिक है। यह लोक और राज्य दोनों के समन्वय की संज्ञा है। किसी शासक द्वारा शासित् राज्य का समस्त् लोक यानी जन, भू–सम्पदा, कृषि–वन–खनिज सम्पदा, स्थल, जल, वायु–आकाश सहित समस्त् परिवेश और उसकी मूल परम्पराएँ राष्ट्र हैं। यह 'नेशन' नहीं है। नेशन से नितान्त भिन्न संकल्पना है। 'नेशन स्टेट' वह है जो किसी एक जाति या कुल समूह का अपना राज्य होता है और एक ही भाषा तथा एक ही ढंग का आहार–विहार, भोजन, वस्त्र, वास्तु और जीवनशैली के विषय में जिसकी समान आस्था होती है। राष्ट्रउससे भिन्न है। यह वैदिक धारणा है और वैदिक काल से चली आ रही परम्परा है जिसमें सनातन और सार्वभौम मानवीय मूल्यों तथा सृष्टि के सार्वभौम मूल्यों के अनुसार शासक शासन करते हुये प्रत्येक समुदाय की अपनी विशिष्टता को संरक्षण देता है और उसे नष्ट या विकृत नहीं करता और सुधार या संशोधन के नाम पर भी ऐसा कुछ नहीं करता। प्रत्येक समुदाय की अपनी परम्परा का संरक्षण और संवर्धन सार्वभौम मूल्यों के अनुशासन में होता रहे, यह राष्ट्र के शासक का सर्वोपरि कर्त्तव्य माना जाता है।

सामान्यतः पूरे भारत के एक चक्रवर्ती सम्राट होते थे। उनके अधीन विविध राज्य एवं जनपद होते थे। वे अपनी प्रजा की परम्पराओं का संरक्षण करते थे। इसीलिए भारत के सभी महान शास्त्र–रचयिताओं ने सदा समस्त् भारत को एक माना।

3.3 राष्ट्र की व्याप्ति

प्रश्न : राष्ट्र की व्याप्ति के विषय में शास्त्रों में किस प्रकार के वर्णन हैं?

उत्तर : मार्कण्डेय पुराण के अनुसार भारतवर्ष के तीन ओर, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में समुद्र हैं, उत्तर में हिमालय है। विष्णु पुराण के द्वितीय अंश के तीसरे अध्याय में प्रारम्भ के 24 श्लोकों में भारत राष्ट्र की महिमा का गायन है और इसकी सीमाओं का, विस्तार का, प्रमुख पर्वतों एवं नदियों का, वर्णों, आश्रमों एवं जनों का वर्णन करते हुए इसे 'कर्मभूमि' कहा है, जिसका गौरव–गान देव–शक्तियाँ भी करती हैं :–

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।। 1

नवयोजनसाहस्त्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।। 2

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः।। 3

अतः सम्प्राप्यते स्वर्गो मुक्तिमस्मात्प्रयान्ति वै।
तिर्यक्त्वं नरकं चापि यान्त्यतः पुरुषा मुने।। 4

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्म भूमौ विधीयते।। 5

भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान्निशामय।
इन्द्रद्वीपः कसेरुश्च ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।।6

नागद्वीपस्तथा सौम्यो गन्धर्वस्त्वथ वारुणः।
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।। 7

योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरात्।
पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।। 8

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः।
इज्यायुधवाणिज्याद्यैर्वर्तयन्तो व्यवस्थिताः।। 9

शतद्रुचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिर्गताः।
वेदस्मृतिमुखाद्याश्च पारियात्रोद्भवा मुने।। 10

नर्मदा सुरसाद्याश्च नद्यो विन्ध्याद्विनिर्गताः।
तापीपयोष्णीनिर्विन्ध्याप्रमुखा ऋक्षसम्भवाः।। 11

गोदावरी भीमरथी कृष्णवेण्यादिकास्तथा।
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः।। 12

कृतमाला ताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः।
त्रिसामा चार्यकुल्याद्या महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः।। 13

ऋषिकुल्याकुमाराद्याः शुक्तिमत्यादसम्भवाः।
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्याश्च सहस्रशः।। 14

तास्विमे कुरुपाञ्चाला मध्यदेशादयो जनाः।
पूर्वदेशादिकाश्चैव कामरूपनिवासिनः।। 15

पुण्ड्राः कलिङ्गा मगधा दक्षिणाद्याश्च सर्वशः।
तथापरान्ताः सौराष्ट्राः शूराभीरास्तथार्बुदाः।। 16

कारूषा मालवाश्चौव पारियात्रनिवासिनः।
सौवीराः सैन्धवा हूणाः साल्वाः कोशलवासिनः।
माद्रारामास्तथाम्बष्ठाः पारसीकादयस्तथा।। 17

आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सहिताः सदा।
समीपतो महाभाग हृष्टपुष्टजनाकुलाः।। 18

चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र महामुने।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित्।। 19

तपस्तप्यन्ति मुनयो जुह्वते चात्र यज्विनः।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्।। 20

पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा।। 21

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।। 22

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्त्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।। 23

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भयः पुरुषाः सुरत्वात्।। 24

अर्थात् जो राष्ट्र समुद्र के उत्तर और हिमाद्रि के दक्षिण में है, वह भारतवर्ष कहलाता है। उसकी सन्ततियाँ भारती (भारतीय) कही जाती है। यह नौ हजार योजन फैला हुआ है। यह कर्मभूमि है। यहाँ किए गए कर्मों के अनुसार व्यक्ति स्वर्ग एवं मोक्ष तक प्राप्त करता है। इसमें सात कुलपर्वत हैं – महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र। इसी देश में मनुष्य शुभकर्मों द्वारा स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और यहीं से वे पापकर्मो में प्रवृत्त होने पर नरक जाते हैं या फिर तिर्यग्योनि में पड़ते हैं। यहीं से कर्मानुसार स्वर्ग, मोक्ष, अन्तरिक्ष अथवा पाताल आदि लोकों को प्राप्त किया

जा सकता है। क्योंकि यही कर्मभूमि है। यहाँ किये जाने वाले कर्म के अनुसार मानव या तो ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है, उच्चतर लोकों में जाता है या पुनः मानवजन्म लेता है या पशु आदि अथवा वृक्ष आदि योनियों में जाता है। पृथ्वी के अन्य देश भोगभूमि हैं। वहाँ मनुष्य पूर्व जन्म के प्रारब्ध का भोग भोगने के लिये ही जन्म लेते हैं। जिस प्रकार मानवेत्तर पशु आदि योनियाँ भोग योनियाँ हैं, उसी प्रकार भारत से बाहर की भूमि भोगभूमि है। जबकि भारत कर्मभूमि है। यहाँ जन्म लेकर व्यक्ति चाहे तो साधना और सत्कर्म से उच्च्तर लोकों को जा सकता है और अधर्म का आचरण यहाँ करने पर अधोगति और नरकवास प्राप्त होता है। इस प्रकार यह कर्मभूमि है।

इस भारतवर्ष के नौ भाग हैं – इन्द्रद्वीप, कसेरू, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वारूण तथा कुमारी अन्तरीप नामक यह द्वीप। यह कुमारी द्वीप उत्तर से दक्षिण तक सहस्र योजन है। इसके पूर्वीय भाग में किरात लोग और पश्चिमी में यवन बसे हुए हैं तथा यज्ञ, युद्ध और व्यापार आदि अपने–अपने कर्मों की व्यवस्था के अनुसार आचरण करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण वर्णविभागानुसार मध्य में रहते हैं। इसकी शतद्रू और चन्द्रभागा आदि नदियाँ हिमालय की तलैटी से वेद और स्मृति आदि पारियात्र पर्वत से, नर्मदा और सुरसा आदि विन्ध्याचल से तथा तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या आदि ऋक्षगिरि से निकली हैं। गोदावरी, भीमरथी और कृष्णवेणी आदि पापहारिणी नदियाँ सह्यपर्वत से निकली हैं। कृतमाला और ताम्रपर्णी आदि मलयाचल से, त्रिमासा और आर्यकुल्या आदि महेन्द्रगिरि से तथा ऋषिकुल्या और कुमारी आदि नदियाँ शुक्तिमान् पर्वत से निकली हैं। इनकी और भी सहस्रों शाखा नदियाँ और उपनदियाँ हैं।

इन नदियों के तटपर कुरु, पाञ्चाल और मध्यदेश आदि के रहनेवाले, पूर्वदेश और कामरूप के निवासी, पुण्ड्र, कलिंग, मगध और दाक्षिणात्य लोग, अपरान्तदेशवासी, सौराष्ट्रगण तथा शूर, आभीर और अर्बुदगण, कारूष, मालव और पारियात्र निवासी, सौवीर, सैन्धव, हूण, साल्व और कोशल–देशवासी तथा माद्र, आराम, अम्बष्ठ और पारसीगण रहते हैं। वे लोग सदा आपस में मिलकर रहते हैं और इन्हीं नदियों का जल पान करते हैं। इन पर्वतों और नदियों तथा भूमि की सन्निधि के कारण वे बड़े हृष्ट–पुष्ट रहते हैं।

इस भारतवर्षमें ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युग हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। इस देशमें स्वर्ग के लिये मुनिजन तपस्या करते हैं, याज्ञिक लोग यज्ञानुष्ठान करते हैं और दानीजन आदरपूर्वक दान देते हैं। जम्बूद्वीपमें यज्ञमय यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुका सदा यज्ञों द्वारा यजन किया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य द्वीपों में उनकी अन्य रूपों में भिन्न प्रकार से उपासना होती है। इस जम्बूद्वीप में भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह कर्म भूमि है। जबकि अन्यान्य देश भोग–भूमियाँ हैं। जीव को सहस्रों जन्मोंके अन्नतर महान् पुण्यों का उदय होने पर ही कभी इस देश में मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। देवगण भी निरन्तर यही गान करते हैं कि 'जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म लिया है वे पुरुष हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य (बड़भागी) हैं।'

प्रश्न : इस राष्ट्र का वर्णन प्राचीन शास्त्रों में और कहाँ–कहाँ हुआ है?

उत्तर : महाभारत में भीष्म पर्व के अन्तर्गत जम्बूखण्ड विनिर्माण पर्व में धृतराष्ट्र को संजय भारतवर्ष की सीमायें बताते हैं और उसमें 250 जनपदों का उल्लेख करते हैं। जिनमें मुख्य हैं – कुरू, पाँचाल, शाल्व–माद्रेय–जांगल, शूरसेन, पुलिन्द, बोध, माल,

मत्स्य, कुशल्य, कौशल्य, कुन्ति, कान्ति, कोसल, चेदि, करूष, भोज, सिन्धु–पुलिन्द, उत्तमाश्व, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पाँचाल, धुरंधर, गोधा, मद्र कलिंग, काशी, कुक्कुर, अवन्ति, गोमन्त, विदर्भ, अश्मक, गोपराष्ट्र, मल्लराष्ट्र, शक, विदेह, मगध, अंग, वंग, बाह्लीक, आभीर, अपरान्त, परान्त, केकय, अन्ध्र, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, भार्गव, पुण्ड्र, भग, किरात, निषाद, निषध, आनर्त, नैर्ऋत, कुन्तल, सिन्धु सौवीर, गान्धार, बर्बर, सिद्ध, ताम्रलिप्तक, औण्ड्र, म्लेच्छ, कच्छ, वज्र, वध्र, करीषक, कुलिन्द, द्रविड़, केरल, कर्णाटक, चोल, कोंकण, कटक, कूकुर, काक, यवन, चीन, काम्बोज, दरद, हूण, पारसीक, काश्मीर, खाशी, पह्लव, आभीर, शूद्र आदि। इसी विवरण को गुरूजी के नाम से प्रसिद्ध श्री माधव सदाशिव गोलवलकर ने सरल ढंग से इन शब्दों में कहा है – 'हिमालय की समस्त् उपत्यकाओं एवं गिरि–गहवरों सहित तीनों ओर से समुद्र से घिरा हुआ यह राष्ट्र हिन्दू राष्ट्र है।' स्पष्ट रूप से इसमें तिब्बत, अजरबेजान, कजाकिस्तान, ताजकिस्तान, तुर्क्रमेनिस्तान, खोतान, मंगोलिया, उत्तर चीन तथा रूस के अनेक भागों सहित सम्पूर्ण क्षेत्र आता है। जिस समुद्र से भारत घिरा हुआ है उसे मूल रूप में इन्दु सागर कहते थे और इन्दु सागर से आवेष्टित भूमि को 'सिन्धु' राष्ट्र या 'हिन्दू राष्ट्र' कहा जाता रहा है। इन्दु सागर को अरब सागर कहना अंग्रेजों ने 20वीं शती ईस्वी में आरम्भ किया है। वस्तुतः सिन्धु का अर्थ भी इन्दु यानी चन्द्रमा होता है। स्पष्ट रूप से यह विश्व का एक प्राचीनतम नैसर्गिक राष्ट्र है। पृथ्वी में इस राष्ट्र की स्थिति के विवरण प्राचीन काल से प्राप्त होते हैं। पुराणों और धर्मशास्त्रों में भी इसकी सीमाओं के विवरण विस्तार से दिए गए हैं।

मत्स्य महापुराण में अध्याय 121 एवं 122 में पुनः जम्बूद्वीप तथा भारतवर्ष के विषय में और अध्याय 123 में गोमेदकद्वीप एवं पुष्कर द्वीप के विषय में वर्णन दिये गये हैं। इनमें से अध्याय 121 के 82 श्लोकों में भारतवर्ष का विस्तार से वर्णन दिया गया है। प्रारम्भ में हिमालय पर्वत का और उसके पृष्ठभाग में स्थित कैलास पर्वत का वर्णन है और उसके बाद कैलास की उपत्यका में मन्दोदकं सरोवर का वर्णन है जिसका जल पवित्र, निर्मल और शीतल है। वहाँ से मन्दाकिनी नदी निकलती है और उसके निकट ही अच्छोद सरोवर है।

कैलाश के दक्षिण पूर्व में हेमश्रृंग नामक विशाल पर्वत है और उसके पदप्रान्त में लोहित सरोवर है जहाँ से लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नद निकलता है। इसके बाद इस पुराण में महाराज भगीरथ की तपस्या और गंगाजी को भूतल पर लाने का विवरण दिया हुआ है। इसके साथ ही गंगाजी की पश्चिम में बहने वाली धाराओं के रूप में सिन्धु, चक्षु, सीता आदि सात नदियों का विवरण दिया है और यह बताया है कि सिन्धु के तट पर दरद, गांधार, कुहू, सैन्धव आदि कई राज्य हैं। इसके बाद मेरू पर्वत के पार्श्व भाग से चन्द्रप्रभ नामक सरोवर से पुण्यसलिला जम्बूनदी के निकलने का वर्णन है। जिसमें जाम्बूनद नाम का स्वर्ण पाया जाता है। आगे इस पुराण में कुरू राज्य का वर्णन है जिसमें अत्यन्त विस्तृत 12 सरोवर हैं, जो कमलों और मछलियों से भरे रहते हैं। ये नदियाँ बिना वर्षा के भी कुरू राज्य को उर्वर और सरस रखती हैं। दक्षिण में समुद्र तक विस्तृत दक्षिणापथ है। इस प्रकार भारतवर्ष का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। इसी पुराण के 124वे एवं 125वे अध्याय में सूर्य और चन्द्रमा की गतियों का वर्णन है तथा उसके आगे ग्रहों के विषय में वर्णन है।

3.4 राष्ट्र के जन

प्रश्न : राष्ट्र की इस संकल्पना के शास्त्रीय प्रमाण तो हमने जान लिएँ इसमें रहने वाले जनों की कोई विशेषतायें अवश्य होंगी, तभी उनका इतना गौरव बताया गया है।

इसलिये कृपया यहाँ के जन के विषय में बताइये?

उत्तर :तैत्तिरीय संहिता में घोषणा है – 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामस्मिन् राष्ट्रे राजन्य इषव्यः शूरा महारथी जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।

अर्थात् इस राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस से सम्पन्न रहें। राजा शूर, महारथी एवं धनुर्धर हों। गौएँ खूब दूध दें और उनके बछड़े–बछियाँ ह्रष्ट–पुष्ट हों। घर–घर में वीर हों। वर्षा यथासमय हो और भरपूर हो। फल–फूल तथा औषधियाँ प्रचुरता से हों। समस्त् निवासियों के योगक्षेम का वहन हो। यानी सब कुशल रहें (क्षेम) और सदा सम्पत्ति बढ़ती रहे (योग)।

यही बात याज्ञवल्क्य स्मृति में आचाराध्याय में राजधर्मप्रकरण में थोड़ी भिन्न ढंग से कही गई है –

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः।।309

अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित्।।310

स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्याँ दण्डनीत्याँ तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायाँ त्रय्याँ चैव नराधिपः।।311

अर्थात राजा (शासक) में ये गुण होने चाहिए – महोत्साह, स्थूललक्ष्य, कृतज्ञ, वृद्धसेवक, विनीत, शत्रुसम्पन्न, कुलीन, सत्यवाक्, शुचि, अदीर्घसूत्र, स्मृतिमान, अक्षुद्र, अपरूष, धार्मिक, अव्यसनी, प्राज्ञ, शूर तथा रहस्यविद। अपने मर्म को गुप्त रखने वाला। आन्वीक्षिकी तथा दण्डनीति में प्रवीण (विनीत) और वार्ता का जानकार तथा श्रुतियों का जानकार।

यहाँ राजा को महोत्साह से सम्पन्न होना आवश्यक बताया गया है। विज्ञानेश्वर ने इसकी मिताक्षरा टीका में इसका अर्थ समझाया है – पुरूषार्थ की सिद्धि के लिए आवश्यक कर्म अध्यवसाय पूर्वक करना ही उत्साह है।

इसी प्रकार अन्य गुणों की भी व्याख्या विज्ञानेश्वर ने भलीभांति की है। स्थूललक्ष का अर्थहै बहुत दान देने वाला। इसी प्रकार अन्य के द्वारा किए गए उपकार को जो न भूले, वह कृतज्ञ। तप एवं ज्ञान में जो विशेष रूप से आगे है, वह है वृद्ध। ऐसे वृद्धों की संगति करना वृद्धसेवक होना है। विनीत का अर्थ है जिसमें विनय हो। विज्ञानेश्वर ने इसको समझाते हुए कहा है कि जिसके भीतर कोई संशय नहीं हो और जो संदिग्ध वाणी न बोले तथा किसी से भी कटु नहीं बोले, उसे ही विनीत कहते हैं। जो सत्व गुणों से युक्त हो उसे सत्व सम्पन्न कहते हैं। जो अभिजात कुल का हो उसे कुलीन कहते हैं। सत्य वचन बोलने वाले को सत्यवाक कहते हैं। भीतरी और बाहरी पवित्रता से सम्पन्न को शुचि कहते हैं। आरम्भ किये गये कार्य में अधिक विलम्ब न करे उसे अदीर्घसूत्री कहते हैं और जो स्मरण शक्ति से सम्पन्न हो तथा शास्त्रों को स्मरण रखने वाला हो, उसे स्मृतिमान कहते हैं। जो सद्गुणों से द्वेष न करे, उसे अक्षुद्र कहते हैं और जो दूसरों के दोष गिनाता न फिरे, उसे अपरूष कहते हैं। दूसरों के दोष गिनाना

परूषता या कठोर हृदय का होना है।

जो वर्णाश्रम धर्म का पालन करे और कराये – वही है धार्मिक। जो व्यसनों से रहित रहे, वह अव्यसनी। राजा के 18 मुख्य व्यसन कहे गये हैं। 10 कामज और 8 क्रोधज। जुआ, अधिक शिकार खेलना, दिन में सोना, व्यर्थ की बातें, स्त्री से रमण की अधिकता, निरूदेश्य भ्रमण, परायी निंदा, नशीली वस्तुओं का सेवन, संगीत में बहुत अधिक समय रमना और नृत्य आदि में रति की अधिकता। ये दस कामज व्यसन हैं। इसी प्रकार अधिक दण्डप्रयोग, कटु वचन और अन्यायपूर्वक प्रजाजन की सम्पत्ति का हरण, दुस्साहस, द्रोह, अन्यों के गुण को सहन नहीं करना, अन्यों में दोष बतलाना तथा चापलूसों और चुगलखोरों की सुनना – ये आठ क्रोधज व्यसन हैं। इन 18 व्यसनों से शासक को मुक्त रहना चाहिये। मनुस्मृति के अध्याय 7 में श्लोक 47–48 में इनका विवरण दिया हुआ है।

गंभीर बातों को और शास्त्रों के गंभीर अर्थ को जानने तथा स्मरण रखने वाले को प्राज्ञ कहते हैं। जो निर्भय हो उसे शूर कहते हैं और शौर्यसम्पन्न को भी शूर कहते हैं। गोपनीय बातों तथा तथ्यों के जानकार को रहस्यविद कहते हैं। अपने मर्म को छिपाकर रखना शासक के लिये आवश्यक है। न्यायशास्त्र को आन्वीक्षिकी तथा राजनीतिशास्त्र को दण्डनीति कहते हैं। राजा को इनमें प्रवीण होना चाहिये। कृषि, गौरक्षा, शिल्प और वाणिज्य के विषय में विस्तार से जानने वाला होना चाहिये। विनीत का अर्थ का विज्ञानेश्वर ने बताया है कि जो वेदों के ज्ञान और तत्त्वज्ञान में इतना प्रवीण हो कि इन विद्याओं के अधिकारी विद्वान उसकी प्रशंसा करे, उसे ही विनीत कहते हैं – ''प्रावीण्यं नीतः विनीतः''।

राजा के इन गुणों के वर्णन में प्रजा यानी समाज में सम्मानित गुणों का भी ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आगे मंत्रियों, पुरोहितों, यज्ञवेत्ताओं, ब्राह्मणों, सभ्यों, किसानों, शिल्पियों आदि के भी गुण याज्ञवल्क्य स्मृति में आचाराध्याय में गिनाए गए हैं। जिससे भारत के जनों द्वारा मान्य गुणों का ज्ञान होता है। सेनाओं के विषय में भी विस्तार से विवरण शास्त्रों में हैं।

3.5 विजित राज्य से व्यवहार की भारतीय परम्परा

प्रश्न : क्या भारत के चक्रवर्ती सम्राट भारत से बाहर के राज्यों को भी जीतते रहे हैं? क्या आक्रमण की यहाँ कोई परम्परा है?

उत्तर :निश्चय ही भारत के चक्रवर्ती सम्राट भारत से बाहर के राज्यों को भी जीतते रहे हैं उनके लिये यह शौर्य और पराक्रम को प्रमाणित करने का अवसर रहा है और अपने स्वधर्म में अपनी निष्ठा का प्रदर्शन भी। स्वधर्म का अर्थ अपना रिलीजन, मजहब या मतवाद में निष्ठा नहीं है। अपितु स्वधर्म का अर्थ सनातन सार्वभौम मानवीय मूल्यों के अन्तर्गत निर्धारित अपने कर्त्तव्य का पालन करना है।

ऋग्वेद (4/42/1) में महाराज त्रसदस्यु कहते हैं 'मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य'। अर्थात् मेरा राष्ट्र पृथ्वी के दोनों गोलार्धों में है। कामन्दक नीतिसार (6/3) का निर्देश है कि राजा को समस्त् पुरूषार्थ द्वारा निरन्तर राष्ट्र की वृद्धि करनी चाहिये। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य गुणवर्मन ने जावा के बौद्ध नरेश से कहा था कि आक्रमणकारी राजा को नष्ट कर दो। शत्रुओं और दस्युओं पर आक्रमण बौद्ध नरेश का कर्त्तव्य है।

हिन्दू सम्राट देववर्मन ने ईसापूर्व दूसरी शती में इण्डोनेशिया पर आक्रमण कर वहाँ हिन्दू शासन स्थापित कियापरन्तु वह हिन्दू शासन इण्डोनेशिया की अपनी स्वदेशी परम्पराओं को भरपूर संरक्षण देता रहा। जिससे प्रजा ने सदा उनके प्रति प्रेम रखा। तब से लेकर 16वीं शती ईस्वी तक अर्थात् 1800 वर्षों तक इण्डोनेशिया पर हिन्दू राज्य ही रहा। बाद में भारत से गये मुसलमानों को वहाँ के हिन्दू नरेश ने पूर्ण संरक्षण दिया परन्तु उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाकर वहाँ मुस्लिम शासन स्थापित कर लिया और हिन्दुओं का दमन करने लगे।

चोल और चालुक्य नरेशों ने ईसापूर्व से लेकर 15वीं शताब्दी ईस्वी तक लगातार स्याम देश (थाइलैण्ड), चंपा (वियतनाम), कोरिया, सुवर्णद्वीप, मलयदेश, जावा, सुमात्रा एवं बोर्नियो पर आक्रमण कर वहाँ शासन किये। इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत के राजाओं को राष्ट्र से बाहर आक्रमण करते रहकर सीमा विस्तार करते रहने की प्रेरणा सभी शास्त्रों में दी गई है। परन्तु यह भी स्पष्ट निर्देश है कि विजित राज्य की संस्कृति और व्यवहार–परम्परा को यथावत रहने दे। उस पर अपना मत न थोपे। यह बात इस्लमा और ईसाइयत तथा कम्युनिज्म के आदर्शों से सर्वथा विपरीत हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय में 343 वां श्लोक है –

> यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
> तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः।।

अर्थात अपने अधीन और अपने द्वारा विजित राज्य या राष्ट्र की जो व्यवहार परम्परा हो और जैसा रहन–सहन तथा जीवनशैली हो, शासक को उसका ही पालन – परिपालन करना चाहिये। अपना कोई मत नहीं थोपना चाहिए

मनु ने भी (मनुस्मृति, अध्याय 7, श्लोक 201–204) यही कहा है। उन्होंने कहा है कि जीते हुये राज्य को राजा देवताओं और विद्वानों का क्षेत्र मानकर उनको ही अर्पित करके फिर उनकी अनुमति और सहमति से भलीभांति राज्य करे और विजित राज्य के निवासियों को अभय दे कि हम आपको अभयदान देते हैं और आप अपने ही आचार–विचार तथा व्यवहार को जारी रखें, इसका हम पूर्ण संरक्षण करेंगे। क्योंकि लोगों को अपना आचार–विचार तथा व्यवहार परम्परा अतिप्रिय होते हैं और उन अतिप्रिय वस्तुओं को ले लेना अप्रीतिकर होता है तथा उनका संरक्षण करना प्रीतिकर होता है। इसलिये राजा विजित राज्य के निवासियों में अपने प्रति प्रीति का निर्माण करे।

3.6 गुणों के आधार पर राष्ट्र के क्षेत्रों का वर्णन

प्रश्न : क्या भारत के जनों के गुण एवं विशिष्टताएँ क्षेत्रों के अनुसार कुछ भिन्न–भिन्न भी होती हैं?

उत्तर :निश्चय ही। धर्मशास्त्रों में भारत के अलग–अलग क्षेत्रों की विशेषताओं का वर्णन है और उसके अनुसार उनके नामकरण भी हैं। जहाँ सदाचारपरायण और वेदों के प्रति अडिग निष्ठा वाले लोग अधिक हों, उस क्षेत्र को आर्यावर्त कहते हैं। आर्य किसी जाति या नस्ल का नाम नहीं है। वह गुणवाचक है। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ। अतः श्रेष्ठ आचरण करने वाला आर्य है। ऋग्वेद के अनुसार सात नदियों वाला क्षेत्र सप्तसिन्धु आर्यसंस्कृति का विशेष केन्द्र था। ये हैं – गंगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, सरयू, सुवास्तु तथा दृषद्वती। इसके साथ ही कुभा, असिक्नी, परूष्णी, विपाशु, शुतुद्रि, गोमती तथा वितस्ता नदियों के क्षेत्र भी ऋग्वेद में आर्य कहे गये हैं। मनुस्मृति के अनुसार (अध्याय

2, श्लोक 22) पूर्वी और पश्चिमी दिशा में समुद्रों और उनके पर्वतों के मध्य में स्थित देश को बुद्धिमान लोग आर्यावर्त कहते हैं। इसका अर्थ है कि पूर्वीघाट और पश्चिमीघाट के मध्य स्थित क्षेत्र ऊपर हिमाद्रि पर्वत तक आर्यावर्त ही है। यद्यपि विद्वानों में इसकी व्याख्या को लेकर कुछ मतभेद हैं। मूल श्लोक है – आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।

तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुबर्फधाः।।

इसके साथ ही मनुस्मृति में कहा है कि हिमालय और विंध्य पर्वत के मध्य स्थित कुरूक्षेत्र से प्रयाग तक फैला हुआ क्षेत्र 'मध्यदेश' है। मनु का कहना है कि भारतवर्ष में और विशेषतः मध्यदेश में उत्पन्न लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने चरित्र से समस्त् पृथ्वी में सदाचार का प्रतिमान स्थापित करें –

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्याँ सर्वमानवाः।। (अध्याय 2, श्लोक 20)

सदाचार के विषय में मनु का कहना है कि सरस्वती और दृषद्वती ये दोनों देवनदियाँ और इनके मध्य का जो देश है, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं। इस देश में चारों वर्णों का और मिश्रित वर्ण वाली जातियों का भी जो आचार व्यवहार है, वही 'सदाचार' कहा जाता है। इसके उपरान्त ब्रह्मर्षि देश है जो कुरूक्षेत्र, मत्स्य, पाँचाल तथा शूरसेन जनपद का क्षेत्र है। ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश तथा सम्पूर्ण आर्यावर्त में उत्पन्न लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे सदाचार के प्रतिमान स्थापित रखें। (देखें अध्याय 2, श्लोक 17–20)

3.7 राष्ट्र की आत्मा : चिति

प्रश्न : भारत राष्ट्र की शास्त्रों में इतनी महिमा कही गई है तो उसके इस विशेष स्वभाव एवं स्वरूप को बताने वाला कोई एक वाचक पद (शब्द) अवश्य होना चाहिए?

उत्तर :अवश्य है। पहले उसे ही धर्म कहते थे। भारत का स्वभाव, स्वरूप एवं स्वधर्म अर्थात भारत–धर्म। राष्ट्र–धर्म। परन्तु रिलीजन एवं मजहब को भी कुछ राजनेता धर्म कहने लगे। जबकि रिलीजन एवं मजहब तो सामान्य धर्म को मानते ही नहीं। अतः उन्हें भी धर्म कहने से बड़ा भ्रम पैदा होने लगा क्योंकि धर्म के जो सामान्य लक्षण शास्त्रों में बताये गये हैं, मजहब और ईसाइयत में उन गुणों और मूल्यों का सर्वथा अभाव है। इससे धर्म को लेकर आधुनिक शिक्षित हिन्दू भ्रमित हो सकते हैं। अतः पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने उसके लिए एक बहुत सुंदर एवं सटीक शब्द रचा – चिति।

प्रश्न : चिति क्या है? कृपया समझाइए

उत्तर :पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने बताया कि प्रत्येक स्थायी राष्ट्र का एक विशेष स्वभाव होता है। उसे उस राष्ट्र की चिति कहते हैं। यह किसी राष्ट्र की मूल प्रकृति या प्राणशक्ति है। चिति में राष्ट्र के संस्कार, स्वभाव, परम्परा, ज्ञान, इतिहास एवं व्यवहार का समावेश है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी चिति के अनुरूप बरतने पर सुखी, शान्त, समृद्ध और उन्नतिशील रहता है। उसकी विस्मृति होने पर अशान्त, उद्विग्न, विक्षुब्ध, अव्यवस्थित, अन्तर्कलह में डूबा और दुःखी हो जाता है।

राजनीति शास्त्र में 'चिति' की सुस्पष्ट धारणा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आदर्श स्वयंसेवक एवं भारतीय जनसंघ के महामन्त्री तथा अध्यक्ष रहे पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने प्रस्तुत की है, इसलिए उनके ही शब्दों में इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

'एकात्म मानववाद' शीर्षक उनकी पुस्तक अप्रैल 1965 में दिए गए चार भाषणों का संकलन है, जो उन्होंने पुणे में एक भाषणमाला में दिये थे।

''राष्ट्र की आत्मा चिति : दीनदयाल जी द्वारा की गई व्याख्या''

दीनदयाल जी के भाषणों पर छपी पुस्तक 'एकात्म मानववाद' के अध्याय 3 में उन्होंने चिति के विषय में समझाते हुये कहा है कि 'राष्ट्र की एक आत्मा होती है। उसका एक शास्त्रीय नाम है– जिसे चिति कहा गया है। मग्डूगल के अनुसार किसी भी समूह की कोई मूल प्रकृति होती है। वैसे ही 'चिति' किसी समाज की वह प्रकृति है जो जन्मजात है तथा जो ऐतिहासिक कारणो से नहीं बनी।

मनुष्य के व्यक्तित्व व आत्मा, व्यक्तिगत चरित्र व आत्मा– इसमें अन्तर रहता है। व्यक्ति जीवन भर में जितने कर्म करता है, जितने संस्कार उस पर होते हैं या जो विचार आते हैं, उन सबका उस पर एक संकलित परिणाम होता हैं। इस संकलित परिणाम से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परन्तु आत्मा में कोई चीज जुड़ती नहीं। उसी प्रकार राष्ट्र की संस्कृति में ऐतिहासिक कारणों तथा वातावरण से उत्पन्न स्थिति के सामूहिक परिणामों से बहुत चीजें जुड़ जाती हैं। समाज के संसर्ग से, समाज के प्रयत्नों से, समाज के इतिहास के परिणामस्वरूप जिन चीजों का वे निर्माण करते हैं और जिन्हें वे अच्छा व गौरवदायी समझते हैं, वे सब चीजें संस्कृति के अन्तर्गत तो आ जाती हैं परन्तु चिति के अन्तर्गत नहीं आतीं। चिति तो मूलभूत होती है। चित्त को लेकर तो प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की संस्कृति की दिशा चिति निर्धारित करती है अर्थात् जो चीज चिति के अनुकूल होती है, वह संस्कृति में सम्मिलित कर ली जाती है।

उदाहरण के तौर पर हमारे यहाँ महाभारत हुआ, जिसमें कौरवों की पराजय व पाण्डवों की विजय हुई। परन्तु पाण्डवों की विजय को हमने क्यों धर्म कहा? कौरवों को क्यों नहीं कहा? या यह क्यों नहीं कहा कि यह तो सीधी–सादी राज्य की लड़ाई है?

लंका में जब राम लड़ाई करने गये तथा विभीषण रावण का साथ छोड़कर राम के साथ आये तो उस समय विभीषण ने जो कुछ किया, उसे तो देशद्रोह कहा जा सकता था। परन्तु हममे से उसे कोई देशद्रोह नहीं कहता। पहली नजर में लग सकता है कि उसने देशद्रोह किया, राज–द्रोह तथा भ्रातृद्रोह कियापरन्तु हम सब विभीषण की प्रशंसा करते हैं।

उसकी क्विजलिंग (द्वितीय महायुद्ध में नार्वे का देशद्रोही नागरिक) से तुलना हम नहीं करते। विभीषण को कोई क्विजलिंग नहीं कहता। उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं कि उसने ठीक काम किया, तथा रावण ने जो कुछ किया, उसके लिए हमारे मन में अनादर रहता है। यह क्यों होता है? इसके पीछे कोई राजनीतिक कारण नहीं हैं। युधिष्ठिर के लिए सम्मान और दुर्योधन के लिए अनादर राजनीतिक कारणों से नहीं है। कृष्ण भगवान से कंस को पछाड़ दिया, मामा की हत्या की, उस समय के राजा को हटायाँ परन्तु कृष्ण को हम भगवान का अवतार मानते हैं और कंस को हम असुर कहते हैं। यह क्यों? इसका निर्णायक यदि कुछ है तो यह कि हमारे मन की प्रकृति

या चिति थी। उसके अनुकूल जो – जो हुआ उसे हम संस्कृति में जोड़ते गये। वे तो हमारे ऊपर संस्कार करने वाली चीजें हैं और उसके प्रतिकूल चलने वाली चीजों को हमने विकृति कहा। जो हमारे अनुकूल नहीं हो सकती, हमने उन चीजों को छोड़ दियाँ उस इतिहास को हमने अपना नहीं माना। 'चिति' वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है।

3.7.1 राष्ट्र की इकाइयाँ और चिति

प्रश्न : राष्ट्र की इकाइयों से चिति का क्या सम्बन्ध होता है?

उत्तर :पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने एकात्म मानववाद के अपने उक्त व्याख्यान में बताया है कि राष्ट्र की इकाइयाँ व्यक्ति, परिवार, भौगोलिक क्षेत्र, न्यायिक संस्थाएँ, धार्मिक एवं आध्यात्मिक संस्थाएँ तथा अन्य सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाएँ और राज्य – इन सबसे चिति का सम्बन्ध है। ये राष्ट्र की चिति के अनुरूप रहें, तभी स्वस्थ एवं उन्नतिशील रहते हैं। अन्यथा नहीं।

व्यक्ति राष्ट्र का उपकरण भी

व्यक्ति भी इस राष्ट्र की आत्मा को प्रकट करने का एक साधन है। इस प्रकार व्यक्ति अपने स्वयं के अतिरिक्त राष्ट्र का भी प्रतिनिधित्व करता है। इतना ही नहीं, अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए राष्ट्र जितनी संस्थाओं को जन्म देता है, उनका उपकरण भी व्यक्ति ही है। और इसलिए वह उनका भी प्रतिनिधि है। राष्ट्र में व्यापक जो समष्टियाँ हैं, जैसे मानव, उनका भी प्रतिनिधित्व व्यक्ति ही करता है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का बहुमुखी व्यक्तित्व है परन्तु उनमें पारस्परिक खिंचाव या संघर्ष नहीं अपितु एकात्मता, समन्वय एवं सामंजस्य रहता है। इस तथ्य को हम समझे। इस सामंजस्य के नियमों का आकलन और उसकी व्यवस्था ही मानव के आदर्शों के बीच की विसंगति को दूर कर उसे सुख और शान्ति सकती है तथा उसका विकास कर सकती है।

संस्था द्वारा राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति

जीवशास्त्री डार्विन के सिद्धान्त मानने वालों के अनुसार भिन्न–भिन्न स्थितियों में प्राणी को जिन्दा रहने के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, उसी प्रकार के अंग बनते चले जाते हैं। परन्तु हमारे यहाँ इसे दूसरे रूप में कहा कि प्राण की शक्ति के सहारे मनुष्य की आत्मा अपने लिए जितने अंगों की जरूरत समझती है, उसका निर्माण करती है। जैसे शरीर में अंग निर्माण यह आत्मा करती है, वैसे ही राष्ट्र में भी ऐसे बहुत से अंग राष्ट्र की आवश्यकता को पूर्ण करने लिए निर्माण होते हैं। यदि कारखाना खोल लिया तो जिस प्रकार अपने काम का निर्वाह करने के लिए उसमें बहुत, तरह–तरह के विभाग होते हैं– कहीं मशीन लगाई जाती है, कहीं भवन बनाया जाता है, कहीं बिक्री का काम किसी की तरफ लगाया जाता है, वहाँ जैसे विभाग पैदा होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र भी अनेक प्रकार के विभाग जैसी चीजें पैदा करता है, जिन्हें हम 'संस्थाएँ' कहते हैं। संस्थाओं का जन्म राष्ट्र अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए करता है। कुटुम्ब, जाति, वर्ण, श्रेणी परम्परा से अपने यहाँ रही है और आज श्रमिक संगठन (ट्रेड यूनियन) व गिल्ड आदि इस प्रकार की विभिन्न संस्थाएँ है। सम्पत्ति भी एक संस्था है। विवाह भी एक संस्था है। इसी तरह से पहले हमारे यहाँ गुरुकुल की एक संस्था चलती थी। ऋषिकुल की भी एक संस्था चलती थी।

3.7.2 राज्य और राष्ट्र : एक या भिन्न

प्रश्न : तो क्या राज्य भी राष्ट्र की एक संस्था ही है या राज्य ही राष्ट्र है?

उत्तर :राज्य और राष्ट्र एक नहीं हैं। दीनदयाल जी कहते हैं कि अनेक संस्थाओं में राज्य भी एक संस्था है। इनका निर्माण भी राष्ट्र करता है। पश्चिम में जो गड़बड़ आ गई, उसका कारण यह है कि उन्होंने राज्य व राष्ट्र को एक चीज समझा। राज्य व राष्ट्र वास्तव में एक नहीं है। राज्य का निर्माण हमारे यहाँ सामाजिक आवश्यकता के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत में वर्णन है कि सतयुग में न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दण्ड देने वाला, सब प्रजा धर्म के आधार पर एक दूसरे की रक्षा करती थी।

> न राज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकाः।
> धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

किन्तु बाद में अव्यवस्था आई, लोभ आया, धर्म की ग्लानि हुई और 'मत्स्यन्याय' प्रारम्भ हो गयासारे ऋषि घबराये कि कैसे काम चलेगा? सभी ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्माजी ने स्वयं रचा हुआ एक ग्रन्थ इन ऋषियों को दिया जो 'दण्डनीति' या 'राज्यशास्त्र' का ग्रन्थ था। उन्होंने मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। परन्तु मनु ने कहा मैं तो राजा नहीं होता क्योंकि राजा बनने के बाद मुझे दण्ड करना पड़ेगा और कुछ लोगों को मारना होगा, कुछ को पीटना होगा, कुछ को जेल में डालना होगा व अन्य कई झंझट करने पड़ेंगे। मैं यह पाप क्यों करूँ? इस पर ब्रह्माजी ने कहा ऐसी कोई बात नहीं है। यह पाप नहीं, बल्कि बाकी के लोग धर्म का काम करें, इसके लिए तुम यह काम करोगे। अतः यह भी धर्म ही गिना जायेगा। इतना ही नहीं प्रजा के जितने कर्म होंगे, उन कर्मों का एक हिस्सा तुम्हें मिल जायेगा और इसलिए ये जितना धर्म करेंगे, उसका एक हिस्सा स्वयं मिल जायेगा। इसमें बताया तो नहीं गयापर मैं समझौता हूँ कि यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके तो उस पाप का हिस्सा भी राजा को मिलना चाहिए ऐसा तो नहीं हो सकता कि 'मीठा–मीठा गप्प और कडुवा– कडुवा थँ' दोनों ही मिलने चाहिए राज्य के ऊपर यहसिद्धान्त लागू हो सकता है, राष्ट्र के ऊपर नहीं। पश्चिम में कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि में समझौते में से पैदा हुआ, परन्तु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गयायह उल्टी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि समय में पैदा हुआ माना गया, परन्तु समाज को तो 'स्वयंभू' माना है। राज्य उसकी एक संस्था के नाते से है।

व्यक्ति एकांगी नहीं, वह बहुरंगी है

राज्य के समान और संस्थाएँ भी आवश्यकतानुसार समय–समय पर पैदा होती है। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है, यथा कुटुम्ब का मैं अंग हू, जाति व्यवस्था हो तो उसका भी अंग हैं, मेरा कोई धंधा है तो उसका भी मैं एक अंग हूँ, इस समाज का भी मैं एक अंग हूँ और इस समाज से आगे यदि पूर्ण मानव का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। और मानव के आगे बढ़ करके यदि हम इस चराचर जगत का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति नाम की जो चीज है, वह एकांगी नहीं बल्कि बहुरंगी है। यह एक का नहीं अनेक का अंग है। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय व पूरक्ता और एकात्मकता के साथ चल सकता है। यह व्यक्ति को कुछ गुण दिया हुआ है।

जो व्यक्ति इस गुण का ठीक प्रकार से उपयोग कर सकता है, वह व्यक्ति सुखी व जो व्यक्ति इस गुण का ठीक तरह से उपयोग न कर सके, वह दुःखी। उसका विकास ठीक नहीं होगा। उदाहरण लें तो एक व्यक्ति घर में अपनी माँ का बेटा होता है, अपनी पत्नी का पति होता है, अपनी बहन का भाई होता है, अपने पुत्र का पिता होता है। एक व्यक्ति है परन्तु वह पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है, पति भी है। इतने रिश्ते आ गये। व्यक्ति को इन सब नाते–रिश्तों को बड़ी कुशलता के साथ निभाना होता है। जहाँ ढंग से नहीं निभता, वहाँ झगड़ा होता है। यदि बहन का पक्ष लेता है तो पत्नी कहती है कि तुम अपनी बहन का पक्ष लेते हो। नन्द–भौजाई का झगड़ा यहीं से पैदा होता है। सास–बहू का झगड़ा इसमें से पैदा होता है। इस झगड़े में पति–बेटे की मुसीबत होती है। वह परेशान रहता है। क्योंकि माता का प्रेम व पत्नी के प्रति जिम्मेदारी व प्रेम–इसमें संघर्ष आता है। इसमें संघर्ष न आवे अर्थात् वह इसे ठीक प्रकार से निभाये–ऐसा जब हो सकेगा तो हम कह सकेंगे कि उसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व का विकास होगा, वह समन्वित होगा।

3.7.3 राष्ट्र के भीतर समाज और व्यक्ति में संघर्ष नहीं

प्रश्न : क्या राष्ट्र की विविध संस्थाओं में संघर्ष की भी सम्भावना बनी रहती है?

उत्तर :नहीं। राष्ट्र की चिति का ध्यान राष्ट्र की सभी संस्थाओं को रखना चाहिये। इसी में स्वयं उनका भी हित और कल्याण है और राष्ट्र का भी कल्याण है। पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी की पुस्तक एकात्म मानववाद में अध्याय 3 में 'समाज और व्यक्ति में संघर्ष नहीं' उपशीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है कि हम व्यक्ति के विभिन्न रूपों तथा समाज की अनेक संस्थाओं में स्थायी संघर्ष या हितविरोध नहीं मानते। यदि कहीं ऐसा दीखता है तो वह विकृति का द्योतक है, प्रकृति अथवा संस्कृति का नहीं। पश्चिम में कुछ लोगों ने माना कि जीवन का विकास इस मूलभूत संघर्ष में से हुआ है। इसलिए वे समझते हैं कि राज्य व व्यक्ति में हमेशा संघर्ष की स्थिति रहती है। इसी आधार पर उन्होंने वर्ग संघर्ष की कल्पना भी की।

समाज में वर्ग नहीं होते हैं। अपने यहाँ भी जातियाँ बनी, किन्तु एक जाति व दूसरी जाति में संघर्ष है, उनका यह मूलभूत विचार हमने नहीं माना। हमारे वर्णों की कल्पना भी विराट् पुरुष के चारों अंगों से की गई है। विराट पुरुष के सिर में से ब्राह्मण पैदा हुआ, बाहुओं में से क्षत्रिय पैदा हुआ, उसके उर में से वैश्य पैदा हुआ, और पैर से शूद्र हुएँ यह जो कल्पना आई, उसका विचार करें कि पैर, हाथ, सिर व उरु इनके बीच कोई संघर्ष है क्या? अगर संघर्ष मानकर चलें तो शरीर चलेगा ही नहीं। क्योंकि शरीर अथवा पैर में व सिर में संघर्ष होता ही नहीं। संघर्ष का प्रश्न ही नहीं, बल्कि दोनो में कोई चीज यदि है तो श्एकात्मताश है। ये अंग एक–दूसरे के पूरक ही नहीं, उनमें पूर्ण अभिन्नता एवं आत्मीयता है।

समाज की संस्थाओं में विभिन्न कारणों से कभी विकार आ सकता है। समाज का प्राण दुर्बल हो गया हो तो सब अंग दुर्बल और निस्तेज हो जायेंगे। कभी अंग विशेष में खराबी भी आ सकती है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार संस्थाओं की उपादेयता और आवश्यकता में भी अन्तर आ सकता है। आज व्यवहार में संस्था कैसी है, और कैसी होनी चाहिए, इसका विचार भी आवश्यक है। परस्पर पूरक्ता तथा एकात्मता ही व्यवहार का मापदण्ड हो सकते हैं। कुटुम्ब, जाति, श्रेणी पंचायत, जनपद, राज्य आदि सब संस्थाएँ राष्ट्र तथा मानव के अंगभूत है उनमें एकात्मभाव चाहिए, वे परस्पर पूरक हैं, परस्परावलम्बी हैं। इसलिए उनमें परस्परानुकूलता की वृत्ति होनी चाहिए, परस्पर संघर्ष या विरोध की नहीं।

3.7.4 राष्ट्र से राज्य(नेशन स्टेट) का सम्बन्ध

प्रश्न : वर्तमान में नेशन स्टेट को ही कई बार राष्ट्र कह दिया जाता है। क्या यह सही है?

उत्तर :पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने बताया है कि 'विभिन्न संस्थाओं में राज्य एक महत्त्वपूर्ण संस्था है किन्तु सर्वोपरि नहीं। आज विश्व में जो समस्याएँ पैदा हो रही हैं, उनका एक प्रमुख कारण यह भी है कि प्रायः राज्य और समाज में समीकरण करके चलते हैं। वे तत्त्वतः अथवा व्यवहार में तो निश्चित ही राज्य को समाज का एकमेव प्रतिनिधि मानते हैं। दूसरी संस्थाएँ इतनी नगण्य हो गई हैं तथा राज्य इतना प्रभावी हो गया है कि सम्पूर्ण शक्ति उसमें केन्द्रित होकर एकाधिकार बढ़ता जा रहा है।

हमने राज्य को ही राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं माना। इसलिए हमारे यहाँ यह हुआ कि राज्य समाप्त होने के बाद भी हमारा राष्ट्र समाप्त नहीं हुआ। ईरान में राज्य समाप्त होते ही ईरान का राष्ट्र समाप्त हो गयाकिन्तु हमारे यहाँ राज्य को कई बार खोना पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली के तख्त के ऊपर कभी पठान बैठे, कभी तुर्क बैठे, कभी मुगल बैठे, कभी अंग्रेज बैठे। किन्तु इसके बाद भी हमारा राष्ट्र जिन्दा रहा, क्योंकि हमारे जीवन का केन्द्र राज्य नहीं था। यदि राज्य को जीवन केन्द्र मानकर चले होते तो हम समाप्त हो गये होते। जैसा पुराने जमाने की बहुत–सी कथाओं में आता है कि कोई राक्षस था। उसके प्राण किसी तोते के अन्दर थे। इसलिए राक्षस को मारने के लिए तोते की गर्दन मरोड़ दी और राक्षस खत्म हो गयाउसी प्रकार से जिन लोगों के प्राण राज्य में थे, वहाँ राज्य खत्म होते ही राष्ट्र का प्राण भी निःशेष हो गयाकिन्तु जिन राष्ट्रों ने यह माना, जैसा हमने माना, कि हमारा प्राण राज्य में नहीं है, वहाँ राज्य जाने के बाद भी राष्ट्र नहीं गया।'

(एक तो हमने राज्य का राष्ट्रीय केन्द्र एक नहीं रखा। चक्रवर्ती सम्राट अवश्य पूरे भारत के एक ही होते थे, परन्तु उनके अधीन विविध राजा अपने–अपने राज्य को वहाँ की प्रजा की परम्परा और संस्कृति के अनुसार ही चलाते थे। दिल्ली का कोई भी मुगल या तुर्क या पठान शासक पूरे भारत का शासक कभी नहीं रहा। वह दिल्ली जागीर का शासक ही होता था। उसी समय देश में राजपूतों, चालुक्यों, परमारों, प्रतिहारों, चौहानों, कल्चुरियों, चन्देलों, चोलों आदि के विशाल राज्य थे। अकबर के समय में भी गोंडवाना, मालवा, विजयनगर साम्राज्य और गुजरात, बिहार तथा बंगाल के बड़े–बड़े राज्य स्वतन्त्र थे। उसी अवधि में हिन्दुओं का विस्तार जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, चंपा (विजयतनाम), स्याम (थाईदेश), सुवर्णद्वीप आदि में हो रहा था। अंग्रेजों के समय भी 730 रियासतें भारतीय शासकों के द्वारा ही शासित् थीं जिनमें से 115 बड़े राज्य थे। अतः दिल्ली उस समय भी सम्पूर्ण भारत की राजधानी नहीं थी। अंग्रेजों की राजधानी भी दिल्ली केवल 15 वर्षों तक ही रही। 1933 से 1947 ईस्वी तक। सम्पूर्ण भारत की राजधानी दिल्ली 15 अगस्त् 1947 ईस्वी के बाद ही बनी है।)

राज्य का महत्त्व अपनी जगह सदा से था। स्वामी रामदास ने छत्रपति शिवाजी महाराज को इसीलिए कहा कि 'अपना राज्य चलाओ।' धर्म में पूर्ण शक्ति है, वह महत्त्व की चीज है। इसलिए धर्म को लेकर के जैसे वे स्वयं धर्मप्रचार में लगे थे उसी प्रकार वे छत्रपति शिवाजी महाराज को भी सन्यासी बना देते। किन्तु उन्होंने ऐसा न करते हुए राज्य प्राप्ति की ही प्रेरणा दी। कारण राज्य भी एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। किन्तु महत्त्व की बात मानना एक चीज है तथा उसे सर्वोपरि मानकर चलना दूसरी बात है। राज्य सर्वोपरि नहीं है। किन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यदि राज्य सर्वोपरि नहीं तो सर्वोपरि क्या है? कौन–सी चीज सर्वोपरि है। इसका विचार करें।

3.7.5 चिति की केन्द्रीयता

प्रश्न : आपके प्रतिपादनों से ऐसा लगता है कि धर्म अर्थात चिति ही राष्ट्र का केन्द्रीय तत्त्व है?

उत्तर :हाँ। चिति ही राष्ट्र का सत्व और मर्म है। वही केन्द्रीय तत्त्व है। इसी बात को समझाते हुये पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है कि धर्म ही हमारा प्राण है।

सर्वोपरिता राज्य की नहीं, आदर्श की होनी चाहिए पहरेदार खजाने से बड़ा नहीं हो सकता, कोष की तुलना में कोषाध्यक्ष छोटा ही माना जायेगा। राज्य राष्ट्र की रक्षा के लिए पैदा होता है, राष्ट्र के आदर्शों को व्यवहार में लाने या लाने की अवस्था पैदा करने तथा बनाये रखने के लिए पैदा होता है। राष्ट्र का आदर्श अर्थात् 'चिति' गहन है। उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के नियमों को ही उस राष्ट्र का धर्म कहते हैं। अतः महत्ता यदि किसी चीज की है तो वह 'धर्म' की है। यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है। धर्म गया कि प्राण गयाइसलिए जिसने धर्म छोड़ा, वह राष्ट्र से च्युत हो गयाउसका सब कुछ चला गया।

'धर्म', रिलीजन या मजहब नहीं होता

धर्म का सम्बन्ध केवल मन्दिर, मस्जिद से नहीं है। उपासना, व्यक्ति—धर्म का एक अंग हो सकती है, किन्तु धर्म तो व्यापक है। मन्दिर, मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा का प्रभावी माध्यम भी रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार विद्यालय विद्या नहीं है, वैसे ही मन्दिर धर्म से भिन्न है। हो सकता है कोई बालक रोज पाठशाला जाय, फिर भी अपढ़ रह जाय। उसी प्रकार प्रतिदिन मन्दिर में जाने वाला व्यक्ति भी धर्महीन हो सकता है।

एक ओर तो हम रिलीजन को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करने लगे तथा दूसरी ओर अपने धर्म और जीवन का अज्ञान तथा यूरोपीय जीवन का आधिकारिक ज्ञान हमारी शिक्षा का विषय बन गयाफलतः रिलीजन के जितने सहचारी भाव हैं, वे हमने धर्म पर आरोपित कर दिये। यदि यूरोप में रिलीजन के नाम पर अन्याय और अत्याचार, संघर्ष और युद्ध हुए तो वे सब हमारे यहाँ भी धर्म के खाते में नामे (डेबिट) में चढ़ा लिये गये। हमें लगा कि धर्म पर भी लड़ाई हो सकती है। परन्तु धर्म की लड़ाई दूसरी है और रिलीजन की लड़ाई दूसरी होती है। रिलीजन यानी मत, पंथ, मजहब, वह धर्म नहीं। धर्म तो एक व्यापक चीज है। यह जीवन के सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाली चीज है। उससे समाज की धारणा होती है। उससे आगे बढ़ें तो सृष्टि की। धारणा होती है। यह धारणा करने वाली जो चीज है, वह 'धर्म' है।

3.7.6 धार्मिकता का अर्थ और स्वरूप

प्रश्न : पण्डित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्र के धर्म को ही राष्ट्र की चिति कहते हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिकता किसे कहेंगे? क्या वह पूजा—पाठ और कर्मकाण्ड ही नहीं है?

उत्तर :नहीं। पूजा पाठ और कर्मकाण्ड धर्म का पर्याय नहीं हैं। वह धर्म का अंग भी हो सकता है और यदि धर्म का भाव नहीं है तो पाखण्ड और प्रदर्शन का अंग भी हो सकता है तथा अविचारित यांत्रिक क्रिया भी हो सकता है। महत्त्वपूर्ण है धर्म जो राष्ट्र को धारण करने वाली वस्तु है और जिसे चिति कहा गया है। इस बात को स्मरण रखना आवश्यक है कि धर्म के मूलभूत तत्त्व सनातन और सर्वव्यापी हैं। हाँ, उनका व्यवहार देश, काल परिस्थिति सापेक्ष होता है। मनुष्य को शरीर धारण के लिए भोजन करना चाहिए, यह नियम शाश्वत है। किन्तु व्यक्ति विशेष को कब, कैसा और क्तिना

भोजन करना चाहिए, यह परिस्थिति सापेक्ष होगा। कभी—कभी ऐसा भी होता है कि भोजन नहीं चाहिए किसी आदमी को टॉयफॉयड हो गया और हमने कहा कि शरीर धारण करने के लिए भोजन चाहिए और उसे भोजन करा दिया तो कठिनाई पैदा हो जायेगी। उस समय 'भोजन नहीं चाहिए' यह नियम लागू करना पड़ेगा। उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जायेगा। इस प्रकार धर्म के जो नियम हैं, उनका व्यवहार समय के साथ, युग के साथ बदलता रहता है। इसलिए देश काल के आधार के ऊपर इन नियमों का पालन करना चाहिए

सात्विक आधार पर बने नियम धार्मिक होते हैं

कुछ नियम थोड़ी देर के लिए होते हैं और कुछ नियम बड़ी देर के हुए होते हैं। यहाँ के कुछ नियम हैं जिनके आधार पर हम चल लिए बने रहे हैं। इनमें से एक नियम यह है कि मैं बोलूँ और आप शान्त रहकर सुनें। आप यदि इस नियम का उल्लंघन करने लगें व आपस में बोलने लगे या आप भी खड़े होकर बोलने लगें तो कहना होगा कि हम अपने धर्म से च्युत हो जायेंगे, धर्म का पालन नहीं करेंगे, हमारी धारणा नहीं होगी, हमारा काम नहीं चलेगा, कठिनाई हो जायेगी। अतः हमारा धर्म है। नियम का पालन करना जिससे इस सभा की धारणा होती है, सभा चलती है। परन्त ये नियम तब तक लागू हैं जब तक कि सभा है। सभा समाप्त होने पर घर जाकर भी आपने नहीं बोला तो कठिनाई पैदा हो जायेगी। घर के लोगों को डाक्टर बुलाना पड़ेगा। घर पर वहाँ के नियमों का पालन करना आवश्यक है। नियमों की सम्पूर्ण संहिता और उसके तात्विक आधार का नाम धर्म है। ये नियम मनमाने नहीं हो सकते। उनसे उस सत्ता की धारणा होनी चाहिए जिसके लिए वे बने हैं तथा वे दूसरी सत्ता के अविरोधी एवं पोषक होने चाहिए यदि हम कोई रजिस्टर्ड सोसाइटी के उपनियम बनाएँ। तो ये उपनियम सोसाइटी के नियमों और विधान के प्रतिकूल नहीं हो सकते। सोसाइटी के नियम और विधान रजिस्टर्ड सोसायटीज एक्ट के विरुद्ध नहीं हो सकते। एक्ट को संविधान के अनुकूल होना आवश्यक है अर्थात संविधान वह कानून है जिसके अनुसार देश के सभी कानून बनने चाहिये।

इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट के बारे में कहते हैं कि पुरूष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त अन्य सभी मामलों में वहाँ की पार्लियामेण्ट सॉवरेन है और सब कुछ कर सकती है। उन्होंने कहा कि 'वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती, शेष सब कुछ कर सकती है', परन्तु क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट यह नियम बना सकती है कि इंग्लैण्ड का प्रत्येक व्यक्ति सिर के बल चले? नहीं बना सकती। क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट यह कानून बना सकती है कि इंग्लैण्ड का हर व्यक्ति रोज पुलिस थाने में आकर हाजिरी लिखावे? नहीं, यह भी नहीं कर सकती। इंग्लैण्ड का कोई लिखा हुआ संविधान नहीं है। वे अपने यहाँ परम्परा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। पर क्या उनकी परम्पराओं में परिवर्तन नहीं हुआ? हुआ है। उनका आधार क्या है? तो जो परम्परा इंग्लैण्ड के विकास में बाधक हुई, उसको उन्होंने छोड़ दियाँ जो सहायक हुई, वह पुष्ट होती गई।

परम्पराओं का महत्त्व ब्रिटेन में ही नहीं, हर देश में होता है। हमारे यहाँ लिखित संविधान है पर यह लिखित संविधान भी देश की परम्पराओं का विरोध करके नहीं चल सकता। अगर उन परम्पराओं का विरोध करके चलता है तो वह संविधान धर्मानुसार नहीं बना। धर्मानुसार वह संविधान होगा जिससे राष्ट्र की धारणा हो। धारणा धर्म से होती है। इसलिए हमारे यहाँ धर्म सर्वप्रभुसत्तासम्पन्न है। अन्य सभी संस्थायें, सत्तायें और इकाईयाँ उसी से शक्ति ग्रहण करती हैं।

इस प्रकार चिति ही राष्ट्र की आत्मा है। चिति की स्मृति खो देने पर राष्ट्र के खोने का भ्रम पैदा हो जाता है। अतः प्रत्येक राष्ट्रभक्त को अपने राष्ट्र की चिति का सदा स्मरण–मन्त्र–चिन्तन करते रहना चाहिए शास्त्रों को पढ़कर तथा ज्ञानियों से और श्रेष्ठ राष्ट्रभक्त राजपुरूषों से सुनकर चिति का स्वरूप समझा जा सकता है। राष्ट्र को चिति के अनुरूप ही रखने का सदा प्रयत्न करना चाहिये।

3.7.7 चिति राष्ट्र की होती है, नेशन स्टेट की नहीं

प्रश्न : राष्ट्र की आत्मा चिति है। परन्तु बहुत से नेशन स्टेट प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध की अवधि के बीच में बने हैं और द्वितीय महायुद्ध के बाद भी बने हैं। स्वयं भारत में अफगानिस्तान, पाकिस्तान और बांग्लादेश ये तीन नये नेशन स्टेट 20वीं शताब्दी ईस्वी में बने और प्रथम महायुद्ध के बाद अफगानिस्तान बना तथा द्वितीय महायुद्ध के बाद पाकिस्तान और बांग्लादेश बने। तो क्या इन नये नेशन स्टेट की भी चिति अलग–अलग हो गई? ऐसी स्थिति में चिति की संरचना निरन्तर परिवर्तनशील माननी होगी?

उत्तर :नहीं। चिति राष्ट्र की होती है। नेशन स्टेट की नहीं। नेशन स्टेट राज्य के बल से या राजनैतिक समुदायों के बल से बनते बिखरते रहते हैं। वे भंगुर और परिवर्तनशील होते हैं। उनकी कोई चिति नहीं होती। नये नेशन स्टेट यदि मूल राष्ट्र की चिति के अनुरूप हुये तो वे टिक जाते हैं। अन्यथा नहीं टिकते। राष्ट्र नैसर्गिक और प्राचीन है। नेशन स्टेट 19वीं शताब्दी ईस्वी में पहली बार यूरोप में रचे गये और फिर उनके प्रभाव से विश्व भर में रचे गये। उसमें से जो नेशन स्टेट चिति की परम्परा में होते हैं वे टिकते हैं।

जैसे भारत राष्ट्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय चिति के विरूद्ध पाकिस्तान, बांग्लादेश आदि बने। जो निरन्तर टकराव और उथल पुथल के दौर से गुजर रहे हैं। शेष बचा हिस्सा जो भारत कहलाया, उसमें राष्ट्रीय चिति की निरन्तरता बनी हुई है। इसलिये ये टिकाऊ और निरन्तर गतिशील है। इतनी विशाल जनसंख्या में लोग परस्पर सामंजस्य और तालमेल से रह पा रहे हैं क्योंकि उन्हें राष्ट्र की चिति का संस्कार रूप में स्मरण है। इसीलिये विविधता और अनेकरूपता हमारे लिये कोई समस्या नहीं है। उस सबके साथ वे स्वयं को सहज रूप से भारतीय मानते हैं और उनमें भी जो भारत का मुख्य समाज है अर्थात् हिन्दू समाज वह 130 करोड़ का होकर भी स्वयं की एक ही बड़ी पहचान रखता है – अपने हिन्दू होने की। यह राष्ट्रीय चिति के संस्कार और स्मरण का महत्त्व है।

विश्व के अनेक प्राचीन राष्ट्र हैं, जैसे तिब्बत, चीन, रूस, मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया, थाईलैण्ड, जापान, आदि। इनकी अपनी एक चिति है वही उनकी शक्ति और समृद्धि का आधार है। लेकिन यूरोप के अधिकांश नेशन स्टेट एक तरह के कृत्रिम राज्य हैं, इसलिये उनकी सीमायें लगातार घटती बढ़ती रही हैं और वे अपनी पहचान भी बदलते रहे हैं। आस्ट्रेलिया का साम्राज्य या रोमन साम्राज्या या हाप्सबर्ग का साम्राज्य या आस्ट्रो हंगरी साम्राज्य आज अस्तित्त्व में नहीं हैं। उनका स्थान नये–नये नेशन स्टेटस ने ले लिया है। क्योंकि वे मूल चिति का स्मरण नहीं रखते। नैसर्गिक राष्ट्रों की ही चिति होती है। भारत अनादिकाल से ऐसा ही नैसर्गिक राष्ट्र है। इसीलिये इसकी चिति सनातन है।

3.8 सारांश

वैदिक धारणा में ही 'राष्ट्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ जो लोक और राज्य दोनों के समन्वय का वाचक है। इस इकाई में राष्ट्र की अवधारण तथा उसकी व्याप्ति किस प्रकार से पुराणों एवम् अन्य शास्त्रों में वर्णित है, इसका अध्ययन आपने किया आपने जाना कि किस प्रकार इस भारतवर्ष को हिमालय से समुद्रपर्यन्तवर्णित किया गया है। इसमें प्रवाहित होने वाली नदियों, चिर काल से उपस्थित पर्वतों, कन्दराओं, क्षेत्रों, तथा इसमें निवास करने वाले जनों का वर्णनप्राप्त है। आपने भारतीय परम्परा में विजित राज्य के प्रति किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिए, इसके तथ्यों का अध्ययन किया इस राष्ट्र में जनों व क्षेत्रों के गुणों के आधार पर उनके वैशिष्ट्य के वर्णन दिये गये हैं।

आपने यह जाना कि चिति किसे कहते है और किस प्रकार यह चिति राष्ट्र की आत्मा से है। चिति राष्ट्र की मूल प्रकृति या स्वभाव होता है। उसमें राष्ट्र के संस्कार, स्वभाव, परम्परा, ज्ञान, इतिहास एवं व्यवहार का समावेश होता है। राष्ट्र की इकाइयों का चिति से सम्बन्ध, किस प्रकार राष्ट्र राज्य (नेशनस्टेट)से भिन्न है, राष्ट्र के आन्तरिक अवयवों, समाज एवं व्यक्ति के बीच संघर्ष है या नहीं, राष्ट्र से राज्य का सम्बन्ध, राष्ट्र में चिति की केन्द्रीयता होना तथा इसी कारण से राष्ट्र और राज्य का भिन्न होना, इन सब विषयों का सम्यक् रूप से अध्ययन किया

3.9 पारिभाषिक शब्दावली

3.10 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. हिन्दू राष्ट्र की सांस्कृतिक संरचना : जे. नंदनकुमार, ठण्डस स्क्रॉस्ल भाषा, नई दिल्ली
2. श्री माधव सदाशिव गोलवलकर : विचार–नवनीत (ज्ञानगंगा प्रकाशन, जयपुर)
3. नंदपण्डित रचित् स्मृति चन्द्रिका (17वीं शती ईस्वी)
4. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय : एकात्म मानववाद (अर्चना प्रकाशन, भोपाल)
5. रामेश्वर मिश्र पंकजः एकात्म दर्शन (भाग 1 एवं 2, पुनरूत्थान प्रकाशन, अहमदाबाद)
6. यूरोप ए हिस्ट्री : नार्मन डेविस (अंग्रेजी पुस्तक) हार्पर पेनेलिया, न्यूयार्क, 1998 ईस्वी

3.11 बोध प्रश्न

1. 'चिति' की अवधारणा से आप क्या समझते हैं?
2. राष्ट्र तथा नेशन की अवधारणा में क्या अन्तर है?
3. राष्ट्र एवं राज्य के मध्य साध्य–साधन सम्बन्ध है। इस कथन की पुष्टि कीजिए?
4. राष्ट्रवाद के विभिन्न आयामों का वर्णन कीजिए?

खण्ड 3
प्रमुख भारतविद और उनके अवदान

खण्ड 3 परिचय

एम.ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के प्रथम पाठ्यक्रम के तृतीय खण्ड में आपका स्वागत है। भारत के विषय में जानना सरल नहीं हैं। भारत के ज्ञान–विज्ञान, शिक्षा संस्कृति आदि को समझने और जानने का प्रयास अनेक विद्वानों ने किया हैं। प्राचीन आचार्य तो जानते थे, किन्तु आधुनिक में संख्या कम रही है। इस खण्ड में प्रमुख भारतविदों का परिचय एवं उनके भारत विषयक बोध को आपके अध्ययन के लिए प्रस्तुत किया गया है। प्रथम इकाई में तिलक, गांधी, मदनमोहन मालवीय, डॉ.हेडगेवार के भारतीय बोध का परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय इकाई क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, बंकिम चन्द, टैगोर श्री अरविन्द का वर्णन करती है। तीसरी इकाई के अन्तर्गत वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री राजगोपालाचारी, विशुद्धानन्द पाठक, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के भारत विषयक अध्ययनों का वर्णन प्रस्तुत है। इस खण्ड की अन्तिम और चौथी इकाई में आप ए.के. शरण, धर्मपाल, विद्यानिवास मिश्र के भारत विषयक बोध का परिचय प्राप्त करेंगे। इस पूरे खण्ड का अध्ययन कर लेन के बाद आप इन भारतविदों का परिचय देने के साथ–साथ इनकी भारतीय ज्ञान सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख भी कर पायेंगें।

इकाई 1 तिलक, गांधी, मदनमोहन मालवीय, डॉ. हेडगेवार

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- बाल गंगाधर तिलक, गाँधी, मालवीय तथा हेडगवार का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सकेंगे
- इन महापुरुषों के भारतविषयक दृष्टिकोण से परिचित् हो सकेंगे।
- भारत–अध्ययन के क्षेत्र में इनके महत्त्वपूर्ण अवदानों से परिचित् हो सकेंगे।
- इनके दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दू अध्ययन के स्वरूप की दिशा को समझ सकेंगें।

1.1 प्रस्तावना

वैसे तो इण्डोलॉजी एक विधि के रूप में भारत के प्रति उत्साहजनक रूप से भारत के बारे में साकारात्मक जानकारी के रूप में प्रारम्भ हुई किन्तुधीरे–धीरे वह अपने वर्चस्वशाली तथा अकादमिक श्रेष्ठभावना के एकतरफा आग्रह से भारत सम्बन्धी ज्ञान को क्षति पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया था। इस परिवेश में भारत में विवेकानन्द, तिलक, गाँधी, हेडगेवार, मालवीय जैसे विचारकों ने भारत के बारे में भारतीयदृष्टिकोण से जो विचार किया है, वह भारत के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आप जानते है कि दृष्टि के बदलने से अध्ययन की दिशा भी बदल जाती हैं। अतः इन विचारकों के आलोक में हम हिन्दू अध्ययन के स्वरूप को आसानी से समझ सकते हैं कि किस प्रकार से हिन्दू अध्ययन का विषयवस्तु राष्ट्रीय होते हुए भी अन्तरराष्ट्रीय और सार्वभौम महत्त्व का है। विवेकानन्द इस धारा के अगुआ हैं। उन्होंने भारतीय सत्व को धर्ममूलक घोषित करते हुए न केवल इसकी विस्तृत व्याख्या की बल्कि इसका

प्रचार भी कियातिलक ने भारत के शास्त्रीय तथा उसके अनुप्रयोगात्मक परम्परा के प्रयोजन को सिद्ध कियागाँधी, हेडगेवार तथा मालवीय तीनों चिन्तकों ने एक उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए भारतीय विद्या के अनेक पक्षों का ज्ञान अपने भाषण, लेखन तथा सामाजिक, राजनितिक, धार्मिक कार्यों द्वारा प्रस्तुत किया है। इस परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हम हिन्दू संकल्पना के निहितार्थ को भलिभाँति समझ सकते हैं। इन सभी पक्षों का इस ईकाई में आप अध्ययन करेंगे।

1.2 भारतविद्या की अवधारणा

सामान्य अर्थ में भारतीय उपमहाद्वीप की भाषाओं, ग्रन्थों, इतिहास एवं संस्कृति का अध्ययन भारतीय विद्या कहलाती है उसे भारत अध्ययन India Studyभी कहा जाता है। भारत एवं यूरोप के सांस्कृतिक सम्पर्क द्वारा इस विधा का जन्म हुआ इस विधा के पूर्व यह माना जा रहा था कि भारत यूरोप का उपनिवेश है तथा भारत सांस्कृतिक रूप से विपन्न है। किन्तु व्याकरण, पुरातत्त्व और मानविकी के नये अनुसन्धान ने यह सिद्ध किया है कि भारत एवं यूरोप के सम्पर्क अनादि काल से आरम्भ होकर मध्ययुग से होते हुए आधुनिक युग तक आया है। इस क्षेत्र में भारतविद्या के विभिन्ना धाराओं का आगमन हुआ। राजेन्द्रलाल मित्र को भारत का प्रथम भारतविद् माना जाता है। एक धारा भारतीय इतिहासविदों की आयी जिसका कमान आर0एल0मिश्रा, आर0जी0 भंडाकर, एस0के. अयङ्गकर, के0एन0 शास्त्री, के0पी0 जाय सवाल, आर0सी0 मजुमदार, वी0के. राजवाड़े और पी0वी0 काणे ने सम्भाला इन विद्वानों ने हिन्दू संस्कृति के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये इनका दावा था कि हिन्दू संस्कृति में सभी संस्कृतियों का सारतत्त्व निहित है। एक राष्ट्र के रूप में भारत के विकास के लिए हिन्दू संस्कृति का पुनरूद्धार आवश्यक है लेकिन कहीं न कहीं ये विद्वान इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाये कि हिन्दूत्व एक ऐसा वृहत अर्थगर्भी पद है जिसमें भारतीय उप–महाद्वीप के प्रचलित विभिन्न भारतीय धार्मिक विचार, विश्वास और रिवाज शामिल है। इसी आशय के साथ प्रस्तुत ईकाई में इन्डोलॉजी की अकादमिक विधि से इतर के विद्वानों को शामिल किया गया है। भारतविद्या और इन्डोलॉजी में तकनीकी रूप से अन्तर है। भारत को भारतीय विधि से जानने का प्रयास करना भारतविद्या है। इसी तथ्य को दृष्टिगत करते हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मालवीय जी के जन्म शताब्दी वर्ष में भारतीय विद्याओं का युवा पीढ़ी में युगानुकूल प्रवेश कराने हेतु भारत अध्ययन केन्द्र की स्थापना हुई है। पूर्व में इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र विभिन्न विश्वविद्यालयों में Indic Study Centre जैसी संस्थाएँ इस कार्य में संलग्न है।

इस ईकाई में हम आपको भारतीय पुर्नजागरण काल के उन प्रमुख विचारकों के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व के साथ साथ उनके भारतबोध के आलोक में हिन्दू संकल्पना और अवधारणा को समझाने का प्रयास करेंगे, जिससे आप इस सनातन संस्कृति के ज्ञानात्मक उपागमों को समझने की सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर सकें। भारतविद्या के क्षेत्र में विगत दो सौ वर्षों में भारत तथा भारतेत्तर विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के शास्त्र अध्ययन, अनुवाद तथा उनके विश्लेषण के साथ साथ इस संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन और इन अध्ययनों का अन्य संस्कृति के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। ये सारे अध्ययन हमारे लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है किन्तु इस ईकाई में हम ऐसे युगद्रष्टापुरूषों को पढ़ने जा रहे हैं, जिनकी दृष्टि भारत को समझने में बहुत उपयोगी है। ये विचारक उन्नीसवीं शताब्दी के न केवल महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है बल्कि उस दौर के सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक गतिविधियों में शामिल रहे हैं, इसलिये इन व्यक्तियों के अवदानों को सम्पूर्णता में लेकर हिन्दू अध्ययन की संकल्पना और

अवधारणा को समझा जा सकता है।इस ईकाई में जिन विचारकों को अध्ययन का विषय बनाया गया है, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत है :

क्र0 सं0	नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
1	स्वामी विवेकानन्द	12 जनवरी, 1863 से 04 जुलाई, 1902 तक	राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, माई मास्टर, लेक्चर्स फ्रॉम कोलंबो टू अल्मोड़ा
2	बाल गंगाधर तिलक	23 जुलाई, 1856 से 01 अगस्त, 1920	The orion,वेद काल का निर्णय(1893), TheArticle Home in the Veda,आर्यों मूल निवास (1903), श्री भगवद्गीतारहस्य–1915, अन्य निबन्ध–Vedic Chronology, Vedang Jyotish, The Missing Verse of Sankhya- KUrika.इनमें से प्रत्येक का विषय वस्तु नया और उपयोगी है।
3	महात्मा गाँधी	02 अक्टूबर, 1861 से 30 जनवरी, 1948	हिन्द स्वराज', मेरे सपनों का भारत, सत्य के प्रयोग, 'हरिजन' तथा 'यंग इण्डिया पत्र।
4	डॉक्टर हेडगेवार	01 अप्रैल, 1889 से 19 जून, 1940	संघ प्रचारक के लिए मार्गदर्शन (1931), संघ की स्थापना और उद्देश्य (1932), संघ कार्य का सार (1937), संघ और समाज (1939), संघ और राजनीति (1940)
5	मदनमोहन मालवीय	25 दिसम्बर, 1861 से 12 नवम्बर, 1946	सनातनधर्म, प्रदीप, अन्त्यजोद्धार विधि, हिन्दुस्तान, अभ्युदय, मर्यादा, लीडर पत्र आदि।

1.3 स्वामी विवेकानन्द

विदेशी सांस्कृतिक आक्रमण के प्रतिक्रिया स्वरूप उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पुनर्जागरण की चेतना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके परिपक्व प्रवक्ता विवेकानन्द थे। रूपक की भाषा में यों कह लीजिए कि विवेकानन्द पुनर्जागरण काल के ऐसे सुविकसित् कमल थे जो सुन्दर भी और सुगंधित भी है। स्वामी विवेकानन्द के साहित्य में निहित कथनों को समझने के लिए उस समय के परिवेश पर विचार करना आवश्यक है 19वीं सदी के भारत में ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों के क्रिश्चियन

मिशनरी ने इस देश में अपने धर्म के प्रचार के लिए विशेष तत्परता प्रदर्शित करनी शुरू कर दी थी। लार्ड वेलेजली द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेजमें अध्यापन कार्य के लिए इसाई धर्म में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों की ही नियुक्ति होती थी। 19वीं शताब्दी के मध्य में ईसाई मिशनरी स्वच्छन्द रूप से अपने धार्मिक प्रचार करते थे और अन्य धर्मो के अनुयायियों के मनोभावों की जरा भी परवाह न कर उन पर सच्चे–झूठे लाँछन लगाने में सदा तत्पर रहते थे। इस समय तक ईसाई मिशनरियों ने 85 ऐसे केन्द्र स्थापित कर लिए थे, जिनमें 1918 भारतीय ईसाई धर्म की दीक्षा लेकर पादरी का कार्य करने के लिए शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। ऐसा करने से धर्म का कोई भला नहीं हो रहा था। क्योंकि वे आलोचना धर्म के वाह्य पक्ष द्वारा निर्मित रूढ़ियों का करते थे। लेकिन उसके स्थान पर एक दूसरी विजातीय रूढ़ि कर्मकाण्ड का स्थापना कर देते थे। जिससे समाज में धर्म के मूल स्वरूप से लोगों का विचलन और धार्मिक हो जाता था।

भारतीय चिन्तन में उपनिषदों के बाद उसी दिशा में ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण गति अवरूद्ध रही। लेकिन अंग्रेजीयत के प्रभाव से भारतीय चिन्तन ने आधुनिक मानव चेतना के प्रकाश में प्राचीन वेदान्त दर्शन के महत्त्व को पहचान और उसको ज्ञान–विज्ञान के प्रकाश में नया रूप प्रदान करने का प्रयास कियापुनर्जागरण के युग में साहित्य, कला, विज्ञान इत्यादि के प्रगति के साथ दर्शन के क्षेत्र में नये विचारों का सूत्रपात हुआ। इसी क्रम में वेदान्त की व्याख्या नये रूप में करने का प्रयास किया गया जिसे 'नव्य वेदान्त' कहा गयानव्य वेदान्तके दार्शनिकों में महर्षि श्रीअरविन्द, डॉ. राधाकृष्णन्, स्वामी विवेकानन्द, रविन्द्रनाथ टैगोर, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य प्रमुख हैं। नव्य वेदान्त का नया (नव्य) कहने का मुख्य कारण–वेदान्त की व्याख्या में पाश्चात्य दर्शन तथा विज्ञान के प्रभाव के साथ–साथ राजनीतिक चेतना के साथ धर्म के क्षेत्र में समन्वयवादी दृष्टिकोण है तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना में भारतीयता का छाप है। स्वामी विवेकानन्द नव्य वेदान्तियों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन में से कुछ को ग्रहण किया तथा कुछ को छोड़ा पुनः कुछ नवीन जोड़ा भी। उदाहरणार्थ उन्होंने कर्मकाण्ड को छोड़ा, धर्मशास्त्र के विचारों में परिवर्तन किया तथा बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म का पूरक माना तथा सामाजिक कर्मों को उपासना रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास कियाइन सब विशेषताओं के साथ–साथ सबसे बड़ी विशेषता उनके द्वारा मानवतावाद की आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत करना है। मानववाद के पाश्चात्य व्याख्या में मूल प्रवृत्तियों तथा उसके आदर्शों के मध्य अप्रिय संघर्ष जारी रहता है। आदर्शविहीन मानवतावादी को आध्यात्मिक मानवतावादी के रूप में परिष्कृत करने से ही कदाचित् वेदान्त जैसे कठिन दर्शन का भी जनसमुदाय में प्रचार हो सका और यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि उनके विचारों का संसार में सभी जगह प्रभाव पड़ा। उन्होंने कहा है वेदान्त दर्शन के मत से मनुष्य ही जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और यह कर्मभूमि पूर्णत्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सम्भावना है। देवदूत या देवता आदि को भी पूर्ण होने के लिए मनुष्य जन्म ग्रहण करना पड़ेगा। यह मानव–जीवन एक महान् केन्द्र, अद्भुत स्थिति और अद्भुत अवसर है। वेदान्त अन्त में मानव, व्यक्ति और समाज के कल्याण की ओर ले जाता है। इसी प्रकार वेदान्त का लक्ष्य भी मानववादी है। अपने विचारों में विवेकानन्द विश्व कल्याण की साधना करना चाहते थे। उन्होंने कहा था– तुम सभी ईश्वर हो, हे मानवों, हे पशुओं, हे सब प्रकार के जीवित प्राणियों,। तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो, तो आधे घण्टे के अन्दर ही सारे जगत् का परिवर्तन हो जाये उस समय घृणा का बीज न बोकर ईर्ष्या और असत् चिन्ता का प्रवाह न फैलाकर सभी देश के लोग सोचेंगे

की सभी 'वह' है। जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो, वह सब 'वही' है। तुम्हारे भीतर अशुभ न रहने पर अशुभ किस तरह देखोगे। साधु हो जाओ, असाधु भाव अपने आप चले जाएँगे। इस प्रकार सारे जगत् का परिवर्तन हो जायेगा। यही समाज का सबसे बड़ा लाभ है। ये सब भाव भारत में प्राचीन काल में अनेक महात्माओं द्वारा आविष्कृत और कार्य रूप में परिणत हुए थे।

उनके विचारों में पुराणों के आख्यानों से ज्यादा उपनिषदों विशेषतः ईश, छान्दोग्य, श्वेताश्वर, कठ एवं मुण्डक आदि प्राचीन उननिषदों के उदाहरण मिलते हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उपनिषदों का केवल अध्ययन ही नहीं किया था अपितु उनके प्रतिपाद्य विषय को आत्मसात् कर उसे व्यवहार में उतारने का प्रयत्न भी किया था।

उपनिषद् के उदाहरण के द्वारा ही उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर वाह्य वस्तु के रूप–भेद से भिन्न–भिन्न रूप धारण करती है तथा जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से उस रूप की हो गयी है और उनके बाहर भी है;उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उन वस्तुओं का रूप धारण किये है और उनके बाहर भी है। ब्रह्म आत्मरूप है, ईशावाशोपनिषद् का उदाहरण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है, ''ब्रह्म अन्नत सत्ता, अन्नत ज्ञान एवं अन्नत आनन्द है। वह चंचल भी है, स्थिर भी है, दूर भी है, निकट भी है वह सबके भीतर भी है तथा सबके बाहर भी है।'' जो अपने आत्माओं मे ही सब भूतों का दर्शन करते हैं वे उनसे जुगुप्सा नहीं करते हैं। जिस अवस्था में ज्ञानी व्यक्ति के लिए समस्त् भूत स्वरूप हो जाते है, उस अवस्था में उस एकत्वदर्शी पुरूष को शोक कहाँ और मोह कहाँ रह सकता है।

हेगेल की भांति ही विवेकानन्द को भी यह विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्त्व की अभिव्यक्ति है। उदाहरणार्थ धर्म भारत के इतिहास का नियमपूर्ण सिद्धान्त रहा है। स्वामी जी लिखते हैं– ''जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है उसी प्रकार हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रमुख प्रधान तत्त्व हुआ करता है। अन्य सब तत्त्व उसी में केन्द्रित होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना तत्त्व हैं अन्य सब वस्तुएँ गौण होती है। भारत का तत्त्व धर्म है। समाज सुधार तथा अन्य सब कुछ गौण है।

स्वामी विवेकानन्द जी का कहना था कि आगे चलकर 'धर्म' ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरूदण्ड बनेगा। कि अतीत को प्रमुखता न देकर उसकी उपेक्षा करना राष्ट्र के जीवन का निषेध करना है। इसलिए भारतीय राष्ट्रनाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत् को सुदृढ़ नींव पर ही करना होगा। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि अतीत में भारत में सृजनात्मक प्रतिमा की अभिव्यक्ति मुख्यतः धर्मोपासना के ही क्षेत्र में थी। धर्म ने भारत में एकता और स्थिरता बनाए रखने के लिए सृजनात्मक शक्ति के रूप में कार्य किया था।

भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास

विवेकानन्द जी की यह स्पष्ट मान्यता हैं कि भारतीय ज्ञानपरम्परा एक वैज्ञानिक ज्ञानपरम्परा है। कार्य–कारणवाद सर्वशक्तिमान है और ऐसा कोई देशकाल ज्ञात नहीं है, जब इसका अस्तित्त्व नहीं था। यह सिद्धान्त भी उतना ही प्राचीन है, जितनी आर्य जाति, इस जाति के मन्त्रदृष्टा कवियों ने उसका गौरव गान गाया है, इसके दार्शनिक ने उसको सूत्रबद्ध किया है और उसकी वह आधारशिला बनायी, जिस पर आज का

भी हिन्दू अपने जीवन की समय योजना स्थिर करता है।

आरम्भ में इस जाति में एक अपूर्व जिज्ञासा थी, जिसका शीघ्र ही निर्भीक विश्लेषण में विकास हो गयायद्यपि आरम्भिक प्रयासों का परिमाण एक भावी धुरन्धर शिल्पी के अनभ्यस्त् हाथों के प्रयास जैसा भले ही हो, किन्तु शीघ्र ही उसका स्थान विशिष्ट विज्ञान, निर्भीक प्रयत्नों एवं आश्चर्यजनक परिणामों ने ले लिया

इस निर्भिकता ने इन आर्य ऋषियों को स्वनिर्मित यज्ञ–कुण्डों ही हर एक ईंट के परीक्षण के लिये प्रेरित किया, उन्हें अपने धर्मग्रन्थों के शब्द के विश्लेषण, पेषण और मंथन के लिए उकसायाँ इसी कारण उन्होंने कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया, उसमें परिवर्तन और पुनः परिवर्तन किया, उसके विषय में शंकाएँ उठायीं, उसका खण्डन किया और उसकी समुचित् व्याख्या की। देवी–देवताओं के बारे में गहरी छानबीन हुई और उन्होंने सार्वभौम, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी सृष्टिकर्त्ता को, अपने पैतृक स्वर्गस्य परम पिता को, केवल एक गौण स्थान प्रदान किया या उसे व्यर्थ कहकर पूर्णरूपेण बहिष्कृत कर दिया गया और उसके बिना ही एक ऐसे विश्वकर्म का सूत्रपात किया गया, जिसके अनुयायियों की संख्या आज भी अन्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा अधिक है। विविध प्रकार की यज्ञ–वेदियों के निर्माण में ईंटों के विन्यास के आधार पर उन्होंने ज्यामिति–शास्त्र का विकास किया और अपने ज्योतिष के उस ज्ञान से सारे विश्व को चक्ति कर दिया, जिसकी उत्पत्ति पूजन एवं अर्ध्यदान का समय निर्धारित करने के प्रयास में हुई। इसी कारण अन्य किसी अर्वाचीन या प्राचीन जाति की तुलना में गणित को इस जाति का योगदान सर्वाधिक है। उनके रसायन शास्त्र, औषधियों में धातुओं के मिश्रण, संगीत के स्वरों के सरगम के ज्ञान तथा उनके धनुषीय यन्त्रों के आविष्कारों से आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के निर्माण में विशेष सहायता मिली है। उज्जवल दन्तकथाओं द्वारा, बाल मनोविकास के विज्ञान का आविष्कार इन लोगों ने कियाइन कथाओं को प्रत्येक सभ्य देश की शिशुशालाओं या पाठशालाओं में सभी बच्चे चाव से सीखते है और उनकी छाप जीवन भर बनी रहती है।

भारत का भविष्य

स्वामी जी अपने मद्रास भाषण में भारतभूमि के बारे में जो उद्भावना प्रस्तुत किया, वह भारत अध्ययन के क्षेत्र में अक्षय प्रेरणस्रोत बन गया है। उस व्याख्यान के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश आपके अध्ययन के लिए यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ दूसरे देशों को जाने से पहले तत्त्व ज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनायी थी, यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थल प्रतिरूप उसके बहने वाले समुद्रकार नद है, जहाँ चिरन्तन हिमालय श्रेणीबद्ध उठा हुआ अपने हिमशिखरों द्वारा मानो स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरणरज पड़ चुकी है।

किसी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएँ अधिक जटिल और गुरूतर है। जाति, धर्म, भाषा, शासन–प्रणाली– ये ही एक साथ मिलकर एक राष्ट्र की सृष्टि करते हैं। यदि एक एक जाति को लेकर हमारे राष्ट्र से तुलना की जाय तो हम देखेंगे कि जिन उपादानों से संसार के दूसरे राष्ट्र संगठित हुए है, वे संख्या में यहाँ के उपादानों से कम है। यहाँ आर्य है, द्रविड़ है, तातार हैं, तुर्क हैं, मुगल है, यूरोपीय हैं, मानो संसार की सभी जातियाँ इस भूमि में अपना अपना खून मिला रही हैं। भाषा का यहाँ एक विचित्र ढंग का जमावड़ा है, आचार–व्यवहारों के सम्बन्ध में दो भारतीय जातियों में जितना अन्तर है, उतना पूर्वी और यूरोपीय जातियों में नही।

प्रश्न : तो भारतबोध का आधार क्या है?

उत्तर :विवेकानन्द का पहला उत्तर है–'धर्म'

वे कहते हैं, हमारे पास एकमात्र सम्मिलन भूमि है, हमारी पवित्र परम्परा, हमारा धर्म। एकमात्र सामान्य आधार वही है, और उसी पर हमें संगठन करना होगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है। किन्तु एशिया में राष्ट्रीय ऐक्य का आधार धर्म ही है, अतः भारत के भविष्य संगठन की पहल शर्त के तौर पर उसी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म के तौर पर उसी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा। हमारे धर्म में कुछ सिद्धान्त ऐसेहैं जो सभी सम्प्रदायों द्वारा मान्यहै। इस तरह हमारे सम्प्रदायों के ऐसे कुछ सामान्य आचार अवश्य है, उनकी स्वीकार करने पर हमारे धर्म में अद्भुत विविधता के लिए गुंजाइश हो जाती है और साथ ही विचार और अपनी रूचि के अनुसार जीवन निर्वाह के लिए हमें सम्पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है। एशिया में और विशेषतः भारत में जाति, भाषा, समाज सम्बन्धी सभी बाधाएँ धर्म की इस एकीकरण शक्ति के सामने उड़ जाती है। हम जानते है कि भारतीय मन के लिए धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूल मन्त्र है।

प्रश्न : देश मे विभिन्न धर्मों में धर्मों को लेकर मतैक्य नहीं दिखता ऐसे में 'धर्म' हमारी क्या सहायता कर सकता है?

उत्तर : 'धार्मिक एकता'

भविष्य के भारत निर्माण का पहला कार्य, यह पहला सोपान, जिसे युगों के उस महाचल पर खोदकर बनाना होगा, भारत की यह धार्मिक एकता ही है। यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिए कि हम हिन्दू–द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लोग, जैसे शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि भिन्न भिन्न मतों के होते हुए भी आपस में कुछ सामान्य भाव भी रखते हैं और अ बवह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के हित के लिए हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें। सचमुच ये झगड़े बिल्कुल वाहियात है, हमारे शास्त्र इनकी निदा करते है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने भाषण में यह भी कहा कि जनता की उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसको भाव दो, वह बहुत कुछ जान जायगी, परन्तु साथ ही कुछ और भी जरूरी है : उसकी संस्कृति को बोध दो। कुछ ऐसे नवीन वर्ण की सृष्टि होगी, जो संस्कृत भाषा सीखकर शीघ्र ही दूसरे वर्णों के ऊपर उठेगी और पहले की तरह उनपर अपना प्रभुत्व फैलायेगी। मद्रास भाषण में वे जातीय संस्कृतिकरण हेतु संस्कृत भाषा में निहित ज्ञान परम्परा को सभी के लिए आवश्यक मानते हुए विवेकानन्द ने यहाँ तक कह दिया कि, "ऐ पिछड़ी जाति के लोगों, मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढ़ना है, और यह लड़ना–झगड़ना और उच्च वर्णों के विरोध में लेख लिखना व्यर्थ है। हमारे शास्त्रों में एक भी शब्द नहीं है, जो प्रमाण दे सके कि आर्य भारत के बाहर से किसी देश से आये। हाँ, प्राचीन भारत में अफगानिस्तान भी शामित था, बस इतना ही। और यह सिद्धान्त भी कि शूद्र अनार्य और असंख्य थे, बिल्कुल अतार्किक और अयौक्तिक है।" विवेकानन्द के इस कथन में समाज के सभी वर्गों में सच्ची समानता, सांस्कृतिक बोध से स्थापित हो सकेगी, इस तथ्य की अपील है।

प्रश्न : धर्म तो वैयक्तिक भावभूमि पर तैयार होता है। एकता का आधार क्या होगा?

उत्तर : 'संगठन' स्वामी विवेकानन्द ने यह भी कहा कि यदि भारतको महान् बनाना है, उसका भविष्य उज्जवल बनाना है, तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन की। शक्तिसंग्रह की और बिखरी हुई इच्छाशक्ति को एकत्र कर उसमें समन्वय लाने की।

अथर्ववेद संहिता की एक विलक्षण ऋचा याद आ गयी, जिसमें कहा गया है, तुम सब लोग एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीनकाल में एक मन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पायी है। देवता मनुष्य द्वारा इसलिए पूजे गये कि वे एकचित् थे, एक मन हो जाना ही समाज गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्रविड़', 'ब्राह्मण' और 'अब्रह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू तू मैं मैं' करोगे–झगड़े और पारस्परिक विरोध को बढ़ाओगे– तो समझ लो कि तुम उसपर शक्तिसंग्रह से दूर हटते जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य बनने जा रहा है। आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। जिसे ग्रहण करने या अपनाने की आवश्यकता है, वह है चित्तशुद्धि। और उसकी प्राप्ति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि सबसे पहले उस विराट् की पूजा करो, जिसे तुम अपने चारो ओर देख रहे हो– 'उसकी' पूजा करो। इस सम्पूर्ण व्याख्यान के समापन में स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि सबसे पहले हमें अपनी जाति की आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा का भार ग्रहण करना होगा। क्या तुम इस बात की सार्थकता को समझ रहे हो? तुम्हें इस विषय पर सोचना विचारना होगा, इस पर तर्क वितर्क और आपस में परामर्श करना होगा, दिमाग लगाना होगा और अन्त में उसे कार्य रूप में परिणत् करना होगा।

प्रश्न : जब विश्व एक है, मानवता एक है तो यूरोपीय ज्ञानपरम्परा भारत के लिये उपयुक्त क्यों नही?

उत्तर : विवेकानन्द ने कहा है कि भारतीय आर्यों की उत्तरी सीमा हिमालय की उन बर्फीली चोटियों से घिरी हुई है, जिनके तल में सम भूमि पर समुद्र सी स्वच्छतीया सरिताएँ हिलोरें मार रही हैं और वहाँ वे अन्नत अरण्य वर्तमान हैं, जो आर्यों को संसार के अन्तिम छोर से प्रतीत हुएँ इन सब मनोरम दृश्यों को देखकर आर्यों का मन सहज ही बहिर्मुख हो उठा। आर्यों का मस्तिष्क सूक्ष्म भावग्राही था और चारो ओंर घिरी हुई महान् दृश्यावली देखने का यह स्वाभाविक फल हुआ कि आर्य अन्तरस्तत्त्व के अनुसन्धान में लग गये, चित्त का विश्लेषण भारतीय आर्यों का मुख्य ध्येय हो गया।

यूरोप के विज्ञान, शिल्प आदि सभी यूनान ही के प्रतिबिम्ब हैं। आज वही, प्राचीन यूनान तथा प्राचीन हिन्दू भारतभूमि पर मिल रहे हैं। इस प्रकार धीर और निःस्तब्ध भाव से एक परिवर्तन आ रहा है और आज हमारे चारों ओर जो उदार, जीवनप्रद पुनरूत्थान का आन्दोलन दिखाई दे रहा है, वह सब इन दोनों विभिन्न भागों के सम्मिलन का ही फल है। अब मानव जीवन सम्बन्धी अधिक व्यापक और उदार धारणाएँ हमारे सम्मुख हैं। यद्यपि हम पहले कुछ भ्रम में पड़ गये थे और भावों को संकीर्ण करना चाहते थे, पर अब हम देखते हैं कि आजकल ये जो महान् भाव और जीवन की ऊँची धारणाएँ काम कर रही हैं, हमारे प्राचीन ग्रन्थों में लिखे हुए तत्त्वों की स्वाभाविक परिणति की है। ये उन बातो।का यथार्थ न्यायसंगत कार्यान्वय मात्र है, जिनका हमारे पूर्वजों ने पहले ही प्रचार किया था।

1.4 बालगंगाधर तिलक

केशव गंगाधर तिलक को बालगंगाधर तिलक तथा लोकमान्य तिलक भी कहा जाता है। इनका जन्म महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले के ब्राह्मण कुल में हुआ। वैलेन्टाइन चिरोल ने इनके अध्ययन तथा सामाजिक सक्रियता का रूख देखकर भारतीय अशान्ति का जनक कह डाला था। तिलक ने भारत को जानने के लिए एक नई भाषा, नई विधि तथा नये तर्कों को गढ़ा जिससे औपनिवेशिक भारतमें लोगों का पारम्परिक भारत–बोध विकसित् हुआ। वे न केवल शोध द्वारा भारतबोध विकसित् किये बल्कि राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों द्वारा भी सक्रिय रहें यह उनके व्यक्तित्व का अनोखा पक्ष है जिसे हमें जानना चाहिए वस्तुतः आधुनिक भारत के इतिहास को देखें तो तिलक की कहानी आधुनिक भारत के इतिहास की कहानी है। शिक्षा के क्षेत्र में भी तिलक योगदान उल्लेखनीय है। अपने मित्रों की सहायता से उन्होंने न्यू इंग्लिस्कूल, डक्कन सोशाइटी फार एजूकेशन तथा फर्गूसन कॉलेज की स्थापना कियाजनमानस की जागृति हेतु उन्होंने अंग्रेजी में 'मराठा' तथा मराठी में 'केसरी' इन दोनों पत्र का सम्पादन कियावे आजीवन राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में संघर्ष करते रहे है। भारत विषयक अध्ययन या हिन्दू अध्ययन विषय अध्ययन को समझने हेतु हम तिलक के ग्रन्थों में निहित संक्षिप्त विवेचना के आधार पर समझ सकते हैं।

द ओरीयन :इस ग्रन्थ में वेद काल 6000 ई. पू.तक जाता है। आर्कटिक होम इन वेद में तिलक ने यह सिद्ध किया है आर्य सभ्यता की पालना काकेसस पर्वत न होकर उत्तरी ध्रुव है वहीं गीता रहस्य में तिलक ने गीता भाष्य में कर्मयोग के सिद्धान्त को स्थापित किया।

तिलक इण्डोलॉजी के क्षेत्र में प्रमुख रीसर्च करना चाहते थे। जिससे भारतीय शास्त्र में निहित ज्ञान को लोगों के समक्ष ला सकें। इस प्रयास के परिणाम को लेकर वह यह जानते थे कि उनके कई निष्कर्ष अस्वीकार किये जा सकते हैं किन्तु शोध के प्रति उनकी यह निष्ठा ही थी कि अकादमिक मुद्दों पर वे नये तरह से प्रकाश डालना उचित् मानते थे।

उनकी दृष्टि में इण्डोलॉजी के क्षेत्र में विज्ञान तथा गणित पर आधारित शोध ही उत्तम शोध हैं। वे अक्सर कहा करते थे कि, यदि मैं स्वतन्त्र भारत में पैदा हुआ होता तो गणित का प्रोफेसर होता। प्रिय विद्यार्थियों उनको गणित तथा विज्ञान का सन्दर्भ वैदिक सिद्धान्तों से जुड़ा हुआ था। उन्होंने अपनी पुस्तकों में भारतीय सिद्धान्तों की विवेचना एवं युगानुकूल प्रश्नों के उत्तर में वैदिक विज्ञान को आधार बनाया तथा आधुनिक विज्ञान तथा गणित के सिद्धान्तों के आलोक में उसका परीक्षण भी किया।

आपको बता दे कि तिलक ने अपने तीनों प्रसिद्ध ग्रन्थ कारावास में लिखे थे। तिलक ने गीता रहस्य मराठी भाषा में लिखी तथा इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद माधवराव सप्रे ने किया'ओरियन' और द आर्कटिक होम ऑफ वेद' अंग्रेजी में लिखी गयी। गीता रहस्य लिखने से पूर्व गीता के कई परायण कियायह ज्ञान हुआ कि गीता निवृत्ति प्रधान नहीं है। वत हो कर्म प्रधान है। गीता में अकेला योग शब्द कर्मयोग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तिलक ने गीता में कर्म प्रधान व्याख्या लिखी उनका यह विश्वास था कि इस व्याख्या से प्रेरित होकर भारतीय अपनी भौतिक उन्नति की ओर तेजी से अग्रसर होंगे।

तिलक ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में जो शोध किए उसमें भारतीय दर्शन के क्षेत्र सांख्य कारिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। उस समय सांख्यकारिका विभिन्न भाषाओं में अध्ययन की जा रही थी। 'ए मिसिंग वर्स ऑफ सांख्यकारिका' नामक लेख में तिलक ने यह बताया कि फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी में छपी सांख्यकारिका का 62वीं कारिका लुप्त है। वे न केवल 62वीं कारिका के लुप्त होने कि बात कहते हैं बल्कि उस कारिका को भी तर्कतः स्थापित भी करते हैं।

तिलक ने वेद के काल निर्धारण सम्बन्धी सभी मन्त्रों को अस्वीकार कर काल निर्धारण के नई विधि प्रधान कियाइस विधि का स्वरूप तुलनात्मक भाषा शास्त्रीय के साथ–साथ वेदाङ्ग ज्योतिष से निर्मित हुआ था। तिलक के पूर्व के पाश्चात्य विद्वानों में केवल भाषाशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रदान किये थे अतः वे सटीक नहीं थे।

अपने शोध की सीमाओं तथा उपयोगिता के बारे में तिलक ओरियन में लिखते हैं–

I cUnnot clEim to have finally solved this importnt problem inAll its bearings I only wish to plEce before the public the researchers in this directionAnd leave it to scholUrs to decide if it throughAnyAditional hight on the earliest periods of theAryan civilization. (Orion- Page 2).

वेद काल निर्धारण के Linguisticमें चार भाग मानते हुए प्रत्येक भाग के निर्माण के लिए 200 वर्ष मान लिया था। इसी प्रकार प्रो. विल्सन तथा डॉ. हॉग ने इसके लिए 500 वर्ष माना तथा वेद रचना का काल 2900ई. पू. से 2000 ई. पू.तक निर्धारित कियायदि कोई विद्वान इसे 1000 वर्ष प्रत्येक के लिए मा ले तो किस प्रकार की अनिश्चितता होगी?

तिलक लिखते हैं– मैंने अपने मत को स्थापित करने के लिए प्रारिम्भक वैदिक साहित्यों यथा– संहिता तथा ब्राह्मण से साक्ष्य लिया है। जब संहिता तथा ब्राह्मण सीधे अपने समय में स्थित वस्तुओं के काल की सूचना दे रहे हैं तो उन सूचनाओं पर अविश्वास करने का कोई आधार नहीं बनता। इन साहित्य के बाद में लिखे गये साहित्यों के साक्ष्य को हम अपने निष्कर्ष की वैधता सुनिश्चित करने के लिए कर सकते हैं किन्तु हमारे निष्कर्ष मुख्यतः वैदिक साहित्य के अन्तः साक्ष्य पर ही आधारित होनी चाहिए।वैदिक कैलेण्डर यज्ञ के लिए बनाये गये थे।तिलक ने Comparative Philogyical Methodका भी प्रयोग किया है जैसे इण्डो–यूरोपीयन भाषा में माह (Month) का नाम Moonमें थोड़े बहुत उपसर्ग लगाकर किये गये है। प्राचीन आर्यों के समय में चन्द्रमा के आधार पर माह का नाम रखा गयातिलक ने वेद लेखन का काल निर्धारण करने के लिए वेदाङ्ग, ज्योतिष के विधि का मौलिक रूप से सहारा लियाऋग्वेद में लिखा है कि वसन्त सम्पत मृगशिरा नक्षत्र से होता है। यही बात भगवद्गीता में लिखा है कि वसन्त सम्पत् मृगशिरा नक्षत्र में होता है तिलक ने गणितीय गणना के आधार पर निम्न निष्कर्ष निर्धारित किये–

1. ओरियन–पूर्व काल (6000–4000 ई. पू.)
2. ओरियन काल (4000–2500 ई. पू.)
3. कृतिका काल – (2500–1400 ई. पू.)
4. बुद्ध–पूर्वकाल – (1400–500 ई. पू.)

तिलक ने अपने मत को वैदिक आख्यानों द्वारा भी पुष्ट कियाअपने इस अध्ययन में

तिलक पारसी, ग्रीक तथा भारतीय आख्यानों में अद्‌भुत समानता पाते हैं जिसकाउल्लेख उन्होंने अपने लेखन में भी किया है।

द आर्कटिक होम इन द वेदास : अपनी पुस्तक 'ओरियन' में तिलक ने यह स्थापित किया कि ज्योतिषिय साक्ष्य वेद–निर्माण के काल निर्धारण में हमें एक अधिक विश्वसनीय एवं पुष्ट आधार प्रदान करते हैं। यह पुस्तक 1903 में प्रकाशित हुई थी। 'द आर्कटिक होम इन द वेदास' पुस्तक में तिलक ने आर्यों की उत्पत्ति सम्बन्धी पश्चिमी तर्कों को खारीज करते हुए लिखा कि आर्यों का मूल स्थान उत्तरी ध्रुव पर था इस तर्क का आधार प्रस्तुत करते समय उन्होंने ऋग्वेद के कतिपय ऋचाआं, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा तैत्तिरीय संहिता आदि ग्रन्थों से सन्दर्भ प्रस्तुत कियाऋग्वेद में दीर्घतमा नामक सूक्त है जिसका तात्पर्य दीर्घकालीन रात है यह रात्री–उत्तरी ध्रुव पर होता है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि यह उत्तरी ध्रुव आर्यों का निवास स्थान है। हिमपूर्व काल में आर्य उत्तरी ध्रुव पर रहते थे।चूँकि यह पुस्तक ऋग्वेद के अध्ययन पर ही आधारित दिखता है अतः इस सिद्धान्त में आंशिक सत्यता मानी जाती है। अब हम तिलक के राजनीतिक चिन्तन को पढ़ेंगे।

तिलक का राजनीतिक चिन्तन

तिलक कहते हैं कि भारत राजनीति वैदिक राजनीति स्वराज्य शब्द पर केन्द्रित था। स्वराज्य को कई अर्थ में जैसे अपना राज्य, अन्तिम व्यक्ति का राज्य, स्वायत्त स्थिति।

प्रश्न : स्वराज क्या है?

उत्तर : अपनी आत्मा पर स्थिर और निर्भर रहने का नाम स्वराज है। स्वराज्य से मेरा विश्वास हैं कि लौकिक स्वाधीनता पर ही आध्यात्मिक स्वाधीनता निर्भर हैं। इसी आशय के आधार पर 1916 में उन्होंने 'स्वतन्त्रता' मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है में इसे लेकर रहूँगा' का नारा दियाँ तिलक के लिए राजनीतिक रूप से स्वराज का अर्थ है– शासक और शासित् एक, दश, धर्म, जाति एवं संस्कृति के हो। वह एक अच्छी तरह से शासित् राज्य को सन्दर्भित करता है अर्थात् एक सम्वेधानिक सरकार या विधि का शासन होना चाहिए यह सरकार लोक कल्याण की कामना से कार्य करे। यह लोगों द्वारा चुनी हुई उत्तरदायी सरकार हो।

तिलक का सरकार जनमत पर स्थापित हैं। यह जनमत उदण्ड शक्ति या पशुशक्ति नहीं बल्कि एक नैतिक मानवीय शक्ति के रूप में प्रजातांत्रिक संवैधानिक स्वराज का निर्वाचक, निर्धारक और निर्माता मानते हैं, जो कि किसी आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का आत्यन्तिक उद्‌देश्य है। जिसमें स्वराज्य अन्ततः सु–राज में अर्थात् अच्छे प्रशासन में परिवर्तित हो जाता है।

1.5 महात्मा गाँधी

प्रिय विद्यार्थियों आप जानते है किगाँधी का पालन पोषण आधुनिक तथा धार्मिक परिवेश में हुआ। बहुत ही अल्पवय में गाँधी ने गीता तथा रामायण का अध्ययन कर लिया था और इसके साथ ही जैन साहित्य तथा वैष्णव साहित्य में प्रवेश पा लिया था। गाँधी के 1858 में जब विधि के अध्ययन करने के लिए इग्लैण्ड भेजा गया तब वे टालस्टाय के The Kingdom of God is within youके माध्यम से ईसाई शिक्षा के सारगर्भित रूप को पायाँ विशेषतः टालस्टाय ने अपने पुस्तक में कष्ट झेलने की शक्ति तथा उसमें निहित गरिमा का चित्र खींचा उससे गाँधी बड़े प्रभावित हुए थे। इसी

प्रकार गाँधी के विचारों में अमेरिकन विचारक थोरो के सामाजिक अवज्ञा के विचार भी पढ़ा। इसके अतिरिक्त गाँधी का परिचय इस्लाम तथा जथ्रूस्ट्रीयन धर्मों से भी था। वे कुछ प्रसिद्ध थियोसोफिस्ट तथा रस्किन को भी पढ़े थे। इन सभी प्रभावों को अपनी मानसिकता में सहेज कर गाँधी ने अपने ढ़ंग से भारत अध्ययन का अपना प्रयोग प्रारम्भ कियागाँधी के प्रयोगसम्मत अध्ययन को क्षेत्र विस्तृत था, गाँधी का यह प्रयोग नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सामान्य अस्तित्त्वमूलक समस्याएँ इन सभी क्षेत्रों पर होता रहा। उन्होंने अपने इस अध्ययन का उपयोग अपने आन्तरिक अनुशासन के लिए भी किया तथा बाध्य जीवन की समस्याओं पर भी कियागाँधी विज्ञान एवं तार्किक ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हैं किन्तु वे सनातन सिद्धान्त के प्रति आग्रही हैं। इन्हीं अर्थों के पुरस्कर्त्ता हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में महात्मा गाँधी एक ऐसे चिन्तक हैं जिन्हें पूर्व और पश्चिम दोनों सभ्यताओं का ज्ञान था। आप जानते है कि गाँधी की शिक्षा लन्दन में हुई थी। और वे भारत तथा दक्षिणी अफ्रिका में कई सामाजिक, राजनीतिक आन्दोलन खड़े किये थे। उनका भारतबोध उनके धरातलीय अनुभव से उपजा था जिसे उन्होंने पूरे भारत देश का भ्रमण तथा सामाजिक, राजनितिक सहभागिता से प्राप्त किया था। जिसके फलस्वरूप गाँधी आधुनिक भारत के पुरष्कर्त्ता के रूप में उभरते है। भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनितिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदर्शों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समझना तो गाँधी का अध्ययन करना होगा। इसी अपेक्षा से इस ईकाई में हम आपको गाँधी के उन विचारों से परिचित् कराने जा रहे हैं जिसे पढ़कर आप आधुनिक भारत के मूलभित्ति को समझ सकेंगे। गाँधी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में भारतीय सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता का तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया है। जिसे पढ़कर हमें गाँधी द्वारा भारत सम्बन्धी उनके ज्ञान तथा बोध का परिचय प्राप्त होता है। अब हम आपको गाँधी का भारत सम्बन्धी दृष्टिकोण उनकी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' के आधार पर कर रहे हैं।

प्रश्न : विद्यार्थियों आपके मन में यह आशंका सहज ही उत्पन्न हो रही होगी कि गाँधी अकादमिक भारतविद् नहीं माने जाते, फिर गाँधी के अध्ययन से हमें क्या प्राप्त होगा?

उत्तर : भारत की संस्कृति एक जीवन्त प्राचीन संस्कृति है। इसे किसी व्यक्ति, संस्था या पद्धति द्वारा पूर्ण रूप से नही जाना जा सकता। भारत को जानने के लिये भारत का जीवन्त अनुभव करना आवश्यक है। गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' की प्रस्तावना में यह लिखा है–

"जो विचार यहाँ रखे गये हैं, वे मेरे हैं और मेरे नहीं भी हैं। वे मेरे हैं, क्योंकि उनके मुताबिक बरतने की मैं उम्मीद रखता हूँ, वे मेरी आत्मा में गढ़े–जड़े हुए जैसे हैं। वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि केवल मैंने ही उन्हें सोचा हो सो बात नहीं। कुछ क्तिाबें पढ़ने के बाद वे बने हैं। दिल में भीतर ही भीतर मैं जो महसूस करता था, उसका इन बातों ने समर्थन किया।"

गाँधी पश्चिमी सभ्यता की दृष्टि को न तो सार्वभौम दृष्टि नहीं मानते और न ही भारत के लिये अनुकूल। सभ्यता के दर्शन पर बात करते हुए गाँधी ने कहा है– आज की सभ्यता के मोह मे फँसे हुए लोग उसके खिलाफ नहीं लिखेंगे, उलटे उसको सहारा मिले ऐसी ही बातें और दलीले ढूँढ़ निकालेंगे। यह वे जानबूझकर करते हैं ऐसा भी नहीं है। वे जो लिखते हैं उसे खुद सच मानते हैं। नींद में आदमी जो सपना देखता है, उसे वह सही मानता है। जब उसकी नींद खुलती है तभी उसे अपनी गलती

मालूम होती है। ऐसी दशा सभ्यता के मोह में फँसे हुए आदमी की होती है। हम जो बातें पढ़ते हैं वे सभ्यता की हिमायत करने वालों की लिखी बातें होती है। उनमें बहुत होशियार और भले आदमी हैं। उनके लेखों से हम चौंधिया जाते हैं। यों एक के बाद दूसरा आदमी उसमें फँसता जाता है।

प्रश्न : भारत विषयक पश्चिमी विद्वानों का कार्य अपूर्ण क्यों है?

उत्तर : उन्हें इतिहास लिखने की आदत है, हर एक जाति के रीति–रिवाज जानने का वे दम्भ करते हैं। ईश्वर ने हमारा मन तो छोटा बनाया है, फिर भी वे ईश्वरी दावा करते आये हैं और तरह–तरह के प्रयोग करते हैं। वे अपने बाजे खुद बजाते हैं और हमारे मन में अपनी बात सही होने का विश्वास जमाते है। हम भोलोपन में उस सब पर भरोसा कर लेते है। कुरान शरीफ में ऐसे सैकड़ों वचन है, जो हिन्दुओं के मान्य हो, भगवद्गीता में ऐसी बातें लिखी हैं कि जिनके खिलाफ मुसलमान को कोई भी एतराज नहीं हो सकता। सब अपने–अपने धर्म का स्वरूप समझकर उससे चिपके रहें और शास्त्रियों व मुल्लाओं के बीच में न आने दें, तो झगड़े का मुँह हमेशा के लिये काला ही रहेगा।

प्रश्न : इस स्थिति में सच्ची सभ्यता कौन सी? इसे कैसे जानेंगे।

उत्तर : इस प्रश्न पर गाँधी कहते हैं– जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखायी है, उसको दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोय हैं, उनकी बराबरी कर सके ऐसी कोई चीज देखने में नहीं आयी। लेकिन गिरा–टूटा जैसा भी हो, हिन्दुस्तान आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है।

सभ्यता वह आचरण है जिससे आदमी अपनी फर्ज अदा करता है। फर्ज अदा करने के मानी है नीति का पालन करना। नीति के पालन का मतलब है अपने मन और इन्द्रियों को बस में रखना। ऐसे करते हुए हम अपने को पहचानते हैं। यही सभ्यता है। इससे जो उल्टा है वह बिगाड़ करने वाला है। ऐसा नही था कि हमें यन्त्र वगैरा की खोज करना ही नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग अगर यन्त्रआदि की झंझट में पड़ेंगे, तो गुलाम बनेंगे और अपनी नीति को छोड़ देंगे। उन्होंने सोच–समझकर कहा कि हमें अपने हाथ–पैरों से जो काम हो सके वही करना चाहिये। हाथ–पैरों का इस्तेमाल करने में ही सच्चा सुख है, उसी में तन्दुरूस्ती है। हममें जो नया जोश पैदा हुआ है, उसका उपयोग हम इन दोषों को दूर करने में कर सकते हैं।

प्रश्न : क्या हिन्दुस्तान की सभ्यता पूर्ण है, इसलिये श्रेयस्कर है?

उत्तर : गाँधी का उत्तर है– किसी भी देश में किसी भी सभ्यता के मातहत सभी लोग सम्पूर्णता तक नहीं पहुँच पाये हैं। हिन्दुस्तान की सभ्यता का झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है पश्चिम की सभ्यता का झुकाव अनीति को मजबूत करने की ओर है। इसलिये मैंने उसे हानिकारक कहा है। पश्चिम की सभ्यता निरीश्वरवादी है, हिन्दुस्तान की सभ्यता ईश्वर मे।मानने वाली है। यों समझकर, ऐसी श्रद्धा रखकर, हिन्दुस्तान के हितचिन्त को चाहिए कि वे हिन्दुस्तान की सभ्यता से, बच्चा जैसे माँ से चिपटा रहता है वैसे, चिपटे रहें।

प्रश्न : सच्ची शिक्षा क्या है?

उत्तर : जिसकी बुद्धि शुद्ध, शान्त और न्यायदर्शी है। उसने सच्ची शिक्षा पाई है,

जिसका मन कुदरती कानूनों से भरा है और जिसकी इन्द्रियाँ उसके बस में हैं, जिसके मन की भावनायें बिल्कुल शुद्ध हैं, जिसे नीच कामों से नफरत है और जो दूसरों को अपने जैसा मानता है। ऐसा आदमी ही सच्चा शिक्षित माना जायगा, क्योंकि वह कुदरत के कानून के मुताबिक चलता है। कुदरत उसका अच्छा उपयोग करेगी और वह कुदरत का अच्छा उपयोग करेगा। वे इस बिन्दु पर विचार करते हुए कहते हैं कि, "मैं और आप दोनों गलत शिक्षा के पंजे में फँस गये थे। उसमें से मैं अपने को मुक्त हुआ मानता हूँ। अबवह अनुभव मैं आपको देता हूँ और उसे देते समय ली हुई शिक्षा का उपयोग करके उसमें रही सड़न मैं आपको दिखाता हूँ।"

"अक्षर–ज्ञान का अगर आभूषण के तौर पर ही उपयोग हो, तो ऐसी शिक्षा को लज़िमों करने की हमें जरूरत नहीं। हमारे पुराने स्कूल ही काफी हैं। वहाँ नीति को पहला स्थान दिया जाता है। वह सच्ची प्राथमिक शिक्षा है। उस पर हम जो इमारत खड़ी करेंगे वह टिक सकेंगी।"

प्रश्न : इसप्रकार की शिक्षा को हम कैसे प्राप्त करे सकेंगे?

उत्तर :गाँधी कहते हैं– जिस शिक्षा को अंग्रेजों ने ठुकरा दिया है वह हमारा सिंगार बनती है, यह जानने लायक है। उन्ही के विद्वान कहते रहते हैं कि उसमें यह अच्छा नहीं है, वह अच्छा नहीं है। वे जिसे भूल से गये हैं, उसी से हम अपने अज्ञान के कारण चिपके रहते हैं।

जो लोग अंग्रेजी पढ़े हुए हैं उनकी सन्तानों को पहले तो नीति सिखानी चाहिए, उनकी मातृभाषा सिखानी चाहिए और हिन्दुस्तान की एक दूसरी भाषा सिखानी चाहिए बालक जब पुख्ता उम्र के हो जाये।तब भले ही वे अंग्रेजी शिक्षा पायें, और वह भी उसे मिटाने के इरादे से, न कि उसके जरिये पैसे कमाने के इरादे से। हमें अपनी सभी भाषाओं के उज्जवल–शानदार करना चाहिये। हमें अपनी भाषा में ही शिक्षा लेनी चाहिए।

बहुत से शास्त्र सीखने का दम्भ और वहम हमें छोड़ना होगा। सबसे पहले तो धर्म की शिक्षा या नीति की शिक्षा दी जानी चाहिये। हर एक पढ़े–लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिये। कुछ हिन्दुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिये। उत्तरी और पश्चिमी हिन्दुस्तान के लोगों को तमिल सीखनी चाहिए सारे हिन्दुस्तानी के लिये जो भाषा चाहिये, वह तो हिन्दी ही होनी चाहिये। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिये।

प्रश्न : हिन्दूधर्म के प्रति गाँधी की अभिवृत्ति क्या है?

उत्तर : हिन्दू 'धर्म' के प्रति उनकी अभिवृत्ति की अभिव्यक्ति उनके इन शब्दों से स्पष्ट होती है–

1. मेरा वेदों, उपनिषदों, पुराणों और हिन्दू धर्मशास्त्रके सभी ग्रन्थों में विश्वास है।
2. वर्णाश्रम धर्म के वैदिक अर्थ को मैं स्वीकार करता हूँ। मौजूदा प्रचलित और स्थूल धर्म में मेरा विश्वास नहीं है।
3. गोरक्षा में मेरी आस्था है।
4. गीता को गाँधी सदा अपना सम्बल मानते रहे तथा हिन्दू धर्म से जुड़े महत्त्वपूर्ण विचारों का उल्लेख हर अवसर पर करते रहे।

हिन्दू धर्म के बारे में उनके मन में जो विचार है उसे वे अनिर्वचनीय मानते हैं वे कहते हैं कि उनके लिए इस मनोभाव को बताना उतना ही कठिन है जितना उनके लिए अपने पत्नी के प्रति उठे मनोभावों को बताना कठिन है। अपने पत्नी के प्रति मन में जो सम्वेदनाएँ उठती है वह अन्य स्त्री से नहीं उठ सकती। पत्नी की कमी या दोषों की उनकी जानकारी हैं फिर भी अटूट बन्धन की भावना है। उसी प्रकार गाँधी के मन में हिन्दू धर्म की सीमाओं तथा दोषों के बाद भी उसके प्रति एक बन्धन तथा सामीप्य की भावना है। वे कहते है। कि गीता तथा तुलसी रामायण की उन्हें जितनी जानकारी है तथा इस आनकारी से जो उन्हें अहलाद मिलता है वह किसी अन्य ग्रन्थ से नहीं। उनका कहना है कि सभी धर्म यथार्थ हैं, सत्य हैं सभी धर्म उतना ही प्रिय हैं जितना हिन्दू धर्म। किन्तु हर व्यक्ति का जन्म तथा लालन–पालन एक विशेष संस्कृति के अन्तर्गत होता हैं, अतः उसके लिए वह संस्कृति महत्त्वपूर्ण हो ही जाती है। किसी धर्म में जन्म लेना आकस्मिकता है किन्तु इस आकस्मिकता के साथ–साथ जो परम्पराएँ तथा संस्कार जीवन के साथ जुड़ जाती हैं, उनकी जीवन के लिए सार्थकता है ही। इन बातों को नकारना अनावश्यक तथा निरर्थक है।

प्रश्न : किसी धर्म विशेष के प्रति उतना आग्रह जड़ता का प्रतीक है?

उत्तर : गाँधी के लिये हिन्दू धर्म विकासशील है। हिन्दू धर्म गंगा की तरह हैं जो मूल में शुद्ध और स्वच्छ हैं, मगर रास्ते में गंदगी अपनी साथ ले लेती है। गंगा की ही भांति उसका समग्र परिणाम उपकारक है। प्रत्येक प्रान्त में वह प्रान्तीय स्वरूप ग्रहण करता है। परन्तु उसका भीतरी सार हर जगह कायम रहता है। रूढ़ि धर्म नहीं है। रूचि बदल सकती हैं परन्तु धर्म अपरिवर्तित रहता है।

प्रश्न : धर्म समाज का अंग है या अंगी?

उत्तर : गाँधी अपने को 'व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) कहते हैं। उनके आदर्श आध्यात्मिक सिद्धान्त है वे सदा अपने आदर्श को व्यवहार में उतारते रहे हैं। उनका आदर्श 'सत्य' तथा 'अहिंसा' का आदर्श है, तथ इन्हीं मूल आदर्शों से उनका सामाजिक तथा राजनैतिक विचार सर्जित होता है। यहाँ हम गाँधी के सामाजिक विचार की विवेचना करने जा रहे हैं। विवेचना से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि गाँधी के लिए समाज क्या है? गाँधी समाज के उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मत यथा हाब्स, लॉक, रूसों की मतों पर न तो कोई आपत्ति उठाते हैं और न ही इन सिद्धान्तों को वे अंगीकार ही करते हैं।

गाँधी को समाज के उद्भव सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों में एक महत्त्वपूर्ण बात दिखाई देती है कि समाज निर्माण का आधार नैतिक है। समाज निर्माण के हर सिद्धान्त में इतनी बात तो रहती ही है कि जब व्यक्ति अपने स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों से उपर उठता है तभी समाज का आविर्भाव होता है। इसका सम्भावित अर्थ यह भी है कि यदि व्यक्ति स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों से ही कार्य करें तो संघर्ष और हिंसा असम्भावी है, और इसी हिंसा से बचने का एक मार्ग समाज निर्माण है। इन बातों के आधार पर गाँधी ने हिन्दू समाज निर्माण के आधार पर निश्चित करते हैं वे हैं 'आत्म बलिदान की भावना' तथा अहिंसा। समाज निर्माण में हमें अपने स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों का निर्माण करना पड़ता है तथा यह भी निश्चय करना पड़ता है कि हम झगड़े–फसाद, हिंसा को यथासम्भव नहीं प्रवेश करने देंगे।

प्रश्न : आदर्श समाज संरचना कैसी होनी चाहिए?

उत्तर : गाँधी का कहना है कि एक स्वस्थ सामाजिक जीवन सहयोग के प्रति निष्ठा तथा श्रम–विभाजन अथवा कार्य–विभाजन पर टिक सकता है। समाज में ऐसी स्वतः व्यवस्था होनी चाहिए कि हर व्यक्ति समाज के हित में अपने शक्ति के अनुरूप योगदान करता रहें प्राचीन हिन्दू विचार में 'वर्ण–व्यवस्था' की योजना इसी आधार पर विकसित् हुई थी वहाँ यह स्पष्ट विचार था कि समाज का कोई कार्य न श्रेष्ठ न निम्न।

किन्तु वर्ण व्यवस्था के रूप में यह व्यवस्था कालक्रम में विकृत तथा दूषित हो गयी किन्तु जो इसका प्राचीन आधार था वह अभी भी सामाजिक व्यवस्था का आधार बन सकता है। वर्ण व्यवस्था कर्त्तव्य तथा दायित्व के अनुरूप व्यवस्था है, यह किसी को भी कोई विशेष अधिकार या कोई विशेष सुविधा देने की व्यवस्था नहीं है। अपने वंशानुक्रम के अनुरूप पेशे में लगना व्यक्ति का न जन्म सिद्ध अधिकार है, और व कोई अनिवार्य मजदूरी। इसका एकमात्र अर्थ यही है कि समाज के निर्धारित कर्मों में एक कर्म को करने का अवसर उसे स्वतः उपलब्ध है– यह सामाजिक सुविधा है। इसकी एक उपयोगिता यह अवश्य है कि हर दिन पुनः–पुनः कार्यों के बंटवारे का झंझट नहीं रहता।

प्रश्न : समाज में स्त्री–पुरूष के मध्य सम्बन्ध कैसा हो?

उत्तर : उपर वर्णित आनन्ददायक एवं शान्तिपूर्ण समाज की स्थापना तभी हो सकेगी जब समाज का हर पुरुष तथा स्त्री अपना दायित्व समझे। समाज में स्त्री–पुरुष के मध्य श्रेष्ठता को लेकर कोई स्पर्धा नहीं होनी चाहिए। समाज में स्त्री–पुरुष के कर्त्तव्यों का विभाजन स्त्री–पुरुष की अपनी–अपनी क्षमता के आधार पर होती है। स्त्री तथा पुरुष दोनों में एक ही आत्मा हैं अतः दोनों में समानता है कोई किसी से श्रेष्ठ नहीं है। पुरुष को शारीरिक संरचना के कारण कड़े परिश्रम, परिवार के भरण पोषण का दायित्व मिला है। नारी स्वभाव से ही प्रेमरूपाहोती है, प्रकृति ने उसे माँ बनने की शक्तिदी है, पोषण और जनन के कारण ही वह गृहलक्ष्मी कही गयी है।हिन्दू सभ्यता में स्त्री–पुरुष के मध्य विवाह का अध्यात्मिक एवं जीवन का लक्ष्य दोनोंएक ही हैं–सुरक्षा,पोषणतथा प्रेम।

प्रश्न :गाँधी का आर्थिक सिद्धान्त क्या है?

उत्तर : गाँधीसम्पोषिय अर्थनीति के प्रस्तोता हैं। उनका कथन है–"सृष्टि के ढाँचे को नष्ट करने में पाप अधिक प्रबल है। जड़ और चेतन में अटूट सम्बन्ध है। मेरे लिए ब्रह्माण्डीय घटना और मानवीय व्यवहार में सम्बन्ध जीती जागती आस्था हैं जो मुझे ईश्वर के निकट लाती हैं, मुझे विनम्र बनाती है और उसका सामना करने के लिए तैयार करती है।" हरिजन फरवरी, 1934 के इस कथन में गाँधी ने अर्थ सिद्धान्त को वेदान्त की दृष्टि से व्यवस्थित किया है। गाँधी का आर्थिक सिद्धान्त वेदान्त पर आधारित है। अब हम गाँधी के आर्थिक सिद्धान्त के मुख्य तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन करने जा रहे हैं–

i. **अन्नदायी श्रम** : जीवित रहने के लिए हर व्यक्ति को श्रम करना जरूरी है। हर व्यक्ति शारीरिक श्रम की गरिमा को समझे तथा कम–से–कम अपनी रोटी के लिए उसे भी कुछ शारीरिक कर्म करना चाहिए व्यक्ति स्वयं ही यह निर्धारित करें कि वह किस प्रकार का शारीरिक श्रम करेगा। सामाजिक जीवन का आधार 'प्रेम' तथा 'स्वेच्छापूर्ण सहयोग है' अतः यह अन्नदायी श्रम का सिद्धान्त समाज के लिए तभी उपयोगी हो सकता हैं जब इसका उपयोग समाज में स्वेच्छा से हो।

ii. सम–मजदूरी : सामाजिक असमानता के मूल में आर्थिक विषमता है तथा आर्थिक विषमता का एक कारण मजदूरी में असमानता है। जिन्हें अपने कार्य के लिए अधिक मजदूरी मिलती है वे अपने को श्रेष्ठतर समझते हैं, जिन पेशों में अधिक मजदूरी मिलती है वे उस पेशे के श्रेष्ठतर समझते हैं।

   गाँधी की अनुशंसा है कि समाज के हर प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्ति का वेतन तथा उसकी मजदूरी समान होनी चाहिए एक वकील या डाक्टर या शिक्षक को भी वही मजदूरी मिलनी चाहिए जो एक भंगी या मेहतर को मिले। यदि वेतन की समानता हो तो व्यक्तिका चुनाव अपनी अभिरूचि तथा क्षमता के आधार पर ही होगा। इससे सामाजिक कार्यों की कुशलता एवं निपुणता बढ़ेगी। वेतन की समानता का आदर्श समाज के लिए हिताकरी है।

iii. न्यासता का सिद्धान्त : श्रम तथा मजदूरी में समानता तभी बनी रहेगी जब इनमेंपूँजीगतसमानता हो। पूँजी से श्रेष्ठ श्रम है। श्रम कर्म का प्रतीक है। सामाजिक व्यवस्था को यदि प्रेम और विश्वास के आधार पर बढ़ाया जाय तो यह सम्भव है कि पूँजीपति तथा अमीरों को यह समझ में आ जाय कि उनकी अत्यधिक सम्पत्ति, उनका धन–बाहुल्य वस्तुतः उनके पास समाज का धरोहर हैं– उसकी अमानत है जिसे उन्होंने इसलिए संजोया हैं कि वह जनहित एवं कल्याण कार्यों में लग सके। यह सिद्धान्त व्यवहारिकप्रयोगहमें आश्वस्त् करता है कि किसी सम्पन्नके पास जो धन सम्पत्ति है उसे वह गरीब तथा अभावग्रस्त् व्यक्तियों को कल्याण में लगाएगा। यहसिद्धन्त मन में यह अनुभूति पैदा करता है कि धन किसी के वैयक्तिक अपव्यय के लिए नहीं है बल्कि इसकी उपयोगिता जनहित में है।

iv. उद्योगीकरण की अतिशयता के विरूद्ध : गाँधी के अनुसार उद्योगीकरण के कारण अर्न्तराष्ट्रीय संघर्ष, श्रमिक तथा पूँजीपति वर्ग के बीच शाश्वत अविश्वास तथा संघर्ष उत्पन्न होता है क्योंकि अतिशय उद्योगिकरण से राष्ट्रों के मध्य उपनिवेशवाद स्थापित होता है तथा मानव–श्रम के स्थान पर मशीन की स्थापना करता है जिसके फलस्वरूप अमानवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। गाँधी अतिशय उद्योगीकरण के विरूद्ध है क्योंकि यह मानवजीवन के मूल अस्तित्त्वके आनन्द के विरूद्ध है।

v. स्वदेशी : हमने अभी देखा कि प्रत्येक व्यक्ति में एक विशेष क्षमता होती है उसी प्रकार प्रत्येक देश की अपनी एक विशेष क्षमता होती है।देश की उसी क्षमता से उत्पन्न वस्तु तथा उत्पाद को गाँधी स्वदेशी कहते हैं। उनके अनुसार देश के विकास में सहायतार्थ, देश में बने उत्पाद का प्रयोग सर्वोच्च प्राथमिकतापर किया जाना चाहिए यद्यपि देश की प्रगति के लिए विदेशी वस्तु का क्रय अनिवार्य होने पर उसका क्रय भी किया जाना चाहिए। स्वदेशी का अर्थ अपने देश में उत्पन्न वस्तुओं को स्वीकार कर विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार नहीं बल्कि स्वदेश में निर्मित वस्तुओं की प्राथमिकता है।

प्रश्न– गाँधी का राजनैतिक दर्शन क्या है?

उत्तर–राजनैतिक विचार का स्वरूप

राजनैतिक कार्य–प्रणाली भी जगत तथा जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप के अनुरूप होनी चाहिए इसी सिद्धान्त के आलोक में गाँधी कहते हैं कि सभी मनुष्य समान हैं तथा हर मनुष्य के अन्दर शुभत्व का वास है अतः राजनीतिक जीवन की शुद्धता भी इसी बात

पर आधारित है कि राजनैतिक जीवन में अविश्वास, घृणा, अनैतिकता का वास न रहे। इस रूप में गाँधी के अनुसार राजनीति चतुर व्यक्तियों का खेल नहीं बल्कि प्रकृति के मूल नियमों में अवस्थित सत्याग्रही व्यक्ति का जीवन व्रत है। इस जीवन व्रत से उसे स्वराज की प्राप्ति होती है। स्वराज से समाज को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

i. स्वराज : सामान्यतया स्वराज का अर्थ होता है–'अपना राज्य', किन्तु गाँधी इसके गूढ़ार्थ प्रयोग को भी जोडते हुए कहते हैं कि 'स्वराज एक अनुभूति है– एक भावना है, तथा 'स्वराज' अपना वास्तविक रूप तभी ग्रहण कर पाता है जब यह भावना समाज के हर मानस में व्याप्त हो। स्वराज वहीं है जहाँ हर व्यक्ति स्वतन्त्र, सम्पन्न तथा सुखी है। जीवन का लक्ष्य है आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति जहाँ मानव भेदभाव के ऊपर उठ प्रेम तथा आनन्द के जीवन को प्राप्त करता है उस दिशा में वैयक्तिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता की अनुभूति स्वराज की अनुभूति की ओर एक निश्चित कदम है।

भारत के सामाजिक, राजनीतिक आदर्शों तथा संस्थाओं का कार्य है–व्यक्ति को उसके मूल अथवा 'स्व' से उपर उठाकर उसमें सद्‌गुणों का प्रवेश कराना जिससे वह इस सृष्टि में व्याप्त प्रेम का भागीदार बन सके।

ii. राष्ट्रीयता की अवधारणा : जब हम 'स्व' से ऊपर उठने वाली प्रक्रिया में अपने से ऊपर उठकर परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्रतथा पुनः राष्ट्र से मानव मात्र तक पहुँचते हैं तभी प्रेम तथा अन्य मानवीय सद्‌गुणों का विकास होता है।

इस प्रक्रिया में राष्ट्रीयता दो स्तर पर कार्य करती है– पहले यह अर्न्तमुखी होकर अन्य की ओर से स्वयं को समेटकर अपना ध्यान अपनी जन्मभूमि पर केन्द्रित रखती है। दूसरे चरण में वह बर्हिमुखी होकर विभिन्न राष्ट्रों की वास्तविकता को स्वीकार कर उनके प्रति प्रेम, उदारता तथा मित्रवत् व्यवहार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीयता अपने से ऊपर उठने की कड़ी है तथा अन्तर्राष्ट्रीयता उसका विस्तार है।

iii. आदर्श राज्यः सर्वोदय : 'सर्वोदय' का शाब्दिक अर्थ है– सबका उदय, सबका शुभ। जिससे समाज में 'प्रेम' की स्थापना हो। राज्य के राजनीतिक तथा सामाजिक योजनाओं का एकमात्र लक्ष्य– 'सबका शुभत्व' है। हर व्यक्ति के शुभत्व पर ध्यान देने के लिए राज्यतन्त्र को व्यक्ति के निकट लाना जरूरी है। यह कार्य तभी होगा जब शक्ति का विकेन्द्रीकरण हो। पुलिस, सेना, न्यायालय इत्यादि का दृष्टिकोण जनसेवा तथा दोषी अपराध आदि के सुधार के लिए समर्पित हो। अपराधी को दण्ड दे देने मात्र से वह नहीं सुधरता। अपराधी के अन्दर के शुभत्व को जगाना प्रशासन का मूल कार्य है।

प्रश्न–गाँधी के सपनों का भारत क्या है?

सम्पूर्ण भारत प्रेम के द्वारा पूर्व में वर्णित शाश्वत नियम को अंगीकार कर ले तो वह समूचे विश्व का निर्विवाद नेता बन जाएगा। गाँधी का कहना है कि हमें इस विषय में स्वविवेक का उपयोग करना चाहिए। गाँधी के सपने में नये भारत की जो तस्वीर थी वह गाँधी के निम्न वाक्यों से उद्‌घाटित होती है–

"मैं केवल आशा लगाए हूँ और प्रार्थना कर रहा हूँ कि एक नये और स्वस्थ भारत का उदय होगा जो पश्चिम की सभी बीभत्स बातों की घटिया नकल न करने वाला एक युद्ध प्रिय राष्ट्र नहीं होगा, अपितु ऐसा नया भारत होगा जो पश्चिम की उत्कृष्ट बातों को सीखेगा और केवल एशिया तथा अफ्रीका का ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए आशा की किरण बनेगा। यह त्याग की भावना को अपनाने से होगा। सच्चा भारत गावों में बसता है। अब तक गाँव वालों ने नगरवासियों की सुरक्षा के लिए अनजाने और अनचाहे प्राणों की आहुतियाँ दी हैं उनके इस विवश बलिदान से हम नगरवासी पतित हुए हैं। अब हम उनके लिए अपना बलिदान करें तो उससे हमारा और हमारे राष्ट्र का उदात्तीकरण होगा। यदि हमें एक स्वाभीमानी और आत्मसम्मानी राष्ट्र के रूप में जीवित रहना हैं तो हमें इस आवश्यक त्याग से पीछे नहीं हटना चाहिए।शहर अपनी देखभाल करने के लिए स्वयं समर्थ हैं इसलिए हमें गाँवों की ओर ध्यान देते रहें।"

1.6 महामना मदनमोहन मालवीय

रोमांरोला के शब्दों में मदनमोहन मालवीय जी गाँधी जी के बाद भारत के सम्मानित व्यक्तियों में से एक है। वह ऐसे राष्ट्रीयतावादी हैं, जो प्राचीनतम हिन्दू विश्वासों और आधुनिक वैज्ञानिक विचारों का समन्वय कर सकते हैं। प्रसिद्ध इतिहासविद् वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में महामना मालवीय जी के विचार और कर्मों पर हम ध्यान दें तो उनके पूरे स्वरूप की कुञ्जी हमें मिल जायेगी। इस देश के विराट् चिन्तन में यहाँ का शिष्टाचार प्रधान महान् कर्म है।यह देश उत्कृष्ट संस्कृति,विविध भाषाओं, अनेक धर्मों में आस्था रखने वाले लोगों से आपूरित जनपद और काननोंवाली भूमि है।उन सबका प्रतीक, एकान्त–निष्ठा, भक्ति और सेवा का मूर्त रूप ही मालवीय जी का व्यक्तित्व था। मालवीय जी को सनातन संस्कृति प्रिय थी। वे इसके प्रतिनिधि व्याख्याता थे।

मालवीय जी के जन्मशतीसमारोह के अवसर पर प्रयाग में (पं. जवाहरलाल नेहरू ने) अपने भाषण में कहा कि,"उस समय भी बहुत सारे लोग थे, बड़े विद्वान् लोग थे, संस्कृति के बड़े पण्डित लोग भी थे, पर जहाँ तक मेरा विचार है, राजनैतिक नेताओं में, बड़े नेताओं में मालवीयजी ही शायद इस मामले में सबसे आगे थे। वे रोकते थे अंगरेजियत की बाढ़ को, पर विरोध करके नहीं बल्कि अपने काम से, अपने विचारों से और कोशिश करते थे अपनी संस्कृति को बढ़ाने की। क्योंकि दुनिया है विज्ञान की, और विज्ञान सारे ज्ञान का एक हिस्सा है। विज्ञान ने आदमी को बड़ी- बड़ी शक्तियाँ दी हैं- दीं क्या हैं, ये शक्तियाँ तो प्रकृति की ही है, लेकिन विज्ञान प्रकृति को अपनाता है और इससे उसकी ताकत बढ़ जाती है। इसलिये दोनो ही पहलू भारत को आगे बढ़ाने के लिये आवश्यक है। अगर इनमें से एक भी निकल जाता है तो यह एक पहिये की गाड़ी जैसा हो जाता है। पूज्य मालवीयजी थे, दुनिया के किसी मीटर से भी आप नापें, बहुत बड़ा पायेंगे वे बहुत बड़े आदमी थे जिन्होंने हिन्दुस्तान को ऐसे मौकें से निकाला।" मालवीय जी विज्ञान और धर्म दोनों का समन्वय करके चलने वाले व्यक्ति थे।

वैज्ञानिक समाजवाद के समर्थक जवाहरलाल नेहरू का मालवीय जी के प्रति ये वक्तव्य इस बात का संकेत है कि यदि हम हिन्दू सभ्यता के अध्ययन द्वारा जिस अभिनव दृष्टि को प्राप्त करना चाहते हैं उनके बीज बिन्दु मालवीय जी का कर्म और उनके विचारों से प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न :भारतबोध में मालवीय जी प्रासंगिकताक्या है?

उत्तर : अन्य सभी मूर्धन्य भारतीय विद्वानों की भांति मालवीय जी के विचार में धर्म का सबसे अधिक महत्त्व है इसलिये सर्वप्रथम हमें उनके धर्मविषयक मत को जान लेना चाहिए।

धर्म का अर्थ

मालवीय जी ने अपनी पुस्तक 'अन्त्यजोद्धार विधि' में धर्म शब्द की निम्न परिभाषा संकलित की है। इनके अवलोकन से आप 'धर्म' का आशय समझ सकते हैं।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः।
(कणादः)।

लेकयात्रार्थभेवेह धर्मस्य नियमः कृतः।
उभयत्र सुखोदर्कः इह चैव्परत्र च।।

अकारणो हि नैवास्ति् धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।।
(भारते)।

'कोऽयं सनातनो धर्मः' नामक शीर्षक से मालवीय जी ने सनातन धर्म की इस परिभाषा को मान्य किया है।मालवीय जी धर्म के,मनुस्मृति के चार तथा याज्ञवल्क्यस्मृति के चौदह, मूल स्रोतों की बात स्वीकारते हैं–

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिदेव च।।
मनुः

पुराणन्यायमीमांसासाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।।
याज्ञवल्क्यः।

यदि आप धर्म के स्रोत तक पहुंचना चाहते हैं तो आप उसे वेद, स्मृति, महापुरूषों के सदाचार तथा आत्मा को जो प्रिय हो अर्थात् आत्मा के निकट सत्य के आधार पर समझ सकते है। चूँकि वेद और स्मृतियाँ अति प्राचीन एवं गूढ़ है। अतः इनकी व्याख्या तथा विस्तार सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है।

प्रश्न : हिन्दू कौन है?

उत्तर :हिन्दू महासभा को सम्बोधित करते हुए मालवीय जी ने कहा था कि,"हिन्दू–महासभा ने यह फैसला कर दिया है कि जिस किसी जन को भी हिन्दू–धर्म के सिद्धान्तों पर विश्वास हो, उसे हिन्दू मान लिया जाय। यह निर्णय ऐसी सभा ने किया है, जिसमें दो जगद्गुरू शंकराचार्य उपस्थित थे। यहाँ पर यह भी प्रश्न उठा था कि ऐसे लोगों को हिन्दुओं की किस जाति में शामिल किया जायगा। उसका उत्तर यह दिया गया कि हिन्दुओं में जातियाँ तो आए दिन बढ़ती ही रहती हैं। इसलिये ऐसे लोगों की भी एक दूसरी जाति बना दी जाय, जो दूसरी जाति के होकर भी हिन्दू सिद्धान्तों पर विश्वास रखते हों। यह जाति भी एक हिन्दू जाति होगी।" मालवीय जी

की दृष्टि में हिन्दू समाज–व्यवस्था में जाति की संकल्पना एक गतिशील एवं समावेशी व्यवस्था है।

जहाँ तक हिन्दू धर्म की बात है तो इस धर्म की सबसे खास बात यह है कि वह उस सिद्धान्त को मानती है कि, धर्म के पीछे किसी से मत लड़ो। इसके फलस्वरूप आप देखेंगे कि यद्यपि बौद्ध–समय में कुछ विद्रोह हुए, तथापि थोड़े समय के बाद ही वैदिक–धर्म और बौद्ध–धर्म के अनुयायी मिलकर रहने लगे। काश्मीर, दिल्ली, बिहार, पंजाब और बनारस आदि स्थानों में बौद्ध, ब्राह्मण और जैन आदि साथ–साथ, आदरभाव और प्रेम से रहते थे, भाईसमान आदर करते थे। जब मुसलमान भाई यहाँ आए, तब भी हमारा यह भाव बना रहा। यहाँदोनों की आस्थाएँ प्रेम के आड़े नहीं आई। वह बात जो संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी, धर्म और आश्रम की शिक्षा। यह वर्णाश्रम धर्म क्या है? वर्ण में दोष भी है, गुण भी हैं। आश्रम में भी ऐसा ही है, परन्तु इनमें गुण बहुत है, दोष कम। अपने मित्र पण्डित बालगंगाधर तिलक का उद्धरण देकर मालवीय जी कहते हैं कि कम से कम आठ हजार वर्ष से यह जाति जीवित है। इस जाति की प्राचीन सभ्यता के निष्पक्ष अंग्रेज़ और यूरोप के अन्य विद्वान् भी क़ायल हैं।

हिन्दू साहित्य

जो निधि अपने पूर्वजों से हमें मिली है, वह है– वेद, शास्त्र और पुराण। संस्कृत में, प्राकृत में, पाली में, हिन्दी में, बंगला में, मराठी में, गुजरात में, तामिल और तेलगू में जितने ग्रन्थ आपके साधु–सन्तों की वाणी हैं, वे सब हिन्दू धर्म की निधि है।

वेदों का महत्त्व

चार वेद इस जाति के धर्म की निधि हैं। इन्हीं से सब धर्मों के स्रोत बहे हैं। श्रुति के साथ ही स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि का बहुत बड़ा पुंज है। ऋग्वेद की प्रथम रचना से लेकर आजतक का लेखन बड़े पवित्र और उच्च भावों से भरा है।

प्रश्न : क्या वैदिक और बौद्ध धर्म दो बिल्कुल पृथक् धर्म है?

उत्तर :मालवीय जी का कहना है कि, "कुछ लोगों की धारणा है कि बुद्ध भगवान् ने एक नये धर्म का प्रचार किया था, किन्तु यह भ्रममात्र है। युद्ध तो हमारे दस अवतारों में है। जहाँ हमारे राम–कृष्ण का नाम है, वहाँ उनकी भी गणना है। हिमालय से कन्याकुमारी तक जल की किसी धारा से लेकर समुद्र के किनारे तक जहाँ कहाँ हम ब्रह्मकर्मों का संकल्प करेंगे, वहाँ 'बुद्धावतारे' अवश्य आयेगा। बहुत कुछ मतभेद होते हुए भी आर्य–सन्तान ने उनके बड़प्पन को कभी नहीं भुलायाँ बड़ा मानकर ही शंकराचार्य बुद्ध को ''यतीनाञ्चकवर्त्ती'' कहा। बेशक बौद्ध धर्म का महत्त्व भारतवर्ष में पहले सा नहीं रहा, परन्तु तो भी उनकी प्रतिष्ठा बनी रही। वे हमारे थे, हमीं में उनका अवतार हुआ था, यह बात आर्य–सन्तान कभी भी भूल न सकी।"

प्रश्न : हिन्दू क्यों विशेष है? और हिन्दू मुस्लिम के मध्य का रिश्ता है?

उत्तर : हिन्दू–महासभा के सातवें अधिवेशन में पूज्य मालवीय जी का भाषण में पूज्य मालवीय जी महाराज ने 19 अगस्त् सन् 1923 ई. को काशी में अपने भाषण में कहा कि सृष्टि में जितनी भी जातियों का इतिहास मिला है, उनमें यह हिन्दू जाति या आर्य जाति सबसे प्राचीन है, इसको प्रायः सभी निष्पक्ष विद्वान् मानेंगे। यदि प्राचीनता से ही प्रेम है तो यह प्राचीन अवश्य है। यह प्रेम के योग्य है और इस बात पर इसका आदर

हो सकता है।

मालवीय जी ने अपने भाषण में यह भी कहा कि मैंने कभी स्वप्न में भी यह नहीं चाहा कि हिन्दू बलवान होकर मुसलमानों को नुकसान पहुँचावें। मैं अपने धर्म और ईमान से गिर जाऊँ, यदि मेरे दिल में कभी ऐसा विचार भी आया हो। मैं यह चाहता हूँ कि हिन्दू और मुसलमान दोनों बलवान हों और दुनिया की अन्य जाति में खड़े होने के लायक़ हों। मैं यह कहता हूँ कि हिन्दू–मुसलमानों के सम्मिलित अखाड़े हों, जुदा–जुदा न हो।

हिन्दू–मुसलमान का तीसरा रिश्ता एक ही देश के वासी होने का है। हिन्दुस्तान के बारह के मुसलमानों का वतन अरब, फ़ारस, तुर्किस्तान, ईरान या तुर्की है। लेकिन हिन्दुस्तान के मुसलमानों का वतन हिन्दुस्तान ही है। ये छः–सात करोड़ मुसलमान अरब या फ़ारस से नहीं आए थे। केवल बहुत थोड़े मुसलमान बाहर से आए हैं। बाकी इसी हिन्दुस्तान के बाशिन्दे थे और हैं। और अगर मान लो तमाम अरब से भी आए हों, तो भी अब तो भी उनका निवासस्थान हिन्दुस्तान है।

शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण

14 दिसम्बर सन् 1929 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के बारहवें उपाधि–वितरण–महोत्सव के अवसर पर पूज्य मालवीय जी ने अग्रलिखित भाषण दिया था। इस भाषण से हमें उनके शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण की प्राप्ति होती है–

"अक्टूबर सन् 1929 में विश्वविद्यालय ने अपना कार्य आरम्भ कियागत बारह वर्षों में इसने अनेक सफलताजनक कार्य किये। इस विश्वविद्यालय का आदर्श एक ऐसे शिक्षा–केन्द्र के निर्माण से था, जहाँ भारतवर्ष के प्राचीन गुरूकुल तक्षशिला तथा नालन्द के उन विश्वविद्यालयों की उच्चतम प्रणाली का पुनरूत्थान किया जा सके, जिनमें हिन्दू महात्माओं ने दस हज़ार विद्यार्थियों को एक ही साथ पढ़ाया तथ भोजन दिया था, और जहाँ वर्तमान पश्चिम के विश्वविद्यालयों की श्रेष्ठतम संस्कृति तथा प्रणाणी के अनुकरण के साथ–साथ कला, विज्ञान और शिल्पादि कला–सम्बन्धी उच्च्तम शिक्षा का भी सुन्दर संयोग हो।

इस प्रकार विश्वविद्यालय के निम्नांक्ति ध्योयों की रचना हुई–

1. हिन्दू–शास्त्र तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन की वृद्धि, जिसके द्वारा भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता में जो कुछ भी श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण था उसका तथा हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति तथा भावनाओं की रक्षा और मुख्यतः हिन्दुओं में और सार्वजतिक रूप से सर्वसाधारण में प्रचार हो सके।
2. कला और विज्ञान की सर्वतोन्मुखी शिक्षा तथा अन्वेषण की वृद्धि
3. आवश्यक प्रयोगात्मक ज्ञान के साथ–साथ विज्ञान, शिल्पादि कला–कौशल तथा व्यवसाय–सम्बन्धी ऐसे ज्ञान की वृद्धि, जिससे देशीय व्यवसाय तथा ग्रन्थों की उन्नति हो।
4. धर्म और नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर या अखण्ड भाग बनाकर युवकों में सदाचार का संघटन या चरित्र–निर्माण का विकास करना।
5. हम लोगों ने अपनी नियमावली में संस्कृत और हिन्दू–तत्त्व–शास्त्र को शिक्षा का प्रथम स्थान दिया है।

6. प्राचीन राष्ट्रीय पद्धति को जीवित रखने के लिये हम लोगों ने संस्कृत विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा, स्थान तथा भोजन की व्यवस्था की है, ताकि प्राचीन गुरूकुलों के माध्यम से विद्यार्थी सफलतापूर्वक अपना अध्ययन जारी रख सकें।

हिन्दू अध्ययन सम्बन्धी दो दृष्टि कार्य कर रही थी, जिनमें पहली दृष्टि थी कि अन्ततः विज्ञान एवं तकनीकी का ज्ञान ही भारत के नियति है।आत्मा, ईश्वर ज्ञान ही श्रेयेस्कर है आधुनिकता का मोह छोड़ा जाय। तथा दूसरी दृष्टि यह थी कि पश्चिम का अधिपत्य एवं वर्चस्व बना रहे। केवल भारतीय पारम्पिरिक शिक्षा को दी जाय।मालवीय जी ने इन असम्भव से दो ध्रुव को मिलाने का कार्य कियामालवीय जी का सुदृढ़ मत था कि भारतीय परम्परा में शोध साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा में ही हो सकती है। अन्य देशी भाषाओं के साथ संस्कृत भाषा का समुचित् अध्ययन अध्यापन आवश्यक है–

भाषा का अध्ययन केन्द्र में जाये और भाषा का दर्शन हमारी सम्पूर्ण वैज्ञानिक चिन्तन को प्रभावित करें तब यह शिक्षा नीति सफल हो सकेगी।इस भाषा–दर्शन के द्वारा विज्ञान तथा तकनीकी का भारतीय संस्करण बताया जाए।यह राज्य के हित की बात है कि प्रत्येक लड़के और लड़की के उत्तम चरित्र का निर्माण हो, जिसमें देशप्रेम और देशसेवा की भावनाओं का संचार हो, उन्हें भारतीय संस्कृति का समुचित् ज्ञान हो, और वे आधुनिक विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर देश की समृद्धि में समुचित् योगदान कर सके।इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखकर 1898 में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की तथा 1904 में वाराणसी में काशी नरेश प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में आयोजित सभा में काशी विश्वविद्यालय की योजना प्रस्तुत की।

प्रश्न : मालवीय जी के सामाजिक चिन्तन की दिशा क्या थी?

उत्तर :समाज की उत्तम व्यवस्था हेतु मालवीय जी ने जिन महत्त्वपूर्ण सुधारों की वकालत की है वे मुख्यतः इसप्रकार हैं–

1. 'अन्त्यजोद्धार' : वे कहते थे हमें इन अछूतों को जल देना है, रहने को स्थान देना है और इन्हे शिक्षा देनी है। मैं तो चाहता हूँ कि इनके चार करोड़ घरों में मूर्तियाँ रखी हो और भगवान का भजन हो, तभी तो मंगल होगा। सनातन धर्म महासभाद्वारा अन्त्यजोद्धार का निर्णय लेते हुए सार्वजानिक स्थलों पर अन्त्यज का बराबरी का प्रवेश एवं अधिकार का समर्थन शिव पंचाक्षरी मन्त्र की दीक्षा तथा अन्त्यजोद्धार विधि नाम से पुस्तक प्रकाशित की जिसमें पौराणिक कथाओं के आधार पर बताया कि देव–दर्शन पर उन सबका अधिकार है जिनका उन पर विश्वास हो। मन्त्र दीक्षा की महिमा पर उन्होंने कहा –

   यथा काक्नतां याति कांस्यं रसक्विधानत।
   तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्।।

   जिस प्रकार रस के विधान से कांसा कानन हो जाता है उसी प्रकार दीक्षा से मनुष्य द्विजत्व अर्थात् श्रेष्ठत प्राप्त कर लेता है। शीलवान मनुष्य ही श्रेष्ठ मनुष्य है।

   शूद्रोऽपि शील सम्पन्नो गुणवान ब्राह्मणो भवेत्।
   ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत्।।

   –महाभारत, वनपर्व 180–25

अर्थात् शील सम्पन्न, गुणवान शूद्र भी ब्राह्मण हो जाता है और क्रियाहीन ब्राह्मण भी शूद्र से नीचे गिर जाता है।

मालवीय जी शिक्षा को मानव मात्र का अधिकार तथा उसका समुचित् प्रबन्धन राज्य का कर्त्तव्य मानते थे सब स्तर पर शिक्षा की ऐसी व्यवस्था हो कि कोई बच्चा निर्धन होने के कारण वंचित् न रह जाय 1927 में सेम्बली में लाला लाजपत राय के इस सुझाव का समर्थन किया कि राजकोष में प्रतिवर्ष एक करोड़ रूपया हरिजन विद्यार्थियों की शिक्षा पर खर्च किया जाएँ

2. **स्त्री–शिक्षा का समुचित् प्रबन्ध** :मालवीय जी के सामाजिक चिन्तन में दूसरा प्रमुख पक्ष स्त्री–शिक्षा के समुचित् प्रबन्ध था। उनकी मान्यता थी कि, स्त्रीयाँ भावी भारत की सन्तानों की माताएँ वे तथा भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्त्वज्ञानियों, व्यापार तथा कलाकौशल आदि की प्रथम शिक्षिकाएँ है।
3. **चरित्र गठन हेतु नैतिक शिक्षा** :एक अच्छे समाज को नैतिक एवं चारित्रिक सम्पन्नता प्राप्ति शिक्षा का प्रथमिक लक्ष्य है। मालवीय जी की धारणा थी कि पारस्परिक सद्भाव तथा सहयोग के बिना व्यवसायिक उन्नति हो ही नहीं सकती। राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को आचार के ही शासन द्वारा शासित् तथा प्रभावित रहना चाहिए तभी उसमें विश्वास मृदुभाषण तथा व्यवहार की सच्चाई और सद्गुणों का विकास हो सकता है।

मालवीय जी विद्यार्थियों के चारित्रिक उन्नति हेतु एक सूत्रवाक्य हमेशा देते रहे–

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देश भक्तयात्मत्यागेन सम्मानर्हः सदाभवः।।

1929 का दीक्षान्त भाषण में मालीवय जी ने सन्देश दिया कि विद्यार्थी देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन में सदा उद्यत रहें, अपने देश वासियों से प्रेम करें और उनमें एकता की वृद्धि करें। उन्होंने कहा कि आप सबमें तितिक्षा और धैर्य की प्रचुर भावना तथा स्नेहमयी सेवा की विस्तृत भावना की अपेक्षा है। हम आशा करते है कि अपने दीन–हीन भाईयो को उत्थान के लिए आप जितना समय और शक्ति बचा सकें, उसे आप लगावेंगे आप उनके मध्य काम करेंगे उनके कष्टों और उनके आनन्द में भाग लेवे और जिस तरह से भी आपके लिए सम्भव हो उनके जीवन के सुखमय बनाने का प्रयत्न करेगे।

1.7 डॉक्टर हेडगेवार

केशव राव बलिराम हेडगेवार का जन्म हिन्दू वर्ष प्रतिपदा के दिन 1 अप्रैल 1889 को महाराष्ट्र के नागपुर में हुआ था,वह मूलतः तेलुगु देशस्थ ऋग्वेदी ब्राह्मण थे, उनके पिता का नाम पण्डित बलिराम पंत हेडगेवार एवं माता का नाम रेवती बाई था, हेडगेवार परिवार मूल रूप से काण्ड कुर्ती तेलंगाना का रहने वाला था, वर्ष 1925 में डॉक्टर साहब ने संघ की नींव रखी 1910 में उन्हें मेडिकल की पढ़ाई के लिए कोलकाता भेजा गया 1914 में मेडिकल की परीक्षा उत्तीर्ण कर डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की, 1915 में नागपुर वापस लौट आए और जीवन पर्यंत मां भारती की सेवा एवं हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जागृति के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया, 19 जून सन 1940 को हेडगेवार जी का देहावसान हो गया।

हेडगेवार का भारत बोध

आधुनिक भारत के निर्माण में संगठन शक्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस दृष्टिकोण के प्रबल प्रस्तोता डॉक्टर हडगेवार जी का मानना था कि भारत एक सांस्कृतिक राष्ट्र है और इसका आधार हिन्दू संस्कृति है। हिन्दू संस्कृति को मजबूत करना हिन्दू संस्कृति के सार्वभौमिक मूल्यों का संरक्षण करना है। हिन्दू संस्कृति सबके लिये समान अवसर प्रदान करती है। इस संस्कृति में सभी पंथों और संस्कृतियों के लोगों को अपनी पहचान और संस्कृति के साथ रहने का अवसर प्राप्त होता है। इस स्थिति में हमें भारत की साझा विरासत् का अध्ययन करना चाहिए और उस साझे विरासत् की उन्मूल तत्त्वों के संरक्षण एवं क्रियान्वयन पर बल देना चाहिए जिससे देश की सांस्कृतिक समझ और सहिष्णुता की स्थापना हो सके। कुछ विद्वानों ने हेडगेवार जी के इस आशय को दृष्टिगत करते हुए उनके इस सिद्धान्त को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नाम दिया है।

प्रश्न :यहाँ यह प्रश्न उठता है कि एक व्यक्ति द्वारा शुरू हुआ संगठन आखिर कैसे भारतबोध जैसे व्यापक अवधारणा की समझ विकसित् कर सकेगा?

उत्तर : हेडगेवार जी ने भारत को जानने के लिये एक ऐसे संगठन की आवश्यकता महसूस कर रहे थे जो भारत के मूर्त एवं अमूर्त सनातन कहे जाने वाली संस्कृति का अध्ययन कर सके और उसके आधार पर सांगठनिक रूप से जीवन जी सके। क्योंकि उस दौर में भारत को जानने की दो धाराएँ चल रही थी। एक धारा पश्चिमी विद्वानों तथा उनके अनुगामी उनसे प्रभावित शिक्षित वर्ग थे तो दूसरी तरफ भारत के पारम्परिक विद्वान। इन दोनों धाराओं में धीर–धीरे संघर्ष विकसित् हुआ और पश्चिमी विद्वानों के मत को संस्थागत रूप से सबल करते हुए अन्त में उन्हें राजनीतिक और प्रशासनिक अतुलनीय बल प्राप्त हुआ जिससे भारतीय पारम्परिक विद्वता संकुचित् होने लगी थी। ऐसे में हेडगेवार ने एक तीसरा मार्ग अपनाया, इस मार्ग का संक्षिप्त विवेचन को समझना भी आवश्यक है। इसी आशय से हमें डॉक्टर हेडगेवार का योगदान और उनकी दृष्टि का अध्ययन करना है।

जिस समय बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दालनों का दौर चल रहा था, ये क्रान्तिकारी आन्दोलन संगठन तथा शक्ति के द्वारा भारत को मुक्त कराने लिये उत्साहित थे, तभी हेडगेवार अनुशीलन समिति के साधारण सदस्य बने। उनकी तीव्र नेतृत्व प्रतिभा और कार्यकुशलता को देखकर उन्हें बंगाल हिन्दू महासभा का प्रदेश अध्यक्ष बनाया गयाप्रारम्भ में हेडगेवार गाँधी से प्रेरित थे। कांग्रेस के सदस्य के रूप में उन्होंने देश की आजादी के लिये अपना योगदान दियाँ तिलक मृत्यु के बाद हेडगेवार कांग्रेस और हिन्दू महासभा दोनों में कार्य करते रहे। सविनय अवज्ञा आन्दोलन नें भी इन्होंने भाग लिया किन्तु 1921 के खिलाफत आन्दोलन से विचलित नेताओं द्वारा नागपुर के बैठक में हिन्दुओं की रक्षा एवं हिन्दुस्तान को एक सशक्त राष्ट्र बनाने का निर्णय लिया गया और इसकी जिम्मेदारी डॉक्टर मुंजे तथा डॉक्टर केशव बलिराम हेडगेवार को दी गयी और 27 सितम्बर 1925 में विजयादशमी के दिन हिन्दू युवक क्लब का नींव पड़ा जो आगे चलकर राष्ट्रीय संघ सेवक के नाम से प्रसिद्व हुआ। यह संगठन आज दुनिया का सबसे संगठन है। एक अनुमान के हिसाब से देश में प्रतिदिन लगभग 60 हजार शाखाएँ चलती है।

हिन्दू–सम्बन्धी दृष्टिकोण

हेडगेवार की दृष्टि में 'हिन्दू' शब्द 'भारत' शब्द का पर्याय है। भारत 'भा' धातु से बना

है, जिसका अथ है 'प्रकाशमान' तथा 'रत' का तात्पर्य है 'निरन्तरता'। भारत ज्ञान की निरन्तर धारा है। भारत एक प्राचीन पुरातन सभ्यता है जो हिन्दू संस्कृति के रूप में विकसित् हुई। स्वतन्त्रता संग्राम से पूर्व लगभग 800 वर्षों तक विदेशी शासन मुख्यतः मुगलों और फिर अंग्रेजों के अधीन रहा, इसके बाद 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में पुनः भारत में सनातन संस्कृति की विचारधारा को एक भूमि पर स्थापित करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ।

हेडगेवार जी 1925 में जी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस)की स्थापना की।जिसका मूल उद्देश्य राष्ट्र में ऐसे युवाओं का निर्माण करना था, जो राष्ट्र के प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा रखते हैं अर्थात राष्ट्र सर्वोपरि का भाव उनके मन में सदैव प्रवाहित हो।जिसके लिए व्यक्ति के चरित्र का निर्माण अति आवश्यक है। अतः राष्ट्र सेवा का माध्यम राजनीति नहीं बल्कि समाज का निर्माण है। जो 'व्यक्ति निर्माण' से प्रारम्भ होता है।

उन्होंने व्यक्ति निर्माण की पहली इकाई के रूप में शाखा का निर्माण किया, जहाँ पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास किया जा सके, उनके मन में राष्ट्रीयता का भाव पैदा किया जा सके। वे हिन्दुओं में ऊँच–नीच सम्बन्धी कोई भेद नहीं करते थे।उनकी दृष्टि में सभी आपस में समान है, सभी हिन्दू सहोदर भाई के समान है।

हिंदवःसहोदरा सर्वे, न हिन्दू पतितो भवेत।
मम दीक्षा हिन्दू रक्षा, मम मन्त्र सामानता।

सभी हिन्दूसहोदर भाई है कोई हिन्दूपतित नहीं मेरी दीक्षा हिन्दूकी रक्षा के लिए है एवं मेरा मन्त्र समानता का है, कोई किसी से श्रेष्ठ नहीं है।

हिन्दू शब्द का अर्थ–हिन्दूशब्द से तात्पर्य इस सनातन संस्कृति है।इस राष्ट्र में रहने वाले सभी व्यक्ति हिन्दू हैंवे सभी इस संस्कृति के वाहक हैं। इस परिभाषा के अनुसार हिन्दू शब्द किसी मजहब, पंथ, रिलीजन, वाद तथा नृजातिय समूह का वाचक नहीं है अपितु वह एक साथ इन सभी के मेल से भी विराट भाव को व्यक्त करता है। विदेशी भाषाओं में हिन्दू शब्द के इस भाव को 'हिन्दुइज्म' शब्द में अपघटित कर दिया गया है जिसके कारण हिन्दू सम्प्रत्यय को लेकर कई भ्रान्तियों का जन्म हुआ है। एक सजग अध्येता के रूप में हमें इस अपव्याख्या को दृष्टिगत रखना चाहिए।

'हिन्दू'तथा 'हिन्दुइज्म'

किसी भी शब्द का असावधानी से ही क्यों न हो, गलत प्रयोग किया गया तो उसके दुष्परिणामों से बचना सम्भव नहीं है। हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों ने प्रारम्भ से ही अंग्रेजों द्वारा प्रचारित एक भाषान्तर को अविचारपूर्वक स्वीकार कियावह गलती है हिन्दुत्व के पर्यायवाची के रूप में अंग्रेजी शब्द हिन्दुइज्म (Hinduism) की स्वीकृति। हिन्दुत्व के अर्थ में हिन्दुइज्म (Hinduism) का प्रयोग करना भूल है। हिन्दुत्व के अर्थ में 'हिन्दुइज्म' शब्द का प्रयोग, हम सद्भावनापूर्वक करते आ रहे हैं। हमने यह नहीं सोचा कि उसके कारण हिन्दुत्व की प्रतिष्ठा तथा व्यापकता घट जाती है और, वह सोशलिज्म, कम्युनिज्म, गाँधीज्म् जैसी श्इज्म के स्तर पर तथा इस्लाम, ईसाईयत् आदि रिलिज्न्स के स्तर पर आ जाता है। वास्तविकता यह है कि हिन्दू शब्द श्इज्मश भी नहीं और 'रिलीजन' भी नहीं है। किन्तु इस तथ्य का प्रतिपादन तब अन्तर्विरोधी प्रतीत होता है जब हम हिन्दुइज्म (Hinduism) शब्द का प्रयोग करते हैं। अन्तर्विरोध वास्तविकता में नहीं, उसका आभास गलत शब्द का प्रयोग करने के कारण होता है। 'हिन्दुत्व' का सही भाषान्तर हिन्दुनेस (Hinduness) है, और यदि यही शब्द प्रारम्भ से प्रचलित होता तो कुछ भ्रांतियाँ तो उत्पन्न ही नहीं होतीं।

श्री गुरुजी शब्द प्रयोग के विषय में सावधानी का महत्त्व बार–बार बताते थे। उदाहरणार्थ, मान्यवर श्री लालबहादुर शास्त्री जी को दिनांक 21.08.1961 को लिखा उनका पत्र देखिए। 'हिन्दू और सिख' का भेद निर्माण करने वाले शब्द प्रयोग को सर्वथा त्याज्य मानकर 'हिन्दू' शब्द में शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाजी आदि सभी का अन्तर्भाव है, इस सत्य का अनुसरण करते हुए बोलने–लिखने की सावधानी सभी कार्यकताओं को व्यवहार में दिखानी चाहिए, यह बात उसमें आती है।

दिनांक 20.02.1956 को मान्यवर श्री गोविन्द वल्लभ पन्त को श्रीगुरु जी लिखते हैं–"आपके कृपापत्र का ही उदाहरण लिया तो यह स्पष्ट होता है कि शासन में अत्युच्च पद को सुशोभित कर देश की उन्नति की चिन्ता करते हुए भी 'सिख और हिन्दू' एक ही अभंग हिन्दू समाज में विघटन बढ़ाने वाले शब्द ही अनवधान से क्यों न हो, प्रयोग में लाये जाते हैं।" (जे. नन्दकुमार द्वारा सम्पादित पुस्तक हिन्दू राष्ट की सांस्कृतिक संरचना में दत्तोपंत ठेंगडी का लेख देखें।)

हेडगेवार जी ने संघ की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य केवल "मनुष्य निर्माण" करना था जो शी, चरित्रवान, कर्त्तव्यशील, हो जिसके माध्यम से एक सशक्त राष्ट्रएवं उन्नतशील राष्ट्र की नीव स्थापित किया जा सके संघ के स्थापना के पश्चात डॉक्टर साहब ने स्वयंसेवकों को कुछ दृष्टि प्रदान की, है जो निम्न है

1. राष्ट्र रक्षा के समान कोई पुण्य नहीं है, राष्ट्र रक्षा के समान कोई व्रत नहीं है, राष्ट्र रक्षा के समान कोई यज्ञ नहीं है।
2. जीवन में निस्वार्थ भावना बिना खरा – अनुदेशित निर्माण की नहीं आती।
3. शक्ति केवल सेना या शास्त्र में नहीं होती बल्कि सेना का निर्माण जिस समाज से होता है वह समाज जब राष्ट्र प्रेमी चरित्रवान होगा तब वह शक्तिमान होगा।
4. हमारा विश्वास है कि भगवान हमारे साथ है हमारा काम किसी पर आक्रमण करना नहीं अपनी शक्ति को और एकजुट करना है।
5. अपने निजी मान सम्मान की शुद्र भावना को त्याग कर हमें प्रेम और नम्रता के साथ अपने समाज को सभी उद्योगों के पास पहुंचना होगा।
6. हमारा निश्चय और स्पष्ट ध्यान ही हमारी प्रगति का मूल कारण है।
7. समरसता के बिना समता स्थाई नहीं हो सकती और दोनों के अभाव में राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती।
8. संघ का उद्देश्य राष्ट्र को परम वैभव तक पहुंचना है।

इस डॉक्टर हेडगेवार का भारतबोध एक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में उभरता है जिसमें हिन्दू संस्कृति प्राथमिक रूप से महत्त्वपूर्ण है। हेडगेवार जी की भारत को जानने की विधि अनोखी है, जिसमें जीवन्तता है तथा हिन्दू संस्कृति, सभ्यता के समग्र पक्षों को संचरणशील करने की सांगठनिक परियोजना है।

डॉ. हेडगेवार जी ने हिन्दू समाज को एकजुट करने और उसे मजबूत बनाने के लिए कई रचनाएँ कीं। अपनी रचनाओं में डॉ. हेडगेवार जी ने हिन्दू समाज के इतिहास, संस्कृति और मूल्यों के बारे में विस्तार से बताया है। उन्होंने हिन्दू समाज को एकजुट करने और उसे मजबूत बनाने के लिए संघ के उद्देश्यों और कार्यों की व्याख्या की है।

संघ प्रचारक के लिए मार्गदर्शन में डॉ. हेडगेवार जी ने संघ प्रचारकों को संघ के सिद्धान्तों और कार्यों का पालन करने के लिए मार्गदर्शन दिया है। उन्होंने संघ

प्रचारकों को बताया है कि उन्हें अपने जीवन में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

संघ प्रचारक के लिए मार्गदर्शन डॉ. हेडगेवार जी द्वारा लिखितपुस्तक के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं:

- संघ प्रचारक को एक आदर्शवादी व्यक्ति होना चाहिए। उसे अपने देश, समाज और धर्म के लिए समर्पित होना चाहिए।
- संघ प्रचारक को एक कर्मयोगी होना चाहिए। उसे अपने कार्यों में लगन और निष्ठा से काम करना चाहिए।
- संघ प्रचारक को एक संगठनकर्ता होना चाहिए। उसे दूसरों को संगठित करने और उन्हें एक लक्ष्य के लिए प्रेरित करने की क्षमता होनी चाहिए।
- संघ प्रचारक को एक संवादी होना चाहिए। उसे दूसरों के साथ खुलकर और स्पष्ट रूप से बात करने की क्षमता होनी चाहिए।
- संघ प्रचारक को एक शारीरिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति होना चाहिए। उसे संघ के कार्यों को करने के लिए पर्याप्त शारीरिक शक्ति और सहनशक्ति होनी चाहिए।

पुस्तक में, डॉ. हेडगेवार जी ने संघ प्रचारकों को संघ के कार्यों के बारे में भी बताया है। उन्होंने बताया कि संघ का कार्य हिन्दू समाज को जागरूक करना, उसे मजबूत बनाना और उसे एकजुट करना है।

पुस्तक संघ प्रचारक के लिए मार्गदर्शन संघ के प्रचारकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक है। यह पुस्तक संघ के प्रचारकों को संघ के सिद्धान्तों और कार्यों को समझने और उन्हें लागू करने में मदद करती है।

> *"हिन्दू समाज की महान परम्परा एवं समूची मानवता के लिए उसके ऐतिहासिक योगदान के बारे में साधारण हिन्दू ही नहीं, समाज के अधिकांश विद्वान भी अपरिचित हैं। इसी कारण तथाकथित बुद्धिजीवियों एवं हिन्दू समाज के शत्रुओं को इसके बारे में नाना प्रकार के भ्रम फैलाने का खुला मैदान मिला हुआ है। ऐसे लोग कभी रामराज्य को दलित विरोधी बताते हैं, तो कभी महात्मा गाँधी जैसे धार्मिक व्यक्ति को पंथनिरपेक्ष और कभी अम्बेडकर जैसे हिन्दू सुधारक को हिन्दू विरोधी। इस प्रकार के कुप्रचार से ये लोग हिन्दू समाज के विभिन्न मतों को एक साथ आने से रोकते हैं। इस दुष्प्रचार का उचित जवाब देना आज अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु मीडिया एवं पैसा इनके हाथ में होने के कारण इनका स्वर इतना तेज है कि आज हिन्दू अपना परिचय हिन्दू के नाते देने से घबरा रहे हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिन्दू संगठन के लिए बहुत बड़ा कार्य कर रहा है।......"*
>
> हिन्दू भयजनित सहनशीलता त्यागें (कॉनराड एल्स्ट)
> (पाञ्चजन्य, प्रकाशन तिथि 2 अप्रैल, 1995)

1.7 सारांश

आपने अभी तक पढ़ा कि भारत के मूल सत्त्व को जानने में तिलक, गाँधी हेडगवार तथा मदनमोहन मालवीय की दृष्टि कितनी व्यापक है। इन विचारकों की यह विशेषता

थी कि ये पश्चिमी सभ्यता को शैक्षणिक रूप से भली- भाँति जानते थे। साथ ही साथ ये न केवल भारतीय ज्ञानपरम्परा को भली- भाँति आत्मसात् किये हुए थे बल्कि यह समग्र ज्ञानपरम्परा उनके जीवन का अभिन्न अंग रहा है। अपने और कर्मों, जीवन द्वारा इन महापुरूषों ने एक बड़े जनमानस को प्रभावित कियाइन विचारकों का भारतबोध जो हिन्दू–बोध का भी पर्याय है। देश में एक युगान्तकारी प्रभाव उत्पन्न किया है। तिलक जहाँ भारतीय ज्ञानपरम्परा के युगीन परिवर्द्धन करते हुए एक तरफ आर्य- आक्रमण सिद्धान्त, आर्यों का निवास स्थान सम्बन्धी विवाद का समाधान करते है तो दूसरी तरफ भारतीय ज्योतिष के आधार पर वेद के आख्यानों की व्याख्या, वैदिक राजनीति दर्शन के आलोक में समकालीन राजनीति दर्शन में नई स्थापना देते है। उनका यह योगदान भारतीय सत्त्व को समाजशास्त्रीय राजनीतिशास्त्रीय तथा आर्थिक दृष्टि से समझने में सहायक है। महात्मा गाँधी भी भारत में आधुनिकता की स्थापना करने में अग्रगण्य है। सामाजिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों को समझने के लिये महात्मा गाँन्धी तिलक के ही भाँति मदनमोहन मालवीय का जीवनदृष्टि एवं उनका शैक्षणिक अवदान है। मालवीय जी ने भारत को एक उदार दृष्टि से देखने समझने का प्रयास किया है। मालवीय जी की विशेषता यह है कि मालवीय का चिन्तन और जीवन कर्म भारत के पारम्परिक सत्व का पूर्णरूपेण अभिनव विस्तार है। उन्हानें कुरीतियों को छोड़ा, बन्धनों को तोड़ा किन्तु भारतीय मूल्यों तथा उनके अभ्यास से कोई समझौता नही किया।

1.8 परिभाषिक शब्दावली

भारतबोध : भारत देश की संकल्पना के निर्धारक तत्त्व जितने इसके मूर्त तत्त्व हैं (भूगोल, इतिहास, राजनीतिक, सामाजिक संस्थाएँ इत्यादि)। उससे कहीं अधिक इसके अमूर्त तत्त्व (दर्शन, धर्म, पवित्र अनुभूति इत्यादि) है। दोनों तत्त्वों के सम्मिलित बोध द्वारा इस राष्ट्र के बारे में दृढ़तापूर्वक कुछ कहना और उसको अपने जीवन में धारण करते हुए अन्य को इस बोध के लिये प्रेरित करना भारतबोध कहलाता है। यह बोध भारत के आदर्शों का बौद्धिक विवेचन तो है, किन्तु इस विवेचन में श्रद्धा के तत्त्व गहन अनुभूति से पुष्ट होता हैं।

प्राच्यविद्या : यह विद्या एशिया महाद्वीप की ज्ञान–परम्परा, विशेष रूप से भारतीय ज्ञान–परम्परा के लिए प्रयोग की जाती है।

सनातन धर्म : सनातन धर्म नित्य धर्म है तथा देश–काल–परिस्थिति के अनुसार नूतन कलेवर को धारण करता है। एक धर्म के रूप में इसकी ऐतिहासिकता अज्ञात है।

थियोसोफिस्ट : ईश्वरमीमांसा में संलग्न विद्वानों को थियोसोफिस्ट कहते हैं। एक आन्दोलन के रूप में थियोसॉफिकल सोसाइटी का गठन श्रीमती एनी बेसेण्ट की प्रेरणा से हुआ।

जोर्थुस्ट्रीय धर्म : 'जरथुस्ट्र' धर्म प्राचीन ईरान देश में विकसित् हुआ था। इस धर्म का मूल धर्मग्रन्थ जिन्द–ए–अवेस्ता' है। इस ग्रन्थ में वेदों से कई समानताएँ देखने को मिलती हैं।

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. हिन्द स्वराज, डायमण्ड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली
2. महामना मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, मुकुट बिहारी लाल, भारत अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

3. विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, भाग–2, 5, 10, कलकत्ता

4. बिल्डर्स ऑफ मॉडर्न इण्डिया, राकेश सिन्हा, डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

1.10 बोध प्रश्न

1. 'महात्मा गाँधी भारत- बोध के आधुनिक पुरस्कर्त्ता है।' इस कथन का परीक्षण करें।
2. तिलक द्वारा भारत- बोध के क्षेत्र में किये गये महत्त्वपूर्ण योगदानों पर प्रकाश डालिए।
3. हेडगवार द्वारा हिन्दू संस्कृति को समझने हेतु किये गये प्रमुख योगदानों को अपने शब्दों में लिखिए।
4. भारत को भारतीय विधि से जानने में तिलक, मालवीय, गाँधी, हेडगवार, के योगदानों का अध्ययन किस प्रकार उपयुक्त है इस प्रश्न की समीक्षा किजिए।

इकाई 2 बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीअरविन्द, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- एक भारतविद के रूप में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का परिचय, कृतित्त्व तथा भारतबोध की उनकी विचार प्रणाली से परिचित् हो सकेंगे।
- एक भारतविद के रूप में रवीन्द्र नाथ टैगोर का परिचय, कृतित्त्व तथा भारतबोध की उनकी विचार प्रणाली से परिचित् हो सकेंगे।

- एक भारतविद के रूप में श्रीअरविन्द का परिचय, कृतित्त्व तथा भारतबोध की उनकी विचार प्रणाली से परिचित् हो सकेंगे।
- एक भारतविद के रूप में क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का परिचय, कृतित्त्व तथा भारतबोध की उनकी विचार प्रणाली से परिचित् हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

बंगाल में ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजधानी थी और शासन–प्रशासन के सारे सूत्र वहीं संकेन्द्रित थे। परिणामस्वरूप पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का प्रहार भी सर्वप्रथम वहीं हुआ। यही कारण है कि उन्नीसवीं सदी में भारतीय धर्म एवं संस्कृति को इस नयी सभ्यता एवं संस्कृति के आलोक में परखने एवं बदलने का काम भी वहीं हुआ। आज जिसे हम नवजागरण कहते हैं, वह हिन्दू धर्म के लिए संक्रमण के दौर में अपने अस्तित्त्व को बचाये रखने का ही यत्न था। इसीलिए बंगाल में दार्शनिक, साहित्यकार, समाज सुधारक, राजनीतिज्ञ आदि समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों ने 'हिन्दू धर्म' की पुनर्स्थापना में अपना महत् योगदान दिया।

2.2 बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

2.2.1 परिचय

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (27 जून, 1838 – 8 अप्रैल, 1894) का जन्म उत्तरी चौबीस परगना के कंठालपाड़ा नैहारी गाँव के एक समृद्ध बंगाली परिवार में हुआ। आपके पिता यादव चन्द्र चट्टोपाध्याय तथा माता दुर्गादेवी चट्टोपाध्याय थीं। आपकी प्राथमिक शिक्षा मिदनापुर में हुई तत्पश्चात आपने हुगली के मोहसिन कॉलेज में 6 वर्षो तक अध्ययन कियासंस्कृत के अध्ययन में आपकी विशेष रूचि थी। 1856 में आपने प्रेसीडेंसी कॉलेज, कोलकाता में अध्ययन किया और 1859 में बी0 ए. उत्तीर्ण कियाप्रेसीडेंसी कॉलेज से बी0 ए. की उपाधि लेने वाले आप पहले भारतीय थे। 1859 में ही बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने आपको डिप्टी क्लेक्टर के रूप में नियुक्तकियाकुछ समय तक आप बंगाल सरकार के सचिव पद पर भी रहे। 32 वर्षो की सरकारी सेवा के पश्चात् आप 1891 में सेवानिवृत्त हुये। 1869 में आपने कानून की डिग्री हासिल की आपको रायबहादुर और सी0आई. ई. की उपाधि भी ब्रिटिश सरकार से मिली। बंकिमचन्द्र का विवाह 11 वर्ष की अल्पायु में ही हो गया था। उस समय उनकी पत्नी मोहिनी देवी की आयु केवल 5 वर्ष की ही थी। जब बंकिम 22 वर्ष के हुए तो उनकी पत्नी का देहावसान हो गयाइसके पश्चात् राजलक्ष्मी देवी से उनका विवाह हुआ, जिससे उन्हें तीन पुत्रियों की प्राप्ति हुई।

2.2.2 लेखनकर्म

आपकी प्रथम प्रकाशित रचना 'राजमोहन्स वाइफ' थी जो अंग्रेजी में लिखी गई। उनकी प्रथम प्रकाशित बंगला कृति 'दुर्गेशनंदिनी' 1865 में छपी थी। उनका दूसरा उपन्यास 'कपालकुंडला' 1866 में प्रकाशित हुआ, जो उनकी सर्वाधिक रूमानी रचनाओं में से एक माना जाता है। 1872 में आपने मासिक पत्रिका 'बंगदर्शन' का प्रकाशन आरम्भ किया, जिसमें उन्होंने अपने उपन्यास 'विषवृक्ष' का प्रकाशन धारावाहिक रूप में किया

बंकिम के उपन्यासों में अंग्रेजी शासकों एवं शासन व्यवस्था पर करारा प्रहार किया गया है, जो उनके उपन्यास 'कृष्णकान्तेर विल' तथा 'आनंदमठ' (1882) में दिखता है। 'आनंदमठ' उपन्यास में बंगाल के सन्यासी विद्रोह का वर्णन किया गया है, जो 1773

में घटित हुआ था। इसी उपन्यास में उनका प्रसिद्ध गीत 'वन्देमातरम्' है, जिसे भारत के स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों ने अपने हृदय की पूरी भावना के साथ स्वीकार किया'वन्देमातरम्' के नारे के साथ ही सैकड़ों क्रान्तिकारियों ने हँसी–खुशी इस देश के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिये। बंकिम के अन्य उपन्यासों में 'मृणालिनी', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'देवी चौधरानी', 'कृष्णकान्तेर दफ्तर', 'मोचीराम गौरेर जीवन चरित' सम्मिलित हैं। आपका अंतिम उपन्यास 'सीताराम' (1886) है। आपकी कविताओं का संकलन 'ललिता ओ मानस' नाम से प्रकाशित हुआ। आपने दीनबन्धु मित्र की जीवनी 'दीनबन्धु मित्रेर जीवनी' नाम से और संजीवचन्द्र चट्टोपाध्याय की जीवनी 'संजीबचन्द्र चट्टोपाध्यायेर जीबनी' नाम से लिखी। इसके अतिरिक्त आपने प्यारी चाँद मित्र की रचनाओं का विवेचन विश्लेषण 'बांगला साहित्ये प्यारी चाँद मित्रेर स्थान' नामक पुस्तक में किया

2.2.3 योगदान

आधुनिक काल में बंगला साहित्य को उत्थान उन्नीसवी सदी के मध्य में आरम्भ हुआ। जिसमें रवीन्द्रनाथ टैगोर के पूर्ववर्ती साहित्यकारों में बंकिम का नाम अग्रणी है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ऐसे पहले साहित्यकार हैंजिन्होंने बंगला जनमानस में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराई। बंकिमचन्द्र चटर्जी की पहचान कवि, उपन्यासकार, लेखक एवं पत्रकार के रूप में है।

2.2.4 विचार एवं अध्ययन विधि

बंगाल में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का पुनरावलोकन करते हुए उसे नवीन परिस्थिति में पुनर्स्थापित करने के यत्न में जिन लोगों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें बंकिमचन्द्र चटर्जी का नाम अग्रणी है। बंकिम ने अपनी रचनाओं में भारतीय संस्कृति एवं भारत राष्ट्र के प्रति प्रेम को विविध प्रकार से प्रदर्शित किया है। इतना ही नहीं परतन्त्रता की विभीषका का चित्रण और स्वातंत्र्य–चेतना के विस्तार का उपक्रम भी बंकिम की रचनाओं में दिखता है।

बंकिम के विख्यात उपन्यास 'आनंदमठ' का कथानक बंगाल के सन्यासी विद्रोह पर आधारित है। इस उपन्यास की विशिष्टता यह है कि इसमें ऐतिहासिकता सुरक्षित है, और इसके विवरण हंटर की 'एनल ऑफ रूरल बंगाल' तथा ग्लेग की 'मेम्क्वाइर ऑफ द लाइफ ऑफ वारेन हेस्टिंग्स' से साम्य रखते हैं। इस उपन्यास में बंकिम ने दर्शाया है कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता एक ऐसा महत् उद्देश्य है जिसके लिए जीवनमुक्त प्राणी (सन्यासी) भी अपनी साधना व एकान्त जीवन को त्याग कर विदेशियों के साथ संघर्ष करता है। इसी रचना में वह प्रसिद्ध गीत 'वन्देमातरम्' है, जिसमें भारत राष्ट्र को एक माँ के रूप में परिकल्पित किया गया है और जो गीत स्वतन्त्रता संघर्ष में क्रान्तिकारियों के होठों पर हमेशा गूँजता रहता था। न जाने क्तिने क्रान्तिकारियों ने 'वन्देमातरम्' कहते हुए फाँसी के फन्दे को चूमा, अमानवीय यातनायें सहीं, गोलिया खाईं, बलिदान हुये।

वन्दे मातरम्।
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम
शस्यश्यामलां मातरम्. . . . .
शुभ्रज्योत्स्ना–पुलक्ति यामिनीम्
फुल्लकुसुमितद्रुमदलशोभिनीम्
सुहासिनीसुमधुरभाषिणीम्
सुखदांवरदां मातरम्।।
वन्दे मातरम्. . . . .
सप्तकोटिकण्ठकलकलनिनादकराले,
द्विसप्तकोटि भुजैधृति खरकरवाले,
अबला केनो मां तुमि एतो बले!
बहुबल धारिणीम् नमामि तारिणीम्
रिपुदलवारिणीम् मातरम्।।
वन्दे. . . .
तुमी विद्या, तुमी धर्म,
तुमी हरि, तुमी कर्म
त्वं हि प्राणः शरीरे।
बाहुते तुमी मां शक्ति, ह्रदये तुमी मां भक्ति
तोमाराई प्रतिमा गड़ी मन्दिरे–मन्दिरे।
त्वं हि दुर्गा दशप्रहरण धारिणी
कमला कमल–दल–विहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वं
नमामि कमलां, अमलां, अतुलाम्
सुजलां, सुफलां, मातरम्
वन्दे मातरम्।।
श्यामलां, सरलां, सुस्मितां, भूषिताम्
धरणी, भरणी मातरम्।
वन्दे मातरम्. . . .

प्रिय विद्यार्थियो! इस पूरे गीत को उद्धृत करने का उद्देश्य यह है कि आप भारत माता की उस परिकल्पना से पूरी तरह परिचित् हो सकें, जो बंकिम के मन में है। ध्यान दें, तो गीत की पंक्तियों में भारत माता को दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों के रूप में देखा गया है, जो एक नवीन स्थापना है। इतना ही नहीं सात करोड़ निवासियों के ह्रदय में यही माँ, धर्म, कर्म आदि रूपों में विद्यमान है। भारतीयों के बाहुओं में उसी की शक्ति है, ह्रदय में उसी की भक्ति है, इसीलिए वह माँ 'बहुबल धारिणीम्' बहुत (बाहुओं को) बलों को धारण करने वाली है। अगर ऐसे प्रेरणादायी, ओजस्वी और राष्ट्र–भक्ति के विचार को साकार करने वाले गीत ने करोड़ों भारतीयों को स्वतन्त्रता–संघर्ष में अपने प्राण अर्पित करने के लिए प्रेरित किया तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।

इसी उपन्यास में बंकिम ने धर्म के स्वरूप पर विचार करते हुए भारतीयों में जो अकर्मण्यता, क्लैव्यता उत्पन्न हुई, उसके कारण पर विचार कियाबंकिम ने अपने विश्लेषण में इस तथ्य को स्थापित किया है कि जिस धर्म में रागमुक्ति, अहिंसा आदि को महिमामण्डित किया गया है, वह भारत की मूल 'चिति' नहीं हैं भारत की मूल चिति में तो अत्याचार और अत्याचारी के निवारण के लिए युद्ध करने की प्रेरणा विद्यमान है। ईश्वर के सभी अवतारों ने इसी उद्देश्य से इस संसार में शरीर धारण कर अवतार लिया था–

''वह चैतन्य देव का वैष्णव–धर्म है। नास्तिक बौद्ध धर्म के अनुकरण से जो वैष्णवता उत्पन्न हुई थी, उसी का लक्षण है। प्रकृत वैष्णव–धर्म का लक्षण दुष्टों का दमन और धरित्री का उद्धार है। कारण, भगवान विष्णु ही संसार के पालक हैं। उन्होंने दस बार शरीर धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया था। केशी, हिरण्यकशिपु, मधु–कैटभ, पुर, नरक आदि दैत्यों का, रावणादि राक्षसों का तथा शिशुपाल आदि का संहार उन्होंने किया है। वही जेता, जयदाता, पृथ्वी के उद्धारकर्त्ता और सन्तानों के इष्ट देवता हैं। चैतन्यदेव का वैष्णव धर्म वास्तविक वैष्णव–धर्म नहीं है–वह धर्म अधूरा है। चैतन्यदेव के विष्णु केवल प्रेममय है–लेकिन भगवान केवल प्रेममय ही नहीं है, वे अन्नत शक्तिमय भी हैं। चैतन्यदेव के विष्णु केवल प्रेममय ही नहीं है, वे अन्नत शक्ति मय भी हैं। चैतन्यदेव के विष्णु केवल प्रेममय हैं, सन्तानों के विष्णु केवल शक्तिमय हैं। हम दोनों ही वैष्णव हैं– लेकिन दोनों ही अधूरे हैं।''

बंकिम आधुनिक चेतना सम्पन्न विचारशील रचनाकार थे। अपनी रचनाओं में वे बारम्बार देश की दुर्दशा पर चिन्तन कर रहे थे, उनके कारण तलाश रहे थे और निवारण के उपाय सोच रहे थे। यद्यपि कि बंकिम की रचनाओं व चिन्तन में बंगभाषा, बंगवासी की स्थिति/प्रस्थिति पर ही गंभीर चिन्तन किया गया है लेकिन उनकी विवेचना और स्थापना समग्र भारतवर्ष की उन्नति के लिए सर्वथोचित् है। मसलन अपने निबन्ध 'बंग दर्शन का घोषणा–पत्र' में वे बंगला भाषा के प्रयोग की वकालत करते हैं, और उसे देश की उन्नति से जोड़ते हैं–

''देश के सभी लोग अंग्रेजी नहीं समझते, वे भविष्य में कभी समझने लगेंगे, ऐसी प्रत्याशा भी नहीं की जा सकती। इसीलिए जो बात बांग्ला में नहीं की जायेगी, उसे तीन करोड़ बंगाली न तो कभी समझेंगे, न सुनेंगे आज भी नहीं सुनते, भविष्य में भी कभी नहीं सुनेंगे और जिस बात को देश के सभी लोग सुनते समझते न हों, उस बात से समाज की उन्नति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती।'' बंकिम का यह कथन वर्तमान समय में भी क्तिना प्रासंगिक है, इसका अनुमान महज इस तथ्य से लगाया जाना चाहिए कि शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन के लिए लाई गई 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020' में भी मातृभाषाओं में ही शिक्षण का लक्ष्य रखा गया है।

इसी प्रकार वे अपने निबन्ध 'भारत कलंक' में भारत की पराधीनता एवं दुर्दशा के कारणों की विस्तृत पड़ताल करते हैं और भारत की श्रीवृद्धि के लिए आवश्यक उपाय बताते हैं, ''बंगाली, पंजाबी, तैंलंगी, मराठी, राजपूत, जाट, हिन्दू, मुसलमान इत्यादि अनेक जातियाँ हैं। इनमें परस्पर एकता का अभाव भारतवर्ष में जाति–प्रतिष्ठा–यानि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बाधित करता हैं। . . . . . अनेकता ही भारतवर्ष की दुर्बलता का बड़ा कारण है। इसीलिए एकता का साफल्य अनिवार्य है।''

बंकिम के चिन्तन में इकाई तत्त्व पर बल दिया गया है। किसी भी वृहद तत्त्व को सुधारने का प्रयत्न उसके मूल/प्राथमिक तत्त्व को सुधारने से ही न केवल आरम्भ होता है, बल्कि यही वह बिन्दु है, जिसे सुधारकर उसे उन्नत किया जा सकता है। इसीलिए बंकिम राष्ट्र की चिन्ता, जन की चिन्ता करते हुए क्षेत्र और जाति में सुधार की बात करते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण मानवता में सुधार करने के लिए बंकिम की दृष्टि मनुष्य हृदय पर तब परिवार पर फिर राष्ट्र पर और अन्त में सम्पूर्ण विश्व पर जाती है। उनका मत है कि प्रीति ही मनुष्य का धर्म है, वही ईश्वर है। यही प्रीति परिवार में सौमनस्य, एकता का कारक होती है। यही प्रीति जब विस्तृत होकर देश के प्रति होती है, तो देश के विकास और प्रगति का कारक बनती है और यही प्रीति जब विश्वव्यापी हो जाती है तो समस्त् जगत के लिए कल्याणकारी हो जाती है। ''जो प्रीति

समस्त् जगत के प्रति है, वही प्रीतिवृत्ति की चरम सीमा है। वही वास्तविक धर्म है। जब तक प्रीति समस्त् जगत के प्रति नहीं उमड़ती, तब तक प्रीति भी असम्पूर्ण नहीं रहती है और धर्म भी असम्पूर्ण रहता है।''

बंकिम के मत में यही प्रेम तत्त्व ही संसार की समस्त् वृत्तियों में श्रेष्ठ है और इसी की प्रतिष्ठा से ही विश्व का कल्याण हो सकता है। इसीलिए वे अन्यत्र भी प्रेम के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहते हैं– ''प्रेम और धर्म एक ही पदार्थ हैं। सारा संसार प्रेम के वशीभूत होकर ही धर्म को पाता है और धर्म जब तक सार्वजनीन प्रेम में नहीं बनता, तब तक सम्पूर्णता प्राप्त नहीं करता।''

बंकिमचन्द्र प्रणीत 'कृष्णचरित्र' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें कृष्ण के चरित्र को वर्तमान सन्दर्भों में मूल्यांक्ति एवं पुनर्व्याख्यायित किया गया है। इस ग्रन्थ में बंकिम ने आधुनिक तर्कपरक दृष्टि का परिचय दिया है और केवल परम्परा के अनुसरण को अपना ध्येय नहीं माना है, बल्कि किसी भी श्रेष्ठ व्यक्ति/धर्म की श्रेष्ठता को आदर्शों के निकष पर कसने और तब उसके महत्त्व को स्वीकारने की बात की है। इसी दृष्टि से उन्होंने धर्म और जातीय चेतना का भी मूल्यांकन किया था, जिसका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। इसी दृष्टि से बंकिम ने इस ग्रन्थ में कृष्ण द्वारा वर्णित धर्मतत्त्व या सत्य तत्त्व के स्वरूप को निम्न प्रकार से वर्णित किया है–

1. जो धर्मानुमोदित है, वही सत्य है, जो धर्मविरुद्ध है, वह असत्य है।
2. जिसमें लोगों का हित हो, वही धर्म है।
3. अतएव जिसमें लोक का हित है, वही सत्य है, जो कुछ इसके विपरीत है, वह असत्य है।
4. इसी रूप में सत्य का सर्वदा सब जगह प्रयोग करना चाहिए

इस प्रकार हम देखते हैं कि बंकिम का धर्म लोकहित पर आद्धृत है। यह धर्म सत्य, प्रेम और विश्वव्यापी मानव चेतना पर बल देता है। बंकिम द्वारा धर्म का वर्णन कहीं भी, कभी भी संकीर्ण रूप में नहीं किया गया है। इसी को लक्ष्य करते हुए रवीन्द्रनाथ ने इस ग्रन्थ की आलोचना के प्रसंग में कहा था, ''मेरे मन में 'कृष्णचरित्र' ग्रन्थ के नायक कृष्ण नहीं है, इसका प्रधान अधिनायक स्वाधीन बुद्धि है, सयेष्ट चित्तवृत्ति।''

बंकिम की इस पुस्तक की महत्ता को श्रीअरविन्द भी स्वीकारते हैं और कृष्ण के जीवनवृत्त को निर्धारित करने में बंकिम की तथ्यान्वेषी दृष्टि की प्रशंसा करते है। इस सन्दर्भ में श्रीअरविन्द का कथन बंकिम के महत्त्व को ही स्थापित करता है– ''स्वर्गीय रायबहादुर बंकिमचन्द्र चटर्जी के समान प्रतिभावान् व्यक्ति आधुनिक भारत में पैदा नहीं हुआ;वे परिपक्व विद्वत्ता तथा साहित्यिक सामर्थ्य की प्रथम पंक्ति में थे और उनमें एक विवेचनात्मक दूरदर्शिता थी।''

<u>अभ्यास प्रश्न</u> :–

1. प्रसिद्ध वन्देमातरम् गीत में मातृभूमि की कल्पना किस देवी के रूप में की गयी है–

   (क) दुर्गा (ख) लक्ष्मी (ग) सरस्वती (घ) ये सभी

2. बंकिम के अनुसार मनुष्य का वास्तविक धर्म है–

   (क) प्रीति (ख) शील (ग) सत्य (घ) साहस

3. बंकिम अपने किस निबन्ध में भारत की पराधीनता एवं दुर्दशा के कारणों की विस्तृत पड़ताल करते हैं–

   (क) भारत कलंक (ख) बंग दर्शन

   (ग) बंगदेश का कृष्क (घ) लोकशिक्षा

4. बंकिम किस भाषा के प्रयोग की वकालत करते हैं–

   (क) लोकभाषा (बंगला) (ख) हिन्दी

   (ग) अंग्रेजी (घ) उर्दू

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने धर्म का नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन दो चरणों में किया। प्रथम चरण में उन्होंने अपने मासिक पत्र बंग दर्शन में अपने विचारकों को 1870 के दशक में प्रस्तुत किया और दूसरे चरण में 1880 के दशक में जब उन्होंने 'प्रोचार' का प्रकाशन प्रारंभ किया तो उसमें अपने विचार में पुनः प्रस्तुत किया। बंकिम आरंभ में प्रारम्भिक सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन रूचि रखते थे। उनका यह विचार था कि धर्म का परिष्कार समाज में मानसिक और भौतिक प्रगति के साथ हुआ। दूसरे शब्दों में आरंभिक धार्मिक मान्यताएँ मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं एवं कार्यों से आरंभ हुई होंगी। जहाँ तक भारतीय धर्मों की बात है, बंकिम ने दो आयामों एवं पुराण पर ध्यान केन्द्रित किया किन्तु दोनों का विश्लेषण अलग प्रकार से किया। बंकिम ने जहाँ पौराणिक संस्कृति का विश्लेषण इतिहास एवं पाठालोचन के आधार पर किया, तो वैदिक संस्कृति का अध्ययन नृतत्वशास्त्र के आधार पर किया। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि वैदिक देवताओं का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था, बल्कि वे एकमात्र सर्वसत्ता की विभिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस प्रकार इन्द्र पृथ्वी पर होने वाली वर्षा, जो कि जीवन केन्द्रित थी का प्रतिनिधित्व करता था, जबकि अग्नि उस आग का प्रतिनिधि देवता जो जन्तुओं (मनुष्यों) को गरमी प्रदान करती थी और विभिन्न दैननिक कार्यों में सहायक थी। इस प्रकार के विश्लेषण से बंकिम ने वैदिक एकेश्वरवाद को मान्यता प्रदान की। इसी प्रकार बंकिम ने गायत्री मंत्र के वास्तविक अर्थ को समझाते हुये कहा कि वास्तव में यह एक वैदिक छंद है। क्योंकि एक देवता सूर्य (सविता) को समर्पित है और उस सर्वसत्ता को समर्पित नहीं है। बंकिम का यह मानना था कि हिन्दू धर्म की जड़े भले ही वेदों में हों, लेकिन यह संपूर्णतः वैदिक नहीं है, यह पूरा वृक्ष नहीं है, केवल इसकी जड़ मात्र है।

बंकिम ने हिन्दू दर्शन के अध्ययन का भी प्रयास किया था। विशेष रूप से सांख्य दर्शन का उन पर ग्रहरा प्रभाव था। इसके अतिरिक्त उनकी रूचि न्याय दर्शन में भी थी किन्तु वेदांत दर्शन में उनकी रूचि अत्यल्प थी। 1872–73 के लिये अपने निबंधों में उन्होंने यह बताया कि सांख्य दर्शन में परस्पर विरोधी विचारों को एक दूसरे के साथ मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। इसके आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि वास्तव में सांख्य दर्शन ने वैदिक परंपरा को नकारा है किन्तु सामाजिक बहिष्कार के डर से इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं कर पाये हैं। उनका यह भी मानना था कि न्याय दर्शन मूलतः एक वाक्चातुर्य है, जबकि सांख्य दर्शन अवसादग्रस्त निष्क्रियता की ओर ले जाता है, जो मनुष्य की नैतिक दृढ़ता (बल) को कमजोर करता है।

बंकिम ने इसी प्रकार पुराणों का भी अध्ययन किया। विशेष रूप से विष्णु–पुराण उन्हें बहुत पसंद था। विष्णुपुराण में वर्णित प्रहलाद का चरित्र उन्हें एक आदर्श भक्त का वास्तविक स्वरूप लगता था। बंकिम ने कई पौराणिक मान्यताओं को अपने समय की

आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्प्रस्तुत किया। उन्होंने निष्काम धर्म को ईश्वर एवं मनुष्य दोनों के लिये श्रेयस्कर माना। इतना ही नहीं उन्होंने इसे विचार में राजनीतिक रूप प्रदान किया और राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक प्राथमिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया। इन अर्थों में बंकिम को 'नव पुराणवादी' कहा जा सकता है।

बंकिमचन्द्र ने भारतीय पर्व एवं त्योहारों को भी ज्ञान की आधुनिक परंपराओं के आलोक में नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की। देवी लक्ष्मी में समर्पित 4 त्योहार मनाये जाते हैं। लक्ष्मी समृद्धि की देवी है, और उन्हें श्री नाम से भी संबोधित किया जाता है। यह 'श्री' शब्द धन या समृद्धि का पर्यायवाची है। प्रारंभिक काल में यह समृद्धि फसलों को अच्छी उपज से आती थी। देवी लक्ष्मी की पूजा वर्ष में चार बार की जाती है और ये चारों फसलों के बोने या काटने के समय है। इस प्रकार वास्तव में यह त्योहार कृषि से जुड़े हैं। इसी प्रकार उन्होंने मकर संक्रान्ति को सूर्य की संक्रान्ति के रूप में और कार्तिक को नक्षत्र कृत्तिका से सम्बन्धित बताया। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने हिन्दू त्योहारों में निम्न प्रकार से बाँटा है–

1. संक्रान्ति पर आधारित पर्व जैसे– रथ एवं मकरसंक्रान्ति।
2. खगोलीय घटनाओं पर आधारित पर्व– जैसे– दुर्गापूजा और कार्तिक पूजा।
3. मौसम घटनाओं पर पर्व– डोल यात्रा और पूर्णिमा के पर्व।
4. लक्ष्मी के सम्मान में किये जा रहे कृषि पर आधारित पर्व।
5. पौराणिक त्योहार जो कि नवीनतम हैं – जैसे काली पूजा, जुगद् धात्री।
6. वे त्योहार जो कुछ भौतिक भदपद्र कारकों को शांत करने के उद्‌देश्य से बनाये जाते हैं। जैसे मानस पर्व सर्प को शांत करने के लिए मनाया जाता है।

2.3 रवीन्द्रनाथ टैगोर

3.3.1 परिचय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर टैगोर (07 मई 1861 – 07 अगस्त् 1941) का जन्म कोलकाता में हुआ। आपके पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर और माता शारदा देवी थीं। आरम्भिक शिक्षा प्रतिष्ठित सेण्ट जेवियर स्कूल में प्राप्त करने के बाद बैरिस्टर बनने के लिये आप इंग्लैण्ड गये। जहाँ आपने 1878 में बिजटोन के पब्लिक स्कूल में नाम लिखवाया, तत्पश्चात् लंदन विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई की। 1880 में बिनाडिग्री प्राप्त किये ही आप भारत लौट आये। 1883 में आपका विवाह मृणालिनी देवी के साथ हुआ।

टैगोर का परिवार बंगाल का प्रतिष्ठित एवं उच्च शिक्षित कुलीन परिवार था। टैगोर के पिता ने अपने बच्चों को शास्त्रीय संगीत सिखाने के लिये कई ध्रुपद संगीतकारों को रखा। टैगोर के सबसे बड़े भाई द्विजेन्द्र नाथ दार्शनिक और गर्व थे। दूसरे भाई सत्येन्द्र नाथ भारतीय सिविल सेवा में नियुक्त प्रथम भारतीय व्यक्ति थे। एक भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ संगीतकार एवं नाटककार थे जबकि बहिन स्वर्णकुमारी उपन्यासकार थी।

टैगोर ने अपना अध्ययन स्कूली शिक्षा के दायरे में बँधकर नहीं कियायद्यपि उन्होंने बड़े भाई हेमेन्द्रनाथ के साथ तैराकी, जिम्नास्टिक, जूडो और कुश्ती का अभ्यास करते हुये ड्राइंग, शरीर विज्ञान, भूगोल और इतिहास, साहित्य, गणित, संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन किया11 वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार के बाद फरवरी 1873 में वे

कलकत्ता से बाहर निकले और अमृतसर होते हुये हिमालय की वादियों में डलहौजी तक पहुँचे, जहाँ उन्होंने जीवनी, इतिहास, खगोल विज्ञान, आधुनिक विज्ञान एवं संस्कृत का अध्ययन किया तथा कालिदास की शास्त्रीय कविताओं का विशेष ज्ञान प्राप्त किया

टैगोर ने चित्रकला को 'शेष बोयेशेर प्रिया (जीवन संध्या की प्रेयसी)' कहा है। वे चित्रकला को 'खेलार छले बेला काटानोर शोगिनी एई चित्रकला (खेल के बहाने वक्त गुजारने की संगिनी)' मानते हैं। टैगोर अपनी चित्रकला को भी अपनी काव्य कला का ही विस्तार मानते थे और कहते थे–'मेरे चित्र, रेखाओं के माध्यम से की गयी मेरी पद्य रचना हैं।'

2.3.2 कृतियाँ

टैगोर की समस्त् रचनाओं का संकलन बंगला में 'कालनुक्रोमिक रवीन्द्र रचनावली' नाम से प्रकाशित किया गया है। 2011 में हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने विश्वभारती विश्वविद्यालय के साथ मिलकर अंग्रेजी में उपलब्ध टैगोर की रचनाओं का वृहत संकलन 'द एसेटियल टैगोर' नाम से प्रकाशित किया है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रमुख रचनाएँ निम्नवत हैं–

क्रम	रचनाओं के नाम	साहित्यिक विधा
1.	गीतांजलि	काव्य संग्रह
2.	विसर्जन, चित्रांगदा, चिरकुमार सभा, राजा, डाकघर मुक्तधारा और लालकनेर (रक्त करबी), ताशेर देश	नाटक
3.	गोरा, जोगाजोग, चोखरे बाली	उपन्यास
4.	दहोम एँड दी वर्ल्ड, राजर्षि, यूरोप के पत्र, मानुशेर धर्म	यात्रावृत्तान्त, निबन्ध, व्यख्यान
5.	दूज का चांद, सोनार तारी, गीतिमय, बलक, बागवान	कविताएँ
6.	हंगरी स्टोंस, काबुलीवाला, माई लार्ड, दि बेबी, नयनजोड़ के बाबू, मिखारिन, घर वापिसी, मास्टर साहब और पोस्टमास्टर	कहानियाँ

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दो देशों के राष्ट्रगान 'जन गण मन' भारत तथा 'आमार सोनार बंगला' (बंग्लादेश) की रचना की है। रवीन्द्र नाथ टैगोर में बचपन से ही काव्य प्रतिभा विद्यमान थी, उन्होंने पहली कविता 8 वर्ष की आयु में लिखी, 1877 में केवल 16 वर्ष की आयु में ही उनकी प्रथम लघुकथा प्रकाशित हुई। टैगोर की रचना गीतांजलि पर उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार 1913 में प्राप्त हुआ।

2.3 योगदान

टैगोर ने 1901 में कोलकता के निकट वोलपुरग्राम में 'ब्रह्म विद्यालय' नाम से बालकों की शिक्षा हेतु एक विद्यालय की स्थापना की जो बाद में शान्तिनिकेतन तथा 1921 ई. में विश्वभारती विश्वविद्यालय के नाम से प्रख्यात हुआ। टैगोर ने विद्यालयी शिक्षा प्रणाली के विकल्प के रूप में मुक्त वातावरण में अध्यापक छात्र सम्बन्धों में पारस्परिक अन्तर्क्रिया एवं सहयोग के रूप में शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से इस विश्वविद्यालय की स्थापना की। टैगोर ने इस विश्वविद्यालय के उद्देश्य के बारे में लिखा है– ''शान्ति निकेतन को समस्त् जातिगत तथा भौगोलिक बन्धनों से अलग हटाना होगा, यही मेरे मन में है। समस्त् मानव जाति की विजय–ध्वजा यहीं गड़ेगी। पृथ्वी के

स्वादेशिक अभिमान के बन्धन को भिन्न–भिन्न करना ही मेरे जीवन का शेष कार्य रहेगा।''

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने संगीत की एक नई विधा के रूप में रवीन्द्र संगीत का आरम्भकियाइसके स्रोत के रूप में भारतीय शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत का प्रयोग किया जाता है। टैगोर के लिखे लगभग 2230 गीतों को इस संगीत में पिरोया गया है। रवीन्द्र संगीत का बंगाली संस्कृति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इन गीतों को बांग्लादेश और पश्चिम बंगाल (भारत) दोनों में बंगाल की सांस्कृतिक निधि माना गया है।

टैगोर के भतीजे अवनीन्द्रनाथ टैगोर चित्रकला की बंगाल शैली के जनक थे। उनसे प्रेरित होकर टैगोर 67 वर्ष की अवस्था के बाद चित्रकला की ओर मुड़े। टैगोर ने लगभग 20000 चित्र बनाये जिसमें जीव–जंतु, काल्पनिक पक्षी, राक्षसी एवं भूत–प्रेत की काल्पनिक आकृतियाँ, अंडाकार मानव शीर्ष आदि के चित्र हैं। टैगोर ने अपने चित्रों में परम्परावादी व यथार्थवादी चित्रकला को न अपनाकर आधुनिक विमूर्त शैली को अपनाया, जिसे समन्वयात्मक शैली कहा गयाअपने चित्रों में रंग भरने के लिये वे फूलों की पंखुड़ियों को घिसकर रंग बनाते थे व हल्दी का प्रयोग करते थे। टैगोर ने अपने चित्रों की प्रथम प्रदर्शनी 1930 में पेरिस में लगाई, फिर भारत में 1932 में कलकत्ता और 1933 में बम्बई में अपनी चित्रकला का प्रदर्शन किया।

2.3.4 विचार एवं अध्ययन विधि

प्रिय विद्यार्थियों! इस खण्ड में हम श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर के अवदान पर विचार करेंगे। टैगोर में भारतीय नवजागरण की समस्त् तरंगें अपने इन्द्रधनुषी रूप में दिखती हैं। यहाँ तक कि महर्षि अरविन्द ने भी उनकी रचनाओं में शाश्वत संगीत की अनुगूँज सुनी है। टैगोर के चिन्तन पर उपनिषदों का गहरा प्रभाव है, यही कारण है कि उनकी दार्शनिक रचनाओं 'साधना', 'परसनैलिटी', 'क्रिएटिव यूनिटी', 'द रिलीजन ऑफ मैन' आदि में ईश, छांदोग्य एवं श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों के उद्धरण मिलते हैं। गीतांजलि में भी यत्र–तत्र औपनिषदिक सर्वात्मवाद की अभिव्यक्ति मिलती है, :–

''सीमार माझे असीम तुमि/बजाओ आपन सुर/
आमार मध्ये तोमार प्रकाश/ताई एत मधुर।''

इस औपनिषदिक दर्शन को रवीन्द्र ने आत्मसात किया है। उन्होंने आत्म तत्त्व में परमात्मतत्त्व की अनुभूति को अपनी रचनाओं में कई जगह वर्णित किया है। ''तमेवैकम् जानथा आत्मानम् अमृतस्यैष सेतुः'' यानि तू उस एक आत्म को जान जो अमृत का सेतु है'' या ''एकं रूपं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम।।'' यानि ''वे धीर लोग ही जो आत्मस्थ उस सत्ता का साक्षात्कार करते हैं, जो एक से अनेक रूपों में आभासित् होती है, उन्हें ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अन्य किसी की नहीं।''

टैगोर ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि हम ब्रह्म हो सकते हैं। ज्यों ही हमारी आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेती है, उसकी हर क्रिया को परमोद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। ''यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनंदम् ब्रह्मणोंम विद्वान न विभेति कुतश्चन''– मन सहित वाणी ब्रह्म को भले ही न पाये लेकिन जो विद्वान ब्रह्म के इस आनन्द को जान जाता है, वह अभय हो जाता है। पूर्णता में कोई स्तर भेद नहीं होता। वह 'एकमेवा द्वितीयम्' है। वह हमारी उपासना एवं ध्यान के दैनिक

पाठों में सत्तात्मक भेद की सारी बाधाओं को विजित कर अद्वैत–परमतत्त्व, जो कि अन्नत है, उसको साक्षात्कार करने का लक्षण है।

टैगोर की रचनाओं में वैष्णव कवियों की भक्ति भावना के भी दिग्दर्शन होते हैं। उनकी कविताओं में वैष्णव भक्तों की ही भाँति परमात्मा के साथ विविध सम्बन्धों जैसे–प्रभु, स्वामी, प्रियतम, जननी, सखा आदि का अंकन हुआ है।

> ''मेरे दर्शन, श्रवण और/स्पर्श में तेरा आनंद भरा होगा/
> मेरे सब भ्रम आनन्दयज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित/
> होंगे और मेरी सब वासनाएँ प्रेमफल के रूप में परिपक्व होंगी।''

टैगोर ने बंगाल की लोक परम्परा से भी प्रेरणा पायी है और उसे अपने काव्य में स्थान दिया है, विशेषकर बाउलो के सम्बन्ध एवं प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकारते हुए कहा है–

''मैंने बाउल गीत की ध्वनियों को अपने अनेक गीतों में मिलाया है।'' विशेषकर 'क्रिएटिव यूनिटी' पुस्तक में बाउलों के अत्यन्त सुमधुर काव्य विम्ब है जो मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। उदाहरण के लिए बाउल भिखारी ने कैसे स्वयं को ईश्वर का वंशी माना है और किस प्रकार इस रूप में उसे ईश्वर की भावनात्मक निकटता का सुख प्राप्त है, का वर्णन देखिए–

> ''मेरा हृदय उस वंशी–सा है/जिसको उसने बजाया है/
> यदि कभी भी यह दूसरों के हाथ में पड़ जाय, वह उसे
> फेंक दें।/मेरे प्रिय की बंशी उसे बहुत प्यारी है।''

टैगोर पर बौद्ध दर्शन का भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। उनके बहुत से गीत एवं निबन्ध बौद्ध कथानकों पर आधारित है। टैगोर के अनुसार भारतीय चिन्तन कभी भी अति वैराग्यवाद पर बल नहीं देता, यहाँ तक कि बौद्ध–धर्म में भी वैराग्यवाद की शिक्षा नहीं दी गई है, बल्कि प्रेम के विस्तार की शिक्षा दी गयी है–

> ''वैराग्य–साधन में ही मेरी मुक्ति नहीं है
> अनुराग के हजारों बन्धन में ही मुझे मुक्ति का आनन्द अनुभव होता है।''

टैगोर ने स्पष्ट रूप से भारतीय सभ्यता के अनश्वर रूप को समझा है, और उसकी निरन्तर बने रहने वाली अजस्र धारा के मूल प्रवाह को समझने का प्रयत्न करते हुए, उसे बनाये रखने की बात की है। संक्रमण काल में भी भारत की इसी जिजीविषा पर उन्हें भरोसा है। टैगोर का दृढ़ विश्वास है कि ''परिस्थिति चाहे जितनी भी प्रतिकूल रही हो, उसका सामना करने की दृढ़ता और सामर्थ्य के दीप को हमारे देश ने सदा प्रज्वलित रखा है। इसीलिए आज भी उसका अस्तित्त्व दैदीप्यमान है। इसी भारतवर्ष पर हमें विश्वास बनाए रखना होगा।''

हिन्दू समाज और संस्कृति की अविच्छिन्नता को टैगोर इस प्रकार विश्लेषित करते हैं– ''विरोध और असमर्थन के बावजूद हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म में जो एकता है उसका आधार क्या है? इसका स्पष्ट रूप से उत्तर देना कठिन है। हिन्दू समाज की विशाल परिधि का केन्द्र बिन्दु खोजना कठिन है, परन्तु यह केन्द्र कहीं–न–कहीं तो अवश्य होगा। . . . . . हिन्दू समाज ने परस्पर विरोधी विचारों को समन्वित कर अपनी एकता के सूत्र को मजबूत किया है।

इसी विचार क्रम में टैगोर हिन्दू धर्म की उस विशेषता की ओर संकेत करते हैं, जो न केवल उसका मूल स्वभाव है, वरन विश्व मंगल के लिए भी श्रेयस्कर है। ''हिन्दू धर्म ने मनुष्य को घर और गाँव के सीमित दायरे को लांघकर सम्पूर्ण विश्व से एकता के सूत्र में जुड़ने का मार्ग दिखाया है। हर रोज के पंचयज्ञ के द्वारा हिन्दू धर्म ने समाज के प्रत्येक सदस्य को देवता, ऋषि, पितर, समस्त् मानव जाति और पशु–पक्षियों के साथ उसके मंगलमय सम्बन्ध का स्मरण कराया है। अगर वास्तव में इनका पालन किया जाए तो यह व्यक्ति और सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।''

टैगोर ने तात्कालिक समस्याओं (बंगाल की जल समस्या आदि) पर विचार करते हुए भारतीय परम्परा के जनहितकारी स्वरूप का विवेचना की है, ''मेरा ध्यान प्राचीनकाल में प्रचलित उन पारम्परिक व्यवस्थाओं पर जा रहा है, जिसका पालन करते हुए हमारा समाज अपनी सभी समस्याओं का समाधान और जरूरतों की पूर्ति बहुत ही आसानी और नियमित रूप से खुद कर लेता था। क्या हमारे देश में उन पारम्परिक व्यवस्थाओं का चलन खत्म हो गया।'' टैगोर का यह विश्लेषण है कि देश की सामाजिक व्यवस्था, इस देश के राजनैतिक इतिहास से अप्रभावित रही है, क्योंकि समाज कभी भी राजा पर पूर्णतः आश्रित नहीं रहा। ''हमारे यहाँ युद्ध, राज्य की रक्षा और न्याय आदि का दायित्व राजाओं का होता था। परन्तु विद्यादान से लेकर जलदान तक के सारे कार्य हमारे समाज में सहजता पूर्वक सम्पन्न होते रहे हैं। . . . . . राजाओं के बीच अनेक युद्ध हुए, पर हमारे बाग–बगीचों में . . . . मन्दिरों का निर्माण होता रहा, धर्मशालाएँ बनती रहीं, जलाशयों का निर्माण होता रहा, गुरुजी गणित के पाठ रटवाते रहे, संस्कृत पाठशालाओं में शास्त्रों का अध्यापन जारी रहा, चण्डी मण्डपों में रामायण का अखण्ड पाठ चलता रहा, गाँव और बस्तियों के आंगन से कीर्तन के ढोल–मंजीरों की झंकार गूँजती रही। समाज को कभी बाहरी सहायता माँगने की जरूरत नहीं पड़ी, न बाहरी उपद्रवों के कारण कभी उसकी अवनति हुई। यह समाज अपनी अन्तः शक्ति के सहारे अमर जीवन व्यतीत कर रहा है।''

समाज की इस अन्तः शक्ति का सटीक विश्लेषण भी टैगोर करते हैं और भारतीय समाज व्यवस्था में लोक कल्याण के अन्तर्निहित तत्त्व की अनावरूद्ध, निरन्तर प्रवाहमान धारा का वर्णन इस प्रकार करते हैं। ''शुद्ध पेयजल, देवालय, वैद्य और पण्डित, यात्रा, संगीत, कथा आदि के संरक्षण हेतु धन राजकीय कोष में से नहीं बल्कि लोगों की निजी सम्पत्ति के समाजोन्मुख प्रवाह में से धन की आपूर्ति की जाती थी। यहाँ स्वेच्छा और समाज की इच्छा का समन्वय होता था। यह आदान–प्रदान किसी राजकीय आदेश के तहत नहीं, बल्कि मनुष्य की स्वयं की इच्छा से प्रेरित रहता था। इसे धर्म माना जाता।''

इसीलिए टैगोर ने अपनी कविताओं में भी मानव–कल्याण के लिए एकान्त साधना की बात नहीं की है, बल्कि समाज के साथ सम्पृक्त होकर सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए कार्यरत होने का सन्देश दिया है–

> ''पुजारी, भजन, पूजन, साधना, आराधना इन सबको/किनारे
> रख दें।/ द्वार बन्दर करके देवालय के कोने में क्यों बैठा है?/
> अपने मन के अन्धकार में छिपाबैठा,तू कौन–सी पूजा में/
> मग्न है?/ आँखे खोलकर जरा देख तो सहीतेरा देवता
> देवालय में/ नहीं है।/जहाँ कठोरजमीन को नम करके
> किसान खेती कर रहा है/ जहाँमजदूर पत्थरतोड़कर
> रास्ता तैयार कर रहे हैं, / तेरा देवता वहीं चलागया है।''

टैगोर को इसी सामाजिक व्यवस्था पर, इसी लोकहतकारी भावना पर पूरा विश्वास है कि भारतवासी हर संकटकाल में इसी के बलबूते अपराजेय रहे हैं और संक्रमण के इस दौर में भी वे अगर अपनी मूलवृत्ति को पहचान कर उसे पुनः अपना लें तो भारतीय समाज इस विदेशी सभ्यता के द्वारा उत्पन्न संकट की घड़ी को आसानी से पार कर सकता है। ''हममें से प्रत्येक व्यक्ति और हमारे जीवन के प्रत्येक दिन को हिन्दू धर्म और देवताओं की विहारभूमि, प्राचीन ऋषियों की तपःस्थली, हमारे पितरों की मातृभूमि रहे हमारे महान भारत से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर भक्ति के बन्धन में बाँधा नहीं जा सकता क्या? हमारा अपने देश के साथ जो श्रद्धापूर्ण सम्बन्ध है, वह हममें से प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक व्यक्तिगत उद्देश्य नहीं हो सकता?''

टैगोर को भारतीय अस्मिता की नित्यता पर अखण्ड विश्वास है– ''किसी भी परिस्थिति को एक सुंदर स्वरूप में गढ़कर साकार रूप देना भारत का स्वाभाविक धर्म है। परिस्थिति चाहे कितनी भी प्रतिकूल रही हो, उसका सामना करने की दृढ़ता और सामर्थ्य दीप को हमारे देश ने सदा प्रज्वलित रखा है। इसीलिए आज भी उसका अस्तित्त्व देदीप्यमान है। इसी भारतवर्ष पर हमें विश्वास बनाए रखना होगा।''

बोध प्रश्न

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार किस वर्ष मिला–

   (क) 1911 (ख) 1912 (ग) 1913 (घ) 1914

2. टैगोर के गीतों पर किस लोक परम्परा का प्रभाव है–

   (क) बाउल गीत (ख) भातियाली गीत

   (ग) भवईया गीत (घ) गंभीरा गीत

3. टैगोर ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था की किस विशेषता को इसकी शक्ति का स्रोत माना है–

   (क) व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि

   (ख) राजकीय सम्पत्ति पर पूर्ण आश्रय

   (ग) व्यक्तिगत सम्पत्ति का लोकहित में प्रयोग

   (घ) इनमें से कोई नहीं

2.4 श्रीअरविन्द

2.4.1 परिचय

विविधता में एकता का अनुभव करने के लिए, विविधता में एकता को स्थापित करना... यही भारत का मूल रूप से रेखांकित धर्म है... इस गुण के कारण, भारत में, दूसरों लोगों को देखकर हम भयभीत नहीं होते, क्योंकि हम किसी भी समाज या लोगों को अपना दुश्मन नहीं मानते हैं। प्रत्येक नया संघर्ष हमें स्वयं को विकसित करने में सक्षम बनाएगा। हिंदू, बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई एक–दूसरे के साथ नहीं लड़ेंगे और भारत में अंतिम सांस लेंगे... यहाँ वे एक सम्मिलन बिन्दु खोजेंगे। वह सम्मिलन बिन्दु गैर–हिन्दू न होकर विशिष्ट रूप में हिन्दू होगा।

रविन्द्र नाथ टैगोर

श्रीअरविन्द (15 अगस्त, 1872–5 दिसम्बर 1950) का जन्म कोलकाता में हुआ। इनके पिता डॉ. कृष्णधन घोष तथा माता स्वर्णलता थीं। डॉ. कृष्णधन घोष विलायती संस्कारों में रचे–बसे थे और अपनी सन्तानों को भारतीयता से दूर रखने के प्रयत्न के अन्तर्गत ही उन्होंने अपने पुत्रों को दार्जिलिंग की विशेष पाठशाला (जहाँ केवल अंग्रेज बच्चे पढ़ते थे), में दाखिल करायाँ 7 वर्ष की उम्र में ही अरविन्द को लंदन अध्ययन के लिये भेज दिया गयाअरविन्द ने 1879 से 1892 तक का समय विदेश में बिताया, जिसमें उन्होंने 5 वर्ष मैनचेस्टर, 7 वर्ष लंदन तथा दो वर्ष केंब्रिज के किंग्स कॉलेज एवं लंदन में रहकर अध्ययन कियाअरविन्द ने यहाँ लैटिन, ग्रीक, जर्मन, स्पेनिश इटैलियन, अंग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कियातीव्र मेधा के अरविन्द ने अध्ययन काल में साहित्य, इतिहास आदि के कई पुरस्कार जीते। अरविन्द ने ग्रीक और लैटिन भाषाओं का गंभीर अध्ययन किया और इन विषयों में कई पुरस्कार प्राप्त किये। अंग्रेजी ग्रीक और लैटिन भाषाओं में उन्होंने तकरीबन 16–18 वर्ष की उम्र से ही काव्य सृजन आरम्भ कर दिया था। आपने आई. सी0एस0 की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण कीं किन्तु जानबूझकर घुड़सवारी की परीक्षा छोड़ दी।

1893 में भारत आगमन के पश्चात् श्रीअरविन्द ने बड़ौदा रियासत् में कार्य प्रारम्भ किया, जहाँ वे विभिन्न शासकीय पदों पर कार्य करने के पश्चात् क्रमशः फ्रेंच और तत्पश्चात् अंग्रेजी के प्रोफेसर बने। 1901 में अरविन्द का विवाह मृणालिनी देवी के साथ हुआ। 1966 में उन्होंने बड़ौदा की नौकरी छोड़ दी और कलकत्ता के नेशनल कॉलेज में प्रिंसिपल का पद सम्भाला। बंग–भंग आंदोलन के प्रतिरोध में तथा देश की आजादी के पक्ष में उन्होंने 'वन्देमातरम्' पत्र में लगातार आलेख लिखे, जिसके कारण उन्हें 1907 में गिरफ्तार किया गयाकिंतु अभियोग प्रमाणित न हुआ। क्रान्तिकारियों का समर्थन करने के कारण 1908 में उन्हें पुनः गिरफ्तार किया गया और उन्होंने एक वर्ष अलीपुर जेल में बिताये किन्तु पुनः निर्दोष सिद्ध होने पर रिहा किये गये। रिहाई के बाद आपने अंग्रेजी में 'कर्मयोगिन' तथा बंगाली में 'धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले। गिरफ्तारी से बचने हेतु 1910 में श्रीअरविन्द पांडिचेरी चले गये। 1914 से उन्होंने अंग्रेजी तथा फ्रेंच में 'आर्य' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया

श्रीअरविन्द ने राजनीतिक जीवन को त्याग दिया और पूरी तरह से योग–साधना में जुटगये। इस सम्बन्ध में उनके जीवन में घटी कई चमत्कारिक घटनाओं का वर्णन उनकी जीवनी में है। विद्यार्थियों को चाहिए कि लोकोत्तर जीवन के प्रमाण और हिन्दू धर्म की मान्यताओं के प्रमाण के लिये उनकी जीवनी (श्री अरविदायन, लेखक : पण्डितराव रावल, अनुवादक धर्माभट्ट, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार) का अध्ययन करें। 1926 में पांडिचेरी में श्रीअरविन्द ने एक आश्रम की स्थापना की जहाँ 1943 में अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र की स्थापना की गई।

2.4.2 लेखनकर्म

श्रीअरविन्द की 125वीं जयन्ती के अवसर पर श्री अरबिन्दो आश्रम ने श्रीअरविन्द की सम्पूर्ण कृतियों को 37 भागों में प्रकाशित किया है। श्रीअरविन्द की प्रमुख कृतियों में 'द मदर', 'लेटर्स ऑन योगा', 'सावित्री', 'योग समन्वय', 'दिव्य जीवन', 'फ्यूचर, पोएट्री', 'योगिक साधन', 'वन्दे मातरम', 'कारा काहिनी (जेलकथा)–, 'भारतीय संस्कृति के आधार', 'वेद रहस्य', 'केन एवं अन्यान्य उपनिषद', 'ईशोपनिषद', 'गीता प्रबन्ध' आदि सम्मिलित हैं।

2.3.4 योगदान

श्रीअरविन्द ने भारतीय धर्मग्रन्थों, वेद, भगवद्गीता और महाभारत आदि के कथानक का अध्ययन किया और उसके मूल प्रतीकों की व्याख्या की, इनपर किये गये पश्चिमी विचारकों के आक्षेपों का उत्तर दिया और इनके महत्त्व की पुनर्स्थापना की। अरविन्द ने एक महाकाव्य सावित्री का भी प्रणयन किया जिसमें उन्होंने सत्यवान् एवं सावित्री की लोक प्रचलित कथा के मूल आधार को लेते हुए उसे मानवीय एवं दैवीय चेतना के मध्य संवाद और लोकोत्तर जीवन के रहस्यों को अनावृत्त करने का माध्यम बनाया और इस प्रकार मानवीय चेतना के अन्तिम उत्कर्ष बिन्दु तक पहुँचने का मार्ग दिखाया।

3.4.4 विचार एवं अध्ययन विधि

श्रीअरविन्द के विचारों को समझने के लिए यहाँ हमने उनके निम्न चार ग्रन्थों पर विचार को आधार बनाया है, जिसे हम क्रमशः समझने का प्रयत्न करेंगे।

क) वेद–रहस्य

ख) श्रीमद्भगवद्गीता

ग) सावित्री

घ) महाभारत

क) **वेद–रहस्य** : सनातन भारतीय संस्कृति का उत्स वेदों में निहित है। वेदों की रचना करने वाले ऋषि मन्त्रद्रष्टा रहे हैं और उन्होंने कवियों की भाँति कल्पना के माध्यम से एक नयी सृष्टि नहीं रची अपितु वे एक महान् आध्यात्मिक और गुह्य ज्ञान से युक्त थे, जिस तक साधारण मानव प्राणियों की गति नहीं होती। उन्होंने 'प्रकृति' के रहस्यों तथा शक्तियों को खोज निकाला था जो भौतिक जगत के रहस्य और शक्तियाँ नहीं थीं परन्तु जिनके द्वारा भौतिक जगत तथा भौतिक वस्तुओं पर गुप्त प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता था। इन ऋषियों के बारे में वेद का ही कथन है 'कवयः सत्यश्रुतः'(ऋ0 5. 57. 8, 6. 49. 6) अर्थात् द्रष्टा जो दिव्य 'सत्य' को श्रवण करने वाले थे। इसीलिए वेद को श्री श्रुति नाम से पुकारा गया जिसका अर्थ साक्षात्कृत (अन्तः श्रुत) धर्मापुस्तक हो गया

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के आध्यात्मिक महत्त्व को नहीं स्वीकारा बल्कि उनका मानना है कि वेदों में भारत का प्रारम्भिक इतिहास, समाज, संस्थाएँ, रीति–रिवाज तथा उस समय समय की सभ्यता का चित्र अंक्ति किया गया है। उनके अनुसार वैदिक धर्म केवल प्रकृति के देवताओं की पूजा है, जिसमें सौर मण्डल की घटनाओं की गाथा है। वेद एक प्रकार की याज्ञिक प्रार्थना विधि हैं, जो आदि मनुष्य के द्वारा प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने के निमित्त रची गयी हैं।

श्रीअरविन्द का यह मत है कि प्राचीन वेद की ऋचाओं में एक गुह्य अर्थ और एक रहस्यमय ज्ञान निहित है, यह भारत की सनातन मान्यता निराधार या गल्प नहीं हो सकती। उनका मानना है कि पवित्र वेद – मन्त्रों के अंदर एक गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञान निहित था, जिसे मनुष्य उच्चतर आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचने के बाद ही जान सकता है। श्रीअरविन्द ने यास्क के मत को स्वीकारा है, जिसमें वह स्वीकारता है कि ज्ञान त्रिविध है, अतएव सबवेदमन्त्रों के अर्थ भी त्रिविध हैं। एक अधियज्ञ या कर्मकाण्डीय ज्ञान, दूसरा अधिदैवत अर्थात् देवता सम्बन्धी ज्ञान और अन्तिम आध्यात्मिक ज्ञान। यह अंतिम अर्थ ही वेद का सच्चा अर्थ है और जब यह प्राप्त हो जाता है तो शेष अर्थ मूल्यहीन हो जाते हैं।

वेदों के इसी आध्यात्मिक रहस्य को अनावृत्त करने के प्रयत्न श्रीअरविन्द अपनी पुस्तक 'वेद रहस्य' में करते हैं। विद्यार्थियों के लिये यह जानकारी रोचक लगेगी कि श्रीअरविन्द ने वेद की यह व्याख्या संस्कृत के भाषाई अध्ययन के द्वारा नहीं की बल्कि उन्हें साधना के द्वारा वह दृष्टि मिली जिसके द्वारा वे वैदिक प्रतीकों को स्पष्ट करने में सक्षम हुएँ अलीपुर जेल में बन्द श्री अरविन्द की साधना के अनुभव इस प्रकार हैं– ''केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वहाँ भगवान नेदिन–प्रतिदिन मुझे चमत्कार दिखाए और मुझे हिन्दू धर्म के वास्तविक सत्य का दर्शन करायाँ पहले मेरे अंदर अनेक प्रकार के सन्देह थे. . . लेकिन अब प्रतिदिन मेरे, मन प्राण और शरीर में हिन्दू धर्म के सत्य का साक्षात्कार होने लगा और मेरे सामने ऐसे तथ्यों का उद्‌घाटन हुआ है जिनके बारे में भौतिक विज्ञान कोई स्पष्टता नहीं दे सकता।''

श्रीअरविन्द ने इस प्रकार वेदों के लौकिक अर्थ के सापेक्ष उसके गुह्य अर्थ को और उसके प्रतीकों को स्पष्ट करने के यत्न किये हैं। इस क्रम में वे 'गौ' को प्रकाश का, 'अश्व' को शक्ति का, आध्यात्मिक सामर्थ्य का, तपस्या के बल का प्रतीक स्वीकारते हैं। इसी क्रम में वे वैदिक देवताओं के प्रतीकात्मक अर्थ को भी स्पष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ 'अग्नि' की ज्वाला संकल्प की शक्ति, परमेश्वर की ज्ञान प्रेरित शक्ति का प्रतीक है। 'इन्द्र' शुद्ध सत् की शक्ति है, जो भागवत मन के रूप में स्वतः अभिव्यक्त है। 'सूर्य' परम सत्य सत्ता के सत्य, ज्ञान के सत्य, क्रिया और प्रक्रिया, गति और व्यापार के सत्य का स्वामी है। 'सोम' आनन्द का प्रतिनिधिभूत देवता है। 'वरुण' वृहत् पवित्रता और स्वच्छ विशालता है, जो समस्त् पाप और कुटिल के मिथ्यात्व का नाशकर्त्ता है। 'मित्र' प्रेम और समग्रबोध की एक प्रकाशमय शक्ति है जो हमारे विचारों, कर्मों और आवेगों को आगे ले जाती और सामंजस्य स्थापित करता है। 'अर्यमा' अभीप्सा तथा प्रयत्न की अमर शक्ति है, जबकि 'भग' वस्तुओं की समुचित् उपयोग की एक सहज सुखमय अवस्था है, जोपाप, भ्रांति और पीड़ा के दुःस्वप्न का निवारण करता है। वरुण, मित्र अर्यमा और भग ये चारों सूर्य के सत्य की शक्तियाँ हैं।

'सत्य चेतना' की पाँच शक्तियाँ हैं। 'मही' अथवा 'भारती'वह विशाल वाणी है, जो सारी वस्तुओं को दिव्य स्रोत से हमारे लिए ले आती है। 'इळा' सत्य की दृढ़ आदिम वाणी है जो हमें इसका सक्रिय दर्शन कराती है। 'सरस्वती' इस सत्य की बहती हुई धारा और इसकी अन्तःप्रेरणा की वाणी है। 'सरमा' अन्तर्ज्ञान की देवी है, जो अवचेतन में उतरती है और वहाँ की छुपी हुई ज्योतियों को ढूँढती है। अंतिम 'दक्षिणा' है, जिसका व्यापार है ठीक–ठीक विवेचना करना, क्रिया और हवि का विनियोग करना तथा यज्ञ में प्रत्येक देवता को उसका भाग वितीर्ण करना।

इसी प्रकार वे त्रिदेवों की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि ये परम देव की तीन वृहत्तम शक्तियाँ हैं, जिनमें प्रथम 'ब्रहमणस्पति', 'स्रष्टा' है जो समस्त् सत्ता को संचेतन ज्ञान, जीवन की गति को प्रकट करता है। 'रुद्र' वह प्रचण्ड और दयालु ऊर्जस्वी देव है, जो परमेश्वर की शस्त्र सज्जित मन्युयुक्त तथा कल्याणकारी शक्ति है जो सृष्टि की ऊर्ध्वमुख गति के बाधक तत्त्वों का विनाश करती है। 'विष्णु' हमारी सीमित मर्त्यसत्ता के अंदर ही इन्द्र की क्रिया होने के लिये विस्तृत स्थान बनाता है, जिसके द्वारा या जिसकी सहायता से ही हम उस उच्चतम पद तक आरोहण कर सकते हैं, जहाँ वह 'मित्र प्रिय परमसुखदाता' देवता हमारी प्रतीक्षा में रत हैं।

ख) श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीअरविन्द ने गीता के महत्त्व पर विचार करते हुए बताया कि गीता के उपदेश सार्वदेशिक सार्वकालिक महत्त्व के हैं;ऐसा इसलिए क्योंकि गीता की भाषा में विचारों का समन्वय एवं सन्तुलन इस प्रकार है कि किसी भी एक सम्प्रदाय के विचार कोउसमें इस प्रकार का महत्त्व नहीं दिया गया है कि दूसरे सम्प्रदायों के विचार महत्त्वहीन हो जायें।

गीता में भारतीय अध्यात्म के सभी महत्त्वपूर्ण विचारों एवं प्रदेयों को समेक्ति कर दिया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए वे बताते हैं कि सांख्य दर्शन एवं योग दर्शन को गीता में एक ही वैदिक सत्य के दो अभिसारी भाग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह वैदिक सत्य की दो धाराएँ हैं, जिनमें से एक वास्तविकता को दार्शनिक, बौद्धिक और विश्लेषणीयता के द्वारा परखती है, जबकि दूसरी अन्तर्प्रज्ञा, भक्ति, प्रायोगिक, नैतिक, संश्लेषणात्मक एवं अनुभवजन्य दृष्टि सम्पन्न है, का सम्मिलन प्रस्तुत करती है। गीता में न तो एकेश्वरवाद विशुद्ध है और न मायावाद, न ही इसमें पूर्णता में वैष्णव भक्ति है, यद्यपि कि यह कृष्ण जो कि पुराणों में वर्णित ब्रह्माण्ड के संरक्षक देवता विष्णु के अवतार हैं, के द्वारा प्रस्तुत है। गीता द्वन्द्वात्मकता का एक अस्त्र नहीं हो सकती क्योंकि यह आध्यात्मिक सत्य एवं अनुभवों के लिए समस्त् विश्व के लिये द्वार खोलती है जहाँ इस सर्वोच्च विद्या की समस्त् शाखायें एकरूप हैं। गीता शक्ति, प्रेम, ज्ञान एवं कर्म के मध्य ऐसा सन्तुलन स्थापित करती है जिसके द्वारा मनुष्य सीधे शाश्वतता के करीब जाकर उससे जुड़ सकता है।

गीता आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं को रोकती है और आध्यात्मिक अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त् करती है जिसके द्वारा हम इस जीवन और जगत को दैवीय लीला के रूप में देख पाते हैं। इस प्रकार यह हमारे जीवन में दैवीय ज्ञान, दैवीय कर्म और दैवीय प्रेम के प्रति भक्ति को जगाती है। यह हठ योग और राजयोग के रहस्यों को भी प्रकट करती है, जिससे तन और मन की प्रज्ञा दैवीय जीवन को अपनाने के लिये पूर्णतः प्रस्तुत हो सके। इस प्रकार यह वैदिक ऋषि में प्राप्त मनुष्य की दैवीय पूर्णता की अवधारणा को अपनाती है किन्तु मध्यवर्ती काल के अनुभवों द्वारा इसे इतना पुख्ता बनाकर कि वह मनुष्य के भविष्य के विचार, अनुभव और प्रेरणा का संश्लिष्ट उपादान बन सके। गीता के पास हम सहायता एवं प्रकाश के लिये जरूर जाते हैं लेकिन हमारा लक्ष्य इसके वास्तविक, प्राणवान सन्देश को पहचानना और अपनाना होना चाहिए, जिससे कि मानवता अपनी सम्पूर्णता एवं उच्चतम आध्यात्मिक कल्याण का प्रदेय प्राप्त कर सके।

ग) सावित्री

सावित्री महर्षि अरविन्द की आत्मिक साधना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। सावित्री और सत्यवान के आख्यान के माध्यम से श्रीअरविन्द ने इस महाकाव्य में आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्धों, प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धों, परा और अपरा, विद्या, योग– साधना एवं कुंडलिनी जागरण आदि विविध चिन्तन एवं अनुभूति के आयामों को रूपायित किया है। इस काव्य के सारे पात्र प्रतीक हैं और उनके माध्यम से मानव जीवन के शाश्वत प्रश्नों का समाधान प्रस्ततुत करने के साथ ही शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी है। स्वयं श्रीअरविन्द ने सावित्री की भूमिका में इसे स्पष्ट किया है :–

''महाभारत में सावित्री–सत्यवान की कथा, दांपत्य प्रेम की मृत्यु पर विजय के रूप में वर्णित की गई है। लेकिन यह उपाख्यान भी अन्य अनेक मानवीय कथाओं की तरह वैदिक युग–चक्र का एक प्रतीकात्मक रूपक है। सत्यवान एक ऐसी मानवी आत्मा का प्रतीक है जो अस्तित्त्व के दिव्य सत्य को अपने में संजोए हुए है, लेकिन पृथ्वी लोक में आकर अज्ञान और मृत्यु की पकड़ में आ गई है। सावित्री 'दिव्य' शब्द 'सूर्य' की आत्मजा, 'सर्वोच्च सत्य की देवी' है, जो पृथ्वी पर आई है और उसे बचाने के लिए जन्मी है। 'अश्वपति', अश्वों का स्वामी, सावित्री का मानवी पिता और तपस्या का स्वामी है;आध्यात्मिक धीरता की वह संचित् शक्ति है जो हमें मृत्युलोक से अमरता के लोक तक ले जाने की क्षमता रखती है। द्युमत्सेन, दीप्तिमान पितरों का मालिक और सत्यवान का पिता है। वह 'दिव्यमन' है, जो धरती पर आकर अन्धा हो गया है और जिसने अपना ऐश्वर्यपूर्ण स्वर्गीय राज्य खो दिया है तो भी महाभारत में यह कथा केवल प्रतीक कथा नहीं है, क्योंकि इसमें चरित्र गुणों के मानवीकरण नहीं हुए हैं, वरन वे उन जीवंत एवं सचेतना 'शक्तियों' के अवतरण या मूर्त्त रूप हैं, जिनके ठोस सम्पर्क में हम आ सकते हैं और वे शक्तियाँ मानव–देह इसलिए धारण करती हैं कि वे मनुष्य की मदद कर सकें और उसे वह रास्ता दिखा सकें जो पार्थिव स्तर से दिव्य चेतना और अमर जीवन की ओर ले जाता है।''

श्रीअरविन्द के इस महाकाव्य में उपनिषदों का चिन्तन नये रूप में स्वर पाता है। उपनिषदों में 'सर्वात्म' की पहचानने का प्रयास है, और उसे 'व्यक्तिगत आत्मा' से एकात्म करने का प्रयास है। श्रीअरविन्द का भी यही मानना है कि मनुष्य और प्रकृति में जो रहस्यात्मक सम्बन्ध है। उस खोये हुए रहस्य को जब हमारी आत्मा जानती है और उसे आद्यंत समझती है तभी आत्मा और प्रकृति एक होते हैं :–

"......................unite

TheAlphaAnd the Omega in one sound;

Then shall the spiritAnd NatureAt be one," Savitri : Book III : 57

जिस प्रकार कठोपनिषद में नचिकेता और और यम का दीर्घ संवाद है, उसी प्रकार सावित्री में भी यम और सावित्री संवाद चित्रित है। कठोपनिषद में नचिकेता यम को अपने तर्कों से पराजित करने में सफल रहता है और सावित्री भी। दोनों ही जगह यह स्थापित करने का सफल प्रयत्न हुआ है कि आत्मिक दृढ़ता और आत्मज्ञान से मृत्यु को जीता या टाला जा सकता है।

उपनिषदों में सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में विचार किया गया है और पूर्ण ब्रह्म को ही इसका हेतु माना गया है। वही अपनी माया शक्ति से इस जगत को उत्पन्न करता है, इसीलिए यह जगत मायाजन्य है और माया के इस आवरण को भेदकर ही जीव उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। श्रीअरविन्द ने इस अनुभूति को इस प्रकार व्यघा किया है :–

"TheAbsolute the Perfect theAlone,
Has entered with his silence into space :
He has fashioned these countless persons of one self;
He has builtA million figures of his power;
He lives inAll, who lived in his vastAlone;
Space is himselfAnd Time is only He." Savitri : Book I : 67

उसी अन्नत कों महर्षि अरविन्द ने सावित्री के रूप में रूपायित किया है। सावित्री जब अपने आत्म को जान लेती है तो वह परमात्मा में परिवर्तित हो जाती है। वह समय से परे हो जाती है, अन्नत से एकाकार होकर अन्नत हो जाती है। वह अकेली जीव थी, फिर भी सब थी, वह स्वयं की नहीं थी बल्कि वह सम्पूर्ण विश्व थी। उसका प्राकृतिक घर अन्नतता थी। वह कहीं निवास नहीं करती थी और उसकी आत्मा हर जगह उपस्थित थी।

"She ¡sA single being, yetAll things
She ¡s no more herself butAll the world.
Infinity ¡s her own natural home.
Nowhere she dwelt her spirit ¡s everywhere."Savitri : Book III : 557

प्रकृति में जो घटित हो रहा था, वह सब उसके अन्दर की घटनाएँ थी, सबकी धड़कन उसकी धड़कन थी। सभी जीव उसी में महसूस करते, विचार करते, विचरण करते थे–

"All nature's happenings were events in her.
All heart- beats of the cosmos were her own,
All beings thoughtAnd feltAnd moved in her." Savitri : Book VIII : 556

इस प्रकार सावित्री मनुष्य की अन्तर्यात्रा है। मनुष्य के ईश्वर होने की, आत्म के परमात्म होने की, इहलोक के संलयन की, पूर्णत्व की प्राप्ति कहानी है। इसके माध्यम से श्रीअरविन्द ने सनातन परम्परा, विश्वास और भारतीय दर्शन की मान्यताओं को मूर्त रूप प्रदान किया है।

घ) महाभारत

श्रीअरविन्द ने महाभारत पर विस्तृत विचार किया है। उन्होंने न केवल उसकी प्रामाणिकता (मूल महाभारत में श्लोकों की संख्या) पर विचार करते हुए विभिन्न यूरोपीय विद्वानों के आक्षेपों का निराकरण किया है अपितु उसके कथानक, शिल्प, भू–राजनीतिक परिपार्श्व आदि का सम्यक् विश्लेषण करते हुए उसके महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

''आर्य सभ्यता के एक स्वर्णिम युग का विस्तृत संसार अपने सभी मूल सम्वेगों और अनुरक्तियों के साथ रामायण में प्रतिबिम्बित हुआ है। उससे भी महान् आर्य सभ्यता की झलक महाभारत में मिलती है, यह इतिहास है उस वीरतापूर्ण युग का जिसमें विशाल हृदय और गम्भीर मनसयुक्त राष्ट्र के प्रतीक, विचार, लक्ष्य और सम्वेग गर्भित हैं।''

श्रीअरविन्द ने अपने विचार के क्रम में यह भी बताया कि विदेशी विचार और आदर्श को अपनाने की तुलना में महाभारत में व्यक्तचिन्तन के विभिन्न आयामों को समझना और आत्मसात करना सरल और श्रेयस्कर होगा– ''यह (महाभारत) तो हमारे लिए वन्दनीय है, हमारे अपने साहित्य की महान कृति हैं जिसकी रचना हमारे मुनियों में महानतम मुनि ने की है, इस तरह यह वह कवि हैं जो हमारी अपनी भाषा बोलता है, हमारे अपने विचारों पर मन्न करता है और जिसका मनस, स्वभाव और जिसकी चेतना का वही राष्ट्रीय ढांचा है। इसलिए उसके आदर्श हमें न केवल अपनी भूलों को सुधारने में मदद करेंगे, बल्कि उन खतरों से भी बचायेंगे जो आकर्षक तो हैं लेकिन उस घृणित आसुरिक सभ्यता की उपज हैं

जिसने हमें आक्रान्त कर रखा है;विशेषकर उसकी दूषित पशुवृत्ति और अपने को इच्छाओं के वश में छोड़ देने की सनक भी प्रवृत्ति से।''

महाभारत के महत्त्व पर विचार करते हुए श्रीअरविन्द भारतीय संस्कृति की विकास धारा का भी तर्कसंगत विश्लेषण करते हैं और सनातन भारतीय परम्परा की अजस्र धारा में आये हुए विचलन और उसके भयानक परिणाम को भी समझाते हैं, जिससे कि एक महान राष्ट्र की जातीय चेतना अकर्मण्यता और निष्क्रियता के भँवर में फँसकर पतनोन्मुख हो गयी। परिणामस्वरूप अन्ततः भारतवर्ष सदियों तक विदेशी ताकतों का गुलाम बनकर रहा।

''मैंने व्यास के नैतिकता विषयक दृष्टिकोण पर विचार किया क्योंकि वर्तमान समय में यह सबसे अधिक महत्त्व की चीज है। इससे पूर्व कि भगवद्गीता और उसके महान् महाकाव्य व्यास के महाभारत की टिप्पणी को देश के मन पर गहरा प्रभाव डालने का समय मिलता, बुद्ध धर्म का अपमत हम पर हावी हो चुका था। बौद्ध मत ने निष्क्रियता और आत्म त्याग के निष्क्रिय गुणों पर अतिशयोक्तिपूर्ण जोर देकर निष्क्रिय प्रबुद्धों के एक भिन्न वर्ग की मूर्खतापूर्ण सृष्टि कर दी, ... इसके प्रभाव में देश का आधा भाग आध्यात्मिक निष्क्रियता और निषेधात्मकता की दिशा में बढ़ गया और दूसरा भाग एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के तहत एक भड़कीली लेकिन शक्तिह्रासक भौतिकता में गहरे डूब गयाहम शंकराचार्य के ऋणी हैं जिन्होंने बौद्ध धर्म को देश–बदर कर दियाँ लेकिन इस बहिष्कृत धर्म के गहरे प्रभाव को हिन्दू धर्म कभी दूर नहीं कर सका;इसीलिए यद्यपि वह किसी तरह अपना अस्तित्त्व बचा गया लेकिन वह अपनी पुरानी ओजस्वी शक्ति को फिर नहीं पा सका।''

श्रीअरविन्द न केवल अतीत की परिस्थितियों पर विचार करते हुए भारतीय सभ्यता के उच्च आदर्श, संस्कृति, सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था के पतन के कारणों की पड़ताल करते हैं बल्कि वर्तमान के खतरों से भी आगाह करते हैं। प्रिय विद्यार्थियों! आपने ऊपर के विश्लेषण में देखा कि किस प्रकार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के विस्तृत प्रचार–प्रसार का विपरीत प्रभाव हिन्दू संस्कृति पर पड़ा। श्रीअरविन्द इसी प्रकार वर्तमान में तीव्रता से प्रसरित हो रही यूरोपीय संस्कृति के दुष्प्रभावों का विश्लेषण करते हैं। श्रीअरविन्द का मानना है कि यदि हिन्दू धर्म को अपना अस्तित्त्व बचाये रखना है तो उसे महाभारत और भगवद्गीता में प्रस्तुत जीवन प्रणाली को स्वीकारना होगा।

''यदि हिन्दू धर्म को बने रहना है और हम विज्ञान के बहाने आने वाली नास्तिकता और भग्न नैतिक आदर्शों के उस जलावर्त में नहीं डूबना चाहते जिसने यूरोप को डुबा रखा है, तब इसे उस धर्म के रूप में बचाना होगा जिसकी नींव वेदान्त, सांख्य और योग ने सम्मिलित रूप से डाली थी, जिसकी घोषणा श्रीकृष्ण ने की थी और व्यास ने जिसे रूपाकार दिया था। पाश्चात्य धार्मिक रीति की नकल या विकृति, इसाईयत का भारतीयकरण, इंगलिश ईश्वरवाद की पीली पड़ी क्षयकरी छाया का घालमेल–किसी में हमें बचाने की पर्याप्त क्षमता नहीं है।

लेकिन व्यास में है न केवल राजनैतिक, धार्मिक विचार तथा गम्भीर दृष्टि वाले नैतिक निर्णयन, वे केवल मानव आचरण के वृहद् पक्षों एवं उसके वैश्विक मुद्दों को नहीं उठाते, बल्कि उनकी तीक्ष्ण दृष्टि विस्तृत रूप से शासन और समाज, रीति–रिवाज, रूपरेखाएँ एवं उपयोगिताएँ, धार्मिक तथा सामाजिक नियम–इन सब पर है।

श्रीअरविन्द महाभारत में व्यक्त जीवन आदर्शों का भी विश्लेषण करते हैं और पाते हैं कि पारलौकिक जीवन में उच्चतम स्थान प्राप्त करना यानि कि आत्म का परमात्म में

विलीन हो जाना तो जीवन का मूल लक्ष्य है ही, महाभारत में इसका किंचित् भी नकार नहीं है। किन्तु महाभारत की विशेषता इस बात में निहित है कि इसमें जीवन के लौकिक पक्ष पर बहुत बल दिया गया है, और उसकी उपेक्षा कर आध्यात्मिक उन्नति की बात नहीं की गयी है। महाभारत में जीवन के इन दोनों पक्षों का अद्भुत समन्वय किया गया है और 'कर्मयोग' की प्रतिष्ठा की गयी है। व्यास के रचनात्मक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए श्रीअरविन्द का कथन है–

''वचन और कर्म में नैतिकता के प्रश्न पर उनकी गहरी अभिरुचि ध्यान देने योग्य है, उनका विषय मात्र है व्यावहारिक नैतिकता, 'धर्मराज' की स्थापना;न्याय पर आधारित राज्य, . . . दूसरों की तरह वे भी मानते हैं कि ईश्वर में लीन होकर विलुप्त हो जाना जीव–सत्ता का मूलभूत लक्ष्य है;लेकिन वे इस बात पर बल देते हैं कि इस प्रशान्ति तक कर्म के द्वारा पहुँचना है और जहाँ तक जीवन का प्रश्न है उसमें तो कर्मरत रहना ही चाहिए;. . . . सन्यास की अपेक्षा कर्म बेहतर हैं. . . . . कर्म में ही वास्तविक कर्मसन्यास है, जबकि अकर्मण्यता अपने–आप में एक–दूसरे प्रकार का कर्म ही है–

''सन्यासः कर्म योगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासाकर्मयोगो विशिष्यते।।

तब से कर्म अनिवार्य माना गया लेकिन न तो किसी मानवीय या आगामी फल की इच्छा से और न काम के लिए काम, तब भी कर्म एक लक्ष्य को समर्पित होता ही है और ईश्वर के सिवा दूसरा कोई लक्ष्य नहीं है। तब हमें अपने कर्मों को ईश्वरार्पित कर देना चाहिए और उसके माध्यम से अपने व्यक्तित्व को भी उन्हीं को पूर्णरूपेण समर्पित कर अपना उत्थान करना चाहिए;. . . . . क्योंकि तपस् से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से श्रेष्ठ है ध्यान और ध्यान से भी श्रेष्ठ है सर्व कर्मफलों का त्याग क्योंकि ऐसे त्याग के बाद प्राप्त होती है आत्मा की शान्ति।'

श्रीअरविन्द के द्वारा किये गये महाभारत के विश्लेषण की एक और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है उसके काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण। इस सौन्दर्य विश्लेषण में वे व्यास की वर्णन शैली और काव्यात्मक प्रतिभा की बुनियादी विशेषताओं की परख करते हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर वे मूल महाभारत के आकार एवं उस पर यूरोपीय विद्वानों के आक्षेप आदि का निराकरण करते हैं। इतना ही नहीं वे व्यास की काव्यात्मक प्रतिभा का मूल्यांकन करते हुए न केवल वाल्मीकि, कालिदास आदि भारतीय बल्कि पाश्चात्य जगत के भी महान कवियों की रचनाओं से भी उनकी तुलना करते हैं और उनकी विशेषताओं को सुस्पष्ट करने के यत्न करते हैं।

''महाभारत की गुत्थी सुलझाने में विशेषकर व्यास की शैली की विलक्षण और अप्रतिम प्रकृति आलोचना की कठिनाईयों को काफी हल्का कर देती है। . . . . . यदि वह शेक्सपीयर, कालिदास या वाल्मीकि की तरह की भड़कीली तथा बहिर्मुखी शैली होती तब भी उसके कुछ बाह्य कारकों की अनुकृति किसी सधे हाथ से सम्भव थी। . . . . . शैली इतनी सरल है उसमें न तो पकड़ में आने वाली कोई कृत्रिमता होती है न ध्यान में आने लायक और न नकल करने लायक विलक्षणताएँ;ऐसे में नकल पूरी तरह असफल और कठिन हो जाती है। ऐसे कवियों में एक बात पकड़ में आ जाती है–वह है अविश्लेषणीय स्वर, व्यक्तिगत श्रेष्ठता जो दैव–प्रदत्त किसी भी वस्तु के समान न तो चिह्नित है न नियन्त्रित की जा सकती है, और स्पष्ट रूप से यही चीज है जो सबसे अधिक पकड़ में नहीं आती है। . . . . . सौभाग्य से व्यास की शैली की विधि बिल्कुल ऐसी ही है।''

''जब कॉलरिज ने प्रतिभा में स्त्रैणता की बात की तो उसके दिमाग में स्वभाव की कतिपय विशेषताएँ थी। . . . . . तब भी गेटे, दान्ते और सोफोक्लीज ने दिखा दिया कि उच्चतम कोटि की प्रतिभा भी इनके बिना हो सकती है। लेकिन मैंने जिन कवियों के नाम लिये उनमें से कोई व्यास के समान न तो खरे पुरुषत्व से युक्त था, न उनकी तरह स्त्रैणता से मुक्त ही था। व्यक्तित्व और बौद्धिकता पर किसी का वैसा अधिकार नहीं था और उनकी तरह किसी ने रूमानी कल्पना को भी उतना कम महत्त्व नहीं दिया था। व्यास की निरावृत, साजसज्जा विहीन कविता में अवविच्छिन्न विश्रान्ति है। उन्हें पढ़ना मानो तप्त ग्रीष्मकाल में शीतल झरने में नहाना है। इस सामर्थ्यवान रचनाकार की शैली सम्भवतः साहित्य में शक्ति और उसकी शुद्धता का एकमात्र उदाहरण है।''

व्यास की शैली की इसी परख के आधार पर श्रीअरविन्द महाभारत के विशाल आकार में से महाभारत के श्लोकों की मूल संख्या निर्धारित करते हुए प्रोफेसर वेबर के तर्क जिसके अनुसार युद्ध पर्व ही मूल अंश है (केवल 8800 पंक्तियाँ) का खण्डन करते हैं और महाभारत में ही वर्णित कथानक और उद्धरणों के आधार पर महाभारत में श्लोकों की संख्या 24, 000 से 26, 400 के बीच निर्धारित करते हैं।

बोध प्रश्न

1. श्रीअरविन्द रचित् 'सावित्री' में सावित्री किस का प्रतीक है–

   (क) दिव्य शब्द (ख) सूर्य की आत्मजा

   (ग) सर्वोच्च सत्य की देवी (घ) उपर्युक्त सभी

2. सत्यवान के पिता का नाम क्या है–

   (क) अश्वपति (ख) द्युमत्सेन (ग) यम (घ) सूर्य

3. यम और सावित्री का संवाद किस उपनिषद के प्रसिद्ध यम और नचिकेता संवाद से साम्य रखता है–

   (क) कठोपनषिद (ख) मुण्डकोपनिषद

   (ग) श्वेताश्वेतरोपनिषद (घ) तैत्तिरीय उपनिषद

4. श्रीअरविन्द ने पाश्चात्य जगत की नास्तिकता और भग्न नैतिक आदर्शों से बचाने वाले धर्म का आधार किस दर्शन में माना है–

   (क) वेदान्त (ख) सांख्य (ग) योग (घ) ये सभी

5. श्रीअरविन्द ने हिन्दू धर्म के पतन के पीछे किस धर्म के नैतिक आदर्शों को जिम्मेदार माना है–

   (क) जैन (ख) ईसाई (ग) बौद्ध (घ) इस्लाम

6. श्रीअरविन्द के अनुसार आर्य सभ्यता के स्वर्णिम युग का वर्णन महाभारत के अतिरिक्त किस अन्य ग्रन्थ में हुआ है–

   (क) पुराण (ख) उपनिषद (ग) वेद (घ) रामायण

7. प्रो. वेबर के अनुसार महाभारत के मूल पाठ में सम्मिलित हैं–

   (क) 8800 पंक्तियाँ (ख) 8800 श्लोक

   (ग) 24000 श्लोक (घ) 28000 श्लोक

2.5 क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय

2.5.1 परिचय

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (1896 – 1974) का जन्म बंगाल के उत्तर चौबीस परगना के निमता गाँव में हुआ था। क्षेत्रेश, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के ही परिवार के परवर्ती सदस्य थे और इस प्रकार उन्हें भारतीय पुनर्जागरण की भावना विरासत् में प्राप्त हुई थी। अपने 1913 में हिन्दू स्कूल ऑफ कलकत्ता से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1915 में अपने प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता से इंटरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपने 1917 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी0ए. की परीक्षा और 1919 में क्वींस कॉलेज, बनारस से संस्कृत में एम0 ए. कियाअपने 1921 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से वेद में और 1922 में वेदान्त में एम0 ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

1924 में आपको इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में व्याख्याता के रूप में नियुक्त किया गया1950 में आपको रीडर के रूप में पदोन्नत किया गया और 1950 में प्रोफेसर के रूप में। आप बाद में सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में अनुसन्धान संस्थान के निदेशक बने।

भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा भारत के केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति में वेद और अवेंस्ता के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक विशेष विद्वान के रूप में भी आपको नियुक्त किया गया1960 में आपको कलकत्ता विश्वविद्यालय ने तुलनात्मक धर्म के स्टीफेननिर्मलेन्दु घोष लेक्चरर के रूप में नियुक्तकिया

2.5.2 लेखनकर्म

क्षेत्रेश सरस्वती भावना ग्रन्थमाला पुस्तक श्रृंखला और प्रसिद्ध संस्कृत जर्नल सरस्वती सुषमा का सम्पादन कियाआपकी पुस्तकों में ईशाकेनोपनिषद् (1916), वेदवित्त प्रकाशिका (1966), Studies in VedicUnd Indo- Iranian ReligionAnd (Literature 1976 Ed. vidya Ni¡s Mishra)प्रसिद्ध है।

2.5.3 योगदान

तुलनात्मक भाषा शास्त्र के क्षेत्र में कार्य करते हुए इन्होंने वेद और अवेस्तर में समानता दर्शाई। पश्चिम में भारत के मूल साहित्य को जानने की विधि तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक धर्म दर्शन की थी। उसी विधि को आत्मसात करते हुए आपने ईटानिधि धर्म मूल्यवैदिक धर्म में तलाशा।

2.5.4 विचार एवं अध्ययन विधि

योरोपीय संस्कृति के बारे में पर्याप्त जानकारी हमें भाषा वैज्ञानिक प्राचीन अध्ययन से प्राप्त होती है। वैदिक संस्कृति के लोग देवताओं के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। संस्कृत शब्द देव के समानार्थी शब्द ईरानी– दैवा (Deva), लेटिन ड्यूस (Dues), ग्रीक दिवास (Divas), लिथुआनिया/दीवास (dievas), लेट्टिश दीव्स (dievs), प्राचीन पर्शिदन द्यू (Deiw) आदि हैं। ये सारे शब्द संस्कृत की मूल धातु 'रिव' से उत्पन्न हैं, जिसका अर्थ चमकता होता है। इसी प्रकार संस्कृत का 'अग्नि' लैटिन इग्निस (Ignis), लिथुआनियानी– अग्निस (ugnis), लेट्टिश अगर्स (ugurs), ट्यूरोनिक अग्रस (Agrus) आदि शब्द यह बताते हैं कि वे अग्नि देवता की पूजा करते हैं। इसी प्रकार संस्कृत में सूर्य, लैटिन में सॉल (Sol), ग्रीक में हेलियोस (helios) कस्साइट

भाषा में सर्रियश (suriash) आदि शब्दों की उपस्थिति यह बताती है कि वे सूर्य की देवता के रूप में उपासना करते थे। इसी प्रकार क्षेत्रेशचंद्र ने चंद्रमा, वायु, जल आदि शब्दों के विभिन्न भाषाओं के रूपों में अध्ययन करते हुये बताया कि इनके लिये प्रयुक्त शब्द विभिन्न भाषाओं में समान हैं, जिससे यह सिद्ध होता है वेद और अवेस्ता के कालखण्ड में इनकी पूजा की जाती थी।

क्षेत्रशचंद्र ने वेद, उपनिषद् अन्य पुस्तकों का अध्ययन किया और उनमें वर्णित देवताओं और देवियों के विभिन्न सन्दर्भों की व्याख्या की। और उनकी तुलना ईरानी देवताओं से की। यास्क के निरूक्त के देवता काण्ड में देवताओं का विवरण प्रस्तुत होता है। यास्क के अनुसार शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार तीन प्रकार के देवता है– पृथ्वी पर अग्नि, अंतरिक्ष का देवता वायु या इन्द्र तथा स्वर्ग का देवता सूर्य। आगे वह कहता है कि इनकी महानता के कारण इन्हें कई नामों से पुकारा गया है। यही तीन देवता ऋग्वेद संहिता के अनुसार 33 (11x3) हो जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भी इनकी संख्या 33 ही है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ये है– ....वसु, 11 रूद्र, 12 आदित्य तथा द्यु एवं पृथ्वी है। जबकि ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अंतिम दो देवता वष्टकार एवं प्रजापति है। क्षेत्रशचंद्र ने आर्थर एंथनी मैक्डोनल के द्वारा किये गये वर्गीकरण, जिसमें आठ प्रकार के देवता माने गये हैं, तथा ब्लूमफील्ड का वर्गीकरण, जिनके अनुसार 5 प्रकार के देवता हैं, का निराधार मानते हुये अस्वीकत किया है।

क्षेत्रेशचंद्र ने बताया है कि वैदिक ग्रंथों में अग्नि से संबंधित सूक्त सर्वप्रथम तत्पश्चात् इंद्र और उसके बाद क्रमशः विश्वेदेवाः (सभी देवता) और अंत में अन्य देवी देवताओं से संबंधित सूक्त आये है। अग्नि देवता का महत्त्व यज्ञ में दी जाने वाली बलि के कारण ज्यादा था। स्लाव पुरास्थानों में भी चूल्हे की अग्नि (दोमोवोय Domovoy) को घट का मित्र बताया गया है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि वेदों में अग्नि के साथ व्यक्तिगत संबंधों की कल्पना है। पृथ्वी की अग्नि के समतुल्य पर्यावरण में अपाम निपात् (बादलों की बिजली) और स्वर्ग में सूर्य की कल्पना वेदों में वर्णित है।

इसी प्रकार इन्होंने इन्द्र विषयक वैदिक एवं पाश्चात्य स्थापनाओं एवं विश्वासों का भी वर्णन विश्लेषण किया है। उन्होंने रूडोल्फ रोथ आदि तीस से भी अधिक शोधार्थियों के विचारों का वर्णन करते हुये बताया है कि इंद्र के संबंध में 6 प्रकार के विचार हैं– अंतरिक्ष का देवता, बिजली, वर्षा और तूफान का देवता, सूर्य–देवता, चंद्र–देवता, प्राचीन नायक तथा शक्ति और युद्ध का देवता। लुडविग के अनुसार इंद्र ग्रीक देवता जीयस (Zeus) के समतुल्य है, जोकि तूफान का देवता है। उनके अनुसार यह विचार गलत है क्योंकि वैदिक देवताद्यु जीयस के अधिक समान है। पोजाइडन (Poseidon) जिसके हाथ में त्रिशूल है, वास्तविक तूफान का देवता है जो भारत के रुद्र–शिव के समतुल्य है। जब जीयस को तूफान का देवता स्वीकार लिया गया तो पोजाइडन समुद्र का देवता हो गया। इस प्रकार भारतीय परंपरा और ग्रीक परंपरा दोनों में देवताओं की स्थिति में परिवर्तन (उन्नयन/अवनमन) की एक सी स्थिति प्राप्त होती है। क्षेत्रेश चन्द्र का यह मानना है कि इंद्र वर्षा के देवता के रूप में स्थापित हुये क्योंकि ऋग्वेद संहिता में रूद्र, मसल, पर्जन्य अपाम् निपात् और तृता जाप्त्य आदि देवताओं का वर्णन है। जिसमें अंतिम दो आपमनापात् (Apan Napat) औष्मिता आप्पा (Orita Apya) का वर्णन अवेस्ता में भी प्राप्त होता है।

उन्होंने रूद्र शब्द की व्युत्पत्ति की व्याख्या की है और इसे 'रूद्' धातु से उत्पन्न बताया है, जिसका अर्थ रोना होता है। रूद्र के अस्त्र के रूप में वज्र का उल्लेख

बार–बार वैदिक पाठ में हुआ है, जो उसके वर्षा में देवता होने के प्रमाण है। आर्य स्वयं युद्धकला में निपुण थे और उनके पास विकसित अस्त्र भी थी, उनके लिये मोहनजोदड़ों के निवासियों को नष्ट करने के लिये पर्याप्त क्षमता थी और उन्हें किसी युद्ध के देवता (इन्द्र) की उपासना की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने यह भी बताया है कि इन्द्र देवता का वर्णन भारतीय एवं ईरानी ग्रंथों में मिलता है। किन्तु देवता के रूप में उनका विकास तब हुआ जब आर्यों की भारतीय एवं ईरानी शाखा पृथक हुई।

इसी क्रम में क्षेत्रेशचन्द्र ने वरूण देवता के भी स्वरूप एवं नाम के सन्दर्भ में विस्तृत विचार किया है। वैदिक ग्रंथों में वरूण देवता का अकेले या मित्र के साथ वर्णन भी एक ही है। इसीलिए कई बार इन्हें दो वरूण भी कहा गया है। वरूण के चरित्र के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है जो उन्हें अंतरिक्ष देवता, अवेस्ता के देवता अड्ढमज्दा के समतुल्य, शक्तिशाली देवता, चंद्र देवता, सूर्यदेवता या जलदेवता के रूप में वर्णित करते हैं।

क्षेत्रेश चन्द्र बताते है कि वरूण (Varuna) की समानता ग्रीक, आरनॉस (O'urano's) जिसका अर्थ आकाश होता है, से मानते हुये विद्वानों ने उन्हें आकाश–देवता माना है। इस संदर्भ में ब्लूमफील्ड, ग्रिसवोल्ड, वॉल्डर, पेलवित्ज आदि विद्वानों का मन उद्धृत करते हैं। क्षेत्रेश चन्द्र भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन मंत को खारित करते हैं। उनके अनुसार दूसरा अक्षर जो संस्कृत का उ (U) है वह ग्रीक में भी यु (u) होना चाहिए न कि अ (a)। इसी प्रकार संस्कृत और ग्रीक शब्दों के आचरण में भी समानता होती है जो कि इन दोनों शब्दों में नहीं है। इनके अलावा वे अपने समर्थन में दो अन्य तर्क भी देते हैं– पहला वैदिक साहित्य में कहीं भी वरूण का आकाश से कोई संबंध नहीं है, दूसरा ग्रीक शब्द और नॉस भौतिक आकाश के अर्थ में प्रयुक्त होता है न कि देवता के रूप में क्षेत्रेशचंद्र के अनुसार वरूण शब्द 'व्र' धातु से जिसका अर्थ ढ़कना या घेरना होता हैं, में उण् प्रत्यय लगाकर बना है, अतः इस शब्द की व्युत्पत्ति हेतु बाह्य स्रोतों के सहारे की आवश्यकता नहीं है।

वरूण की तुलना ईरानी देवता अड्ढरमज्दा से की जाती है, क्योंकि दोनों का चरित्र एक है। दवरूण को ऋग्वेद में असुर कहा गया है, जो अडर के समान के। वरुण 'त्रृत्' का और अड्ढरमज्दा असा (Ax) का देवता है, जिनका अर्थ एक 'उचितता' है। इसी प्रकार वरूण जिस प्रकार मित्र से जुड़ा है, ठीक उसी प्रकार अड्ढमज्दा भी मित्र से जुड़ा है। क्षेत्रेश का मानना है कि दोनों की प्रवृत्ति भले ही एक हो, लेकिन दोनों एक जैसे ही हैं। अड्ढरमज्दा पर जरथुष्ट्रवाद का प्रभाव ज्यादा है।

क्षेत्रशचन्द्र ने वरूण देवता के स्वरूप एवं प्रकृति का वर्णन करते हुये 10 विभिन्न मतों को एवं उनके प्रमाणों में क्रमवार प्रस्तुत कर उसका विश्लेषण किया है।

1. वरूण एवं इंद्र दो विभिन्न प्रकृति के देवता है। ऋग्वेद संहिता के विश्वेदेवा सूक्त एवं माध्यनंदिन संहिता में इंद्र और वरूण की प्रकृति की विभिन्न का वर्णन हुआ है। ''वृत्राण्यन्यो समिथेषु जिहनते व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा'' यानि एक (इन्द्र) युद्ध में शत्रुओं का नाश करता है, दूसरा (वरूण) हमेशा धर्म (निधि) की रक्षा करता है।

2. वरूण एवं मित्र सहचर देवता है। ऋग्वेद संहिता में ऐसे 23 स्तोत्र है जिनमें इन दोनों के साथ रहने का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त विश्वेदेवा सूक्त में मित्र और वरूण की अनेक बार प्रशंसा है। ऋग्वेद संहिता में कई जगह (V 62.8, 63.

1, 68.5, VIII 101.2) यह वर्णन है कि दोनों देवता एक ही रथ में भ्रमण करते हैं।

3. मित्र और वरूण आकाश में रहते हैं। वरूण और मित्र आकाश में रहकर कार्य करते हैं, ऐसा वर्णन ऋग्वेद संहिता में वर्णन मिलता है। विश्वदेव सूक्त में कई स्तोत्र हैं, जिनमें 10 देवताओं का वर्णन मिलता है। इन स्तोत्रों में देवताओं के नाम नहीं है, उनके कार्यों एवं विशेषताओं से उन्हें पहचाना जा स सकता है। क्षेत्रेशचंद्र के अनुसार ऐसे स्तोत्रों से वरूण को आकाश का देवता नहीं माना जा सकता।

4. वरूण अकेले या मित्र के साथ ऋत (धर्म) और व्रत (विधि) के साथ सम्बन्धित देवता है। ऋत के साथ सम्बन्धित वरूण अकेले देवता नहीं है, मित्र भी ऋत से सम्बन्धित है। ऐसा वर्णन ऋग्वेद संहिता में प्राप्त होता है। मित्र और वरूण दोनों ही आदित्य के रूप में वर्णित है और सामान्य रूप से सभी आदित्य ऋत से सम्बन्धित देवता के रूप में वर्णित है। ऋग्वेद संहिता में उन्हें 'ऋतवानः', 'ऋतावृधः', 'ऋतावा', 'ऋतस्य गोपाः', 'ऋतावरी', 'ऋतावन्' आदि नामों से संबोधित किया गया है।

5. वरूण और मित्र गुप्तचरों के माध्यम से मनुष्य के व्यवहार की निगरानी करते हैं। मित्र, वरूण, तथा अन्य सभी आदित्य मनुष्य की नैतिकता की निगरानी करते हैं। उनके गुप्तचरों में सूर्य आते हैं जो उनके चक्षु या दूत के रूप में वर्णित हैं और सितारे हैं– जो स्पशः (Spies) के रूप में वर्णित है। ये क्रमशः दिन और रात में मनुष्य के कर्मों की निगरानी करते हैं।

6. वरूण अच्छे कर्म करने वाले मनुष्यों को वरदान देता है और बुरा कर्म करने वाले मनुष्यों को दण्डित करता है। बुरा कर्म करने वाले मनुष्यों को वरूण पाश में बाँधता है और जलोदर रोग प्रदान करता है। शुनः शेप की कहानी विभिन्न ब्राह्मण, संहिता आदि ग्रंथों में वर्णित है। इस कथा में हरिश्चन्द्र ने वरूण देवता की उपासना पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से की और बदले में अपने प्रथम पुत्र की बलि देना स्वीकार किया। पुत्र को बलि से बचाने के लिए उन्होंने अजीगर्त ऋषि के पुत्रः शुनः शेप की बलि देनी चाही। शुनः शेप ने बलि से बचने के लिए वरूण देवता की आराधना की। वरूण देवता प्रसन्न हृदे और राजा को जलोदर से मुक्ति प्रदान की तथा शुनः शेष को अभयदान दिया।

7. धार्मिक कर्मकाण्डों में हुई भूलों में प्रायश्चित के लिये वरूण देवता की उपासना की जाती थी। ऋग्वेद संहिता, सामवेद संहिता और कई ब्राह्मण ग्रंथों में वरूण की उपासना और उसके लिये बलि आदि का वर्णन किया गया है ताकि वह यज्ञ एवं अन्य धार्मिक कृत्यों में हुई भूलों को क्षमा कर दे। 'अभिष्ठितो वरूणस्य पाशः' (ऋग्वेद I 24.89)

'नमो वरूणादामिष्ठितो वरूणस्य पाशः (तैत्तिरीय संहिता I 4.45, VI 6.3, 2–9)।

8. वरूण और मित्र ऋत के रूप में ब्रह्माण्डीय गतिविधियों का नियमन करते हैं। ऐसा वर्णन ऋग्वेद संहिता, तैत्तिरीय संहिता, माध्यनंदिन संहिता और अथर्ववेद संहिता में प्राप्त होता है।

9. ऋग्वेद संहिता, तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में मित्रा को दिन और वरूण को रात्रि से सम्बन्धित बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आया है कि सूर्य के दो पक्ष हैं– प्रकाशित और अंधकारमय के 1 दिन में सूर्य का प्रकाशित पक्ष दिखता है और रात में अंधकारमय पक्ष क्योंकि प्रकाशित पक्ष स्वर्ग की ओर घूम जाता है। इस प्रकार मित्र दिवा सूर्य और वरूण रात्रि सूर्य से सम्बन्धित देवता है। चूँकि दोनों एक ही रथ में भ्रमण करते हैं, इसलिए उन्हें सूर्य और चन्द्रमा समझना भूल होगी।

10. वरूण पश्चिम दिशा काा देवता है। दिशाओं और उनके देवताओं का वर्णन निम्न स्तोत्र में वर्णित है।

 'इन्द्रो वहिनः पितृपतिनैऋतो वरूणो मरूत्।
 कुबेर ईशः पतयः पूर्वारीनाम् रिशाम् क्रमात्।।

अर्थात् इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरूण, मरुत, कुवेश एवं ईशान क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पूर्व, दक्षिण, दक्षिण–पश्चिम, पश्चिम, उत्तर पश्चिम, उसर एवं उसर एवं उसर पूर्व दिशा के देवता है।

वरूण के इन सभी रूपों और उनकी विभिन्न ग्रंथों में वर्णन के आधार पर क्षेत्रेश चंद्र ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि वरूण वास्तव में अस्त होते हुये सूर्य या रात्रि सूर्य का देवता था और उसके शेष सभी गुण इसी मूल चरित्र से उपजे है।

उन्होंने यह भी बताया है कि वरूण या आदित्य का लगभग समान रूप में वर्णन बेबीलोन, असीरिया, मिश्र, हिब्रू, ग्रींक एवं चीनी प्राचीन ग्रंथों में भी प्राप्त होता है। इस समानता के दो कारण हो सकते हैं। पहला किसी एक सभ्यता में इसका विकास हुआ और वहाँ से अन्य सभ्यताओं में उसका प्रसार हुआ प्रसरण सिद्धांत। बर्नार्ड जीगर (विदना), निकोल मैग्निकोल आदि विचारक इस मत को मानते हैं। दूसरा मत कहता है कि विकास के क्रम में विश्व की पृथक सभ्यताओं में आदित्य की उपासना प्राकृतिक शक्ति रूप में स्वयं ही प्रारंभ हुई। विकास सिद्धांत जार्ज फ्रेजर ने इस मत को स्वीकार किया। क्षेत्रेश चंद्र दूसरे मत को मान्यता देते हैं और उसके पक्ष में उसरी जापान की ऐनू सभ्यता का उदाहरण देते है। ऐनू सम्यता किसी भी अन्य देश से धार्मिक, भाषाई या सांस्कृतिक रूप से जुड़ी हुई नहीं है। बावजूद इसके वे अग्नि की देवी को दूत या दैवीय दूत के रूप में पूजते हैं, जो ईश्वर एवं मनुष्य के बीच मध्यस्थ के रूप में कार्य करती है। यह संकल्पना वैदिक मित्र या व वरूण की संकल्पना से पूरी तरह मिलती जुलती है।

क्षेत्रेश चंद्र ने इसी प्रकार अन्य देवी–देवताओं के स्वरूपों एवं प्रकृति का विश्लेषण भी वैदिक, ईरानी ग्रंथों के आधार पर किया है। वेदांग निधट में जिन 'देवी–देवताओं का वर्णन है– उनमें 3 घटते दो अंतरिक्ष के तथा इठा स्वर्ग का देवता है। 'वृषकार्यः' इनमें आखिरी देवता है, जो यास्क के अनुसार सूर्य देवता है। विभिन्न वैदिक संहिताओं में यह वर्णन आया है कि उत्तर वैदिक काल में लोगों ने वृषकार्य (सूर्य देवता) की उपासना की महत्त्व बढ़ गया था। अश्विन कुमारों के चरित्र के बारे में यास्क के चार संभव व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं– वे स्वर्ग और पृथ्वी, दिन और सूर्य और चन्द्रमा अथवा दो गुणवान राजाओं के प्रतीक हैं।

सूत्रों में प्रथम अग्नि, तत्पश्चात् उषा और सबसे अंत में अश्विन का वर्णन आया है। इस प्रकार अश्विन का समय सूर्योदय के ठीक पूर्व का है जिससे उनके सूर्य के

प्रकाश में आगमन की सूचना देने वाले देवता का बोध होता है। निघंटु में अश्विन के पश्चात् उषा एवं सूर्य दो देखे दो का वर्णन आता है। उषा सूर्योदय के पूर्व की देवी है जो रात्रि के भय को दूर करती है। यास्क ने सूर्या को 'सूर्यस्य पत्नी' (सूर्य की पत्नी) के रूप में संबोधित किया है। जिसके बारे में सोम या चंद्रमा के रूप में वर्णन है। अन्य भारोपीस समुदायों में सूर्य एक देवी के रूप में चित्रित है। लिथुआनियाई पौराणिक गीतों (Dainas) में सूर्य की पुत्री (Deivo dukryte– 'दिवो दुहिता') के रूप में संबोधित किया गया है। जर्मनी के लोकगीतों में भी सूर्य को कुमारी कन्या बताया गया है। जर्मनी के लोकगीतों में भी सू को कुमारी कन्या बताया गया है। इसी प्रकार लेट्सि में भी प्रातःकालीन एवं साध्यकालीन सितारों को सूर्य की दो बेटियाँ बताया गया है। आगे उन्होंने सोम का वर्णन किया है। अवेस्त में इसे ही हाओम (Haoma) कहा गया है। ये दोनों वनस्पतियाँ हैं। जिनका प्रयोग एक विशेष प्रकार के मादक पेय पदार्थ को बनाने के लिए किया जाता था, जिसे देवताओं को चढ़ाया जाता था और तत्पश्चात् प्रसार के रूप में ग्रहण किया जाता था। इस पेय पदार्थ को बनाने में मधु (शहद) का प्रयोग किया जाता था जिसे तोखारी में मिट (mit), पुरानी आयरिश में मिद (mid), पुरानी आइसलैण्डी में म्जोत्र (Mjotr), एग्लो सैक्सन में मेण्ड्स (mevds), पुरानी अयजम्रन में सेतु (metx), अंग्रेजी में मीड (mead) कहा जाता था। इस प्रकार लगभग सभी भारोपीय भाषाओं में मधु का वर्णन प्राप्त होता है। जिसका प्रयोग कर पेय पदार्थ बनाये जाते थे। हिरण्यगर्भ के चरित्र का वर्णन करते हुए क्षेत्रेश चंद्र बताते हैं कि उसे प्रजापति समझना गलत है। हिरण्यगर्भ का अर्थ स्पष्ट करते हुये वे उसे 'स्वर्णिम भ्रूण/अंडा' के अर्थ में प्रयुक्त बताते हैं। इस प्रकार हिरण्यगर्भ सूर्य देवता है, जैसे कि वृषकार्य (ऋग्वेद संहिता) तथा रोहित (अथर्ववेद संहिता) में वर्णित है। मैक्डोनल भी मत को मान्यता देते हैं। वे बताते हैं कि निघण्टु में 'क' का वर्णन है जो प्रजापति का समानार्थी है। प्रजापति को शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में सृष्टि के देवता के रूप में तथा अन्य ग्रंथों में देवों के पिता के रूप में वर्णन है। ''प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव'' अर्थात् ओप्रजाापति तुम्हारे अलावा अन्य कोई नहीं है जिसमें उन सभी को, जिन्होंने जन्म लिया है, को जन्म से आवृत्त कर रखा हैं।

निघण्टु में भाषा के 57 पर्याय दिये गये हैं, जिनमें से वाक् एक है, यास्क ने उसे देवी माना है। वाक् के ही पर्याय के रूप में सरस्वती का वर्णन है जो नदी और देवी दोनों के लिये प्रयुक्त शब्द है। सरस्वती को ही अवेस्ता में हराह्वती (narahavaiti) नाम से संबोधित किया गया है। चूंकि आर्य सरस्वती नदी के किनारे निवास करते थे और अपने यज्ञों को सरस्वती नदी के किनारे सम्पन्न करते थे, जिनमें मंत्रों का सस्वर वाचन होता था। इस प्रकार मंत्र और उनका वाचन सरस्वती से जुड़ गया और वह भाषा (वाणी) में देवी हो गयी। दशराज्ञ युद्ध के पश्चात् भरतगण सतलज, व्यास नदी पार का आगे बढ़े। सूरदास के कुलगुरू भरद्वाज थे, जिसे बदलकर उसने पहले वशिष्ठ और फिर विश्वामित्र को अपने कुलगुरू बनाया। इस वजह से विश्वामित्र और वसिष्ठ में युद्ध शुरू हुआ। इस युद्ध के कारण भरत गण सरस्वती के किनारे प्रवास के लिये बाध्य हुये। भरतगण ने सरस्वती के किनारे यज्ञ किया इसलिये उनकी देवी भारती और सरस्वती एक दूसरे से जुड़ गये और इस प्रकार भारती को भी वाणी की देवी के रूप में जाना गया।

2.6 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप बंगाल के प्रमुख भारतविद बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीअरविन्द एवं क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपध्याय के भारत एवं सनातन धर्म एवं संस्कृति सम्बन्धी विचारों से अवगत हुए होंगे। भारत एक विशाल राष्ट्र है और इसकी सनातन संस्कृति को समझने के लिए यह आवश्यक था कि इसके अलग–अलग क्षेत्रों के प्रमुख विचारकों की विचार प्रक्रिया का ज्ञान हो।

बंकिमचन्द्र चटर्जी के चिन्तन में आधुनिक भारत की दुर्दशा के कारणों एवं उपायों की तलाश का उपक्रम है। इस सम्बन्ध में वे क्षेत्रीयता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता के भाव को प्रतिष्ठित करने की बात करते हैं। इसी क्रम में वे चिन्तन और विचार के लिए लोकभाषा (बंगला) के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं। बंकिम चिन्तन की प्रक्रिया में भारत के आदर्श नायकों (कृष्ण) के चरित्र की ही नहीं बल्कि धर्म के मूल तत्त्व एवं स्वरूप की भी व्याख्या करते हैं। बंकिम का एक और महत्त्वपूर्ण योगदान मातृभूमि को 'देवता' के रूप में प्रतिष्ठित करना भी है। यही वह अवधारणा थी जिसने स्वतन्त्रता संघर्ष में देशवासियों को बलिदान देने के लिए प्रेरित किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक दार्शनिक कवि थे और उनकी कविताओं ने भारतीय धर्म एवं दर्शन की समस्त् परम्पराएँ– वैदिक– औपनिषदिक चिन्तन, वैष्णव धर्म, बौद्ध धर्म, बाउलगीत परम्परा आदि से प्रेरणा ग्रहण की है, किन्तु उनका महत्त्वपूर्ण योगदान व्यापक मानव धर्म की प्रतिष्ठा है। इस मानव धर्म को वे भारतीय समाज परम्परा से जोड़कर देखते हैं। टैगोर ने लक्षित किया है कि भारतीय समाज लोकाभिमुख रहा है और लोकहित के कार्य राज्यसत्ता पर आश्रित कभी नहीं रहे। यही भारतीय अस्मिता की चिरन्तनता का कारण है और इसी मूल भाव को पोषित कर भारतीयता भी अक्षुण्ण रह सकेगी।

श्रीअरविन्द अलौकिक, आध्यात्मिक पुरुष हैं। उनका जीवन कई प्रकार के चमत्कारों से भरा पड़ा है। भारतीय परम्परा में जिस प्रकार महान आत्माओं के अवतरण का वर्णन है, श्रीअरविन्द उसके साक्षात उदाहरण हैं। अरविन्द ने अपनी योग साधना एवं ध्यान की अनुभूतियों को अपने महाकाव्य 'सावित्री' में वर्णित किया है और औपनिषदिक दर्शन की प्रतिष्ठा की है। विद्यार्थियों को यह तथ्य विशेष रूप से स्मरण रखना चाहिए कि श्रीअरविन्द के ये वर्णन काल्पनिक नहीं है, बल्कि उनके अनुभव से उपजे हैं। श्रीअरविन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान भारतीय सनातन परम्परा के मूल ग्रन्थों के मर्म का उद्घाटन करने और उन पर किये पाश्चात्य विचारकों के आक्षेपों का खण्डन करने सम्बन्धी है। इस उपक्रम में वे वेदों में वर्णित प्रतीकों का उद्घाटन करते हैं, महाभारत, रामायण एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों के महत्त्व की स्थापना करने के साथ ही पाश्चात्य विचारकों के आक्षेपों का भी तर्क सहित खण्डन करते हैं।

क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का महत्त्वपूर्ण योगदान एक भाषाशास्त्री के रूप में है। उन्होंने वेद और अवेस्ता की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन कियाइस क्रम में उन्होंने वेदों के महत्त्व की नये सिरे से स्थापना की। उन्होंने इसके अतिरिक्त भारतीय एवं ईरानी संस्कृति का भी तुलनात्मक अध्ययन किया।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. चिति – किसी राष्ट्र की मूल विचार परम्परा

2. नास्तिक धर्म – वे धर्म जो वेद को न मानते हों
3. वैष्णव धर्म – हिन्दू धर्म की वह शाखा जो विष्णु और उनकेअवतारों को मान्यता देती है।
4. यथार्थवादी कला – कला का वह रूप जिसमें यथार्थ का चित्रण किया जाता है भले ही यह चित्रण अरूचिकर क्यों न हों।
5. विमूर्त शैली – वह शैली जिसमें रूप का चित्रण न हो
6. सर्वात्मवाद – यह संसार ईश्वर की कृति है और सर्वत्र वही ईश्वर विद्यमान है, ऐसी मान्यता
7. अद्वैत परमतत्त्व – परमात्मा/पूर्ण ब्रह्म (ब्रह्म और आत्मा मूलतः एक ही हैं यह विचार अद्वैत कहलाता है।)
8. वैराग्यवाद – संसार से मुक्त होकर ईश्वर/आत्म कल्याण की चिन्ता करने सम्बन्धी विचार
9. मन्त्र द्रष्टा – मन्त्र को देखने वाला (ऋषियों को मन्त्र की अनुभूति ध्यानावस्था में हुयी, उन्होंने मन्त्र लिखे नहीं बल्कि अपनी अनुभूतियों को मन्त्र के रूप में रूपायित किया।)
10. अन्तःश्रुत – आत्मा में सुनाई दिया हुआ।
11. हवि – यज्ञ की हवन सामग्री
12. अन्तर्प्रज्ञा – मनुष्य की आत्मा में स्थित बुद्धि/चेतना
13. एकेश्वरवाद – इस संसार में एक ही ईश्वर हैं, जो पूर्ण ब्रह्म केरूप में प्रतिष्ठित है, देवता उसके किसी अंश का अवतार हैं।
14. मायावाद – पूर्ण ब्रह्म ने इस संसार की रचना अपनी शक्ति माया के द्वारा की इसलिए यह संसार माया रचित् है।
15. द्वन्द्वात्मकता – दो परस्पर विरोधी विचारों के बीच संघर्ष की स्थिति बने रहना।
16. हठयोग – योग की एक विशेष परम्परा जिसमें षट् चक्रभेदन और कुण्डलिनी जागरण की चर्चा आती है।
17. राजयोग – योग की एक शाखा जो सामान्य भोगी प्राणियों के लिए है।
18. परा और – इस संसार के ज्ञान की शाखाएँ और पारलौकिक अपरा विद्याज्ञान की शाखाएँ
19. कुण्डलिनी जागरण – योग में यह मान्यता है कि मनुष्य का समस्त् प्राण तत्त्व सर्प के आकार का होता है और कुण्डलिनी मारकर मेरूदण्ड के सबसे नीचे सोया रहता है।योग के द्वारा इस कुण्डलिनी को जगाया जाता है, जो ऊपर उठकर षट् चक्रों का भेदन करती है और अन्तिम चक्र सहस्रार चक्र तक पहुँचती है जहाँ आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है।

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. श्रीअरविन्द– वेद रहस्य–1
2. श्रीअरविन्द– वेद रहस्य–2
3. श्रीअरविन्द– महाभारत पर निबन्ध
4. प्रसून श्रीकान्त–श्रीअरविन्द की सावित्री
5. टैगोर रवीन्द्रनाथ– गीतांजलि
6. ठाकुर रवीन्द्रनाथ– स्वदेशी समाज
7. चटर्जी बंकिमचन्द्र– आनंदमठ
20. भट्टाचार्य अमित्रसूदन (सम्पादक)– अनु0 (शुक्ल प्रयाग)–बंकिमचन्द्र प्रतिनिधिनिबन्ध

2.9 बोध प्रश्न

1 बंकिमचन्द्र चटर्जी द्वारा वर्णित धर्म और राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कीजिए

2. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीयता की चिरन्तनता के क्या कारण बताये हैं, विस्तार सहित बतायें।

3. श्रीअरविन्द द्वारा वेदों के प्रतीकों का उद्‌घाटन किस प्रकार किया गया है, बताइये।

4. श्रीअरविन्द की सावित्री में आत्म के परमात्म होने की अनुभूति के वर्णन का विश्लेषण करें।

5. श्रीअरविन्द ने महाभारत के महत्त्व को किस प्रकार स्थापित किया है, समझाइये।

6. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा वेदों के महत्त्व को किस प्रकार समझाया गया है, बताइये?

7. भारतीयता को स्थापित करने में क्षेत्रीय अस्मिता किस प्रकार सहायक हो सकती है, पाठ में वर्णित बंगला विचारकों के विचार क्रम के आधार पर समझाइये।

इकाई 3 वासुदेवशरण अग्रवाल, सी. राजगोपालाचारी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, विशुद्धानन्द पाठक, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आपः

- आधुनिक भारत में भारतीय दृष्टि से पोषित इतिहास–लेखन का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- सी. राजगोपालाचारी, और सर्वपल्ली राधाकृष्णन का योगदान से परिचित हो सकेंगे।
- वासुदेवशरण अग्रवाल और गोविन्दचन्द्र पाण्डेय और विशुद्धानन्द पाठक की ऐतिहासिक दृष्टि से परिचित हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पुनर्जागरण व धर्मसुधार आन्दोलन ने यूरोपीय अवधारणाओं को काफी प्रभावित कियाएक तरफ ब्रह्माण्ड का यांत्रिकीय विश्लेषण किया जाने लगा एवं ज्ञान का आधार बुद्धि एवं तर्क माना जाने लगा गया तो दूसरी ओर मानवतावाद, विकासवाद जैसी मान्यताओं को प्रोत्साहन मिला। विकासवाद ने जहाँ यूरोपीय मानस पटल पर उत्पादन प्रणाली, वितरण प्रणाली, वैज्ञानिक प्रगति के माध्यम से सामाजिक–आर्थिक सम्बन्धों का निरूपण किया तो वहीं मानवतावाद ने स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व जैसे सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार कियाइसी क्रम में मानविकी के अंग के रूप में इतिहास विषय को भी स्वतन्त्र विधा के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। आगे विकासवाद के सिद्धान्तों पर चलते हुए पश्चिमी विश्व ने औद्योगिक क्रान्ति को आत्मसात करते हुए नये वर्गीय विभाजन (मजदूर–पूँजीपति) को जन्म दिया, वहीं स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व जैसे मानवतावादी सिद्धान्तों की बात करते–करते यूरोपीय 'श्वेतों का बोझ' (white mens burden) जैसे

छद्म तर्कों की ओर अग्रसर हो गये। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यूरोपीय अवधारणाओं, विशेषकर साम्राज्यवादी व प्राच्यवादी सिद्धान्तों में इस तर्क की पुष्टि होती है।

यद्यपि प्राचीन भारतीय अवधारणा को यदि समझने का प्रयास किया जाए तो वह हमें पुरुषार्थ चतुष्ट्य के माध्यम से इतिहास एवं ज्ञान को अवलम्बित कराने का प्रयास करते हुए दृष्टिगत होती है, जिसे इस श्लोक के माध्यम से समझा भी जा सकता है–

धर्म–अर्थ–काम–मोक्षाणाम् उपदेशम् समन्वितम्।
इतिवृत्तम्, कथायुक्तम् इतिहासं प्रचक्षते।।

इन्हीं मानकों पर चलते हुए राष्ट्रवादी इतिहासकारों द्वारा समय–समय पर साम्राज्यवादी एवं प्राच्यवादी इतिहासकारों का सफल प्रतिवाद भी किया गया क्योंकि भारतीय ऐतिहासिक चिन्तन परम्परा की ऐतिहासिक अवधारणा काफी विस्तृत दिखाई देती है। यह सर्वविदित है कि अतीत का ज्ञान केवल तार्किक अनुमानों से नहीं होता है। जिस प्रकार मानवतावाद को समझने हेतु सह्रदयतापूर्ण दृष्टि की आवश्यकता है उसी प्रकार इतिहास ज्ञान के अतीत के पदचिह्नों पर चलते हुए विशेष मानवीय दृष्टि से ही समझा जा सकता है न कि आर्थिक आवश्यकताओं के प्रतिउत्तर में। भारतीय ज्ञान परम्परा एवं ऐतिहासिक चिन्तन अवधारणाओं के विकास में वासुदेवशरण अग्रवाल, सी राजगोपालाचारी, विशुद्धानन्द पाठक, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जैसे प्रमुख भारतविद् मनीषियों एवं उनके अवदानों का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। जिससे समसामयिक एवं वर्तमान समय के इतिहास अध्येताओं को पश्चिमी अवधारणाओं को समझने में सुगमता हुई तथा भविष्य हेतु सजग एवं सतर्क रहने का संकेत भी प्राप्त हुआ।

3.2 वासुदेवशरण अग्रवाल

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ज्ञान की साधना में रत रहने वाले मनीषी विद्वान् थे। भारतीय इतिहास के लेखन में जिन विद्वानों का योगदान रहा है उनमें डॉ. वासुदेव अग्रवाल का नाम अग्रणी है। वे इतिहास, कला और साहित्य के मर्मज्ञ थे। उनका चिन्तन फलक अत्यंत विस्तृत था। उनके अध्ययन का क्षेत्र भी बहुत व्यापक था। संस्कृत के ज्ञान के कारण जहाँ एक तरफ वे संस्कृत साहित्य में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को स्रोत सामग्री के रूप में उपयोग करने में समर्थ थे वहीं पुरातत्त्व ज्ञान तथा विभिन्न संग्रहालयों में अपनी भूमिका का निर्वहन करने के कारण उन्हें कलावस्तुओं के बारीकियों की भी उतने ही गहरी समझ थी। इसके साथ ही साथ उन्हें देश के शीर्ष विश्वविद्यालय में इतिहास एवं पुरातत्त्व के अध्यापन का भी अनुभव था। इस कारण से वे इतिहास और साहित्य में समान रूप से अधिकार रखने वाले विद्वान थे। उन्होंने अपना शोध कार्य राधाकुमुद मुखर्जी के निर्देशन में कियायह भी कहा जाता है कि डॉ. अग्रवाल ने गाँधी जी के आह्वान पर कुछ समय के लिए पढ़ाई छोड़ दी थीं। वे आदर्शवादी, देश प्रेमी और भावुक प्रकृति के कुशाग्र युवक थे। अपनी शैक्षणिक पृष्ठभूमि के अलावा जो बात उन्हें सबसे विशिष्ट बनाती है, वो है लोक की समझ। उनके ज्ञान चक्षु जितना शास्त्र को देखने में समर्थ हैं उतना लोक को भी। इसी कारण उन्होंने अलग–अलग विषयों पर अधिकारपूर्वक लिखा। वासुदेवशरण अग्रवाल का लेखन जिस समय में हो रहा था वह समय आधुनिक भारत के निर्माण का भी दौर था, अतः वे भारत और यहाँ के लोगों को केन्द्र में रखकर अपना लेखन करते हैं। उनके लेखन के केन्द्र में भारतीय संस्कृति है और उस पर वह समग्रता से प्रकाश डालते है।

भारतीय इतिहास के मूल्यांकन के सन्दर्भ में यदि हम विचार करें तो यह बात स्पष्ट है, कि औपनिवेशिक दृष्टि के प्रभाव के कारण भारतीय इतिहास लेखन में कई समस्याएँ दिखती हैं। औपनिवेशिक दृष्टि से ग्रसित् विद्वानों ने एक विखंडित दृष्टिकोण का विकास किया जिसके कारण वे भारतीय मूल्यों तथा उपलब्धियों को जो भारतीय संस्कृति में विद्यमान हैं, उसको कम करके आंकते हैं। अतः ऐसी स्थिति में भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के विशिष्ट मूल्यों तथा उसकी उपलब्धियों को समझने और भारतवर्ष की समग्र तस्वीर को हमारे समक्ष प्रकट करने में भारतीय दृष्टि से सम्पन्न डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे विद्वान सहायक होते हैं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल देश के सांस्कृतिक इतिहास में व्याप्त व्यापक मौलिक एकता को समझने पर बल देते हैं। वो लिखते हैं कि ''अपने देश के सांस्कृतिक इतिहास में व्यापक मौलिक एकता भरी हुई है। ऐतिहासिक वही सच्चा है जो भेदों के नीचे छिपी हुई इस ऐक्य–विधायिनी सांस्कृतिक पद्धति को पहचान कर उसका उद्घाटन करने में अपना मन लगाता है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल इतिहास लेखन के मूल्यांकन पर भी जोर देते हैं। वे लिखते हैं "राष्ट्रीय इतिहास–लेखन के उस मोड़ पर हम जा पहुँचे हैं, जहाँ पिछली दो शताब्दियों के इतिहास–निर्माण का मूल्य हमें आँक लेना चाहिए" भारतीय इतिहास को देखने के विखंडित दृष्टि के प्रति वह दुःख भी जाहिर करते हैं। वह कहते हैं ''भारतीय महाप्रजाओं को खण्डों में बाँटकर अनेक स्पर्धात्मक विचारधाराओं का दुःखदायी पिटारा मानो हमारे पिछले प्रयत्नों से खुल गया है। निषाद, द्रविड़, किरात, आर्य के जातीय भूत प्रचण्ड रूप से जनता की शान्ति का विघात कर रहे हैं।'' अग्रवाल जी का पूरा बल भारत के मौलिक एकता को पहचानने पर है। वह इस बात से भी चिंतित दिखाई देते हैं कि जिस एकता का निर्माण सहस्रों वर्षों के देश की हिन्दूकरण पद्धति ने भेदों को मिटाकर किया था, उसका क्षय ऐतिहासिकों द्वारा सही दृष्टिकोण से न देखने के कारण हुआ है। वह ऐतिहासिकों या कहें कि इतिहासकारों द्वारा इतिहास के विकृतिकरण के तरफ भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे लिखते हैं, ''देश की हिन्दूकरण पद्धति ने सहस्रों वर्षों में भेदों को मिटाकर जन–जन के हृदयों को एकसूत्र में पिरो पाया था। आचार–विचार, व्यवहार के अनेक ओत–प्रोत तन्तुओं से राष्ट्रीय जीवन का बहुरंगी पट इन सहस्राब्दियों में बुनकर तैयार हुआ था। उसकी बहुवर्णा व्यंजकता से हम सब मुग्ध थे। पर हमने विश्व के अन्तः संचारी रस की खोज में उसकी जड़ों को खोदकर देखना आरंभ किया, उसके अभ्यन्तर में व्याप्त रस के मधुस्रोतों की शल्यक्रिया से ऐतिहासिकों ने मानो एक नये विष का संचार कर दिया है, जिससे आज प्रजा–मानस का स्वास्थ्य विकृत हो गया है।'' भारत की मौलिक एकता को समझने के लिए एक रूपक के माध्यम से डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल हमें एक दृष्टि देते हैं। वे लिखते हैं, "गंगा के महाप्रवाह ने बड़े–बड़े पर्वतखडों को चूर करके सूक्ष्म बालुका–राशि से अपने कूलों के पुनीत अन्तराल को भर दिया है। बालुका–कणों में वैषम्य और भेद की अपेक्षा साम्य और ऐक्य की ही प्रधानता है। यही उनकी स्थिति है। इसी प्रकार हमारी प्रजाएँ एक ही जातीय जीवन के प्रवाह में विकसित् और परिवर्तित हुई हैं। अपनी–अपनी परिस्थितिवश वे उस प्रवाह से न्यूनाधिक प्रवाहित हुईं। इस कारण उनमें स्पर्धा या वैषम्य की कल्पना कभी नहीं हुई। भारतीय इतिहास की व्याख्या के प्रति वह सचेत करते हैं कि इतिहास की शरण लेकर विखंडित दृष्टि का विकास किसी भी तरह से उचित् नहीं है। वे लिखते हैं, ''भारत माता का जो भव्य प्रसाद सबने मिलकर बनाया है, जिसके जगतीपीठ से लेकर शिखरपर्यन्त के चित्र–विचित्र रूपसम्पादन में अनेक जनों ने अपना–अपना योग दिया है, उस मंदिर का देवता एक है और वही सबका आराध्य है। आज इतिहास की शरण लेकर हम अपने–अपने देवताओं का भी निर्माण करते जा रहे हैं। यह घातक मनोवृत्ति है।'' वे

भारतीय इतिहास लिखने वाले इतिहासकारों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण दिशा–निर्देश देते हैं। वे लिखते हैं कि, "भारतीय इतिहास की सामग्री को यथावत् प्रयुक्त करने के कार्य में भी ऐतिहासिक को सावधान रहने की आवश्यकता है। दक्ष इतिहास–साधक देश और काल के सन्तुलन का सदा ध्यान रखता है। भारतीय ऐतिह्य के साधन बहुत प्रकार के हैं और उनका अपरिमित विस्तार है। संस्कृति की पारिभाषिक शब्दावली से वे समृद्ध हैं। प्रवीण ऐतिहासिक अन्तर्व्यापी दृष्टि से उन शब्दों का दोहन करता है और उन्हें अपने वर्णन में यथास्थान पिरो देता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र, महाभारत, रामायण, पालि साहित्य, अर्धमागधी और महाराष्ट्री जैन साहित्य एवं विशाल संस्कृत साहित्य में भारतीय जीवन के सम्बन्ध की अति मूल्यवान् सामग्री सुरक्षित है। चतुर पुराणविद् लेखक तिल–तिल करके इस सामग्री का संकलन करता है और उससे राष्ट्रीय या स्थानीय इतिहास का भव्य प्रसाद निर्मित करता है।"वासुदेवशरण अग्रवाल राष्ट्रीय इतिहास के साथ प्रादेशिक इतिहास का क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इस विषय पर बहुत गहनता से विचार करते हुए लिखते हैं कि, "इस विषय में भारतीय इतिहास लेखन को अपनी दृष्टि मर्यादित करने की आवश्यकता है। भूगोल के प्रत्येक केन्द्र में जीवन का स्पन्दन सदा एक सा नहीं रहता। जीवन की संचारिणी चेतना युग–युग में नये–नये केन्द्रों से अभिव्यक्त होती रहती है। राष्ट्रीय चैतन्य के महान् युग भी इतिहास के साक्षी बनते हैं जबकि ज्ञान और कर्म का भास्वर तेज अधिकतम भू–भाग को आलोक्ति कर देता है अथवा जीवन की वेगवती धारा नाना प्रदेशों को सींचती हुई एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल जाती है। ऐसे महायुगों का यश समग्र राष्ट्र के अंगीभूत प्रदेशों को भी मिलता ही है। फिर भी सन्तुलित इतिहास वही है जहाँ प्रादेशिक सामग्री और जीवन पद्धति की सीमाओं की स्पष्ट पहचान लेखक के मन में स्फुट रहती है।"डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल इतिहासकारों के लिए निजी चिन्तन को आवश्यक मानते हैं। वे लिखते हैं, "ऐतिह्य साधक के लिए निजी चिन्तन करना भी आवश्यक है। घटनाओं के कारण और उनके प्रभाव के विषय में उसकी पैनी दृष्टि तथ्यों की नूतन व्याख्या करना चाहती है और इसका उसे सर्वसम्मत अधिकार भी है। पर इस विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अभिनव व्याख्या उद्वेग–जनक न हो, वह सम्भावित मर्यादाओं का अतिक्रमण न करती हो और इस प्रकार की कल्पना का स्पर्श न करती हो जो इतिहास के तथ्यात्मक आधारों का अपलाप करके स्वयं प्रतिष्ठा खो देती है।" वे इतिहास–लेखन के क्रम में विचार करते हुए राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के समन्वय को प्रशस्य कार्य मानते हैं और साथ ही दोनों की स्वरूप रक्षा और सन्तुलन के लिए इतिहास–परायण शिल्पी को बड़ी सावधानी से अपना कार्य करने की बात भी कहते हैं। वे लिखते हैं, "राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहासों का समन्वय भी बड़ा प्रशस्य कार्य है। दोनों की स्वरूप–रक्षा और सन्तुलन के लिए इतिहास–परायण शिल्पी को बड़ी सावधानी से अपना कार्य करना पड़ता है। राजवंशों के अनुचरित तिथिक्रम के पौर्वापर्य का निर्धारण करते हैं। इतिहास के लिए उनकी भी आवश्यकता है।" भारतीय इतिहास में अभी तक राजछत्रों के इतिहास पर ही अधिक ध्यान दिया जाता रहा है। पर सच्चा तो प्रजाओं के तरंगित आदर्शों के उत्थान–पतन के साथ गतिशील होता है। उसका यथार्थ विवरण या लेखा–जोखा इतिहास के पृष्ठों में मधुरस का संचार कर देता है।" इसी क्रम में प्रो. अग्रवाल के लेख कई अनर्गल स्थापनाओं को ध्वस्त् करते हैं जैसे वे भारतीयों को इतिहास बोध नहीं था उसे सबल तर्कों से खारिज करते है। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर 1557 तक 55 शिष्ट मण्डलों या राजप्रतिनिधियों का हवाला दिया है। वे कहते हैं कि भारत में जिस अर्थ में इतिहास का प्रयोग किया जाता रहा है वह आधुनिक पश्चिमी धारणा से भिन्न है। दिक् और काल को लेकर जितना गहरा चिन्तन भारत में हुआ है उतना

गहरा चिन्तन आधुनिक वैज्ञानिक युग आने से पहले विश्व में कल्पनातीत था। इतिहास भारतीय स्वभाग में रहा ही नहीं हैं वह वर्तमान की चर्चा ज्यादा करते हैं। यहाँ हम किसी चीज को पुरातन नहीं कहते, सब कुछ सनातन है। हमारा काल भी पुरातन नहीं, सनातन है।

वासुदेवशरण अग्रवाल इतिहास, कला, पुरातत्त्व और भाषा ज्ञान के गहन विश्लेषण द्वारा भारतीय संस्कृति में व्याप्त समानता संग विविधता की तलाश करते हैं। उनके लेखन में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उन अध्ययनों का है, जो उन्होंने किन्हीं ग्रन्थों को केन्द्र में रखकर किए हैं। भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, जिसमें अष्टाध्यायी, महाभारत, हर्षचरित, कादम्बरी, पद्मावत आदि के नाम आते हैं उनका जैसा विवेचन डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पाणिनीकालीन भारतवर्ष में वासुदेव जी के विवेचन के बाद उस पुस्तक में पूरा भारत विद्यमान मिलता है। यह महत्त्वपूर्ण बन जाता है कि कैसे पाणिनी ने क्तिनी गहराई से छान बीन करके अनेक अर्थों वाली इन वृत्तियों का अध्ययन किया और उनसे सम्बन्ध रखने वाले अर्थों और शब्दों को अष्टाध्यायी में स्थान देकर सूत्रों की रचना की। उनकी विषय के प्रति गहनता और मौलिकता सहज ही हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसका एक उदाहरण देखें, जब वो 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' में 'शालभंजिका' के बारे में लिखते हैं—"शालभंजिका शब्द का इतिहास बहुत पुराना है। आरंभ में यह स्त्रियों की एक क्रीड़ा थी। खिले हुए साल के नीचे एक हाथ से उसकी डाल झुकाए फूल चुनकर स्त्रियाँ परस्पर खेल खेलती थीं। पाणिनी की अष्टाध्यायी में प्राचां क्रीडायाँ (6. 7. 74), नित्यं क्रीडाजीविकयोः में शालभंजिका, उद्दालपुष्पभंजिका आदि कई क्रीड़ाओं के नाम आए हैं। वात्स्यायन की जयमंगला टीका में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। बुद्ध की माता मायादेवी लुम्बिनी उद्यान में इसी प्रकार की शालभंजिका मुद्रा में खड़ी थीं जब बुद्ध का जन्म हुआ। धीरे–धीरे इस मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री के लिए शालभंजिका शब्द रूढ़ हो गया।"

वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा साहित्यिक सामग्री के उपयोग की जो दृष्टि है, वह इतनी सन्तुलित और गहरी है कि उसके कारण तत्कालीन यथार्थ हमारी आँखों के सामने आ जाता है। इनके पुरातात्त्विक अध्ययनों की भी यह विशेषता है कि उनकी पुरातात्त्विक सामग्रियों की विवेचना में संस्कृत साहित्य अथवा लोक संस्कृति से कोई प्रमाण मिलने पर उसका विवरण देते हुए अपने विवेचन को अधिक प्रमाणिक और स्पष्ट करते हैं। इसके उदाहरण के रूप में हम राजघाट से प्राप्त गुप्तकालीन खिलौने का उन्होंने जो विवेचन किया है उसको ले सकते हैं। जिसमें गुप्तकालीन केशसज्जा का अत्यंत मनोहर और सुंदर ढ़ंग से उन्होंने विवेचन किया है। इनकी विशेषता बताते हुए वह अमरकोश, कालिदास की कृतियों, व्याख्याकारों की टिप्पणियों आदि के संगत अंशों का प्रमाण देते चलते हैं। उनके द्वारा इस खिलौने की विवेचना के उपरान्त यह खिलौना पुरातत्त्व की सामग्री मात्र नहीं रहता अपितु वह सजीव हो जाता है। इसको पढ़ते हुए वह आनंद हमें दिखाई देता है, जो शायद ही किसी पुरातात्त्विक सामग्री के विवरणों में कहीं अन्य दिखाई पड़ता है। यह वासुदेवशरण अग्रवाल के गहन अध्ययन और उनके व्यापक चिन्तन फलक का ही परिणाम था। वे मानते थे कि हमें इतिहास के सभी स्रोतों का सम्मान करना चाहिए उनका कहना था कि साहित्यिक स्रोतों की उपेक्षा का एक कारण संस्कृत पर अधिकार का अभाव रहा है। मार्क्सवादियों ने तो संस्कृत और प्राचीन साहित्य के अध्ययन और ज्ञान तक को पुनरुत्थानवादी और प्रतिक्रियावादी बना दियाँ इसी क्रम में पुरातत्त्वविद भी अपने दावें पर खरे नहीं उतरते। वे साहित्य का केवल उसी सीमा तक और उसी रूप में उपयोग करते हैं जैसा अनुवादों के माध्यम से

सुलभ रहता है। कई पुरातत्त्वविद् पहले अवधारणा बना लेते है बाद में उसको साहित्य के माध्यम से पुष्ट करने का प्रयास करते है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल औपनिवेशिक दृष्टि के कारण भारतीय इतिहास के लेखन में जो विकृतिकरण हुआ उसकी तरफ भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे लिखते हैं, ''कॉलेजों में प्रायः स्मिथ की Early History of Indiaके द्वारा हम प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास पढ़ते रहे हैं। उसमें सिकंदर के आक्रमण के बाद से ही इतिहास की श्रृंखला प्रारंभ होती है। परन्तु उससे पूर्व ऋग्वेद, अन्य वैदिक शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, वेदांग, धर्मशास्त्र, रामायण और महाभारत, आदि युगों में जिस समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, उसके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जान पाते। हिन्दू–सभ्यता का मस्तिष्क तो उसके प्रारंभिक काल के इतिहास में ही है। उस इतिहास का तिरस्कार करके सिकन्दर के बाद के इतिहास का अध्ययन केवल कबन्ध की उपासना करने के समान है।

वे इस बात से भी हमें अवगत कराते हैं कि किसी संस्कृति के मूल तत्त्व को समझे बिना उस संस्कृति को समग्रता में समझने का कोई भी प्रयास सार्थक सिद्ध नहीं हो सकता। वे लिखते हैं, ''प्रत्येक संस्कृति की जो मूल विचारधारा है उससे ही उसके कालगत और देशगत विचारों का अवतार होता है। हर संस्कृति की अपनी विशिष्ट आत्मा हुआ करती है। उस आत्मा को जान लेने से उस संस्कृति की समस्त् बाह्य विचार–पराम्परा और लक्षण–कोटियों का रहस्य ज्ञात हो जाता है।''

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का लेखन व्यापक है वे जितना सुंदर भारतीय साहित्य पर लिख सकते हैं, उतनी ही गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ राजघाट के खिलौने पर भी लिख सकते हैं। यह तभी संभव है, जब कोई इतिहासकार ज्ञान की साधना में सदैव रहे। उन्हीं के शब्दों में ''इतिहास लेखन सच्ची साधना है।''

3.3 सर्वपल्ली राधाकृष्णन

सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म 5 सितम्बर 1888 को दक्षिण भारत के एक छोटे से धार्मिक शहर तिरूतानी में हुआ था। वे एक मध्यम वर्गीय ब्राह्मण परिवार में जन्म लिये थे। उच्च धार्मिक विचारों वाले दम्पत्ति के द्वितीय संतान के रूप में राधाकृष्णन् को पारिवारिक संस्कार के रूप में ही धर्म संस्कार प्राप्त थे। इनके पिता का नाम वीरसमैय्या था जो की जमींदार के तहसीलदार थे। राधाकृष्णन् के एक बड़े भाई, तीन छोटे भाई और दो छोटी बहनें थीं। वे बचपन से ही यह अनुभव करते थे कि इस विश्व के संचालन में किसी अदृश्य सत्ता (ईश्वर) का हाथ है।

राधाकृष्णन् का जन्म शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, और बल्लभाचार्य जैसे आलोक–शिखरों के आविर्भाव क्षेत्र में हुआ था। उसी दाक्षिणात्य आचार्य परम्परा में राधाकृष्णन् के विचारों का संस्कार हुआ था। यद्यपि उनके पिता उन्हें अंग्रेजी शिक्षा देना नहीं चाहते थे लेकिन असाधारण प्रतीभा के कारण उन्हें राधाकृष्णन् को आठ वर्ष के आयु में ल्युथर्न हाई स्कूल में भेजना पड़ा जहां से वे सन् 1900 में लौटे। उसके बाद वूर्हीं कालेज बेल्लोर से उन्होंने F.A.की परीक्षा 1904 में किया तथा सम्मानित अंको के साथ बी0ए. में सफलता अर्जित की। तत्पश्चात् उनका शिवकर्मा के साथ विवाह हुआ जो कस्तूरी परिवार की थीं। जीवन भर उन्होंने हिन्दू नारी की भांति जीवन व्यतीत किया।

क्रिश्चियन मिशनरी के प्रोफेसर इसाई नीतिशास्त्र पर ही अत्यधिक आग्रह रखते थे और वे हिन्दू व्यवहार तथा विश्वासों की आलोचना किया करते थे। यह बात राधाकृष्णन को अच्छी नहीं लगी। ईसाई विचारकों द्वारा हिन्दुत्व की आलोचना ने हिन्दू शास्त्रों के गहन अध्ययन करने के लिए उन्हें बाध्य किया और उन्होंने 'इथिक्स ऑफ दि वेदान्त' शीर्षक पर एम.ए. के लिए शोध ग्रन्थ 1908 में प्रस्तुत किया।

उनके साहित्य का विवरण इस प्रकार है—

1.	The Essentials of philosophy.	21.	Great Indians.
2.	The Philosophy of Rabindranath Tagore.	22.	The University Education Commission Report.
3.	The Reign of Religion in Contemporary Philosophy.	23.	The Dhammpada.
4.	Indian Philosophy (vol.I& II).	24.	An Anthology of Radhakrishanan writtings.
5.	The Hindu view of life.	25.	The Religion of the spirit and world's Nesfr agments of confession.
6.	The Religion we need.	26.	History of philosophy in Eastrn and westurn 2-Vol-2
7.	Kalki or The Future of Civilization.	27.	Hest
8.	An Idialist view of life.	28.	East and west some Reflections.
9.	East and west in Religion.	29.	Recovery of Faith.
10.	The Heart of Hinduism.	30.	A source Book in Indian Philosophy cd. by Dr. S. Radhakrishnan and charles A Moore.
11.	Freedom and culture.	31.	The Brahma Sutra The philosophy of spiritual life.
12.	Contemporary Indian Philosophy.	32.	The concept of Man.
13.	Religion in Transition.	33.	Fellowship of Faiths.
14.	Gautama The Buddha.	34.	On Nehru.
15.	Mahatma Gandhi.	35.	Religion in a changing world.
16.	Indian and china.	36.	Religion and culture.
17.	Education, Politics and war.	37.	Our Heritage
18.	Is this Peace?	38.	Living with a purpose
19.	Religion and society.	39.	True Knowledge.
20.	The Bhagavad-Gita.		

3.4 सी. राजगोपालाचारी

एक सच्चे देशभक्त, अग्रणी समाज सुधारक, महान विचारक, उद्भट विद्वान, विदग्ध राजनेता, प्रख्यात वकील, योग्य प्रशासक और सबसे बढ़कर मानवतावादी चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जिन्हें प्यार से उनके प्रशंसक और सहयोगी 'राजाजी' कहते थे, का जन्म 10 दिसम्बर, 1878 को मद्रास प्रान्त' के सेलम जिले के थोरापल्ली गांव में हुआ था। उनके पिता चक्रवर्ती अयंगर, जिन्हें वेंकट आर्य के नाम से भी जाना जाता था, होसूर तालुका के मुंसिफ थे। राजगोपालाचारी की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गांव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज, बंगलौर से स्नातक डिग्री प्राप्त की और मद्रास के लॉ कॉलेज में प्रवेश लियावर्ष 1899 में उन्होंने विधि स्नातक की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सेलम में वकालत प्रारम्भ की। अपनी वाक्पटुता और अनूठी प्रतिभा के कारण उन्होंने सेलम के प्रतिष्ठित वकीलों में अपना स्थान बना लिया।

राजगोपालाचारी तथा उनके सहयोगियों के लिए लार्ड कर्जन द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर बंगाल के विभाजन का निर्णय एक आघात पहुंचाने वाली घटना थी।

राजगोपालाचारी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के उस आह्वान से बहुत प्रभावित हुए जिसमें उन्होंने प्रत्येक भारतीय को पूर्ण स्वराज के लिए अंग्रेजी साम्राज्य से लड़ने की अपील की थी। उन्होंने लोकमान्य तिलक को अपना गुरु मान लिया जिन्होंने सभी सुख–सुविधाओं, भौतिक समृद्धि एवं राजकीय सम्मान का त्याग कर दिया था। राजगोपालाचारी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली।

इन्हें आधुनिक भारत का चाणक्य भी माना जाता है। महात्मा गाँधी इन्हें 'अपने विवेक का रखवाला' मानते थे। गाँधी अत्यन्त गम्भीर मसलों पर विचार–विमर्श हेतु राजाजी से सलाह अवश्य करते थे। हालांकि आगे चलकर वैचारिक मतभेदों के कारण आपने कांग्रेस से अलग हो कर अपनी पार्टी 'स्वतन्त्र पार्टी' का भी गठन किया था। 1937 के चुनाव में इन्हें मद्रास (चेन्नई) का प्रधनमन्त्री (वर्तमान किसी राज्य के मुख्यमन्त्री के समकक्ष) चुना गयाकिन्तु 1939 तत्कालीन वायसराय द्वारा मनमाने ढंग से भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में इंग्लैण्ड के हित में युद्ध हेतु भेजने के निर्णय के विरोध में उन्होंने विरोध स्वरूप अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।1954 में भारत रत्न से सम्मानित किया गया।

दिनांक 25 दिसम्बर, 1972 को 93 वर्ष की आयु में इस विख्यात राजनेता और भारत के महान सपूत का देहावसान हो गयावह अपने पीछे अपनी राजनैतिक, दार्शनिक और साहित्यिक कृतियों का एक विशाल कोष छोड़ गए, जो आने वाले समूचे काल के लिए राष्ट्र के पास धरोहर के रूप में रहेगा।

भारतबोध सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक कार्य

राजगोपालाचारी के विचारों का अध्ययन भारतबोध हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता पूर्व औपनिवेशिक शक्तियों तथा पश्चिमी विद्वानों द्वारा भारतीय विद्या परम्परा को समझने के अधूरे एवं असफल प्रयास किये जा रहे थे। उन प्रयासों के दुष्प्रभाव के प्रत्युत्तर में राजगोपालाचारी जी ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लेखन तथा अनुवाद किया। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी द्वारा रचित 'चक्रवर्ति तिरुमगन' के लिये उन्हें सन् 1958 में साहित्य अकादमी पुरस्कार (तमिल) से सम्मानित कियागया।इनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नवत हैं–

1. रामायण (कम्बनकृत)
2. महाभारत
3. भगवद्‌गीता
4. उपनिषद्
5. वेदान्त : दि बेसिक कल्चर ऑफ इण्डिया
6. हिन्दुइज्म : डॉक्टरीन एण्ड वे ऑफ लाइफ
7. स्टोरी फॉर द इनोसेण्ट
8. चक्रवर्ति तिरुमगन
9. श्रीरामकृष्ण उपनिषद्
10. भजगोविन्दम्
11. कुरल
12. सत्यमेव जयते (निबन्ध संग्रह)।

सामाजिक कार्य

राजगोपालाचारी ने अपने जीवनकाल में सामाजिक उन्नयन हेतु भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये। इनकी कार्यप्रणाली भारतबोध की समझ विकसित् करने हेतु महत्त्वपूर्ण है–

1. 'भारतीय विद्या भवन' की स्थापना। इस संस्था की स्थापना के मूल में जो उद्देश्य थे वे इस प्रकार हैं–

   i. भारतीय शिक्षा को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि भराई और उसकी संस्कृति भारतीय विद्या में विश्वास रखने वाला कोई भी होनहार युवा भारतीय केवल धन की कमी के कारण आधुनिक शैक्षिक उपकरणों के बिना न रह जाए।

   ii. भारतीय शिक्षा को सूचनात्मक से अधिक रचनात्मक होना चाहिए और इसका उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं है। इसका वैध क्षेत्र न केवल प्राकृतिक प्रतिभाओं को विकसित् करना है, बल्कि उन्हें इस प्रकार आकार देना है कि वे भारतीय विद्या के स्थायी मूल्यों को आत्मसात करने और व्यक्त करने में सक्षम हो सकें।

   iii. भारतीय शिक्षा को न केवल छात्र के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को ध्यान में रखना चाहिए, बल्कि उसके संबंधों की समग्रता को भी ध्यान में रखना चाहिए और उसे उच्चतम आत्म–सन्तुष्टि की ओर ले जाना चाहिए, जिसके लिए वह सक्षम है।

   iv. भारतीय शिक्षा को किसी न किसी स्तर पर संस्कृत या संस्कृत भाषाओं और उनके साहित्य का गहन अध्ययन शामिल करना चाहिए, यदि चाहें तो प्राचीन और आधुनिक, अन्य भाषाओं और साहित्य के अध्ययन को छोड़े बिना।

2. दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार–प्रसार का अभियान।

3. 'सलेम संस्था' का गठन। दलित उत्थान को समर्पित यह संस्था लिटरेरी सोसाइटी के रूप में स्थापित की गई।

4. 'तमिल संगीत अभियान'। 'तमिल संगीत अभियान' के द्वारा जनजागरूकता हेतु राजगोपालाचारी ने कई रचनाओं को संगीतबद्ध किया।

5. मातृभाषा में शिक्षा की वकालत। राजगोपालाचारी मातृभाषा में अध्ययन के बहुत हिमायती थे। उन्होंने तमिलभाषाईयों के लिए तमिल में प्राथमिक शिक्षा हेतु कई आन्दोलन किएँ यद्यपि अपनी पुस्तक 'इंग्लिश फॉर यूनिटी' में उन्होंने परिपक्व भारतीय मस्तिष्क के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रति भी सकारात्मक विचार व्यक्त किये हैं। वे लिखते हैं कि, "अंग्रेजी भाषा भविष्य की भाषा है। इस भाषा में हम नए ज्ञान का उत्पादन कर सकेंगे। जो स्थान प्राचीन भारत में संस्कृत, यूरोप में लैटिन को प्राप्त था वही स्थान आने वाले समय में अंग्रेजी को प्राप्त हो सकता है।"

6. 'तमिल साइण्टिफिक टर्म्स सोसाइटी' का गठन। 1916 में उनके प्रयास से इस संगठन ने रसायन विज्ञान, भौतिकी, जीवविज्ञान, गणित तथा खगोल विज्ञान के बहुत से पारिभाषिक शब्दों का तमिल शब्दों में अनुवाद किया गया।

हिन्दू दर्शन और अध्यात्म पर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का विशद् अध्ययन था। उनका कहना था कि कर्म ऐसा हो, जो स्वयं को तो उन्नति के मार्ग पर ले ही जाए, पर

उससे समाज का भी भला हो। इसकी बानगी उनके एक सारगर्भित आलेख में देखी जा सकती है—

'हिन्दू—दर्शन और अर्थनीति'

हिन्दू दर्शन अध्यात्म का ही दूसरा नाम है। यह एक वैज्ञानिक दर्शन है। उसके आधार पर जो धर्म खड़ा हुआ, वह सर्वश्रेष्ठ धर्म सिद्ध हुआ। आज भी उस दर्शन के सिद्धान्त विश्व को नयी अर्थव्यवस्था देने की क्षमता रखते हैं। कम्युनिज्म का प्रयोग जिस संकट में फंस गया है, उससे उबारने की शक्ति हिन्दू—दर्शन में ही है।

यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि वेदान्त—दर्शन वर्तमान परिस्थितियों के लिए बहुत उपयुक्त है। उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि विश्व परमसत्ता की क्रमशः विकासमान अभिव्यक्ति है। हिन्दू दर्शन ने प्राणीशास्त्र तथा भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों का पहले ही ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह आरम्भ से अन्त तक वैज्ञानिक ढंग पर चलता है, अन्य प्राचीन मतों की भांति उसमें संकुचित् रूढ़िवादिता और दुविधा नहीं है।

हिन्दू ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीनकाल में जान लिया था कि लाभ की प्रवृत्ति व अनियन्त्रित प्रतियोगिता मानव विकास के लिए हितकर नहीं है। हिन्दू शास्त्रों ने स्पष्ट और बलशाली शब्दों में समाज के लिए कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार श्रम प्रमुख है, लाभ नहीं। गीता में इसके स्वाभाविक परिणाम, श्रम की प्रतिष्ठा को स्पष्ट किया गया है। उसके अनुसार प्रत्येक कर्म की मूलभूत प्रेरणा उसे उपासना के दैवीय स्तर तक उठा ले जाने की होनी चाहिए बहुकथित कर्मयोग का, जिसको सही रूप में नहीं समझा गया है, ठीक अर्थ यही है। लाभ के लिए नहीं, अपितु ईश्वर की आराधना के लिए कर्म का साधन है। यदि व्यक्ति अपने कर्तव्यों को भलीभांति निभाता है, तो वह ईश्वर की कृपा प्राप्त करता है। अन्य व्यक्तियों के कर्तव्यों का भलीभांति पालन करने की अपेक्षा अपने कर्तव्यों का अधूरा पालन करना श्रेयस्कर है। संकट पड़ने पर भी उसे अपने कर्तव्यों का त्याग नहीं करना चाहिए प्रत्येक कर्म के साथ दोष उसी तरह रहता है, जिस तरह आग के साथ धुआं। जो निस्वार्थ भाव से कर्म करता है, वही सच्चा न्यासी है। आज विश्व व्यक्तिक्तगत लाभ के जिस संकट से परेशान होकर नयी अर्थनीति की कल्पना और कामना कर रहा है, उसकी आध्यात्मिक आधारशिला गीता द्वारा प्रस्तुत की गई है। जिन श्लोकों से मैंने उपर्युक्त व्याख्या की है, वे अज्ञ लोगों के हाथ में पड़कर ऐसे बन गया है मानो वे व्यक्तिगत स्वार्थों का ही समर्थन करते हों। विचारदोष और पूर्वग्रह अमृत को भी विष बना देने की शक्ति रखते हैं।

अनियमित अर्थनीति और धर्म

वर्तमान परिस्थितियों में, जब जीवन के स्तर काफी ऊँचे हो गये हैं तथा बढ़ती हुई जनसंख्या ने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं, प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों पर समाजहित का सर्वोपरि दावा होना चाहिए और लोगों को अपना नियमन आप करते हुए एक नियमित अर्थव्यवस्था के मातहत रहना चाहिए इस नियमन का विरोध होता है, क्योंकि लोग वृत्ति से स्वतन्त्र रहना चाहते हैं। अतः नियमन इस प्रकार किया जाय जिससे व्यक्तिगत स्वाधीनता का आनन्द नष्ट न हो। नियमन चूंकि बाहर से थोपा जाता है, इसलिए उसका विरोध होता है। आध्यात्मिक अधिष्ठान पर यदि उपयुक्त ढंग से उसकी रचना की जाएगी तो व्यक्ति को दुख नहीं होगा। समाजहितकारी कार्यों के लिए आवश्यक नियन्त्रण मनुष्य के भीतर उसकी आन्तरिक निष्ठा तथा विश्वास से प्रवाहित होने चाहिए सामूहिक कार्य व्यक्तिगत कार्यों से ही मिलकर बनते हैं, अतः यदि उनके लिए व्यक्तियों में उत्साह न हुआ तो वे सफल नहीं होंगे। उत्साह व्यक्ति में ही उत्पन्न

हो सकता है, समूह में तो ऐसे भावों की क्षमता ही नहीं होती। मेरा दावा है कि न्यायपूर्ण और प्रभावी नियमन के लिए धर्म अनिवार्य शक्ति है। आध्यात्मिक निष्ठा और शक्ति ही मनुष्य को समाज–सेवा की ओर प्रेरित कर सकती है। हिन्दू दर्शन का सारत्व भी यही है। अब कोई यह विश्वास नहीं करता कि 19वीं शताब्दी में यूरोप को समूह बनाने वाली जीवन–पद्धति आज भी लागू की जा सकती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी आवश्यकता के अनुसार व्यक्तिगत उद्योग के बजाय नियमित सहयोगी अर्थनीति बरतने की जरूरत है। कम्युनिज्म द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा सफलता का दावा भले ही करे, इस संबंध में लोग भूल जाते हैं कि दुर्भाग्य, क्रान्ति और संकट सब मिलकर कुछ समय के लिए मनुष्य मन की स्थिति प्रायः धार्मिक बना देते हैं। उसी के कारण क्रातियाँ सफल होती हैं। यह धर्म का अस्थायी स्थानापन्न जरूर है, लेकिन सर्वकाल के लिए सम्भव नहीं। कुछ लोगों की गरीबी पर अपनी सम्पत्ति खड़ी करना अपराध है। धन इस प्रकार उपार्जित करना चाहिए कि उससे कहीं भी दुख उत्पन्न न हो। असमानता असहनीय है। प्रत्यक्ष या परोक्ष आर्थिक प्रतियोगिता आज जंगल के कानून का ही दूसरा संस्करण कही जाएगी।

क्रान्तिकारियों की महान भूल

दुर्भाग्य से जिन लोगों ने आर्थिक ढांचे को बदलने वाली क्रातियों का नेतृत्व किया, वे एक तत्कालीन सुविधा के लोभ में फंस गये। उन्होंने देखा कि क्रान्ति के लिए असन्तोष उत्पन्न करना आवश्यक है और धर्म असन्तोष का सबसे बड़ा कारण है। अतः उन्होंने यही कह दिया कि धर्म पुरानी अर्थव्यवस्था का ही एकमात्र अंग है और उसे भी खत्म कर देना चाहिए उन्होंने उसी वस्तु को खत्म करने की चेष्टा की, भले ही वह असफल रही हो, जो मनुष्य को निस्वार्थी बनाने के लिए आवश्यक है। अब निस्वार्थता की नयी अर्थ नीति का आधार क्या होता। यह आत्महत्या के समान और आर्थिक क्रान्ति के लिए भार बन गयादक्ष काल के लिए क्रान्तिकारी भावना की आध्यात्मिकता के कारण भले ही उसे छिपा लिया गया हो, लेकिन शान्ति स्थापित होते ही उसकी आवश्यकता हुई तथा समझौते करके व्यक्तिगत सुविधाओं को गुंजाइश दी जाने लगी। पुरानी अर्थनीति के आधार, लाभवृत्ति को फिर से परोक्ष रूपों में प्रचलित किया गयास्वार्थ को शक्ति के द्वारा पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सकता और न निस्वार्थता को राज्य के नियन्त्रण में बढ़ाया ही जा सकता है। नियन्ता शक्ति सदा सबल नहीं रह सकती, वह दुर्बल होगी ही और उसके साथ–साथ सार्थ भी बढ़ेगा, अतः समझौते आवश्यक हो जायेंगे। (पाञ्चजन्य, प्रकाशन तिथि 2 अप्रैल, 1953 एवं 7 जनवरी 2018)

3.4 विशुद्धानन्द पाठक

असाधारण विद्वान और चर्चित इतिहासकार विशुद्धानन्द पाठक भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में अपने महत्त्वपूर्ण योगदान देने के लिए जाने जाते हैं। इनका जन्म देवरिया जिले के पिण्डी ग्राम में हुआ था। जन्म के बाद से ही इनमें कतिपय विलक्षणता के दर्शन होने लगे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पिण्डीग्राम की प्रारम्भिक पाठशाला में हुई। इन्होंने किंग जार्ज हाईस्कूल, देवरिया से हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। डी. ए. वी. इण्टर कॉलेज से इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की, परन्तु उसी समय देश में अगस्त् क्रान्ति तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों की वजह से पाठक जी के अध्ययन में व्यवधान पड़ गयाकालान्तर में उन्होंने बी. ए. तथा प्राचीन भारतीय इतिहास में एम. ए. भी प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण कर लियापाठक जी की प्रथम नियुक्ति बिरला

कॉलेज पिलानी (राजस्थान) में हुई परन्तु काशी के विपुल वैभव ने उन्हें वाराणसी खींच ही लाया जहाँ वे डी. ए. वी. डिग्री कॉलेज में प्रवक्ता के पद पर नियुक्त हुएँ इनका अध्ययन और अध्यापन दोनों साथ–साथ चलता रहा तथा उन्होंने भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. आर. एस. त्रिपाठी के निर्देशन में अपना शोध प्रबन्ध हिस्ट्री ऑफ कोशल लिखा और 1956 में पी. एच. डी. की उपाधि अर्जित की।

वासुदेवशरण अग्रवाल, सी. राजगोपालाचारी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, विशुद्धानन्द पाठक, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रोफेसर व अध्यक्ष डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी से इनकी प्रतिभा छिपी न रह सकी। प्रारम्भ में डॉ. त्रिपाठी ने इन्हें अल्पकालिक अध्यापन का कार्यभार सौंपा लेकिन जुलाई 1959 ई. से बी. एच. यू. के इतिहास विभाग में डॉ. पाठक की स्थायी नियुक्ति कर दी गई। 1966 ई. में रीडर पद तथा 1982 ई. में प्रोफेसर पद इन्हें प्राप्त हुआ। इसी बीच इन्होंने अनेक ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन तथा शोध लेखों का प्रकाशन कियापाठक जी की प्रमुख कृतियों में हिस्ट्री ऑफ कोशल (अंग्रेजी में), भारतीय इतिहास और संस्कृति, उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन आदि प्रमुख हैं।

लेखन कार्य

1. ''हिस्ट्री ऑफ कोशल अप टु द राइज ऑफ मौर्याज'' को विशुद्धानन्द पाठक ने डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी के निर्देशन में पी. एच. डी. के लिए तैयार किया था। 494 पृष्ठों की यह पुस्तक लेखक के गुरू डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ कन्नौज टु द मुस्लिम कान्क्वेस्ट' के पैटर्न पर लिखी गई है। इस पुस्तक में कुल 12 अध्याय हैं। इसमें प्राचीन कोशल का ऐतिहासिक भूगोल, वंशावलिया और कालक्रम, कोशल शक्ति का उद्भव और विकास, राम का युग, कोशल राज्य के अवसान और पतन, कोशल के गणराज्य, राज्य शासन के सिद्धान्त, सामान्य प्रशासन, कोशल के गणराज्य : संविधान व सरकार, समाज धर्म आदि के सुन्दर वर्णन हैं। अन्त में निष्कर्ष है। अतीत के कोशल को जीवन्त कर देने वाला यह निष्कर्ष भविष्य में आगे के शोध के लिए प्रेरणादायक है।

2. 'भारतीय इतिहास और संस्कृति' नामक ग्रन्थ डॉ. विशुद्धानन्द पाठक और डॉ. जयशंकर मिश्र ने मिलकर लिखा है। इसमें कुल 312 पृष्ठ हैं। यह तीन खण्डों में बँटी हुई है। इसमें कुल 25 अध्याय हैं। प्रथम खण्ड प्रस्ताविक है। द्वितीय खण्ड में राजनीतिक पृष्ठभूमि है, जिसमें प्राक्मौर्य राजनीतिक विकास, विदेशी आक्रमणों के युग, वैदिक प्रतिक्रिया, गुप्त साम्राज्य और संस्कृति का पुनर्जीवन, हर्ष, राजनीतिक विश्रृंखल, मुगल साम्राज्य, मुसलमानी प्रशासन, योरोपीयों का आगमन, अंग्रेजी सत्ता का विस्तार, राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतन्त्र भारत का संविधान है। तीसरे खण्ड में सम्बन्धित युगों में जीवन और धर्म का वर्णन है।

3. 'उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास' विशुद्धानन्द पाठक की सर्वाधिक ख्यातिलब्ध कृति है। उन्हें इस पुस्तक लेखन के लिए आचार्य नरेन्द्र देव पुरस्कार से अलंकृत किया गया है। इसके साथ ही साथ इस पुस्तक का मूल्यांकन इसी से किया जा सकता है कि अब तक इस ग्रन्थ के ग्यारह संस्करण निकाले जा चुके हैं। यह पुस्तक 18 अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय प्रस्ताविक है, जिसमें उपकाल विभागों सहित सम्बद्ध युग की मुख्य राजनीतिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से पाठक को भली–भांति परिचित् कराते हुए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे और तीसरे अध्यायों में पुष्यभूति वंश के प्रारम्भिक इतिहास सहित हर्ष के अधीन कान्यकुब्ज साम्राज्य और उसकी

मृत्युपरान्त मध्य देश के इतिहास का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में शशांक के अधीन गौड़ राज्य और उसके बाद उत्पन्न होने वाली बंगाल की अव्यवस्था का चित्रण है। पाँचवे अध्याय में गुर्जर प्रतिहार सत्ता के उद्भव और विकास के साथ उसके अधीन कन्नौज साम्राज्य के इतिहास का विस्तृत विवेचन है। छठें से आठवें अध्यायों में पश्चिम और पश्चिमोत्तर में स्थित कश्मीर का इतिहास, सिन्ध और मुल्तान में अरब सत्ता की स्थापना एवं अफगानिस्तान और पंजाब की शाही सत्ता का इतिहास प्रस्तुत है। नवें से बारहवें अध्यायों में पूर्वी भारत के पालों, उड़ीसा के विभिन्न राजवंशों, सेनों तथा बारहवीं शताब्दी के अन्त तक का कामरूप का इतिहास दिया गया है। तेरहवें से अठारहवें अध्यायों में कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य के पतन के बाद उसके विशाल उत्तर भारतीय क्षेत्रों पर अपनी–अपनी समानान्तर सत्ता स्थापित करने वाले कन्नौज–काशी के गाहड़वालों, बुन्देलखण्ड के चन्देलों, राजपुताना और पंजाब के चाहमानों, गुजरात के चोलुक्यों, मालवा के परमारों और बघेलखण्ड के कलचुरियों के अलग–अलग इतिहास का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है।

4. डॉ. रामशरण शर्मा ने उक्त पुस्तक के आमुख में लिखा हैं– ''इतिहास के अध्ययन–अध्यापन के स्तरोन्नयन तथा हिन्दी भाषा में मानक ग्रन्थों के प्रणयन की दिशा में डॉ. विशुद्धानन्द पाठक का प्रयास स्तुत्य है। साथ ही कई स्थलों पर उन्होंने अपना स्वतन्त्र विचार भी रखा है।'' डॉ. पाठक के इतिहास लेखन के सम्बन्ध में शर्मा जी कहते हैं– ''पुस्तक में संकेताक्षरों, पाद टिप्पणियों आदि की एकरूपता बरती गई है, जिससे आगे के लेखकों का मार्ग–प्रदर्शन होगा।''

5. 'दक्षिण भारत का इतिहास' विशुद्धानन्द पाठक की एक अन्यतम् कृति है। दक्षिण भारतीय इतिहास और संस्कृति के बारे में हिन्दी में तथ्यपूर्ण जानकारी उपलब्ध न हो पाने के कारण यह पुस्तक छात्रों एवं पाठकों के लिए समान रूप से उपयोगी है। इस पुस्तक में कुल 16 अध्याय हैं। प्रथम अध्याय प्रस्ताविक है जिसमें दक्षिण भारतीय इतिहास का महत्त्व, राजनीतिक गतिविधियाँ, दक्षिण भारतीय भाषाएँ, दक्षिण भारतीय इतिहास के स्त्रोत के रूप में अभिलेख, साहित्यिक स्त्रोत, दक्षिण भारत के मन्दिर और मन्दिरों का संस्थात्मक स्वरूप, आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक प्रतिद्वन्दिताओं का वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में बादामी के चालुक्य तथा एहोल प्रशस्ति् का उल्लेख है। तीसरे और चौथे अध्याय में राष्ट्रकूट तथा राष्ट्रकूट प्रशासन और संस्कृति का उल्लेख है। पाँचवा और छठा अध्याय चालुक्य तथा उनके प्रशासन और संस्कृति से सम्बन्धित है। आठवें में द्वारसमुद्र के होयसल राज्य, नवें में काञ्चीपुरम के पल्लव राज्य का उल्लेख है। दसवें से बारहवें अध्याय में देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतीय तथा मदुरै के पाण्ड्य राज्य का इतिहास वर्णित है। तेरहवें और चौदहवें अध्याय में चोलवंश तथा चोल प्रशासन का उल्लेख किया गया है। पन्द्रहवें अध्याय में दक्षिण भारतीय स्थापत्य और कलाएँ तथा सोलहवां अध्याय दक्षिण भारत के आर्थिक और व्यापारिक इतिहास से सम्बन्धित है।

6. 'प्राचीन भारत की आर्थिक संस्कृति' नामक पुस्तक डॉ. विशुद्धानन्द पाठक की प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास का विश्लेषणात्मक वर्णन प्रस्तुत करती है। यह कृति मुख्यतः दक्षिण भारतीय विषयों की ओर विशेष रूप से अभिमुख है। यद्यपि इसकी समय सीमा प्रधानतः 600 ई. के बाद वाली भौतिक संस्कृति विषयक पक्षों को समाहित करती है। यह पुस्तक सात अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय

में संगम साहित्य, रचनाकाल, संगम रचनाओं से ज्ञात भौतिक संस्कृति का वर्णन है। दूसरे अध्याय हर्षोत्तरकालीन करों का क्रमशः बढ़ती उत्पीड़क स्वरूप, दक्षिण भारतीय कर प्रणाली से सम्बन्धित है। तीसरे अध्याय में उत्तर भारतीय सामन्त प्रथा का स्वरूप, आर्थिक सामाजिक क्षेत्र में कुछ प्रतिकूल प्रभाव, कुछ नई मान्यताएँ आदि का चित्रण किया गया है। चौथे अध्याय में दक्षिण भारतीय सामन्त प्रथा का उल्लेख है। पाँचवें से सातवें अध्याय में दक्षिण भारतीय कृषि का स्वरूप और विकास, प्रथम सहस्राब्दि की कृषि–प्रगति, ग्रामों का स्वरूप, भारत और चीन के व्यापारिक सम्बन्ध, पूर्वी समुद्रतट के बन्दरगाह, चोलयुगीन व्यापारिक आयाम, परवर्ती काल–घटती व्यापारिक हिस्सेदारी आदि का सारगर्भित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

7. ''उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन'' डॉ. पाठक की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इतिहास लेखन के क्षेत्र में यह पुस्तक ऐसी अनेक जानकारियाँ उपलब्ध करवाती है, जो प्रायः हिन्दी भाषा में क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं थी। यह सम्पूर्ण पुस्तक नौ अध्यायों में विभक्त हैं– वैदिक और पौराणिक इतिहास लेखन बाणभट्ट कृत हर्षचरित, वाक्पतिराज का गउड़वहो, पद्मगुप्त परिमल का नव साहसांक चरित, विल्हण कृत विक्रमांकदेव चरित, कल्हण की राजतरंगिणी, जयानक कृत पृथ्वीराज विजय, जैन इतिहास लेखन : चरित एवं प्रबन्ध और संध्याकर नन्दिन कृत रामचरित का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है।

पुस्तक में विद्वान लेखक ने आधुनिक इतिहास लेखन की एक मूलभूत समस्या को समग्रता से समेटा है और विशद् भारतीय ग्रन्थ परम्परा को गहरे आत्मसात् करने के बावजूद केवल और केवल उसे इतिहास लेखन तकलेखनी को केन्द्रित रखा है। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्तडॉ. विशुद्धानन्द पाठक की अन्य रचनाओं में पाँचवी एवं सातवीं शताब्दियों का भारत (बौद्ध यात्रियों के वर्णन के आधार पर भारत वर्ष का वर्णन), हिन्दी विश्वकोष, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित ग्रन्थ में लगभग 75 निबन्धों की प्रविष्टियाँ, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू एण्ड इण्डिक रिलेशसन्स केलिफोर्निया अमेरिका में लगभग 25 लेख आदि शामिल हैं।

इन अध्ययनों से प्रो. विशुद्धानन्द पाण्डेय की इतिहास दृष्टि को समझा जा सकता है जो अलग–अलग विषयों पर स्रोतों की गहनतापूर्वक पड़ताल से सम्बन्धित हो। उनका मानना था कि कार्य ऐसे किया जाए जिससे कि इतिहास लेखन की पद्धति के स्तर को ऊपर उठाया जाएँ इस क्रम में सन्दर्भों को देते समय यथाशक्ति सभी सन्दर्भों के मूल तक पहुँचना महत्त्वपूर्ण है। साथ ही हमें समकालीन अन्य स्रोतों से स्रोत विशेष की तुलना भी करनी चाहिए

3.5 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से विवेचित् करने का प्रयास जिन विद्वानों ने किया उनमें डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय का नाम भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय भारतीय साहित्य, संस्कृति, इतिहास और दर्शन के मर्मज्ञ थे। उनके पास भारतीय परम्परा के सौन्दर्यबोध और मूल्यबोध को परखने की व्यापक दृष्टि थी। उनके रचना–संसार का फलक विस्तृत है। उनका अध्ययन व्यापक है। संस्कृत का अच्छा ज्ञान होने के कारण वे भारतीय साहित्य में विद्यमान ज्ञान राशि को परखने में समर्थ थे। भारतीय संस्कृति, इतिहास–दर्शन, मूल्य–दर्शन और बौद्ध धर्म पर उनकी कई पुस्तकें अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत में प्रकाशित हैं। उनके द्वारा रचित् ग्रन्थों को

पढ़ने पर यह आभास होता है कि उनके अध्ययन की सीमा का विस्तार क्तिना विराट है। निरन्तर ज्ञान–साधना में रत रहने वाले विद्वान द्वारा ही ऐसी रचनाओं का प्रणयन संभव है। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की।

लेखन कार्य तथा प्रतिपादन

इनके द्वारा रचित् कुछ प्रमुख पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं– स्टडीज इन द ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, दि मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, मूल्य–मीमांसा, शंकराचार्य–विचार और सन्दर्भ, वैदिक संस्कृति, सौन्दर्य दर्शन विमर्श आदि। इनके द्वारा रचित् ग्रन्थों के अध्ययन से निश्चित रूप से हमारी दृष्टि विकसित् होती है तथा भारतीय ज्ञान परम्परा को समझने में हम समर्थ होते हैं। इनके द्वारा रचित् ग्रन्थों को समझने के लिए इन ग्रन्थों को मनोयोग से पढ़ना आवश्यक है।

प्रायः औपनिवेशिक दृष्टि से प्रभावित विद्वानों के एक वर्ग में यह मान्यता प्रचलित रही है कि प्राचीन भारतवासियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव था। इन विद्वानों का यह मानना था कि भारतीय घटनाओं के तथ्यपरक विवरण के प्रति सजग नहीं है। ये विद्वान इस तरह की अरुचि के मूलभूत कारणों की तलाश के क्रम में भारतीय धर्म, मनोवृत्ति, जलवायु आदि को उत्तरदायी ठहराते हैं। ये विद्वान इस मत को मानते हैं कि भारत में मनुष्य स्वयं को प्रकृति के समक्ष तुच्छ और असमर्थ पाता है, जिसके कारण उसके भीतर स्वयं की नगण्यता तथा जीवन की व्यर्थता की भावना जन्म लेती है। इसके साथ ही साथ उनका यह भी आक्षेप था कि भारतीयों ने समय को सदैव गौण स्थान दिया है। अतएव तिथिक्रम के यथार्थ प्रस्तुतीकरण की ओर से वे उदासीन रहे हैं। इन विद्वानों द्वारा भारतीयों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अनुपस्थिति के सन्दर्भ में जो भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, उनका गोविन्दचन्द्रपाण्डेय ने विद्वत्तापूर्ण तरीके से खण्डन कियाडॉ. पाण्डेय इन विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास लेखन के सन्दर्भ में की गई निरर्थक आलोचना को खारिज करते हैं तथा इस तथ्य पर विश्वास करने का आग्रह करते हैं कि भारतीयों के मन में इतिहास की एक भिन्न अवधारणा थी। वे लिखते हैं कि ''भारतीय इतिहास लेखन की निरर्थक आलोचना करने के स्थान पर भारतीय विशिष्ट इतिहास दृष्टि को आत्मसात करना अभीष्ट है।'' वे हीरानन्द शास्त्री के इस विचार का खण्डन करते हैं कि प्राचीन भारतीयों ने इतिहास की ओर ध्यान नहीं दियाँ औपनिवेशिक दृष्टि से प्रभावित विद्वानों ने प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बोध न होने के स्रोत को दार्शनिक सिद्धान्तों में देखा। डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय इस मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि ''जहाँ तक भारतीयों की तथाकथित अ–ऐतिहासिकता के स्रोत को उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में देखने का प्रश्न है, यह ध्यातव्य है कि भारतीय विचार में वर्तमान जीवन को कभी भी सर्वथा नगण्य नहीं माना गया है। ''इह चैव वेदिथ'' सत्य को यही जानना है और इसी जीवन में ही धर्म का आचरण करना है, सदैव से ही हिन्दू धर्म की यह निष्ठा रही है।

कर्म और मायावाद के सिद्धान्तों को निष्क्रियता एवं निरपेक्षता का स्रोत मानना इन सिद्धान्तों के अज्ञान का परिचायक है।'' साथ ही वे इस बात को रेखांक्ति करते हैं कि ''कर्मवाद नियतिवाद से भिन्न है तथा क्रिया–स्वातन्त्र्य की अपेक्षा रखता है।'' आगे वे लिखते हैं कि ''मायावाद के प्रसिद्ध प्रतिपादक शंकराचार्य भी उन कार्यों से विमुख नहीं हुए जिनका निर्वाह वे अपना उत्तरदायित्व समझते थे। सारे भारत का भ्रमण करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रचार करने वाला दार्शनिक क्या संसार के मिथ्यात्व को इन विद्वानों के अनुसार समझता था? संसार के मिथ्यात्व के प्रतिपादन का स्तर

दूसरा है, इसमें दृश्यमान विश्व की सामान्यतया मान्य यथार्थता और तद्नुसार उत्तरदायित्व–निर्वाह का तिरस्कार नहीं निहित है। जगत् के मिथ्यात्व का अर्थ केवल इतना है कि यह परम सत्य नहीं है। परम सत्य केवल ब्रह्म है और जगत् उसका विवर्त है;जगत की सत्यता तद्प्रसूत सत्यता है तथा उसकी मिथ्या सत्ता केवल किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होने के कारण है।'' आगे वे लिखते हैं कि ''कर्म और मायावाद से विश्वास होने पर भी भारतीयों ने एक गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण किया और भारतीय इतिहास के अज्ञानी ही उनकी महती उपलब्धियों से अपरिचित् होंगे। इस जीवन के महत्त्व को भारतीयों ने सदैव समझा है। ''चरैवेति चरैवेति'' भारतीय ऋषियों की वाणी रही है 'इह चैव वेदिथ' सत्य को यही जानना है।'' वैसे औपनिवेशिक दृष्टि से ग्रसित् विद्वान जो यह मानते थे कि भारतीय इहलौकिक कार्यों से विमुख थे उनका अत्यंत सुंदर ढंग से गोविन्दचन्द्रपाण्डेय जवाब देते हैं, वह कई विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरणों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि ''भारत कर्मभूमि है''। औपनिवेशिक दृष्टि से प्रभावित विद्वानों का जो आरोप था कि हमने अपने अतीत को सुरक्षित नहीं रखा है, उसके उत्तर में डॉ. पाण्डेय लिखते हैं कि ''विश्व में कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसने इतने सुदूर अतीत का इतना बड़ा भाग सुरक्षित रखा है। भारत में सदैव यह विश्वास किया गया कि हम अतीत के वंशधर हैं, जिसकी सुरक्षा हमारा कर्त्तव्य है तथा जिसमें योगदान करते हुए हमें ऋणमुक्त होना है।'' वे लिखते हैं, ''निश्चित रूप से परम्परा के प्रति चेतना तथा उत्तरदायित्व की भावना भारतीयों में विद्यमान थी।'' इस वाक्य के समर्थन में वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ''इसी भावना के कारण प्राचीन ग्रन्थों का समय–समय पर सम्पादन तथा उन्हें निरन्तर नूतन एवं बुद्धिगम्य बनाए जाने का प्रयास किया जाता रहा। महाभारत को सदैव समयानुकूल बनाया जाता रहा। इसी प्रकार पुराणों में परिवर्द्धन तथा परिवर्तन आधुनिक युग तक किए जाते रहे।'' ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में विचार रखते हुए डॉ. पाण्डेय लिखते हैं कि ''ऐतिहासिक प्रक्रिया का वास्तविक अर्थ सभी सांस्कृतिक प्रकरणों को अर्थ के एक विकासशील सन्दर्भ के प्रकरण के रूप में प्रतिष्ठित होने में, अथवा दूसरे शब्दों में, आत्म–बोध की गवेषणा के रूप में लिए जाने में निहित है।'' वे इस बात पर भी अपना विचार रखते हुए लिखते हैं कि किसी भी समाज अथवा संस्कृति में कौन सी बातें सुरक्षित रखी जाती है। वे लिखते हैं ''किसी भी समाज अथवा संस्कृति में वही बातें सुरक्षित रखी जाती है जिन्हें वह अपने लिए आवश्यक तथा मूल्यवान् समझती हैं।'' भारत के सन्दर्भ में विचार करते हुए वे लिखते हैं ''भारत में अर्थ अथवा भौतिक शक्ति को सर्वोपरि मूल्य कभी नहीं माना गया।'' आगे विचार करते हुए वे लिखते हैं ''मानव इतिहास का मूल्य शक्ति अथवा धन की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि में न निहित होकर आत्मोत्कर्ष तथा आध्यात्मिक अनुभूति में निहित है।'' इतिहास के सन्दर्भ में विचार करते हुए डॉ. पाण्डेय लिखते हैं कि ''इतिहास उस राष्ट्र अथवा समाज द्वारा अपने अतीत में मूल्यवान समझे जाने वाले वस्तुओं की सुरक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' औपनिवेशिक दृष्टि से सम्पन्न विद्वानों द्वारा लगाए गए इस आरोप का कि भारतीय मोक्ष को ही परम मूल्य मानते थे, अतः वे इहलौकिक कार्यों से सदैव विमुख रहे, इस पर विचार करते हुए डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय लिखते हैं कि ''भारतीयों ने ऐतिहासिक काल के विशेष महत्त्व को स्वीकार किया है जिसमें रहते हुए ही एक विशेष प्रकार का आचरण करते हुए मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होना है। मोक्ष की प्राप्ति एकाएक नहीं हो जाती;मनुष्य अपने व्यक्तित्व का निरन्तर उत्कर्ष करते हुए इसे प्राप्त करता है और इसके लिए काल–सीमा का निर्धारण प्रत्येक व्यक्ति की अपनी क्षमताओं पर होता है। अतएव, जब तक लक्ष्य अप्राप्त है तब तक संसार और इसके सभी कार्यव्यापार मूल्यों से संयुक्त है और प्रत्येक व्यक्ति को इसमें प्रवृत्त होना है,

यद्यपि उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वे सभी धर्म अथवा नैतिक नियम से नियंत्रित हो। इस प्रकार पुरुषार्थ की अवधारणा में 'धर्म' के साथ 'अर्थ' और 'काम', 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में स्वीकार किये गए हैं तथा ऐतिहासिक काल में रहने वाले सभी लोगों के लिए वे अन्वेष्य हैं। परम सुख तथा शान्ति की दृढ़ इच्छा ने भारतीयों को इहलोक के महत्त्व से विमुख नहीं किया;केवल उन्होंने इहलोक को परम मूल्य नहीं स्वीकार कियाइसी विश्वास के कारण भारतीय एक गौरवपूर्ण अतीत की रचना कर सके और उन्होंने मानव जीवन से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ की। इसके अतिरिक्त, भारतीय चिन्तकों का एक ऐसा वर्ग भी था जो किसी पारलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं करता था और वर्तमान जीवन को ही एकमात्र सत्य मानता था। लोकायत दर्शन ने 'अर्थ' और 'काम' मात्र को मूल्य माना और इस प्रकार भारतीय दार्शनिक चिन्तना में भौतिकवादी प्रवृत्ति का अनुप्रवेश किया।'' डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय कर्म के सिद्धान्त की भारतीय सन्दर्भ में विशद व्याख्या करते हैं। वे लिखते हैं ''कर्म के सिद्धान्त की भाग्यवादी व्याख्या बड़ी स्वाभाविक है, तथा भारत में इस प्रकार की व्याख्या केवल साधारण अशिक्षित जनता में नहीं अपितु बुद्धिवादियों तथा दार्शनिकों में भी, उदाहरणार्थ आजीवक सम्प्रदाय में सर्वथा अज्ञात नहीं है, किन्तु यदि मनुष्य के सभी कार्य व्यापारों एवं उसके जीवन की सभी घटनाओं को पूर्व–नियोजित मान लिया जाय तो इससे इस अवधारणा का पूर्ण निराकरण सिद्ध होगा कि मनुष्य इतिहास का स्रष्टा है क्योंकि सृजन में कार्यस्वातन्त्र्य की अपेक्षा निहित होती है। वह नियति के हाथ में एक खिलौनामात्र होगा जो ऐतिहासिक विकास–प्रक्रिया को कोई दिशा प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ है;उस स्थिति में सभी ऐतिहासिक घटनाएँ किसी अतिमानवीय शक्ति की लीलामात्र मानी जाएगी जिनमें मनुष्य द्वारा किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना का सर्वथा निरास होगा।'' आगे वे लिखते हैं कि ''यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्म के सिद्धान्त की तर्कसम्मत व्याख्या भाग्यवाद का पूर्ण निराश करती है और न ही प्रमुख भारतीय दर्शनों में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म दोनों स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यह पूर्णतया मनुष्य के ऊपर है कि वह बन्धन में रहे अथवा उससे मुक्ति पा ले। वस्तुतः इस सिद्धान्त को ठीक से न समझने के पीछे इस तथ्य विशेष की उपेक्षा होती है कि भारतीयों ने मानव के समस्त् अस्तित्त्व के सन्दर्भ में सदैव दो स्तरों की परिकल्पना की है;माया का स्तर अथवा दृश्यमान विश्व तथा परमार्थ अथवा परम सत्य। प्रथम स्तर पर मनुष्य किसी अन्य प्राकृतिक पदार्थ के समान एक प्रदत्त ऐतिहासिक काल में रहता है जबकि दूसरे स्तर पर उसे प्राकृतिक जगत में निहित सभी ऐतिहासिक एवं द्वैत के पार जाना होता है। कर्म के सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य का नैतिक जीवन उसकी आध्यात्मिक नियति से सम्बंद्ध है तथा जीवन की अयथार्थता एवं नश्वरता के पारगमन के इच्छुक व्यक्ति को इसके माध्यम से एक आध्यात्मिक आश्वासन प्राप्त होता है। किन्तु भौतिक जीवन के सम्बन्ध में जहाँ कि प्राकृतिक नियम अपने सामान्य ढ़ंग से कार्य करते हैं तथा विविध भौतिक अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए जिनका सम्यक् नियंत्रण मनुष्य के लिए आवश्यक है इस प्रकार का कोई आश्वास नहीं दिया जाता। जब तक मनुष्य इस संसार में रहता है तथा अहं भाव से समन्वित होता है, वह एक स्वतंत्र कर्त्ता है;उसके पीछे एक लम्बा इतिहास है और उसे इस इतिहास को चरम परिणति तक पहुँचाना है।'' इस विशद् विवेचना के उपरान्तडॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि ''यह कहा जा सकता है कि कर्म का सिद्धान्त किसी भी रूप में कर्तृत्व भावना के निराश का सिद्धान्त नहीं है;मनुष्य संकल्प शक्ति से युक्त प्राणी है और उसमें इसको कार्य रूप में अनूदित करने की क्षमता है जिसके द्वारा वह इतिहास को एक निश्चित दिशा प्रदान करने में समर्थ है।''

डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय पूरी स्पष्टता के साथ इस बात को रेखांक्ति करते हैं कि यह कहना सत्य नहीं है कि भारत में इतिहास उपेक्षित रहा। लेकिन एक इतिहासकार की तरह तटस्थ दृष्टि रखते हुए वे इस बात को रेखांक्ति करते हैं कि ''कुछ अर्थों में इसकी उपेक्षा की गई। वे लिखते हैं ''जब भी किसी धर्म अथवा दर्शन की प्रमुख परम्परा का संकलन किया गया, इसके प्रलेखों अथवा प्रतिपादकों के विषय में ठीक–ठीक तथा विस्तृत विवरण नहीं रखा गयान ही परवर्ती अंशों को प्राचीनतर भाग से पृथक रखने की चेष्टा की गई। वृहद्काय वेदों, पुराणों के रचनाकारों के विषय में हम सर्वथा ज्ञान–शून्य हैं। इसी प्रकार जब रामायण, महाभारत तथा पुराणों को अनुश्रुत इतिहास के रूप में कल्पित किया गया तथा उन्हें काल्पनिक अथवा अर्द्धकाल्पनिक प्राचीनता से समन्वित किया गया तो एक आलोचनात्मक विवेक द्वारा ऐतिहासिक सामग्री को अनैतिहासिक सामग्री से पृथक् नहीं किया गयाशासकीय प्रलेखों के आधार पर जब व्यास रचित् हर्षचरित तथा कल्हण रचित् राजतरंगिणी जैसे ऐतिहासिक जीवनियाँ लिखी गईं तो इतिहास और कल्पना के समन्वयन को बचाने के लिए उपयुक्त चेष्टा नहीं की गई। यद्यपि राजतरंगिणी के तथ्यों को कल्पना से पृथक् करने का प्रयास है, किन्तु सामान्यतया यहाँ भी इतिहासकार कवि की भूमिका ग्रहण करते हुए दिखाई पड़ता है।

डॉ. गोविन्दचन्द्रपाण्डेय इस प्रश्न पर भी गहनता से विचार करते हैं कि 'इतिहास किसका होता है?' वे लिखते हैं कि इतिहास संस्कृति से अनुप्राणित समाज का होता है। वे इतिहास–प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखते हैं ''सांस्कृतिक परम्परा मूल्यों के उन्मेष, उनके अनुचिन्तनात्मक परामर्श, उनके संप्रेषण एवं तदुपयोगी संकेतों की रचना, उनकी साधना के लिए अपेक्षित संस्थाओं का निर्माण आदि से बनती और बढ़ती है। इस प्रक्रिया में प्रतिभावान महापुरुष ही पथ–प्रदर्शक और तीर्थंकर बनते हैं। संस्कृति मानव मूल्यों के प्रत्यक्षीकरण, कल्पना और प्रयोग की स्वान्वीक्षी और द्वन्द्वात्मक परम्परा है जिसमें मनुष्य अपनी संभावनाओं की उपलब्धि और उपलब्धियों की परीक्षा करता है। समाज के प्रवाहात्मक स्तर के ऊपर संस्कृति का सृजनात्मक स्तर आरोपित करता है। इन दोनों के संश्लेषण से ऐतिहासिक प्रक्रिया निष्पन्न होती है। स्पष्ट ही ऐतिहासिक प्रक्रिया का अधिष्ठान एक विशिष्ट संस्कृति से अनुप्राणित समाज होता है। इस प्रकार के समाज को टॉयनबी सभ्यता कहते हैं। उनका यह कहना सही माना जा सकता है। इतिहास सभ्यताओं का होता है। इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि इतिहास सामाजिक स्तर पर अस्तित्त्व का अनुकरण और सांस्कृतिक स्तर पर आत्मानुसन्धान की संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसका आश्रय अथवा अनुष्ठान सभ्यता अथवा संस्कृति सम्पन्न समाज है।

इतिहास किसका होता है? इसके उत्तर में पाण्डेय जी कहते हैं कि इतिहास संस्कृति से अनुप्राणित समाज का होता है। इस प्रक्रिया में प्रतिभावान महापुरुष ही पथ–प्रदर्शक और तीर्थंकर बनते हैं। जिस समाज की गति उनके सांस्कृतिक मूल्यों को चरितार्थ करने की दिशा में होती है, उस गति को प्रगति कहा जाता है।

3.6 सारांश

भारतीय ऐतिहासिक चिन्तन परम्परा पूर्व में व्यापक मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती है किन्तु उसको व्यापकता तथा तार्किकता स्वतन्त्रता के पश्चात प्राप्तहुई। स्वतन्त्रता पूर्व तो आर्य समाज का सम्पूर्ण आन्दोलन वैदिक युग को पुनर्जीवित करने के लिए प्रयत्नशील था जिसने यह अनुभव किया कि अतीत–बद्धता के साथ–साथ अधुनिक

अनुशासन भी महत्त्वपूर्ण है। जिस तरीके से साम्राज्यवादियों द्वारा सभ्यता का चित्रण किया गया उसकी प्रकृति संस्कृति विरोधी तक हो जाती है क्योंकि जरूरी नहीं कि जो व्यक्ति या समाज इस कसौटी पर सभ्य माना जाए वह सुसंस्कृत भी हो। किसी भी राष्ट्र का इतिहास–लेखन या इतिहास वहाँ के अनुभव तथा अनुभूतियों से जुड़ा होता है। वाह्य व्यक्ति तो वहाँ की अनुभूतियाँ अवश्य रेखांक्ति कर सकता है किन्तु अनुभव अधिकतर वहाँ का स्थानीय समाज ही समझ सकता है। इस आधार पर पूर्व में भारतीय इतिहास की समझ हेतु भारतीय पक्षों या अनुभवों को शामिल करना आवश्यक था जिसे अनदेखा किया गया किन्तु स्वतन्त्रता उपरान्त राष्ट्रवादी इतिहासकारों (भारतविदों) द्वारा इस पर गम्भीर अनुशीलन किया गयाजिसमें वासुदेवशरण अग्रवाल, सी राजगोपालाचारी, विशुद्धानन्द पाठक, गोविन्दचन्द्र पाण्डेय इत्यादि की महती भूमिका रही। जिनके द्वारा औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा भारतीय इतिहास के बारे में कहे गये तथा लिखे गये सामान्यीकृत तर्कों पर ध्यान दियाँ इन भारतविदों की मान्यता रही कि प्रत्येक समाज विशिष्ट होता है जिसके निर्माण तथा विकास में देश और काल का क्षण पूर्णतः भिन्न होता है। साथ ही किसी भी राष्ट्र का इतिहास निर्माण व्यक्ति, संस्थाएँ एवं समसामयिक परिस्थितियाँ मिलकर करती है। भारतविदों द्वारा गढ़ा गया यह परिस्थितिजन्य शब्द इतिहास हेतु एक महत्त्वपूर्ण शब्द है जिसका प्रयोग तो ऐतिहासिक उपकरण के रूप में अवश्य हुआ किन्तु उसको मर्यादित व्यापकता नहीं प्राप्त हुई। इन्हीं राष्ट्रवादी इतिहासकारों के अनुशीलन का परिणाम है कि भारत अपनी राष्ट्रीयता, गौरवबोध स्वबोध को समझ पाया तथा भविष्य हेतु सजग हो पायाँ भारतीय इतिहास लेखन की इसी जागृति ने हमें अपने विरासत् तथा अतीत की पुर्नप्रस्तुति का मार्ग दिखायाँ अतः इसी सांस्कृतिक श्रेष्ठता का और अपनी धरोहरों का वर्तमान मूल्यांकन भी हमारे लिए काफी महत्त्वपूर्ण हो गया है जिसने कई हजार वर्षों की विकास–यात्रा के बाद हमें यहाँ तक पहुँचाया है। इन्हीं मनीषियों के शोधों–अनुसन्धानों का परिणाम है कि नये ज्ञानराशि ने भारतीयों के अन्दर राष्ट्रीय उत्साह और गौरवबोध का संचार किया है।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

- साम्राज्यवादी –विजेता शक्ति द्वारा पराजित अथवा औपनिवेशिक सत्ता के बारे में अपने शर्तों एवं मन्यताओं के आधार पर स्वार्थपूर्ण लेखन।
- राष्ट्रवाद –साम्राज्यवादियों द्वारा लिखित पूर्वाग्रहपूर्ण इतिहास की सहज प्रतिक्रिया।
- प्राच्यवाद –वह लेखन जो समय काल एवं परिस्थितियों के अनुकूल हों किन्तु पराधीन राष्ट्र को थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता देने के पश्चात ऐतिहासिक रूप से विजित राष्ट्र को ही उचित् ठहराना।
- प्रादेशिक इतिहास –ऐसा लेखन जो क्षेत्र या स्थान विशेष के बारे में तथ्यों का उद्घाटन करता हो।
- पुरातत्त्व – प्राचीन वस्तुओं/पुरावशेषों के अध्ययन की शाखा।
- विकासवाद –विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता द्वारा औद्योगिक क्रान्ति के बाद वैज्ञानिक प्रगति का संकेतक/ या प्रयुक्त शब्दावली।
- मानवतावाद –पुनर्जागरण के धर्मसुधार आन्दोलन के पश्चात कुछ प्रगतिशील विचार जैसे स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुता या लोक कल्याण का द्योतक।

- **पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार आन्दोलन** – ऐसी विचारधारा जो पश्चिमी विश्व को पुनःश्रेष्ठता का बोध कराती है। जिसके बाद पहले से चली आ रही व्यवस्था आमूलचूल परिवर्तन होता है और समाज तर्क पर आधारित हो जाता है, जिसमें अन्धविश्वास / कर्मकाण्ड का कोई स्थान न हो।
- **औद्योगिक क्रान्ति** – पुनर्जागरण एवं धर्मसुधार आन्दोलनों के पश्चात विश्व में वैज्ञानिक चिन्तन से उत्पन्न मशीनीकरण।

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. राधाकृष्णन, एस.,(संस्करण 2022), हिन्दू दर्शन, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
2. मजूमदार, आर. सी.,(1967), हिस्ट्रीयोग्राफी इन मार्डन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बाम्बे।
3. पाठक, वी. एस.,(1963), ऍशियण्ट इण्डियन हिस्ट्रोरियन्स, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, लन्दन।
4. पार्जिटर, एफ. ई.,(चतुर्थ संस्करण, 2016), ऍशियण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
5. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, (2001), वैदिक संस्कृति, लोक भारती प्रकाशन, प्रयागराग।
6. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, (1981), भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
7. पाण्डेय, सुष्मिता एवं गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, (1999), भारतीय संस्कृति, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
8. अग्रवाल, वासुदेवशरण, (2020), कला और संस्कृति, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. अग्रवाल, वासुदेवशरण, (1953), हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना।
10. बुद्धप्रकाश, (द्वितीय संस्करण : 1968), इतिहास–दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, मुद्रक : भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी।
11. पाठक, विशुद्धानन्द, (ग्यारहवाँ संस्करण : 2018), उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
12. सी. राजगोपालाचारी, लोकसभा, नई दिल्ली।

3.9 बोध प्रश्न

1. इतिहास–लेखन में वासुदेवशरण अग्रवाल के योगदान का मूल्यांकन कीजिए
2. भारत विद्या के प्रखर चिन्तक के रूप में गोविन्दचन्द्र पाण्डेय की इतिहास दृष्टि की समीक्षा कीजिए
3. विशुद्धानन्द पाठक के इतिहास लेखन में योगदान पर प्रकाश डालिएँ
4. सी. राजगोपालाचारी ने भारतीय इतिहास लेखन को किस प्रकार प्रभावित किया।
5. पाठ में वर्णित भारत विदों के योगदान से राष्ट्रवादी इतिहास लेखन किस प्रकार समृद्ध हुआ? चर्चा कीजिए।

इकाई 4 कुमारस्वामी, ए. के. सरण, धर्मपाल, विद्यानिवास मिश्र

इकाई की रूप रेखा

4.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- कुमारस्वामी के जीवन तथा रचनाओं का परिचय, अध्ययन की विधि, प्रतिपादन एवं महत्त्व को जान सकेंगे।
- ए. के. सरण के जीवन तथा रचनाओं का परिचय, अध्ययन की विधि, प्रतिपादन एवं महत्त्व को जान सकेंगे।
- विद्यानिवास मिश्र के जीवन तथा रचनाओं का परिचय, अध्ययन की विधि प्रतिपादन एवं महत्त्व का जान सकेंगे।
- धर्मपाल के जीवन तथा रचनाओं का परिचय, अध्ययन की विधि, प्रतिपादन एवं महत्त्व को जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियो! अभी तक आप तिलक, गाँधी, मालवीय, हेडगेवार, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपध्याय, श्री अरविन्द, बंकिमचन्द्र चटर्जी, टैगोर, वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री राजगोपालाचारी, विशुद्धानंद पाठक जैसे प्रमुख भारतीय भारतविदों के प्रतिपादन एवं वैशिष्ट्य का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप जिन भारतविटों का अध्ययन करने जा रहे हैं, वे स्वतन्त्र भारत के प्रमुख भारतविद हैं, जिन्होंने साहित्यिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक अध्ययनों में भारत की पश्चिमी जगत् द्वारा दी गई जड़ अवधारणा को खण्डित करते हुये भारत को देखने की एक नयी दृष्टि प्रदान की है।

4.2 कुमारस्वामी

4.2.1 परिचय

आनन्द केंटिज कुमार स्वामी (22 अगस्त् 1877 से 9 सितम्बर 1947) का जन्म कोलम्बो में हुआ था। इनके पिता मुत्तु कुमारस्वामी तथा मां एक ब्रिटिश महिला थी।

लन्दन विश्वविद्यालय से ग्रेजुएशन कर कुमारस्वामी मिनरोलाजिकल सर्वे ऑफ सिलोन के निदेशक पद पर चुने गये तथा बोस्टन म्यूजियम में इण्डियन आर्ट के क्यूरेटर के रूप में 1906 से 1917 तक कार्य किये। इस दौरान वे भारतीय कलाओं पर व्याख्यान देते रहे और भारतीय कलाओं के अध्ययन के लिए कई सोसाईटियों की स्थापना किये। 1938 में भारत की स्वतन्त्रता के लिए बनी राष्ट्रीय समिति के वे अध्यक्ष भी रहे। भारतीय दर्शन, धर्म, कला प्रतिमाविज्ञान, पेंटिंग तथा साहित्य पर उनके द्वारा किये विश्लेषण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार संगीत, विज्ञान तथा इस्लामिक कलाओं पर किया गया उनका कार्य भी अति महत्त्वपूर्ण है। कुमारस्वामी भारतीय कला के उत्कृष्टतम् विवेचक के रूप में संसारभर में आप विख्यात रहे।

4.2.2 लेखनकर्म

कुमारस्वामी का चिन्तन उनकी कई पुस्तकों में संग्रहीत है जिनके नाम इस प्रकार हैं—1. आर्ट एवं स्वदेशी 2. बुद्धा एण्ड दि गास्पेल आफ बुद्धिज्म 3. किश्चियन एण्ड ओरियण्टल फिलासपी, ऑफ आर्ट, 4. द डांस ऑफ शिवा 5. अर्ली इण्डियन आर्किटेक्चर – सिटिज एण्ड सिटिगेट्स 6. अर्ली इण्डियन आर्किटेक्चर – पैलेसेज 7. द एट नायिकाज 8. इलेमेंट्स ऑफ बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी 9. एसेज इन नेशनल आइडलिज्म 10. इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन आर्ट 11. हिदुइज्म एण्ड बुद्धिइज्म 12. ए न्यू अप्रोच टू वेदाज 13. विश्वकर्मा 14. स्प्रिचुअल अथारिटी एण्ड टेम्पोरल पावर इन द इण्डियन थियरी ऑफ गर्वनमेण्ट 15. टाइम एण्ड इटरनिटी आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

4.2.3 योगदान

एक भारतविद् के रूप में कुमारस्वामी का योगदान कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व है, वे हमें तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली द्वारा भारत को जानने के लिए सशक्त एवं समृद्ध वैचारिकी प्रदान करते हैं। कुमारस्वामी के अध्ययन से भारतीय इतिहास एवं कला लेखन के दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया।

4.2.4 विचार एवं अध्ययनविधि

कुमारस्वामी के लिए भारत के बोध का माध्यम वेदान्त के रास्ते से गुजरता है वेदान्त वेद के सार है जिससे भारत की समग्र सभ्यता खड़ी हुई है। धर्म सम्बन्धी सभी पक्षों

की व्याख्या वेदान्त से ही सम्भव है। वेदान्त सामाजिक सम्बन्धों में सन्तुलन, राजनीतिक जीवन में तटस्थता तथा आर्थिक जीवन में त्याग एवं सेवा का प्रतिपादन करता है। कुमार स्वामी के लिए वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृति एक दूसरे के पूरक हैं। अपनी पुस्तक 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म' में वे इसके समानता के तत्त्वों/पक्षों को उद्घाटित करते हैं। धम्मपद में ब्राह्मण की परिभाषा दी गई है। बुद्ध ने भी जन्म से किसी को ब्राह्मण तथा शूद्र नहीं स्वीकार किया है। कुमार स्वामी की मान्यता है कि मुक्ति के अलावा सांसारिक उन्नति भी समाज के लिए आवश्यक है। सांसारिक उन्नति के लिए सबसे अधिक ज्ञानी और योग्य पुरुष का नेतृत्व करना ही श्रेयस्कर है और यह मनुष्य मात्र की भावनाओं ओर अनुभवों से जुड़ा है न कि किसी व्यक्ति विशेष से। भारतीय परम्परा में मानवीय कलाओं को मनुष्य के आन्तरिक और वाह्य जीवन के द्वंद्वों का समाधान करते हुये आत्म तत्त्व तक पहुँचने का साधन माना गया है। शंकराचार्य के कथन को उद्धृत करते हुये वे कहते हैं कि सारे गीत ईश्वरीय हैं और वे आत्मा एवं पदार्थ की अविभाज्य एकता की लय को ही प्रदर्शित करते हैं।

अपने निबन्ध 'स्टेटस ऑफ इंडियन वूमन' में वे भारतीय एवं प्राच्य समाज में स्त्रियों की पारम्परिक भूमिका एवं आधुनिकता के प्रभाव में आये उसके विचलन की मीमांसा करते हैं। वे कहते है कि पारम्परिक समाज में सतीत्व एवं मातृत्व पर विशेष बल था और परिवार में उसकी केन्द्रीय भूमिका थी। भारतीय परम्परा में आध्यात्मिक स्वतन्त्रता महत्त्वपूर्ण थी न कि आत्म प्रदर्शन। भारतीय मूल्य व्यक्ति के कर्त्तव्य पालन को ही धर्म मानता रहा है। परिवार की भारतीय समाज में केन्द्रीय भूमिका रही है और विवाहित जीवन में पति–पत्नी मिलकर एक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। समर्पण, त्याग प्रेम, वात्सल्य महिलाओं का प्रकृति प्रदत्त स्वभाव है, आधुनिक सभ्यता उन्हें पुरुषवत बना देना चाहती है। वे भारतीय मिथकों राधा, सीता के ही नहीं बल्कि ग्रीक/पश्चिमी मिथकों ब्रिनाहिल्ड दियेद्रा, अलकेस्टिस के भी महत्त्व की व्याख्या इन्हीं मूल्यों के आधार पर करते हैं।

शासन–प्रशासन की भारतीय अवधारणा भी भारतीय कला समाज, व्यवस्था की भाँति आध्यात्मिकता तथा इहलौकिकता की युगलबन्दी से निर्मित हुई है। यही कारण है कि राजत्व का दैवीय सिद्धान्त भारतीय राजव्यवस्था के मूल तत्त्व के रूप में प्रवाहवान रहा है। ध्यातव्य है, यह व्यवस्था एक तरफ तो राजा के इस्लामी देवत्व सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है जिसके अनुसार पृथ्वी पर राजा परमपिता का उत्तराधिकारी है, जो शासन करने के लिये स्वतन्त्र है, जबकि दूसरी तरफ क्रिश्चियन राजत्व के सिद्धान्त के भी विपरीत है, जिसमें राजा अपने दायित्वों को भूल गया है। राजत्व सिद्धान्त में प्रशासन राजा और त्यागी बौद्धिक वर्ग के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध के समान बँधा हुआ है। यह विचार शाससन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। यह भारतीय समाज व्यवस्था की विशेषता है।

कुमारस्वामी भारत की कलाओं, मिथकीय चरित्रों, कलारूपों के प्रतीकात्मक स्वरूपों की व्याख्या विश्व के प्रमुख संस्कृतियों से इनकी तुलना के माध्यम से करते हैं। भारतीय कला के पश्चिमी कला–दर्शन से मौलिक अन्तर को प्रस्तुत करते हुए भारतीय कला के वास्तविकता के उद्घाटन की यह विधि भारत को जानने हेतु अति महत्त्वपूर्ण है। अपनी पुस्तक 'दी डांस ऑफ शिवा' में वे शिव की नटराज मूर्ति की मुद्रा की व्याख्या के माध्यम से आपने वैदिक परम्परानुसार ब्रह्माण्ड के अभिव्यक्तिकरण के प्रतीकों पर प्रकाश डाला है। शिव की मूर्ति ब्रह्माण्डीय गति का प्रतीक है। कुमारस्वामी के अनुसार इस नृत्य का उद्देश्य–अनगिनत जीवों को विभ्रम से मुक्ति प्रदान करना है। अपने

निबन्ध 'इण्डियन इमेजेज विथ मेनी आर्म्स' में वे व्यक्ति के बहुमुखी कार्य सम्पादन की क्षमता की व्याख्या करते हैं। उनकी अध्ययन–विधि द्वारा प्राप्त भारतीय कला की व्याख्या हमें प्रतीकों का वास्तविक अर्थ प्रदान करता है। भारत धर्म–प्राण देश है। धर्म हमें जीवन में विश्रान्ति देता है इसलिए धार्मिक सिद्धान्तों का सूक्ष्म व्यवहार कला रूपों में उपस्थित है। कुमारस्वामी भारत के वैशिष्ट्य के उद्घाटन के लिए पश्चिमी कला सिद्धान्तों, दर्शनों तथा कला रूपों से इसकी तुलना करते हैं।

अपने निबन्ध 'इण्डियन म्यूजिक' में वे भारतीय एवं पाश्चात्य संगीत परम्पराओं के विविध पक्षों की तुलना करते हैं और बताते हैं कि भारतीय संगीत निर्वैयक्तिक है। जिसके कारण शासन–प्रशासन में आन्तरिक अनुशासन और बाह्य संकट के रक्षार्थ सामर्थ्य संग्रह किया जाता रहा है। जिस प्रकार अग्नि और पुरोहित सभी देवताओं के लिये हविष्य पहुँचाने का माध्यम बनते है, उसी प्रकार प्रशासन का बौद्धिक वर्ग, प्रशासन के सभी तत्त्वों के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है। विस्तृत अध्ययन के लिये उनकी पुस्तक देखी जा सकती है।

बोध प्रश्न

1. आनन्द कुमारस्वामी किस प्रकार के भारतविद हैं।

   (क) पुरातत्त्व एवं इतिहास (ख) कला एवं मिथक परम्परा

   (ग) लोक अध्ययन (घ) पूर्व औपनिवेशिक अध्ययन

2. निम्न में से कौन सी पुस्तक कुमारस्वामी द्वारा लिखित नहीं है–

   (क) द डांस आफ शिवा (ख) अर्ली इण्डियन आर्कीटेक्चर

   (ग) हिन्दूइज्म एँड बुद्धिज्म (घ) ब्यूटीफुल ट्री

3. निम्न में से कौन सा निबन्ध आनंद कुमार स्वामी का है–

   (क) छितवन की छांह (ख) गाँव का मन

   (ग) स्टेटस ऑफ इण्डियन वूमन (घ) तुम चन्दन हम पानी

4.3 अवध किशोर सरण (1922–2003)

4.3.1 परिचय

ए. के. सरण दस वर्ष की अवस्था में ही आनन्द कुमारस्वामी केसम्पर्क में आ गये थे और कुमारस्वामी से प्रभावित होकर ही वे अपने अध्ययन में पारम्परिक हिन्दू–दृष्टि के आधुनिक तत्त्वों को शामिल करते हैं। इनके लेखन को पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि वे फ्रिथजॉफ शुओन से भी प्रभावित रहे जो कि बीसवीं सही के प्रमुख दार्शनिक हैंऔर जिन्होंने तत्त्वमीमांसा की खोज में उपनिषद्, बाइबिल, भगवद्गीता, कुरान के साथ ही प्लेटो, इमर्शन, गोथे और शिलर जैसे दार्शनिकों का अध्ययन करते हुए अपने को भगवद्गीता और वेदान्त की दुनिया में डूबो लिया था। उनके लेखन में धर्म का अभ्यास करने के साथ–साथ आध्यात्मिक सिद्धान्त की सार्वभौमिकता पर बल दिया गया है। इसके साथ ही वे सद्गुणों तथा सुन्दरता के महत्त्व पर बल देते हैं।

इस प्रकार के उत्कृष्ट विचारकों एवं दार्शनिकों से प्रभावित ए.के0सरण ने समकालीन समय में हिन्दू परम्परा की उत्कृष्टता को पुनः प्रतिपादित किया और हिन्दू – परम्परा की निर्विकल्पता को स्थापित किया है। ए. के. सरण का अकादमिक जीवन लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में प्रारम्भ हुआ और बाद में उन्होंने

कार्डिनल स्ट्रीच विश्वविद्यालय, विन्सकासिंन में शान्ति और न्याय में गैमियल के पद पर कार्य किया।

4.3.2 लेखनकर्म

ए. के. सरण का चिन्तन उनकी कई पुस्तकों में संग्रहीत है, जिनके नाम इस प्रकार हैं– 'सम्यक्–वाक्' विशेष शृंखला : इस शृंखला में दस पुस्तकों का प्रकाशन उच्च तिब्बती अध्ययन संस्थान, सारनाथ, वाराणसी द्वारा किया गया है, जिनमें 'ट्रेडिशनल थाटः टूवार्ड्स एन एक्जिओमेटिक अप्रोच', 'सोशियलॉजी ऑफ नालेज एण्ड ट्रेडिशनल थॉट', 'ट्रेडिशनल विजन ऑफ मैन', 'आन दी थीअरिज ऑफ सेक्यूलरिज्म एण्ड मार्डनाइजेशन' तथा 'हिन्दूइज्म इन कण्टेम्पोरेरी इण्डिया' महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त आपकी पुसतकों में 'इन्वायरमेण्टल साइकालजी' महत्त्वपूर्ण है।

4.3.3 योगदान

ए. के. सरण मूलतः समाज शास्त्री थे तथा हिन्दू समाज शास्त्री के रूप में बी0 के. सरकार, आर0 एन0 मुखर्जी की परम्परा में आते हैं।आप पश्चिमी समाजशास्त्री चिन्तन का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए हिन्दू सिद्धान्तों को आधुनिक मूल्यबोध के सन्दर्भ में को प्रकाश में लाने हेतु धर्म समाजशास्त्री तथा समाज–दार्शनिक विधि से अपने विचार को रखते हैं।आपकी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दूइज्म' में हिन्दू सभ्यता के मूल सिद्धान्तों की अभिनव व्याख्या प्राप्त होती है इस पुस्तक का प्रारम्भ ही माडर्न सोशियलॉजीकल मेथाडॉलाजी से होता है।

4.3.4 विचार एवं अध्ययन विधि

आप हिन्दूत्व का प्रारम्भिक बिन्दु ईश्वर या ब्रह्माण्ड मीमांसा को नहीं मानते बल्कि एक साधारण किन्तु एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न 'मैं कौन हूँ' को मानते है। इस प्रश्न की व्याख्या करते हुए आप समाज के प्रारम्भिक सिद्धान्तों की ओर आगे बढ़ते हैं और बताते हैं कि यह प्रश्न व्यक्तिगत होते हुए भी उस स्तर पर निर्वैयक्तिक बन जाता है जहाँ देश काल, जाति, धर्म, राजनीति सभी गौण हो जाते हैं। हिन्दूत्व में वर्णित सिद्ध पुरुषों के जीवन इसके साक्षात् उदाहरण हैं।

पारम्परिक हिन्दू समाज व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों की अभिनव व्याख्या के क्रम में आप इन्द्र और वृत्र के आख्यान की व्याख्या करते हुए 'ऋत' और 'अनृत' की संकल्पना को स्पष्ट करते हैं। 'ऋत' ब्रह्माण्ड के क्रम, वास्तविकता एवं सत्य का प्रतिरूप है जबकि 'अनृत' अव्यवस्था, अवास्तविकता, असत्य एवं अराजकता का प्रतिरूप है।

वर्णाश्रमधर्म की व्याख्या में आप लिखते हैं– वर्णव्यवस्था मनुष्य का मूलस्वभाव है। यह विश्व त्रिगुणात्मक है अतः मनुष्य भी त्रिगुणात्मक है जिस व्यक्ति में जिस गुण की प्रधानता होती है वह उस वर्ण का बन जाता है।

पुरुषार्थ मानवीय जीवन का लक्ष्य है। पुरुषार्थ के समकक्ष आप कीर्केगार्द द्वारा मानव जीवन के तीन चरण के सिद्धान्त को उपस्थापित करते हैं। इस क्रम में आप 'काम' को सौन्दर्य, 'अर्थ' को नैतिक तथा 'धर्म' को धार्मिकता के रूप में देखते हैं जबकि चौथे पुरुषार्थ 'मोक्ष' को आप मनुष्य की सभी प्रेरणाओं तथा उद्देश्यों की अन्तिम परिणतिके रूप में देखते हैं जो मानव जीवन में केवल प्रेम और विश्वास के साथ जुड़ता है यह एक प्रकार से 'Socratic Platoncic Sense'है तथा व्यक्त तथा अव्यक्त के मध्य दृष्टिगोचर सातत्य भग्नता के रहस्य को प्रतीकरूप में अभिव्यक्त करता है।

इसी प्रकार से स्वधर्म की व्याख्या करते हुए आप स्वधर्म को व्यक्ति के सामाजिक दायित्व से जोड़ते हैं, जो एक तरफ वर्णाश्रम धर्म से जुड़ता है तो दूसरी तरफ मनुष्य के कार्मिक बन्धन से व्याख्यायित होता है। इस रूप में कर्म का सिद्धान्त आत्मविद्या तथा समाजविद्या का आधार बनता है।

इस प्रकार ए. के. सरण का भारत बोध 'मैं कौन हूँ' जैसे तात्विक प्रश्न से आरम्भ होता है और पूरे मानव जीवन से जुड़े हुये सभी सामाजिक प्रश्नों की समाजशास्त्रीय व्याख्या करते हुये, इसी प्रश्न 'मैं कौन हूँ' के उत्तर में ही समाप्त हो जाता है, जहाँ सर्वमंगल, सर्वकल्याण, विश्रान्ति, मुक्ति, जैसी संकल्पनाओं की वर्तमान चुनौतियों के सन्दर्भ में पुनर्प्रतिष्ठा होती है।

प्रिय विद्यार्थियों! आपने मन में यह प्रश्न आ रहा होगा कि ए. के. सरण के परम्परा पर बल देते से आधुनिक सामाजिक जीवन को क्या लाभ प्राप्त होगा? इस प्रश्न का उत्तर आप उनके द्वारा प्रस्तुत परम्परा की परिभाषा में पा सकते हैं–

सही अर्थों में परम्परा न तो पुरातन होती है और न नवीन व आधुनिक होती है और न आधुनिकता विरोधी। वह तो शाश्वत, सार्वभौम तथा पवित्र है। इसलिए जब प्रतिभाशाली लोग परंपरा को पूर्ण रूप से जान लेते हैं तो इसलिये उसमें रंग जाना एक सहज प्रक्रिया होती है।

बोध प्रश्न :

1. एक भारतविद के रूप में एक0के. सरण का अध्ययन क्षेत्र है–
   (क) कला एवं मिथक परम्परा, (ख) भाषा विज्ञान,
   (ग) समाजशास्त्र (घ) इतिहास
2. निम्न में से कौन सी रचना ए.के0सरण की नहीं है–
   (क) ट्रेडिशन विजन ऑफ मैन (ख) हिन्दूइज्म इन कन्टेम्पोरेरी इण्डिया
   (ग) आर्ट एवं स्वदेशी (घ) इनवॉयरनमेण्टल साइकोलॉजी

4.4 धर्मपाल

4.4.1 परिचय

धर्मपाल (19 फरवरी, 1922–24 अक्टूबर, 2006) प्रसिद्ध भारतविद के रूप में जाने जाते हैं। बचपन से ही गाँधी के प्रभाव में आने के कारण ही आपने भारत की विरासत् को समझने के यत्न किये। आप जीवन भर आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय पारम्परिक वैज्ञानिकता की खोज में सन्नद्ध रहे। 1942 के 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आंदोलन के समय आप गाँधी के सम्पर्क में आये और स्वतन्त्रता आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए अपनी पढ़ाई छोड़ दी। इस समय वे बी0एससी0 भौतिक विज्ञान के छात्र थे। इसके बाद वे सुचेता कृपलानी और मीरा बेन के साथ जुड़कर भारतीय ग्रामीण जीवन के अध्ययन का कार्य करने लगे। आपने रूड़की–हरिद्वार मार्ग पर स्थित किसान आश्रम में तीन वर्षों तक यह कार्य किया1949 में इंग्लैण्ड तथा इजराइल की संक्षिप्त यात्रा के पश्चात् आप पुनः भारत लौटे और राजस्थान, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि प्रदेशों में गाँवों और पंचायतों में ग्रामीण जीवन प्रणाली, मूल्य, संवादधर्मिता आदि का विशेष अध्ययन किया1957 में आपको 'एसोसियेशन ऑफ वॉलण्ट्री एजेन्सीज फॉर रूरल डेवलपमेण्ट (एवार्ड) का मन्त्री पद दिया गया1960 से 1966 तक आपने इंग्लैण्ड

और मुख्यतया लंदन में रहकर 'ब्रिटिश इण्डिया ऑफिस' तथा अन्य अनेक अभिलेखागारों में रहकर अंग्रेज अधिकारियों द्वारा ब्रिटेन के उच्च अधिकारियों को प्रेषित पत्रों एवं दस्तावेजों का अध्ययन कियाउस दौरान आपने हजारों दस्तावेजों की छायाप्रति बनाई, हाथ से उसकी नकल उतारी और सन्दर्भों के लिये कोलकाता, लखनऊ, मुंबई, दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारों से भी नये दस्तावेज जुटाये। इन्हीं दस्तावेजों के आधार पर धर्मपाल ने बाद में विभिन्न पुस्तकों (आगे उल्लिखित) का प्रणयन कियाजिनमें वे भारत में ब्रिटिश राज्य के आगमन के पूर्व की शिक्षा व्यवस्था, समाज, राज्य एवं विधि व्यवस्था, वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञता आदि का सप्रमाण विश्लेषण करते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मपाल भारतीय चित्त के विकास का भी विश्लेषण करते हैं तथा हिन्दू सभ्यता के दार्शनिक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हैं।

4.4.2 लेखनकर्म

धर्मपाल के द्वारा लिखित मूलतः अंग्रेजी में लिखी गयी हैं, इन पुस्तकां को 'धर्मपाल समग्र लेखन' शृंखला के अन्तर्गत पुनरुत्थान विद्यापीठ द्वारा अनूदित कर प्रकाशित किया जा चुका है।

1. भारतीय चित्त, मानस एवं काल
2. 17वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तन्त्रज्ञान : कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त। Indian ScienceAnd Technology in the Eighteenth Century : Some Contemporary EuropeanAccounts.
3. भारतीय परम्परा में सहयोग Civil Disohidience in Indian Tradition
4. स्मरणीय वृक्ष : 12वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा। The Beautiful Tree : Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century.
5. पंचायत राज एवं भारतीय तन्त्र। PUnchayat RajAnd Indian Polity
6. भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल। The British origin of Cow slaughter in India
7. भारत की लूट एवं बदनामी : 19वीं शताब्दी की अंग्रेजों की जिहाद। DespoliationAnd Deforming of India : the Early nineteenth century of British Crusade.
8. गाँधी को समझें। Understanding Gandhi
9. भारत की परम्परा। Essays in Tradition, RecoveryAnd Freedom
10. भारत का पुनर्बोध। Rediscovering India

4.4.3 प्रमुख योगदान

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली परम्परा मान्यताओं, दैनंदिन व्यवहार, जीवन मूल्यों, जीवन दर्शनों आदि द्वारा निर्मित होती है। धर्मपाल के इतिहास लेखन में इन सभी तत्त्वों पर सन्तुलित बल दिया गया है। अभी तक भारत को समझने के लिए जो इतिहास लेखन हुआ है वह या तो पश्चिमी दृष्टिकोण तथा प्रतिमान पर आधारित है या निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिए अध्ययन हुए हैं। एक दूसरी भी धारा दिखाई देती है जिसमें भारतीय इतिहास के सच्चे स्वरूप को उजागर करने का प्रयास किया तो गया है किंतु उनका लेखन

वर्तमानकालीन इतिहास लेखन में उभर नहीं पाया है। जहाँ तक राष्ट्रवादी इतिहास लेखकों का प्रश्न है, कहीं–कहीं कमजोर ऐतिहासिक साक्ष्य होने के कारण अकादमिक जगत में उनके लेखन को महत्त्व कम दिया गया है। धर्मपाल का योगदान इसी अन्तराल को पाटने में है।

4.4.4 विचार एवं अध्ययन विधि

धर्मपाल का भारतीय इतिहास नवलेखन में युगान्तकारी प्रस्थान प्रस्तुत करता है। धर्मपाल ने भारत को देखने की भारतीय विधि सिखायाँ धर्मपाल के अध्ययन से जो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं वह बिन्दु रूप में निम्नवतहैं–

18 वी शताब्दी का भारत साक्षरता के मामले में यूरोप से कहीं आगे था इतना ही नहीं भारत की शिक्षा व्यवस्था में सभी जातियों, सभी धर्मों के विद्यार्थियों का प्रवेश होता था दक्षिण भारत के विद्यालयों की रिपोर्टों के आधार पर धर्मपाल ने यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि किसी किसी विद्यालय में उच्च कही जाने वाली जातियों से ज्यादा निम्न जातियों के बच्चों की संख्या थी।इस प्रकार से धर्मपाल की सूची से इस भ्रम का खण्डन होता है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था में जातीय भेदभाव था।

'18 वीं शताब्दी में यन्त्र ज्ञान एवं तकनीकी' नामक पुस्तक में धर्मपाल ने भारत में इस्पात उत्पादन की उन्नत विधि, कृषि की उन्नत स्थिति, गारा और मोटार बनाने की उन्नति विधि, बर्फ और कागज बनाने की दशाओं का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिससे 18वीं शताब्दी में विज्ञान और तकनीकी की भारतीय स्थिति यूरोप की विधि से बेहतर प्रतीत होती है।

'भारत की राजनीतिक विधि' में भारतीय जनमानस में गणतन्त्र की स्थापना पंचायती राज का स्वभाविक स्थापना तथा असहयोग आंदोलन की भावना जैसी प्रमुख उदाहरण सामने आते हैं। धर्मपाल ने यह भी निष्कर्ष निकाला कि भारत में गोवध की परम्परा और उसका संस्थागत रूप देने में अंग्रेजों का ही प्रमुख योगदान है।

'भारत की बदनामी एवं लूट' नामक पुस्तक में धर्मपाल लिखते हैं–सुश्री केथरीन मेयो से एक अमेरिकी ने 1920 में भारत भ्रमण कर एक पुस्तक प्रकाशित की थी इस पुस्तक का शीर्षक था 'भारत माता'Mother Indiaउस पुस्तक में भारत की अत्यन्त अपमानजनक छवि प्रस्तुत की गई थी। इसी प्रकार से विलियम विल्सबोर्ड (1813) जेम्स मिल (1817) एवं टी बी मैकाले (1835) ने भी भारत के बारे में जहरीले लेखन किये थे। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत की अव्यवस्था की उत्कृ ष्ट बातें भी निकृष्ट ही थीं।

मुझे ज्ञात हुआ कि किस प्रकार देश अज्ञान एवं गरीबी मैं के गर्त में धकेला गया, कैसे यहाँ के हजारों वर्षों के प्राकृतिक संसाधनों', कृषि एवं उद्योगों की रक्षा की गई, ज्ञान की महान परमपरा को नष्ट किया गया उसे घिसी–पिटी एवं मृत करार दिया गया तथा जीवन को कुपोषण एवं दुर्व्यवहार के माध्यम से इस प्रकार से पदावनत किया गया ताकि आगे की पीढ़ियों तक इनकी पूर्व प्रतिष्ठा न हो। इस मानसिकता को तोड़ने के लिए गाँधी ने एक विवेकशील पद्धति को अपनायाँ 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के बाद उन्होंने भारतीय जनमानस को जगाया, उसकी भावनाओं को अपने वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त कर भारत के लिए योग्य हजारों वर्षों की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओं, गतिविधियों और पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया स्वतन्त्रता के साथ स्वराज को भी

लाने के लिए, परन्तु स्वतन्त्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण ही बनकर रह गया उसके साथ स्वराज नहीं आया भारत की 80% जनसंख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं।उनके रीति–रिवाज, मान्यताएँ, पद्धतियाँ और संस्थाएँ सब वैसी की वैसी हैं, केवल शिक्षित लोग उन्हें पिछड़ा कहकर आलोचना करते हैं।

धर्मपाल ने अपनी पुस्तकों में क्रमबद्ध और विस्तृत रूप से अध्ययन करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि भारत में जब अंग्रेज आए तो उन्होंने सभी व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए कैसी चालबाजियाँकीं, कैसा छल और कपट किया, कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे–धीरे भारत टूटता गया, किस प्रकार बदलती परिस्थितियों की अवस्था को स्वीकार करता गयाइन सभी तथ्यों का उद्घाटन धर्मपाल ने अपने अभिलेखों में प्रमाण सहित किया है।

'भारत की पराजय के कारण उसके ज्ञान और शिक्षा के स्तर पर दो बातें हुई। पहली यह कि परम्परागत भारतीय विद्वान सामाजिक क्षेत्र से अलग थलग हो गए और नए संकटपूर्ण वातावरण में जिस हद तक सम्भव था उस हद तक अपने को बचाते हुए धार्मिक पुस्तकों और कर्मकाण्ड में सीमित होते चले गएँ दूसरी बात यह हुई कि 1830 के बाद अंग्रेजों ने भारत में एक नया शिक्षित वर्ग पैदा करना शुरू कियायह वर्ग बहुत चुने हुए अंग्रेजी शैक्षिक और सांस्कृतिक साहित्य के आधार पर पनपा है। इन अभिजात शिक्षितों ने फिर शिक्षितों की अगली जमात खडी की और चार छह पीढियों के भीतर जो नया शिक्षित विद्वत् वर्ग उभर कर आया वह वही कुछ जानता और मानता है जो एक सीमित अंग्रेजी साहित्य के आधार पर उसे बताया गया है। यह हो सकता है कि इस शिक्षित वर्ग में कुछ प्रतिभाशाली भारतीय अपने आप को अंग्रेजों के बराबर समझने लगे और जब अंग्रेजों ने उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश की तो वे उनके आलोचक और विरोधी हो गएँ

इसी सन्दर्भ में 1875 में बंगाल के एक प्रमुख गवर्नर ने लिखा था, 'स्कूल और कॉलेजों में पढकर निकलने वाले लोग एक असन्तुष्ट वर्ग में परिवर्तित हो रहे हैं, इसमें कोई शक नहीं है पर इसकी कुछ वजह शायद यह है कि हमारी शिक्षा विधि, प्रशासन, साहित्य जैसी दिशाओं में कुछ ज्यादा ही प्रवृत्त है, जहाँ उन्हें यह गलतफहमी पालने का मौका मिल जाता है कि वे हमारी बराबरी कर सकते हैं। अब हम उन्हें ज्यादा से ज्यादा व्यावहारिक विज्ञान की दिशा में मोडने की कोशिश करेंगे ताकि वे महसूस कर सकें कि वे हमसे कितने निम्न कोटि के हैं। 'प्रो0 जोसेफ नीधन के चीन में विज्ञान एवं सभ्यता' विषयक कार्यों से यह स्वीकार किया जाने लगा था कियूरोप ने 1850 तक विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में जो कुछ भी प्राप्त किया था, वह सबकुछ चीन में बहुत पहले से, 2000 वर्ष पूर्व, (लगभग 450 ई. पू0) से था।

हमें प्राचीन काल में भारत में लोहे और इस्पात के उत्पादन, उसकी श्रेष्ठता और विश्व प्रसिद्धि के बारे में काफी मालूम है। जैसा कि हाल के शोधों से पता लगा है भारत में लोहे का उत्पादन उत्तर प्रदेश के अतिरंजन खेडा जैसे स्थानों पर कम से कम बारहवीं शताब्दी से हो रहा है। लेकिन जिस बात के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है, वह यह कि 1800 के आसपास भी देश में यह उद्योग काफी बड़े क्षेत्र में खूब फल फूल रहा था और उत्पादन की तकनीक के मामले में बहुत उन्नत अवस्था में था। एक मोटे अनुमान के अनुसार 1800के आसपास देश में ऐसी कोई दस हजार भट्ठियाँ थी जहाँ लोहे और इस्पात का उत्पादन होता था और एक साल में 35 सप्ताह तक काम

करएक भट्टी में बीस टन श्रेष्ठ इस्पात पैदा किया जा सकता था। ये भट्ठियाँ काफी हल्की होती थीं और उन्हें बैलगाड़ी में लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था।'

''बहुत से लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि 18वीं शताब्दी में भारत में कृत्रिम तरीके से पानी को ठण्डा करके बर्फ बनाई जाती थी। ऐसा हिमालय जैसे ठण्डे इलाकों में नहीं बल्कि इलाहाबाद जैसे गरम मौसम वाले इलाकों में होता था। 18वीं शताब्दी में चेचक के टीके लगाने और प्लास्टिक सर्जरी की प्रथा के सुश्रुत और चरक के सैकड़ों साल बाद भी व्यवहार में होने की खबरें भी बहुतेरे लोगों को चक्ति कर सकती हैं। इनकी तरफ अंग्रेज अधिकारियों का ध्यान सब से पहले पुणे में गया था। इसी तरह का आश्चर्य उस समय की भारतीय कृषि की प्रौद्योगिकी तथा खेती के उन्नत औजारों और ऊँची उत्पादकता के बारे में जानकर हो सकता है। सन् 1800 से पहले के एक अंग्रेज कलेक्टर खेती के औजार, जिनमें बरमे वाला हल शामिल था, मद्रास प्रेसीडेंसी के जिलों से ब्रिटेन भेजे थे ताकि वहाँ के खेती के औजारों में कुछ सुधार किए जा सकें।'

ऐसी स्थिति में जब हम भारतीय आधुनिक इतिहास लेखन का अध्ययन करते हैं तो प्रायः यह प्रतीत होता है कि भारत पिछड़े से विकास की ओर विकसित् हो रहा है।यह विकास यूरोपीय शासन सत्ता द्वारा लाए गए यूरोपीय ज्ञान परम्परा पर आधारित है। यह निष्कर्ष भारतीय सभ्यता के मूल चरित्र के बिल्कुल उलट है। ऐसे में भारतीय संस्कृति के उदार स्वरूप को इतिहास लेखन के आधुनिक प्रतिमान द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। कम से कम धर्मपाल के शोध के सामने आने के बाद इस क्षेत्र में अध्ययन की सम्भावना और पुष्ट होती हुई दिखाई दे रही हैं। जिस विधि से धर्मपाल ने इतिहास की अनुशासनात्मक सीमा के अन्तर्गत जो क्रान्तिकारी निष्कर्ष निगमित किए हैं, उसी विधि को अपनाकर भारतीय संस्कृति के स्वरूप को उजागर किया जा सकता है।

बोध प्रश्न :

1. धर्मपाल की प्रसिद्ध पुस्तक 'द ब्यूटीफुल ट्री' का अध्ययन विषय है–
   क) प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था
   ख) मध्यकालीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था
   ग) पूर्व औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था
   घ) अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था।
2. धर्मपाल की प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डियन साइंस एँड टेक्नोलॉजी इन दी एटिन्थसेन्चुरी' का प्रकाशन वर्ष क्या है।
   (क) 1930 (ख) 1916 (ग) 1971 (घ) 1951
3. 18वीं शताब्दी तक भारत के विद्यालयों सम्बन्धी कौन कथन असत्य है।
   क) विद्यालयों में सभी वर्णों जातियों का प्रवेश होता था।
   ख) कहीं कहीं शूद्र छात्रों की संख्या ब्राह्मण छात्रों के बराबर या अधिक थी
   ग) विद्यालय का प्रबन्धन एक स्वायत्त संस्था के रूप में था जिसका प्रबन्धन समाजिक या व्यक्तिगत रूप से होता था।

घ) शूद्रों को शिक्षा से वंचित् किया गया था।

4. धर्मपाल के लेखक से क्या उद्‌घाटित नहीं होता है।

क) भारत में उच्चकोटि की धात्विक तकनीकी थी।

ख) भारत में उच्च्चकोटि की चिक्तिसा पद्वति उन्नत थी।

ग) भारत में सुसंगठित शिक्षा प्रणाली थी।

घ) भारत ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ था।

4.5 डॉ. विद्यानिवास मिश्र

4.5.1 परिचय

डॉ. विद्यानिवास मिश्र (14 जनवरी, 1926–14 फरवरी, 2005) भारतीय चिन्तन परम्परा का पुनरावगाहन करने के लिये जाने जाते हैं। डॉ. मिश्र का जन्म गोरखपुर जनपद के पकड़डीहा गाँव में हुआ। आपने प्राथमिक शिक्षा गाँव पर, माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर तथा उच्च शिक्षा वाराणसी में प्राप्त की। 1945 ई. में प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय में एम0 ए. कियाआपने सर्वप्रथम भाषा सेवा के क्रम में कोश–निर्माण का कार्य कियाहिन्दी साहित्य सम्मेलन में राहुल सांकृत्यायन के सान्निध्य में हिन्दी शब्दकोश के सम्पादन के पश्चात आपने आकाशवाणी में पं0 श्रीनारायण चतुर्वेदी की प्रेरणा से कोश का सम्पादन कियाइसके बाद आप विंध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग में कार्यरत रहे। 1957 से आपने विश्वविद्यालय स्तर पर अध्यापन का कार्य आरम्भकियाआप गोरखपुर विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक, आचार्य, अतिथि आचार्य आदि रूप में कार्यरत रहे और संस्कृत तथा भाषा विज्ञान का अध्यापन किया

1960–1961 और 1967–1968 में आप कैलीफोर्निया तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालय, अमेरिका में अतिथि अध्यापक रहे। आप केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के निदेशक तथा काशी विद्यापीठ एवं संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के कुलपति भी रहे। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। आप नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक, साहित्य अमृत (मासिक) के संस्थापक सम्पादक, 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दूइज्म' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादक रहे। आप इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली, वेद पुराण संस्थान, नैमिषारण्य के मानद सलाहकार रहने के साथ ही साहित्य अकादमी दिल्ली के वरिष्ठ महत्तर सदस्य एवं उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के सदस्य भी रहे।

4.5.2 लेखनकार्य

'शेफाली झर रही है', 'गाँव का मन', 'छितवन की छांह', 'कदम की फूली डाल', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी और बनजारा मन', 'साहित्य की चेतना', 'मेरे राम का मुकुटथींग रहा है', 'परम्पराबन्धन नहीं', 'अस्मिता के लिए', 'देश धर्म और साहित्य' आदि आपके प्रमुख निबन्ध संग्रह हैं। साहित्य एवं भाषा विज्ञान के क्षेत्र में आपने 'दी डिस्क्रिप्टिव टेकनीक ऑफ पाणिनि', 'रीति विज्ञान', 'भारतीय भाषा–दर्शन की पीठिका', 'हिन्दी की शब्द सम्पदा' आदि आपके प्रमुख शोध हैं। एक सम्पादक के रूप में आपने 'रसखान रचनावली', 'रहीम ग्रन्थावली', 'देव की दीपशिखा', 'आलम ग्रन्थावली', 'नई कविता की मुक्त धारा' जैसे ग्रन्थों का सम्पादन किया है। आपके हृदय का परिचय आपके काव्य–संग्रह 'पानी पुकार से' मिलता है।

4.5.3 योगदान

भारतीय संस्कृति की लोकधारा के महत्त्व को समझने और समझाने के प्रयत्न आप जीवनपर्यंत करते रहे। आधुनिक सामाजिक जनजीवन के परिप्रेक्ष्य में भारतीय परम्पराओं के महत्त्व को स्थापित करने की ललक ही आपकी रचनाओं की केन्द्रीय सम्वेदना है। इस क्रम में आपने ललित निबन्ध की विधा को अपनाते हुये उसे एक नया आयाम दियाँ

साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में आपके द्वारा किये गये अमूल्य योगदान के कारण ही आपको भारतीय ज्ञानपीठ का 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' के. के. बिड़ला फाउडेशन का 'शंकर सम्मान', असर प्रदेश संस्कृत, अकादमी का सर्वोच्च 'विश्वभारती सम्मान', 'भारत भारती सम्मान', 'महाराष्ट्र भारती सम्मान', 'हेडगेवार प्रज्ञा पुरस्कार', हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'मंगला प्रसाद पारितोषिका सम्मान' आदि पुरस्का/सम्मान प्राप्त हुये। आपको भारत सरकार द्वारा 1987 में 'पद्मश्री' एवं 1999 में 'पद्मभूषण' सम्मान से सम्मानित किया गयाअगस्त् 2003 में आपको भारत के राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा के लिये भी नामित किया गया।

4.5.4 विचार एवं अध्ययन विधि

डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने आधुनिकीकरण के आलोक में भारतीय परम्परा और संस्कृति के महत्त्व को समझने और समझाने के प्रयत्न अपने रचना कर्म में किये हैं। इसी क्रम में आप हिन्दू धर्म के स्वरूप, लक्षण और मूल आधारों की विवेचना अपनी पुस्तक 'हिन्दू धर्मः जीवन में सनातन की खोज' में करते है। जिसमें आपने न केवल हिन्दू धर्म को वर्तमान आलोचनात्मक परिवेश में समझाने (विशेषकर अहिन्दुओं/विदेशियों) का प्रयत्न किया है बल्कि हिन्दू धर्म में दिख रहे ऊपरी अन्तर्विरोधों की भी सटीक व्याख्या की है। इस सन्दर्भ में आपका कथन द्रष्टव्य है–''यदि हिन्दू ज्ञान–विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि आज को प्रासंगिकता रखती है, वह है हिन्दूधर्मसे अभिभावित उसका सर्वभूतात्मक समस्त् जड़ चेतन सत्ताओं में एक जीवनधारा, एक चैतन्य प्रवाह को स्पन्दित देखना (समस्त् क्षणों में एक सनातन देखना), समस्त् में एक महासागर देखना।'' अन्यत्र भी वे इसके महत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुये लिखते हैं– ''हिन्दू धर्म का महत्त्व मेरे लिये इसी से है कि यह चरम मानव–मूल्य स्वाधीनता के लिए एक नक्शा प्रस्तुत करता है, इस नक्शे के अनुसार चलकर अन्वेषण करने वाला इस नक्शे में तरमीम करता चलता है। हिन्दू धर्म इस अन्वेषण को रसमय भी बनाता है, उसकी भक्ति भोग–विमुख भोग और काम–विजयी काम का आस्वादन कराती है।''

इस पुस्तक में मिश्र जी ने हिन्दू धर्म के सामान्य लक्षणों की चर्चा करते हुये जीवन में निरन्तरता और अखण्डता का अनुभव करते रहना, कर्मवाद, आनृण्य व्यवस्था (ऋण से उऋण होना), पुरुषार्थ की सारगर्भित विवेचना की है। हिन्दू धर्म को एक जीवन शैली मानते हुये मिश्र जी ने माना है कि सत्य, प्रिय और ऋत तीनों न केवल समरस भाव में हों बल्कि समय–सापेक्ष भी हों यही सनातन धर्म का मूल (सामान्य) धर्म है, जो कालातीत है। इसके अतिरिक्त वे इसी क्रम में दैनन्दिनजीवन और अवसर विशेष पर किये जाने वाले कर्मों के पीछे के दर्शन को समझाते हैं और संस्कार, यज्ञ, उपासना, भक्ति तीर्थ, पर्व एवं उत्सवों के कारण और प्रभाव तक की व्याख्या करते हैं। विस्तृत अध्ययन के लिये विद्यार्थियों को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये।

इस प्रकार मिश्र जी हिन्दू धर्म को संक्षेप में पूरी तरह से समझाते हैं, उसके अन्तर्विरोधों की व्याख्या करते हैं और इसमें समयानुरूप परिवर्तन की आवश्यकता को भी बतलाते हैं। इसी परिवर्तन को वह सनातन धर्म की शक्ति का मूलस्रोत मानते हैं और इसके प्रमुख कारक के रूप में वे लोक चेतना (तत्त्व) का महत्त्व स्वीकारते हैं।

उनका कथन द्रष्टव्य है–''शास्त्र हिन्दू धर्म की दाहिनी आँख है, सूर्य है, सविता है, विवेक है, ज्ञान है, तर्क प्रज्ञा है और लोक उसकी बायी आँख है चन्द्र है, रस है, बहाव है, भाव है;हिन्दू धर्म ज्ञानमय भाव है, न वह ज्ञानरूप है, न विश्वासरूप, न कोरा भावरूप, भाव और ज्ञान अलग होते हैंतो हिन्दू धर्म खंडित होता है। जब–जब ऐसे खण्डन के अवसर आये हैं, तब–तब लोक ने अपने–आपको मथा है।'' उनका मानना है कि शास्त्रों की जड़ता को इस समय स्वरूप में परिवर्तित करके लोकतत्त्व ने उसे (शास्त्रों को) आज तक अक्षुण्ण रूप से सुरक्षित रखने का कार्य किया है– ''जिसे हम लोक्तत्त्व कहते हैं, वह शास्त्र का ही विसरण है, . . . उसमें शास्त्र का सत्त्व अधिक सुरक्षित है, शास्त्रों का जिस रूप में अध्ययन और विवेचन हो रहा है, उसमें कम सुरक्षित है।''

मिश्र जी इसी लोकतत्त्व को विस्तार से समझाने का यत्न यत्र–तत्र करते रहते हैं। लोक शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ–विस्तार तथा महत्त्व को समझाते हैं। बताते है कि 'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति 'सच्/लुच्'धातु से है, जिसका अर्थ प्रकाशित होना है, और प्रकाशित करना भी है। लोक अपने में विशाल अर्थक्षेत्र समेटता है।जो भी दृष्टिगत संसार है अथवा जो भी इंद्रियगोचर संसार है, वह लोक है। यह लोक अवधारणा मात्र नहीं, यह कर्मक्षेत्र है। इसीलिए भारतीय परम्परा अपने अवतारों, सन्तों, महापुरुषों को भी लोक के आलोक में ही अपना पाता है और उनका जीवन भी लोक हित में ही समर्पित होता है। ''जीवन की सार्थकता इसी में है कि 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते चयः', उससे लोक उद्विग्न न हो और वह स्वयं लोक से उद्विग्न न हो। इसी लोक के भीतर हो होकर लोकोत्तर की राह जाती है।'' हिन्दू धर्म की अविच्छिन्नता का सर्वप्रमुख कारक यह लोक ही है जो परम्परा के रूप में सतत् प्रवाहमय और नित नूतन होता रहता है।

4.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप भारतविद के रूप में आनंद कुमारस्वामी, ए. के. सरण, विद्यानिवास मिश्र एवं धर्मपाल की रचनाओं, अध्ययन विधि, अध्ययन क्षेत्र एवं अवदान से परिचित् हुए होंगे। कुमारस्वामी ने भारतीय कलाओं एवं आख्यान परम्परा के मर्म को उद्घाटित करते हुये उसकी अभिनव व्याख्या की है। भारतीय कलाओं को वे आन्तरिक और वाह्य जीवन के द्वंद्व का समाधान करते हुये आत्म तत्त्व तक पहुँचने का साधन बताते हैं। वे बताते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय परम्परा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की खोज के ही विभिन्न प्रयत्नों का परिणाम है, जो पाश्चात्य परम्परा के व्यक्ति केन्द्रित दर्शन से भिन्न एवं वरेण्य है।

ए.के0सरण पारम्परिक हिन्दू समाज व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों की समाज दार्शनिक व्याख्या उसके मूल प्रश्न 'मैं कौन हूँ'से आरम्भ करते हैं और फिर हिन्दू समाज की महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ आदि की व्याख्या करते हुये आधुनिक सन्दर्भों में उसकी अर्थवत्ता की स्थापना करते हैं। इस क्रम में वे पुरुषार्थ और तीन चरित्र सिद्धान्त (कीर्के गार्द) की समानता को भी प्रदर्शित करते हैं। सरण की विशिष्टता इस तथ्य में समाहित है कि वे आधुनिक सन्दर्भों में हिन्दू समाज के समक्ष उपस्थित खतरों को बताते हैं और उसके निदान को भी प्रस्तुत करते हैं।

विद्यानिवास मिश्र भारतीय परम्परा के सातत्य को शास्त्र एवं लोक के परस्पर संघात के क्रम में देखते हैं। वे बताते हैं कि शास्त्र जब जड़ हो जाता है, तो वह लोक के आचरण में समयानुरूप परिवर्तित होकर स्वीकृत होता है और इस प्रकार परम्परा का सातत्त्वसुरक्षित रहता है। इसलिए भारतीय समाज की लौकिक परम्पराओं के अध्ययन और विश्लेषण से इस समाज व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों को और उसके क्रमिक परिवर्तन को समझा जा सकता है।

धर्मपाल का समग्र लेखन औपनिवेशिक विचार सरणि के द्वारा फैलाये गये विभ्रम का प्रतिपक्ष प्रस्तुत करता है। भारत पर अपने शासन को उचित् ठहराने के लिय ब्रिटिश शासन ने भारतीय शासन, शिक्षा, समाज व्यवस्था और ज्ञान, विज्ञान एवं तकनीकी की परम्परा को न केवल नष्ट किया बल्कि यह भी स्थापित करने के प्रयत्न किये कि भारतीय समाज एक पिछड़ा हुआ समाज था। धर्मपाल ने औपनिवेशिक प्रशासन के ही दस्तावेजी साक्ष्यों का संकलन किया और यह स्थापित किया कि अंग्रेजों के आने के पूर्व भी भारतीय शिक्षा और समाज व्यवस्था सुविकसित् एवं सुसंगठित थी। विज्ञान, तकनीकी, चिक्तिसा एवं उद्योग के क्षेत्र में भारत यूरोपीय देशों से कहीं आगे था। लौह निर्माण, बर्फ निर्माण, चेचक के टीकों का प्रयोग आदि के उदाहरण से वे औपनिवेशिक श्रेष्ठता के सिद्धान्त को चुनौती देकर उसे धराशायी कर देते हैं।

बोध प्रश्न

1. विद्यानिवास मिश्र किस विषय के विशेषज्ञ थे–

   (क) संस्कृत एवं भाषा विज्ञान (ख) कला एवं संगीत

   (ग) समाजशास्त्र (घ) इतिहास एवं दर्शन

2. विद्यानिवास मिश्र किन संस्थाओं से जुड़े हुए थे–

   (क) साहित्य अकादमी, दिल्ली

   (ख) इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला, केन्द्र, दिल्ली

   (ग) उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी

   (घ) उपर्युक्त में कोई नहीं

3. विद्यानिवास मिश्र ने विदेश के विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया–

   1. कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय 2. वाशिंगटन विश्वविद्यालय

   3. टोक्यो विश्वविद्यालय

   (क) केवल (ख) केवल 1 और 2

   (ग) केवल 2 और 3 (घ) 1, 2 और 3

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. आत्म तत्त्व – मनुष्य का आन्तरिक तत्त्व यानि आत्मा
2. मिथक – परम्परा से चली आ रही मान्यतायें
3. राजत्व सिद्धान्त – राज करने का सिद्धान्त
4. ऋत् – सृष्टि की नियामक प्रक्रिया (नियम)
5. सातत्य भग्नता – निरन्तरता को तोड़ने वाले विचार
6. त्रिगुण – सत्व, रज एवं तम
7. भोग–विमुख भोग – कर्म फल की इच्छा समाप्त होने के बाद भी कार्य फल से प्राप्त हुआ भोग
8. काम–विजयी काम – कर्म फल की इच्छा समाप्त होने के बादकर्म फल प्राप्ति का सुख
9. लोक चेतना – सामान्य जन में व्याप्त प्रवृत्ति

10. औपनिवेशिक श्रेष्ठता – पश्चिमी जगत द्वारा फैलायी गयी अवधारणाका सिद्धान्तकि वे श्रेष्ठ मनुष्य हैं और उन्हें अन्य इंसानों पर शासन करने के लिए बनाया गया है।

4.8 बोध प्रश्न

1. भारतविद के रूप में आनंद कुमार स्वामी के योगदान तथा उनकी अध्ययन विधि की विवेचना कीजिए?
2. हिन्दू समाजशास्त्र की आधुनिक दृष्टि से व्याख्या करने में ए. के. सरण के योगदान की विवेचना कीजिए?
3. भारतीय तकनीकि एवं वैज्ञानिक विकास के ऐतिहासिक अध्ययन में धर्मपाल के योगदान का महत्त्व बताइए?
4. पूर्व औपनिवेशिक युग की भारतीय शिक्षा व्यवस्था के सम्यक् उद्घाटन में धर्मपाल के योगदान को बताइए?
5. 'सनातन हिन्दू सभ्यता को अध्ययन भारतीय लोक के अध्ययन के पूर्ण होता है।' इस कथन के सन्दर्भ विद्यानिवास मिश्र के योगदान में बताइए?
6. समकालीन हिन्दू सभ्यता की समझ के लिए कुमारस्वामी, ए.के0सरन, धर्मपाल एवं विद्यानिवास मिश्र के चिन्तन के महत्त्व की स्थापना कीजिए?

4.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. Coomaras¡myAnanda, The Dance of Shiva
2. Coomaras¡myAnanda, ChristianAnd Oriental Philosophy
3. SaranA.K., Hindustan in Contemporary India ofArt.
4. Coomaras¡myAnanda, HinduismAnd Buddhism
5. Coomaras¡myAnanda,A NewApproach to Vedas
6. SaranA.K., Sociology of KnowledgeAnd Traditional Thought
7. SaranA.K., On the Theories of SeculUrismAnd Modernization
8. धर्मपाल, भारतीय चित्त, मानस एवं काल
9. धर्मपाल, 17वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तन्त्रज्ञान : कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त
10. धर्मपाल, स्मरणीय वृक्ष : 18वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा
11. धर्मपाल, भारत की लूट एवं बदनामी : 19वीं शताब्दी की अंग्रेजों का जिहाद
12. धर्मपाल, भारत की परम्परा
13. मिश्र विद्यानिवास, क्या पूरब क्या पच्छिम
14. मिश्र विद्यानिवास, हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज
15. मिश्र विद्यानिवास, परम्परा बन्धन नहीं
16. मिश्र विद्यानिवास, देश धर्म और साहित्य

खण्ड 4
हिन्दू–सम्बन्धी भारतेतर–विमर्श

खण्ड 4 परिचय

एम.ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के प्रथम पाठ्यक्रम के चतुर्थ खण्ड में आपका स्वागत है। भारत और हिन्दू लगभग एक जैसी संकल्पना है। हिन्दूओं के विषय में भारत के अतिरिक्त अनेक विमर्श हुए हैं। इनमें ग्रीक, चीनी, अरबी, यूरोपीय आदि विमर्शों को मुख्य रूप से इस खण्ड में स्पष्ट किया गया है। इस खण्ड की प्रथम इकाई में ग्रीक,रोमन विमर्श में हिन्दू (इण्डिया) का अध्ययन आप करेंगें। दूसरी इकाई के अन्तर्गत

चीनी साहित्य के वृत्तान्त के आधार पर विभिन्न तथ्यों के माध्यम से हिन्दू विषयक दृष्टिकोण का अध्ययन प्रस्तुत है। तीसरी इकाई अरबी फारसी साहित्य में हिन्दू का वर्णन करती है। जिसके अध्ययन से आपको ज्ञात होगा कि अरबी फारसी साहित्य में हिन्दू को किस दृष्टि से देखा गया है। अन्तिम इकाई यूरोपीय यात्री एवं व्यवसायियों के वृत्तान्तों में हिन्दू विषयक वर्णन प्रस्तुत करती है। इस प्रकार सम्पूर्ण खण्ड की चार इकाइयों में हिन्दू सम्बन्धी भारत से इतर विमर्शों को जानकर इनके बारे में सम्यक वर्णन करने हेतु आप सक्षम हो जायेंगें।

इकाई 1 ग्रीक–रोमन विमर्श में हिन्दू (इण्डिया)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- यवनों में विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ग्रीकों–रोमन लेखकों, उनकी कृतियों एवं भारत विषय उनकी दृष्टिकोण से परिचित् होगें।
- यवनों का भारतीय संस्कृति में सम्मिश्रण एवं उनके भारतीयकरण की प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वाह्य जगत के साथ भारत का सम्पर्क सभ्यता के उन्मेष काल से दृष्टिगत् होता है। मेसोपोटामिया एवं सिन्धु–सारस्वत सभ्यता के मध्य परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध थे। मेसोपोटामिया के किश, उर एवं लगश से प्राप्त हडप्पा की मुहरें तथा बोगाजकोई लेख में हिट्टाइट और मित्तानी के मध्य सन्धि स्थापना में ऋग्वैदिक देवता इन्द्र, वरूण, मित्र एवं नासत्य का उल्लेख इनके मध्य व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्को की ओर इंगित करती है। पाँचवीशताब्दी ई. पू. तथा परवर्ती कालों में पश्चिम एवं मध्य एशिया से आक्रमण, प्रव्रजन, व्यापारिक एवं धार्मिक सम्पर्को के माध्यम से ईरानी, यवन, शक, पह्लव तथा कुषाण जातियाँ भारत आयी। इसमें यवन, शक, पह्लव एवं कुषाणों ने भारत के कुछ भू–भागों पर अपना आधिपत्य भी स्थापित कियाकालान्तर में राजसत्ता के हस्तान्तरित होने पर भारतीय समाज में समाहित हो गये। यवनों के आगमन एवं

उनके राजनीतिक प्रसार को जानने का प्रमुख स्त्रोत ग्रीको–रोमन लेखकों का वृतान्त है। इसमें भारतविषयक विमर्श भी सन्निहित है।

1.2 ग्रीक (यवन) : राजनीतिक सम्पर्क एवं प्रसार

1.2.1 ग्रीक (यवन)

यवन शब्द का उल्लेख साहित्यिक साक्ष्यों एवं अभिलेखों में विभिन्न रूपों में दृष्टिगत है। अखामनी शासक डेरियस प्रथम के अभिलेख में यौना शब्द व्यवहत है जो आयोनिया के ग्रीकों के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु बाद इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गयामकदूनियाई शासक सिकन्दर के लिए भी सामान्यतः यवन शब्द का प्रयोग किया जाता है। मौर्य सम्राट अशोक के द्वितीय शिलालेख में योनराज अन्तियोक (यवन शासक एण्टियोकस थिऑस) का नाम मिलता है। माना जाता है कि मौर्यकालीन लेखों में वर्णित यूनानी आयोनियन निवासी होने के कारण भारतीय क्षेत्रों में योन कहे गये। बेसनगरके गरुडध्वज स्तम्भ लेख में तक्षशिला के शासक अन्तलिक्तिस के योन राजदूत हलियोडोर का उल्लेख मिलता है जिसने विदिशा में गरुडध्वज की स्थापना की।शक–क्षत्रप रूद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेखमें यवन तुषास्फ का नाममिलता है। यह मौर्य सम्राट अशोक शासन काल में सौराष्ट्र का गर्वनर था। कार्ले, नासिक, जुन्नार के गुहा लेखों में यवन शब्द यवन, योन, योनक इत्यादि कई रूपों में मिलता है।भारतीय साहित्य में यवन शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम पाणिनी की अष्टाध्यायी में मिलता है। पाणिनी ने यवन शब्द का उल्लेख 'यवनानी' रूप में किया है। कात्यायन ने यवनानी शब्द का अर्थयवनों की लिपि यवनल्लिप्याम्बताया है। पाणिनी सम्भवतः यवनों की लिपियों से परिचित् थे। पातंजलि ने भी यवनानी शब्द की व्याख्याा यवनो के लिपि के रूप में किया है। मनुस्मृति, महाकाव्य एवं पौराणिक ग्रन्थों में यवनों को वृषल एवं म्लेच्छ की संज्ञा दी गयी है जो प्रायः सभी वाह्य आक्रमणकारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे अनुमान होता है कि यवन संज्ञा न केवल ग्रीकों के लिये अपितु उनके पश्चात् पश्चिम से आने वाले सभी विदेशियों के लिये भी समान रूप सेप्रयुक्त होता था।

यवनों में सर्वप्रथम सिकन्दर का नाम आता है जिसके आक्रमण के साथ ही भारत के उनका राजनीतिक सम्पर्क स्थापित हुआ। लगभग 330 ई. पू. में अखामनी शासक डेरियस तृतीय को गौगमेला के युद्ध में पराजित करने के उपरान्त वह भारत की ओर प्रस्थान कियाभारतीय साहित्यिक स्त्रोतों में सिकन्दर के अभियानों की चर्चा नही मिलता।यूनानी–इतिहासकारोंने सिकन्दर के अभियानों को महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में प्रस्तुत किया हैं। यूनानी स्त्रोतों के अनुसार सिकन्दर के अभियान के समय उत्तरी–पश्चिमी क्षेत्रों में छोटे–छोटेराज्यों का अस्तित्व था जिसमें कुछ राजतन्त्रात्मक तथा कुछ गणतन्त्रात्मक थे। अस्पेशियन, गैरियन, अस्सकेनोई पर्वतीय राज्यों ने सिकन्दर का प्रबल प्रतिरोध किया था। अस्सकेनोई की राजधानी मस्सग थी। इस राज्य की स्त्रियों ने भी युद्ध किया था। 326 ई. पू. में सिकन्दर सिन्धु नदी पर कर तक्षशिला की ओर बढा। पोरस का राज्य झेलम एवं चिनाव नदियों के मध्य स्थित था। उसने सिकन्दर का कडा प्रतिरोध किया किन्तु पराजित हुआ। झेलम के पश्चात् सिकन्दर ने व्यास नदी की ओर प्रस्थान किया किन्तु लगातार अभियानों से थक चुकी उसकी सेनाओं ने आगे बढ़ने से इन्कार किया फलस्वरूप सिकन्दर को झेलम से व्यास लौटना पड़ा। सिकन्दर को अपने प्रत्यावर्तन के मार्ग में मलोई (मालव), आक्सीड्रकाई (श्रुद्रक) सिबई (शिबि) अगालस्सोई इत्यादि गणों से संघर्ष करना पड़ा। वह सिन्धु नदी

की डेल्टा से स्थल मार्ग द्वारा जिड्रोसिया होते हुए बेबीलोन की ओर प्रस्थान कियादो वर्षों पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। सिकन्दर ने अपने विजित क्षेत्रों में बुकेफला, मिसिया, वैक्ट्रिया, अलेक्लेण्ड्रिया जैसे कई उपनिवेशों एवं नगरों की स्थापना की जहाँ यवन बस्तियाँ स्थापित हुयी। इन यवन बस्तियों का भारतीयोंके साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक–व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुएँ कन्दहार से प्राप्त अशोक का द्विभाषी (ग्रीक–अरमेइक)अभिलेख इस क्षेत्र पर मौर्यो के आधिपत्य और यहाँ ग्रीक बस्तियों की उपस्थिति को सूचित् करता है।

सिकन्दर के पश्चात् उसकेसेनापतियों में गृह–युद्ध प्रारम्भ हो गयाएशियाई प्रान्तों को हस्तगत करने के लिए सेल्यूकस निकेटर और एण्टीगोनास में दीर्घकाल तक संघर्ष चला जिसमें सेल्यूकस को सफलता मिली। लगभग 306 ई. में सेल्यूकस ने सिकन्दर द्वारा विजित प्रान्तों पर आधिपत्य करने के उद्देश्य से भारत की ओर प्रस्थान किया किन्तु इस समय तक भारत की राजनैतिक स्थिति में आमूल–चूल परिवर्तन आ चुका था। छोटे–छोटे गणराज्यों एवं राजतंत्रों के स्थान पर चन्द्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। यूनानी स्त्रोंतों में सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त मौर्य के मध्य युद्ध एवं सन्धि का उल्लेख है।सन्धि के अनुसारसेल्यूकस नेअपने चार क्षेत्र एरिया (हेरात) अराकोसिया (दक्षिणी–पूर्वी अफगानिस्तान का कन्दहार क्षेत्र) पेरोपनिसडाई (काबुल) और जेड्रोसिया (दक्षिणी बलूचिस्तान) चन्द्रगुप्त मौर्य को सौप दिया तथा चन्द्रगुप्त ने पाँच सौ हाथी भेटस्वरूप सेल्यूकस को दियाँ चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के मध्य मैत्रीपूर्ण राजनयिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ था। सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राजरदबार में मेगस्थनीजको भेजा। ग्रीको–रोमन वृतान्तों में पश्चिमी देशों के साथ मौर्य राजवंश के साथ राजनयिक सम्बन्धों तथा पालिब्रोथा (पाटलिपुत्र) की काफी चर्चा है। यूनानी स्त्रोंतों में चन्द्रगुप्त को सेण्ड्रोकोट्टस तथा कभी–कभी एण्ड्रोकोट्टस कहा गया हैंराजनयिक सम्बन्धों की जो परम्परा चन्द्रगुप्त मौर्य के समय प्रारम्भ हुआ वह उसके उत्तराधिकारियों के काल में भी बना रहा। यूनानी लेखकों ने बिन्दुसार को अमिट्रोकेटीज कहा है। स्ट्रेबों ने लिखा है कि सीरिया के शासक एन्टियोकस ने बिन्दुसार के पास डायमेकस को अपना दूत बनाकर भेजा। प्लिनी के अनुसार मिश्र के शासक टॉलमी द्वितीय फिलाडेल्फॉस ने डायोनेसिस को मौर्य राजदरबार भेजा था। एक प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार भारतीय शासक अमिट्रोकेटीज ने एन्टियोकस से मीठी मदिरा, सूखी अंजीर और एक दार्शनिक का आग्रह किया था। एन्टियोकस ने कहा कि अंजीर और मीठी मदिरा भेज दिया जायेगा किन्तु यूनान का कानून किसी दार्शनिक के क्रय की अनुमति नही देता। अशोक के 13 वें शिलालेख में उल्लिखित है कि उसने उपमहाद्वीप के वाहर योनराज अन्तियोक (एण्टियोकस II), तुरमय (मिश्र का टॉलमी द्वितीय फिलाडेल्फस), अन्तकिनी (मेसिडोनिया नरेश एण्टिगोनस) मक (उत्तरी अफ्रीका के साइरिन राज्य का मगस) और अलिकसुन्दर (एपिरस या कोरिन्थ का एलेक्जेण्डर) के साथ धम्म विजय के द्वारा सम्बन्ध स्थापित कियाउत्तर–पश्चिम के योन क्षेत्र में धर्म दूत महारक्षित को भेजा। रीज डेविड्स का मन्ना है कि यूनानियों ने अशोक के धम्म विजय को गम्भीरता से नही लिया जबकि एच. सी. रायचौधरी तथा आर. जी. भण्डारकर का मत है कि अशोक को इस क्षेत्र में बडी सफलता मिली। यह अशोक के धम्म प्रसारों का ही परिणाम था कि आगामी शताब्दियों में आने वाले विदेशियों ने भारतीय धर्म एवं परम्पराओं को अपनाया और यहाँ आत्मसात हो गये। सेल्यूकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस तक बैक्ट्रिया सेल्यूसीड साम्राज्य का अंग बना रहा। उसके पश्चात् डायोडोटस के नेतृत्व में बैक्ट्रिया में स्वतन्त्र हो गया।

1.2.2 इण्डो–ग्रीक (हिन्द यवन)

बैक्ट्रिया के ग्रीक सेल्यूसीड साम्राज्य के मूलतः क्षत्रप थे। वैक्ट्रिया हिन्दूकुश पर्वत शृंखला के उत्तर पश्चिम एवं अक्सास नदी के मध्य फैले भू–भाग का प्राचीन नाम है जिसे आधुनिक अफगानिस्तान का उत्तरी क्षेत्र कहा जा सकता है। लगभग तृतीय ई. पू. के मध्य डायोडोटस ने सेल्यूसीड साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्र वैक्ट्रियाई ग्रीक राज्य की स्थापना की। द्वितीयई. पू. तक बैक्ट्रियाई ग्रीकों काविस्तार हिन्दूकुश पर्वत शृंखला के दक्षिण तक हो गया तथा उत्तरोत्तर भारत के उत्तरी–पश्चिमी क्षेत्र अफगानिस्तान, सिन्ध एवं पंजाब पर अधिकार कर कियालगभग द्वितीय ई. पू. से प्रथम ई. के बीच इन क्षेत्रों में शासन करने वाले वैक्ट्रियाई ग्रीकों को इण्डो–ग्रीक (हिन्द–यवन) अथवा इण्डो–वैक्ट्रियन कहा गयाअफगानिस्तान के अमुदारिया और कोकया नदी के संगम पर स्थित अलखानु पुरास्थल का उत्खनन फ्रांस की एक पुरातात्विक टीम द्वारा 1965–75 के मध्य कराया गया जहाँ से ग्रीक नगर स्थापत्य के अवशेष मिले हैं। कून्दूक (अफगानिस्तान) और मीरजका की मुद्रानिधियों से सूचित् होता है कि एक ही समय में एक से अधिक शासकों ने शासन कियाइनकी मुद्रालेखों से अनुमान लगाया जा सकता है कि या तो उक्त शासकों के मध्य प्रतिद्वन्दिता रही हो अथवा इनमें से एक पहले का उत्तराधिकारी रहा है। हिन्दूकुशपर्वत श्रृंखला के दक्षिण में स्थित भारत के उत्तरी–पश्चिमी क्षेत्रों में डिमेट्रियसI,डिमेट्रियसII,अपोलोडोटस, पेंटालियोन, अगाथोक्लीस इत्यादि ने शासन कियाइण्डो–ग्रीकशासकों का इतिहास मुख्यतः उनके मुद्राओं से परिज्ञानित है। किन्तु मात्र मुद्राओं के आधार पर हिन्द–यवन शासकों का वंशावली क्रम, तिथि, तथा राजनीतिक नियंत्रण क्षेत्र के स्तर को समझना कठिन है। इनकी मुद्राओं के आकार–प्रकार, भारमान, लेख, शासकों के नाम एवं अंकन के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया गया है– प्रथम यूथीडेमस वंश एवं यूक्रेटाइडीज वंश।

यूथीडेमस वंश का महत्त्वपूर्ण शासक डिमेट्रियस था। डिमेट्रियस ने द्विभाषी मुद्रायें जारी कि जिस पर ग्रीक लिपि के साथ–साथभारतीय भाषा एवं लिपि का प्रयोग कियाजस्टिन ने इसे रैक्स इण्डोरम की संज्ञा की है। यवनों का शुंगों वंशीय शासकों के साथ भी संघर्ष हुआ था। पतंजलि के महाभाष्य, गार्गी संहिता एवं मालविकाग्निमित्रम में यवन आक्रमणों की सूचना मिलती है। पतंजलि ने उल्लेख किया है कि यवन साकेत तथा माध्यमिक (चित्तौड़) तक आ पहुंचे थे। मालविकाग्निमित्रम् में वसुमित्र तथा यवन सेना के सिन्धु नदी के किनारे हुए युद्ध की चर्चा है। यह स्पष्ट नहीं कि किस यूनानी शासक ने यवन सेना का नेतृत्व किया था। अधिकांश विद्वान उसकी पहचान डिमेट्रियस से करते हैं। राज्य विस्तार को लेकर यूथीडेमस एवं यूक्रेडाइडीज वंश के बीच राजनीतिक प्रतिद्वन्दिता बना रहा। यूकेटाइडीज वंश में अमिन्टस ऐण्टियाल्किडस, आरकेबियस एवं हर्मियस प्रमुख है।एण्टियाल्किडस का राज्य विस्तार तक्षशिला तक था जिसका राजदूत हेलियोडोरस काशीपुत्र भागभद्र के 14वें राज्यवर्ष में आया था।भागभद्र की पहचान पाँचवें शुंग शासक भद्रक या नौवें शासक भागवत से की जाती है।

हिन्द–यवन (इण्डो ग्रीक) शासकों में मिनाण्डर सबसे प्रसिद्ध शासक है। पाली बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्ह में बौद्ध भिक्षु नागसेन तथा मिलिन्द के प्रश्नोत्तर का वर्णन मिलता है। इस मिलिन्द की पहचान मिनाण्डर से की जाती है। मिनाण्डर के आधिपत्य में वैक्ट्रिया से अतिरिक्त उत्तरी–पश्चिमी भारत का हिस्सा भी सम्मिलित था। शाकल (स्यालकोट) इसकी राजधनी थी। पाकिस्तान के नार्थ वेस्ट फ्रंर्टियर प्रोविन्स में स्थित शिनकोट से प्राप्त शैलखड़ी पेटिका अभिलेख में तथागत बुद्ध के देहावशेषों

कोमिनाण्डर के शासन काल में पुर्नस्थापित करने का सन्दर्भ मिलता है जो उसके बौद्ध धर्मानुयायी होने का सूचक है। प्लूटार्क का मानना है कि मिनाण्डर की मृत्योपरान्त उसके अस्थि अवशेषों को लेकर संघर्ष हुआ था।

मिनाण्डर की मृत्यु के पश्चात् इण्डो ग्रीक सत्ता विखण्डित होने लगी। लगभग द्वितीय ई. पू. के अन्तिम चरण में हिन्दूकूश पर्वत के निकटर्वर्ती दक्षिणी क्षेत्र तथा बैक्ट्रिया क्षेत्र सेइनका नियंत्रण के समाप्त हो गयाफिर भी भारतीय उपहाद्वीप के उत्तर–पश्चिमी हिस्सों में कुछ और समय तक शासन कियाइण्डो–ग्रीक शासकों में अगाथोक्लीया रानीतथा उसके पुत्र स्ट्रेटो का भी उल्लेख मिलता है। दोनो ने संयुक्त मुद्रा जारी किया था।शक–पहलवों के आगमन के साथ ही इण्डो–ग्रीक शासकों का पतन प्रारम्भहो गयाइण्डो–ग्रीक शासन का भारत के राजनीतिक इतिहास पर विशेष प्रभाव नही पडा। इनका प्रमुख प्रभाव सांस्कृतिक स्तर पर दिखयी देता है।

डब्ल्यू. डब्ल्यू. टार्न का मत है कि भारतवर्ष के इतिहास में यूनानी शासन का कोई अर्थ नहीं है।बैक्ट्रिया और भारत का ग्रीकराज्य हेलेनिस्टिक राज्य का अंग था किन्तु ए. के. नारायण नेडब्ल्यू. डब्ल्यू. टार्न की आलोचना करते कहा कि जब टार्न ने दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया लिखा तो उनकी सोच में मिड्ल ईस्ट (पश्चिम एशिया) था। टार्न के इस मत से सहमत होना कठिन है किहिन्द–यवन शासकों का इतिहासहेलेनिस्टिक इतिहास काअंग है। सेल्यूकस राजघराने के इतिहास से इसका सम्बन्ध केवल इतना है कि स्वतन्त्र होने से पूर्व बैक्ट्रिया उसके अधीन एक भैगोलिक ईकाई थी। न तो ग्रीक–बैक्ट्रियनो के और न ही हिन्द–यवन के राज्य का ढांचा मध्य पूर्व के हेलेनिस्टिक राज्यों के ढांचे के समान था और न ही उनके राजाओं का दृष्टिकोण ही सेल्यूकस या टॉलेमी घराने के राजाओं के समान था।हिन्द–यवन भारतीय धर्म एवं विचार धारा से जितने प्रभावित थे उतने हेलेनिस्टिक शासक अपने स्वशासित् देश के धर्म एवं विचारों से प्रभावित नही हुए सेल्यूकस राजघराने के शासकों ने बेबीलोनियन लेख नहीं लिखवाये एवं टालमी वंशी राजा ने मिश्री भाषा का प्रयोग नहीं कियाकिन्तु इन यवन शासकों ने अपनी मुद्राओं पर भारतीय लिपि में लेख लिखवायें। निसन्देह उनका इतिहास का भारतीय इतिहास का अंग है न कि हेलेनिस्टिक राज्यों के इतिहास का। ए. के. नारायण का कथन है कि– वह आये जरूर और रहें भी पर जीत भारत की हुयी।

1.3 ग्रीको–रोमन विमर्श में भारत

ग्रीको–रोमन इतिहासकारों एवं लेखकों ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों जैसे प्राकृतिक एवं मानवीय भूगोल, ज्योतिष, व्यापार–वाणिज्य एवं राजनीतिक स्थिति को अपनी कृतियों में उल्लखित किया है। इसमें से कुछ ने अपना विवरण स्वयं लिखा और कुछ ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों के कृतियों के आधार पर लिखा। अधिकांश ग्रीको–रोमन लेखकों के कृतियों के मूल पाठ उपलब्ध नहीं है केवल उद्धहरणों के रूप में परवर्ती लेखकों के विवरणों में मिलता है। यूनानी–रोमन लेखकों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–

1.3.1 सिकन्दर के पूर्ववर्ती लेखक

सिकन्दर के पूर्ववर्ती लेखकों में स्काइलैक्स, हिकेटियस, हिरोडोटस एवं केटियस प्रमुख है। हिरोडोटस ने लिखा है कि स्काइलैक्स को अखामनीं शासक डेरियस ने सिन्धु नदी के मुहाने तक की जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा था। स्काइलैक्स ने अपनी यात्रा

पेक्टीकन के कैस्पराइट से प्रारम्भ की और तीस महीने के समुद्री यात्रा के पश्चात् वह उस स्थान पर पहुंचा जहाँ मिश्र के शासक नीको ने फोनीशियनो को लीबिया की यात्रा पर भेजा था। सम्भव है स्काइलैक्स अपनी यात्रा के दौरान निचली काबुल घाटी तथा सिन्धु के कुछ क्षेत्रों से गुजरा हो। हिकेटियस मिलिटेस यूनानी इतिहासकार एवं भूगोलवेत्ता था। भारत के विषय में उसकी भौगोलिक जानकारी सिन्धु नदी तक सीमित थी। उसने सिन्धु नदी तथा कस्पेपीरीस एवं आर्गेन्टे का उल्लेख किया है। कस्पेपीरीस की पहचान गान्धार से की गयी है। आर्गेन्टे सिन्धु घाटी का एक नगर था। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने अपनी पुस्तक हिस्टोरिका में अपनी यात्राओं का विवरण तथा फारसी साम्राज्य के पश्चिमी प्रसार का व्याख्यान प्रस्तुत किया है। डेरियस के पर्सिपोलस और नख्शे–रूस्तम अभिलेखों में सिन्धु नदी की निचली घाटी क्षेत्रों को हिदू नाम से सम्बोधित किया गया है। हिरोडोटसने इसे इण्डिया कहा है तथाफारस साम्राज्य का बीसवां प्रान्त बताया जहाँ से प्रतिवर्ष 360 टैलेण्ट कर के रूप में डेरियस को स्वर्ण धूलि प्राप्त होता था। यहाँ इण्डिया शब्द पश्चिमोत्तर भारत के एक विशेष भू–भाग को लक्षित करता है। कालान्तर में यह वृहत भौगोलिक अर्थ का पर्याय बन गयाचौथी शताब्दी ई. पू. में आये यवन राजदूत मेगस्थनीज ने भारतविषयक अपना विवरण इण्डिका नाम से लिखा। हिरोडोटस जरक्सीज की सेना में सम्मिलित सूती वस्त्र एवं धनुष–बाण से सुसज्जित भारतीयों का वर्णन किया है जिनके बाणों की नोंक लौह निर्मित थी। हेरोडोटस की दृष्टि में भारतीयों के पास पर्याप्त लौह भण्डार था। स्वर्ण खदानों के साथ–साथ नदी तल से भी स्वर्ण प्राप्त होता था। नदी तल से स्वर्ण प्राप्ति का उल्लेख मेगस्थनीज ने भी किया है। हेरोडोटस ने भारत की यात्रा नही की।उसका अधिकांश वृतान्त अतिरंजित है। हिरोडोटस ने विशालकाय चीटियों का उल्लेख किया है जो नदियों के बालुकामय किनारों से स्वर्णधूलि इकत्रित करती थी। परवर्ती यूनानी लेखकों के विवरणों में भी यह किसी न किसी रूप में मिलता है। निआकर्स ने इन चीटियों के खालों को चीतों के समान बताया है। भारतमें सबसे अधिक विशालकाय पशुओं की चर्चा करते हुए उसने कुछ ऐसे वृक्षों का उल्लेख किया है जिससे भेड से भी सुन्दर एवं गुणकारी ऊन मिलता था।टेसियस की राष्ट्रयिता भी यूनानी था। यह पर्सियन सम्राट अटिजरेजेस का राजवैद्य था। इसने पर्सिया एवं भारत के विषय में क्रमशः पर्सिया एवं इण्डिका लिखा है जो मात्र उद्वहरण के रूप में मिलता है। फोटियस द्वारा तैयार टेसियस की कृति का एक लघु रूप मिलता है। फोटियस नवीं शताब्दी में कुस्तुतुनिया का पैटियार्क था। टेसियस ने भारत सम्वन्धी विवरण प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर नही अपितु पूर्ववर्ती लेखको के आधर पर लिखा।ईरानी राजदरबार में रहते हुए निसन्देह उसे भारतीय दूतों एवं व्यापारियों से भी मिलने का अवसर अवश्य मिला होगा।टेसियस का विवरण हेरोडोटस से विकसित् नही कहा जा सकता। भारतीयों के सन्दर्भ में टेसियस ने लिखा है कि वे न्यायप्रिय एवं राजनिष्ठ होते थे। उसने भारतीय व्यापारियों को भेंट किये जाने वाले उपहारों का वर्णन किया है जो समय–समय ईरान भ्रमण के लिये जाया करते थे।

1.3.2 सिकन्दर के समकालीन लेखक

सिकन्दर के समकालीन लेखकों मेंनिआर्कस, अरिस्टोबुलस एवं ओनेसिक्रिटस विशेष उल्लेखनीय है। सिकन्दर के समकालीन होने के कारण अपना विवरण प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर लिखा है। निआर्कस सिकन्दर के जहाजी बेड़े का कप्तान था उसने फारस की खाडी की यात्रा का वर्णन किया है। दुर्भाग्यवश उसके संस्मरण का मूल पाठ अनुपलब्ध है एरियन और स्ट्रोबो ने उनके संस्मरणों के प्रचुर उद्धहरण दिये हैं। ओनेसिक्रिटस ने सिकन्दर की जीवनी लिखी। यह सिकन्दर के अभियानों में उसके

साथ था। तक्षशिला के भारतीय तत्त्ववेत्ताओं से सम्पर्क स्थापित करने के लिये सर्वोत्तम व्यक्ति के रूप में सिकन्दर ने इसे चुना था। इसके वृतान्तों के विश्वसनीयता पर आधुनिक विद्वानों में मतभेद है। स्ट्रेबो ने उसकी आलोचना करते हुये लिखा है कि वह सिकन्दर के नाविको का ही नहीअपितु आख्यायिका प्रेमियों का भी सिरमौर था। सिकन्दर के युद्वों का इतिहास लिखने वालों में अरिस्टोबुलस का नाम अग्रणी है। एरियन तथा प्लूटार्क ने अरिस्टोबुलस के उद्धहरण दिये हैं।

1.3.2 सिकन्दर के परवर्ती लेखक

सिकन्दर के साथ आये लेखको को पश्चिमोत्तर क्षेत्रों को समझने का मौका मिला किन्तु सिकन्दर के पश्चात्यवनों और मौर्य राजवंश में राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुये।मेगस्थनीज, डायमेकस एवं डायोनिसियस यूनानी राजदूत भारत आये।। इन यूनानी राजदूतों का विवरण अपेक्षाकृत व्यापक एवं प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।प्लिनी के विवरण मेंडायोनिसियस सन्दर्भ में केवल यह सूचना मिलती है कि मिश्र के शासक टालमी ने उसे किसी भारतीय शासक के पास दूत के रूप में भेजा था। इन सभी में मेगस्थनीज का विवरण महत्त्वपूर्ण है। मेगस्थनीज ने भारत की यात्रा एवं उससे सम्बन्धित अनुभवों के आधार पर इण्डिका लिखा जिसका मूल अंश अप्राप्य है। उसके कुछ अंश डियोडोरस, स्ट्रेबो, एरियन एवं प्लिनी के विवरणों में द्रष्ट्व्य है। मेगस्थनीज अराकोशिया के गर्वनर सिविर्टियस के यहाँसेल्यूकस निकेटर का प्रतिनिधि था। चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस में हुयी सन्धि के पश्चात् उसे मौर्य राजदरबार में राजदूत के रूप में भेजा गयामौर्य राजदरबार में उसकी व्यक्तिगत उपस्थिति तथा व्यतीत किए गये समय की कोई निश्चित जानकारी नही मिलती।मेगस्थनीज ने इण्डिका में भारत के भौगोलिक परिवेश, सिन्धु, गंगा एवं उसकी सहायक नदियों की विशालता, उसमें नौकायन की सुविधा, खनिज सम्पदा, पाटलिपुत्र नगर की संरचना, मौर्य शासन प्रबन्ध एवं सैन्य व्यवस्था के विषय में लिखा है। मेगस्थनीज की दृष्टि में यहा के लोगों के उच्च शारीरिक गठन का कारण यहाँ उपलब्ध पर्याप्त संसाधन है। यहा अकाल और सूखा का अभाव था। स्वर्ण, चांदी, ताम्र एवं लौह खदाने थी जिससेदैनिक उपभोग की वस्तुयें, आभूषण, औजार, अस्त्र–शस्त्र निर्मित किये जाते थे।सामाजिक परिवेश एवं व्यापार–वाणिज्य से सम्बन्धित मेगस्थनीज के उद्धहरण स्ट्रेबो के वृतान्तों में मिलता है। स्ट्रेबो ने लिखा है कि भारतीय कानून और संविदाओ की प्रकृति सरल थी। धरोहरों एवं निक्षेप (जमाराशि) के विषय में मुकदमें नही होते थे। उसमें राजकीय मुहर तथा गवाहों की अवश्यकता नही होती थी। निक्षेप का सारा कारोबार विश्वास पर आधारित था। भारतीय यदा–कदा कानून का सहारा लेते थे। निआकर्स ने भी इसका उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की प्रशंसा की हैं। एरनोबोआस (सोन) तथा गंगाके संगम पर स्थित पाटलिपुत्र को सबसे बडा नगर बताया है। यह 80 स्टेडिया में बसा हुआ था। नगर के चारों ओर छः प्लेथोरो (माप)चौड़ी और 30 क्यूबिट (माप) गहरी खाई थी। पाटलिपुत्र के मुख्य परकोटे में 570 बुर्ज तथा 64 द्वार निर्मित थे। पाटलिपुत्र के चतुर्दिक लकड़ी की चहारदीवारी विद्यमान थी। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के राजप्रसाद की उच्च प्रशंसा की।यह सूसा और एकबतना ईरानी नगरों से अधिक भव्य एवं सुनियोजित था।मेगस्थनीज ने 30 सदस्यों की नगरीय समिति उल्लेख किया है जो पाँच–पाँच सदस्यों की छः उपसमितियों क्रमशः शिल्पकला समिति, विदेशी यात्री समिति, जनगणना समिति, वाणिज्य, व्यवसाय समिति, वस्तु निरीक्षण समिति एवं कर समिति में विभाजित थी। शिल्पकला समिति विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं से संलग्न शिल्पियों एवं श्रमिकों के हितों का ध्यान रखती थी। मेगस्थनीज लिखता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कारीगर के व्यवसाय को बाधित करने का प्रयास करता है तो उसे

अंगच्छेद की सजा दी जाती थी और यदि उसे किसी प्रकार का शारीरिक क्षति पहुँचाने की चेष्टा करता था तो उसे प्राणदण्ड का प्रावधान था।

विदेशी यात्रा समिति विदेशी व्यक्तियों के आतिथ्य प्रबन्धन एवं उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करती थी। जनगणना समिति नगर जनगणना से सम्बन्धित थी। जो जन्म एवं मृत्यु का रिकार्ड रखती थी। नाप–तौल का निरीक्षण, वस्तुओं का मूल्य प्रबन्धन इत्यादि वाणिज्य–व्यवसाय समिति का कार्य था। वस्तु निरीक्षण समिति कारखानों एवं उद्योगों द्वारा तैयार वस्तुओं का निरीक्षण करती थी तथा कर समिति बाजार में बिक्रय की जाने वाली वस्तुओं की पर कर वसूली से सम्बन्धित थी।अशोक के अभिलेखों में नगलवियोहालका की चर्चा मिलती है जो निश्चित रूप से नगरीय प्रशासन से जुड़ा अधिकारी था। इसी सन्दर्भ में अर्थशास्त्र मेंउल्लिखित नागरक अधिकारी भीमहत्त्वपूर्ण है। मेगस्थनीज ने मौर्यकालीन सैन्य संगठन के विषय में नगर प्रशासन के समान ही छः समितियों का उल्लेख किया है जिसमें प्रत्येक समिति में पॉच–पॉच सदस्य थे। पैदल सेना, रथ सेना, अश्व सेना, के अतिरिक्त एक नौसेना एवं सैन्य यातायात से जुड़ी एक विशेष टुकड़ी का भी उल्लेख किया है। मेगस्थनीज ने अपने वृतान्त में इस देश की सराहना करते हुए लिखा कि यहा दास प्रथा नही है। सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में उसने वर्णित किया है कि भारतीय समाज सात स्तरों में विभाजित है। ये सात विभाजन इस प्रकार है –दार्शनिक, खेतिहर, पशुपालक और आखेटक, शिल्पकार और व्यवसायी, सेनानी, कर्मचारी तथा राजा के पार्षद।

अन्य ग्रीको–रोमन लेखकों में एरियन, स्ट्रेबो, प्लिनी द एल्डर इत्यादि प्रमुख है।एरियन प्रसिद्ध इतिहासकार, दार्शनिक एवं एक राजनयिक था। वह रोमन हेड्रियन का केप्पोडोसिया में गर्वनर था। उसकी प्रसिद्ध कृति एनेबेसिस ऑफ अलेक्जेण्डर है जो मूलतः सिकन्दर के अभियानों का वृतान्त है। इसकी दूसरी कृति इण्डिका में मेगस्थनीज और एराटोस्थनीज के विवरणों पर आधारित है। स्ट्रेबो भूगोलवेत्ता था। उसकी पुस्तक ज्योग्राफी 17 अध्यायों में विभक्त है जिसमें पन्द्रह भारत एवं ईरान का वृत्त उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि में भारतवर्ष पूर्वी दिशा का सबसे बडा देश था। वह सिकन्दर के पूर्ववर्तीयूनानी लेखकों के भारत विषयक विवरणों पर अविश्वास प्रकट करता है। उसने पाटलिपुत्र से जाने वाली दस हजार स्टेडिया लम्बे मार्ग, गंगा एवं सिन्धु नदियों के मार्ग एवं मुहानों का प्रमुखता से उल्लेख किया है। हाइडैस्पस (व्यास) और हाइपेनीज (झेलम) नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में9 प्रमुख जातियों और 500 नगरों का उल्लेख किया है। विशुद्वानन्द पाठक का मानना है कि स्ट्रेबो द्वारा कथित नगरों में कुछ बडे तथा आजकल के छोटे कस्बों के समान रहे होंगे।लगभग द्वितीय ई. पू. से दूसरी शताब्दी ई. के मध्य भारत एवं रोम के बीच समुद्री व्यापार में काफी बढ़ोत्तरी हुयी। भारत द्वारा केवल भारतीयों वस्तुओं का निर्यात वाह्य देशों को किया जा रहा था अपितु चीन और रोमन साम्राज्य के मध्य होने वाले प्रसिद्ध रेशम व्यापार के उसकी बड़ी हिस्सेदारी थी। इस कालावधि में समुद्री व्यापार, आयातित निर्यातित वस्तुयें, जहाजरानी, पश्चिमी तटीय बन्दरगाहों एवं नगरों के विषय में विस्तृत सूचना प्लिनी, पेरीप्लस ऑफ एरिथ्रियन सी, स्ट्रेबो आदि के विवरणों मिलता है। ग्रीकों रोमन स्त्रोतों में पेरीप्लस ऑफ एरिथ्रियन सी महत्त्वपूर्ण है। इसका लेखक अज्ञात है। प्राचीन यूनानी एवं रोमन भूगोलविदों ने हिन्द महासागर लाल सागर एवं फारस की खाड़ी को एरिथ्रियन सागर कहा है। यह एक हस्तपुस्तिका है जो मिश्र, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिण अरब एवं भारत में व्यापार करने वाले यूनानी व्यापारियों को केन्द्रित कर लिखी गयी है। अफ्रीका, अरब, फारस तथा भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों के मध्य घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्धों, सामुद्रिक गतिविधियों, जहाजरानी संगठन एवं व्यापारिक

मार्गों को समझने के लिये यह महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है। यह दसवीं शताब्दी के एक पाण्डुलिपी के रूप में हिडेलवर्ग में सुरक्षित है। लियोबेल केसोन ने इसका एक अनुवादित संस्करण प्रकाशित किया है।विल्फ्रेड रूकाफ् ने पेरीप्लस ऑफ एरिथ्रियन सीकी अनुमानित रचना तिथि 54 से 60 ई. के मध्य माना है। पेरिप्लसमें भारतीय उपमहाद्वीप के समुद्रतटीय वन्दरगाहो एवं नगरों का विशद विवरण मिलता है। पेरिप्लस में सिन्धु के डेल्टा क्षेत्र बारबेरिकम् तथा मिन्नगरबन्दरगाहों में भारत से आयातित महीन वस्त्र, पुखराज, मँगा, लोहबान, स्वर्ण–रजत पात्र, मदिरा तथा निर्यातित वस्तुओं में गुग्गुल, जटामासी, वैदूर्य, चीनी वल्कल, सूती वस्त्र, एवं नील को सूचीबद्ध कियामिश्र के लाल सागर से गुजरने वाले दो व्यापारिक मार्गों का वर्णन किया है। इनमें से एक समुद्री मार्ग अफ्रीका के तट से गुजरता था तथा दूसरा मार्ग भारत पहुँचता था। पेरीप्लस में भृगुकच्छ, पैठन, तगर बन्दरगाहों का विशेष उल्लेख है। भृगुकच्छ के अतिरिक्त सोपारा, कल्याण, मण्डगोर, पालैपत्तनै, बाइजेण्टियम, तोगरम एवं ओरन्नावेयस की भी गिनती की है। भृगुकच्छ से ताबा, चन्दन, आबनूस के फारस के खाडी स्थित ओम्मार पारसिक बाजार जाने और वहाँ से मदिरा तथा खजूर आने का विवरण है।गोवा सहित दीमरिया (द्रविड देश) के नौरा (कन्नूर), टिण्डिस (पोन्ननी), मुजरिस (मुयिकोट्ट) एवं नेलकन्द की भी चर्चा की है। मुजरिस चेरों का प्रमुख बन्दरगाह था। पेरिप्लस मेंअरब और मिश्र से आने वाले व्यापारिक वस्तुओं से लदे जहाजों का इस बन्दरगाह पर पडाव डालने की चर्चा की है। वियना पैपीरस नामक प्रसिद्ध दस्तावेज में एलेक्जेण्ड्रिया और मुजरिस के मध्य विकसित् व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है।इसके अतिरिक्त वकारे, (आधुनिक पोरकाड) परेलिया, वलित, कुमारी, कोल्की (सम्भवतःपाण्ड्य क्षेत्र में स्थित मन्नार की खाडी का बन्दरगाह) चोलमण्डम् के अरगर (उरयूर), कमर (कारीकल), पोडका और सोपतम बन्दरगाहों की स्थिति, नौकायन की सुविधाओं तथा आयात–निर्यात का सविस्तार उल्लेख किया है किन्तु पश्चिमीतटीय नगरों एवं बन्दरगाहों की तुलना ये विवरण सीमित है। पेरिप्लस में रोमन साम्राज्य को निर्यात होने वाली विभिन्न वस्तुओंरेशमी एवं सूती वस्त्र, दालचीनी, काली मिर्च, गरम मसाले, मोती, पुखराज जैसे बहुमूल्य पत्थर, जटामासी, हाथी दान्त की वस्तुयें, चन्दन, आबनूस, सागौन इत्यादि की सूची प्रस्तुत की है।प्लिनी की कृति नेचुरल हिस्टारिस 37 अध्यायों में विभक्त है जिसमें भूगोल, विभिन्न जीव–जन्तु एवं भारत–रोम विषयक व्यापार का उल्लेख मिलता है। प्लिनी ने उल्लेख किया है कि विलासिता की वस्तुओं के लिए रोमन सोने का प्रवाह भारत में हो रहा था। तमिलनाडु के कोयम्बटूर क्षेत्र, आन्ध्रप्रदेश के कावेरी नदी घाटी से रोमन सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिम भारत के कुछ स्थानों शोलापुर, वदगाव, कोडापुर से भी मिले हैं किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। अधिकांश सिक्के रोमन सम्राट आगस्टसतथा टिबेरियस के काल के हैं। सम्भवतः इसके पश्चात् व्यापारमें गिरावट आयी जिसका कारण रोमन का साम्राज्य काआन्तरिक विघटनमाना जा सकता है किन्तु व्यापार का अस्तित्त्व पूर्णतः समाप्त नही हुआ। भारत रोम व्यापार का उल्लेख न केवल ग्रीकों–रोमन विवरणों में मिलता है अपितु प्रारम्भिक तमिल साहित्य में भी मिलता है। संगम काल में पेरियार नदी में स्वर्ण एवं विदेशी मदिरा लेकर आनेतथा गोल मिर्च ले जाने वाले जहाजों का जिक्रहै। पात्तुपाट्टु की कविता में मदुरई के बुनकरों द्वारा किये जाने वाले शोरगुल को मध्य रात्रि में यवन जहाजों मे माल चढ़ाने–उतारने के क्रम में आने वाली ध्वनि में की गयी है। नक्कीरर ने पाण्डय शासक के द्वारा यवनो द्वारा लायी गयी सुगन्धित मदिरा पान का वर्णन किया है।

1.4 भारतीय संस्कृति में यवनों का आत्मसातीकरण

यवनों ने पश्चिमोत्तर भारत पर अपना राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित किया किन्तु कालान्तर में यहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रभावित होकर अपने नाम, उपाधियों, भाषा एवं लिपि में परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया और क्रमशः भारतीय समाज मेंविलीन हो गये।यवनों के भारतीयकरण की प्रक्रिया कई रूपों में दृष्टिगत् होती है।यवनो के भारतीयकरण की प्रक्रिया को उनके नामों, उपाधियों, अभिलेखों एवं मुद्रालेखों में प्रयुक्त भाषा एवं लिपि, उनके द्वारा ग्रहीत सांकृतिक परम्पराओं के आलोक में समझा जा सकता है।

1.4.1 नाम एवं उपाधियों का भारतीयकरण

यवन शासकों के नाम एवं उपाधियाँ की जानकारी मुख्यतः अभिलेखों एवं मुद्रालेखों से मिलती है। इनमें भारतीयकरण की प्रक्रिया काफी रोचक है। यवन शासकों के नाम सर्वप्रथम ग्रीक भाषा में तत्पश्चात् भारतीय भाषा में रूपान्तरण और तदन्नतर विशुद्ध भारतीय नाम मिलता है। मुद्रालेखोंसे स्पष्ट है कि हिन्द–यवन शासकों ने अपनी द्विभाषी मुद्राओं के अग्र भाग पर टंक्ति अपने नाम एवं उपाधियों को पृष्ठ भाग पर भारतीय भाषा एवं लिपि में रूपान्तरितकियाडिमेट्रियस की मुद्राओं के अग्रभाग पर ग्रीक भाषा में डिमेट्रियाउ तथा पृष्ठभाग पर प्राकृत भाषा एवं खरोष्ठी लिपि में रूपान्तरितदियमेदस तथा ब्राह्मी लिपि में दियमित्रस मिलता है। यह हिन्द–यवन शासकों के नामों में परिवर्तन का प्रथम चरण था। मुद्रालेखों के समान अभिलेखों में भी इनके नामों में भारतीयकरण भी प्रवृत्ति दिखायी देती है। शीनकोट प्रस्तर लेख में मिनाण्डर को मिनिन्द्रस एवं बौद्ध ग्रन्थमिलिन्दपन्ह में मिलिन्द कहा गया है।बेसगर अभिलेख में यवन राजा एण्टियालाकिडस का अन्तलिक्ति नाम मिलता है। महाराष्ट्र की कार्ले, जुन्नर एवं नासिक गुहा से प्राप्त यवनों के कई दानात्मक लेखों में उनके विशुद्ध भारतीय नाम मिलते है जैसे यवन धम्म, यवन सिंहध्यन, यवन इन्द्राग्निदत्त, धर्मदेव, धर्मरक्षित इत्यादि। यदि इनका नाम के साथ यवन जुड़ा नहीं होता तो इनकी पहचान करना कठिन था। यवन नामों के भारतीकरण की प्रक्रिया जो उनकी द्विभाषी मुद्रालेखों से प्रारम्भ हुयी वह लगभग प्रथम तक आते–आते पूर्णता की ओर अग्रसर दिखायी देता है। भारतीय भू–भाग पर यवनों अपने नाम के साथ–साथ उपाधियों में भी परिवर्तन कियायवनो ने ग्रीक उपाधियों का भारतीय भाषा में रूपान्तरण किया जिसका कारण भाषागत मर्यादा था किन्तु कुछ विशुद्ध भारतीय उपाधि भी धारण की। इनके मुद्राओं पर ग्रीक उपाधि–मेगलाय का महतक, (महान)सोटर का त्रातर (रक्षक) डिकेआंस का ध्रमिकस (धार्मिक), निइकेफेरास का जयंत (विजयी), निकेटार का जयधर (विजयी), अनिकेटस का अपडिहस (अपराजित)तथा बेसिलियॉस का रजस, रजतिरजस या महजरस कियायवन शासको की इन उपाधियों कोराजकीयएवं धार्मिक श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मेनाण्डर द्वारा प्रयुक्त ध्रमिकस और यवन राजदूत हेलियोरस की भागवत उपाधि क्रमशः बौद्ध तथा भागवत धर्म से प्रभावितदिखायाी देता है। यवनों के पश्चात् भारत आये शक–पहलव एवं कुषाणों ने भी महासेन, महाभक्त, धर्मविजयी जैसी धार्मिक उपाधियाँ ग्रहण किया।

1.4.2 यवनों द्वारा ग्रहीत भारतीय भाषा एवं लिपि

विचारों एवं भावनाओं को सम्प्रेषित करने का सबसे सशक्त माध्यम भाषा एवं लिपिहै। बैक्ट्रयाई यवन शासकों ने प्रारम्भ में ग्रीक भाषा एवं लिपि का प्रयोग किया किन्तु भारत आगमन के पश्चात् वैचारिक आदान–प्रदान एवं प्रशासनिक आदेशों को प्रसारित करने

के लिए स्थानीय भाषा एवं लिपि का प्रयोग कियाइनके पुरालेख सीमित संख्या में मिले हैं। पश्चिमोत्तर क्षेत्रों से प्राप्तइनके अभिलेख प्राकृत भाषाएवं खरोष्ठी लिपि में है। हिन्द–यवन शासक अन्तलिक्ति के राजदूत हेलियोडोर के वेसनगर गरूड स्तभ लेख में ब्राह्मीलिपि तथा प्राकृत भाषा प्रयुक्त है। मुद्रालेखों से 40 से भी शासकों के नाम और विरूद की जानकारी मिलती है।मुद्रालेखों के आधार पर यूनानी मुद्राओं को दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया–प्रथम प्रकार में ग्रीक भाषा–लिपि में लेख उत्कीर्ण है तथा द्वितीय प्रकार की मुद्रायें द्विभाषी हैं। इन मुद्रओं पर ग्रीक लिपि के अतिरिक्तब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपि तथा प्राकृत भाषा में लेख टंक्तिहैं।भाषा एवं लिपि में अचानक परिवर्तन सम्भव नही था। प्रारम्भ में ग्रीक लेखों का भारतीय भाषा में रूपान्तरण किया गया तत्पश्चात् क्रमशः भारतीय भाषाएवं लिपि में लेख लिखे जाने लगे परिणामस्वरूप यवनों के ग्रीक लेख धीरे–धीरे लुप्तप्रायतथा प्राकृत भाषा के लेख प्रभावी होने लगे।

1.4.3 यवनों द्वारा ग्रहीत भारतीय धार्मिक परम्परायें

यवनो के भारतीयकरण की प्रक्रिया में धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इनके लेखों में वर्णित विभिन्न प्रकार के दान, धार्मिक निर्माण कार्य तथा अन्य लोकोपकारी कार्य भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति इनके झुकाव को इंगित करती है। इनकी मुद्राओं पर ग्रीको–रोमन देवी–देवताओं के साथ–साथ भारतीय देवी–देवताओं तथा प्रतीकों चिन्हों का अंकन इनके धार्मिक सहिष्णुता की परिचायक है। अफगाानिस्तान के अइ–खानुम से प्राप्त अगाथोक्लीस द्वारा जारी मुद्राओं की एक शृंखला पर चक्रधरी कृष्ण एवं हलधर संकर्षण का चित्र अंक्ति है।यह मुद्रायें इन क्षेत्रों में कृष्ण एवं संकर्षण की उपासना के इतिहास परिज्ञान में महत्त्वपूर्ण है। वेसनगर स्तम्भ लेख में ग्रीक राजदूत भागवत हेलियोडोर द्वाराविदिशा में वासुदेव के सम्मन में गरूडध्वज स्थापित करने का उल्लेख है। यह लेख सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसमें किसी ग्रीक द्वारा स्वयं को भागवत घोषित किया गया है।

इनकी मुद्राओं पर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रतीकात्मक चिन्हों जैसे बोधिवृक्ष, चक्र, स्तूप तथा यवन शासकों द्वारा ग्रहित ध्रमिक उपाधि बौद्ध धर्म के प्रति इनके विशेष आस्था को प्रदर्शित करती है।कार्ले, नासिक, जुन्नर के गुहालेखों में यवनों द्वारा बौद्ध भिक्षु एवं संघ को प्रदत्त चैत्य, गुहा, तालाब निर्माण इत्यादि की सूचना उत्कीर्ण है।बाजौर, तक्षशिला, स्वात से कुछ खरोष्ठी लेखों में बौद्व धर्म से सम्बन्धित दानों का उल्लेख है। दानकर्त्ताओं के नामों के साथ यवन शब्द नही मिलता। स्टंनकोनो ने लेख में उल्लिखित थियोडोरस, थियोडोम की पहचान यवनों से की है। यवन ने केवल तडाग, विहार एवं गुहा का निर्माण जैसे लोक काल्याणकारी कार्यों से इष्ट एवं पूर्त जैसी धार्मिक परम्परा का निर्वहन कर रहे थे अपितु इन सूचनाओं को अभिलिखित कारवाकर अपनी भावी पीढ़ी को भी इससे अवगत करा रहे थे।

1.5 सारांश

इस ईकाई में यवनों के राजनीतिक इतिहास, ग्रीको–रोमन विमर्श में भारत विषयक दृष्टान्त तथा यवनों के भारतीयकरण जैसे पक्षों का अध्ययन किया गया है। यवनों के आगमनतथा भारतीय समाज में समागम से सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुएँ यवन भारतीय भाषा एवं लिपि से परिचित् हुएँ कला के क्षेत्र में गान्धार शैली का विकास हुआ। भौगोलिक दृष्टि से गान्धार भारतीय एवं यूनानी–रोमन संस्कृतियों का संगम स्थल था। गान्धार शैली का विषय था किन्तु शैली ग्रीको–रोमन थी जिसमें बौद्ध प्रतिमाओं की लोकप्रियता के कारण इसे ग्रीको–बुद्धिस्ट (यूनानी–बौद्ध) कला भी नाम

दिया गयामुद्रा निर्माण कला तथा ज्योतिषशास्त्र पर यूनानी प्रभाव द्रष्ट्व्य है। ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों में रोमक औा पोलिस का उदय यवन सम्पर्क से माना जाता है। यवन भी भरतीय धर्म एवं विचारों से प्रभावित हुए तथाभारतीय नाम, धर्म, भाषा एवं लिपि ग्रहण कर धीरे—धीरें भारतीय समाज में समाहित हो गये।

1.6 परिभाषिक शब्दावली

ब्राह्मी लिपिः यह प्राचीन भारतीय लिपि हैं। यह लिपि बायीं से दाहिनी ओर लिखा जाता था। आधुनिककाल में इसके उद्वाचन का श्रेय जेम्स को दिया जाता है।

बुर्जः अट्टालक

अभिलेखः उत्कीर्ण लेख। सामान्यतः प्रस्तर, धात्विक पदार्थ, काष्ठ फलक अथवा किसी अन्य कठोर सतह पर उत्कीण ऐतिहासिक महत्त्व अथवा विशेष प्रयोजन के लेख को अभिलेख की श्रेणी में परिगणित किया जाता है।

एपिग्राफीः अभिलेखों के अध्ययन को पुरालेखशास्त्र (एपिग्राफी) कहा जाता है।

खरोष्ठी लिपिः भारत की प्राचीनतम् लिपियों में से एक। यह लिपि दायीं से बायीं ओर लिखा जाता था।मौर्य सम्राट अशोक के शाहबाजगढी और मानसेहरा के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में है। कालान्तर में हिन्द—यवन, शक, पह्लव और कुषाण शासकों के लेखों में भी खरोष्ठी लिपि को देखा जा सकता है।

चैत्यः बौद्ध मन्दिर

मुद्राः विनिमय का माध्यम जिसे किसी सत्ता का वैधानिक अनुमोदन प्राप्त हो।

मुद्राशास्त्रः मुद्राओं की अध्ययन की वह विधा जिसमें मुद्राओं में प्रयुक्त धातु, आकार—प्रकार, निर्माण विधि, माप पद्धति, अंकन, उत्कीर्ण लेख इत्यादि का अध्ययन सम्मिलित होता है।

स्तम्भ लेखः स्तम्भों पर उत्कीण लेख।

अरमेइकः एक प्रकार की लिपि और भाषा। मौर्य सम्राट अशोक के शार—ए—कुना, लघमान और तक्षशिला के अभिलेखों में अरमेइक भाषा एवं लिपि प्रयुक्त है। यह असीरिया, बेबीलोन तथा हखामनी शासित् क्षेत्रों में प्रचलित लिपि थी।

1.7 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री :

- सिंह, उपिन्दर, (2017) सिंह प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास (पाषाण काल से 12वीं शताब्दी तक), पिर्यसन लागमैन, नई दिल्ली।
- जैन, सुमन, (2016)प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन, (द्वितीय शताब्दी ई. पू. से तीसरी शताब्दी ई.), नई दिल्ली।
- नारायण, अवध किशोर, ग्रीक—भारतीय, 1996, भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली एवं विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- शास्त्री, के. ए. नीलकण्ठ, नन्द—मौर्य युगीन भारत (1969) मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।
- वाजपेयी, कृष्णदत्त, अग्रवाल कन्हैयालाल व वाजपेयी सन्तोष, (1969) ऐतिहासिक भारतीय अभिलेख, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर।

- पाठक, विशुद्धानन्द, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, प्रारम्भ से 600 ई. तक(2004) वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

1.8 बोध प्रश्न

1. ग्रीको–रोमन विमर्श में भारतविषयक वृतान्त का वर्णन कीजिए
2. भारतीय संस्कृति में यवनों के भारतीयकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिएँ
3. मेगस्थनीज के यात्रा विवरण पर प्रकाश डालिये।
4. हिन्द–यवन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
5. सिकन्दर परसंक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

इकाई 2 चीनी साहित्य के वृत्तान्त

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप निम्नलिखित के बारे में समझ सकेंगे–

- भारत और चीनी सम्पर्क का इतिहास
- चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार तथा भारतीय बौद्ध प्रचारकों का योगदान
- भारत के सन्दर्भ में चीनी यात्रियों के विवरण
- चीन में भारतीय साहित्य, कला, और विज्ञान का प्रभाव

2.1 प्रस्तावना

प्रसिद्ध सांग दार्शनिक चू–ही (Chu-hi) ने कहा– कृत्य (घटनाएँ) बीत चुका है, पूर्वज अब नहीं रहें लेकिन जीवन और कृतज्ञता बनी हुई है। उनका यह कथन एशिया के उन दो बड़े जनसमूहों के लिए था, जिनके पूर्वजों ने एक समान सभ्यता के निर्माण हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया, जिनके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

एशिया महाद्वीप में भारत के अतिरिक्त केवल चीन की सभ्यता ही अपने निरन्तरता का दावा कर सकती हैं। चीन पूर्वी एशिया का उसी प्रकार सांस्कृतिक नेतृत्वकर्त्ता रहा है, जैसे भारत दक्षिण एशिया का और बेबीलोन पश्चिम एशिया का। भारत और चीन ने एक दूसरे को काफी हद तक प्रभावित किया। यह प्रभाव दोनों देशों के सांस्कृतिक गतिविधियों में देखा जा सकता है। व्यापार से वे एक दूसरे के सम्पर्क में आए ही, साथ ही दोनों देशों के यात्रियों के माध्यम से यह सम्पर्क खूब फला–फूला जिसका प्रभाव साहित्य और कला पर स्पष्ट दिखाई देता है। चीनी स्रोत हमको बताते हैं कि

श्री गुप्त नाम के राजा ने बोधगया में चीनी भिक्षु के लिए विहार का निर्माण कराया। ह्वेनसांग भारत से लौटने के बाद भी यहाँ आदर पाता रहा जैसा कि एक नवीं शती के जापानी बौद्ध यात्री ने कहा– मध्य भारत में कई बौद्ध मंदिरों में ह्वेनसांग का चित्र बनाया गया है जिसमें उसे घुटने तक पहनी जूतो, चम्मच तथा चीनी काँटा के साथ दिखाया गया है। इस चित्र के प्रति भिक्षु प्रत्येक व्रत के दिन अपना आदर प्रकट करते थे। यह अवधारणा है कि भारत और चीन के बीच ऐतिहासिक सम्बन्ध लाओ–त्स (Lao-tseu) के काफी पहले या ताओवाद के उदय के समय स्थापित हुए। इस विचारधारा से भारतीय काफी प्रभावित हुए और यही कारण रहा है कि पहले बौद्ध प्रचारक चीन के ताओ मंदिर में ही रुकते हैं और ताओ पुजारियों के साथ घुल–मिल जाते हैं।

2.2 भारत और चीन सम्पर्क : एक परिचय

भौगोलिक ज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा, उत्पादन तकनीक, बाजार–मांग, व्याकरण और भाषा सहित ज्ञान के अलग–अलग पक्षों से एक दूसरे को परिचित करना ही भारत और चीन के मध्य सम्बन्ध का आधार था। इस क्रम में कई स्तरों पर भारत और चीन के मध्य अलग–अलग कालखण्डों में सम्पर्क होता है, जिसके परिणामस्वरूप एशिया की दो महत्वपूर्ण संस्कृतियाँ एक दूसरे से परिचित होती है। चीनी साहित्य भारतीय संस्कृति के विवरण से भरा–पूरा है जिस आधार पर हम चीनीयों के मन में भारत के प्रति क्या भाव था, इसको समझ सकते है। यह कहना कठिन है कि भारत और चीन कब से एक दूसरे से परिचित हुए, फिर भी हम अनुमान कर सकते है कि चौथी शताब्दी ई0पू0 से दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे के समीप आई। कुछ प्राचीन भारतीय साहित्य जैसे महाभारत, रामायण, अर्थशास्त्र इत्यादि में चीन का उल्लेख है। भारत में मौर्य वंश और चीन में हान वंश की स्थापना से इन दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों को और गति मिली। सि–जी (Shi-Ji), जो कि एक चीनी रिकार्ड है, के अनुसार झांग–क्वान (Zhang-Qian) एक कूटनीतिक अभियान पर हान शासक वू (Wu) के निर्देशानुसार 138 ई0पू0 यू–ची (Yuezhi) लोगों से एक रणनीतिक सन्धि हेतु निकलता है। बैक्ट्रिया में, जो कि अब ईरान और अफगानिस्तान में है, वह भिन्न प्रकार के वस्त्रों और बाँस की वस्तुओं को देखता है। वह इनके बारे में पता लगाता है कि ये वस्तुएँ इस चीन के स्थानीय बाजार में किस मार्ग से आई। तब उसे दक्षिण में स्थित किसी स्थान सेन्दु (Shendu) की जानकारी होती है। सेन्दु चीनी स्रोतों में भारत हेतु प्रयुक्त प्रथम नामकरण है। चीनी शासक इसके बाद भारत तक पहुँचने के मार्ग का पता लगाते है लेकिन वे कुछ समय के लिए असफल होते है। यह कहा जाता है कि पहली बार झांग–क्वान (Zhang-Qian) ने ही रोम तक पहुँचने वाले सिल्क–मार्ग का पता लगाया। इसके बाद से ही चीन द्वारा प्रत्येक वर्ष सात से आठ दल, जिसमें सौ से ज्यादा संख्या होती है, को इन मार्गों के सर्वेक्षण हेतु भेजा जाने लगा, जो भारत तक आने लगे। कुषाण राजवंश की स्थापना में हान चीन और दक्षिण एशिया के मध्य सम्बन्धों को और पुख्ता किया, जिस कारण व्यापारी और बौद्ध प्रचारक एक दूसरे क्षेत्रों में स्थल और जल दोनों मार्गों से पहुँचने लगे।

2.3 भारत और चीनी सम्पर्क के विविध आयाम

2.3.1 भौगोलिक सन्दर्भ

भारत और चीन दोनों विशाल देश हैं, और स्थल तथा जल दोनों प्रकार के मार्गों से इन देशों में सम्बन्ध रहा है।

मध्य एशिया का मार्ग–

चीन के पश्चिम तथा भारत के उत्तर पश्चिम में मध्य एशिया स्थित है। इसे शिंजियांग या चीनी तुर्किस्तान कहा जाता है। मध्य एशिया का दूसरा भाग कीर्गिस्तान, कजाकिस्तान, तजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान तथा उज्बेकिस्तान में पड़ता है। मध्य एशिया के इन दोनों भागों में प्राचीन काल में अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी और उनमें भारतीय धर्मों, सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचार था। प्राचीन समय में चीनी तुर्किस्तान वर्तमान चीन के अन्तर्गत नहीं था। इस समय चीन की पश्चिमी सीमा गोबी मरुस्थल के दक्षिण में स्थित तुंग हुआंग के समीप थी। चीन से पश्चिम की ओर के देशों में आने–जाने के लिए तुंग हुआंग का बहुत महत्व था। यहाँ से दो मार्ग पश्चिम की ओर जाते थे। एक मार्ग पश्चिम–दक्षिण दिशा में तकला मकान मरुस्थल के दक्षिण की ओर से जाता था, जो लोप झील के समीप से होता हुआ तुखार, नीया, खोतान आदि से होकर तारीम नदी के साथ–साथ उत्तर की ओर मुड़ जाता था और इस प्रकार यारकन्द पहुँचता था। यारकन्द के बाद यह बल्ख तथा पार्थिया की ओर चला जाता था। दूसरा मार्ग लोप झील तथा तकलामकान मरुस्थल के उत्तर से होकर कुचि, तुर्फान आदि से होता हुआ काशगर जा पहुँचता था और वहाँ से वंक्षु नदी की घाटी के प्रदेशों की ओर चला जाता था। काशगर और यारकन्द प्राचीनकाल में व्यापार के महत्वपूर्ण केन्द्र थे, और स्थल मार्ग द्वारा इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध विद्यमान था। भारत से उत्तर–पश्चिम की ओर जाने वाला प्रधान मार्ग पुरुषपुर (पेशावर), नगरहार (जलालाबाद) और बामियान होकर काबुल नदी के साथ–साथ हिन्दुकुश को पार करता हुआ कम्बोज (बदख्शां) और पामीर की पर्वतमाला को पार कर काशगर तक जाता था। इस प्रकार भारत से चीन आने–जाने के मार्ग मध्य एशिया के क्षेत्र से होकर गुजरते थे। शुरू–शुरू में भारत से जो भी बौद्ध प्रचारक चीन गये, उन्होंने इन्हीं स्थल मार्गों का उपयोग किया और बौद्ध धर्म तथा साहित्य के अध्ययन के लिए जो चीनी भिक्षु व विद्वान भारत आए, उन्होंने भी इन्हीं मार्गों का प्रयोग किया।

असम का मार्ग–

भारत से चीन आने–जाने के लिए एक अन्य स्थल मार्ग भी विद्यमान था, जो असम तथा उत्तरी बर्मा से होकर चीन के सिचुआन तथा युन्नान प्रान्तों में पहुँचता था। व्यापारी लोग इस मार्ग का अधिक प्रयोग नहीं करते थे क्योंकि यह ऐसे प्रदेशों से होकर गुजरता था, जिसमें अनेक जंगली जातियों का निवास था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन काल में यह मार्ग भी प्रयोग में आता था। चीन की दक्षिणी सीमा के समीपवर्ती प्रदेशों में किरात लोग चीन के व्यापारी माल को भारत ले आया करते थे, और वहाँ से भारत के उत्तर पश्चिमी मार्गों से उसे बल्ख आदि के बाजारों में विक्रय के लिए ले जाते थे। ये किरात व्यापारी असम के स्थल मार्ग का ही अपने व्यापार के लिए प्रयोग करते थे।

तिब्बत का मार्ग–

भारत से चीन आने–जाने का एक अन्य स्थल मार्ग तिब्बत से होकर जाता था। सातवीं सदी में तिब्बत का राजा 'स्त्रोंग–त्सान–सगम्पो' था, जिसने सम्पूर्ण तिब्बत में अपना सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया। इस तिब्बती राजा ने चीन और नेपाल की राजकुमारियों के साथ विवाह किए थे। चीन की राजकुमारी से विवाह के कारण इस समय तिब्बत और चीन में घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुए, और चीन के दूतमण्डलों तथा यात्रियों ने तिब्बत आना–जाना प्रारम्भ कर दिया था। भारत और तिब्बत की

सीमायें आपस में लगती हैं, और इन देशों के बीच स्थल–मार्गों का भी अस्तित्व है। अतः अब भारत के व्यापारियों, धर्म–प्रचारकों और यात्रियों के लिए तिब्बत होकर चीन जा सकना सम्भव हो गया। नालन्दा का प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान प्रभाकर मित्र 627 ई0 में चीन के शासक के निमन्त्रण पर तिब्बत के मार्ग से ही चीन गये थे।

समुद्र का मार्ग–

सम्राट अशोक के समय में विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो महान आयोजन हुआ था, उसमें सोन और उत्तर के नेतृत्व में एक प्रचारक मण्डल सुवर्ण द्वीप भी गया था। भारत के लोग अपने देश के पूर्व में विद्यमान बर्मा तथा उसके परे के पूर्वी प्रदेशों को सुवर्णद्वीप कहा करते थे। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भारतीयों ने इन पूर्वी प्रदेशों में अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ कर दिये थे। पहली सदी तक दक्षिणी बर्मा और जावा आदि में अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो चुकी थी, और कम्बोडिया व विएतनाम में भी भारतीयों के प्रवेश प्रारम्भ हो चुके थे। पहली सदी ईस्वी में कम्बोडिया के क्षेत्र में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई, जिसे चीनी लोगों ने फूनान के नाम से लिखा है। फूनान के बाद चम्पा आदि अन्य भी अनेक भारतीय उपनिवेश उन प्रदेशों में स्थापित हुए, जहाँ वर्तमान समय में विएतनाम और कम्बोडिया के राज्य हैं। इन उपनिवेशों की स्थापना के कारण भारतीयों का समुद्र मार्ग द्वारा दक्षिण–पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में आना–जाना प्रारम्भ हो गया था। फूनान और चम्पा द्वारा भी भारतीयों का सम्बन्ध चीन के साथ स्थापित हुआ और वे स्थल तथा जल–दोनों मार्गों से चीन आने–जाने लगे। दक्षिण–पूर्वी एशिया के भारतीय उपनिवेशों से समुद्र द्वारा चीन जाने वाला मार्ग तोन्किन होकर जाता था, जिसे चीन ने दूसरी सदी ई0पू0 में जीतकर अपने अधीन कर लिया था। समुद्र के मार्ग से चीन जाने के लिए उस समय तोन्किन ही प्रमुख बन्दरगाह था। जो बौद्ध श्रमण और भिक्षु अपने धर्म के प्रचार के लिए दक्षिण–पूर्वी एशिया के चम्पा, फूनान आदि भारतीय उपनिवेशों से चीन गये, उन्होंने प्रायः समुद्र मार्ग का ही प्रयोग किया।

चीन के समुद्रतट पर अन्य और भी बन्दरगाह थे जिनमें कैन्टन बन्दरगाह प्रमुख था। कालान्तर में तोन्किन के मुकाबले कैन्टन का महत्व अधिक बढ़ गया, और भारत तथा उसके पूर्वी उपनिवेशों के व्यापारी तथा धर्मप्रचारक तोन्किन के बजाय कैन्टन जाने लगे।

समुद्र द्वारा भारत से दक्षिण–पूर्वी एशिया के साथ–साथ चीन भी आने–जाने की परम्परा की शुरुआत हुई। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में समुद्र मार्ग का कितना अधिक महत्व था इसको फाह्यान के यात्रा विवरण में देखा जा सकता है। फाह्यान मध्य एशिया के स्थल मार्ग से भारत आया था, और समुद्र द्वारा अपने देश चीन वापस लौटा था। फाह्यान बंगाल की खाड़ी तथा गंगा के मुहाने पर स्थित ताम्रलिपि बन्दरगाह से एक बड़े व्यापारी जहाज पर यात्रा प्रारम्भ की और दो सप्ताह पश्चात् वह सिंहल द्वीप पहुँचा। सिंहल से यवद्वीप (जावा) पहुँचने में उसे 90 दिन लगे। फाह्यान जिस जहाज से जावा गया था उसमें 200 भारतीय व्यापारी भी यात्रा कर रहे थे, समुद्र में तूफान आ जाने के कारण जहाज भटक गया और 70 दिनों में भी कैन्टन नहीं पहुँच सका था। बड़ी कठिनाई के पश्चात जहाज चीन पहुँचा और फाह्यान अपने देश को वापस जाने में समर्थ हुआ।

इस प्रकार से फाह्यान के यात्रा विवरण से भारत और चीन के समुद्री मार्ग का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। फाह्यान के कुछ समय पश्चात गुणवर्मा नामक राजकुमार ने भी

समुद्र के मार्ग से चीन की यात्रा की थी। गुणवर्मा पहले सिंहल द्वीप (श्रीलंका) गया और वहाँ से कुछ समय रुकने के पश्चात जावा गया। जावा से चीन की यात्रा प्रारम्भ की तथा 433 ई0 में चीन के कैन्टन बन्दरगाह पहुँचा और वहाँ से स्थल मार्ग द्वारा नानकिंग गया। गुणवर्मा के पश्चात् अन्य और भी बौद्ध प्रचारक, समुद्र मार्ग से चीन गये थे, जिनमें परमार्थ का नाम उल्लेखनीय है। वह उज्जैन का निवासी था, और जावा होकर चीन गया था।

2.3.2 चीन में बौद्ध प्रचारक

भारत से चीन का आरम्भिक सम्बन्ध व्यापारिक था। इसी माध्यम से बौद्ध धर्म चीन पहुँचा तथा भारत और चीन के सम्पर्क का एक और कारण बना। चीनी साक्ष्य कहते है कि चीन में बौद्ध धर्म का इतना प्रसार हुआ कि कई बौद्ध प्रचारक देवता समझे जाने लग गए। छठी शताब्दी में लिखी गई एक चीनी पुस्तक ''ली–ताई–सान–पाओ–ची'' अर्थात 'चीनी राजवंशों का विवरण' के अनुसार तीसरी शताब्दी ई0पू0 के प्रारम्भ ने श्रमण 'शिह–ली–फॉग' नामक एक भारतीय भिक्षु की अध्यक्षता में 18 बौद्ध भिक्षु चीनी दरबार में आए थे। ऐसा माना जाता है कि इस प्रचारक मण्डल को चीन में अशोक ने भेजा था। इस क्रम में मान्यता यह भी थी कि चीन जाने वाले प्रथम बौद्ध प्रचारक धर्मरत्न एवं कष्यम मातंग थे, जो 67 ई0 में चीन गए।

बौद्ध जाने वाले यात्रियों में कुमारजीव सबसे प्रसिद्ध है। कुमारजीव ने महायान सम्प्रदाय को बाद में स्वीकार कर लिया और अपने शिक्षक बंधुदत्त को महायान में दीक्षित किया। चीन के शासक याओ–चांग के निमन्त्रण पर वह चांगअन पहुँचा। यहाँ उसे राजगुरू की उपाधि मिली और इसने अनेक लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। 800 शिष्यों के सहारे उसने कई ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस क्रम में संघभूति, तार्तार गवर्नर के अनुरोध पर 385 ई0 में उत्तरी चीन के चांगअन नगर पहुँचा। इसने भी कई ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया।

पुष्यत्राता और विमलाक्ष क्रमशः 404 ई0 और 406 ई0 में चीन पहुँचे। इन दोनों बौद्ध विद्वानों ने बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद में कुमारजीव की सहायता की। धर्मयश 407 ई0 में चीन पहुँचता है और ग्रन्थों के अनुवाद में सहयोग करता है। इसके बाद जाने वाले यात्रियों में बुद्ध यशस, धर्मक्षेम, बुद्धजीव और धर्ममित्र प्रमुख है। बुद्ध यशस को काशगर के शासक ने उसे एक धार्मिक महोत्सव पर अपने तीन हजार भिक्षुओं के साथ आमन्त्रित किया। राजा उसकी विद्वता से अत्यन्त प्रभावित हुआ। वह कुमारजीव से भी मिला। यह काशगर में 10 वर्ष कूची में एक वर्ष रहा। इसने भी अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। इसमें दीर्घगम प्रमुख है। चीन में इसके लिए संघाराम का निर्माण किया गया, जहाँ वह धर्म प्रचार करता था। धर्मक्षेम भी अनुवादक ही था। इसने बुद्धचरित का चीनी भाषा में अनुवाद किया। जिससे उसकी प्रसिद्धि दूर–दूर तक फैल गयी। बुद्धजीव एक कश्मीरी भिक्षु था जो 413 ई0 में चीन के नानकिंग नगर पहुँचा। उसने फाह्यान से भी भेंट करता है जिसने उसे भारत से लाए हुए महिशासक–विनय के अनुवाद का कार्यभार सौंपा। धर्ममित्र कूचा में रहने के बाद 424 ई0 में चीन के तनु–हुआंग पहुँचा। वह अल्प आयु में बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुआ। उसने तुंग हुआंग में एक विशाल संघाराम की स्थापना की तथा नानकिंग और चिन चाओ में ध्यान का प्रचार किया।

बाद में कालों में गुणवर्मन, गुणभद्र, धर्मकृतश, गुणबुद्धि, बोधिरुचि तथा परमिति एवं मेघशिखा ने भी चीन की यात्रा की। इन यात्रियों ने भी चीन में बौद्ध ग्रन्थों का चीनी

भाषा में अनुवाद किया। 500 ई0 के बाद जाने वाले यात्रियों में उपशून्य, परमार्थ, बोधिधर्म, धर्मरुचि, रत्नामति, बोधिरुचि, बुद्धशान्त इत्यादि हुए। ये सभी अनुवाद का कार्य करते है। बोधिधर्म की धार्मिक शिक्षाएँ चीन में 'चान' व जापान में 'जेन' के नाम से जानी जाती है। इनके बाद भी भारत से लगातार चीनी यात्री जाते रहे। जिनमें बुद्धभद्र, ज्ञानगुप्त, धर्मगुप्त, धर्मप्रज्ञ का नाम प्रमुख है।

हम कह सकते है कि इन यात्रियों की यात्रा का ही परिणाम था कि चीनीयों को भारत के बारे में जानने की इच्छा हुई और कई चीनी यात्री भी भारत आए। इससे चीन में भारत सम्बन्धी चर्चाएँ होने लगी जिसका विवरण हमें चीनी साहित्यों में दिखता है।

2.3.3 भारत में चीनी यात्री

अनेक चीनी यात्री कालक्रमेण भारतीय संस्कृति एवं विशेषतः बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के उद्देश्य से भारत आते थे, इनमें से अधिकांश बौद्ध थे। अतः उनका महात्मा बुद्ध की भूमि का दर्शन करना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त बुद्ध चीन में रहते हुए भारतवर्ष की सुविकसित सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म के विषय में महत्वपूर्ण उल्लेख किया। जिससे भारत के बारे में उनके विमर्श को समझा जा सकता है। भारत के बारे में प्रारम्भिक विवरण चीन के प्रथम इतिहासकार सूमाचीन देते हैं, जिसकी सूचना प्रथम शताब्दी ई0पू0 में लिखे गए इतिहास ग्रंथ से होती है। तदनन्तर दो प्रमुख यात्रियों ने भारत की यात्रा की, इन्हें हम फाह्यान और ह्वेनसांग के नाम से जानते हैं।

फाह्यान चीनी बौद्ध यात्री था, जो गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के समय भारत आया था। इनका जन्म 337 ई0 में चीन के वू–यंग (Wo-Yang) नामक स्थान पर हुआ था। बचपन से ही वह भगवान बुद्ध की शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुए और बड़े होने पर वह भिक्षु जीवन व्यतीत करने लगे। बौद्ध ग्रन्थों के गहन अध्ययन एवं भगवान बुद्ध के चरण चिन्हों से पवित्र हुए स्थानों को देखने की लालसा से उन्होंने कुछ सहयोगियों के साथ भारत की यात्रा की। ये लगभग 399 ई0 से 415 ई0 तक भारत में रहे। चीन में वापस लौटकर इन्होंने अपना यात्रा वृत्तान्त 'Travels of Fa-hien' लिखा। इन्होंने भारत की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में कहा कि मगध के राजा का शासन प्रबन्ध श्रेष्ठ और कुशल था। राज्य का उद्देश्य प्रजाहित था एवं प्रजा सुखी एवं सम्पन्न थी। दण्ड विधान सरल थे और अपराधों में आर्थिक दण्ड लगाते थे। फाह्यान ने पाटलिपुत्र नगर का विशद् वर्णन किया है। इन्होंने अशोक द्वारा बनवाए गए राजभवन को भी देखा था। वह इस विशाल भवन की ऊँची मंजिलें, भव्य दीवारें और प्रवेश द्वार की चित्रकार एवं नक्काशी देखकर इतना आश्चर्यचकित हो गया था कि वह सहसा लिखता है– "यह राजप्रासाद मनुष्यों द्वारा नहीं देवताओं द्वारा निर्मित किया गया था।" वह अस्पतालों, अनाथालय और मार्ग में यात्रियों हेतु विश्रामालयों के बनवाए जाने का उल्लेख करता है।

वह कहता है कि तत्कालीन लोगों का जीवन सुखी था। वे धन–सम्पन्न थे। वह लिखते हैं की सम्पूर्ण देश में लोग न तो किसी जीवित प्राणी की हत्या करते थे और न हीं मांस, मदिरा, प्याज, लहसुन आदि का प्रयोग करते थे। वह समाज से बहिष्कृत लोगों का भी उल्लेख करता है। इसके अनुसार कृषि की दशा अच्छी थी और प्रजा पर कम कर था। अर्थव्यवस्था में कौड़ी प्रचलन में थी और कर्मचारियों को राज्य की तरफ से वेतन मिलता था। इस क्रम में वह धार्मिक सहिष्णुता का भी उल्लेख करता है। राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता था। सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। ये लिखते हैं कि उत्तर पश्चिम, मथुरा और बंगाल में बौद्ध धर्म की

प्रधानता थी। यहां महायान और हीनयान दोनों मत प्रचलित थे। वह बौद्ध भिक्षु और बौद्ध विहारों का उल्लेख करता है। मध्य भारत और मालवा में ब्राह्मण धर्म विशेष प्रगतिशील था। उसने शानशान, तारतार, खोतान, गंधार, तक्षशिला, पेशावर, संकिशा, श्रावस्ती, काशी, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, नालंदा, गया आदि क्षेत्रों की यात्रा की थी।

फाह्यान के बाद आने वाले यात्रियों में ह्वेनसांग (Huen-Tswang) काफी महत्वपूर्ण है। जिसका जन्म चीन के होनान (Honan) प्रांत के चीन–लीऊ (Chin-Liu) नामक स्थान में हुआ था। अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण बौद्ध धर्म के प्रति इनका स्वाभाविक आकर्षण था। बीस वर्ष की आयु तक यह प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु बन गये। इनके मन में भी बौद्ध ग्रन्थों को मूल भाषा में अध्ययन तथा बौद्ध स्थलों को देखने की इच्छा थी। इस ध्येय से 'यात्रियों के राजकुमार' और 'नीति के पण्डित' ने 629 ई0 में तांग शासकों की राजधानी चंगन से भारतवर्ष के लिए प्रस्थान किया। यह मध्य एशिया के मार्ग से होते हुए ताशकंद, समरकंद, काबुल, पेशावर के मार्ग से भारत आया, तब हर्षवर्द्धन का राज्य था। हिन्दुकुश की पहाड़ियों को पार करने के पश्चात वह कपिशा, गांधार, कश्मीर, जालंधर, मथुरा होते हुए थानेश्वर पहुँचा। यहाँ से अहिच्छत्र, संकिसा होते हुए कन्नौज पहुंचे। कन्नौज से अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली, पाटलिपुत्र, बोधगया आदि स्थानों का भ्रमण किया। वहाँ से वह नालन्दा गया जहाँ शीलभद्र कुलपति थे। वहाँ बंगाल उड़ीसा होते हुए काँची तक गया। वापस आते हुए वह पुलकेशिन द्वितीय के राज्य आया। इस क्रम में वह सिन्ध पहुँचा जहाँ के राजा की बौद्ध धर्म में आस्था थी। वह हर्ष के राज्य में महामोक्ष परिषद में भी भाग लेता है। मध्य एशिया के मार्ग का अनुसरण कर वह वापस चला गया। वह अपने यात्रा वृतान्त के आधार पर 'सि–यू–की' ग्रंथ का सम्पादन करता है।

हर्षकालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा का विवरण हमें ह्वेनसांग से प्राप्त होता है। वह हर्ष का विशद् विवरण देता है और लिखता है कि वह कर्तव्यपरायण, प्रजावत्सल, दयालु सम्राट था। साम्राज्य के प्रान्तों पर उसका बड़ा नियन्त्रण था। शासन प्रबन्ध अच्छा और संगठित था। प्रजा सुखी एवं समृद्धि थी। भयंकर अपराधों हेतु मृत्युदण्ड दिया जाता था। मार्ग पूर्णतया सुरक्षित नहीं थे वह कई बार चोर–डाकुओं के चंगुल में फँस गया था। वह हर्षवर्द्धन–पुलकेशिन सम्बन्ध, वल्लवी के शासक, शशांक, भास्करवर्मा के बारे में भी विवरण देता है। वह कहता है कि हर्ष की सेना में 1,00,000 अश्वारोही, 60,000 हाथी और काफी बड़ी पैदल सेना थी। इनके अनुसार बौद्ध धर्म और पौराणिक धर्म दोनों को मानने वाले कन्नौज में रहते थे। वह कन्नौज के बारे में विस्तार से चर्चा करता है।

वह समाजिक व्यवस्था का उल्लेख करते हुए वर्ण व्यवस्था का उल्लेख करता है। वह कई जातियों उपजातियों का उल्लेख करता है। वह ब्राह्मणों की पवित्रता, क्षत्रियों की वीरता, वैश्यों की अर्थशक्ति की चर्चा करता है। उसके अनुसार शूद्रों को राजनीतिक शक्ति प्राप्त थी और सिन्ध का राजा शूद्र था। विवाह अन्तर्जातीय होते थे। बाल विवाह और सती प्रथा का भी प्रचलन था। इसके अतिरिक्त भारतीय भोजन और वस्त्रों की चर्चा करते हुए वह कहता है, भारतीय शाकाहारी थे, भारतीयों को श्वेत वस्त्र प्रिय था। स्त्री पुरुष दोनों आभूषण धारण करते थे। हर्षकालीन अर्थव्यवस्था भी अच्छी थी। अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। शिल्पियों और व्यापारियों की अलग–अलग श्रेणी निगम थे। कपिशा का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग लिखता है यहाँ भारत के प्रत्येक कोने–कोने से से व्यापारिक सामग्रियाँ पहुँची थी। आन्तरिक तथा वाह्य

व्यापारिक मार्ग प्रयोग में थे और पश्चिमी देशों में भारतीय व्यापारी मुख्यतः जाते थे।

फाह्यान, ह्वेनसांग के तदनन्तर भी कई यात्री आए, जिनमें सुंग–युन (Sang-yun), ह्यूली (Hwi-li), इत्सिंग (It-sing), मा–त्वान् लिन (Ma-twan-lin), चाऊ–रु–कुआ (Zhou Rugua) प्रसिद्ध थे। ये सभी अलग–अलग भारतीय क्षेत्रों की यात्रा करते हैं और अपना विवरण लिखते हैं। हालांकि इनका वर्णन फाह्यान–ह्वेनसांग इतना विस्तृत नहीं फिर भी इनके विवरण से भारतीय समाज, संस्कृति के बारे में जानकारी मिलती है। ये विवरण विदेशियों के भारत सम्बन्धित चिन्तन का परिणाम है। इन विवरण में कई कमियों के बावजूद भी हम भारत विमर्श में इसे स्वीकार करते हैं।

2.3.4 चीन में बौद्ध धर्म का प्रसार

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में महाभारत तथा मनुस्मृति में चीन के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। प्रारम्भिक चीनी ग्रन्थों में चीनी शासकों के हुआंग–चे (कांची) से व्यापारिक सम्पर्क का पता चलता है। प्रारम्भिक समय में यह सम्बन्ध व्यापारिक था, जिसका उल्लेख अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कालिदास द्वारा चीनी रेशमी वस्त्र (चीनांशुक) के रूप में किया गया। यद्यपि यह भी सत्य है कि शीघ्र ही व्यापार का स्थान धर्म के प्रचार–प्रसार ने ग्रहण कर लिया और विशेषकर बौद्ध धर्म ने जिसका विस्तार सम्पूर्ण चीन में हो गया। चीन के साथ भारतीय सम्पर्क स्थलमार्ग और जलमार्ग दोनों से था, जिसका पूर्ण लाभ बौद्ध प्रचारकों को स्वधर्म विस्तार में प्राप्त हुआ। चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार विशेषकर खोतान से पहुँचा था।

चीनी परम्परायें एवं मान्यतायें भारत के बौद्ध प्रचारकों को चीन से सम्पर्क की जानकारी तृतीय शती ई0पू0 ही देते हैं। किन्तु इसका वास्तविक एवं ऐतिहासिक प्रारम्भ हन राजवंश से ही जुड़ा हुआ माना जाता है। इससे पूर्व चीनी सम्राट के दरबार में चीनी राजदूत चांगकियेन जो यू–ची दरबार में रहता था उसके विवरणों में भी भारत–चीन सम्बन्ध का विवरण सुरक्षित है। शरत चन्द्र दास की पुस्तक 'इण्डियन पांडित्स इन द लैंड ऑफ स्नो' में बताया है कि कश्यप मतंग और धर्मरत्न ने सर्वप्रथम चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु बौद्ध धर्म साहित्य की समीक्षा की। चीनी सेनापति पान चाओ और उसके पुत्र पान–यांग के काला सागर से मध्य एशिया तक के मार्ग पर विजय के कारण चीनी मार्ग सुरक्षित हो पाया था, जिसने बौद्ध धर्म के चीन में प्रचार–प्रसार में अपनी महती भूमिका निभाई। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म को कन्फ्यूशियस मतानुयायियों के विरोध का सामना करना पड़ा किन्तु चीनी शासकों कुलीन वर्ग तथा चीनी विद्वानों के समर्थन ने भारतीय बौद्ध धर्म को एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म के रूप में मान्यता दिला दी। द्वितीय शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी दार्शनिक मोत्सू ने तो कन्फ्यूशियस धर्म से भी बौद्ध धर्म को श्रेष्ठतर बता दिया। सिन् राजवंश के शासक 'वु' तथा 'मिन्' ने कई बौद्ध मठों तथा विहारों का निर्माण कराया। इस समय चंगन तथा नानकिंग प्रमुख बौद्ध धर्म के केन्द्र थे। लियांग–वूती नामक चीनी सम्राट ने तो इसे अपना राजकीय धर्म बनाया। जिसे सूई वंश तथा तांग राजवंश द्वारा भी जारी रखा गया। तांग काल को 'चीन का बौद्ध काल' भी कहा जाता है।

भारत से चीन गए प्रारम्भिक धर्म प्रचारकों में धर्मक्षेम, गुणभद्र, धर्मगुप्त, उपशून्य, परमार्थ प्रमुख थे। सांगकाल में प्रभाकरमित्र, दिवाकर, अमोघवज्र द्वारा चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार किया गया। कालान्तर में संगभूति, , धर्मयशस्, बुद्धयशस्, विमलाक्ष, बुद्धजीत आदि बौद्ध विद्वान चीन गए। भारतीयों द्वारा चीनी लोगों को बौद्ध साहित्य के अध्ययन हेतु पाली तथा संस्कृत भाषा हेतु प्रशिक्षित किया गया जिससे वह इन ग्रन्थों

का अनुवाद चीनी भाषा में कर सके और भगवान बुद्ध के उपदेशों से उनको परिचित करा सके। इसमें भारतीय विद्वान कुमारजीव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने चीनीयों को बौद्ध साहित्य ज्ञान हेतु दीक्षित किया। साथ में 12 वर्षों तक प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। कुमारजीव द्वारा 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' जैसे ग्रन्थों सहित कुल 300 ग्रन्थों को अनुवादित किया गया। कुमारजीव द्वारा स्वयं चीनी भाषा में 'अश्वघोष का जीवनचरित' लिखा गया। बोधिधर्मा द्वारा चीन में शाऊलिंग मठ की स्थापना की गयी जहाँ बौद्ध–भिक्षुओं को 'शाऊलिंग–कूंगफू' सिखाया जाता था। परमार्थ नामक बौद्ध प्रचारक द्वारा 'त्रिपिटक' का अनुवाद किया गया था।

बौद्ध धर्म का अहिंसा, दया, करुणा, विनय इत्यादि विचारों ने चीनवासियों को सर्वाधिक प्रभावित किया। बौद्ध धर्म की सरलता एवं व्यावहारिकता को जिस प्रकार भारतीय बौद्ध प्रचारको द्वारा प्रेषित किया गया उसने चीनवासियों के पारमिता में विलक्षण परिवर्तन किया। भारतीय बौद्ध प्रचारक तो चीन गए ही यद्यपि चीन के लोगों द्वारा भी इसमें रुचि दिखाई और विविध चीनी यात्रियों तथा फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग द्वारा भारत की यात्रा की। इन चीनी यात्रियों द्वारा विपुल बौद्ध साहित्य चीन लाकर उसका अनुवाद किया गया। इन्हीं के प्रेरणा से बहुत सारे चीनी छात्रों द्वारा भारत आकर शिक्षा ग्रहण की। यही कारण है कि नालन्दा विश्वविद्यालय में विदेशी छात्रों की संख्या ने उसे दुनिया का सर्वाधिक प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बना दिया। बौद्ध प्रचारको एवं साहित्य के सम्पर्क ने चीन में मूर्तिपूजा, मन्दिर निर्माण, भिक्षु जीवन पुरोहितवाद को प्रारम्भ किया। चीन साहित्य भारतीय ज्ञान परम्परा और भाषा साहित्य से सम्पर्क के कारण काफी समृद्ध हुआ। तांग शासकों के दरबार में एक भारतीय ज्योतिषी द्वारा सम्राट को एक भारतीय पंचांग भी समर्पित किया गया था। भारत के तांत्रिक योगी द्वारा चीनी शासको के दरबार में जाकर रोगों का निदान किया जाता था। भारतीय गान्धार कला का प्रभाव चीन में निर्मित बोधिसत्वों की मूर्तियों तथा स्तूपों की नकल पर निर्मित 'चीनी पैगोडा' पर स्पष्ट देखा जा सकता है। आपसी सम्पर्क के कारण ही अजन्ता गुहा चित्रों की नकल 'तुल–हुआंग' (चीन) के गुहा चित्रों में भी देखी जा सकती है। ये भारतीय बौद्ध प्रचारक ही थे जिन्होंने भारतीय बौद्ध साहित्यों के अनुवाद एवं संस्कृति के प्रचार प्रसार से चीनी संस्कृति पर अपना प्रभाव स्थापित किया।

2.4 चीन में भारतीय कला और विज्ञान

आरम्भिक चीन में नवपाषाण कालीन संस्कृति के पश्चात शांगयुगीन सांस्कृतिक कला आता है, जो चीन के इतिहास निरूपण हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस संस्कृति के निर्माता चमकीले मृदभाण्ड कला और सुन्दर कांस्य निर्मित पात्र निर्माणों हेतु जाने जाते थे। उनके द्वारा सींगों, अस्थियों और कौड़ियों पर नक्काशी करने और पाषाण की मूर्तियाँ निर्मित करने की जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय कला व विज्ञान से चीनी लोगों का परिचय धर्मरत्न, कश्यपमातंग नामक बौद्ध–भिक्षुओं के सम्पर्क से प्रारम्भ होता है। इन्हें बौद्ध–प्रचारकों की सहूलियत हेतु हानवंशी शासक मिंगती द्वारा भारतीय बौद्ध भिक्षुओं के आश्रय स्थल 'विहार' से प्रेरित होकर 'श्वेताश्व विहार' (White Horse Monestery) का निर्माण लोयांग नामक स्थान पर कराया गया था। नानकिंग एवं चंगन शहर में भी कई बौद्धमठ व विहार निर्मित किए गए थे। श्वेताश्व विहार, चंगन विहार, शाऊलिंग मठ तथा तिब्बत का समयश विहार एवं शाक्या विहार पर भारतीय बौद्ध विहारों के सदृश ही निर्माण कराया गया था। भारतीय विज्ञान के अन्तर्गत ज्योतिष विज्ञान एवं चिकित्सा शास्त्र का भी स्पष्ट प्रभाव चीनी संस्कृति पर देखा जा

सकता है। भित्ति चित्रकला, भारतीय स्तूप निर्माण एवं शाऊलिंग कुंगफू जैसे युद्ध कला–कौशल का प्रभाव में भारतीय सांस्कृतिक विस्तार का ही परिचायक है।

खोतान (मध्य एशिया) का वह क्षेत्र जिसे अशोक के पुत्र कुणाल द्वारा बसाया गया था। इसके बारे में कहा जाता है कि यहाँ का प्रत्येक नागरिक अपने घर के सामने एक 'पैगोडा' (बौद्ध स्तूप) बनाता था। यहाँ का 'गोमती विहार' महायान बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था वही फाह्यान द्वारा खोतान में 80 वर्षों में निर्मित बौद्ध विहार की चर्चा करता है। अजन्ता के भित्ति चित्रों के समान तुंग हुआंग से वैसे ही भित्ति चित्र व बौद्ध विहार की जानकारी प्राप्त होती है। जिसे 'सहस्त्र बुद्ध गुहा विहार' भी कहा जाता है। फाह्यान के विवरणों में उद्धृत है कि तुर्फान के राजा चाऊ (480 ई0) द्वारा एक मैत्रेय का मन्दिर निर्मित कराया गया था जिसमें प्रत्येक पाँचवें वर्ष 'पंचवार्षिक महोत्सव' का आयोजन कराया जाता था। तिब्बत के राजा सेनगम्पों द्वारा नालन्दा तथा ओदंतपुरी की मठों के वास्तुविद्या से प्रेरित होकर 'समयश विहार' का निर्माण किया गया था जिसके निर्माण में भारतीय बौद्ध विद्वान शांतरक्षित व पद्मसम्भव का योगदान था। कालान्तर में यहाँ 11वीं सदी में विक्रमशिला के वास्तु विद्या के आधार पर 'शाक्या विहार' का निर्माण किया गया था। वहीं शून्यवाद के प्रबल समर्थक बोधिधर्मा द्वारा शाऊलिंग मठ का निर्माण कराया गया था, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं को भारतीय युद्ध कला शैली 'शाऊलिंग कुंगफू' सिखाया जाता था। इसी कारण बोधिधर्मा को चीन में 'पहला चीनी पैट्रीआर्क' कहा जाता था।

चीनी संस्कृति मात्र भारतीय कला विज्ञान से प्रभावित नहीं थी अपितु वहाँ के आन्तरिक गुणों बौद्ध भिक्षुओं के जीवन व पुरोहितवाद जैसे तत्व का भी विकास भारतीय परम्पराओं से ही हुआ था। भारतीय ज्योतिष विज्ञान का ही प्रभाव था कि एक भारतीय विद्वान द्वारा तांग सम्राट को एक भारतीय पंचांग बनाकर दिया गया था जिसे तांग सम्राट द्वारा सहर्ष स्वीकार किया गया था। भारत की चिकित्सा पद्धतियों, कालान्तर में तान्त्रिकों, योगियों द्वारा भी उपचार किया जाता था जो चीन में जाकर वहाँ के शासकों का इलाज करते थे। हम जानते हैं की ह्वेनचाओ को सम्राट द्वारा भारतीय औषधीयों को एकत्र करने के लिए विशेष रूप से भारत भेजा गया था। कुषाणकाल में विकसित गांधार कला का प्रभाव वहाँ की बुद्ध एवं बोधिसत्व की मूर्तियों पर तथा स्तूप का प्रभाव वहाँ के पैगोडा मन्दिरों पर स्पष्ट परिलक्षित होती है। जो भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव को चीनी संस्कृति पर आच्छादित करते हुए प्रतीत होती है। फ्रेस्को टेम्पेरा पद्धति से निर्मित अजन्ता गुहा चित्र की भांति तुंग–हुआंग भित्ति चित्र का निर्माण चीन में भारतीय कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिन प्रमुख भारतीय चित्रकारों को चीन में सम्मान दिया गया उनमें शाक्यबुत, बुद्धकीर्ति व कुमार बोधि का नाम महत्वपूर्ण है। चीन में बौद्ध कला के तीन प्रमुख केंद्र थे– तुंग हुआंग, युन–कांग, लांग–मेत्र। इसके अतिरिक्त चीनी संगीत में साथ शुद्ध स्वरों का उल्लेख है जिसका भी सम्बन्ध भारतीय संगीत ग्रन्थों से था।

इस क्रम में खगोल और ज्योतिष विज्ञान ने भी चीनी संस्कृति को प्रभावित किया। दोनों देशों में यह माना जाता है था कि ग्रह मनुष्यों के भाग्य को प्रभावित और निर्देशित करते हैं। 7वीं शताब्दी में चंगान में तीन खगोल विद्यालय थे जो गौतम, कश्यप और कुमार के नाम से जाने जाते थे। सुई राजवंश के इतिहास में कई हिन्दू गणितीय और खगोलीय कार्यों के चीनी अनुवाद का उल्लेख है जो लम्बे समय से लुप्त हो गए है। जैसे कि सप्ताह के दिनों का नाम का चीन सोडियन में अनुवाद।

2.5 सारांश

भारत और चीन जैसी महान सभ्यताएँ जो भिन्न जलवायु और अलग–अलग भाषाओं के साथ परम्परा और संस्कृति के स्तर पर भी अलग हैं, यदि वह इसके बावजूद भी एक समान स्तर पर ऐक्य प्रदर्शित करती है इसका कारण उनकी सभ्यता की जड़ों में है, जो सामान्यतया समझ नहीं आता। दोनों सभ्यताएं सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर एकता प्रदर्शित करती है जो कई माध्यमों से समझा जा सकता हैं। उदाहरणार्थ प्राचीन समय में जैसे हिन्दुओं को विश्वास है कि राजा की उत्पत्ति दैवीय है और वह पृथ्वी पर वरुण का प्रतिनिधि है। ऐसा ही वह विश्वास चीनियों को भी था। वे भी स्वर्ग की सत्ता में विश्वास रखते थे। वहाँ भी राजाओं के कर्तव्य का निर्धारण वैसे ही था जैसे भारतीयों का। इस क्रम में चीनी भी अपने पूर्वजों का काफी सम्मान करते थे और उन्हें भी पितृयज्ञ में विश्वास था। हिन्दू विधि संहिताओं, धर्मशास्त्रों में जिस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक आदर्श व्यवह्रत है, कन्फ्यूशियस और उनके अनुयायियों ने भी उसी प्रकार की शब्दावली में राजा, परिवार, मुखिया, उत्तराधिकार आदि विषयों पर चर्चा की है।

भारत और चीन की संस्कृति में यह साम्यता समान धार्मिक विचारों में विश्वास के कारण थी, जिस कर्म और ज्ञान की अवधारणा मुख्य थी। हालाँकि धीरे–धीरे चीन में भारत की तरह ही कई नए विचार पनपें जिन्होंने पूर्व में चली आ रही मान्यताओं को खण्डित किया। इनमें एक विचार ताओवाद था। कहा गया कि बुद्ध और कोई नहीं बल्कि लाओ सू (Lao-tzu) के ही अवतार थे। इस क्रम में चाऊ–सू (Chou-tzu), चू–ही (Chu-hsi), साओ–सू (Shao-tzu) जैसे विचारक भी आए। जिन्होंने प्राचीन मान्यताओं पर तर्कसंगत प्रश्न खड़े किए। साथ ही प्राचीन दार्शनिक विचारों में नए को जोड़ते हुए, समाज के सभी वर्ग हेतु आकर्षक और तर्कपूर्ण विचार दिए।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

कन्फ्यूशियस (551 ई0पू0 – 479 ई0पू0) – यह चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक थे जिन्होंने कन्फ्यूशियनिज्म विचारधारा का प्रतिपादन किया। इन्होंने मानवतावाद, नैतिकता, संस्कार और अनुष्ठान के सिद्धान्तों पर बल दिया। ये बुद्ध के समकालीन थे। ये कहते थे कि सभी मनुष्यों को एक–दूसरे का आदर करना चाहिए।

श्वेताश्व मन्दिर – यह मन्दिर चीन में हेनान प्रान्त के लू–यांग (Luoyang) शहर में अवस्थित है। इसका निर्माण हान मिंगडी (Han-Mingdi) के शासनकाल में 68 ई0 से शुरू हुआ। कहा जाता है कि दो भारतीय भिक्षु कश्यप मतंग और धर्मरत्नवास शासक के निमंत्रण पर सफेद घोड़े पर बौद्ध साहित्य और पवित्र ग्रन्थों को लेकर आए। उसके अगले ही वर्ष राजा ने इस मन्दिर के निर्माण का आदेश दिया।

इत्सिंग –यह एक चीनी यात्री था जो 671 से 695 के मध्य भारत आया और नालन्दा विश्वविद्यालय में रहकर संस्कृत और बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ा। उसने क्रमशः बोधगया, नालन्दा, राजगृह, वैशाली, कुशीनगर, सारनाथ स्थलों की यात्रा की और अपने साथ कई पुस्तकें चीन ले गया।

कुमारजीव (343 ई0 से 413 ई0) – ये प्राचीन चीन में बौद्ध सूत्रों के प्रसिद्ध अनुवादक थे। इनके पुरखे भारतीय ब्राह्मण थे। इनका जन्म कूची (Quici) शिंजियांग प्रान्त में हुआ था। कुमारजीव सात वर्ष की अवस्था में भिक्षु बन गये। नौ वर्ष की अवस्था में

जीवक इनको बौद्ध धर्म के ज्ञान हेतु सिन्धु नदी को पारकर कश्मीर ले आये जो सर्वास्तिवादी बौद्धों का केन्द्र था। वहाँ इनकी भेंट बन्धुदत्त से हुई, जिनसे इन्हें क्षूद्रक, दीर्घ आगम और मध्यम आगम की शिक्षा मिली। बाद में चीन पहुँचने पर इन्होंने महाप्रज्ञापारमिता तथा दशभूमि विभाष जैसे 50 से अधिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ये बौद्ध दर्शन के शिक्षक के रूप में भी ख्यातिलब्ध है।

ताओवाद – यह चीन का मूल दर्शन है जो लगभग चौथी शताब्दी ई0पू0 लाओ–त्सी नामक दार्शनिक के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। चीन में बौद्ध धर्म के प्रसार के क्रम में इस दर्शन में परिवर्तन आए और बौद्धों की कई अवधारणाओं को इन्होंने स्वीकार किया। बौद्ध धर्म और ताओ धर्म अवधारणात्मक स्तर पर आपस में संघर्षरत भी रहे।

हान राजवंश (206 ई0पू0 से 220 ई0 तक)– यह चीन का एक शाही राजवंश था। चार शताब्दियों तक चलने वाले इस राजवंश के काल को चीन के स्वर्णकाल के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। चांगान (आधुनिक शीआन) इसकी राजधानी थी।

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बागची, प्रबोध चन्द्र, (1950), इण्डिया एण्ड चाइना (अ थाउजेन्ड इयर्स ऑफ कल्चरल रिलेशन्स), द्वितीय संस्करण, ब्रिटिश इण्डिया प्रेस, बाम्बे।
2. सेन, तानसेन, (2018), इण्डिया, चाइना एण्ड द वर्ल्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
3. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया–चाइना कल्चरल कान्टेक्ट्स (इन टू वाल्यूम्स), (2014), एन इनिसिएटीव बाई द पब्लिक डिप्लोमेसी डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ एक्सटर्नल अफेयर्स, रिपब्लिक ऑफ इण्डिया।
4. शील, कमल, लालजी श्रावक, चार्ल्स विलमेन, (2010), इण्डिया ऑन सिल्क रूट, बुद्धिस्ट वर्ल्ड प्रेस, नई दिल्ली।
5. बोस, फणीन्द्र नाथ, (1923), द इण्डियन टीचर्स इन चाइना, एस गणेशन, मद्रास।
6. मेनन, के0पी0एस0, (1972), टवीलाईट इन चाइना, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे।

2.8 बोध प्रश्न

1. चीन में भारतीय बौद्ध प्रचारकों के योगदान पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
2. भारत और चीन के मध्य सम्पर्क के विविध पक्ष कौन से हैं? चर्चा कीजिए।
3. चीन में भारतीय कला और विज्ञान के प्रचार का विवरण दीजिए।
4. चीन से आने वाले यात्रियों ने भारत के सम्बन्ध में किस प्रकार के विमर्श किया? उल्लेख कीजिए।
5. भारत और चीन के मध्य सम्बन्ध में इनके भूगोल की क्या भूमिका थी? टिप्पणी लिखिए।

इकाई 3 अरबी फारसी साहित्य में हिन्दू

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपः

- भारत वर्ष में इस्लामी देशों से इस्लाम के प्रचार–प्रसार हेतु सूफियों के आगमन से परिचित् होंगे;
- इस्लामी सूफियो के अलावा मुस्लिम हुक्मरानों के आगमन एवं भारतीय सभ्यता को तहस–नहस करने एवं पद्यों की धार्मिक परम्परा को मिटाने के लिए किये गये उनके जघन्य कार्यों से परिचित् होंगे;
- इस्लामी एवं उनकी विचारधारा से परिचित् होंगे;
- अरबी–फारसी साहित्य में हिन्दू शब्द को किस तरह प्रयोग किया गया एवं हिन्दूत्व को मिटाने में;और
- इन अरबी एवं फारसी साहित्यकारों के कारनामों से परिचित् होंगे।

3.1 प्रस्तावना

हमारा अध्ययन काल प्रमुखतः प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल एवं अन्तिम मुगल कालीन भारत वर्ष में लिखी गई अरबी एवं फारसी साहित्य चाहे वह शायरी हो या नस्र (गद्य हो या पद्य) दोनों का अध्ययन रहेगा क्योंकि भारत वर्ष में पहला मुस्लिम हमला मौहम्मद बिन कासिम ने 712 ईस्वी में किया जो सिन्ध प्रान्त पर किया था। लेकिन यहाँ ये बात विशेष तौर से जानना जरूरी है कि ये हमला हुकमरानी के लिए था, जबकि इससे सदियों पहले अरब और ईरान के लोग यहाँ यानि भारत में व्यापार वह भी खास तौर से मसालों के व्यापार हेतु अफगानिस्तान के रास्ते या समुद्री रास्तों से केरल, मालाबार एवं कादला गुजरात में आते जाते रहे थे। अफगानिस्तान के रास्ते भारत में आने–जाने वाले व्यापारियों ने जब पंजाब के रास्ते उत्तर भारत में सहारनपुर, मेरठ एवं दिल्ली के बाजारों एवं यहाँ की खुशहाली और यहाँ की जलवायु के देखा तो उसके चर्चे अरब और ईरान तक होने लगे थे। जिसके नतीजे में शाह ईरानों एवं अरबी खलीफाओं ने भारत में इस्लाम के प्रचार एवं प्रसार के लिए अपने–अपने देशों

से मज़हबी पेशवाओं और सूफी लोगों को भेजा। क्योंकि ये हुक्मरान भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम का प्रचार एवं प्रसार बहुतायता से करना चाहते थे। इन हुकमरानो (खलीफाओं और शाह ईरानों) का मकसद केवल और केवल इस्लाम को फैलाना था, जिसके लिए इन्होंने अरब और ईरान में विशेष तौर पर एक बड़ी संख्या में सूफियों को प्रशिक्षित किया, इस प्रशिक्षण में इन सूफियों को भारत वर्ष की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को तोड़ना एवं इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ बताना था और ये काम इस्लाम को वजूद में आने के तुरन्त बाद शुरू हो गया था। इस सांस्कृतिक तथा साहित्यिक बदलाव के वाहक फारसी एवं अरबी के जानकार बुद्धि जीवी, शायर, लिपिक, तथा उनके दरबारी संरक्षण दाता थे जो ईरान, मध्य एशिया तथा भारत वर्ष में स्थित विविध नृजातीय तथा धार्मिक पृष्ठभूमियों से आये थे, तथा इन अरबी व फारसी साहित्यकारों ने अपने–अपने समय में भारत में सनातन धर्म (हिन्दू) को इस तरह प्रयोग किया कि भारत की ख्याति को ठेस पहुँचे, और सनातन धर्म को देश व दुनिया में घृणा की दृष्टि से देखा जाएँ

3.2 भारत वर्ष में विदेशी सूफियो का आगमन

सूफी को संसार में उच्च स्थान हासिल रहा हैं, चाहे सूफी किसी भी देश या किसी भी धर्म में हो उसको लोग बहुत ही सम्मान जनक दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि सूफी दुनिया के ऐश व आराम से बेनियाज होते हैं। वह समाज में उन परम्पराओं को परखते हैं जो समाज को मुर्दा बना देती है। इसलिए सूफी हज़रात समाज को उन्हीं दुखती रगों पर हाथ रखते हैं, जिनसे समाज को आसानी के साथ दूसरी दिशा में मोड़ा जा सके। उनका दर हर सामान्य व असामान्य व्यक्तियों के लिए खुला रहता हैं। लेकिन कहने को तो यह आभास कराया जाता है कि हमारे दरवाज़े पर कोई छोटा, बड़ा, अमीर, गरीब, शिक्षित व अशिक्षित में कोई फर्क नहीं होता, लेकिन सच्चाई कुछ ओर ही होती हैं। इन सब श्रेणियों का फायदा सूफी हज़रत इस तरह उठाते हैं कि वह अपना कार्य कर जाते हैं और जन साधारण को इसका आभास भी नहीं हो पाता है।

पहले ये सूफिया–ए–कराम कव्वाली, संगीत, शायरी और जनसाधारण में बगैर किसी धर्म, जाति, या स्थान को प्राथमिकता नहीं देते, लेकिन जब इनसे सैंकड़ों, हजारों और लाखों की संख्या में लोग जुड़ते हैं तो यही सूफी हज़रात धर्म परिवर्तन की तरफ जन साधारण को मोड़ देते है। और इस कार्य के लिए उनको किसी या किसी शक़्ल में दरबारों की सरपरस्ती हासिल रहती थी और ये काम केवल इस्लामिक राजदरबारों द्वारा सूफिया–ए–कराम के द्वारा कराया जाता था।

इस्लाम ने पश्चिमी एशिया में जन्म लिया था लेकिन इस्लामी हुकूमत के विस्तार के साथ–साथ इस्लाम का दायरा भी बढ़ता गया और इस तरह इस्लाम अन्य धर्मों के सम्पर्क में आया जब इस्लाम उत्तर और पश्चिम की ओर फैल रहा था तब उसका सम्पर्क ईसाई और यहूदी धर्मों से हुआ ईरान में दोनों धर्मों यानि जरतुश्त और मानी से उसकी मुठभेड़ हुई जब ईरानी इलाके इस्लामी हुकूमत के अधीन हो गये तो इस्लाम ने धीरे–धीरे उन छोटे–छोटे फिरको को अपने भीतर जज़्ब कर लिया जो आखिरी दौर के रूमी, यूनानी धर्मों के बचे खुचे अवशेष थे। इनमें विशेष रूप से हरात के साबियों को अपने आप को यूनानी बातिनी का वारिस समझते थे। इस्लाम ने उन्हें अपने प्रभाव में ले लिया उत्तर भारत, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में उनका परिचय हिन्दू वैदिक धर्म से हुआ। संस्कृतियों का आपस में मिलाप होता है तो

एक–दूसरे के विचारों से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकती। जैसे ही अरब और ईरान के सूफियों ने भारत में प्रवेश किया तो ये सूफिया कराम भी यहाँ की जलवायु, खानपान, वेशभूषा और सबसे ज्यादा यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुए, चूँकि जिस समय ये सूफिया–ए–कराम भारत में लगातार एक के बाद एक आते जा रहे थें तो उस समय की हिन्दू वैदिक धर्म की पूजा पद्धति से अत्यन्त प्रभावित हुएँ

यहाँ में ये बात विशेष रूप से कहना चाहूँगा कि जो इस्लाम अरब में बुत परस्ती का विरोध करके और एक अल्लाह का तसव्वुर करके वजूद में आया या तो भारत में आने के बाद उन सूफिया–ए–कराम ने यहाँ के वातावरण को इस्लाम के फरोग के लिए उचित् समझा।

ये मुसलमान सूफी बुर्जुग भारत में बहुत ही मुश्किल तरीन रास्तों से दाखिल हुए थे और ऐसे मक़ामात (जगहों) पर ठहरे जहाँ पर कोई इस्लाम के नाम से भी परिचित् नहीं था और जहाँ की हर चीज़ उनके लिए नई थी। मगर इन सूफियों ने ऐसी अनजान जगहों पर रहकर वहाँ ईलाकाई ज़बान सीखी और लोगों से उनकी अपनी ज़बान में तरबियत की और इन सूफियों ने भारत में कयाम के दौरान ये कोशिश की के इस्लाम का ज्यादा से ज्यादा फरोग़ (फैलाव) हो। इन सूफियों में निम्नलिखित नाम प्रमुखता से लिये जा सकते हैं :

क्रम	नाम यात्री	क्रम	नाम यात्री
1.	हज़रत ख्वाजा मुदुनुद्दीन चिश्ती	12.	शाह मीरान जी शमसु इशाक़
2.	हज़रज शेख फरीदउद्दीन गंज शकर	13.	सैय्यद शहबाज़ हुसैनी
3.	शेख हमीदउद्दीन नागौरी	14.	बुरहानुद्दीन जानिम
4.	शेख शरफुद्दीन बुअली कलन्दर पानीपती	15.	शाह अमीनुद्दीन अली
5.	अमीर खुसरो	16.	मीरान जी हसन खुदा बन्द खुदा नुमा
6.	शेख सिराजुद्दीन उस्मान	17.	शेख बाहाऊद्दीन बाजिन
7.	शेख एनुद्दीन गंज अलम	18.	शेख अब्दुल कादिर गंगोही
8.	शेख शरफुद्दीन याहिया मुनीरी	19.	शाह अली मुहम्मद जीव गाय धनी
9.	हज़रत शाह बुरदानुद्दीन गरीब	20.	शेख वजीऊद्दीन अहमद अल्वी
10.	हज़रत सैय्यद मुहम्मद हुसैनी ख्वाजा बन्दा नवाज़ गेसुदराज	21.	शेख खूब मुहम्मद चिश्ती
11.	अब्दुल्ला हुसैनी		

इन सभी सूफियों ने भारत में इस्लाम के प्रचार–प्रसार में कोई कमी नहीं छोड़ी थी। चूँकि इन सूफियों को इस कार्य हेतु अरब एवं ईरान से आर्थिक मदद मिलती थी। चूँकि कुरान अरबी में नाजिल हुआ और कुरान मजीद इस्लाम के मुताबिक कुरान से इन्कार करने वाला कोई भी शख्स काफिर है, अरबों के हाथों पश्चिमी एशिया की फतह में दाखिली का भी दखल रहा हैं और इस कार्य में अरब और ईरान के द्वारा भेजे गये सूफियों ने पूरी मदद की कहने का तात्पर्य है कि जहाँ–जहाँ इस्लाम फैला वहाँ–वहाँ अरब और ईरान यानि अरब के खलिफाओं और ईरान के हुकमरानों यानि शाह ईरानों ने पहले से वहाँ मज़हब को तबलीग के लिए उन सूफियों को पहले से भेज रखा था और जब अरबों या ईरानियों ने उन खित्तो (क्षेत्रों) पर हमला किया तो इन सूफियों द्वारा तैयार की गई ज़मीन को अपने मुताबिक पाया और उनको उस

इलाके को फतह करने में ज्यादा परेशानियों का सामना नहीं करना पड़ा।

इस्लाम के एक धार्मिक गुरू हज़रत अबु बक्र ने ये घोषणा की थी कि ऐसे इंसानों को इस्लाम कबूल करने पर राजी करो जो गैर इस्लामी है और अगर वह इस्लाम कबूल करने पर राज़ी ना हो तो उनका कत्ल करो। हज़रत अबु बक्र का साफतौर पर ये कहना था कि या तो इस्लाम कबूल करो या शमशीर का सामना करो। 633 ईस्वी के शुरू में हज़रत खालिद जब अरब को पुर सुकून कर चुके थे तो उनको एक सरहदी खानाबादोश कबीले की तरफ से निमन्त्रण मिला कि सरहद पार एक न वाही (पास की) बस्ती पर हमला करने में उसका साथ दिया जाये। काफिरों के साथ जंग के लिए बेकरार, हज़रत खालिद और उनके साथियों ने जिनकी संख्या केवल 500 थी हमला किया और विजय हासिल की।

इस तरह मुसलमान शिक्षाविदों ने भी भारत की बेशुमार दौलत के किस्से यूनानियों से सुने और पढ़े थे। और इन मुस्लिम शिक्षा विदों ने अपने देश अरब और ईरान में भारत को बेशुमार दौलत का वर्णन अपने देश की और अपनी भाषा अरबी और फारसी में खूब किया और नौवी सदी में मुस्लिम पर्यटको द्वारा जो मुस्लिम हुकमरानों द्वारा भारत से हासिल की थी उस दौलत का जो इन्होंने गनीमत के तौर पर अपने मुल्क ले गये अपनी क्तिाबों में खूब जिक्र किया है आठवीं सदी के शुरू में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध को फतह किया तो वहाँ उसे एक ख़ज़ाना मिला जिसमें तेरह हज़ार दो सौ मन (13200) मन सोना केवल एक मन्दिर से बरामद हुआ था।

3.3 अरबी–फारसी हुकमरानों का हमला

यह बात सच है कि जब अरबी और फारसी संयाहो (पर्यटकों) और ताजिरों (व्यापारियों) की जुबानी भारत वर्ष की अपार दौलत के किस्से अरब के खलीफाओं और ईरानी हुक्मारानों ने सुने तो वह यहाँ की दौलत हासिल करने की तदाबीर सोचने लगे। और चूँकि जो काम इन अरबो और ईरानियों ने बहुत पहले शुरू कर दिया था यानि इस्लाम का करोग़ और जिसके लिए बहुत सारे सूफियों को भारतीय उपमहाद्वीप में भेजा गया था अब वही सूफी धर्म परिवर्तन और सियासत् में दखल देने लगे थे। और भारत से सभी गुप्त बातों को अपने आकाओं यानि शाह ईरान और खलीफा अरब को देते रहे थे। चूँकि अरबी भाषा में हिन्दू शब्द सिन्धु के फारसी उच्चारण से आया है, अरबी लोग जब सिन्धु नदी के पार पहले–पहल भारत में आये तो उन्होंने यहाँ के निवासियों को हिन्दू नाम दिया था और इस देश यानि भारत को इन्होंने हिन्दुस्तान नाम दियाँ और अपनी भाषा, रचनाओं में इस शब्द को बहुत प्रयोग किया और अरबी इतिहास के साथ–साथ फारसी इतिहास में हिन्दुस्तान में इस्लाम के फरोग़ के अवसर और यहाँ की अपार धन सम्पदा को हासिल करने हेतु पहले अरबों ने और फिर ईरानियों ने हिन्दुस्तान पर लगातार हमले फिर जिसके एक नहीं बल्कि कई मकसद थे।

1) हिन्दुस्तान की धन सम्पदा को लूटना,
2) हिन्दुस्तान में ईस्लाम का प्रचार–प्रसार करना,
3) यहाँ पर ज्यादा से ज्यादा मस्जिदों मज़ारों की तामीर कराना,
4) मन्दिरों को नष्ट करना ताकि भारतीय संस्कृति को एक दम नष्ट किया जा सके,
5) अपनी भाषा को भारतीयों पर थोपना,

6) तलवार के बल पर यहाँ की महिलाओं को जबरदस्ती अपनी पत्नी के रूप में रखना, और ज्यादा से ज्यादा बच्चें पैदा करना, और

7) यहाँ पर इस्लामी इमारतों का निर्माण कराना आदि।

भारत वर्ष से सनातन धर्म को समूल खत्म करने और सम्पूर्ण हिन्दुस्तान को इस्लामी देश बनाने हेतु भारत पर अरबी हुकमरानों एवं इरानी हुकमरानों द्वारा एक नहीं बल्कि अनेकों आक्रमण किये गये जिनमें मुहम्मद बिन कासिम, 712 बहुत मशहूर है। जबकि इससे भी पहले 638 ईस्वी में उमायदे खलीफा ने बलूचिस्तान पर और 652 ईस्वी में खलीफा उमर ने कामरान पर हमला किया था। सन् 638 से 711 तक भारत पर 9 खलीफाओं ने 15 बार आक्रमण किये और 870 ईस्वी में अरब सेनापति याकूब एलेस ने भारत पर हमला कियाये सिलसिला लगातार चलता रहा और 1192 में मुहम्मद गौरी और पृथ्वीराज चौहान का युद्ध हुआ, बार–बार पराजित होने के बावजूद ये गौरी भारत की धन दौलत, और इस्लाम को फैलाने के साथ–साथ युद्ध में विजय होने पर लूटी हुई महिलाओं को अपने साथ ले जाने को लालयित रहा था।

इसके बाद महमूद गजनबी, तैमूर, बाबर, अहमद शाह अब्दाली, नादिर शाह दुर्रानी बगैरा ने अपने हमलों के साथ–साथ भारतीय सभ्यता को नष्ट करना लूटपाट करना अय्याशी करना और जबरदस्ती इस्लाम को फैलाना इन सभी हमलावरों का मकसद रहा है। यहाँ पर ये बात विशेष रूप से जान लेनी चाहिए कि जब ये हमलावर भारत पर हमला करने की योजना बनाते थे तो अपनी सेना को पहले इस्लामी धर्म की महानता और इस्लाम को सर्वश्रेष्ठ धर्म बताकर अपने फौजियो को अल्लाह का वास्ता देकर और अगर तुम मैदाने जंग में मर भी गये तो शाहीद होने के साथ–साथ जन्नत में जाओंगे तथा वहाँ पर भी बहुत सी हूरें तुम्हारे लिए तत्पर रहेगी। ऐसी दिलाशा दिलाई जाती थी।

3.4 अरबी फारसी साहित्य में हिन्दू

जैसाकि इस इकाई के शुरू में वर्णन भी किया जा चुका है कि मुहम्मद साहब के समय में इस्लाम का आगाज़ हुआ इससे पहले अरब में भी मूर्ति पूजा (बुंतपरस्ती) हुआ करनी थी। और जब अरब में मुहम्मद साहब के कहने और अहले अरबा को समझाने पर सभी अरब लोग इस्लाम पर ईमान ले आये तो अरब से सभी बुतों को नष्ट कर दिया गयाऔर बुतपरस्ती को हराम करार दिया गया।

यानि जो बुलपरस्त् होगा वह काफिर कहलाएगा। और यही शब्द अरबी और ईरानी लोगों ने भारतीयों के लिए प्रयोग कियाअरबी भाषा में भारतीयों काला, हिन्दू कह कर मुखातिब किया गया और ये भ्रम फैलाने की कोशिश की गई कि दुनिया में केवल एक ही धर्म है वह है केवल इस्लाम, और जो अहले इस्लाम हैं वह अल्लाह के करीब है जन्नत के दरवाजे उनके लिए खुले हैं। और एक दिन ऐसा जरूर आएगा जब सम्पूर्ण विश्व में केवल और केवल इस्लाम ही इस्लाम होगा। इसके लिए चाहे शाम, दाम, दण्ड, भेद कोई भी उपाय क्यों ना करना पड़े।

अब चूँकि अरबी और फारसी साहित्य में हिन्दू को कही काला, कही काला चोर, कहीं काफिर, कहीं बुलपरस्त, और कहीं पथभ्रष्ट इत्यादि नामों से अंक्ति किया गया है: लेकिन इन सब के बावजूद भी अरबी, फारसी साहित्यकारों ने यहाँ की अपार धन सम्पदा यहाँ सांस्कृतिक, सामाजिक, और अन्य परम्पराओं का अपने–अपने साहित्य में खूब जिक्र किया है।

खुद बाबर अपने (तुजुक–ए–बाबरी) बाबर नामा में जो फारसी में लिखा गया है लिखता है कि जब मैंने हिन्दुस्तान को फतेह कर लिया तो मैं यहाँ की अपार (बेशुमार) दौलत को देखकर मानोंअन्धा सा हो गया मैंने हुमायूँ मिर्जा को सत्तर लााख रूपये तो केवल एक ख़जाने से दिये और कई खज़ाने बन्द के बन्द ही उसके सुपुद्ध कर दिये। इससे पूर्व अगर सरसरी नज़र डाली जारा को महमूद गजनवी ने भारत पर अनेक बार हमला करके खूब लूटा मन्दिरों को लूटा और दौलत के लालच में मन्दिरों को लुटवाया और उनके नीचे ख़ज़ाना छुपे होने की सम्भावना के कारण बहुत से मन्दिरों इस तरह नष्ट किया कि दुबारा उन मन्दिरों को बनाया नहीं जा सका।

क्योंकि इस्लाम का आगाज़ ही बुतों को तोड़कर हुआ यानि बुतपरसती को खत्म करना इसका मुख्य कार्य था। चूँकि जब सभी अरब खूलिफाओं और ईरान के बादशाहों ने मन्दिरों में सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात और अन्य बेशकीमती मोती और मणियों के खज़ानों के बारे में सुना था तो इन सभी हुकमरानों ने भारत में हिन्दू मन्दिर को तोड़कर ख़जाना तलाश करना और उसे की जगह कहीं–कहीं पर मस्जिद का निर्माण भी कराया था तथा इसी के साथ भारत वर्ष में हज़ारों सालों से चली आ रही सनातनी परम्परा को आघात पहुँचा कर भारत में इन सूफी बुजुर्गो के मज़ार भी तामीर कराये जिन्होंने हिन्दुस्तान में इस्लाम को फैलाने एवं मन्दिरों को नष्ट करने में अहम भूमिका निभाई थी। अरब और ईरान के बादशाहों को ये बात भली–भान्ति मालूम हो गई थी कि हिन्दुस्तान में अवाम बुतपरस्ती किये बगैर नहीं रहे सकता इसलिए शाह ईरान और खलिफा अरब का ये फरमान जारी हुआ कि हिन्दुस्तान में सूफी हज़रात के मज़ार बनाये जाए और हिन्दूस्तानियों को जो बुतपरसती की लत लगी हुई थी। उसी को मद्देनज़र रखते हुए इन सूफियों ने इन मज़ारों पर फूल, चादर, अगरबत्ती, धूपबत्ती, बताशे और कहीं–कहीं मिठाईयाँ भी चढ़वाना शुरू कियाइसका सबसे बड़ा उद्देश्य यह था कि अरब और ईरानी हुममराने इस बात से अच्दी तहर वाकिफ़ थे कि जिस तरह मन्दिरों में चढ़ावे के तौर पर धन वर्षा होती हैं, ये हिन्दुओं की सबसे बड़ी कमजोरी है जो आस्था के तौर पर मूर्ति पूजा करते है और खुद खाने को मिले या ना मिले लेकिन मन्दिरों में चढ़ावा लगातार आता रहता हैं। इसी लिए इन सूफियों को इन दोनों कि जहाँ–जहाँ पर खजानों की तलाश में मन्दिरों को तोड़ा गया है, वहाँ पर दुबारा मन्दिर तमीर नन किये जाए, और उसकी जगह मज़ारों और मस्जिदों की तामीर किया जाए जिसके बाद इन मजारों की आमदनी बढ़नी शुरू होगी और एक दिन वो आएगा जब इन मज़ारों और मस्जिदों की आमदनी लाखों और करोड़ों में होगी। यानि जो खज़ाने आज के दौर (आठवीं सदी) में हिन्दुस्तान में मन्दिरों में है, और उनकी आमदनी का कोई आर है ना पार है यानि उनकी आमदनी बेशुमार है, आने वाले वक्त में जब हिन्दुस्तान पर हमारा कब्जा होगा और हिन्दुस्तान पर इस्लामी परचम लहराएगा उस वक्त हमारी भी पौ बारह होगी। इंशा अल्ला।

सन 712 में तो मोहम्मद बिन कासिम ने जिर्क सिंध को फतेह किया था, लेकिन उसक अरब और ईरान के लिए भारत के दरवाजें हमेशा के लिए खुल गये, जब मौहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज चौहान को परास्त् किया और उसने भारत में गुलाम वंश की स्थापना की और जब मौहम्मद गौरी वापस गजनी पहुँचा तो अरब और ईरान में जगह–जगह उसे एक हीरो की तरह देखा गया, जगह–जगह उसका स्वागत किया गया और शाह ईरान और अरब के खलीफओं ने उसकी कमर थपथपाई और इन दोनों मुल्कों के हुक्मरानी वह भी मुस्लिम हुकमरानी करने के लिए अरब और ईरान हर तरह की मदद करने को तैयार हैं, बस शर्त यह है कि वहाँ के अवाम जिन्हें शूद्र, कहा जाता है उन्हें हिन्दू धर्म से दूर करने की कोशिश करो और जहात्र तक हो सके

उनकी माली इमदाद देकर उन्हें तब्दीलें मज़हब की तरफ मुतव्जजा किया जाए और हाँ सुना है कि हिन्दुस्तान में बहुत से छोटे–छोटे राजा हैं जो जर–जोरू और अपनी शान और शोकत के लिए आपस ने जंग करते रहते हैं। उनको आपस में इसी तरह लड़ने के लिए हमें और ज्यादा तरक़ीबें सोचनी पड़ेगी। और जब ये हिन्दू राजे रजवाड़े आपस में लड़ते–लड़ते कमज़ोर पड़ जाऐगे तो इन्हें एक–दूसरे के खिलाफ भड़काकर और एक–एक करके आसानी हम इन पर फतेह हासिल कर सकते है।

इस तरह अरब और ईरान की मदद, इस्लाम का मरोग़, धर्म परिवर्तन, लालच, ज़मीन और धन इत्यादि का और भारत की वर्षा व्यवस्था में शूद्रों का हिन्दूत्व से अलग करके भारत में मुस्लिम हुकुमते कायम होती चली गई और भारत में धर्म परिवर्तन बड़े पैमाने पर होता चला गया, जो आज भी जारी है।

3.5 सारांश

यह अटल सत्य है कि भारत वर्ष एक सम्पन्न देश रहा है। यहाँ पर स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन था। वैदिक युग से लेकर रामायण, महाभारत काल और उसके बाद मौर्य साम्राज्य, सम्राट अशोक से लेकर हर्षवर्धन तक भारत वर्ष विश्व गुरू की तरह सम्पूर्ण विश्व की रहनुमाई कीहै। और चूँकि भारत वर्ष में मन्दिरों खास कर शिव मन्दिर, राम मन्दिर, माता शेरा वाली मन्दिर, भैरो मन्दिर, कृष्ण एवं बलदेव मन्दिर करने का तात्पर्य है कि यहाँ पर लाखों की संख्या में मन्दिर थे। जिनमें भक्त गया अपनी श्रद्धा के अनुसार दान–दक्षिणा चढ़ाते थे। जिसके कारण मन्दिरों के पास बहुत अधिक मात्रा में धन सम्पदा होती थी। मुस्लिम हुकमरानों ने इसी पर सबसे ज्यादा तवज्जा दी और मन्दिरों को खूब लूटा और तो औरजिस जगह मन्दिर थे उस जगह खुदाई भी करवाई क्योंकि सन 712 में ही मौहम्मद बिन कासिम ने इस बात का खुलासा कर दिया था कि मन्दिरों के नीचे तहखाने में सोने, चाँदी की मुद्राएँ, गहने और अन्य कीमती मोती, मणियाँ और हीरे–पन्ने वगैरा छुपारक रखे जाते है। तो इसके बाद अरब और ईरान में केवल इस बात पर चर्चा होने लगी कि मन्दिरों को लूटा जाए उनकी जगह खुदाई की जाए खज़ानों को हासिल किया जाए और ज्यादा से ज्यादा इस बात पर गौर किया जाए और ज्यादा से ज्यादा इस बात पर गौर किया जाए कि जिन–जिन मन्दिरों को लूट के बाद तोड़ा (खुद काया) जाएँ

वहाँ पर दुबार मन्दिर तामीर ना किया जाए और जहाँ तक मुमकिन हो सके उस जगह मस्जिद या किसी सूफी की दरगाह, या मज़ार तमीर किया जाए क्योंकि हिन्दुओं को बुतपरस्ती की जो लत लगी हुई है वो बरकरार रहे, फर्क केवल इतना होगा कि जो दौलत अकीदे के तौर पर मन्दिरों में जाती हैं उसके बाद वह मजारों और दरगाहों और मस्जिदों में आनी शुरू होगी। यानि जब मन्दिर ही नहीं रहेगें तो बुतपरस्ती कहाँ होगीं। और हिन्दुओं की ये बीमारी जो बहुत मुश्किल से जाएगी यानि मूर्ति पूजा वह दरगाहों, मजारों और मस्जिदों की तरह उनकी लेकर आएगी और इसका सबसे बड़ा फायदा ये होगा कि गैर–ब्राह्मणों और गैर–क्षत्रियों के अलावा दीमर को मज़हब तब्दील का आसानी कराया जा सकता है।

ये सिलसिला 12 सदी से लेकर 18 सदी तक लगातार चलता रहा। और आज भी जारी है। एक बात यहाँ ये ज्यादा गौर करने की है कि जहाँ से इस्लाम का आगाज होता है यानि अरब से वहाँ आज तक भी कोई एक मज़ार या दरगाह नहीं है। और ना ही ईरान में आज तक कोई मज़ार दरगाह नहीं है और इस्लाम के मुताबिक बुतपरस्ती नाजायज है तो फिर भारतीय उपमहाद्वीप यानि बर्रें सगीर ही में ही क्यों

इतने मजार, दरगाहें हैं, मस्जिदें तो अरब और ईरान में भी है लेकिन मजार और दरगाह एक भी नहीं मिलती। इन सबका एक ही मक़सद था कि हिन्दुओं को मज़हब तब्दील कराया जाएँ और इस्लाम का फरोग किया जाएँ

अभ्यास प्रश्न

1. अरब लोग ''हिन्दू'' को किस दृष्टि से देखते हैं?
2. अरबी और फारसी अदब में भारतीयता को कैसे प्रस्तुत किया गया हैं?
3. अरब और ईरान से सूफियों को भारत में किस मकसद हेतु भेजा गया?
4. हिन्दुओं के पूजा स्थलों को क्यों और किस कार्यपूर्ति के लिए नष्ट किया गया?
5. मुगल दौरे हुकुमत में खासकर औरंगज़ेब के शासनकाल में हिन्दुओं को किन–किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

अभ्यासों प्रश्नों के उत्तर

1. अरब लोग हिन्दू को काला चोर बुतपरस्त, काफिर और गँगों, पथभ्रष्ट बगैरा की दृष्टि से देखते थे।

2. अरबी और फारसी अदब में भारतीयता को विभिन्न पुतो की इबादत, दौलतमंद भारतीय मन्दिर, और आसानी से दूसरे मज़ाहिब की तरफ मुतवज्जा होने वाली भारतीय परम्परा के तौर पर पेश किया गया है।

3. अरब और ईरान के बादशाहों ने जब भारत में अपार धन सम्पदा और मन्दिरों के नीचे खज़ानों का जिक्र सुना तो इन बादशाहों ने अपने यहाँ धर्म प्रचार–प्रसार हेतु सुफियों को भारत भेजा, जिनका असल कोम इस्लाम का फरोग था।

4. भारत में जब पहला आक्रमणकारी मौहम्मद बिन कासिम आया तो उसने एक छोटे से मन्दिर को लूटा एवं उसके नीचे मिले मन्दिर के खज़ाने को देखकर वह हैरान रह गयाऔर उसके बाद तो भारत पर जितने भी हमले हुए सबसे पहले मन्दिरों से मूर्तियों, एवं उनके नीचे ख़जाना छुपा होने की लालसा में उन्हे तोड़ा गया और फिर उस जगह मन्दिर नहीं बल्कि मज़ार या मस्जिद तामीर की गई।

5. मुग़लिया दौरे हुकुमत ही नहीं बल्कि जिस दिन से भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव रखी गई उसी दिन से भारतीय मुस्लिम हुकमरानों की डोर अरब और ईरान के शासकों के हाथ में रही थी। मुगलिया दौर हुकुमत विशेषकर औरंगजेब के शासनकाल में हिन्दुओं को बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन करने पर मजबूर किया गया और उन पर जजिया कर भी लगाया गया जो अरब और ईरान के हुकुमरानों के इशारों पर किया गया था।

3.7 शब्दावली

सूफी : सन्त, महात्मा

हज़रत : श्रीमान (एक उपाधि जो सूफी या धार्मिक है)

सरपरस्ती : निर्देशन

वजूद : आसित्व

तसबुक	:	प्रभु की ओर ध्यान लगाना
तरबियते	:	प्रशिक्षण
फरोग	:	प्रचार–प्रसार
काफिर	:	जो गैर इस्लामी हो
खित्तो	:	क्षेत्र
तामीर	:	निर्माण
मकसद	:	निश्चय
जन्नत	:	स्वर्ग
बुतपरस्ती	:	मूर्ति उपासक
तुजुक–ए–बाबरी	:	बाबर नामा
सरजरी	:	निम्न स्तर

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1) तुजुक–ए–बाबरी – जहीरउद्दीन बाबर, अनुवादक – मौ. कासिम सिद्धिकी कोमी कोन्सिल फरोग उर्द जबान।

2) ईस्लामी तहज़ीब की दास्तान – दिल देवरान्ते, अनुवादक – यासिर जवाद दारूल असाअत–ए–मुश्तफा।

3) अरबी अदब की तारीख – जिल्द अव्वल, डॉ. अब्दुल हलीम नदवी – तरक्की उर्दू ब्यूरो।

4) फारसी अदब की तारीख – डॉ. मौ. रियाज औरग. सिद्धिकी शिवली –क्तिाबी दुनिया – दिल्ली

5) बुल्लेशाह – सुरेन्द्र सिंह कोहली, अनुवादक – कामिल कुरैशी साहित्य अकादमी।

इकाई 4 यूरोपीय यात्री एवं व्यवसायियों के वृत्तान्तों में हिन्दू

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- यूरोपीय यात्री जो भारत में आये और भारत का अध्ययन किया है उनका परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- यूरोपीय यात्रियों द्वारा भारत विषयक अध्ययन से परिचित हो सकेंगे
- इन यात्रियों के दस्तावेजों तथा रिपोर्ट में वर्णित में हिन्दू सभ्यता सम्बन्धी जानकारियों से परचित हो सकेंगे।
- हिन्दू सभ्यता और संस्कृति की व्यापकता उनके द्वारा भी स्वीकार की गयी इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे।
- भारत भूमि पर उपजी संस्कृति विविधता में एकता के वैशिष्टय को हिन्दू संस्कृति कहा जाता है इस आशय से परचित हो सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत हम यूरोपीय यात्रियों की दृष्टि में हिन्दू धर्म की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक विशेषताओं का वर्णन करेंगे अर्थात हिन्दूओं के रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान, व्यापार-व्यवहार तथा पूजा-पद्धतिआदि की विशद् विवेचन करेंगे। बच्चों जैसाकि आप जानते हैं कि भारत अंग्रेजों का उपनिवेश रहा है। किन्तु भारत में अंग्रेजी उपनिवेश की स्थापना से पूर्व यहां पर समय-समय पर विदेशी यात्री आते रहे हैं। चूंकि इस अध्याय के अन्तर्गत हम लोगों को केवल यूरोपीय यात्रियों के विचारों (हिन्दू संस्कृति के बारे में) का अध्ययन करेंगे। प्रिय

विद्यार्थियों/बच्चों मैंने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यूरोपीय यात्रियों का विवेचन कालगत (क्रमशः) न करते हुए अपितु देशगत किया है। भारत में यूनाइटेड किंगडम, फ्रासं, पुर्तगाल, इटली एवं नीदरलैण्ड के यात्रियों ने भारत की यात्रा की है। सर्वप्रथम यहां पर हम यूनाइटेड किंगडम से भारत आने वाले यात्रियों का वर्णन करेंगे।

4.2 यूनाइटेडकिंगडम / संयुक्तराज्यकेयात्री

विद्यार्थियों जैसा कि आप जानते हैं कि भारत अंग्रेजों का उपनिवेश रहा है। अधिकांश अंग्रेज यात्री व्यापार-व्यवसाय के क्रम में भारत की यात्रा की तथा हिन्दूओं के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्रिया-कलापों का आंखों देखा वर्णन किया है। इन यात्रियों ने हिन्दूओं के जीवन-स्तर के सभी पक्षों का यथोचित विवेचन किया है। यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) के निम्नलिखित यात्रियों ने भारत की यात्रा की है, जिन्हें आप लोगों को एक फलो चार्ट (प्रवाह आरेख) के द्वारा दर्शाया जा रहा है –

प्रमुख यात्री

1) रॉल्फ फ्रिच।
2) विलियम लाकिन्स।
3) विलियम फिंच।
4) निकोलस डाउन्टन।
5) निकोलस विथिंगटन।
6) थॉमस कोर्यत।
7) सर थॉमस से।
8) एडवर्ड टेरी।

i) **रॉल्फ फिच**

रॉल्फ फिच भारत में 1588 ईण से 1591 ई. तक रहा। इस दौरान उसने अखण्ड भारत का भ्रमण किया। रॉल्फ फिच प्रथम अंग्रेज यात्री है जिसने भारतीयों अर्थात हिन्दूओं की वेशभूषा, रीति.रिवाज एवं रहन-सहन के बारे में विशद् वर्णन किया है। रॉल्फ फिच आगरा एवं फतेहपुर सीकरी पहुंचने वाला प्रथम व्यापारी एवं यात्री था। तत्कालीन भारत में यह दोनों शहर राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से अहम स्थान रखते थे। फिच ने अखण्ड भारत के प्रसिद्ध एवं बड़े शहरों का भ्रमण किया। फिंच इन शहरों का वर्णन किया है तथा यहां निवास करने वाले लोगों का वर्णन किया है। फिंच ने जिन शहरों के बारे में वर्णन किया है, वे शहर निम्नलिखित है दृ बनारस, आगरा, ;उण प्र.) फतेहपुर सीकरी (उ.प्र.) पटना (बिहार), खंभात (गुजरात) बुरहानपुर (महाराष्ट्र), पेगू/बगो (म्यांमार), स्याम (थाईलैंड), हुगली (कोलकाता), चटगांव (बांग्लादेश) आदि।

बनारस (उ०प्र०)

फिच के अनुसार बनारस एक बड़ा शहर था। “बनारस में बहुत से मन्दिर थे। यहां के मन्दिर हिन्दूओं की पूजा-पद्धतिको दर्शाता है। फिच यह भी कहता है कि बनारस के लोगों के मकान

साफ-सुथरे थे। अर्थात हिन्दू लोग स्वच्छता पसंद लोग थे। यह इनके रहन-सहन को बताता है। फिच कहता है कि बनारस सूती कपड़े के निर्माण का बहुत बड़ा केन्द्र था। इस प्रकार बनारस धार्मिक के साथ-साथ व्यापारिक केन्द्र भी था। फिच के बनारस के एक विवाह का विवेचन किया है, वह कहता है हिन्दू लोग विवाह को एक उत्सव की भांतिमनाते हैं। उसने लोगों की धार्मिक मान्यताओं के साथ-साथ अंध विश्वासों का भी वर्णन किया है। इस प्रकार फिच ने बनारस शहर की सभी विशेषताओं का विवेचित किया है।

आगरा (उ.प्र.) : एवं फतेहपुर सीकरी (उ.प्र.)

फिच इन दोनों शहरों का वर्णन करता है। फिच के अनुसार ये दोनों शहर आकार एवं विस्तार में तत्कालीन लंदन (यू.के.) से बड़े शहर थे। जिसमें फतेहपुर सीकरी तो आगरा से बड़ा शहर था। आगरा भी एक बड़ा शहर था, जो पत्थर के मकानों से निर्मित तथा चौड़ी गलियों से परिपूर्ण शहर था।

खंभात (गुजरात) : फिच के अनुसार खंभात गुजरात का मुख्य शहर था। वह वृहत एवं धनी आबादी वाला था। किन्तु इस शहर की बसावट अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। वह कहता है कि – "इस शहर में पक्षियों, कुत्तों, बिल्लियों के लिए भी अनेक अस्पताल थे।" अर्थात हिन्दू लोग शहरी होने के बावजूद प्रकृतिसे दूर नहीं थे। हिन्दू लोग जीव-जन्तुओं से प्यार करते थे तथा पशु-पक्षियों के प्रतिदया भाव रखते थे।

पटना (बिहार): फिच ने पटना शहर के बारे में भी विशद् वर्णन किया है।फ़िच कहता है कि – पटना शहर के पास स्वर्ण खदानें थी। पटना शहर चीनी, रूई एवं अफीम का महत्त्वपूर्ण बाजार था। अर्थात् पटना शहर तत्कालीन व्यापार व्यवसाय का प्रमुख केन्द्र था। फिच ने गंगाघाटी के निवासियों के वेशभूषा के बारे में विस्तृत विवेचन किया है।

बुरहानपुर (महाराष्ट्र): फिच के अनुसार बुरहानपुर सूती कपड़े के निर्माण का बड़ा केन्द्र था, इसके साथ ही यहां पर कपड़े की छपाई का भी कार्य व्यापक पैमाने पर होता था। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि – हिन्दू लागे कपड़े के व्यापार एवं व्यवसाय से सम्बद्ध थे। वर्तमान भारतीय शहरों के अतिरिक्त तत्कालीन भारत अर्थात् अखण्ड भारत के अन्य शहर के लोगों की वेशभूषा एवं रहन-सहन का वर्णन फ़िच ने किया है। यथा हुगली (कोलकाता), चटगांव (बांग्लादेश), पेगू (वर्तमान बगो, म्यांमार) एवं स्याम (थाइलैण्ड) आदि। तत्कालीन समय में बांग्लादेश एवं म्यांमार भारत के ही भाग थे।

इस प्रकार फिच बड़े शहरों तथा वहां निवास करने वाले लोगों अर्थात् हिन्दूओं की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक विशेषताओं का वर्णन किया है।

विलियम हॉकिन्सः हॉकिन्स एक व्यापारी और ईस्ट इण्डिया कंपनी का कर्मचारी था। यह तत्कालीन भारतीय शासक जहांगीर के दरबार में ब्रिटिश राजा जेम्स-प्रथम के राजदूत के रूप में आया था। यही ब्रिटिश राजा के प्रतिनिधि के रूप में व्यापार के उद्देश्य से भारत आया था। विलियम हॉकिन्स तीन वष (1608-1611 ई.) तक भारत में रहा। वास्तव में हॉकिन्स भारत में अंग्रेजों के व्यापारिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए भारत आया था।

फोस्टर ने हॉकिन्स का विवरण – "अर्ली ट्रेवल्स इन इण्डिया" में छापा था। हॉकिन्स के विवरण का महत्त्व इसलिए है क्योंकि यह प्रत्यक्षदर्शी के रूप में सब कुछ लिखा है। यह पादशाह

जहांगीर का बहुत विश्वासपात्र व्यापारी था। जहांगीर की शराब की पार्टियों में आमंत्रित किया जाता था।व्यापारी होने के कारण इसने अधिकांश वर्णन जहांगीर द्वारा पहने जाने वाले हीरे, जवाहरात, मोती, पन्ना एवं मूंगों के आभूषण को दर्शाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन भारत एवं यहां निवास करने वाले लोग रत्न आभूषण प्रेमी थे। हॉकिन्स का यह कथन ध्यान देने योग्य है – "भारत चांदी के मामले में बहुत समृद्ध है, क्योंकि सभी देशों के व्यापारी अपने सिक्कोंके बदले में यहां से माल ले जाते हैं। चांदी यहां आती ही आती है, यहां से जाती नहीं।" हॉकिन्स का यह कथन भारत के व्यापार व्यवसाय की समृद्धि एवं उन्नति को दर्शाता है। वह कहता है कि – भारतीय व्यापारियों को अपने सामान का प्रचार-प्रसार करने कहीं नहीं जाना पड़ता था, बल्कि विदेशी व्यापारी स्वत: भारतीयों से माल खरीदने आते थे।हॉकिन्स के इस विवरण से सिद्ध होता है कि यहां के निवासी अर्थात् हिन्दू लोग व्यापार एवं व्यवसाय में अत्यन्त कुशल थे। व्यापार की उन्नति एवं विदेशों से अर्जित स्वर्ण एवं चांदी की मुद्रा के कारण ही इसे 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था।

विलियम फिंच

विलियम फिंच हॉकिन्स के साथ ही जहांगीर के दरबारमें 1608 ई. में भारत आया था। 'पर्कस' ने उसके ग्रन्थ लार्ज जनरल ;स्तहम ळमदमतंस) को प्रकाशित किया है। विलियम फिंचने भारत के सामाजिक, धार्मिक एवं प्राकृतिक स्वरूप का अत्यन्त प्रामाणिक वर्णन किया है। विलियम फिंच ने भारतीय लोगों, यहां के वृक्षो, यहां के जानवरों, शहरों, ग्रामीण क्षेत्रों, भू-भाग तथा यहां के लोगों के धार्मिक विश्वासों का वर्णन किया है।

विलियम फिंच ने हिन्दूस्तान के तीन प्रमुख व्यापारिक मार्गों का उल्लेख किया है। ये तीन प्रमुख व्यापारिक मार्ग हैं –

i) सूरत – आगरा मार्ग (जो बुरहानपुर होकर जाता था।)

ii) आगरा – अहमदाबाद मार्ग।

iii) लाहौर – काबुल मार्ग।

विलियम फिंच ने इन व्यापारिक मार्गों पर पड़ने वाले प्रमुख शहरों का वर्णन किया है। यथा – ग्वालियर सारंगपुर, उज्जैन, मांडूगढ़, बुरहानपुर, सूरत एवं नरवर आदि। विलियम फिंच ने फतेहपुर सिकरी शहर का विशेष रूप से वर्णन किया है। फतेहपुर सिकरी के बारे में लिखा है कि – "वहां ऐसे अनेक भवन हैं जिसमें कोई नहीं रहता, परती भूमि को बाग-बगीचों में बदल दिया गया है, बुवाई की बहुत सी भूमि पर नील तथा अन्य खाद्यन्नों की पैदावार की जाती है। वहां खड़ा व्यक्ति यह महसूस नहीं कर पाएगा कि वह शहर के बीच में खड़ा है।" इस प्रकार विलियम फिंच ने महत्त्वपूर्ण शहरों तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन किया है।

फिंच ने लाहौर को पूर्व का सबसे बड़ा शहर माना है। विलियम फिंच कहता है कि यहां के अधिकांश निवासी बनिया और दस्तकार थे, अर्थात् यहां के लोग व्यापार एवं व्यवसाय में संलग्न थे। विलियम फिंच ने तत्कालीन प्रसिद्ध महलों के भित्ति चित्रों तथा हिन्दूस्तान में प्रचलित चित्रकारिता का भी वर्णन किया है।

विलियम फिंच ने लिखा है कि यहां के निवासियों को अपराध के लिए दण्ड का प्रावधान था। दण्ड के तहत इन्हें जेलों में रखा जाता था। अमीर वर्ग एवं आजीवन कारावासकी सजा प्राप्त कैदी को रणथम्भौर जेल में रखा जाता था। इस प्रकार विलियम फिंच के अनुसार तत्कालीन

हिन्दुस्तान में कठोर सजा का प्रावधान था। फिंच व्यापारी होने के कारण यहां के व्यापारिक मार्गों, व्यापार-व्यवसाय के प्रमुख केन्द्रों आदि का विशेष वर्णन करता है।

निकोलस डाउंटन

निकोलस डाउंटन अंग्रेज नौसेना में यात्री बेड़े का कप्तान था। वह सम्राट 'जेम्स' का एक पत्र मुगल बादशाह के नाम लेकर 1614 ई॰ में भारत पहुंचा। वह भारत के बंदरगाह शहर 'सूरत' (गुजरात) पहुंचा। गुजरात के तत्कालीन सूबेदार मुर्करब खां और निकोलस डाउंटन के सम्बन्ध व्यापारिक समस्या को लेकर शत्रुतापूर्ण हो गये, इसलिए तत्कालीन सूबेदार ने डाउंटन को पादशाह से मिलने की अनुमति नहीं दी और न ही गुजरातसे आगे जाने की अनुमति प्रदान की। इसलिए निकोलस डाउंटन ने केवल गुजरात का वृतांत (विशेषकर सूरत शहर का) वर्णित किया है। डाउंटन ने गुजरात में निवास करने वाले लोगों के रहन.सहन और उनके मनोरंजन के साधनों का वर्णन किया है। उसने यहां के महिलाओं के गाने की तारीफ करते हुए लिखा है कि –"ऊँचे और तीक्ष्ण स्वर में गाने के बावजूद उनका गायन अत्यन्त मधुर और सुरीला है।" अर्थात् डाउंटन ने गुजरात की महिलाओं के नृत्य एवं संगीत का वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि हिन्दू महिलायें लोकगीत एवं लोकनृत्य के माध्यम से मनोरंजन करती थीं।

निकोलस विथिंगटन

निकोलस विथिंगटन का यात्रा.विवरण "ट्रेक्टैट" के नाम से 1735 ई॰ में लंदन से प्रकाशित हुआ। वह 1612-1616 ई. तक भारत में रहा। वह अंग्रेजी नौ-सेना के कप्तान बैस्ट के साथ भारत आया था। वह ईस्ट इण्डिया कंपनी का कर्मचारी था तथा सूरत में कम्पनी की नौकरी करता था। कम्पनी की नौकरी के दौरान उसे गुजरात के अनेक स्थानों को देखने तथा वहां के लोगों के बारे में – उसे "नील के व्यापार में पूंजी निवेश के लिए तथा जॉन मिंसेनहॉल की कार्यवाहियों के बारे में रिपोर्ट लाने के लिए आगरा भेजा गया।" इस प्रकार आगरा का भ्रमण उसने किया। आगरा भ्रमण के दौरान उसने यहां के निवासियों अर्थात् हिन्दुओं का वर्णन किया। इसी क्रम में निकोलस विथिगंटन ने कुछ अन्य शहरों तथा वहां के निवासियों (हिन्दूओं) की विशेषताओं का वर्णन किया है। वे शहर निम्नलिखित है –

अहमदाबाद – विथिंगटन के अनुसार गुजरात का प्रमुख शहर अहमदाबाद था। यह क्षेत्रफल की दृष्टि से यू॰के. की राजधानी लंदन के समान था। वह कहता है कि यह व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। यहां पर व्यापार हेतु व्यापारी चारों तरफ से आते थे, जिसके कारण इस शहर में व्यापारियों की हमेशा भीड़ लगी रहती थी। अहमदाबाद जरी के कपड़े, चांदी के महीन जालीदार कपड़े,मलमल के कपड़े एवं औषधि निर्माण का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। इस प्रकार विथिगंटन के वर्णन अनुसार – यह हिन्दुस्तान का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था।

अजमेर – विथिंगटन के अनुसार अजमेर बहुत बड़ा शहर था और इस जैसा बड़ा शहर उसने पहले नहीं देखा था। अर्थात् तत्कालीन समय में अजमेर भी प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था।

सरखेज – इसके बारे में विथिंगटन लिखता है कि – यह नील की खरीददारी अर्थात् क्रय. विक्रय का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

सिन्ध – विथिंगटन ने सिन्ध प्रांत के राजपूतों के पहनावे का विस्तार से वर्णन किया है। उसने राजपूतों में प्रचलित सती प्रथा का विस्तार से वर्णन किया है। उसने सती प्रथा की प्रशंसा में

निम्नलिखित शब्द कहे है – ‘‘वह (हिन्दू स्त्रियों) चिता के कष्ट को इतनी सहनशीलता से झेलती हैं कि उसकी प्रशंसा करनी पड़ती है।’’ विथिंगटन ने हिन्दू समाज की जातीय व्यवस्था का भी दर्शाया है। विथिंगटन के अनुसार – ‘‘उस समय बनियों की तीस उप-जातियां थीं। उनमेंआपस में इतना अन्तर था कि वे दूसरे के साथ खाना तक नहीं खाते थे। बनियों में बाल विवाह भी प्रचलित था।’’ उपर्युक्त सामाजिक विभाजन के बावजूद अहमदाबाद, सिंध, अजमेर एवं सरखेज प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे।

थामस कोर्यत (1612-1617 ईण तक)

थामस कोर्यत यू. के. का निवासी था। वह स्थल मार्ग से होकर भारत आया था। इसे तत्कालीन पादशाह जहांगीर से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। यह पादशाह के दरबार में कुछ समय तक रहा, इसलिए इसका अधिकांश वर्णन पादशाह की दिनचर्या और उसके कृत्यों तक ही सीमित रहा है। उसने जहांगीर के दैनिक कार्यकलाप, मनोरंजन, झरोदा.दर्शन, तुलादान, तुलादान का उत्सव का वर्णन किया है। तुलादान उत्सव बहुत भव्य तरीके से मनाया जाता था। वैसे तुलादान उत्सव भारत में प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। थामस कोर्यत ने मीना बाजार के बारे में लिखा है। मीना बाजार एक प्रकार का मेला था, जिसमें केवल स्त्रियों ही शामिल होती थी। अर्थात् सिद्ध होता है कि – तत्कालीन समय में स्त्रियों स्थिति अच्छी थी। किन्तु इसमें बाजार में अधिकांशत: उच्च.वर्ग (पादशाह का परिवाद, अमीर वर्ग) की स्त्रियां ही शामिल होती थी।

सर थामस रो (1616-1619 ई.)

सर थामस रो 1616 ई. में जहांगीर के दरबार में भारत आया था। भारत में उसकी आगमन तथा पादशाह के साथ उसके सम्बन्धों का विवरण ‘‘हकलुगत सोसायटी’’ द्वारा प्रकाशित किया गया है। वह पादशाह के साथ मांडू,अजमेर एवं अहमदाबाद जैसे अनेक स्थानों पर गया। इसके साथ ही वह पादशाह के साथ शिकार खेलने भी गया। स्तर थामस रो मुगल दरबार एवं जहांगीर की रूचियों का अधिकांशत: वर्णन किया है। थामस रो के अनुसार – पादशाह सभी धर्मो से संतुष्ट था किन्तु वह धर्म परिवर्तन करने वाले व्यक्ति को पसंद नहीं करता था। आगे पुन: लिखता है कि – ‘‘एक बार जहांगीर जयपुर के निकट स्थित ‘टोडा’ नामक स्थान पर एक साधु से मिला। जहांगीर ने उस साधु से इतनी आत्मीयता, दयालुता और विनम्रता से बातचीत की जो सामान्यत: किसी राजा में नहीं दिखायी पड़ती। उसने उसे बाहों में भर लिया और पिता कहकर पुकारा।’’ इससे सिद्ध होता है कि – भारत में साधु-संतों का बहुत मान.सम्मान था। शासन चाहे जिसका भी रहा हो।

थामस रो ने छावनी क्षेत्र (सैन्य क्षेत्र) का विस्तार से वर्णन किया है। छावनी क्षेत्र का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि – वहां सभी प्रकार की दुकानें होती थीं। दुकानों को इस तरह सजाया जाता था कि – वे ‘‘अलग से पहचानी जा सकती थीं’’ कि किसे कहां और क्या खरीददारी करनी हैघ् इससे यह स्पष्ट होता है कि दृ यूरोपीय यात्रियों के आगमन के समय हिन्दुस्तान की सैन्य व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी। शासन-तंत्र सैन्य सुदृढ़ीकरण पर विशेष ध्यान रखता था।

एडवर्ड टैरी (1616-1619)

यह भी यूण्के. का मूल निवासी था। जो 1616-1619 तक भारत की यात्रा पर था। एडवर्ड टैरी, थामस से का पादरी था, वह थामस रो के साथ ही भारत आया था। उसने गुजरात और मालवा

के बारे में विशेष रूप से उल्लेख किया है। किन्तु उसके विवरणों में कहीं-कहीं भारत के अन्य शहरों का भी उल्लेख है। उसने मांडू और मुल्तान जैसे प्रमुख शहरों का वर्णन किया है। एडवर्ड टैरी लिखता है कि मुल्तान अच्छे तीर-कमान बनने का प्रमुख केन्द्र था। तीन 'सरकंडे' और 'वेंत' के बने होते थे। जानवर के सींग से बने कमान को अच्छी तरह से जोड़ा जाता था। वह आगे लिखता है कि इतने अच्छे तीर-कमान भारत में और कहीं नहीं बनते थे। मांडू की यात्रा अपने पादशाह जहांगीर के साथ पूर्ण की थी। इससे सिद्ध होता है कि दृ हिन्दू लोग धनुष और तीर चलाने में सिद्धहस्त थे।

एडवर्ड टैरी ने गंगाजल की पवित्रता का भी वर्णन किया है। वह लिखता है कि "पादशाह भले ही कहीं भी हो उसके लिए गंगाजल की व्यवस्था की जाती थी। गंगाजल लाने के लिए अलग से कर्मचारी नियुक्त थे। गंगाजल सुंदर तांबे के बर्तनों में लाया जाता था।" उसने भारत में चांदी की आमद के बारे में भी वर्णन किया है। उसका कथन है कि "जैसे सारी नदियां पानी ले जाकर सागर में उड़ेल देती है उसी तरह चांदी के अनेक स्रोत चांदी लाकर शाही खजाने में डाल देते हैं, जो बाद में वही ठहर जाती थी। दुनिया के कोने-कोने से व्यापारी आकर अपने सोने-चांदी के बदले में अपेक्षित सामग्री खरीदकर ले जाते थे। ऐसे व्यापारियों का सदा स्वागत किया जाता था।" वस्तुत: हिन्दुस्तान ही वह देश था, जहां पर व्यापार सोने-चांदी के बदले में किया जाता था। इसीलिए तत्कालीन भारत में स्वर्ण एवं चांदी की अधिकता थी, परिणामत: भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था।

एडवर्ड टैरी ने तत्कालीन हिन्दुस्तान में प्रचलित सिक्कों के आकार प्रकार तथा मूल्य आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया है। "यहां के सिक्के दुनिया के किसी भी देश के सिक्कों से अधिक शुद्ध होते हैं। सिक्का रूपवा कहलाता था।" इससे सिद्ध होता है कि भारत में शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

एडवर्ड टैरी ऐसा यूरोपीय यात्री था, जो भारत के विभिन्न समुदायों का वर्णन करता है। टैरी ने विभिन्न समुदायों विशेषत: मुसलमानों, हिन्दुओं और पारसियों की विशेषताओं और उनकी सांस्कृतिक गतिविधियों का विस्तार से विवेचन किया है। एडवर्ड टैरी "मुसलमानों को आराम तलब बताता है। ये काम से ज्यादा खाने-पीने पर जोर देते थे। इसके विपरीत वह हिन्दुओं की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि हिन्दू परिश्रमी और अध्यवसायी होते थे। वे मानते थे कि – परिश्रम से कमाई रोटी ही मीठी और सम्मानजनक होती है। हिन्दुओं के बहुत से समुदाय अलग-अलग दस्तकारी और शिल्पकारी के कामों में लगे हुए थे। वे जिस काम में लगे होते थे, उसे बड़ी मेहनत से पूरा करते थे और जिसके यहां काम करते थे उसे खरेपन के साथ और भली-भांति अंजाम देते थे। व्यापार में उचित अनुचित का पूरा ध्यान रखते थे।" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि – हिन्दू लोग अत्यन्त ईमानदार, सज्जन एवं परिश्रमी होते थे। एडवर्ड टैरी ने अन्य सम्प्रदाय के लोगों का भी वर्णन किया है। टैरी ने पारसियों की सुंदरता, व्यक्तित्व एवं परिधानों का भी वर्णन किया है। टैरी भारत में निवास करने वाली हिन्दूओं की स्त्रियों के पहनावे का भी वर्णन किया है। वह लिखता है कि आम स्त्रियां अंगरखा, सलवार या चूड़ीदार पजामा पहनी थीं, वे अपने बालों को फीते से बांधकर पीठ पर लटका लेती थीं। वह आगे कहता है कि मुल्लाओं को छोड़कर बाकी सभी लोग दाढ़ी बनाते थे, किन्तु लम्बी–लम्बी मूँछे अवश्य रखते थे। एडवर्ड टैरी ने हिन्दुओं के पहनावे के साथ-साथ उनके खान-पान की भी वर्णन किया है। अधिकांश लोग ऐसी कोई वस्तु खाने के काम में नहीं लाते थे जिसमें जीवन हो। वे जड़ी बूटियां, जिमीकंद, रोटी, दूध, मक्खन, पनीर, मिठाई आदि खाने के काम में लेते थे।

खान-पान के उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि अधिकांश हिन्दू शाकाहारी होते थे। हिन्दुस्तान की राजपूत जाति के बारे में वह लिखता है कि – राजपूत लोग सुअर का मांस तो खा लेते थे किन्तु वे कभी "गौ-मांस" नहीं खाते थे।

अत: यूरोपीय यात्रियों के विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि – हिन्दू लोग "गौ.मांस" का सेवन नहीं करते थे अर्थात् "गौ-मांस" का सेवन पूर्णत: वर्जित था। एडवर्ड टैरी ने भारतीय दस्तकारी का विशेष रूप से वर्णन किया है। भारतीय दस्तकार सूत के कालीन बनाने में बड़े ही दक्ष थे। ये कालीन 'रंग-बिरंगे' होते थे। हिन्दुस्तान में रेशमी कालीनों का भी निर्माण किया जाता था। इन कालीनों का निर्माण रेशम और जरी से होता था। भारतीय कारीगर चादर, बक्से, मंजूषा, सीनी, बूट, कपड़ा, लिनेन आदि के कपड़ों के निर्माण में सिद्धहस्त थे। हाथी-दांत से निर्मित आभूषण का विशेष महत्त्व था। टैरी ने भारत में पाये जाने वाले फलों का विशेष रूप से वर्णन किया है यथा – आम, केला, अंगूर, नारियल, अनानास, खुमानी, नीबू, संतरा, खजूर, अंजीर, अनार, सेब, खरबूज एवं तरबूज आदि। एडवर्ड टैरी हिन्दुस्तान में निवास करने वाले हिन्दूओं के रहन-सहन, तौर-तरीकों एवं व्यवहार आदि के बारे में लिखा है। वह लिखता है कि – "हिन्दू लोग प्राय: सभ्यता का व्यवहार करते हैं और अपने से बड़ों का कहना मानते हैं। वे नये-नये फैशन में विश्वास नहीं करते और प्राय: अपने बाप-दादाओं के काल से चले आ रहे रीति.रिवाजों पर अमल करते हैं। अस्त्र-शस्त्रों से लैस होने पर भी वे वाक् शक्तिका अधिक प्रयोग करते है।" इससे प्रमाणित होता है कि हिन्दू लोग मान.सम्मान, सभ्यता-संस्कृति, रीति.रिवाज एवं संयम पर अधिक ध्यान देते थे।

एडवर्ड टैरी ने हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली भाषाओं का वर्णन किया है। उसके अनुसार "लोगों की भाषा अरबी और फारसी शब्दों से युक्त थी। इसे हिंदवी कहते थे और इसका लेखन बायें से दाहिने चलता था, जबकि फारसी और अरबी दाहिने से बायें लिखी जाती थी। टैरी कहत है कि तत्कालीन राजदरबार की भाषा फारसी थी।

उसने यहां के लोगों की तारीफ करते हुए लिखा है कि – "लोगों में सच्चाई और ईमानदारी है, उनका लेन-देन ठीक.ठाक हैं, उनमें नैतिक ईमानदारी है, वे अपनी बात के पक्के हैं अच्छे पड़ोसी का धर्म निभाते हैं तथा उनमें दयालुता, परोपक्रम की भावना और क्षमाशीलता कूट-कूट कर भरी हैं। ये गुण इसी मात्रा में तुर्कों या अन्य भारतीयों ईसाईयों में नहीं पाये जाते।" इससे यह प्रमाणित होता है कि अन्य सम्प्रदाय के लोगों की अपेक्षा हिन्दू अधिक विश्वासपात्र थे। इसी कड़ी में एडवर्ड टैरी कहता है कि भारत के लोग काफी तार्किक होते थे और वे किसी विषय पर बहुत अच्छी तरह बहस करते थे अर्थात् भारत एक तर्क प्रधान देश था।

एडवर्ड टैरी ने हिन्दुओं के भवनों का भी वर्णन किया है। समृद्ध लोगों के भवनों में लकड़ी, ईंटें, अनेक प्रकार के पत्थर और अच्छे किस्म का संगमरमर लगाया जाता था। इनके भवन दो मंजिल से अधिक उंचे नहीं होते थे, जिनकी छतें सपाट और मोटी होती थी। इन छतों पर ये सुबह-शाम टहलते थे, ताकि हवाखोरी कर सकें। इसके साथ इसने गरीबों के मकान के बारे में भी लिखा है। गरीब वर्ग के रहने के लिए कच्चे मकान या झोपड़ियां होती थीं। इनकी दीवारें मिट्टी की बनी होती थी, जिसमें भूसा मिलाकर बनाया जाता था, जिससे ये दीवारें टिकी रह सकती थी।

हिन्दू लोग मुख्यत: तम्बाकू का प्रयोग करते थे। तम्बाकू की व्यापक पैमाने कृषि करते थे। वहां के लोग तम्बाकू पीने के लिए 'चिलम' या 'हुक्के' का प्रयोग करते थे। हुक्के में एक मिट्टी का

बर्तन होता था, जिसकी गर्दन संकरी और उपरी हिस्सा गोलाकार होता था, इससे जुड़ी हुई एक नलकी होती थी, जिसके निचले हिस्से में पानी भरा होता था। वे बर्तन में तंबाकू की पत्तियां रखकर उन पर अंगारा रख देते थे। नलकी जमीन पर खड़ी की जाती थी। वे इसके साथ स्तर कंडे की एक नली बनाकर जोड़ देते थे। इसी नली से हुक्के का कश खींचा जाता था। सामान्यत: इनका मुख्य पेय पदार्थ पानी था। कुछ खास मौकों पर ये 'शरबत' का सेवन करते थे। पानी में नींबू का रस और चीनी मिलाकर जो पेय बनाते थे उसे 'शरबत' कहते थे। हिन्दू लोग 'जगरा' नामक 'अर्क' का भी सेवन करते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि एडवर्ड टैरी ने हिन्दू के रहन-सहन, खान-पान, पहनावे, व्यापार-व्यवसाय, ईमानदारी, चरित्र आदि सभी क्षेत्रों का वर्णन किया है।

यूनाइटेड किंगडम के यात्रियों के अतिरिक्त पुर्तगाल, नीदरलैण्ड (डच), इटली और फ्रांस के यात्रियों ने भी हिन्दुस्तान का वर्णन किया है। जो अंग्रकित हैं

4.3 पुर्तगाली यात्री

फादर एन्थोनी मोंसेरात (1578-1582)

फादर मोंसेरात, मुख्य रूप से पुर्तगाल का रहने वाला था। यह फादर एक्वाविवा के साथ अकबर के दरबार में 1578 ई. में भारत आया था। फादर मोंसेरात के यात्रा-विवरण उसकी कृतिके कुछ उद्धरण 'मेमोयर्स सोसायटी फॉर ए एशिवाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल (1914) में प्रकाशित हुए थे। फादर मोंसेरात ने मुख्यत: राजदरबार तथा अकबर से जुड़े तथ्यों का विशेष वर्णन किया है, फिर भी उसने जिन शहरों को देखा और जिन मार्गों से यात्रा की उनके बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने लाहौर, सरहिन्द, सोनीपत, दिलली, ग्वालियर, नरवर, सिरोज, मांडू, सूरत आदि शहरों का वर्णन किया है।

फादर मोंसेरात भारत के नगरों के बारे में लिखता है कि – "भारत के नगर दूर से देखने पर तो बड़े सुहावने लगते हैं, किन्तु अन्दर से देखो तो संकरे और बेतरतीब नजर आते हैं। वास्तव में तत्कालीन भारत में अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण थी, शहरों की जनसंख्या कम थी इसलिए तत्कालीन शासकों ने नगरों की तरफ कम ध्यान दिया लेगा। फादर मोंसेरात तत्कालीन हिन्दुस्तान के लाहौर शहर का विशेष वर्णन किया है। उसका लाहौर विषयक यात्रा वृतांत सजीव प्रतीत होता है। वह लाहौर शहर के बारे में लिखता है कि – "यह शहर अपने आकार-प्रकार जनसंख्या और धन.दौलत के मामले में एशिया या यूरोप के किसी अच्छे शहर से कम नहीं है। दुनिया के हर हिस्से के सौदागरों की यहां भीड़ लगी रहती है। बाहर से बहुत सा माल मंगवाया जाता है। शहर में इतने लोग रहते हैं कि इधर से उधर निकलते वक्त उनके कंधे एक दूसरे से रगड़-खाते रहते हैं।" लाहौर शहर के उन्नत व्यापार कला और दस्तकारी के बारे में वह लिखता है कि – "शायद ही कोई कला और दस्तकारी ऐसी होगी, जिसका प्रयोग वहां नहीं हो रहा है। उसके अनुसार लाहौर के लोग व विशेष रूप से कश्मीरी ब्राह्मण समृद्ध हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन लाहौर शहर में कश्मीरी हिन्दूओं, विशेषकर कश्मीरी ब्राह्मणों की स्थितिअच्छी थी। फादर मोंसेरात ने हिन्दूओं के उत्सव एवं पर्वों का भी वर्णन किया है यथा – मांडू का "रथ सप्तमी उत्सव", और नर की होती आदि।

जॉन जुरदां

जॉन जुरदां पुर्तगाली यात्री था।यह 1608-1617 तक भारत की यात्रा पर था। इसका विवरण 'फोस्टर' द्वारा संपादित 'हकलुयत सोसायटी सिरीज' में शामिल है। इसने तत्कालीन हिन्दुस्तान के विभिन्न शहरों की यात्रा की थी। ये विभिन्न महत्त्वपूर्ण शहर हैं – आगरा, खंभात, अहमदाबाद, ग्वालियर, सिरोंज, अकबरपुर, बहादुरपुर, बैरा, मांडू, सारंगपुर, करोंद आदि। उसने आगरा को दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक था। जॉन जुरदां ने हिन्दुस्तान के दो प्रमुख व्यापारिक मार्गों यथा प्रथम – सूरत-बुरहानपुर – आगरा मार्ग तथा द्वितीय आगरा-खंभात मार्ग का वर्णन किया है। जुरदां लिखता है कि आगरा एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। यहां पर सम्पूर्ण विश्व के व्यापारी व्यापार के उद्देश्य से आते थे। जुरदां आगरा शहर के बारे में लिखता है कि – "ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो चाहने पर वहां उपलब्ध न हो।" वह अहमदाबाद शहर को कपड़े का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र कहता है। गुजरात के प्रमुख शहर कैम्बे (खंभात) की खूबसूरती और व्यापार का वर्णन करता है। वह लिखता है कि यहांसे पुर्तगाली व्यापारी व्यापार करते थे। इसका मूल कारण समुद्र के किनारे स्थित होना है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जॉन जुरदां हिन्दूओं के प्रमुख व्यापारिक शब्दों वर्णन किया है। साथ ही अन्य देश के व्यापारियों से इस शहर में निवास करने वाले लोगों के सम्बध का वर्णन किया है।

4.4 इतालवी यात्री

पियेत्रा देला वाले (Pietra Della Velle)1622-1660

पियेत्रा देला वाले इटली का मूल निवासी था। यह भारत में लम्बे समय तक रहा। यह 1622 ई. में सूरत पहुंचा। उसने भारत के कई शहरों की यात्रा की यथा – कालीकट, मंगलूर, इक्कड़ी, गोआ, अहमदाबाद एवं कैम्बे(खंभात) आदि। इसने अपना यात्रा संस्करण इतावली भाषा में 1663 ई. में प्रकाशित कराया। "एडवर्ड ग्रे" ने इसके यात्रा विवरण का संपादन किया। इसके यात्रा विवरण में भारत के सीमित क्षेत्र का ही विवेचन है। इसने इस क्षेत्र में निवास करने वाले हिन्दूओं के रहन-सहन एवं आचार-व्यवहार का वर्णन किया है। पियेत्रा देला वाले ने हिन्दू स्त्रियों के पोशाक का विशेष रूप से वर्णन किया है। वह कहता है कि हिन्दू स्त्रियां अधिकांशत: लाल रंग के वस्त्र पहनती थीं। वे सूती छींट पहनती थीं जिसका आधार लाल रंग का होता था और उस पर अनेक रंगों की छपाई हुई होती थीं। लाल रंग को छोड़कर वे दूसरे ऐसे रंग काम में लेती थीं जो दूर से लाल जैसे दिखें। वे आधी बांहों की चोलियां पहनती थीं, शेष खुले हाथों में सोने या चांदी के कंगन या हाथी दांत की चूड़ियां पहनती थीं। कमर से नीचे" पैरों तक लंबा लहंगा पहनती थीं।

पियेत्रा देला वाले ने हिन्दूओं के धार्मिक-मान्यताओं, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक मान्यताओं का वर्णन किया है। पियेत्रा देला वाले ने राजस्थान के 'नागौर' में हिन्दू देवता ब्रह्मा का मन्दिर होने का वर्णन किया है। इस मन्दिर में संगमरमर की अनेक मूर्तियां थीं। सबसे बड़ी मूर्ति के अनेक हाथ और अनेक मुख थे। उस मूर्ति की लम्बी नुकीली दाढ़ी और मोटी 'तोंद' का भी उल्लेख किया है, उस मूर्ति के दोनों ओर उससे कम उंचाई वाली एक-एक स्त्री मूर्ति भी थी। उसने गुजरात राज्य के सूरत में 'वट वृक्ष' की पूजा का भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार खंभात (गुजरात) में पशु-पक्षियों के चिकित्सालय का भी उल्लेख किया है। विशेषकर लंगड़े और

बीमार पक्षियों के लिए, गायों और बछड़ों के लिए अलग चिकित्सालय का भी वर्णन किया है।

पियेत्रा देला वाले लिखता है कि हिन्दू लम्बे केश रखते थे तथा सिर पर साफ-सुथरी एवं चौरस पगड़ी धारण करते थे। इस प्रकार पियेत्रा देला वाले ने हिन्दूओं के रहन-सहन पहनावे, धार्मिक क्रिया-कलापों सभी का वर्णन किया है।

4.5 डचयात्री

फ्रांसिस्को पेलसार्ट

फ्रांसिस्को पेलसार्ट एक डच व्यापारी था, जो जहांगीर के शासन काल में हिन्दुस्तान आया था। पेलसार्ट ने हिन्दुस्तान में मसूलीपट्टनम् (बंगाल) के रास्ते भारत में प्रवेश किया। व्यापार के सिलसिले में यह कुछ समय तक भारत में भी रहा। इसने संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के अनेक स्थलों के सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन किया है। इसने भारत के प्रमुख शहरों का वर्णन किया है। किन्तु इसका अधिकांश वर्णन व्यापार-व्यवसाय के दृष्टिकोण से किया गया है। इसने बंगाल, पटना, गुजरात, लाहौर, जौनपुर, आगरा, बनारस, अवध, लखावर एवं सूरत आदि शहरों एवं राज्यों का वर्णन किया है।

पेलसार्ट ने आगरा शहर का वर्णन किया है। उसने शहर की बनावट, अमीरों एवं गरीबों के घरों, उनके खान-पान की आदतों आदि का वर्णन किया है साथ आगरा शहर को अन्य व्यापारिक शहरों से जोड़नें वाले मार्गों का भी वर्णन किया है। पेलसार्ट आगरा में विक्रय होने वाले मसालों का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त बयाना (राजस्थान) में उत्पादित होने वाले नील का भी वर्णन किया है। उसके अनुसार बयाना में उत्पादित होने वाले नील का कोई सानी नहीं है। इस प्रकार पेलसार्ट भारत की व्यापारिक गतिविधियों का विशेष वर्णन किया है।

4.6 फ्रांसीसी यात्री

जीन बेण्टिस्ट टेवर्नियर (1641-1687)

जीन बैण्टिस्ट टेवर्नियर सत्रहवीं सदी का प्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री था, जो पेशे से जौहरी था तथा शाहजहां के शासन काल में भारत आया था। वह एक साहसी यात्री था। उसने हिन्दुस्तान की कुछ छः बार यात्रा की। उसने लगभग सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की यात्रा की। जौहरी होने के कारण, उसका अधिकांश यात्रा विवरण स्वर्ण एवं आभूषण के क्रय-विक्रय से ही सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त यहां के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का भी संक्षिप्त वर्णन किया है।

टेवर्नियर ने अपने यात्रा के समय लगभग सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की यात्रा की, जिसमें प्रमुख व्यापारिक शहर हैं – सूरत, बुरहानपुर, आगरा, ढाका, गोआ, गोलकुण्डा, दौलताबादा, नांदर, कोलूर, मसूलीपट्टनम, मद्रास, गंडीकोट, ग्वालियर, जहानाबाद, मथुरा, वाराणसी (बनारस) आदि। जौहरी होने के कारण उसकी अधिकांश रूचि सोना, चांदी, हीरा, जवाहरात, मोतियों आदि में थी तथा प्रमुखता से वह इसी का वर्णन करता है।

टेवर्नियर लोगों से यह कहता था कि ''वह फ्रांस तथा फारस के सम्राटों के संरक्षण में यात्रा कर रहा है। इस कारण उसे हमेशा शाही दरबार के अमीरों तथा उच्च अधिकारियों के साथ उठने-बैठने व सम्पर्क बनाने का अवसर प्राप्त होता रहता था। उसे शाही दरबार के खजाने के

जवाहरात आदि का मूल्यांकन करने के लिए बुलाया जाता था। कोहिनूर हीरे का रोचक वर्णन इसी कारण उपलब्ध हो सका कि उसे कोहिनूर को देखने परखने का पूरा अवसर मिला था।"

टेवर्नियर ने मथुरा के केशवदेव मन्दिर तथा काशी के विश्वनाथ मन्दिर का भी वर्णन किया है। धर्म के सम्बन्ध में वह केवल बाहय पक्ष का वर्णन करता है। टेवर्नियर ने हिन्दूओं के उत्सवों, शोभा-यात्राओं आदि का वर्णन किया है।

इस प्रकार टेवर्नियर का यात्रा वृतांत मूलत: व्यापार, व्यवसाय पर अधिक केन्द्रित रहा तथा अन्य पक्षों का वह अल्प वर्णन करता है।

फ्रांसिस बर्नियर (1658-1668 ई.

फ्रांसिस बर्नियर पेशे से मूलत: एक डॉक्टर था जो फ्रांस का मूल निवासी था। वह 1658 ई. में हिन्दुस्तान के सूरत शहर पहुंचा। उसकी यात्रा का आरम्भ अहमदाबाद एवं आगरा से हुआ। इसके अतिरिक्त बर्नियर ने कश्मीर, बंगाल, पटना, आगरा एवं लाहौर आदि शहरों की यात्रा की। बर्नियर के यात्रा वृतांत "ट्रैवल्स इन द मुगल एम्पायर" का प्रकाशन 1670 ई. के लगभग हुआ। बर्नियर का यात्रा वृन्तांत अत्यन्तमहत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसने केवल विभिन्न शहरों तथा प्रदेशों को देखा ही नहीं वरन उन स्थानों के निवासियों तथा उत्पादनों आदि के बारे में भी वर्णन किया है। बर्नियर हिन्दुस्तान में लम्बे अर्से तक रहने के कारण यहां की प्रशासनिक व्यवस्थाओं तथा नीतियों व यहां के लोगों की रूचियों और परम्पराओं को समझने में सक्षम हो गया था।

बर्नियर ने हिन्दू धर्म के राजपूत व ब्राह्मण जाति का विशेष वर्णन करता है। उसका कहना है कि – "राजपूतों को शस्त्र शिक्षा पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती थी। उनके राजाओं द्वारा उन्हें भू-अनुदान प्रदान किये जाते हैं।" बर्नियर इस देश के घुड़सवारों से बड़ा प्रभावित था। उसके शब्दों में –"इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस देश में घुड़सवारों, तीरंदाजों का कार्य संचालन अत्यन्त सहज है, तीर छोड़ने में उनकी गति आश्चर्यजनक है। जितनी देर में एक बंदूकधारी दो बार बंदूक दागता है, घुड़सवार छ: तीर छोड़ देता है।"

बर्नियर ने काश्तकारों तथा जोत की भूमि के बारे में विवरण प्रस्तुत किया है, जिससे उस काल की कृषि की स्थिति का भली-भांति अंदाजा लग जाता है। उसने तत्कालीन हिन्दुस्तान में व्यक्तिगत भूमि का भी वर्णन किया है। वह कहता है कि व्यक्तिगत सम्पति का अधिकार सभी को था। अपनी सम्पति का क्रय-विक्रय करने का अधिकार उसे था। इस प्रकार बर्नियर ने जोत की भूमि का वर्णन किया है। बर्नियर पटना, आगरा, लाहौर तथा कश्मीर के शाल उद्योग का भी वर्णन किया है। कश्मीर की शाल तथा उसकी कशीदाकारी का विशेष वर्णन किया है। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दू लोग शालों के शौकीन बहुत प्राचीन समय से रहे है।

इससे सिद्ध होता है कि बर्नियर ने तत्कालीन हिन्दुस्तान की व्यापार-व्यवसाय, काश्तकारी व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था आदि का वर्णन किया है।

4.7 सारांश

विदेशी यात्रियों, विशेष कर यूरोपीय यात्रियों के सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के यात्रा वृत्तांत से हिन्दुस्तान की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु उपर्युक्त यात्रियों ने अपने यात्रा.वृत्तांत में अधिकांशत: अमीर.वर्ग का

विशेष वर्णन किया है अर्थात् राजशाही गतिविधियों का प्रमुखता से विवेचन किया गया है तथा सामान्य जन-जीवन तथा उनकी दिनचर्या पर कम वर्णन किया गया है। इसके बावजूद यूरोपीय यात्रियों के यात्रा-वृत्तांत से हिन्दूओं के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सभी पक्षों का वर्णन प्राप्त होता है।

यूरोपीय यात्री भारत की आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति से अत्यन्त प्रभावित थे। उनका मानना था कि भारत व्यापार का प्रमुख केन्द्र है। व्यापारिक केन्द्र होने के कारण ही यह आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। हिन्दूओं का धर्म के प्रति झुकाव तथा धर्म का हिन्दू दिनचर्या का भाग होना, उनके लिए एक नयी विषय-वस्तु थी। यूरोपीय यात्रियों ने हिन्दूओं के पर्व एवं त्यौहारों का भी विशेष रूप से वर्णन किया है। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दुस्तान अत्यन्त प्राचीनकाल से ही त्यौहारों की दृष्टि से अति सम्पन्न रहा है। इसीलिए इसे पर्व एवं त्यौहारों का देश भी कहा जाता है। हिन्दुस्तान के लोग अत्यन्त खुशहाल हैं, यह क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न है। ऐसा यूरोपीय यात्रियों का मानना था। यूरोपीय यात्री हिन्दुस्तान को रत्न एवं आभूषण की दृष्टि से इसे अत्यन्त समृद्ध मानते है। उनका मानना है कि यहां के लोगों में आभूषण धारण करने के प्रति रूचि पायी जाती थी।

इस प्रकार तत्कालीन हिन्दुस्तान राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त संपन्न रहा है।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

4.9 सहायकउपयोगीपाठ्यसामग्री

4.10 बोधप्रश्न

1. सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के ब्रिटिश यात्रियों के संक्षिप्त यात्रा, वृत्तांत का वर्णन कीजिए।
2. फ्रांसीसी यात्रियों द्वारा हिन्दुस्तान के यात्रा-वृत्तांत को दर्शाइये।
3. हिन्दुस्तान के प्रमुख व्यापारिक नगरों का उल्लेख कीजिए।
4. यूरोपीय यात्रियों द्वारा वर्णित प्रमुख व्यापारिक मार्गों और उन मार्गों पर पड़ने वाले नगरों व उन नगरों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

5. यूरोपीय यात्रियों द्वारा सोलहवीं सदी के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का विवेचन कीजिए।
6. सोलहवीं सदी के पूर्वी हिन्दुस्तान के प्रमुख व्यापारिक नगरों की व्याख्या कीजिए।
7. यूरोपीय यात्रियों द्वारा तत्कालीन भारत की सामाजिक स्थिति की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

खण्ड 5
हिन्दू अध्ययन की पश्चिमी दृष्टि

खण्ड 5 परिचय

हिन्दुओं के विषय में पश्चिमी दृष्टि जानने हेतु इस खण्ड की छः इकाइयों में विषयवस्तु का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दु विषयक जानकारी हेतु प्रस्तुत इस खण्ड की प्रथम इकाई में आप हिन्दुओं के विषय में मिशनरी साहित्य तथा साम्राज्यवादी विमर्श के अन्तर्गत किए गए चिंतन का अध्ययन करेंगें। दूसरी इकाई जर्मन इन्डॉलाजी की हैं। इस इकाई में आप यह जानेंगें की भारतीय ग्रन्थों के प्रति मौलिक निष्ठावान लोग भी भारतीय भावना के अनुसार व्याख्या करतें हैं। जो इससे अलग हैं वे जर्मन इन्डॉलाजी से प्रभावित हैं। तीसरी इकाई में ज्ञानमीमांसीय आक्रमण एवं प्रतिरोध का वर्णन किया गया है। चतुर्थ इकाई साम्राज्यवादी चेतना का भारत पर प्रतिकूल प्रभाव स्पष्ट करती है। पॉचवी इकाई में भारतीय ग्रन्थों के प्रति पाश्चात्य दृष्टि का वर्णन किया गया है जिसके अध्ययन से आपको भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि का अन्तर पता चलेगा। भारतीय शोध पर पाश्चात्य तत्वों का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसी तथ्य की जानकारी हेतु इस खण्ड की अन्तिम इकाई में स्वतन्त्र शोध पर पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार आप सम्पूर्ण खण्ड का अध्ययन कर लेने से हिन्दू विषयक पश्चिमी दृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम हो जाएंगे।

इकाई 1 मिशनरी साहित्य तथा साम्राज्यवादी विमर्श

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- औपनिवेशिक शासन के तहत ज्ञान के व्यवस्थित संगठन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति पर पड़े हुए प्रभाव काअध्ययन कर सकेंगे,
- भारतीय समाज पर मिशनरी परिप्रेक्ष्य के तहत औपनिवेशिक और प्रशासनिक विचारों के बीच अन्तर कर सकेंगे,
- यह जान सकेंगे कि एक संस्कृति जब भिन्न संस्कृति पर शासन करती है तब कैसे वह उन विशेषताओ को जाने अनजाने में उस संसकृति का ज्ञानज्ञत्मक आधार की इकाई को नष्ट करती है।
- भारत के समाज को आकार देने में इसाई - औपनिवेशिक विमर्श के विशिष्ट प्रभावों की व्याख्या कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

इण्डीकोलॉजिकल दृष्टिकोण ने अवधारणाओं, सिद्धान्तों और ढांचे को प्रदान किया, जो विभिन्न विद्वानों द्वारा भारतीय सभ्यता के अध्ययन से उभरा। उन्होंने मुख्य रूप से एक ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय समाज और उसकी संरचना के बारे में उनकी समझ काफी हद तक वेदों, उपनिषदों और पुराणों जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों और साहित्य के अपने अध्ययन पर आधारित है।ब्रिटिश राज्य की स्थापना से पूर्व ही ईसाई मिशनरी दक्षिण भारत में धर्म- प्रचार के कार्य में लगे हुए थे। 18वीं शती में मिशनरियों का एक दल कलकत्ता पहुँचा। विलियम कैरी और उनके दो साथियों ने (जोशुवा मार्शमैन और विलियम वार्ड)

मिलकर कलकत्ते के सीरामपुर में एक अंग्रेज़ी ईसाई मिशनरी 'डेनिश मिशन' की स्थापना की। आरम्भ में इनका क्रिया- कलाप सीमित ही रहा। धर्म- परिवर्तन करने वाले हिन्दू विरले ही मिलते थे। क्योंकि मांस भक्षण और शराब से उन्हें बड़ी नफरत थी। विदेशियों के आने से देश में मांसभक्षण तेज़ी से बढ़ रहा था। जिसके परिणामस्वरूप गायों का वध अधिक संख्या में हो रहा था। भारतीयों की दृष्टि गोवध की ओर गयी। समाज में धार्मिक जागरण की आवश्यकता महसूस हुई। अनेक आन्दोलन भी आरम्भ हुए।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभुत्व के साथ-साथ इन ईसाई मिशनरियों का कार्यक्षेत्र भी धीरे- धीरे सम्पूर्ण भारत में फैल गया। धर्म- प्रचारकों को बहुत बड़ी आशा थी कि शिक्षा के माध्यम से ही वे सारे हिन्दू समाज को ईसाई बनाने में समर्थ हो जायेंगे। सीरामपुर ईसाई मिशनरियों का बहुत बड़ा केन्द्र था। इसके संसर्ग में आने वाले हिन्दुओं में से कुछ लोग अंग्रेज़ी सीख गये और ऐसे ही लोग ही आरम्भ में क्रिश्चियन भी हुए। इससे प्रोत्साहित होकर ईसाई धर्म- प्रचारक अंग्रेज़ी शिक्षा के पक्ष में आ गये

भारतीय समाज कीएक राय उन ग्रन्थों के अध्ययन से उभरी जो ब्राह्मण विद्वानों द्वारा रचित थे और जिन्होंने भारतीय समाज को सामाजिक सांस्कृतिक विविधता विहीन एक स्थिर गतिहीन और कालातीत समाज के रूप में प्रस्तुत किया। भारतीय समाज को नियमों के एक समूह के रूप में देखा जाता था, जिसका पालन हर हिन्दू करता था।

इस इकाई में आप औपनिवेशिक विमर्श के बारे में जानेंगे अर्थात् औपनिवेशिक काल में भारत में समाज पर विद्वानों मिशनरियों और प्रशासन संभालने वाले अफसरों द्वारा परिप्रेक्ष्यों के बारे में जानेंगे।

1.2 मिशनरी साहित्यिक परिप्रेक्ष्य

एक मिशनरी व्यक्ति या समूह विशेष धार्मिक या सामाजिक मिशन के लिए किसी क्षेत्र में भेजा जाता है। इनका मुख्य उद्देश्य विश्वासों को प्रचारित करना, लोगों को उनके धर्म या सामाजिक मान्यताओं के बारे में शिक्षा देना, उनकी सेवा करना, और समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने का प्रयास करना होता है। ये मिशनरी व्यक्ति या समूह अपने धर्म या मिशन के लिए अन्य समुदायों में जाकर कार्य करते हैं और वहाँ अपने संदेश को पहुंचाने का प्रयास करते हैं.जैसे- शिक्षा, साक्षरता , सामाजिक न्याय, स्वास्थ्य देखभाल, और आर्थिक विकास.

बाइबल के लैटिन अनुवाद में, यीशु मसीह शब्द तब कहता है जब वह शिष्यों को क्षेत्रों में भेजता है और उन्हें उसके नाम पर सुसमाचार का प्रचार करने का आदेश देता है। यह शब्द आमतौर पर ईसाई मिशन के सन्दर्भ में उपयोग किया जाता है, लेकिन इसका उपयोग किसी भी पंथ या विचारधारा के सन्दर्भ में भी किया जा सकता है किन्तु यहाँ हम इसका अर्थ इसाई ही ले रहे है।

शब्द मिशन की उत्पत्ति 1598 में हुई जब जेसुइट्स, सोसाइटी ऑफ जीसस के सदस्यों ने सदस्यों को विदेश भेजा, जो लैटिन से लिया गया है missionem (nom. missio), जिसका अर्थ है 'भेजने का कार्य' या mittere, जिसका अर्थ है 'भेजना'

सन् 1498 में पुर्तगालियों के भारत आगमन के समय से ही मिशनरियों का एकमात्र लक्ष्य स्थानीय निवासियों का धर्मांतरण रहा इसे वे हाली मिशन यानी पवित्र लक्ष्य कहते रहेऔर इस

लक्ष्य की प्राप्ति में उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त विविधताओ का अध्ययन करते हुए जाति- संस्था को नियत करने की कोशिश की।

सन् 1857 के पूर्व का विशाल मिशनरी साहित्य एवं पत्र- व्यवहार धर्मांतरण के मार्ग में दो ही बाधाओं का उल्लेख करता है। एक, जाति- संस्था के कड़े बन्धन, जिसके कारण धर्मांतरित व्यक्ति जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। वह पैतृक संपत्ति एवं व्यवसाय आदि में हिस्सा पाने का अधिकारी नहीं रह जाता था, और इस प्रकार वह सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से निराश्रित हो जाता था। दूसरा कारण था पूरे समाज में ब्राह्मणों के प्रति अपार श्रद्धा का भाव। ब्राह्मणों की नैतिक- बौद्धिक श्रेष्ठता को चुनौती दे पाने में मिशनरी स्वयं को असमर्थ पा रहे थे। अपने इस अनुभव के कारण ईसाई मिशनरियों ने जाति- संस्था को ब्राह्मणवाद की रचना मानकर उसे तोड़ना ही ईसाई धर्म का मुख्य लक्ष्य घोषित कर दिया। जाति- प्रथा से छुटकारा दिलाने के नाम पर उन्होंने अपने सब प्रयास तथाकथित निचली और निर्धन जातियों पर ही केंद्रित कर दिए।

भारत में ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण के इन प्रयासों को मोटे तौर पर चार कालखंडों में बाँटा जा सकता है। पहला, सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों और जेसुइस्ट पादरियों का प्रयास। पुर्तगालियों ने भारत के पश्चिमी तटवर्ती समुद्र पर मुसलमानों के एकाधिकार को तोड़ा। इसलिए संभवत: उनका संरक्षण पाने के लोभ में पश्चिमी तट पर पुर्तगाली प्रभाव- क्षेत्र में मछुआरों का सामूहिक धर्मांतरण हो सका। समूचे जाति- समूह का धर्मांतरण होने के कारण जाति खोने का कोई भय नहीं था।

सन् 1542 में सेट जेवियर के भारत आगमन के पश्चात् जब उच्च जातियों के लोगों के धर्मांतरण के लिए सत्ताबल का प्रयोग किया गया, तभी भारत में पुर्तगाली साम्राज्य के भाग्य पर ताला लग गया। प्रभावशाली वर्गों के लोगों को ईसाई धर्म में लाने के लिए सन् 1606 में रॉबर्ट डी नोबिली भारत आया। उसने तिलक, जनेऊ और शिखा सहित ब्राह्मण वेशभूषा अपनाकर स्वयं को 'ईशु ब्राह्मण' घोषित कर दिया। नीची जातियों के धर्मांतरण की छाया को भी उसने अपने पास नहीं फटकने दिया। पर यह सब करने पर भी नोबिली को धर्मांतरण में कोई सफलता नहीं मिल पाई। एक शताब्दी पश्चात् सन् 1706 में पूर्वी तट पर ट्रन्केबर में डेनमार्क के प्रोटेस्टेंट मिशनरियों के द्वारा एक मिशनरी केन्द्र प्रारंभ किया गया। इस केन्द्र के प्रमुख बार्थोलोमो जीगेनबाग ने पाया कि जाति- संस्था के साथ तनिक भी छेड़खानी की तो धर्मांतरण नहीं हो पाएगा। इसलिए उसने जाति- संस्था को ज्यों- का- त्यों बनाए रखकर जाति के सामूहिक धर्मांतरण की प्रारंभिक पुर्तगाली नीति का ही अनुसरण किया। जीगेनबाग स्वयं भी जाति- संस्था से बहुत प्रभावित हुआ, जिसके लिए उसे डेनमार्क के मुख्यालय से फटकार भी खानी पड़ी। आगे चलकर ट्रन्केबर मिशन के धर्मांतरण कार्य में फादर श्वार्त्ज का सर्वाधिक योगदान माना जाता है, किंतु उसने भी चर्च के भीतर भी जाति- संस्था को मान्यता दे दी।

इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय होने तक ईसाई मिशनरी प्रयास दक्षिण भारत तक सीमित थे। पूर्वी तट पर प्रोटेस्टेंट डेनिश मिशन था तो पश्चिमी तट पर रोमन कैथोलिक चर्च। बंगाल में अंग्रेजों के पैर पूरी तरह जम जाने पर चार्ल्स ग्रांट जैसे अधिकारियों के आग्रह पर सेलिसबरी के बिशप ने गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस को इस बारे में एक अनुरोधपूर्ण पत्र लिखा, जिसका कार्नवालिस ने 27 दिसंबर, 1788 को उत्तर दिया कि 'जाति खोने के भय से हिंदुओं का धर्मांतरण लगभग असंभव है और जहाँ तक मालाबार

तट पर पुर्तगाली मिशनरियों को मिली थोड़ी- बहुत सफलता का प्रश्न है, वह हमारे लिए तनिक भी प्रेरणा और उत्साह का कारण नहीं है; क्योंकि उनके द्वारा धर्मांतरित लोग भारत के निर्धनतम और सर्वाधिक तिरस्कार योग्य निकृष्ट लोग हैं।'

ईसाई धर्म स्वीकार करने के तीन शताब्दी बाद भी धर्मांतरितों को न तो जाति- प्रथा से छुटकारा मिला और न ही उनका नैतिक- बौद्धिक विकास हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में उनकी दुःस्थिति का वर्णन करते हुए फादर काल्डवेल ने लिखा कि 'बुद्धि, आदतों और नैतिकता में वे गैर- ईसाई मूर्तिपूजकों से तनिक भी भिन्न नहीं दिखाई देते।'

जाति- संस्था के प्रति एक ही समय पर दो ईसाई मिशनरियों का दृष्टिकोण कितना भिन्न हो सकता है, इसका सर्वोत्तम उदाहरण है प्रोटेस्टेंट बाप्टिस्ट मिशनरी विलियम वार्ड और फ्रांसीसी रोमन कैथोलिक मिशनरी अब्बे दुबाय। संयोग से दोनों मिशनरी एक ही समय सन् 1793 में भारत पहुँचे। दोनों ने ही सन् 1823 तक लगभग इकतीस वर्ष भारत में व्यतीत किए। विलियम वार्ड का कार्यक्षेत्र बंगाल था तो अब्बे दुबाय का पूरा समय दक्षिण भारत के पांडिचेरी व मैसूर में बीता। किंतु समान अवधि तक भारतीय समाज का अध्ययन करने के पश्चात् भी दोनों ने जाति व्यवस्था के बारे में एक- दूसरे से सर्वथा उलटे निष्कर्ष निकाले। सन् 1812 में प्रकाशित वार्ड की पुस्तक में जाति- संस्था की घोर निंदा की गई है। उसे हिन्दू समाज के पतन का एकमात्र कारण बताया गया है और उसे मिटाना ईसाई धर्म का लक्ष्य घोषित किया गया है।

चार्ल्स ग्रांट, सबसे पहले इवेंजेलिकल लेखक थे, जो 1774- 1790 में बंगाल में वाणिज्यिक अधिकारी के रूप में कार्य करते थे, ने 1792 में एक पैम्फलेट लिखा था ऑबजर्वेशन ऑन द स्टेट ऑफ सोसायटी एगंग द ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन (महान नैतिकता सन्दर्भ में, विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन के एशियाई विषयों पर समाज की स्थिति पर अवलोकन, और इसे सुधारने के साधनों पर चर्चा। भारतीय समाज पर उनके विचारों को निम्नलिखित उद्धरण में अभिव्यक्त किया जा सकता है: एकउनके कथन से स्पष्ट है कि उनके विचार में ब्रिटिश समाज की तुलना में भारतीय समाज अनिवार्य रूप से असम्मानित असभ्य है और सुधार ही एकमात्र तरीका है, अंग्रेजों को कुछ ऐसा करने की अनुमति दी जाय जो उनके तौर तरीकों का पालन करना सिखाए । इस तरह के 'अध: पतन' के पीछे का मुख्य कारण धार्मिक व्यवस्था में निहित विश्वास था जो भारतीय संस्कृति का आधार है और एकमात्र तरीका जो भारतीयों को उनकी स्थिति से बचा सकता है वह मिशनरी अभियानों के माध्यम से होगा जो भारतीय आबादी को ईसाई धर्म में परिवर्तित कर देगा।

इंडोलोजिस्ट के विपरीत, संस्कृत ग्रन्थों के विशिष्ट अनुवादों का हवाला देकर भारतीय समाज और इसके आचार विचार की निंदा करने का प्रयास किया गया था। इसके अतिरिक्त, सती.प्रथा , बच्चों की गुलामी, गाय की पूजा, मूर्ति पूजा और जाति प्रथा जैसी कुछ प्रथाओं को समस्याओं और बीमारियों के रोजमर्रा के उदाहरणों के रूप में लिया गया, जिससे भारतीय समाज को भुगतना पड़ा। भारतीय समाज और जाति व्यवस्था का अत्यंत नकारात्मक मूल्यांकन गहराई से किया गया जो उपमहाद्वीप में ईसाई धर्म को स्थापित करने की उनकी आवश्यकता के साथ जुड़ा हुआ था, विशेष रूप से उन लोगों के लिए, जो पदानुक्रम के निचले स्तर के सबसे निचले स्तर पर थे और जाति व्यवस्था में शोषण महसूस करते थे।

प्रारंभिक मिशनरियों ने जाति व्यवस्था को ईसाई धर्म में धमान्तरण रूपान्तरण के लिए एक बाधा के रूप में देखा 1816 में एक फ्रांसीसी मिशनरी और एक प्रभावशाली वृत्तान्त के

लेखक, अब्बे डुबोइस के लेखन में वर्णों, शिष्टाचार और भारत के लोगों के रीति- रिवाजों और उनके संस्थानों, धार्मिक और नागरिक विवरण केशीर्शक से लिखा गया, जिसमें जाति व्यवस्था का गला घोंटनाभी शामिल था। भारतीयोंके बारे में डुबोइस का मानना था कि ब्राह्मणों ने चतुराई से नागरिक संस्था को ब्राह्मणवादी वर्चस्व (फोरिस्टर, 1980 26)के लिए समाज की एक पवित्र और अपरिवर्तनीय विशेषता में बदलकर जाति व्यवस्था का निर्माण किया है

यहां यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि जाति व्यवस्था की आलोचना इसलिए की गई क्योंकि मिशनरियों को लगा कि इसने हिंदुओं को ईसाइयों में परिवर्तित करने के उनके प्रयासों को विफल कर दिया है। धर्मांतरण के बाद भी कई हिन्दू जाति के नियमों के अनुसार चलते रहे।

दिलचस्प बात यह है कि आम तौर पर हिन्दू समाज को भ्रष्ट करने सबूत की तलाश में, इन मिशनरियों ने भारतीय समाज के अनुभवजन्य अध्ययन में प्रमुख योगदान दिया। इसके अलावा, बाइबिल के अनुवाद की आवश्यकता ने भारतीय भाषाओं के समाजिक- भाषिक अध्ययन के लिए प्रेरित किया। बदले में इसने विभिन्न जाति और व्यावसायिक समूहों की जीवित वास्तविकताओं के अधिक व्यवस्थित और लिखित विवरणों को जन्म दिया। मिशनरियों ने भारत के विभिन्न हिस्सों में आधुनिक शिक्षा के प्रसार में भी मदद की। वे जंगलों में आदिवासियों के बीच, सुदूर क्षेत्रों में काम करने गए और कमजोर और गरीबों के लिए उत्साह के साथ काम किया।हालांकि उनके विश्लेषण में, जबकि मिशनरियों ने भारतविदों और बाद में प्राच्यविदों (पूर्वी) दुनिया के विद्वानों) के साथ भारतीय समाज के मुख्य सिद्धान्तों के बारे में सहमति व्यक्त की. दोनों ने राजनीतिक संगठन, भूमि कार्यकाल, वास्तविक कानूनी प्रणाली और वाणिज्यिक संरचना के तथ्यों को सही या सुधार करने का प्रयास नहीं किया। प्राच्यविदों और मिशनरियों ने स्वीकार किया और सहमति व्यक्त की:

धार्मिक विचार और व्यवहार सभी सामाजिक संरचना को रेखांकित करते हैं:

पवित्र पाठ के ज्ञान के नियंत्रण के माध्यम से पवित्र परम्परा के अनुचर के रूप में ब्राह्मणों की प्रधानता तथा चार वर्णों के ब्राह्मणवादी सिद्धांत को स्वीकार किया गया और चार वर्णों के सदस्यों के विवाह के माध्यम से अन्तर मिश्रण में जातियों की उत्पत्ति देखी गई।

अन्तर मुख्य रूप से भारतीय संस्कृति के उनके मूल्यांकन में है जबकि प्राच्यविद और भारतविद (इंडोलोजिस्ट) में एक प्राचीन भारतीय सभ्यता की अत्यधिक प्रशंसा थी और उस आदर्श से भारतीय समाज के पतन से बहुत आहत थे, मिशनरियों का मानना था कि भारतीयों का कोई गौरवशाली अतीत नहीं था और यह हमेशा गैरबराबरी से भरा रहा है।मिशनरियों ने अपने दृष्टिकोण को समाजिक परिवेश के साथ जोड़ा है, और इसे अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि के लिए भी जिम्मेदार ठहराया गया है। इन मिशनरियों में ईसाई धर्म के पक्ष से नहीं, बल्कि ब्रिटिश समाज के निचले पायदान से आए व्यक्तियों ने भारतीय समाज में सुधार के लिए उत्साह दिखाया। इनका उद्देश्य भारतीय पारम्परिक प्रणाली में परिवर्तन लाना नहीं था, बल्कि समाजिक व्यवस्था में ईसाई धर्म के प्रति एक निश्चित सम्मान और सहयोग का प्रचार करना था।

1.3 औपनिशिक परिप्रेक्ष्य

औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य का एक विशेष दृष्टिकोण था जो उनके साम्राज्यिक और राजनीतिक विस्तार को समझने के लिए प्रयोग में लाया जाता था। यह दृष्टिकोण उनकी

विदेशी राजनीति और शासन के सन्दर्भ में उनकी नीतियों और कार्यवाही को समझने के लिए उपयोगी था। इस परिप्रेक्ष्य में, उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों और क्षेत्रों को अपना विस्तार किया, विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, और राजनीतिक प्रभावों को समझा और इसे अपने साम्राज्यिक उद्देश्यों के अनुसार प्रबंधित किया। यह परिप्रेक्ष्य उन्हें अपने साम्राज्य के विस्तार को समझने और नियंत्रित करने में मदद करता था।

विलियम जोन्स ने 1776 में 'हिन्दू धर्मशास्त्र' का पहला संकलन प्रस्तुत किया था।

हालांकि, एच.एच. रिस्ले ने 1872 में भारत की पहली जनगणना का आयोजन विलियम जोन्स (William Jones) एक अंग्रेज विद्वान और न्यायशास्त्री थे जो 18वीं सदी के शिखर विद्वानों में से एक थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति, भाषा, और धर्म के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वे संस्कृत, फारसी, अरबी, यूनानी, और अन्य भाषाओं के ज्ञान के प्रति उत्साही थे।

जोन्स ने भारतीय संस्कृति की महत्ता को समझा और उसके साथ जुड़े अध्ययन करने के लिए बहुत प्रशंसा की। उन्होंने 'हिन्दू धर्मशास्त्र' जैसी प्रमुख पुस्तकों का अनुवाद और संपादन किया, जो भारतीय धर्म, संस्कृति, और विचारधारा के बारे में पढ़कर उन्हें व्यापक ज्ञान प्राप्त हो। उनका योगदान भारतीय संस्कृति और अंग्रेजी समाज के बीच समर्थ संवाद की शुरुआत माना जाता है। किया था, लेकिन जे.एच. हटटन ने अंतिम जनगणना आयुक्त के रूप में काम नहीं किया था। बल्कि उन्होंने भारत के अंतिम जनगणना की प्रक्रिया को संचालित किया था, जिसमें कई विद्वानों ने उनकी मदद की थी।

19वीं सदी में मिशनरीज़ द्वारा भारतीय समाज पर काफी प्रभाव डाला था, जिसमें साहित्य का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। मिशनरीज़ ने विभिन्न भाषाओं में पुस्तकें, लेखन, और भारतीय समाज में विभिन्न विषयों पर लेखन किया था। कुछ मिशनरीज़ जैसे क्लॉडियस बुकानन, विलियम कैरी, विलियम वार्ड, सर जॉन शोर ने हिन्दू धर्म और भारतीय समाज के विषय में अपने दृष्टिकोण को बयान किया और इसमें अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया। वे हिन्दू धर्म के आलोचक थे और अपने लेखन के माध्यम से भारत में ईसाई धर्म के प्रसार में आशा रखते थे।

उनकी पुस्तकों और लेखन से, विशेष रूप से हिन्दू धर्म की विविधता और इसके प्रचार की तकनीकों पर जोर दिया गया था। ये लोग भारतीय समाज में धर्मान्तरण के प्रति आस्था रखते थे और इसे प्रोत्साहित करने के लिए अपने कामों को केंद्रित किया था। उनके द्वारा लिखे गए पाठों ने विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के बीच संवाद को बढ़ावा दिया और भारतीय समाज में विचारों का प्रसार किया।

पारम्परिक भारतीय समाज के अध्ययन में ब्रिटिश औपनिवेशिक रुचि भारतीय समाज के आगे के अध्ययन की नींव रखने में उपयोगी साबित हुई। इन अध्ययनों का जोर इस बात पर था कि भारत को बेहतर तरीके से कैसे शासित किया जाए।

अंग्रेजों के आने के बाद 1780 से भारतीय समाज विषयक ज्ञान बहुत तेजी से बढ़ने लगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था और राजनीति में जबरदस्त बदलाव आया।19वीं सदी की शुरुआत ने मिशनरियों द्वारा लाए गए बहुत सारे साहित्य का प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा, जिसमें क्लॉडियस बुकानन, विलियम कैरी, विलियम वार्ड सर जॉन शोर जैसे हिन्दू धर्म के आलोचक और ईसाई धर्म के प्रसार में विश्वास रखने वाले थे।

इन अध्ययनों ने पारम्परिक भारतीय समाज के अध्ययन को बदल दिया और ब्रिटिश अध्ययनकर्ताओं की रुचि ने भारतीय समाज के आगे के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनका मुख्य ध्यान भारत को कैसे बेहतर तरीके से प्रबंधित किया जा सकता है, इस पर था। उन्होंने भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया और इसे समझने का प्रयास किया।

1780 के बाद, उनके अध्ययनों और तालिका के कारण भारतीय समाज में ज्ञान का प्रवाह तेजी से बढ़ा और इसने वहाँ की अर्थव्यवस्था और राजनीति में महत्त्वपूर्ण बदलाव लाया। उन्होंने भारतीय समाज की विभिन्न पहलुओं को व्यापारिक, राजनीतिक, और सामाजिक दृष्टिकोण से देखा।

इसके अलावा, उन्होंने शिक्षा, अर्थव्यवस्था, और सामाजिक परिवर्तनों को गहराई से समझने का प्रयास किया। उनके अध्ययनों ने भारतीय समाज के विकास और प्रगति को समझने में मदद की और उन्होंने इसे बेहतर प्रबन्धन की दिशा में लेने के उपायों को ध्यान में रखा।

भारतीय समाज बदलावों से गुजरा जिसमें उद्योगों की शुरुआत के साथ भारत में आधुनिक युग की शुरुआत शामिल थी। डाक और टेलीग्राफ, रेलवे, आधुनिक शिक्षा और शहरों का विकास, नए व्यवसाय, आदि कुछ प्रमुख विकास थे, जिनसे भारतीय समाज में तेजी से बदलाव हुए।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के साथ, भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति की प्रक्रिया के बारे में विशेष रूप से अवलोकन किया जा सकता है। बर्नार्ड एस. कोहेन ने अपने तर्क में स्पष्ट किया कि अमेरिकी भारतीय या अफ्रीकी उपनिवेशों की तुलना में भारत के समाज अलग स्थिति में था। उन्होंने विभिन्न पहलुओं को संक्षेपित रूप से व्यक्त किया:

1. **पूर्ण कृषि अर्थव्यवस्था:** भारत में उस समय पूर्ण कृषि आधारित अर्थव्यवस्था थी, जिसका मतलब था कि अर्थव्यवस्था का प्रमुख स्तंभ कृषि था।
2. **राजतंत्र पर आधारित राजनीतिक संस्थान**: राजतंत्र की आधार पर भारत में राजनीतिक संस्थान थे, जिसका अर्थ था कि राजनीतिक शक्ति और प्रबन्धन का माध्यम राजा या शासक था।
3. **आंशिक रूप से लिखित कानून पर आधारित एक कानूनी प्रणाली:** कोहेन ने इस प्रणाली को आंशिक रूप से लिखित कानूनों का एक प्रणाली माना, जिसमें कानूनी नियमों का अंग्रेजी साहित्य या कानूनी प्रक्रिया के साथ कुछ सम्बंध था।
4. **कर व्यवस्था**: भारत में कर व्यवस्था भी थी, जिसमें अर्थव्यवस्था को संचालित करने के लिए करों का प्रयोग किया जाता था।
5. **हिन्दू और मुस्लिम सांस्कृतिक धार्मिक व्यवस्थाओं का एक समूह**: भारत में हिन्दू और मुस्लिम समुदायों की सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ एक साथ मौजूद थीं और इनमें समानता थी।

इन तत्वों के माध्यम से, उन्होंने भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण किया और अमेरिकी उपनिवेशों से इसे अलग प्रकार का देखा। उनके तर्क ने समाज और

राजनीति के कई पहलुओं को उजागर किया और उनका तर्क है कि नियंत्रण और आदेश की औपनिवेशिक परियोजना के लिए भारतीय भाषाओं का अध्ययन ब्रिटिश के लिए महत्त्वपूर्ण था।

कोहन 1970 यह भी दावा करता है कि औपनिवेशिक सत्ता का एक कार्यक्षेत्र है जिसका मूल स्थानीय प्रभावों का एक अलग माने था। ज्यादातर यह कानून के क्षेत्र में, वास्तव में विभिन्न प्रकार के औपनिवेशिक समाज को विनियमित करने के बारे में ब्रिटिश धारणाओं के उल्लेखनीय परिवर्तन के लिए जिम्मेदार बन गया। यह न केवल भारतीय समाज के ज्ञान की प्रणाली के लिए महत्त्वपूर्ण था बल्कि एक ऐसे भारत के निर्माण के प्रारूपों को उमरने में मदद देता है, जो औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा बेहतर तरीके से शासित हो सकता है। केंद्रीय समस्याएँ जो सामने आई और उन्हें समझा जाना था कि एक राजनीतिक सैन्य प्रणाली कैसे विकसित की जाए, जो भारतीय हाथों में सरकार के दैनिक कामकाज को रहे और फिर भी भारतीय विषयों पर निरन्तर पर्यवेक्षण करने के लिए एक सफल सूत्र पर पहुंचे।

1.4 प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य

प्रशासकों द्वारा भारतीय समाज की व्याख्या ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित और उपयोगितावादी तर्कवाद द्वारा प्रेरित और अधिक व्यावहारिक और अधिक मामला सम्बन्धी था। उनका उद्देश्य भारतीय संसाधनों का दोहन करने के लिए भारतीय समाज को समझना था।यद्यपि ऐसे तर्कवाद और व्याख्यान का इस्तेमाल विश्वविद्यालयों में किया जा सकता था, लेकिन इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय समाज को शिक्षित करने या समझने का नहीं, बल्कि अक्सर यह उद्देश्य भारत के संसाधनों का अधिग्रहण या व्यापारिक लाभ उठाने के लिए किया जाता था। ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज को अपने स्वार्थ के लिए समझने का प्रयास किया जो अक्सर उनके आर्थिक और राजनीतिक हितों के लिए था।

उन्होंने अक्सर व्यावसायिक तरीके से भारतीय संसाधनों का अधिग्रहण किया और वहाँ की अर्थव्यवस्था को अपने हित में सुनिश्चित करने के लिए समाज की व्याख्या की। इसमें उन्होंने व्यावहारिक और उपयोगी तरीके से भारत के संसाधनों का दोहन किया और अक्सर उनके स्वार्थिता के हिसाब से समाज का विश्लेषण किया था।

प्रशासकों ने ऐसी श्रेणियां विकसित करने की मांग की. जो भारत के मूल निवासियों के जीवन से सम्बन्धित उनके विचारों और कार्यों को क्रमबद्ध करने में उनकी मदद करें, जो इसे जटिल बनाने वाली विशाल जटिलताओं से बचते है। उदाहरण के लिए, बी एच बडेन पावेल (सन्दर्भ) ब्रिटिश भारत की भूमि प्रणाली के तीन खण्ड (1892) केवल आंकड़ों का संकलन नहीं था, बल्कि भारतीय गाँव की प्रकृति और इसके संसाधनों के सम्बन्ध में तर्कों की एक श्रृंखला थी. इन संसाधनों पर राज्य और उसकी ज़रूरतों से भी संबन्धित थी बेडेन पॉवेल ने माना है कि ज़मीन या भूमि जो उत्पादन से जुड़ा आमतौर पर उसके दो दावेदार होते हैं। राज्य और भू-स्वामी उन्होंने कहा कि सरकार ने प्रत्येक होल्डिंग की थ्रेसिंग फ्लोर पर वास्तविक अनाज के ढेर का एक हिस्सा लेकर अपना राजस्व प्राप्त किया। इस हिस्से के संग्रह को सुनिश्चित करने के लिए राज्य और अनाज के ढेर के बीच मध्यस्थों की एक विस्तृत श्रृंखला विकसित हुई। वे अपनी बारी में जमीन या इसके उत्पादन पर नियंत्रण या स्वामित्व / कब्जे की अलग- अलग स्थिति का दावा करते हैं। इसके अतिरिक्त, भूमि पर अधिकार पारम्परिक व्यवस्था द्वारा

स्थापित किए गए थे।

भारत के विभिन्न हिस्सों में ब्रिटिश विद्वानों के प्रशासकों नियुक्त किया, उदाहरण के लिए, पूर्वी भारत में रिस्ले, डाल्टन और ओमले उत्तरी भारत में क्रुक्स ने भारत की जनजातियों और जातियों के बारे में विश्वकोष लिखा, जो आज जीवन के बारे में बुनियादी जानकारी प्रदान करते हैं और सम्बन्धित क्षेत्रों के लोगों की संस्कृति के बारे में भी बताते हैं। इन अध्ययनों का उद्देश्य प्रभावी औपनिवेशिक प्रशासन को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से भारत में जातियों और जनजातियों के बारे में वर्गीकृत विवरणों के साथ सरकारी अधिकारियों और निजी व्यक्तियों को परिचित करना था।

सर विलियम जोन्स ने संस्कृत और इंडोलॉजी के क्षेत्र में अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए प्रशंसा पाई है। उन्होंने संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन किया और इसे अंग्रेजी में अनुवादित किया। 1784 में, उन्होंने 'Hitopadesha' और 'Bhagavad Gita' का अनुवाद किया जो की संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण हिस्से हैं।

विलियम जोन्स की सबसे प्रमुख साझेदारी एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना में थी, जो भारतीय संस्कृति और भाषाओं के अध्ययन को बढ़ावा देने का कार्य करती थी। इस संस्था ने संस्कृत और भारतीय विचारधारा के प्रचार- प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उन्होंने मनुस्मृति का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया जो की भारतीय धार्मिक और सामाजिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इससे उन्होंने विदेशी भूमिकाओं को भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रति अधिक जानकारी प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया।

जोन्स का योगदान संस्कृत और भारतीय विचारधारा के प्रसार में था, जिसने पश्चिमी विश्व को भारतीय संस्कृति के प्रति अधिक उत्साहित किया और इससे भारत- पश्चिम संस्कृति के बीच संवाद को बढ़ावा दिया।

मनु- स्मृति जिसे भारत की प्राचीनम कानूनों की पुस्तक माना जाता है की आलोचना को द्वार शायद इसीलिए खुलते हैं की आप जब तक पुराने आधारों की आलोचना नहीं करेंगे नए कानून और व्यवस्था हेतु स्थान नहीं बन सकेगा . मनु स्मृति भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों में से एक है जो कि हिन्दू धर्म के नैतिक, सामाजिक, और धार्मिक नियमों को स्थापित करती है। हालांकि, इस ग्रन्थ की आलोचना विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती है:

1. सामाजिक व नैतिक पहलू: कुछ लोगों के अनुसार, मनुस्मृति में वर्ण व्यवस्था, स्त्री- पुरुष के अन्तर, और सामाजिक नियमों पर जोर दिया गया है, जिससे इसे आलोचित किया जाता है।
2. काल सन्दर्भ: कुछ विद्वानों का मानना है कि मनुस्मृति का कुछ हिस्सा समय- बदलते समाज के साथ नहीं चल पाया है और इसका वर्तमान समाज में प्रयोग अनुचित हो सकता है।
3. व्यापारिक रूप से निष्पक्षता की कमी: कुछ विद्वानों का कहना है कि मनुस्मृति में निष्पक्षता की कमी होती है और यह अनेक वर्गों के लिए उचित नहीं है।
4. धार्मिक विधानों का प्रभाव: कुछ लोग मानते हैं कि मनुस्मृति का धार्मिक विधानों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है, जिससे इसे सख्ती से मान्यता दी जाती है।

मनुस्मृति को समाज के रूपरेखानुसार आलोचित किया जाता है, और विभिन्न धार्मिक, सामाजिक, और नैतिक समूहों के द्वारा इसके प्रति विचार विभाजित होते हैं। यह ग्रन्थ एक चर्चित और विवादास्पद प्राचीन धार्मिक पाठ है जिसे समाज की प्रगति और संघर्ष की प्रेरणा के लिए उपयोग किया जाता है।

डॉ. भीमराव आंबेडकर ने मनुस्मृति की आलोचना की और इसे समाजिक न्याय और भारतीय समाज की समस्याओं का मूल उत्पादक माना। उन्होंने मनुस्मृति को कास्ट व्यवस्था के प्रमुख स्तंभ के रूप में देखा और इसे भारतीय समाज में असमानता के प्रतीक के रूप में स्वीकारा।

आंबेडकर का मानना था कि मनुस्मृति में वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था और स्त्री- पुरुष विभाजन जैसे तत्त्व उस समय के समाज को दबा रहे थे और उसे विभाजित कर रहे थे। उन्होंने कई बार मनुस्मृति को समाज में असमानता और विभाजन के लिए जिम्मेदार ठहराया और इसे एक समाजिक रुढ़िवादी प्रणाली के रूप में देखा।

आंबेडकर ने मनुस्मृति की आलोचना करके भारतीय समाज में सामाजिक न्याय और समानता के लिए संघर्ष किया और वे इसे बदलाव के लिए समर्थन देने वाले थे। उन्होंने समाज में समानता और न्याय के लिए उठाये गए कदमों के साथ-साथ मनुस्मृति की पुनराराचना और संशोधन की भी बात की थी।

डॉ आंबेडकर के तर्क उन परिस्थितियों में मनु स्मृति का खण्डन करसकते हैं जब मनु के काल में वर्ण एक स्थायी संरचना रही हो वर्ण एक स्थाई और दार्शनिक प्रत्यय है जबकि जाति समय काल और परिस्थितयों के अनुसार बनती जाती है .

1757 से 1785 की अवधि एक ऐसा समय था जिसमें बंगाल में ईस्ट इण्डिया कंपनी के अधिकारियों को एक प्रशासनिक प्रणाली विकसित करनी थी जो कानून और व्यवस्था बनाए रखने और प्रशासनिक, सैन्य और वाणिज्यिक गतिविधियों के निवर्हण के लिए नियमित रूप से आय का उत्पादन करने में सक्षम थी। कंपनी को लाभ प्रदान करना भी एक अन्य उद्देश्य था। भू-राजस्व के मूल्यांकन और नियमित संग्रह के लिए भारतीय समाज की संरचना के बारे में काफी ज्ञान की आवश्यकता थी। तदनुसार, बंगाल में भूमि के कार्यकाल की प्रकृति के बारे में पूछताछ पिछले शासकों के दस्तावेजों और अभिलेखों को एकत्र करके की गई। थी। इसके अलावा, कुछ ब्रिटिश, आधिकारिक और गैर- आधिकारिक ने अपनी जिज्ञासा से कुछ हद तक उद्देश्यपूर्ण शैली में भारतीय समाज पर अध्ययन और लेखन शुरू किया। उदाहरण के लिए, विलियम टेनेंट, एक सैन्य पादरी अपने दो खण्ड के काम में भारतीय मनोरंजनः मुसलमानों और हिंदुओं की घरेलू और ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर मुख्य रूप से सख्त विरोधाभासों (1804) व्यक्तिगत टिप्पणियों पर उनकी जानकारी के आधार पर, 'कई बुद्धिमानों की बातचीत और लेखन मूल निवासी और सैन्य नौकरों के साथ मौखिक बातचीत के आधार पर की।

ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज की व्याख्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से किया और इसे अपने ही प्रशिक्षण और तर्कवाद के दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने भारतीय संसाधनों का दोहन करने के लिए भारतीय समाज को समझने का प्रयास किया, लेकिन इसके साथ ही उनका उद्देश्य अक्सर अपने ही हितों को प्राथमिक रखने में था।

उन्होंने ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में भारतीय समाज की अध्ययन कराया, जिससे विद्यार्थियों और शोधकर्ताओं को भारतीय संस्कृति, समाज, और राजनीति के बारे में जानकारी मिली।

हालांकि, इस प्रकार का अध्ययन अक्सर उनके संस्कृतिक और आर्थिक उद्देश्यों के लिए होता था, जिससे उन्हें भारतीय समाज के संसाधनों का बेहतर उपयोग करने का तरीका मिल सके।

इस प्रकार के अध्ययन ने विशेष रूप से अधिक व्यावहारिक और मामला- सम्बन्धी ज्ञान को बढ़ावा दिया, जो कि उन्हें भारतीय समाज के साथ व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्धों की समझ में मदद करता था। लेकिन, इस दौरान कई बार उनके विश्लेषण में उनकी अपनी सोच और संस्कृति की दृष्टि से होने वाली समस्याएँ भी देखी गई।

1.5 सारांश

इस इकाई में हमने चर्चा की है कि मिशनरी विचार से प्रेरितऔपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज के अध्ययन को कैसे प्रभावित किया है। औपनिवेशिक शासनको मिशनरी दृष्टिकोण में विभाजित किया गया, जो प्रारंभिक मिशनरी दृष्टिकोण के लेखन से विकसित हुआ था तथा जो 18 वीं शताब्दी हुआ था प्रशासनिक दृष्टिकोण, जिसका उद्देश्यइसाई धर्म के आलोक मेंप्रभावी औपनिवेशिक नियंत्रण सुनिश्चित करना था। औपनिवेशिक शासन को मिशनरी दृष्टिकोण में विभाजित किया गया था, जो प्रारंभिक मिशनरी दृष्टिकोण से विकसित हुआ था। 18वीं शताब्दी में, औपनिवेशिक शासन का मिशनरी दृष्टिकोण इसाई धर्म के प्रसार और प्रभाव को बढ़ावा देनेके लिए उपयोगी था। इसाई मिशनरीज़ ने नए क्षेत्रों में आक्रमण किया और अपने धर्म की विचारधारा को प्रचारित करने के लिए शासन के साथ सहयोग किया। इससे औपनिवेशिक नियंत्रण का प्रयास धर्मान्तरण के रूप में देखा जा सकता है, जहां शासन का उद्देश्य था लोगों को इसाई धर्म में प्रवृत्त करना। अंग्रेजों द्वारा किये गये विस्तृत सर्वेक्षण, जनगणना की जानकारी और अन्य अध्ययनों ने भारतीय समाज के बारे में ज्ञान की प्रणाली को आकार देने में मदद की और उनके आधार पर कई क्षेत्रों में आगे अनुसंधान किया गया है

इस प्रकार का औपनिवेशिक नियंत्रण उस समय के प्रशासनिक दृष्टिकोण के साथ जुड़ा था, जहां शासन ने धर्म को अपने संसाधनों और सत्ता का एक हिस्सा माना। यह प्रक्रिया सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों को नियंत्रित करने के लिए भी उपयोगी साबित हुई।

इस तरह के औपनिवेशिक नियंत्रण के प्रयास ने समय- समय पर विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रश्नों को उठाया है, जिससे समाज में विवाद और विभाजन भी हुआ है उन्होंने जाती का दस्तावेजीकरण किये जिससे समाज में जाति की स्थाई संरचना का सरकारीकरण हुआजिसकी परछाई आज भी भारतीय समाज में हर जगह दिखाई देती है।

1.6 शब्दावली

1. मिशनरी विचार - यह विचार 18वीं शताब्दी में शुरुआती मिशनरियों के लेखन के माध्यम से विकसित हुआ।
2. सजातीय विवाह- किसी एक समुदाय / समूह / जाति / जनजाति के भीतर सजातीय विवाहसहभोज एक साथ भोजन करना
3. प्रशासनिक दृष्टिकोण- इन अध्ययनों का उद्देश्य प्रभावी औपनिवेशिक प्रशासन को सुनिश्चित करने की दृष्टि से भारत में जातियों और जनजातियों के बारे में वर्गीकृत विवरणों के साथ सरकारी अधिकारियों और निजी व्यक्तियों को परिचित करना था।
4. उपयोगितावादी तर्कवाद- दर्शन की एक प्रणाली के रूप में तर्क और तर्कसंगतता का

व्यावहारिक उपयोग ॥

5. इम्पीरियल गजट - संक्षेप में, उस समय उपलब्ध शास्त्रीय और मानवशास्त्रीय तकनीकों का उपयोग करना, अर्थात् प्रमुख देशी / स्थानीय मुखबिरों के साथ अवलोकन और साक्षात्कार द्वारा विशेष दस्तावेज और अन्य जैसे कि एच.टी. कोलबुक की पर हसबैंडरी एँड इंटरनल कामर्स ऑफ बंगाल द्वारा दिया गया ग्रामीण समाज का विस्तृत और सावधानीपूर्वक वर्णन है।
6. जातिवादी विचार - इसमें विभाजन और समाज में जातियों के प्रभाव पर ध्यान दिया जाता है।
7. अनुगमनीय विवाह - इसमें समुदाय या जाति के अन्दर होने वाली शादियों का अनुगमन किया जाता है।
8. संयोजन - समाजिक अथवा सामाजिक घटनाओं में सहभोजन का प्रयोग करना।
9. प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य - सरकारी प्रशासन या नेतृत्व के दृष्टिकोण से जातियों और समुदायों को समझने का प्रयास।
10. उपयोगशील तर्कवाद - यह दृष्टिकोण विचारों को तर्कशीलता और व्यावसायिकता के साथ प्रयोग करता है।

1.7 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डर्क्स एन बी 2001 कास्ट्स ऑफ माइंड कालोनियलिज्म एँड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इण्डिया, परमानेंट ब्लैक, न्यू डेलही
2. इंडेन रोनाल्ड, 1990 इमेजनिंग कोहन, बर्नार्ड 2000 (1971) इण्डिया: द सोसल अंथ्रोपोलोजी ऑफ ए सिविलाइजेशन, ओयूपी डिया: द सोसल सं
3. विद्यार्थी, एल. पी (1976) राइज़ ऑफ अंथ्रोपोलोजी इन इण्डिया, कांसेप्ट पब्लिशिंग कंपनी, खेलही
4. ओमवेत, गेल. 1994. 'रिकन्स्ट्रक्टिंग द मेथोडोलोजी ऑफ एक्सप्लोइटेशन कास्ट, क्लास अंड जेंडर एज कैटेगोरी ऑफ एनालिसिस इन पोस्ट कोलोनियल सोसायटीज', अण्डरस्टैंडिंग द पोस्ट कोलोनियल वर्ल्ड: चियरी अंड मेथड नीरा चंडोक (एड) न्यू डेलही स्टर्लिंग पब्लिकेशन
5. स्टेलिन, जोसेफ, 1991. मार्क्सइज्न एँड नेशनल एँड कोलोनियल क्वेश्चन न्यू डेलही. कनिष्क पब्लिशिंग हाउस
6. डियास्पोरा अंड ट्रास नेशनल कम्युनिटीज 2010, MSOE- 002, बुक 2 इग्नू न्यू डेलही
7. https://archive.org/details/TheBeautifulTree- Dharampal
8. Muller F.Max ,India- what cUn it teach us
9. जाति विषयक प्रथम अध्ययन अंग्रेज शासकीय संस्थाओं द्वारा कई पुस्तकों और रिपोर्टों में प्रकाशित किया गया था। इनमें से कुछ प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हो सकती हैं:
10. "Report on the First Census of India" (1871): इस प्राथम जनगणना की रिपोर्ट में, जाति के सन्दर्भ में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की गई थी। इसमें भारतीय समाज की जाति व्यवस्था की सटीकता को समझने के लिए विभिन्न विश्लेषण और

डेटा प्रस्तुत किए गए थे।

11. "The CastesAnd Tribes of Southern India" by Edgar ThurstonAnd K. Rangachari (1909- 1914): यह पुस्तक साउथ इण्डिया की जातियों और उनके विशेषताओं पर विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करती है। इसमें समूचे दक्षिण भारतीय क्षेत्र के लोगों की जाति और उनके जीवन शैली का विवरण दिया गया है।
12. "Annihilation of Caste" by Dr. B.R.AmbedkUr (1936): डॉ. आंबेडकर की इस पुस्तक में वह जाति व्यवस्था के खिलाफ अपने विचार प्रस्तुत करते हैं और समाज में समानता की मांग करते हैं।
13. ये पुस्तकें भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के बारे में अंग्रेजों द्वारा किए गए प्रमुख अध्ययनों में से कुछ हैं।

1.8 बोध प्रश्न

1. अंग्रेजों को भारतीय समाज के अध्ययन की आवश्यकता क्यों महसूस हुई?
2. मिशनरी दृष्टिकोण क्या था उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए?
3. मिशनरी साहित्य का मुख्य उद्देश्य क्या था ?
4. मिशनरी विद्वानों ने जाति का विशिष्ट अध्ययन क्यों किया ?
5. उपनिवेशवादी विचारकों ने भारत को किस दृष्टि से देखा ?

इकाई 2 जर्मन इन्डोलॉजी

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप :

- जर्मन इण्डोलॉजी का अर्थ एवं स्वरूप जान सकेंगे।
- जर्मन इण्डोलाजी के प्रमुख विद्वानों का परिचय, योगदानों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- जर्मन इण्डोलॉजी की विशेषताओं से परिचित् हो सकेंगे।
- जर्मन इण्डोलॉजीस्टो द्वारा भारत विषयक अध्ययन के स्वरूप से परिचित् हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस ईकाई में हमलोग भारत की पद्धतिगत आत्मसमझ की पृष्ठभूमि में अठ्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भारत सम्बन्धी अध्ययनों की पद्धति तथा उन अध्ययनों से प्राप्त विषयवस्तु के क्षेत्र में जर्मन विद्वता की जाँच करना है। जर्मन दार्शनिकों ने वैज्ञानिक पद्धति तथा तुलनात्मक, ऐतिहासिक पद्धति द्वारा भारत को समझने का प्रयास किया है। जर्मन इण्डोलॉजी एक पद्धति है, जो जर्मन भारतीय सम्पर्क के द्वारा शुरू में हुआ। उन्नसवीं शती में जर्मनी में भारत के प्रति रूचि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। जिसके कारण जब सरविलियम जोन्स नामक आंग्ल विद्वान् ने कलकत्ता में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोध संस्था की नींव डाली (1784 ई.) 1804 ई. में कोल बुक ने 'एशियाटिव रिसचेंज' नामक पत्रिका में वेदों के सम्बन्ध में शताधिक पृष्ठों में शोध परक निबन्ध लिखकर वैदिक साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया1838 ई. में जर्मन विद्वान् फ्रेडरिख रोजेन ने ऋग्वेद का सम्पादन करना प्रारम्भ किया थाय किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उसका प्रथम अष्टक ही (1837 ई. में) प्रकाशित हुआ। पेरिस के संस्क त प्राध्यापक यूजीन बूर्नफ के दो शिष्यों राथ और मैक्समूलर ने वैदिक अनुशीलन में नवीन प्राण भर दिये। रुडाल्फ रॉथ ने 1846 ई. में 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक छोटी, किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिख कर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कियाउन्होंने आगमन विधि का प्रयोग करते हुए 'संस्कृत–महाकोश' की रचना की जिसमें विकास क्रम के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। इसमें वैदिक

शब्दों का अर्थ रॉथ ने और लौकिक या संरक त शब्दों का अर्थ ओटो बोथलिंक ने प्रस्तुत किया है। इस कोश का प्रकाशन 1852 से 1875 ई. तक सात खण्डों में हुआ है।

जर्मन इण्डोलॉजी का उद्‌भव एवं विकास

प्रिय विद्यार्थी हम यह पहले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि, जर्मन इण्डोलॉजी को हमें एक पद्धति के रूप में देखना चाहिए, न कि किसी जाति एवं राष्ट्रीय पहचान के रूप में। जर्मन इण्डोलॉजी जर्मनों द्वारा की गयी इण्डोलॉजी नही है यद्यपि कि जर्मन के विद्वान अपने को दुनिया में अद्वितीय मानते थे, यह एक अलग बात हो सकती है किन्तु उन्होंने जिस विधि से भारतीय ग्रन्थों के द्वारा भारत को समझने का प्रयास किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। जर्मन इण्डोलॉजी का इतिहास भाषाशास्त्र के इतिहास के साथ प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा इन विद्वानों ने एक धर्मनिरपेक्ष अध्ययन शुरू करने का प्रयास किया था क्योंकि उस दौर में धर्म को लेकर यूरोप में दो धर्मयुद्ध हो चुका था और इस प्रकार का चिन्तन विज्ञान और धर्मनिरपेक्षीकरण के सहारे आगे बढ़ा। इस प्रकार का दावा जर्मन विद्वानों के द्वारा किया गया किन्तु ये विद्वान् 'नव प्रोटेस्टेंटवाद' के धार्मिक प्रतिबद्धता को छोड़ नही पाये है। अतः इनके द्वारा किया गया भारतविषयक अध्ययन एकांगी और अपूर्ण है और जर्मन इण्डोलॉजी का स्वरूप मोटे तौर पर एक भाषाशास्त्री पद्धति के रूप में रह गया, जोकि वैदिक संहिता, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, पुराण तथा दर्शन नाटक, साहित्य, काव्य, वैज्ञानिक ग्रन्थ तक के विशाल वाङ्मय से जुड़ा है। जर्मनी से शुरू होकर इसका प्रयोग अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर होने लगा। उदाहरण के लिये फ्रेंच, ब्रिटेन, डच तथा अमेरिकन विद्वानों से शीघ्रता से इस विधा को अपना लियाइस प्रकार से जर्मन इण्डोलॉजी एक व्यापक पद्धति है जिसका प्रयोग अठ्ठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है और उन्नसवीं, बीसवीं शताब्दी मे व्यापक रूप से वैश्विक शैक्षणिक जगत को प्रभावित किये हुए है।

2.2 प्रमुख जर्मन इण्डोलॉजिस्ट

i. अब आप कोलब्रुक, विल्सन, रूडोल्फ राथ और मैक्समूलर का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं :

क्र. सं.	नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
1	कोलबर्फक		1. Eassy on the Vedas (Published inAsiatic Researches, Calcutta, 1805) Vol. VII, pp. 369- 76 2. Essays on the ReligionAnd Philosophy of Hindus
2	विल्सन	26 सतम्बर, 1786	1. Re- Veda Samhita (English Translation NotesAndAppendix etc. 2. Hindu Religions

3	रूडोल्फ रॉथ		1. LiteratureAnd History of the Vedas (1846). 2. Sanskrit Worterbuch (St. Peter's Berg Dictionary by BohtlingkAnd Roth) यह संस्कृत कोश 1852. –75 में सात जिल्दों में प्रकाशित हुआ। 3. गेटिगेन (निरुक्त संस्करण 1848–52) 4. अथर्ववेद (शौनक शाखा) सम्पादित, रॉथ तथा व्हिटनी (बर्लिन, 1856)
4	ग्रासमान		
5	मैक्समूलर		1.Critical Education Regveda with Sayan's Commentary (1849- 74) 2.Rgveda (A textAlone 1873). 3.Text of the Pratiskhyas (with transatlation 1856- 69) 4.Six systems of Indian Philosophy (1899). 5.Chips fromA German Workshop (Collection of hisArticles). 6.History ofAncient Sanskrit Literature (1859). 7.The Vedas (A collection of Max Muller's six lectures). 8.India- What cUn it teach us (1882).

1) कोलबर्फक

कोलब्रुक ने भारतीय साहित्य की गवेषणा में अथक उत्साह से कार्य कियाउन्होंने भारतीय कानून पर अनेक ग्रन्थ लिखे और संरकृत के वैज्ञानिक साहित्य को अपना क्षेत्र बनायाँ उन्होंने दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित पर भी कार्य कियाअमरकोश जैसे कतिपय शब्दकोशों, उन्होंने पाणिनि व्याकरण, हितोपदेश और किरातार्जुनीय का सम्पादन कियाकुछ शिलालेखों का सम्पादन तथा अनुवाद भी कियाविभिन्न विषयों की पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह पाण्डुलिपि–संग्रह आज लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय की अमूल्य निधि है। कोलबर्फक के वेद–सम्बन्धी विचारों को जानने का प्रमुख स्रोत है–

वेदों पर (On the Vedas) नामक निबन्ध में कोलबर्फक ने भारतीयों के प्राचीन युग का महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है।कोलबर्फक की दृष्टि में जिन मन्त्रों पर जो

ऋषि लिखे हैं वे ही उनके रचयिता हैं। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के कर्त्ता राजघराने से भी हैं। इन सन्दर्भों में कुछ स्थलों पर उन राजाओं के नाम की ओर सङ्केत हैं जिनके नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अन्य स्थलों पर उन राजाओं का स्पष्ट वर्णन है। अनेक स्थलों पर विविध राजाओं के सम्वादों का वर्णन है।

कोलबर्फक ने वैदिक देवों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये है। निरुक्त में बतलाये गये तीन देवों का वर्णन करके उन्होंने दिखलाया है कि वेद–मन्त्रों में इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि को अनेक बार सम्बोधित किया गया है। उन्होंने ऐसे अनेक सूक्तों और मन्त्रों को उद्घत भी किया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी स्तुतियाँ है जिनका शत्रु के विनाश–सम्बन्धी अनुष्ठानों में प्रयोग किया जाता था। यहाँ स ष्टि रचना सम्बन्धी भी कुछ सूक्त हैं। कोलबर्फक के अनुसार ऐतिहासिक और धार्मिक विषयों के कुछ संकेत वेदों में मिलते है।

2) विल्सन

उनका जन्म 26 सितम्बर, 1786 को हुआ। 11811–33 तक वे एसियाटिक सोसाइटी बंगाल के सचिव रहे। उन्होंने लगन से संस्क त पढ़ी और 1813 में मेघदूत का अनुवाद कियाउन्होंने विविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण कार्य किए और यूरोप के विज्ञान तथा अंग्रेजी साहित्य का यहाँ की शिक्षा में समावेश करायाँ वे संस्कृत कॉलेज के भी निरीक्षक रहे। 1832 में उन्होंने भारत छोड़ दिया और 1833 में आक्सफोर्ड में संरक त के बाडन प्रोफेसर नियुक्त हुएँ विल्सन ने एक अफसर के रूप में काम करते हुए निरन्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन कियाउन्होंने हस्तलिपियों का एक समृद्ध भण्डार बनाया और बड़ी मात्रा में साहित्य की रचना की।उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती वेद–भाष्य तथा अनुवादों का आश्रय लिया है, फिर भी उनका अनुवाद विशेषकर सायण–भाष्य का अनुसरण करने वाल कहा जा सकता है। विल्सन उन विद्वानों में है जो सायण–भाष्य का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं यद्यपि सायण की व्याख्या पर कहीं–कहीं प्रश्न चिह्न लगाये जा सकते हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रदर्शित वेद–ज्ञान की अपेक्षा सायण बहुत अधिक वेदों का ज्ञान रखते थे। ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने संस्क तकोश की रचना की थी तथा हिन्दू धर्म के भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था।

ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद के आरम्भ में उन्होंने जो एक विस्त् त भूमिका (Introduction) दी है उससे भी यह जाना जा सकता है कि वेदों में किन विषयों का वर्णन मिलता है। विल्सन कहते हैं हमे हिन्दू धर्म के इतिहास में ऋग्वेद का अत्यधिक महत्त्व मानना पड़ता है। वस्तुतः हम हिन्दुओं की धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप का यथार्थ तथा प्राचीनतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए मुख्यरूप से ऋग्वेद का आश्रय ले सकते हैं।

विल्सन ने ऋग्वेद को अपने समय के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा सामाजिक अवस्था आदि का बोधक ग्रन्थ माना है। वे बतलाते हैं वेद के सूक्तों में विस्तार से भेंट (आहुति), प्रार्थना तथा स्तुति आदि का वर्णन किया गया है। वहाँ किसी मन्दिर का संकेत नहीं, न ही पूजा के किसी सार्वजनिक स्थान का ही। यह स्पष्ट है कि उन समय पूजा नितान्त घरेलू कार्य था। सामान्यरूप से यज्ञ घत और सोमरस से सम्पन्न किये जाते थे, किन्तु पशु–बलि और मानव–बलि से भी लोग अपरिचित् नहीं थे। सामान्यतः सम्पत्ति, अन्न, जीवन, सन्तान, पशु तथा शत्रुओं पर

विजय आदि की प्रार्थनाएँ की जाती थी। कुछ ऐसे भी सङ्केत हैं जिनमे अमरता और भावी आनन्द की आशाएँ की गई हैं। वहाँ नैतिक हितों के लिए बहुत कम प्रार्थना की गई है। फिर भी कुछ सन्दभों में असत्य के प्रति घ णा और पाप से बचने की इच्छा प्रकट की गई है। हाँ, इन प्रार्थनाओं का मुख्य उद्देश्य सांसारिक और शारीरिक लाभ है।

विल्सन ने यह भी विचार किया है कि जिन देवों की स्तुति और प्रार्थना की गई है वे कौन हैं। वे इस निर्णय पर पहुँचे है कि ऋग्वेद के आख्यान और वीरकाव्य एवं पुराणों की कथाओं में अन्तर है। उन्होंने एक एक देव को लेकर विस्तार से विवेचन कियाहै और यह भी कहा है कि वेद के मुख्य देवता, अग्नि और इन्द्र हैं। उन्होंने सभी वर्णित देवों को तीन वर्गों में रखते हुए निरुक्तकार यारक का मत भी दिखलाया है, और कहा है कि विश्व की एक आत्मा का विचार यहाँ स्पष्टरूप से नहीं प्रकट हुआ।

उस समय के लोगों की सामाजिक और राजनैतिक दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उस समय के हिन्दू खानाबदोश नहीं थे, वे ग्रामों और नगरों में रहते थे, किसी अंश तक उनका जीवन चरागाह की जीवन था, किन्तु अधिकांश में उनका व्यवसाय कपि था, साथ ही उनमें शिल्प–कला का भी विकास हुआ था, वस्त् बुनना, लकड़ी का काम तथा सोने की गढ़ाई आदि से वे परिचित् थे, उनमें सामान्य व्यापारी भी थे और समुद्र के व्यापारी भी।

रुडोल्फ रॉथ तथा ग्रासमान

रुडोल्फ रॉथ ने 1846 में जर्मनी में वैदिक अनुशीलन की आधुनिक परम्परा चलाई। ''इनकी रचनाएँ जर्मन भाषा में है, जिनके अंग्रेजी आदि में अनुवाद हो चुके हैं। रॉथ ने अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का भी अन्वेषण कियाराथ का मानना था कि वेदों तथा तुलनात्मक आलोचना शारत्र से सुसज्जित–समर्थित पाश्चात्त्य मेधावी उस ग्रन्थ का कहीं अधिक गम्भीर, एवं सत्य, अन्वेषण कर सकते हैं। ''कारण, उसका निर्णय ईश्वरवादी परम्परा से जकड़ा हुआ नहीं है, उसके पास भाषा की प्रकृति का मापदण्ड है। उसका बौद्धिक क्षितिज कहीं अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक रीति से भासमान है। शास्त्रज्ञता का बल उसके पास पर्याप्त है। उन्होंने संस्कृत भाषा के दायरे में ही ऋग्वेद का ऐतिहासिक रीति से अध्ययन कियाइसके पश्चात् उन्होंने तुलनात्मक पद्धति की भी सहायता ली। रॉथ ने एक एक शब्द का निर्वचन करके वैदिक संहिताओं के वैज्ञानिक अर्थ निकालने का प्रयास कियाउनके एक शिष्य और अनुयायी ग्रासमान ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद किया।

ग्रासमान ने समस्त् ऋग्वेद का पद्यमय जर्मन भाषा में अनुवाद किया है जो दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ। इस भाष्य से सायण–भाष्य की उपेक्षा करते हुए रॉथ की पद्धति से स्वतन्त्र भाष्य किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रासमान ने एक वैदिक कोश भी तैयार किया जिसमें पूर्ण सन्दभों सहित ऋग्वेद के शब्दों का अर्थ–निर्णय किया गया है।

4) मैक्समूलर

पाश्चात्त्य संरकृत विद्वानों, विशेषकर वेदज्ञों में मैक्समूलर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उन्होंने वेद के विषय में नाना ग्रन्थों की रचना की, वेदोक्त धर्म

तथा संस्क ति आदि की व्याख्या प्रस्तुत की और अन्य विद्वानों को भी वेद–विषयक अध्ययन करने की प्रेरणा दी। फलतः उन्हें जर्मन पण्डित की मानद उपाधि से विभूषित किया गया।

मैक्समूलर का जन्म 1823 में हुआ। जब ये 4 वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहावसान हो गयाआरम्भ में उन्होंने ग्रामर स्कूल में पढ़ना आरम्भ कियाफिर लिपझिग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर लेटिन और ग्रीक का अध्ययन कियातत्पश्चात् प्रो० Brockhausसे संरक त का अध्ययन आरम्भ कियाबर्लिन विश्वविद्यालय में कई विशिष्ट विद्वानों के साथ उन्होंने भाषा–विज्ञान और दर्शन का विशेष अध्ययन कियातछन्नतर पैरिस में जाकर राथ के साथ प्रो० बर्नफ से वेदाध्ययन की प्रेरणा प्राप्त की।' पैरिस से मैक्समूलर इंग्लैण्ड गये और आक्सफोर्ड में निवास करने लगे। उन्होंने अपने जीवन का बड़ा भाग पौररत्य विद्याओं के अध्ययन–अध्यापन में व्यतीत किया

भारतीय विद्याओं के क्षेत्र में उनका कार्य अनुपम है। 'Sacred Books of the East' की जिल्दों का सम्पादन अपने आप में एक बेजोड़ कार्य है। इसके अतिरिक्त सायण–भाष्य–सहित ऋग्वेद का अनुवाद उनकी कीर्ति का उद्घोष करता है।

इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थों के सम्पादन किये, अनुवाद किये तथा वेद के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। वेदों की व्याख्या के विषय में उनके विविध ग्रन्थों, भूमिकाओं तथा व्याख्याओं से उनके वेद प्रामाण्य–विषयक विचारों का ज्ञान होता है। वे मानते हैं कि मानवता के विशेषकर आर्य जाति के अध्ययन के लिये संसार में वेद के समान महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं हैं वे यह भी मानते है कि जो अपने पूर्वजों, अपने इतिहास और बौद्धिक विकास को ज्ञान करना चाहता है उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है।

ऋग्वेद के एक सूक्त (1०. 75) की व्याख्या करते हुए वे कहते है कि यह वैदिक कवियों तथा वातावरण के विषय में हमारे धुंधले विचारों को वास्तविकता प्रदान करने में सहायक है। यहाँ वर्णित नदियाँ, प जाब की असल नदियाँ है और यह काव्य एक ग्रामीण चारण (भाट) के वचनों की अपेक्षा एक स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्र का वर्णन करता है। ऐतिहासिक द ष्टि से विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि ये (सिन्धु, गङ्गा, यमुना आदि) नदियों के व्यक्तिवाचक नाम है और इससे एक पर्याप्त, विकसित् सभ्य जीवन का बोध होता है। मैक्समूलर ने इन नदियों की भौगोलिक स्थिति की सिकन्दर–कालीन विवरण से तुलना करते हुए अपने कथन की पुष्टि की है।

उनकी दृष्टि से वेदों से कुछ भौगोलिक, कुछ ऐतिहासिक और कुछ धार्मिक तथ्यों का ज्ञान होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 75वें सूक्त को उद्घ त करते हुए वे इस सूक्त को चुनने के दो आधार बतलाते हैं – एक तो यह कि यह सूक्त वैदिक कवि के विस्त् त भौगालिक वातावरण को दिखलाता है, दूसरा यह कि यह सूक्त वैदिक युग की ऐतिहासिक प ष्ठभूमि पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार यह भारत के तत्कालीन निवासियों के जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। वेदोक्त धर्म का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह विचार किया है कि वेद में एकदेववाद या बहुदेववाद नहीं माना जा सकता अपितु हीनोथीज्म (Henotheism) मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। भाव यह है कि कवि जिस देव के प्रति भक्तिभाव प्रकट करता है उसे ही श्रेष्ठ समझ लेता है।इसप्रकार का भक्तिभाव एकदेववाद से भिन्न

है। जहाँ एकदेववाद में केवल एक ब्रह्म या ईश्वर के प्रति भक्ति का भाव है यहाँ हीनोथीज्म में किसी एक उपास्य देव को सर्वश्रेष्ठ मान लिया जाता है। यही Henotheism अर्थात् उपास्यश्रेष्ठतावाद है।मैक्समूलर की दृष्टि से वेद तत्कालीन भूगोल, इतिहास, धर्म, संस्क ति आदि के ज्ञान के विषय में प्रमाण कहे जा सकते हैं, इनका प्रामाण्य ऐतिहासिक दृष्टि से ही है।

ii. इसी क्रम में टी. एच. ग्रिफिथ, व्हिटनी, लुडविंग, पिशल तथा गैल्डनर का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं :

क्र0 सं0	नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
1	टी. एच. ग्रिफिथ		
2	व्हिटनी		1.Atharva- veda Samhita (Prof. Rudolf Von RothAnd W.D. Whitney, Berlin,1856). 2. The Saunakiya Chaturadhyayika of theAtharva Veda Pratisakhya. (Text, translation,And notes, Journal of the.MericUn Oriental Society, Vol. VII, 1862) 3.तैत्रीय प्रातिशाख्य (Ed. JAOS, 1871) 4.i. Vedic Researchers in Germany ii. History of the Vedic Texts (First Published in the Journal of the.MericUn Oriental Society, Vol. III & IV).
3	लुड्विग		Pischel- Geldner: Vedische Studien(Vedic Studies) Stuttgart, 1889- 1897,2 Vols
4	पिशल		प्राकृत भाषाओं का व्याकरण
5	गैल्डनर		

5) टी० एच० ग्रिफिथ

ये संरकृत कॉलेज बनारस में प्रिंसिपल के पद पर कार्य करते रहे। इन्होंने वाल्मीकि रामायण का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा चारों वेदों का अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत कियाइन्हें आधुनिक युग का सायण कहा जाता है। स्वामी दयानन्द ने जो नमूने का भाष्य लाहौर में पंजाब गवर्नमेण्ट को भेजा था उस पर भी ग्रिफिथ साहब ने विचार प्रस्तुत किये थे। और, उसके पश्चात् भी राजा शिवप्रसाद तथा स्वामी दयानन्द के विचार–विनिमय में ग्रिफिथ साहब का नाम लिया जाता रहा।

ग्रिफिथ साहब ने सायण–भाष्य का आश्रय लेते हुए भी यूरोप के विद्वानों की व्याख्याओं का यथोचित् उपयोग किया है। वे लिखते हैं मेरा अनुवाद जो मैक्समूलर के अनुपम छः जिल्दों वाले संस्करण का अनुसरण करता है, आंशिक रूप में महान् विद्वान् सायण के कार्य पर आधारित है। वे यह भी बतलाते हैं कि इस अनुवाद में सायण–भाष्य को बौद्धिक सम्भावना, प्रसङ्ग और समान शब्दों तथा अवतरणों की तुलना से संशोधित तथा नियन्त्रित भी किया गया है। इसके लिये यूरोप के वेद–भाष्यकारों की सहायता ली गई है। ऋग्वेद के अनुवाद के समान ही उन्होंने अन्य वेदों के अनुवादों में भी मध्यकालीन वेद–भाष्यों का आश्रय लिया है। यजुर्वेद के अनुवाद के विषय में वे कहते हैं कि इसमें महीधर भाष्य का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार, जैसा कि प्रस्तावनाओं से विदित होता है, सामवेद के अनुवाद में भी सायण भाष्य का तथा अथर्ववेद के अनुवाद में भी मध्यकालीन भाष्यों का, और आधुनिक यूरोप के विचारों का भी आश्रय लिया गया है।

ग्रिफिथ वेदों में प्राचीन आर्यों के धार्मिक विश्वासों और ऐतिहासिक तथ्यों की कुछ सूचनाएँ स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं– ''ऋग्वेद के कुछ मन्त्र आर्यों के भारत में पूर्ण रूप से बस जाने से पहली अवस्था को प्रकट करते हैं। उन्होंने वेबर का मत दिखलाते हुए वह भी बतलाया कि आर्यों का उत्तरी भारत में फैलना सरस्वती के पार गङ्गा तक पहुंचना इत्यादि वेदों में उपलब्ध होता है। उनकी दृष्टि में काव्यात्मकता की अपेक्षा वेद का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। वेद में वर्णित धार्मिक विश्वास इत्यादि ईसाई मत के आरम्भ से पूर्व के यूरोपीय देशों के धर्म पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। साथ ही तुलनात्मक भाषा–विज्ञान का ज्ञान वेद के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं है।''

6) व्हिटनी

संस्कृत के अनेक क्षेत्रों में व्हिटनी की विशिष्ट देन है। वेद के क्षेत्र में भी उनके कुछ उल्लेखनीय कार्य हैं। उन्होंने वैदिक ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य किया है और वेद–संहिता का अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वैदिक विषयों पर कुछ लेख भी लिखे हैं। इसके अतिरिक्त व्हिटनी ने अथर्ववेद संहिता का अनुवाद किया था, जो बाद में उनके शिष्य द्वारा 1605 में (2 जिल्दों में) प्रकाशित कराया गया।

व्हिटनी की दृष्टि में वेद वह आधार प्रस्तुत करते हैं, जिस पर प्राचीन और अर्वाचीन भारत–सम्बन्धी ज्ञान का प्रासाद निर्मित किया जा सकता है। उन्होंने वेदविषयक पाश्चात्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा भी की है। उनके अध्यवसाय की प्रशंसा करते हुए भी वे कहते हैं कि कोलबुक द्वारा किया गया वैदिक विषयों का विवेचन किसी अंश में त्रुटिपूर्ण है। इसी प्रकार प्रो० रॉथ और डा० वेबर के वेद–विषयक प्रतिपादन पूर्ण नहीं कहे जा सकते।व्हिटनी ने वेदों के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हुए वेदों से प्रकट होने वाले भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार वेदों में आयों के भारत में प्रथमतः आगमन काल के मुख्य स्थानों का वर्णन उपलब्ध होता है। फलतः यहाँ सिन्ध और प जाब आदि का वर्णन है। गङ्गा का उल्लेख तो है, किन्तु दसवें मण्डल में ही।

विवेचन से यह विदित होता है कि व्हिटनी की दृष्टि में वेदों से प्राचीन मानव विशेषकर आर्यों के धर्म, सभ्यता, भौगोलिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों आदि के विषय में कुछ सुचनाएँ प्राप्त होती है। अतः उसी विषय में इन्हें प्रमाण कहा जा सकता है।

7) लुड्विग, पिशल तथा गैल्डनर :–

इन तीनों जर्मन विद्वानों की गणना विख्यात प्राच्य–विद्या–वेत्ताओं में की जाती है। लुड्ङ्खग ने समस्त् ऋग्वेद का अनुवाद किया जो विस्तृत टिप्पणियों से युक्त है। यह अनुवाद प्राग से 1876–88 में प्रकाशित हुआ। इसकी विस्तृत भूमिका में उनके वेद–सम्बन्धी विचार देखे जा सकते हैं। पिशल का परिचय प्राकृत भाषाओं का व्याकरण नामक ग्रन्थ के आदि में अनुवादक हेमचन्द्र जोशी ने दिया है। तदनुसार पिशल सरल तथा विनम्र भी थे। ये प्रारम्भिक शिक्षाकाल में ही संस्क त के अध्ययन की ओर आकष्ट हुएँ इन्होंने De Kalidasse Cakuntali Recensionibus नामक कति पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ये ब्रेजला–विश्वविद्यालय में भारतीय–विद्या–विभाग के रीडर पद पर नियुक्त हुए और बाद में कील विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे। वेबर के पश्चात् ये बर्लिन विश्वविद्यालय में चले गये। अपने जीवन काल में पिशल क्तिनी ही विश्व–विख्यात संस्थाओं के सदस्य रहे। इन्होंने जर्मन भाषा में प्राच्य–विद्याओं के विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्राकृत भाषाओं का व्याकरण नामक ग्रन्थ पिशल की श्रेष्ठ कृति मानी जाती है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है। इनमें वैदिक स्टडीज नामक कति पिशल तथा गैल्डनर के नाम से प्रसिद्ध है।

गैल्डनर ने अपने जीवन का बहुत समय वैदिक अध्ययन में लगायाँ उनकी कृतियों में ऋग्वेद का सटिप्पण जर्मन अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है जो उनके देहावसान के पश्चात् प्रकाशित हुआ। पिशल तथा गैल्डनर के वैदिक स्टडीज नाम से जो ग्रन्थ प्रकाशित उसमें वेदों की परम्परागत व्याख्याओं के महत्त्व और विश्वसनीयता के विषय में एक लम्बे विवाद का वर्णन भी मिलता है। कुछ परवर्ती इतिहास से वेद के प्रतिपाद्य विषय तथा वेद–प्रामाण्य–विषयक इनकी धारणाओं का परिचय मिल सकता है।

जैसा कहा जा चुका है वेद के अर्थ के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की तीन प्रकार की धारणाएँ मिलती है। रॉथ जैसे विद्वान् मानते हैं कि भाषा–विज्ञान तथा तुलनात्मक आलोचना शास्त्र के आधार पर वेदों का कहीं अधिक गम्भीर एवं यथार्थ तात्पर्य दिखलाया जा सकता है। आज के अनुसन्धान कर्त्ता इस विषय में मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। उनके अनुसार भारतीय परम्परा और पाश्चात्त्य अन्वेषण दोनों के आधार पर ही वेदों का यथार्थ खोजा जा सकता है। इन मध्यमार्गियों में लुड्विग प्रमुख है। उनके परवर्ती पिशल तथा गैल्डनर ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

इस विषय में पिशल तथा गैल्डनर के कुछ विचार वैदिक स्टडीज में उपलब्ध होते हैं। उनका विचार है ऋग्वेद के समय भारतीय जन जिस संस्कृति के उत्कर्ष पर पहुँच गए थे वह उस संस्क ति से कुछ विशेष भिन्न नहीं है, जो भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय थी। इस विचार की विन्टरनिट्ज ने समीक्षा की है। इससे यह विदित होता है कि इन सभी के विचार में वेदों से कुछ ऐतिहासिक और धार्मिक सूचनाएँ प्राप्त होती है और उसी विषय में जो ये प्रमाण माने जा सकते हैं।

iii. इसी क्रम में आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल, ओल्डनबर्ग, ब्लूमफिल्ड, एम. विंटरनित्ज तथा ए. बी. कीथ का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं :

क्र0 सं0	नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
1	आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल		1.Critical Edition of Sarvanukramani. 2.A History of Sanskrit Literature 3. Critical EditionAnd Translation of Brhaddevata. 4. Vedic Grammar 5. Vedic Index (Joint Editor). 6. Vedic Mythology 7.A Vedic Reader
2	ओल्डनबर्ग		1. Hymnen des Rgeda. 2. Vedic Hymns (Motilal Banarsidass, Delhi, 1973) 3. The Religions of the Veda (Religion des Veda). 4. Ancient India, Its lUnguageAnd Religion.
3	ब्लूमफील्ड		1. अथर्व संहिता (पिप्पलाद शाखा) (प्रो० ब्लूमफील्ड तथा डा० गार्वे, जर्मनी, 16०1) 2. Hymns of theAtharva- Veda (Sacred Books of the East Vol. XLII (Motilal Banarasidas, Dehi, 1973) 3. Revedic Repetitions (HarvUrd Oriental Series, Vol. X, 1906) 4. TheAtharva- VedaAnd Gopatha Brahmana. 5. The Vedic VUrians (M. Bloomfield & Edgerton, F.) (Ling. Soc.Am., 1930- 34).
4	एम. विंटरनित्ज		1. Ein HymnusAn Savitar, (Arch, Or 3, 1931). 2.Ancient Indian Ballad Poetry, (CR, Dec., 1923). 3.A Concie Dictionary of Eastern Religions, (being the index volume to Sacred books of the East Series, London, 1925). 4. RaceAnd Religion, (Pr. Bh. 42,Aug. 1937) 5. Ethics in Brahmanical literature, (Pr. Bh. 41, Feb. 1936) 6. Indian under Western, (Arch. Or 7, 1935) 7.A History of Indian Literature,

			(Calcutta University, 1927, 33) 8. Indeological Pragnesia, 'Edited Winternitz, M.And Stein, O. (Pub. Rohrer, Brunn, 1929)
5	ए. बी. कीथ		1. TheAitaeyaAranyaka 2. ReligionAnd Philosophy of the VedaAnd UpUnishads 3. Rigveda Brahmanas : TheAitareyaAnd Kausitaki Brahmanas of Rigveda 4. Veda of BlEck Yujus School entitled Taittiriya Samhita (Translation) 5. SamhayanaAranyaka withAndAppendix on the Mhavrata 6. AitareyaAranyaka (ed.) 7. Vedic Index of n.MesAnd subjects (Macdonell & Keith)

8) आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल :

आर्थर एण्टनी मैक्डॉनल का जन्म 11 मई, 1854 को हुआ था। वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में बोडन (Boden) प्रोफेसर रहे तथा संरकृत–विभाग के अध्यक्ष भी। उन्होंने संरक त वाङ्मय विशेषकर वैदिक साहित्य का सतत अनुसन्धान करके त्तिने ही ग्रन्थ–रत्न हमें प्रदान किये।ये सभी ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में है जिनमें से अधिकांश का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो चुका है।यहाँ यही विचार करना है कि वेदों की प्रामाणिकता के विषय में उनकी क्या राय है? हालाँकि उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता पर स्पष्ट रूप से अपनी राय व्यक्त की हालाँकि, उनके द्वारा लिखित संरक्त साहित्य का इतिहास और वैदिक पाठक आदि का खुलासा नहीं किया गया के आधार पर उनके एतद्विषयक मन्तव्यों को देखा जा सकता है।

पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि यह रही है कि जिस प्रकार साहित्य के किसी अन्य अंग में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का प्रतिबिम्ब होता है, इसी प्रकार वेदों में भी विद्यमान है। इस धारणा के अनुसार वेद भी अपने समय की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का बोध कराते हैं, हाँ, कहीं–कहीं वेद के वर्णन अलङ्कारात्मक हैं या मिथ (माइ्योलाजिकल) मात्र हैं वहाँ ये धार्मिक या सामाजिक दशा का भी यथार्थ चित्रण नहीं करते। मैक्डॉनल भी इसी धारणा के आधार पर किन्हीं सन्दर्भों में वेद की प्रामणिकता को स्वीकार करते हैं। ये मानते हैं पुरातन युग की अन्य साहित्यिक क तियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मानवों की धार्मिक विचार धारा को अङ्कित करने वाले ये ही दो ग्रन्थ (ऋग्वेद, अथर्ववेद) कहे जा सकते हैं, और इनका महत्त्व उन पाठकों के लिए अपरिमित है जो मानव जाति के धार्मिक विश्वासों के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में वे कहते हैं ''विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक विधियों पर रचित्त ग्रन्थों में से सर्वप्राचीन होने के नाते ये ग्रन्थ धर्म के इतिहास के अध्येता के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। इनमें भारतवर्ष की

प्राचीन परिस्थिति के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।

इस प्रकार मैक्डॉनल की दृष्टि में वेदों का प्रामाण्य ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से ही कहा जा सकता है। इनमें भिन्न–भिन्न युगों की मानव जाति के धार्मिक विश्वासों, सामाजिक आचारों और देश की विभिन्न भौगोलिक अवस्थाओं का वर्णन है। उसी के विषय में ये काव्य आदि के समान प्रमाण कहे जा सकते हैं, किन्तु इनमें जो कहीं–कहीं केवल आलङ्कारिक वर्णन हैं, अथवा मिथक हैं. वे स्वतन्त्र रूप से अपने प्रतिपाद्य विषय में प्रमाण नहीं हैं।

9. ओल्डनबर्ग

जर्मनी के वैदिक विद्वानों में ओल्डनबर्ग का नाम उल्लेखनीय है। वह भारतीय विद्याओं के बहुमुखी विद्वान् थे। उनके अनेक लेख तथा ग्रन्थ वैदिक विषयों पर उपलब्ध होते हैं। उन्होंने ऋग्वेद पर बड़ी मार्मिक तथा विवेचनापूर्ण व्याख्या की है तथा ऋग्वेद के छन्द तथा अन्य विषयों का भी विवेचन किया है। उनके ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है।

ओल्डनबर्ग केवल वैदिक विषयों के ही विद्वान् नहीं हैं, पालि भाषा के भी वे माने हुए विद्वान् है। उनका विनयपिटक का संरकरण, उसका विद्वत्तापूर्ण अनुवाद तथा अन्य लेख इस विषय में उल्लेखनीय हैं। उनका 'Buddha, His Life, His Teachings' नामक ग्रन्थ बौद्ध–मत के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देता रहा है। यहाँ तो केवल ओल्डनबर्ग के उन विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है जिनसे उनकी वेद–सम्बन्धी धारणाओं का परिचय मिल सकता है।

सामान्यतः ओल्डनबर्ग ने ऋग्वेद के विषय में 'रिलिजन देस वेद' नामक निबन्ध में इस प्रकार के विचार प्रकट किये है– ''भारतीय साहित्य के इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें उत्तरोत्तर बौद्धिक शक्तिहीनता के दर्शन होते हैं। वैदिक आर्यों के पूजा–मन्दिर नहीं होते थे। वे खुले मैदान में घास बिछाकर यज्ञाग्नि प्रज्वलित करते थे और वे जंगली पुरोहित अपने जंगली देवताओं का आह्वान करते थे। वेदों में वर्णन है कि वे देवता अपने रथों पर बैठकर आकाश मार्ग से आते थे और यज्ञ में पुरोडाश, घी और मांस का भक्षण करते थे और मादक सोमरस पीकर साहस और दिव्यशक्ति प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के कवि प्राचीनकाल की परम्परा का अनुकरण करते हुए महान् धूमधड़ाके वाले सोमयाग के लिए मन्त्ररचना करते थे। वे देवताओं के लिये अतिशयोक्तिपूर्ण लच्छेदार विशेषण पर विशेषण दिये जाते थे। ऐसी कविता कर्मकाण्ड में दक्ष पुरोहित वर्ग में ही जन्म ले सकती हैं।''

इस विषय में केगी (Kaegi) के विचारों को प्रस्तुत करते हुए विन्टरनिट्ज ने इन दोनों के विचारों को ही परम्परा विरोधी दो छोरों के विचार कहा है। वस्तुतः इस प्रकार के विचार अतिशयोक्तिपूर्ण ही कहे जा सकते हैं। ओल्डनबर्ग के 'दि रिलिजन ऑफ दि वेद' (रिलिजन देस वेद) नामक निबन्ध से उनके वेदविषयक अन्य विचारों का भी परिचय मिलता है।

ओल्डनबर्ग के अनुसार वैदिक देवता एँव वैदिक यज्ञ धर्म की मौलिक रचनात्मक शक्ति के आदिम तथा पारदर्शक रूप नहीं हैं अपितु सूक्ष्म परीक्षण से प्रतीत होता है कि ये अधिकांश भागों में पुरातन, धुंधली और जटिल रचना के रूप में उभर कर आते हैं। वे यह भी कहते हैं सुदूर अतीत से वैदिक काल पर्यन्त किसी प्रकार रहने वाला भारत के प्रारम्भिक धर्म का स्वरूप अवश्य ही असम्य धर्म का रूप है।

उन्होंने अपने इस मन्तव्य की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है और उदाहरण भी प्रस्तुत किये है।

10) ब्लूमफील्ड

ब्लूमफील्ड ने भारतीय विद्याओं में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन में उनका बड़ा हाथ रहा है। साथ ही वेद–मन्त्रों का अनुवाद भी उन्होंने किया है, वेद के विषय में कुछ विवेचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं तथा अन्य विषयों पर भी कार्य किया है। ब्लूमफील्ड ने 'सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' (42) में अथर्ववेद के सूक्तों को दस वर्गों में विभक्त किया है, किन्तु अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण में इसका चौदह वर्गो में विभाग किया गया है। इन सभी विषयों को संक्षेप में कुछ वर्गो में रक्खा जा सकता है, जैसे (1) अमङ्गल–निवारण (2) उत्कर्ष की कामना (3) स्त्री–सम्बन्धी (4) यज्ञ–सम्बन्धी (5) मनो जन–सम्बन्धी (6) दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ आदि।

1) **अमङ्गल निवारण** : अथर्ववेद के कुछ सूक्तों में ऐसे अभिचार कर्म का वर्णन है जिससे विविध प्रकार के रोग तथा प्रेत आदि से मुक्ति दिलाई जा सकती है। ब्लूमफील्ड ने अनेक मन्त्रों और सूक्तों के सन्दर्भ में इस विषय का विवेचन किया है। कुछ सूर्ती में दैत्यों, अभिचारकों तथा शत्रुओं से बचाव के लिये भी किन्हीं अभिचारों का वर्णन देखा गया है। इसी प्रकार किन्हीं सूक्तों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि वहाँ पाप एवं अशुद्धि के दुष्परिणाम से बचने के लिये प्रायश्चित्तों का विधान है। ''दुःस्वप्नों एवं स्वप्नकल्पित भयों के विरुद्ध प्रयुक्त अभिचार भी इसी क्षेत्र में आ जाते हैं।''

2) **उत्कर्ष की कामना** : उनके अनुसार कुछ सूक्तों में दीर्घायु के लिये प्रार्थना की गई है। कुछ में स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये भी। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सफलता, सभा में प्रभाव आदि के विषय में भी कुछ मन्त्र उपलब्ध होते हैं। राजकर्म–विषयक मन्त्र तथा ब्राहाणों के हित के लिये की गई प्रार्थनाएँ भी इसी वर्ग में रक्खी जा सकती है। किन्हीं सूक्तों में सम द्धि प्राप्त करने वाले विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये अभिचार कर्म का वर्णन दिखलाई देता है।

3) **स्त्री–सम्बन्धी** : यद्यपि स्त्री–सम्बन्धी मन्त्रों एवं सूक्तों को प्रथम वर्ग में ही रक्खा जा सकता है, तथापि किन्हीं विशेषताओं के कारण इन्हें अलग रक्खा गया है। इन सूक्तों में विवाह–मन्त्र, स्त्री–पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करने वाले मन्त्र (वशीकरण अभिचार) इत्यादि को रक्खा गया है।

4) **यज्ञ–सम्बन्धी** – अथर्ववेद का श्रौत अनुष्ठानों से क्या सम्बन्ध रहा है? इस पर विचार करके लेखक ने बताया है कि इस वेद का श्रौत विधियों से पर्याप्त परिचय है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर भी, श्रौत सूत्रों में वर्णित क्रियाकलाप के आधार पर ही यज्ञ–सम्बन्धी सन्दभों की व्याख्या की जा सकती है। ब्लूमफील्ड ने बहुत से सूक्तों में हविष आदि के वर्णन दिखलाये हैं और कहा है – इन स्थलों में विशेष प्रकार की याज्ञिकता उभरी है।

5) **मनोरजन सम्बन्धी** : इस प्रकार के सन्दभों में ब्लूमफील्ड ने विशेष रूप से कुन्ताप सूक्तों का उल्लेख किया है। कुन्ताप शब्द का वास्तविक आधार स्पष्ट नहीं है। इन सूक्तों में कुछ पहेलिया हैं, कुछ रोचक आख्यान हैं और कुछ

हंसी ठट्टे, कुछ अश्लील वचन भी यहाँ मिलते हैं। ये मनोर जन के साधन कैसे हैं? यह दिखलाते हुए लेखन ने कहा है ''कुन्तापवर्ग के हारयोत्पादक और नीरस साहित्य का दानस्तुति, नाराशंसी और आख्यान से गठजोड़ प्रतीत होता है. . . . . इस प्रकार दानस्तुतियाँ तथा नाराशंस्य उन आनन्दमय तत्त्वों में से हैं, जो यज्ञ के गम्भीर पावन अनुष्ठानों को उस जन–क्रिया–कलाप के साथ मिलाते हैं, जिसे हम किसी उपयुक्त शब्द के अभाव में याज्ञिक मनोर जन कह कर पुकार सकते हैं।''

6) **दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ** : इनमें कुछ सृष्टि–विषयक सूक्त हैं। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त (ऋ० 1०. 6०) अथर्ववेद (18. 6) में भी कुछ पाठान्तर के साथ मिलता है। इसके समान कुछ अन्य सूक्त भी हैं। ''यहाँ सर्ग के हेतु पुरुष की उत्पत्ति, स्वरूप, उसके शरीर के अङ्गो और उसके अन्य शारीरिक स्वरूप के विषय में अनूठा चिन्तन है। कुछ सक्तों में पूछे गये प्रश्न प्रजापति ब्रह्मा का लक्ष्य करते है। लेखक की दृष्टि में कुछ सूक्त आत्मा और ब्रह्मा का तादात्म्य स्थापित करते हैं, जिनकी भावना उपनिषदों के समान है। रकम्म के प्रति जो दो सूक्त (1०, 7, 8) कहे गये हैं इनमें सृष्टि के चरम कारण का अधिक सूक्ष्म सङ्केत है।

   इसी प्रकार कुछ सूक्तों में आत्मा के ज्ञान को मानव जीवन का लक्ष्य बतलाया गया है और कहीं ब्रह्मा को सर्वोच्च तत्त्व कहा गया है। ब्लूमफील्ड की दृष्टि में अथर्ववेद में कुछ ऐतिहासिक, सांरकृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक सन्दर्भ मिलते हैं। इन सबसे इस वेद का इन्हीं विषयों में प्रामाण्य सूचित् होता है। अन्य वेदों के विषय में भी सम्भवतः यही कहा जा सकता है।

11) एम. विंटरनित्ज

विन्टरनिट्ज ने उपलब्ध वेद–सम्बन्धी ऐतिहासिक ग्रन्थों में कुछ अपूर्णताएँ देखीं और भारतीय साहित्य का समीक्षात्मक परिचय देने के लिये INDISCHE LITTERATURE नाम का ग्रन्थ जर्मन भाषा में लिखा, जिसके अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद किये गये। इस ग्रन्थ में लेखक का लक्ष्य यह रहा है ष्भारतीय वाङ्मय का इतिहास साथ ही साथ भारतीय वाङ्मय की एक रूपरेखा भी हो जरूरी है।ष् इसके अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी है जिनमें कोष–ग्रन्थ, काव्य–समीक्षा, धर्म–मीमांसा के साथ–साथ वैदिक सूक्तों की व्याख्या भी सम्मिलित है।

ऋग्वेद में क्या हैं? इस विषय में केगी तथा ओल्डनबर्ग के विचारों की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं ''इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इन सूक्तों की प्रचुर संख्या का वैदिक यज्ञ–याग से कुछ सम्बन्ध नहीं है उनमें सचमुच उस प्राचीन युग की धार्मिक भावना अब भी प्राणवती है।'' वेदों का प्रामाण्य किस विषय में है यह बतलाते हुए उन्होंने कहा है ''भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एवं विकास को जानने के लिए तथा इण्डो–यूरोपियन जातियों के गाथा–विज्ञान को समझने के लिए और विश्व भर के प्रागैतिहासिक मन को ह्रदयगत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतों से बढ़कर और कोई प्रमाण–ग्रन्थ हमारे पास अभी तक नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद से प्रारम्भिक देव–गाथाओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। वेद के कुछ देवों तथा धार्मिक धारणाओं का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है– ''प्राचीन

आर्यावर्त की धार्मिक धारणाओं के विवेचन का प्रथम रूप जानने के लिए इन वैदिक सूक्तों का महत्त्व बहुत अधिक है। काव्यदृष्टि से भी इनका विश्व साहित्य में अपना ही स्थान है।''

विन्टरनिट्ज के अनुसार आर्यावर्त के प्राचीन धार्मिक विश्वासों के साथ साथ कुछ अन्य तथ्यों का भी वेद से ज्ञान होता है। उनकी दृष्टि में सभी वैदिक सूक्त यज्ञ–याग आदि के लिए नहीं है। कुछ सूक्त विशुद्ध देव–स्तुति के लिए लिखे गये हैं। और, ये जो देव–स्तुतियाँ हैं उनमें प्रयुक्त देवता कोई प्राक तिक तत्त्व भी हो सकता है। उदाहरणार्थ इन्द्र और व त्र के युद्ध का यथाश्रुत वर्णन करते हुए वे कहते हैं ''उसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्र–व त्र के इन युद्धों में कोई बड़ी प्राक तिक घटना ही निबद्ध है।'' इस विषय में उन्होंने भिन्न–भिन्न इतिहासकारों के मत भी प्रस्तुत किये हैं कि इन्द्र से उन्हें क्या अभिप्राय लेना अभीष्ट है। इन देव–सम्बन्धी वैदिक वर्णनों में आलङ्कारिक वर्णन भी है– ''सचमुच, यदि इन अग्निगाथाओं का विश्लेषण किया जाए, तो इनका स्पष्ट उद्‌भव कवियों के इन्हीं रूपकों तथा अन्य अलङ्कारों में हम पाएँगे।''

ओल्डनबर्ग के अनुसार इन्हें आख्यान–सूक्त कहा जा सकता है। अन्य कुछ विद्वान् भी इनसे सहमत हैं। किन्तु हर्टर और श्रेडर की स्थापना है कि ये सूक्त वैदिक कर्मकाण्डों के प्रसंङ्ग में खेले गये नाटकादि के अवशेष हैं। विन्टरनिट्ज का मत है ''यह संवाद–साहित्य वस्तुतः भारत की प्राचीन वीरगाथाकाव्य है, जिसके उदाहरण हमें अन्य देशों के साहित्य में भी मिलते हैं।'' उन्होंने वेद के इस प्रकार के कई सूक्तों का विश्लेषण भी किया है, जैसे पुरूरवस् और उर्वशी के आख्यान का और यम यमी के आख्यान का।

ऋग्वेद के कुछ सक्तों से लौकिक तथा तन्त्र–मन्त्र सम्बन्धी विषयों का भी ज्ञान होता है, जैसे छूत सम्बन्धी सूक्त (1०. 34) से छूत के परिणाम तथा द्यूतकर की कर्मदशा का परिचय मिलता है। कुछ सक्तों से मुर्दे को गाड़ने का संकेत मिलता है। सूर्यासूक्त (1०. 8. 5) आदि से विवाह पद्धति – सम्बन्धी कुछ संकेत मिलते हैं। विवाह–सम्बन्धी आशीर्वादों में कुछ तन्त्रात्मक बातें भी हैं। ऐसे तन्त्रात्मक विषय धार्मिक गीतों तथा यज्ञपरक मन्त्रों के बीच में इधर–उधर बिखरें पड़े हैं। कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जिनसे धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के विषयों का ज्ञान होता है ''ऋग्वेद की विषय–वस्तु के प्रसङ्ग में हम अन्त में दानस्तुतियों को लेते हैं, जो धार्मिक तथा लौकिक काव्य को जोड़ने वाली एक कड़ी हैं।''

ऋग्वेद से तत्कालीन दार्शनिक विचारों का भी कुछ बोध होता है। वहाँ स ष्टि और सष्टा के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन मिलता है। ''ऋग्वेद के सूक्तों से सम्पूर्ण चराचर की एकात्मता का पूर्वाभास हमें मिल जाता है।''ऋग्वेद की विषय–वस्तु का विहङ्गम दृष्टि से अवलोकन करते हुए भी उन्होंने ऋग्वेद किस विषय में प्रमाण हो सकता है, यह दिखलाया है, वेद में काव्यात्मकता, आलङ्कारिता, आख्यानात्मकता होते हुए भी प्राचीन आर्यों के विश्वासों, संस्कृति और सभ्यता के विवरण प्राप्त होते हैं। उस विषय में ये प्रमाण हैं ही। किन्तु विन्टरनिट्ज का विचार है ष्ऋग्वेद, और कुछ हो–सो–हो एक नीति–रत्न–माला कदापि नहीं हैष। वे वैदिक कालीन आर्यों को असभ्य गड़रिये तथा जंगली मानने वाले या उन्हें अत्यन्त सुसंस्क त समझने वाले विद्वानों के साथ अपनी असहमति प्रकट करते हैं।

अथर्ववेद पर विचार करते हुए वे इसमें धार्मिक, लौकिक, भौगोलिक और ऐतिहासिक अनेक विषय देखते हैं। उनके अनुसार अर्थर्ववेद में गङ्गा की घाटी के कुछ सङ्केत मिलते हैं ''वैदिक आर्य लोग अब दक्षिण–पूर्व की ओर गङ्गा के क्षेत्र तक पहुँच चुके हैं।'' उस स्थल के चीते शेर जैसे पशुओं का भी इस वेद से ज्ञान होता है। अथर्ववेद में ऋग्वेद के देवताओं का स्वरूप बदल गया है – ''अथर्ववेद के मन्त्र उनकी स्तुति–उपासना विशेषतः भूतों –प्रेतो, बीमारियों को भगाने व नष्ट करने के लिए ही करते हैं।'' अथर्ववेद में लोकप्रिय धर्म, जन–धर्म, का विवरण है। ''एक ऐतिहासिक के लिए अथर्ववेद का महत्त्व क्या है, यह अथर्ववेद की विषय–सूची पर एक विहङ्गम दष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है।''

12) ए० बी० कीथ

प्रोफेसर कीथ अपनी अनूठी और गहन विद्वत्ता के कारण संरक्त जगत् में प्रसिद्ध है। उन्होंने बाडन संस्क त स्कालर के रूप में कार्य किया तथा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संरकृत के कार्यवाहक डिप्टी प्रोफेसर के रूप में भी। उन्होंने कई ग्रन्थों के सम्पादन किये हैं, कई के अनुवाद किये हैं और क्तिने ही खोजपूर्ण ग्रन्थ तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। इनके अतिरिक्त उनकी अनेक शोधात्मक रचनाएँ हैं जिनमें से कुछ लेख विभिन्न शोध–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए है। इनमें से संख्या 2 का ''वैदिक धर्म एवं दर्शन'' नाम से हिन्दी भाषा में अनुवाद हुआ है।

वैदिक धर्म एवं दर्शन नामक ग्रन्थ से प्रोफेसर कीच के वेद–विषयक विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि से ऋग्वेद भारतीय धर्म का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद एक ऐतिहासिक संहिता हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल पर विचार करते हुए वे कहते हैं ''धार्मिक विकास के साथ साथ इस मण्डल में सामाजिक विकास भी पाया जाता है. . . . . इसी मण्डल में हमें सर्वप्रथम चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने विकसित् रूप में देखने को मिलते हैं।'' एक मत के अनुसार ऋक्–संहिता का धर्म आर्य धर्म नहीं अपितु आदिवासियों का धर्म ठहरता है। ऋग्वेद में तत्कालीन लोक धर्म का संकेत मिलता है। साथ ही यहाँ ऐसे सूक्त भी है जिनका सम्बन्ध पितृ–पूजा के साथ है। वस्तुतः ''ऋग्वेद एक ऐतिहासिक संकलन है न कि याज्ञिक और इसकी व्याख्या इसी दृष्टि से करनी वांछनीय है।''

कीथ का विचार है कि यद्यपि सभी संहिताओं में यातु–क्रियाएँ किसी अंश में विद्यमान हैं तथापि का इनसे गहन सम्बन्ध है और यज्ञ–क्रियाओं से कर्म अथर्ववेद में जीवन के विविध पक्षों का सङ्कलन है। स्वास्थ्य, अपत्य–प्राप्ति, प्रेम–प्रसङ्ग, रोग निवारण, धन–प्राप्ति तथा कुछ सिद्धियों का भी यहाँ वर्णन है। विवाह और अन्त्येष्टि आदि के सूक्त यहाँ अधिक विस्त् त हो गये है। ''निश्चय ही अथर्ववेद में धार्मिक जीवन के अपेक्षाक त निम्न स्तर की साधनाओं का उल्लेख है।''

प्रो० कीथ ने चारों मन्त्र–संहिताओं के काल में अन्तर दिखलाते हुए उनसे प्रकट होने वाले धर्म और संरक ति में भी अन्तर स्पष्ट किया है। वेदों के आधार पर उन्होंने भौगोलिक स्थिति में भी भेद दिखलाया है। वे कहते हैं कि वेदकालीन संस्कृति का केन्द्र सतलुज और यमुना की मध्यस्थ कुरुभूमि थी, किन्तु ब्राह्मणों में पंचाल आदि प्रदेश को भी महत्त्व दिया जाने लगा था। वक्षों, पशु–पक्षियों तथा सामाजिक परिस्थिति पर भी वेदों से प्रकाश पड़ता है। उनका कहना है कि

उत्तरोत्तर वर्ण–व्यवस्था अधिकाधिक उलझती गयी। ''यजुर्वेद में बहुसंख्यक वर्षों की सूची मिलती है जो कुछ हद तक वंशानुगत अथवा जन्मजात प्रतीत होती है।'' उनका यह भी कहना है कि सामाजिक विकास के साथ साथ धन–सम्पत्ति की वृद्धि हुई और यज्ञों का भी अधिक विस्तार होता गयाकीथ का कहना है कि वैदिक देवताओं का स्वरूप तथा महत्त्व भी संहिताओं में भिन्न–भिन्न प्रकार से देखा जाता है। धर्म के विकास की अवस्था भी वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट होती है। परवर्ती संहिताओं में देवाख्यान और धर्म के ऊँचे स्तर के विषय में कम सामग्री मिलती है और यज्ञानुष्ठान के विषय में अधिक। साथ ही वहाँ यातु–विद्या अत्यधिक मात्रा में है।प्रो० कीथ के विचारों से यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में वेद से कुछ भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक तथ्यों का बोध होता है। फलतः वेद इन्हीं विषयों में प्रमाण कहे जा सकते हैं।

iv. इसी क्रम में मैक्स बेबर, ए. हिल्याण्ट तथा डब्ल्यू. कैलैण्ड का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं :

क्र0 सं0	नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
1	मैक्स बेबर		
2	ए. हिल्याण्ट		1. Vedische Mythologie 2. The Ritual Literature Nedische forAnd Zuber
3	डब्ल्यू. कैलैण्ड		1. DerArsheyakalpa des Samved 2. Uber das rituella Sutra des Baudhayan Vaitan sutra desAtharvaveda

13) वेबर

डॉ. वैबर का जन्म सन् 1825 में जर्मन देश के बर्लिन शहर में हुआ था। जर्मन देशवासी इस संरक त विद्वान् ने मात्र 2० वर्ष की आयु में Yajurveda specimen cum commentorio विषय पर Bresian विश्वविद्यालय से ची. व. की उपाधि प्राप्त की। Ph.D. उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् डॉ. वैबर ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक साहित्य के सम्पादन हेतु समर्पित कर दियाँ वैदिक साहित्य के क्षेत्र में यजुर्वेद उसके ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थों के सम्पादन का श्रेय डॉ. वैबर को ही है।

यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता की काव्य तथा माध्यन्दिन शाखाओं के महीधर भाष्य सहित सम्पादन करने के लिए डा. वैबर ने सात वर्ष तक निरन्तर श्रम कियापाण्डुलिपियों के आधार पर ग्रन्थों का सम्पादन एक दुष्कर कार्य है। यह दुष्कर कार्य यदि वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थ का हो तो दुरुहता और बढ़ जाती है। वैबर ने इस दुरूह और गुरुतर कार्य की सभी प्रकार से पूर्णता के लिए घोर परिश्रम कियाउन्होंने वाजसनेयी संहिता की उस समय उपलब्ध लगभग सभी पाण्डुलिपियों को देखा। इन पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिए डॉ. वैबर ने देश और विदेश के विभिन्न प्रसिद्ध पुस्तकालयों की खाक छानी। उन्होंने H.H. Wilson और Prof. Mill के व्यक्तिगत पुस्तक संग्रह का भी लाभ उठाया और तब जाकर 1852 में वाजसनेयी संहिता का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। इस

महनीय कार्य की सम्पन्नता का कुछ श्रेय बर्लिन की The RoyalAcademy of Science को भी जिसकी प्रेरणा और सहायता के कारण ही डॉ. वैबर का शोध कार्य निर्बाध सम्पन्ना हुआ।

14) ए. हिल्याण्ट

वैदिक पुराकथाशास्त्र के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण शोधपरक मान्यताओं के लिए अल्फ्रेंड हिल्याण्ट को सदैव याद किया जायेगा। इस जर्मन विद्वान् का जन्म 15 मार्च, 1853 को जर्मनी के ळतवेदंमकसपज्र नगर में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त हिल्याण्ट ने ठतमेसंन विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ कियाउसके पश्चात् म्यूनिख विश्वविद्यालय में अवेस्ता भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् मार्टिन हॉग के मार्गदर्शन में अपना अध्ययन जारी रखा। हॉग के सम्पर्क में रहते हुए हिल्याण्ट की वैदिक संरकार तथा देव शास्त्र में गहरी रुचि उत्पन्न हो गयी।1875 में हिल्याण्ट ने GoddessAditi विषय पर म्यूनिख विश्वविद्यालय से D. Phil की उपाधि प्राप्त की। वरुण और मित्र देवताओं पर किये गये उनके शोध कार्य के लिए ठतमेसन्द विश्वविद्यालय ने उन्हें क्त. भ्ंइपस की उपाधि से विभूषित किया।1883 में उन्होंनें संस्कृत के सहायक प्रोफेसर के रूप में BreslUn विश्वविद्यालय में कार्य प्रारम्भ किया तथा 1887 में वे प्रोफेसर बने। हिल्ब्राण्ट दो बाद इस विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे।

अपने अध्ययन और अध्यापन काल में डॉ. हिल्याण्ट ने वेद, अवेरता, श्रौतसूत्र, संरक त नाटक, काव्य, व्याकरण, अर्थशास्त्र तथा भारतीय इतिहास से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर लगभग 2०० से अधिक लेख, समीक्षा तथा पुस्तकें लिखी।

हिल्याण्ट वैदिक ग्रन्थों की भाषा शास्त्रीय आधार पर व्याख्या के पक्षधर थे। उन्होंने इस आधार पर वेदों की व्याख्या का कुछ यत्न भी किया किन्तु हेल्ब्राण्ट देवशास्त्रीय विषयों के व्याख्यान में निर्वचन शस्त्र की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में अत्यन्त सावधान थे। इस विषय में उनका मानना था कि निर्वचन शास्त्र की सामान्य निर्वचन प्रक्रिया से किसी देवता विशिष्ट के स्वरूप विशेष को निश्चित रूप में नहीं जाना जा सकता।ऋग्वेद के विषय में उनकी एक महत्त्वपूर्ण मान्यता यह थी कि उसमें अभारतीय तत्त्व अधिक हैं। उसके अधिकांश भाग का मूल स्रोत भारत से बाहर का है तथा वह लोकिक संरक त की अपेक्षा अवेस्ता के अधिक समीप है। वैदिक देवकथाशास्त्र के सम्दना में हिल्ब्राण्ट की कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यतायें यह रही कि इन्द्र और वत्र की कथा शारदीय पिशाच (व त्र) तथा वासन्तिक सूर्य (इन्द्र) का प्रतीकात्मक वर्णन है और इन पुराकथाओं का स्रोत बाह्यय है। उनकी मान्यता थी कि वैदिक धर्म के आदर्श का केन्द्रीय बिन्दु चन्द्रमा (सोम) है। यही कारण है कि विद्वानों द्वारा हिल्याण्ट को "Moon Mythologist" के रूप में उद्घ त किया जाता रहा है। उन्हें यारकक त देर्वी का त्रिविध (प थिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युरथानीय) वर्गीकरण स्वीकार्य नहीं था।वैदिक देवकथाशास्त्र के विषय में हिल्याण्ट ने Vedische Mythologie नामक ग्रन्थ लिखा जो तीन भागों में क्रमशः 1861, 1866 तथा 16०2 में प्रकाशित हुआ। 1627 में उन्होंने इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया।

इसके अतिरिक्त हिल्बाण्ट ने चार भागों में शाखायन श्रौत सूत्र का सम्पादन कियाये चार भाग 1885 से 1866 तक प्रकाशित हुएँ 1867 में उन्होंने The Ritual Literature Nedische forAnd Zuber नाम से अपना एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

प्रकाशित किया1630 में इस जर्मन देशवासी वैदिक विद्वान् ने इस संसार से विदा ली।

v. इसी क्रम में लुईस रेनू का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं :

नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
लुईस रेनू		1. Bibliographic Vedique 2. Religions of India 3. La Veleur du parfait dans Les hymnes Vediques, Paris, 1925 4. Les Maitres de la philologie Vedique,Annals Musec Guimet, Paris, 1928 5. Bibliographic Vedique, Paris, 1930 6. Grammaire Sanscrite,Andrien Macssonneure, Paris, 1930 7. Dictionaire Sanskrite Franscis, Paris (in collaboration with N. StschaupakAnd L. Nitti), 1930- 31 8. Vrira et Vroragna: Etude de Mythologie indo- iranienne (in collaboration with Benveniste, E), Cahiers de la SocieteAsiatique, Paris, 1934 9. Monographies Sanskrites, 1- 2,Andrien Mamonneure, Paris., 1937 10. Hymnes et Pariers du Veda, Paris, (Text with French translationAnd notes of 44 passages from the Rgveda, 22 fromAtharvavedaAnd 8 from YajurvedaAnd Kausikasutra), 1938 11. IsopUnizad, Paris (Text, Introduction, TranslationAnd notes in French), Paris, 1943 12. KathopUnisad (Text, translation, notesAnd introduction in French). Paris, 1943 13. Glossaire de la literature Sanskrite. Paris, 1946 14. Anthologie Sanscrite, Paris, 1947 15. Les Ecoles Vediques et la formativa da Vedu, Paris. L'inde Claxsigar (in collaboration with I. Filliozat). Paris, 1947 16. Kausitaki UpUnisad (Text, Introduction, TranslationAnd Notes in French). Paris, 1948 17. Le Grammaire de PUnini traduite du Sanskrit, Vol. I National Centre for Scientific Research, Paris, 1948 18. Le civilisation de l'inde conicenne, Paris, 1950 19. Le Grammaire de PUnini traduste du Sanskrit, Vol. II, National Centre for Scientific Research, Paris, 1951

		20. Grammaire de la lUngue Vedique, Lyon, 1952
		21. Religion ofAncient India, London, 1953
		22. VocabulEire de ritual Vedique, Paris, 1954
		23. Le Grammaire de PUnini traduite du Sanskrit, Vol. III, National Centre for Scientific Research, Paris, 1954
		24. Litterature Sanscrite. Histoire des Litteratures, Paris, 1955
		25. Hymnes speculatifs du Veda, tranduits etAnnotes, Paris, 1956
		26. Baskala UpUnisad, Paris, 1956
		27. UpUnishad Texte et traduction, Paris, 1956
		28. La Durghottavetti de Saranadero, Vol. 2 (3). Paris, 1956
		29. Etudes Vediques et PUnineennes, Vol. II. Paris, 1956
		30. Terminologie grammaticale du Sanskrit, Paris, 1957
		31. Vedic India, Calcutta, 1957
		32. Etudes sur le vocabulEire du Rgveda, Pondichery (India), 1959
		33. Etudes Vediques et PUnineennes, Vol. V, Paris, 1959
		34. Etudes Vediques et PUnineennes, Vol. VI, Paris, 1960

15) लुइस रेनू

लुइस रेनु बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान् और लेखक थे। उन्होंने अपने 40 वर्ष के शैक्षिक जीवन में लगभग 40 अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन कियायही नहीं इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणयन के साथ रेनु ने बहुत अधिक संख्या में शोध पत्र और पुस्तकों की समीक्षा आदि लिखी।वेद के विषय में अपनी लेखन श्रृंखला का आरम्भ करते हुए लुइस रेनु ने 1628 में वेदभाष्य के क्षेत्र में शोध कार्य करने वाले प्रमुख वैदिक विद्वानों के शोध कार्यों की समीक्षा करते हुए स्मे डंपजतमे कम सं Philologic Vedique शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक पेरिस से प्रकाशित हुई। इसमें रेनु ने आचार्य सायण की वेदभाष्य पद्धति की भी समीक्षा की है। उनके अनुसार सायण के भाष्य को उन स्थितियों में विश्वसनीय माना जा सकता है जहाँ यह अपने समय पूर्व निर्धारित निर्वचनों और प्रयोगों की दया पर निर्भर नहीं है।1631 में पेरिस से ही रेनु ने उस समय तक वेद के विषय में सम्पन्न हुए लगभग सभी महत्त्वपूर्ण शोध कार्यों के संक्षिप्त सारांश और उनके प्रकाशनादि की सूचना से संवलित Bibliographic Vedique नाम से एक सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री सूची प्रकाशित की।

1653 में उनहोंने लन्दन से Religions of India नामक ग्रन्थ प्रकाशित कियाइस ग्रन्थ के दो अध्यायों में उन्होंने वैदिक धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने ऋग्वेद को पारिवारिक परम्पराओं से प्राप्त साहित्य का संग्रह बताया है। उनका अभिमत है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और वैदिक सभ्यता में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

रेनु ने 1648 में भारत की यात्रा की थी और दरभंगा (बिहार) में आयोजित ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस में भाग लिया था। इस यात्रा के समय उन्होंने कई महत्त्वूपर्ण शोध संस्थानों में अपने शोध प्रवचन प्रस्तुत किये थे। उनका अधिकांश समय पूना के डेक्कन कॉलिज के शोध केन्द्र में बीता।

लुइस रेनु ने 1625 से लेकर 166० तक निरन्तर संस्कृत साहित्य, विशेषतः पाणिनीय व्याकरण और वैदिक साहित्य के दिषय में 4० से अधिक ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन किया7० वर्ष की आयु में 1666 में लुइस रेनु का पेरिस में स्वर्गवास हो गया।

16) डब्ल्यू. कैलैण्ड

कल्प साहित्य के क्षेत्र में डच विद्वान् कैलैण्ड और उनकी शिष्य मण्डली द्वारा किया गया कार्य असाधारण महत्त्व का है। कैलैण्ड का जन्म 27 अगस्त् 1856 को हालैण्ड में हुआ। उन्होंने अपने शैक्षिक जीवन की शुरूआत अनैक्त विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर रूप में की। वर्तमान में उपलब्ध अधिकांश श्रौत सूत्र और ग ह्य सूत्र उन्हीं की सारस्वत कपा का फल है।

अपनी सारस्वत साधना के आरम्भ में कैलैण्ड ने तीन भागों में पित मेध सूत्र संग्रह का सम्पादन किया जो कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की प्रथम सात कण्डिकाओं का जर्मन भाषा में अनुवाद कियाजो 1621 में Gottingn से प्रकाशित हुआ। 1622 में कैलैण्ड ने सामवेद के जैमिनीय गृह्यसूत्र का सम्पादन और अँग्रेजी में अनुवाद किया जो लाहौर से प्रकाशित हुआ।

1625 में, डब्ल्यू. कालैंड ने कथक ह्यसूत्र का सम्पादन कियाइस सूत्र पाठ का सम्पादन अत्यन्त कठिन कार्य था। कैलैण्ड ने इसके लिए अनेक पाण्डुलिपियों और टीकाओं के सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात् इस महत्त्वपूर्ण कार्य को मूर्त रूप प्रदान किया1631 में उन्होंने सामवेद के पंचविंश ब्राह्मण का सम्पादन किया जिसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ।

1634 में कैलैण्ड ने डा. रघुवीर के साथ मिलकर वाराह श्रौत सूत्र तथा शांखायन श्रौत सूत्र का सम्पादन और अनुवाद कियाइसके अतिरिक्त कैलैण्ड ने DerArsheyakalpa des Samved- जैमिनीय ब्राह्मण, Uber das rituella Sutra des Baudhayan, Vaitan sutra desAtharvavedaऔर बौधायन श्रौतसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन और लेखन कियाकाब्वीय शतपथ ब्राह्मण के प्रथम 7 काण्डों के सम्पादन रूप महत्त्वपूर्ण शोध कार्य का श्रेय भी डब्ल्यू कैलैण्ड को ही है।

vi. इसी क्रम में गौड़ा का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं :

नाम	जीवन काल	प्रमुख कृतियाँ
गौड़ा	14 अप्रैल 16०5	1. Aspects of Early Visnuism, N.V.A. Oostheok's Uitgever-MIJ- Wiesbaden, 1954 2. The character of the Indo-European Moods, Otto Harrassowitz, Wiesbaden, 1956 3. Notes on N.Mes of God

		inAncient India,Amsterdan : Lodon, 1970 4. A History of Indian Literature, Vol. I Fascicule I, The Ritual Sutras, Vol. I Fasc, II, Otto Harrassowitz, Wiesbaden, 1977 5. Vedic Ritual, the non- solemn Rites, E.J. Brill, Lieden, 1980 6. RiceAnd Barley offerings in the Veda Leiden, 1987 7. Oud Javana's Brahmada Purna (2 Vols.), 1932 8. Similies in Sanskrit Literarue, 1939

17). गौड़ा

गौडा का जन्म 14 अप्रैल 16०5 को हालैण्ड में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के अन्नतर गौडा का उच्च अध्ययन अवैख्त (Utrecht) विश्वविद्यालय में सम्पन्न हुआ। इसी विश्वविद्यालय से 1626 में यूरोपीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में किये गये महत्त्वपूर्ण शोधकार्य के लिए पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की गयी। 1932 में गौडा इसी विश्वविद्यालय में संरक त और यूरोपीय भाषा विद्वान् के प्रोफेसर नियुक्त हुए तथा 14 अप्रैल 1675 तक इस पद पर कार्य किया।डा. गौडा ने लगभग 70 पुस्तकें और 300 अधिक शोधपत्र तथा समीक्षा लिखीं। उनके शोध कार्य को पाँच क्षेत्रों में वर्गीक त किया जा सकता है – (1) वेद का साहित्यिक अध्ययन, (2) वैदिक धर्म और देवकथा साहित्य, (3) वैदिक तथा भारोपीय भाषा विज्ञान (4) इण्डोनेशियाई अध्ययन, (5) विविध।

भारतीय प्राच्यविद्या के क्षेत्र में किये गये उनके अत्यन्त असाधारण कार्यों को ध्यान में रखते हुए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने डाक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किया166० में टौरिनो में आयोजित वर्ल्ड संस्क त कान्फ्रेंस में गोल्ड मैडल से सम्मानित होने वाले वे प्रथम विद्वान थे। डॉ. गोंडा रायल डच अकादमी, रायल एशियाटिक सोसाइटी, भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा अमेरिकन अकैडमी ऑफ आर्ट्स एण्ड साइंसेज इत्यादि विभिन्न संस्थाओं के सदस्य थे।

डॉ. गाँडा भारतीय संरकृति और सभ्यता को मानवीय सभ्यता का विशिष्ट रूप स्वीकार करते थे। उनके अनुसार इस विविध रंग वाली संस्कृति में विभिन्न धाराओं का स्वतन्त्र विकास हुआ तथा वे धारायें परस्पर एक–दूसरे से प्रभावित हुई। ''एक धारा दूसरी धारा का स्रोत है।'' इस मत का वे खण्डन करते थे। उनका मानना था कि ऋग्वेद के गम्भीर अध्ययन के लिए आवश्यक है कि पहले प्राचीन सांस्क तिक परम्पराओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाये। ऋग्वेद के कुछ सूक्त साम्प्रदायिक है इस मत के डॉ. गाँडा विरोधी थे। डा. गौडा ने हमारे प्राचीन साहित्य और संस्क ति के विषय में इतना कुछ लिखा है कि उसको यहाँ विवरण के रूप में समेटना सम्भव नहीं है।

प्रिय विद्यार्थियों आपने कुछ प्रमुख जर्मन इण्डोलॉजिस्टों का परिचय और उनके द्वारा भारतीय ग्रन्थों सम्बन्धी अध्ययन से परिचित् हो चुके है। आपको जर्मन इण्डोलॉजिस्ट के सन्दर्भ में निम्न बातें ध्यान मे रखनी चाहिए 1. जर्मन इण्डोलॉजी विशेष रूप से ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण पद्धति पर आधारित तो है, किन्तु इनके अध्ययन में एक निहित एजेन्डा दृष्टिगोचर होता है, जो जर्मन प्रोटेस्टेंटवाद के परे के बाहर था। 2. यह

अध्ययन ग्रन्थ आधारित दृष्टिकोण को अपनाया है और जिसके पाठक कुछ सीमित वर्ग के लोग है। हमारे समक्ष यह चुनौती है कि किस तरह से इनके अध्ययन को हम अन्य भारतविदों के अध्ययन के साथ देख सकें। 3. चूकि जर्मन इण्डोलॉजी विभिन्न सैद्धान्तिक धाराओं और दृष्टिकोणों को सम्मिलित करने वाला एक व्यापक शब्द है जो भारतीय इतिहास दृष्टि के एक संकुचित् परम्परा को विकसित् करता है क्योंकि इस परम्परा ने धर्म एवं दर्शन को अस्वीकार करते हुए भारतीय व्याख्याशास्त्र को अनावश्यक मानता है तथा पश्चिमी ऐतिहासिक दृष्टि के द्वारा किसी भी संस्कृति के मूल तक पहुँचने में इतिहासकारों के असीम क्षमता में विश्वास करता है। किन्तु इनके व्याख्याओं तथा अध्ययन को पढ़ने पर इनका यह दावा खण्डित हो जाता है कि इनकी पद्धति द्वारा ही सम्पूर्ण सत्य को जाना जा सकता है।

जर्मन इण्डोलॉजी की समीक्षा

जर्मन इण्डोलॉजी व्यापक शब्द है इस पद को एक विशेष विधि के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह विधि है ऐतिहासिक तुलनात्मक विधि या ग्रन्थों का ऐतिहासिक अध्ययन। वस्तुतः इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भिक उद्देश्य था। बाइबिल की समीक्षा करना यह विधि बाईबिल के थियोलॉजिकल अर्थ को नजरअंदाज करके उसके ऐतिहासिक अर्थों तक अपने को सीमित रखता है। धीरे धीरे भारत में यूरोपीय आधिपत्य होने पर यूरोपीयों ने इस विधि का प्रयोग भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन में उपयोग किया क्योंकि उनको पाठक वर्ग यूरोपीय जनता थी और वहाँ संस्थागत रूप से भारतीय विद्या का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। क्रिस्टिन लासेन, एल्बर्ट, बेवर और हाटमान इत्यादि ने आर्य संस्कृति के महाकाव्यों के आख्यान को अपने अध्ययन का विषय बनाना प्रारम्भ कियाबाद में गर्वे, जैकोवी, सिमसन तथा फ्राउलर ने इसे और आगे बढ़ाया और इस विधि का प्रयोग जर्मनी सहित यूरोप और अमेरिका के विद्वान् करने लगे।

यह जानना अति रोचक हैं कि किस प्रकार यूरोपीय मानविकी विद्या के अध्ययन की विधि विश्वभर के संस्कृत विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन हेतु एक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक सर्वेक्षण की सर्वमान विधि बन गयी। इन तथ्यों के आलोक में हम जर्नन इण्डोलॉजी पढ़ेंगे। इसके पूर्व हमें जर्मन इण्डोलॉजी में प्रयुक्त ऐतिहासिक विधि के इतिहास पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए

जर्मन इण्डोलॉजी का पर्याय जर्मनों द्वारा किया गया इण्डोलॉजिकल अध्ययन नहीं है। एक विधा के रूप में 18 वीं शताब्दी में नव प्रोटेस्टवाद द्वारा हुआ था। अतः यह ऐकान्तिक रूप से यह वैश्विक, वस्तुनिष्ठ और पंथ निरपेक्ष भारतविद्या के लिये अनुपयुक्त था। इस विधा द्वारा प्राप्त निष्कर्षों तथा ग्रन्थों की वस्तु स्थिति में एक गहरी खाई उत्पन्न हो गयी। क्योंकि इसकी शुरूआतही जर्मनी भाषाशास्त्र के साथ हुआ, जिसका प्रारम्भिक उद्देश्य था बाईबिल का अध्ययन करना और उसी विधि के द्वारा जब भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन किया गया, तो एक असन्तुलित ज्ञानपरम्परा खड़ी हुई। जर्मन इण्डोलॉजिस्ट के व्यापक अध्ययन से भारत के संस्कृतविदों भारतविदों में अपनी परम्परा और शास्त्रों के अध्ययन के प्रति जागरूक्ता तो आई और उनमें से कुछ लोगों ने भारतीय के अनुकूल व्याख्याविधि का प्रयोग करते हुए अध्ययन प्रारम्भ किया, किन्तु बड़े फलक पर वे अपनी छाप छोड़ने में सफल न हो सके। इन बातों की समीक्षा हम आगे पढेंगे।

2.3 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों इस प्रकार इस इकाई में आपने पढ़ा कि जर्मन में भारतीय विद्या पर गहन और व्यापक अध्ययन किया गया है। इनके भारत में प्राचीनशास्त्रों का अनुवाद, विश्वलेषण एवं व्याख्या के माध्यम से भारतीय विद्या न केवल पश्चिमी जगत् अपितु स्वयं भारत भी आलोक्ति हुआ आपने यह भी देखा कि भारत के प्राचीन ज्ञान परम्परा को आधुनिक ज्ञान परम्परा के आलोक में अवगाहन की विधि प्रदान करने में जर्मन इण्डोलॉजिस्ट का योगदान अप्रतीम है। फिर भी भारतीय ज्ञान परम्परा सम्बन्धी योगदान कहीं कहीं अपूर्ण भी है जिसका समाधान भारतीय विधियों को समृद्ध करके पूर्ण किया जा सकता है। भारतीय विद्या की अध्ययन प्रक्रिया एक सतत् चलने वाली परम्परा है इस प्रक्रिया में जर्मन इण्डोलॉजिस्टों का अपना एक सशक्त पहलू है। जिसका अध्ययन आपके लिए उपयोगी होगा।

2.4 पारिभाषिक शब्दावली

प्रोटेस्टेंटवाद : ईसाई धार्मिक आन्दोलन जो 16वीं शताब्दी की शुरूआत में मध्यकालीन रोमन कैथोलिक सिद्धान्तों और प्रथाओं की प्रतिक्रिया के रूप में उत्तरी यूरोप मे।शुरू हुआ। रोमन कैथोलिकवाद और पूर्वी रूढ़िवादी के साथ, प्रोटेस्टेंटवाद ईसाई धर्म में तीन प्रमुख शक्तियों में से एक बन गया16वीं और 17वींशताब्दी में और विशेष रूप से 19वीं शताब्दी में यूरोपीय धार्मिक युद्धों की एक श्रृंखला के बाद, यह पूरी दुनिया में फैल गयाजहाँ भी प्रोटेस्टेंटवाद ने पैर जमाया, उसने उस क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया।

इण्डोलॉजी :एशियाई अध्ययन या ओरिएँटल अध्ययन, इण्डोलॉजी के अधिक व्यापक विषय के तहत एक उपसमूह, जिसे अन्यथा 'भारतीय अध्ययन' के रूप में माना जाता है। भारतीय समाज, इसकी संस्कृति, भाषाओं, इतिहास, दर्शन और साहित्य की विद्वतापूर्ण परीक्षा है। दूसरे शब्दों में, भारतीय समाज के वर्तमान और अतीत के विवरण– इसके लोगों, परम्पराओं, मूल्यों, पृष्ठभूमि इत्यादि की जांच, जो भारतीय भाषाओं के लिखित कार्यों की खोज से निरन्तर और पुष्ट होती है, इण्डोलॉजी कहलाती है।

भाषाशास्त्र : भाषाशास्त्र मौखिक और लिखित ऐतिहासिक स्रोतों में भाषा का अध्ययन है। यह व्युत्पत्ति विज्ञान के साथ मजबूत सम्बन्धों के साथ पाठ्य आलोचना, साहित्यिक आलोचना, इतिहास और भाषा विज्ञान का प्रतिच्छेदन है। भाषाशास्त्र को साहित्यिक ग्रन्थों और मौखिक और लिखित अभिलेखों का अध्ययन, उनकी प्रामाणिकता और उनके मूल स्वरूप की स्थापना और उनके अर्थ के निर्धारण के रूप में भी परिभाषित किया गया है। जो व्यक्ति इस प्रकार का अध्ययन करता है, उसे भाषाविज्ञानी के रूप मे जाना जाता है।

तुलनात्मक ऐतिहासिक पद्धति : विभिन्न संस्कृतियों के ग्रन्थों के आधार पर उन संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन पद्धति है, जिसमें ग्रन्थों की ऐतिहासिकता के आधार पर उस संस्कृति के इतिहास जिस संस्कृति के वो ग्रन्थ है, का अध्ययन करना तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन कहलाता है। इस अध्ययन का प्रारम्भ जर्मनी से हुआ था।

पाण्डुलिपि : पाण्डुलिपि एक हस्तलिखित ग्रन्थविशेष है। इसको हस्तप्रति, लिपिग्रन्थ इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। आङ्ग्ल भाषा में यह Manuscript शब्द से प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में यह 'पाण्डुलिपि', 'हस्तलेख', 'हस्तलिपि' इत्यादि के नामों से प्रसिद्ध है। पाण्डुलिपि उस दस्तावेज को कहते हैं जो एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों द्वारा हाथ से लिखी गयी हो। जैसे हस्तलिखित पत्र। मुद्रित किया हुआ या किसी अन्य विधि से, किसी दूसरे दस्तावेज से नकल करके तैयार सामग्री को पाण्डुलिपि नहीं कहते हैं।

2.5 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1- The Nay Science :A History of German Indology, Vish¡AdluriAnd Joydeep Bagchee

2- German Vision of India Commonding the Holy Ganges during the KUriserrieich, Myres, Perry, NewYork : Palgrave MacmillUn, 2013

3- Imagining India, Inden Ronald, Cambridge M.A. Blockwell, 1990

IndiaAnd Europe :An Essay in understanding, Halbfass,Albbary state university of NewYork press- 1988

2.6 बोध प्रश्न

1. भारतीय विद्या–अध्ययन के क्षेत्र में जर्मन इण्डोलॉजी के योगदान पर प्रकाश डालिएँ
2. मैक्समूलर तथा ग्रीफीथ के योगदान की विवेचना करें।
3. जर्मन इण्डोलॉजी की प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या थीं।
4. भारतीय विद्या के क्षेत्र में जे. गौड़ा के योगदान पर प्रकाश डालिए।

इकाई 3 ज्ञानमीमांसीय आक्रमण एवं प्रतिरोध

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

आप सभी ने अपने छात्र जीवन से ही अपने देश भारत और हिन्दू धर्म से जुडी हुई नकारात्मक बातो जैसे हिन्दुओ में भेदभाव और छुआछूत तथा जाति प्रथा आदि के बारे में अवश्य सुना होगा जबकि अन्य मत पंथ विशेष कर अब्रह्मिक धर्मो की कुरीतियों का कोई उल्लेख नहीं सुना होगा. क्या आपको नहीं लगता कि यह दृष्टि ना सिर्फ आंशिक है बल्कि हिन्दुओ के मन को अपने धर्म और संस्कृति से दूर ले जाकर भारत के इसाईकरण के लिए बनाई गयी मैकाले शिक्षा प्रणाली के सॉफ्टवेर से निर्मित है। हिन्दू धर्म की कुरीतियों को दूर करने हेतु तथा शिक्षा के प्रचार प्रसार हेतु ज्यादातर प्रयास इसाई धर्म के लेंस द्वारा वर्तानिया शासन द्वारा किया किये गए इस इकाई का उद्देश्य बौद्धिक आक्रमण द्वारा भारत की ज्ञान परम्परा को भ्रष्ट करने की कोशिश करने वाले तत्त्वों को समझना और भारतीय प्रतिरोध के स्वरों के बारे में संक्षिप्त जानकारी प्राप्त करना है।

3.1 प्रस्तावना

किसी देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह होता है जब अपने बारे में जानने के लिए उसे विदेशी स्रोतों पर निर्भर होना पड़े काल के प्रवाह और विदेशी शिक्षा व्यवस्था आम भारतीयों के मन में यह डालने में सफल हुई है कि भारतीय परम्परा में कुछ विशेष बाते नहीं है किसी भी पाठ्यक्रम के माध्यम से बृहद स्तर पर यह प्रयास नहीं हुए कि स्कूलो में छात्रभारतीय तर्क शास्त्र,गणित ,रसायन,व्याकरण और भारतीय दर्शन से परिचय प्राप्त कर सके ।पश्चिमी देशो में मेयोद्वारा रचित पुस्तक द फेस ऑफ मदर इण्डिया" ने भारत के बारे मेंना सिर्फ अमरीकियों की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई बल्कि पूरी दुनिया में भारत के विरुद्ध नकारात्मक छवि के निर्माण किया। साल 1928 में इस किताब का पहला हिन्दी अनुवाद 'मदर

इण्डिया' शीर्षक से इलाहाबाद, हिंदुस्तानी प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था।इस पुस्तक में मेयो ने मुसलमानों की उनके मत का विस्तार करने की लड़ाकू प्रवृत्ति की सराहना की एवं महमूद गज़नी की हिंसक लूट व अत्याचारों को विशेषकर महिमामण्डित किया। उसने गज़नी की तुलना बाइबल में वर्णित जोशुआ (Joshua), गीदेयोन, एवं डेविड से की है, क्योंकि गज़नी इनकी ही तरह 'एक ईश्वर' के सम्मान में अपना जीवन बलिदान करने को तैयार था। हिन्दू धर्म को एक भीषण कलंक बताते हुए मेयो ने लड़कियों- महिलाओं से दुर्व्यव्यवहार, बालिका बधू , भोजन की कमी, सती प्रथा इत्यादि के बारे में रक्तरंजित विवरण दिया। "

हालाँकि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने हिन्दू धर्म के ज्ञान एवं भक्ति की प्रशंसा की, परन्तु अधिकांश ने कैथरीन मेयो के रूढ़िवादी विचारों को ही निष्कर्षों के रूप में दोहराया है कि हिन्दू धर्म एक भ्रष्ट और निराशाजनक किस्म का धर्म है जो स्वयं को पीड़ा देने वालीएक ऐसी भीड़ का उत्पादन करता है जो गंगा में डुबकी लगाते हैं, कीलों पर लेटे हुए नंगे और दुर्बल साधुओं तथा बेकार निषेधाज्ञाओं को बढ़ावा देता है— कुल मिला कर वह इसे एक जटिल और बेकार की गन्दगी कहती हैं। गाँधी जी ने मेयो की इस पुस्तक को "नाली की सफ़ाई करने वाले निरीक्षक की रिपोर्ट" कहा था एवं इसकी कटु आलोचना की थी।

3.2 ज्ञानमीमांसीय आक्रमण एवं प्रतिरोध के हिन्दू परिप्रेक्ष्य

भारत को केवल प्राचीन और नवीन के एक पुलिन्दे की तरह नहीं देखा जा सकता, जिसे अप्रत्याशित और असहज रूप से बिना किसी प्राकृतिक एकता के कृत्रिम रूप से जोड़ दिया गया हो। न तो भारत पश्चिमी आधुनिक जीवनशैली के कुछ हिस्सों का केवल एक विचित्र संग्रह मात्र है, और न ही यह वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में एक कनिष्ठ भागीदार। भारत स्वयं अपनी एक विशिष्ट एवं एकीकृत सभ्यता है, जिसकी गहन मतभेदों का समाधान करने, विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों और दर्शनों के साथ रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा मानवता की कई विविध धाराओं को शान्तिपूर्वक समाहित करने की क्षमता सिद्ध हो चुकी है। ये मूल्य देवत्व, ब्रह्माण्ड और मानवता विषयक विचारों पर आधारित हैं, जो पश्चिमी सभ्यता की मौलिक अवधारणाओं के विपरीत हैं।महात्मा गाँधी कहते हैं- "मैं चाहता हूँ कि विश्व की सभी संस्कृतियाँ मुक्त रूप से मेरे घर के आस- पास प्रवाहित हों, परन्तु मैं किसी के भी द्वारा हिंदु सभ्यता को समाप्त कियेजाने से इंकार करता हूँ।"

मेयो के पुस्तक के हिंदी संस्करण की भूमिका लिखते हुए उमा नेहरू लिखती है - मिस कैथरीन को अंग्रेज़ो की सहयोगी और उनका प्रवक्ता बताया। इसके बाद उन्होंने कैथरीन की तुलना गिद्ध से करते हुए कहा कि जो चित्र हमारे देश का संसार के सामने रखा गया है, उसे देखकर पश्चिमीय जातियाँ तो क्या स्वयं हमारे ही रोंगटे खड़े हो जाते है।जिस प्रकार एक गिद्ध, आकाश से नीचे की ओर देखता है परन्तु पृथ्वी पर फैले हुये सहस्रों विशाल वृक्ष, लाखों सुगन्धमय अलौकिक रंगों में रंगेहुये फूल, और अनेकानेक रोचक, स्वादिष्ट तथा स्वास्थ्यमय मेवे और फल, कोई भी इसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते किन्तु इसकी नज़र जहाँ किसी मुर्दा जानवर या इन्सान की लाश पर पड़ी, तुरन्त अपने परों को समेट गिरते- हुये लोहे के गोले के समान धरती की ओर टूट पड़ता है और अपनी मनोकामना पूरी जिस रस, जिस स्वाद, जिस रोचकता के साथ उसके दुर्गन्धपूर्ण गोश्त औरसड़े हुये मांसको नोच- नोच कर खाता है, इसी प्रकार 'मदर इण्डिया' की जननी ने अपनी बिरादरी वालों से प्रोत्साहन लेकर भारत की कल्पित

तथा वास्तविक घृणित समस्याओं को ढूंढ- ढूंढकर भयानक, और विचित्र रसिकता के साथ वर्णित किया है।

3.2.1 ज्ञानमीमांसीय आक्रमण का अभिप्राय

भारत पर आक्रमण तो हमेशा से होते रहे हैं। पहले उत्तर- पश्चिम सीमा से आक्रमणकारी आते थे। बाद में समुद्री मार्ग से आए और कालांतर में यहीं अपना कर श्रंखला बद्ध रूप से किया गया । हिमालय पर्वत शृंखला से हम उत्तरी सीमा को सुरक्षित समझते थे, किंतु चीन ने उसे भी पार करके 1962 में हमला किया।

ऐसे हमलों से इतर वर्तमान में भारत पर एक ऐसा आक्रमण हो रहा है, जिससे न केवल अधिकांश जनता, बल्कि हमारे शासक भी अनिभज्ञ से हैं। यह आक्रमण बौद्धिक स्तर पर हो रहा है, जिसका लक्ष्य भारत की सभ्यता और संस्कृति पर ऐसे प्रहार करना है कि यह मूल रूप से नष्ट हो जाए।

हिन्दू संस्कृति के विषय में यह स्वर अक्सर सुने देता है –"हिन्दू सभ्यता और हिन्दू संस्कृति का विनाश समाज के हित में है और बुद्धिजीवियों को इसी दिशा में काम करना चाहिए।"

3.2.2 ज्ञानमीमांसीय आक्रमण का कारण

सिकंदर की विजय और इंडो- ग्रीक राज्यों के उद्भव के बाद ही भूमध्यसागरीय दुनिया को इस क्षेत्र के बारे में कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ (इसके विपरीत, भारतीयों को भी इस अवधि के दौरान यूनानियों के अस्तित्व के बारे में पता चला, उन्हें यवन नाम दिया गया) संस्कृत में) तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक, एराटोस्थनीज़ ने "भारत" को " एशिया " के सुदूर पूर्वी छोर पर सामान्य रूप से रखने के बजाय एक प्रायद्वीप (भारतीय उपमहाद्वीप के भूगोल की पहली समझ को दर्शाते हुए) में समाप्त होने के रूप में मान्यता दी। एराटोस्थनीज़ पहले यूनानी लेखक थे जिन्होंने भारत के सुदूर दक्षिण में एक द्वीप टाप्रोबेन की परिकल्पना की थी, जो बाद में किस नाम से जाना गया?श्रीलंका . प्राचीन काल के अन्त तक भारत के भूगोल के बारे में यूरोपीय ज्ञान अधिक बेहतर ढंग से विकसित नहीं हो सका और पूरे मध्य युग में इसी स्तर पर बना रहा, केवल 15वीं शताब्दी में पाल युग की शुरुआत के साथ यह और अधिक विस्तृत हो गया।

विदेशियों द्वारा भारत विषयक अध्ययन के विभिन्न उद्देश्य

संस्कृत के बारे में प्रेरणादायक उद्गारों को पढ़कर 19वी सदी के जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों के अनेक विद्वानों ने भारत के प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन एवं शोध् में अपना सारा जीवन लगा दिया। परंतु इन विद्वानों के अध्ययन और लेखन के उद्देश्य विभिन्न थे। इन्हें मुखयतया तीन वर्गों में बांटा जा सकता हैः

1. भारतीय धर्मशास्त्र, दर्शन और साहित्य के निष्पक्ष जिज्ञासु,
2. अधिकांशतः ईसाई मिशनरी वर्ग
3. धर्म एवं राजनीति से प्रेरित ब्रिटिश वर्ग और भारत में उनके प्रशासक और मिशनरी वर्ग।

पहले वर्ग के लोगों ने भारतीय साहित्य को भाषा विज्ञान द्वारा निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक दृष्टि से देखा और दार्शनिक विचारों को प्रेरणादायक माना इस वर्ग में मुख्यतया ऑगस्त श्लेगल

(1767- 1845), फ्रेडरिक शेलगल (1772- 1829), फ्रान्ज बाप (1791- 1867), रूडोल्फ रॉथ (1821- 1895) हरमैन ब्रोरवोस (1806- 1907) थ्योडर बेनफे (1809- 1881) आदि मुख्य थे। दूसरे वर्ग के विद्वानों ने मिशनरी भावना से प्रेरित होकर वैदिक देवतावाद का तुलनात्मक गाथावाद, विकासवाद और मानवइतिहास की दृष्टि से पक्षपातपूर्ण अनुवाद कर विशाल साहित्य लिखा। इनमें ओल्डन वर्ग (1854- 1920), अलब्रेट वेबर (1825- 1901), फ्रेडरिक रोजन (1805- 1837), अलफ्रेड लुडविग (1832- 1912), जार्ज बुहलर (1837- 1898), ज्युलियस जौली (1849- 1932), ओटोवॉन बोथलिंगम (1815- 1904), मौरिस विंटरनिट्स (1863- 1937), अर्नेस्ट कुहन (1846- 1920) आदि थे। तीसरे वर्ग में ब्रिटेन में एच.एच. विल्सन (1786- 1860), फ्रेडरिक मैक्समूलर (1823- 1900), मौनियर विलियम्स, अर्थन ऐंथोनी मैक्डोनल (1854- 1930, ए.बी. कीथ (1879- 1944) आदि थे। भारत में प्रशासन से जुड़े विद्वानों में चार्ल्स विलसन, विलियम जोन्स (1746- 1794), कॉलब्रुक (1765- 1836), स्टीवेंसन, ग्रिफिथ आदि मुख्य थे।

ब्रिटेन के विद्वानों ने अपने राजनैतिक और मिशनरी हितों की दृष्टि से तुलनात्मक भाषावाद, गाथावाद, मानव ऐतिहासिकता एवं अन्य अनेक नवीन वादों की कल्पनाएँ कीं | 1846 में, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी में, मैक्समूलर के आने के बाद ब्रिटेन का, हिन्दू धर्म शास्त्र सम्बन्धी समस्त साहित्य, असंगत क्यों न हो। मगर गैर- ब्रिटिश लेखकों ने या तो ईसाई मिशनरी भावना से या वेदादि के ज्ञान के अभाव से या संस्कृत को यूरोपीय भषाओं से सम्बन्धित करने के दुराग्रह के कारण विभिन्न अर्थ किए। ये सभी ब्रिटेन की तरह पक्षपाती नहीं थे। मगर तना अवश्य है कि सभी पाश्चात्य विद्वान भलीभांति जानते थे कि वेद, भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूल आधार हैं और इनकी समुचित व्याखया निरुक्त व पाणिनि व्याकरण के आधार पर ही हो सकती है। परन्तु किसी भी पाश्चातय विद्वान ने भारतीय वेद भाष्य पद्धति को नहीं अपनाया जिसका कि इसी समय में महर्षि दयानन्द सरस्वती (1825- 1882) ने अपनेभाष्यों में प्रयोग कर उदाहरण प्रस्तुत किया था। भारतीय प्राचीन परम्परा इसी शैली को प्रामाणिक मानती है।

3.2.3 ज्ञानमीमांसीय आक्रमण का संगठित और असंगठित रूप-

अलबेरूनी भारतविद्या के शुरुवाती लेखको में मन जाता रहा उसने तहकीक- ए- हिंद नाम की पुस्तक में भारत और हिन्दूपरम्परा पर विस्तृत लिखा है ,उसनेपुराणों का भी अध्ययन किया था और भारतीय दर्शन, विशेषकर 'श्रीमद्भगवद्गीता' की प्रशंसा की थी। अलबेरूनी ही वह पहला मुसलमान था, जिसने इस पुस्तकरत्न (श्रीमद्भगवद्गीता) को मुसलमानों के सामने रखा। अलबेरूनी ने इस पुस्तक में भारतीयों के लिए हिन्दू शब्द का प्रयोग किया। हिन्दू शब्द लगभग छठी- पांचवीं शताब्दी ईसापूर्व में प्रयुक्त होने वाला एक प्राचीन फ़ारसी शब्द है जिसका प्रयोग सिंधु नदी के पूर्व के क्षेत्र के लिए होता था। कालांतर में तुर्कों ने सिंधु से पूर्व में रहने वाले लोगों को 'हिन्दू', उनके निवास स्थान को 'हिंदुस्तान' तथा उनकी भाषा को 'हिंदवी' पुकारा। हिन्दुओ के विषय में उसकी यह टिप्पणी ध्यातव्य है –महमूद गजनीनेभारत के वैभव को सर्वथा नष्ट कर दिया और ऐसी चालें चलीं कि जिनसे हिन्दू मिट्टी के परमाणुओं की भांति टूटकर बिखर गए और केवल एक ऐैतिहासिक बात रह गए।'

इसके पहले आने वाले लेखको ने भारत के विषय दन्त कथाओ य किवदन्तियो का ही अधिक प्रयोग किया था .मेगस्थनीज एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक है जिसने अपने ग्रन्थ इंडिका

मेंब्राहमणों और यहूदियों के बीच सुकरात के विचारों की उपस्थिति का उल्लेख करताहै। पाँच शताब्दियों के बाद, अलेक्जेंड्रिया के क्लेमेंट ने, अपने स्ट्रोमेटिस में , मेगस्थनीज़ को गलत समझा हो सकता है कि भौतिकी के यूनानी विचारों को स्वीकार करते हुए ग्रीक प्रधानता के दावों का जवाब दिया जाए। स्ट्रैबो ने सीधे तौर पर इन विवरणों का खण्डन किया, अपने पाठकों को आश्वस्त करते हुए कि मेगस्थनीज की कहानियां, हरक्यूलिस और डायोनिसस द्वारा भारत की स्थापना के बारे में बताते हुए, वास्तविकता में कोई आधार नहीं के साथ पौराणिक थे।इतनी कमियों के बावजूद, इंडिका का अधिकांश हिस्सा है, और समकालीन भारतीय समाज, प्रशासन और अन्य विषयों के बारे में जानकारी का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

भारत सम्बन्धी व्यापक और सतत अध्ययन 17वीं शताब्दी के अन्त और 18वीं के प्रारम्भ में जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के तथाकथित रूमानी आन्दोलन (Romantic movement) के माध्यम से दिखाई देता है जिन्होंनेप्राचीन भारत का अध्ययन करने में विशेष रुचि ली। भारत को यूरोपीय संस्कृति का मूल माने जाना वाला सिद्धान्त उसका मूल यहूदी होने के पहले के दृष्टिकोण का प्रतिस्पर्धी बनने लगा। यह बदलाव इसलिए हुआ क्योंकि संस्कृत को कुछ यूरोपीय भाषाओं से मिलता- जुलता पाया गया— जबकि हिब्रू ऐसी नहीं थी और यूरोपीय लोग संस्कृत में लिखे महान भारतीय ग्रन्थों की खोज से भावविभोर थे क्योंकि इससे उनके विगत इतिहास का पुनर्निमाण हो सकता था। भारत के पारम्परिक शास्त्रों ने ऐसी सभ्यता की ओर इंगित किया जिसने नाटक, धर्म और महाकाव्य, नीतिकथा, विकसित अमूर्त विचार, चिकित्सा, गणित और खगोल विज्ञान में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं।

सन् 1800 से 1850 के बीच लगभग प्रत्येक यूरोपीय शिक्षा केन्द्र में संस्कृत अथवा भारतीय विद्या विभाग की स्थापना की गई, कभी- कभी तो ग्रीक और लैटिन भाषा की वरीयता गिराने की कीमत पर। एक महान भारतीय संस्कृति से करीबी के विचार ने वहाँ के बुद्धिजीवियों को एक साझा यूरोपीय इतिहास खोजने के लिए प्रेरित किया। तब से बीसवीं सदी के आरम्भ के कुछ समय तक संस्कृत ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप और अमरीका में अपना प्रभुत्व जमाये रखा और यूरोप के कुछ प्रमुख इतिहासकारों, दार्शनिकों और अन्य बुद्धिजीवियों ने इसकी गूढ़ता के विषय में विविध सिद्धान्त प्रतिपादित किये। हालाँकि बीसवीं सदी के मध्य तक संस्कृत का अध्ययन कम हो गया और आज यह शिक्षा केन्द्रों में लगभग विलप्त- सी हो रही है।पश्चिमी जगत में संस्कृत का अध्ययन 17वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। भर्तृहरि के कुछ काव्यों का सन् 1651 में पुर्तगालियों ने अनुवाद किया। सन् 1779 में विवादार्णवसेतु नामक एक विधिक संहिता का नाथानियल ब्रासी हल्हेड (Nathaniel Brassey Halhed) ने पारसी अनुवाद से अनुवाद किया। इसे 'अ कोड ऑफ गेन्टू लाज़' (A Code of Gentoo Laws) नाम दिया। 1785 में चार्ल्स विकिंस (Charles Wilkins) ने भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया। शायद यही पहली बार था जब संस्कृत ग्रन्थ का सीधे किसी यूरोपीय भाषा में अनुवाद हुआ।

जिन जर्मन लेखकों की रचनाओं पर भारत का प्रभाव पड़ा था उनमें जर्मन रूमानियत के अग्रदूत, जैसे—जोहान गॉटफ्राइड वॉन हर्डर (Johann Gottfried von Herder, 1744-1803)तथा कार्ल विल्हेम फ्राइडरिक वॉन शेगेल (KUrl Wilhelm =riedrich von Schlegel, 1772- 1803); उनके साथ जर्मनी की आदर्शवादी व्यवस्था के प्रसिद्ध पक्षधर वॉन शेलिंग (F.W.J. von Schelling, 1775- 1854), आर्थर शोपेनहावर (Arthur Schopenhauer, 1788 - 1860) और निःसन्देह जॉर्ज विल्हेम फ्राइडरिक हेगेल (Georg

Wilhelm Friedrich Hegel) सम्मिलित थे। भारतीय विद्याओं का अपने पेशे में अधिकांश समय तक गहराई से अध्ययन करने वाले शताब्दी के अन्य प्रमुख जर्मन विचारकों में विल्हेम वॉन हम्बोल्ट , फ्रांज़ बॉप तथा मैक्स मुलर प्रमुख थे। भारतीय दर्शन ने नीत्शे के दार्शनिक कार्य को भी प्रभावित किया, जबकि गेटे कालिदास के संस्कृत नाटक "अभिज्ञान शाकुंतलम्" से इतना प्रभावितथा कि उसने फ़ॉस्ट कीप्रस्तावना को संस्कृत नाटक की परम्परा के अनुरूप ही किया।

3.3 यूरोप में भारत सम्बन्धी ज्ञान

यूरोप में सोलहवीं सदी तक संस्कृत साहित्य के प्रति कोई रुचि न थी। सत्रहवीं सदी के मध्य में हेनरिथ रॉथ (1620- 1668) नामक जर्मन जैसुआइट पादरी आगरा आया और मिशनरी कार्य के लिए सबसे पहले उसे संस्कृत सीखी एवं 1662 में संस्कृत व्याकरण पर पुस्तक लिखी। यहाँ संस्कृत साहित्य के प्रति तीव्र जिज्ञासा और वैचारिक उत्कंठा अठाहरवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में धार्मिक और राजनैतिक कारणों से उत्पन्न हुई। 1757 में पलासी के युद्ध के बाद भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो गया। तब गवर्नर वारेन हेस्टिंग्ज ने प्रशासनिक और कानूनी दृष्टि से भारतीयों के रीति रिवाज और धार्मिक आस्था जानने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों को संस्कृत सीखने की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप यहाँ कॉलेज खोले गए और 1784 में कलकत्ते में 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना की गई। चार्ल्स बिल्किन्स पहला अंग्रेज अधिकारी था जिसने बनारस में संस्कृत भाषा सीखी और 1785 में श्रीमद्भगवद्गीता, 1787 में हितोपदेश और 1795 में महाभारत के शाकुन्तलोपाख्यान का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया। जब 1763 में विलियम जोन्स को ब्रिटिश सेटिलमेंट का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया तो उसने संस्कृत सीखी और 1789 में महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् और 1794 में मनुस्मृति का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसी समय (1802) दाराशिकोह के फारसी में, उपनिषदों का फ्रेंच लेखक एन्क्वेरिल डू पेरोन (1721- 1805) द्वारा किया गया लेटिन अनुवाद प्रकाशित हुआ। इन साहित्यिक और दार्शनिक ग्रन्थों ने यूरोप और विशेषकर जर्मनी में, संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति अभूतपूर्व जागृति एवं जिज्ञासा पैदा कर दी।

आगस्त विलहेम श्लेगल, (बोन यूनीवर्सिटी) जर्मनी, में पहला संस्कृत प्रोफेसर नियुक्त हुआ और उसका छोटा भाई फ्रेडरिक श्लेगल दोनों ही भारतीय दर्शन व साहित्य के अनन्य प्रशंसक थे। एक दूसरे जर्मन संस्कृत विद्वान विल्हेम हम्बोल्ड और ऑगस्ट श्लेगल ने मिलकर भगवद्गीता का जर्मन में भाष्य प्रकाशित किया। तीसरे प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक अर्थर शोपेनहावर ने उपनिषदों को मानव बुद्धिमत्ता की सर्वोत्तम कृति एवं 'अतिमानवीय चिन्तन' कहा। उसने आगे लिखा "It is the most satisfyingAnd elevating reading of UpUnishads which is possible in the world: it has been the solEce of my lifeAnd will be the solEce of my death." अर्थात् जीवन में इनका (उपनिषदों का) पढ़ना अत्यन्त संतोषजनक और प्रेरणादायक है। ये मेरे जीवन में सान्तवनादायी हैं और मृत्यु में भी सान्त्वनाकारी रहेंगे।

इंग्लैंड में भारत सम्बन्धीशिक्षा के लिए बोडेन चेयर की स्थापना

1810 ए.डी. तक, इंग्लैंड में संस्कृत शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। सबसे पहले इंग्लैंड में,

1811 में ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी में संस्कृत भाषा की शिक्षा के लिए व्यवस्था की गई। इसके लिए एक कट्टर ईसाई सामने आया। वह था कर्नल जोसेफ बोडन जो कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना में बम्बई में लेफ्टिनेंट- कर्नल रहा था। इसने अवकाश ग्रहण करने के बाद, अपनी समस्त सम्पत्ति, जो उस समय लगभग पच्चीसहजार पौंड थी, की वसीयत ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत- प्रोफेसर के एक पद की स्थापना के किए कर दी; और विश्वविद्यालय ने भी कृतज्ञता स्वरूप इसना नाम 'बोडेन चेयर ऑफ संस्कृत रख दिया।

बोडेन चेयर का उद्देश्य

बोडेन चेयर का उद्देश्य, भारत में ईसाई धर्मान्तरण ही एकमात्र उद्देश्य था बोडेन चेयर स्थापित करने का।।भारत के गुरुकुलों की तरह, केवल साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत भाषा का पढ़ना-पढ़ाना नहीं था, बल्कि ब्रिटेन के राजैतिक और ईसाई मिशनरियों के धार्मिक हितों की पूर्ति के लिए था। कर्नल बोडेन ने अपनी वसीयत, जो कि 15 अगस्त 1811 को कैंटरबरी, यू॰के॰ के न्यायालय में रजिस्टर्ड की गई, उसके मुखय अंश और उद्देश्य इस प्रकार हैं:

मैं अपनी समस्त ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को दान देता हूँ। वे इसे विश्वविद्यालय या किसी कॉलेज में, जहाँ वे उचित समझें प्रयोग करें ताकि उसके देश (इंग्लैंड) वासियों को संस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान हो सके, जो भारत के मूल निवासियों के धर्मग्रन्थों को समझने और उनके ईसाईयत में धर्मान्तरण में सहायक हो सकें।

इस प्रकार 1811 में, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत चेयर की स्थापना हो तो गई थी लेकिन उस समय इसके लिए कोई मनचाहा व्यक्ति न मिल सका। बोडेन चेयर पर प्रतिष्ठित होने वालो सबसे पहला व्यक्ति एच.एच. विलसन (1786- 1860) था। वह भारत में मेडीकल प्रोफेशन के एक सदस्य के रूप में, 1808 में आया तथा 1832 तक यहाँ रहा। भारत निवास के इस काल में उसने संस्कृत भाषा सीखी, इस आशा और उद्देश्य से कि शायदयह भाषा ज्ञान उसे हिन्दू धर्म शास्त्रों को समझने और आवश्यकता होने पर विकृत आर्थ करने और भारतीयों को ईसाईयत में धर्मान्तरित करने में सहायक हो सके। इस संस्कृत ज्ञान के आधार पर ही विलसन को, 1832 में, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत की बोडेन चेयर का प्रथम अधिष्ठाता बनाया गया। यहाँ उसने सबसे पहले मिशनरियों के लिए दी रिलीजन एण्ड फिलोसोफिकल सिस्टम ऑफ दी हिन्दूज नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तके के लिखने के उद्देश्य के विषय में उसने कहाः

यह लेखमाला उन व्यक्तियों की सहायता के लिए लिखी गई हैं जो कि म्यूरद्वारा स्थापित दो सौं पौंड के पुरस्कार के लिए प्रत्याशी हों और जो हिन्दू धर्म ग्रन्थों का सर्वोत्तम प्रकार से खण्डन कर सकें।

बोडेन चेयर का दूसरा अधिष्ठाता

1860 में, प्रो॰ विलसन के निधन के बाद, बोडेन चेयर का दूसरा अधिष्ठाता मौनियर विलियम्स हुआ। 1819 में बम्बई में जन्मा मौनियर एक कट्टर ईसाई था। यह हिन्दू धर्म को नष्ट करने को और भी अधिक वचनबद्ध था जैसाकि उसने अपनी पुस्तक 'ए संस्कृत- इंग्लिश डिक्शनरी' की भूमिका में इस प्रकार लिखा - मैं, इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा कि मैं तो केवल बोडेन- चेयर का दूसरा अधिष्ठाता हूँ और उसके संस्थापक कर्नल बोडेन ने अपनी वसीयत (15 अगस्त 1811) में सबसे अधिक स्पष्टता के साथ लिखा है कि उसकी वसीयत

का विशेष उद्देश्य संस्कृत धर्मशास्त्रों का अनुवाद करना है ताकि उसके देश (इंग्लैंड) वासी भारत के मूल निवासियों का ईसाईयत में धर्मान्तरित करने के योग्य हो सकें। इस ही कारण जब मेरे शिक्षक और सुप्रसिद्ध पूर्व अधिकारी प्रो०एच.एच. विलसन, जो कि 1832 में इस चेयर के प्रत्याशी थे, तो उनकेलेखन कार्य के कारण उनको उस पद के मुखय दावेदार के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

1860 में, बोडेन चेयर के लिए चुने जाने के बाद अपनी पुस्तक दी स्टडी ऑफ संस्कृत इन रिलेशन टू मिशनरी वर्क इन इण्डिया (1861) इसमें उसने एक मिशनरी की तरह स्पष्ट कहाः

जब हिन्दू धर्म के मजबूत किलों की दीवारों को घेरा जाएगा, उन पर सुरंगे बिछाई जाऐंगी और अन्त में ईसामसीह के सैनिकों द्वारा उन पर धावा बोला जाएगा तो ईसाईयत की विजय अन्तिम और पूरी तरह होगी

इन उपरोक्तियों से सुस्पष्ट है कि बोडेन चेयर के दोनोंअधिष्ठाताओं ने संस्कृत शिक्षा के नाम पर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अपने अधिकारिक पद का ईसाईयत के हितों के लिए पूरी तरह से दुरुपयोग किया। उन्होंने प्राच्यविद्याओं के शोध की आड़ में अपने मिशनरी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगातार प्रयास किया।

कुछ सकारात्मक योगदानों के बावजूद, भारतीय ज्ञान प्रणालियों की गलत व्याख्याएँ और गलतफहमियाँ होने के उदाहरण सामने आए हैं। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों का विश्लेषण करते समय अपने स्वयं के सांस्कृतिक और धार्मिक पूर्वाग्रहों को लागू किया है, जिससे गलत बयानी और रूढ़िवादिता पैदा हुई है।

सभी संस्कृतियों के विद्वानों और व्यक्तियों के लिए भारतीय ज्ञान का अध्ययन खुले दिमाग, जिज्ञासा और संवेदनशीलता के साथ करना महत्त्वपूर्ण है। सार्थक संवाद में शामिल होने, भारतीय विद्वानों के साथ सहयोग करने और अनिवार्यतावादी या न्यूनीकरणवादी दृष्टिकोण से बचने से भारतीय ज्ञान प्रणालियों की समृद्ध विरासत की अधिक सटीक और सम्मानजनक समझ हो सकती है।मैं आपको औपनिवेशिक युग के कुछ प्रमुख प्राच्यविदों के नाम प्रदान कर रहाहूं जो भारतीय ज्ञान प्रणालियों के बारे में नकारात्मक विचार रखते थे। यह याद रखना आवश्यक है कि ऐतिहासिक शख्सियतों को उनके समय के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए, और उनके विचार उनके काम की संपूर्णता या प्राच्यवाद के क्षेत्र के विविध दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते हैं। इनमें से कुछ प्राच्यविदों में शामिल हैं:

1. विलियम जोन्स (1746- 1794): जबकि विलियम जोन्स को भारतीय भाषाओं और साहित्य के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता है और उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की स्थापना की, उनके कुछ लेखों ने यूरोसेंट्रिक विचारों को भी प्रदर्शित किया और भारतीय ज्ञान को पश्चिमी के व्युत्पन्न के रूप में चित्रित किया। सोचा।
2. मैक्स मुलर (1823- 1900): जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, मैक्समुलर ने भारतीय ज्ञान प्रणालियों के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, लेकिन उनके कुछ विचारों में जातीय केंद्रित दृष्टिकोण और भारतीय संस्कृति और धर्म के कुछ पहलुओं की आलोचना भी प्रतिबिंबित हुई।
3. चार्ल्स विल्किंस (1749- 1836): एक प्रारंभिक प्राच्यविद् जिन्होंने कई भारतीय ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया, पश्चिमी दुनिया को भारतीय ज्ञान से परिचित कराने में

विल्किंस का काम मूल्यवान था। हालाँकि, उनकी भी समझ सीमित थी और कई बार उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रति पितृसत्तात्मक रवैया प्रदर्शित किया।

4. थॉमस बबिंगटन मैकाले (1800- 1859): हालांकि मुख्य रूप से प्राच्यविद् नहीं थे, 1835 में मैकाले के प्रसिद्ध "मिनट ऑन एजुकेशन" ने भारतीय संस्कृति और ज्ञान के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण प्रदर्शित किया। उन्होंने भारत में पश्चिमी शिक्षा को बढ़ावा देने की वकालत करते हुए तर्क दिया कि इससे पश्चिमी दृष्टिकोण वाले भारतीयों का एक वर्ग तैयार होगा।

ऐतिहासिक शख्सियतों से आलोचनात्मक मानसिकता के साथ संपर्क करना और उनके योगदान और दृष्टिकोण की जटिलताओं को स्वीकार करना आवश्यक है। हालाँकि इनमें से कुछ प्राच्यविदों ने भारतीय ज्ञान प्रणालियों के बारे में नकारात्मक विचार रखे होंगे, लेकिन उनके काम ने भारतीय संस्कृति और विश्व सभ्यता में इसके योगदान के आगे के अध्ययन और सराहना की नींव भी रखी। आधुनिक विद्वता ऐसे नकारात्मक और जातीय केंद्रित विचारों से दूर चली गई है, जिससे भारतीय ज्ञान प्रणालियों की अधिक संतुलित और सम्मानजनक समझ को बढ़ावा मिला है।

वह भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में पश्चिमी प्रतिमानों और सिद्धान्तों के प्रभुत्व और स्वदेशी दृष्टिकोण और आवाज़ों के हाशिए पर जाने के बारे में भी चिंता जताते हैं। उनका सुझाव है कि इस प्रभुत्व के कारण भारतीय आख्यानों में विकृति आई है और दुनिया में भारतीय विचारों के अद्वितीय योगदान की सराहना में कमी आई है।

3.3.1 हिन्दुओ पर किये गए बौद्धिक आक्रमण का प्रतिउत्तर

10 अप्रैल, सन् 1875 को आर्यसमाज की स्थापना हुई।एक हिन्दू सुधार आन्दोलन है जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 में बंबई में मथुरा के स्वामी विरजानन्द की प्रेरणा से की थी।यह आन्दोलन पाश्चात्य प्रभावों की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू धर्म में सुधार के लिए प्रारम्भ हुआ था। आर्य समाज शुद्ध वैदिक परम्परा में विश्वास करते थे तथा मूर्ति पूजा, अवतारवाद, बलि, झूठे कर्मकाण्ड व अन्धविश्वासों को अस्वीकार करते थे। इसमें छुआछूत व जातिगत भेदभाव का विरोध किया तथा स्त्रियों व शूद्रों को भी यज्ञोपवीत धारण करने व वेद पढ़ने का अधिकार दिया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रन्थ आर्य समाज का मूल ग्रन्थ है। आर्य समाज का आदर्श वाक्य है: कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, जिसका अर्थ है - विश्व को आर्य बनाते चलो

आर्य समाज का प्रभाव वेलेन्टाइन शिरोल (Valentine Chirole) नामक एक अंग्रेज ने 'इंडियन अनरेस्ट' नामक अपनी पुस्तक में स्पष्ट दिखाई पड़ता है उसनेसत्यार्थ प्रकाश को 'ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें खोखली करने वाला' और दयानन्द सरस्वती को 'भारतीय अशांति का जन्मदाता' बताया है

स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिमी सेवा के विषय में कहाकि मिशनरियों की प्राथमिकताएँ गलत थीं। उन्होंने कहा था, 'आप पूरे भारत में चर्च बनाते हैं, लेकिन पूरब की समस्या धर्म नहीं है। वहां लोगों के पास अपना धर्म है, लेकिन वे अपने सूखे गलों से रोटी की पुकार कर रहे हैं। उनकी जरूरत रोटी है। भूख से तड़पते लोगों को धर्म की शिक्षा देना उनका अपमान करना है। एक भूखे आदमी को अध्यात्म सिखाना उसका अपमान है। इसलिए अगर आप भाईचारे का सही

अर्थ बताना चाहते हैं तो हिंदुओं के साथ विनम्रता और दयालुता का व्यवहार करें, भले ही वे हिन्दू ही बने रहें। मिशनरियों को उन्हें यह सिखाने के लिए भेजें कि अपनी रोटी ज़्यादा अच्छे तरीके से कैसे कमाएँ।'

श्री अरबिंद ने 'भारतीय पुनरुत्थान तथा यूरोप' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा, 'यदि भारत यूरोप का बौद्धिक उपनिवेश बन जाता है, तब वह कभी भी अपनी स्वाभाविक महानता को अर्जित नहीं कर सकता या अपनी अन्तर्निहित संभावना को परिपूर्ण नहीं कर सकता... जब भी, जहां भी, किसी राष्ट्र ने अपनी सत्ता का प्रयोजन त्याग दिया, तब उसकी संवृद्धि रुक गई। भारत को भारत ही रहना होगा, यदि इसे अपनी नियति का पालन करना है। और न ही यूरोप को भारत पर अपनी सभ्यता थोपकर कुछ लाभ होगा, क्योंकि यदि भारत, जो यूरोप की बीमारियों का वैद्य है, स्वयं रोग की पकड़ में आ जाए, तो रोग ठीक नहीं हो पाएगा....। गांधी ने शासन के संसदीय स्वरूप की भी आलोचना की जिसकी उत्पत्ति पश्चिमी सभ्यता में हुई है। गांधी ने कभी भी संसदीय लोकतंत्र की आकांक्षा नहीं की, लेकिन स्वराज की, जिसमें स्व- नियमन की गुंजाइश हो और राज्य, हालांकि खत्म नहीं होगा, लेकिन कम से कम शासन करेगा। उनका मानना था कि कुछ समय बाद राष्ट्रीय जीवन पूर्ण एवं स्व- नियमित हो जायेगा और प्रतिनिधित्व की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

उन्होंने इसे प्रबुद्ध अराजकता की स्थिति के रूप में देखा और वहां कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होगी क्योंकि राज्य नाम की कोई चीज नहीं है। हालाँकि, उन्हें इस प्रबुद्ध अवस्था को प्राप्त करने पर संदेह था। यही कारण है कि वह शास्त्रीय कथन में दृढ़ता से विश्वास करते थे कि सरकार सबसे अच्छी है, जो सबसे कम शासन करती है। भारतीय ज्ञान प्रणाली के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण सदियों से जटिल और विविध रहा है। यह पहचानना आवश्यक है कि भारतीय ज्ञान पर पश्चिमी दृष्टिकोण समय के साथ विकसित हुआ है और सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक कारकों से प्रभावित हुआ है।

3.3.2 कुछ प्रमुख विचारक

सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानन्द की सर्वोत्तम कृति है। यह चौदह समुल्लासों में रचा गया है। इसके प्रथम दस समुल्लासों में सनातन वैदिक धर्म का प्रतिपादन किया गया है और अंतिम चार समुल्लासों में देशी- विदेशी मत मतान्तरों की समीक्षा की गई है।

कई प्रमुख भारतीय प्राच्यविद रहे हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति और ज्ञान प्रणालियों सहित पूर्वी संस्कृतियों के अध्ययन और समझ में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनमें से कुछ विद्वानों में शामिल हैं:

1. डॉ. एस. राधाकृष्णन (1888- 1975): एक दार्शनिक, राजनेता और शिक्षक, डॉ. एस. राधाकृष्णन 20वीं सदी के सबसे प्रभावशाली भारतीय विचारकों में से एक थे। वह भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ थे और उन्होंने भारत के दूसरे राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया। तुलनात्मक धर्म और दर्शन पर उनके कार्यों को व्यापक रूप से प्रशंसा मिली है।
2. डॉ. ए. एल. बाशम (1914- 1986): ऑस्ट्रेलिया में जन्मे इंडोलॉजिस्ट, डॉ. ए. एल. बाशम ने अपना अधिकांश जीवन भारतीय इतिहास और संस्कृति का अध्ययन करने में बिताया। उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया और इस विषय पर कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं।

3. डॉ. कपिला वात्स्यायन (1928- 2020): भारतीय कला, संस्कृति और नृत्य की प्रसिद्ध विद्वान, डॉ. कपिला वात्स्यायन ने भारतीय सांस्कृतिक विरासत और वैश्विक सन्दर्भ में इसके महत्त्व को बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4. डॉ. बी.एन. मुखर्जी (1926- 2018): एक इतिहासकार और भारतविद्, डॉ. बी.एन. मुखर्जी ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, पुरालेख और मुद्राशास्त्र के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

5. डॉ. के.एस.रामचंद्रन (1926- 1999): संस्कृत और भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ, डॉ. के.एस.रामचंद्रन का काम शास्त्रीय भारतीय विचार और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर आधारित था।

अमेरिका में जन्मे कई व्यक्ति भारतीय ज्ञान प्रणालियों से प्रभावित हुए हैं, विशेषकर दर्शन, आध्यात्मिकता और समग्र कल्याण के क्षेत्र में। इनमें से कुछ व्यक्तियों ने पश्चिम में भारतीय प्रथाओं और विचारों को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यहां कुछ उल्लेखनीय उदाहरण दिए गए हैं:

1. राल्फ वाल्डो एमर्सन (1803- 1882): एक अमेरिकी निबन्धकार, व्याख्याता और कवि, एमर्सन भारतीय दार्शनिक अवधारणाओं से काफी प्रभावित थे, खासकर ट्रान्सेंडैंटलिस्ट आंदोलन के माध्यम से। उन्होंने अपने लेखन में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के विचारों को शामिल किया, जिसका अमेरिकी सोच पर गहरा प्रभाव पड़ा।

2. शोपेनहावर ने उपनिषद का लैटिन अनुवाद पढा था जो फ्रांसीसी लेखक अंकेतिल दू पेरों (Anquetil du PerÜon) द्वारा दारा शिकोह के फारसी में सिरे- अकबर (महान रहस्य) से अनूदित था। वह उपनिषदों के दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि उन्होने कहा कि उपनिषदों ने मानव का सर्वोच्च ज्ञान उत्पन्न किया है।

   ओप्नीखत् (Oupnekhat) (अर्थात उपनिषद) नामक पुस्तक सदा उनकी मेज पर पड़ी रहती थी और सोने के पहले वे उसे जरूर पढते थे। संस्कृत साहित्य को वह अपनी शताब्दी का सर्वोत्कृष्ट उपहार कहते थे। उन्होने भविष्यवाणी की थी कि उपनिषदों का ज्ञान और दर्शन ही पश्चिम का धर्म बन जायेगा।

3. हेनरी डेविड थोरो (1817- 1862): थोरो, एक अन्य प्रमुख ट्रान्सेंडैंटलिस्ट, भारतीय विचार से प्रभावित थे और उन्होंने सादगी, आत्मनिर्भरता और प्रकृति से जुड़ाव के विषयों की खोज की, जिनकी पूर्वी दर्शन में समानताएँ हैं।

4. स्वामी विवेकानन्द (1863- 1902): यद्यपि स्वामी विवेकानन्द का जन्म भारत में हुआ, फिर भी उनका अमेरिकी संस्कृति और आध्यात्मिकता पर गहरा प्रभाव पड़ा। 1893 में शिकागो में विश्व धर्म संसद में उनके प्रसिद्ध भाषण ने पश्चिम को हिन्दू धर्म और वेदांत दर्शन से परिचित कराया।

5. श्री अरविंद(1872 - 1950)–श्री अरबिंद ने अपने लेखन और कर्म से ना सिर्फ भारत के वास्तविक स्वरुप से विश्व को परिचित करवाया बल्कि बेसेस ऑफ़ इंडियन कल्चर नामक ग्रन्थ के माध्यम से यूरोपे से आ रहे बौद्धिक प्रश्नों समुचित उत्तर दिया .वेआरंभ से ही बिलकुल भिन्न और मौलिक चिंतक थे। उनकी राजनीति राष्ट्रनीति थी। वह भारत को

भारत के वास्तविक स्वरूप में देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि यदि भारत अपनी लुप्त प्राचीन आध्यात्मिक महानता, प्राचीन आर्यों की सर्वसमावेशी आत्मिक और भौतिक उदात्त श्रेष्ठता पुनः प्राप्त कर ले, तो वह विश्व गुरु बन जाएगा।

उन्होंने वंदे मातरम् के संपादकीय लेख में 'भारतीय पुनरुत्थान तथा यूरोप' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा, 'यदि भारत यूरोप का बौद्धिक उपनिवेश बन जाता है, तब वह कभी भी अपनी स्वाभाविक महानता को अर्जित नहीं कर सकता या अपनी अन्तर्निहित संभावना को परिपूर्ण नहीं कर सकता... जब भी, जहां भी, किसी राष्ट्र ने अपनी सत्ता का प्रयोजन त्याग दिया, तब उसकी संवृद्धि रुक गई। भारत को भारत ही रहना होगा, यदि इसे अपनी नियति का पालन करना है। और न ही यूरोप को भारत पर अपनी सभ्यता थोपकर कुछ लाभ होगा, क्योंकि यदि भारत, जो यूरोप की बीमारियों का वैद्य है, स्वयं रोग की पकड़ में आ जाए, तो रोग ठीक नहीं हो पाएगा....।

6. परमहंस योगानन्द (1893- 1952): एक भारतीय योगी और गुरु जिन्होंने अपना अधिकांश जीवन संयुक्त राज्य अमेरिका में बिताया, योगानन्द ने अपनी शिक्षाओं और लेखन के माध्यम से अमेरिका में योग और ध्यान को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, विशेष रूप से "आत्मकथा" योगी।"

7. राम दास (1931- 2019): रिचर्ड अल्परट के रूप में जन्मे, राम दास एक अमेरिकी आध्यात्मिक शिक्षक और लेखक थे। उन्होंने भारत की यात्रा की, अपने गुरु नीम करोली बाबा से मुलाकात की और हिन्दू दर्शन को अपनाया, जिसने प्रेम, करुणा और आध्यात्मिक परिवर्तन पर उनकी शिक्षाओं को गहराई से प्रभावित किया।

8. एकहार्ट टॉले (बी. 1948): हालांकि सीधे तौर पर भारतीय ज्ञान प्रणालियों से प्रभावित नहीं हैं, लेकिन वर्तमान समय में सचेतनता और उपस्थिति पर एकहार्ट टॉले की शिक्षाएँ बौद्ध धर्म जैसे पूर्वी दर्शन में पाई जाने वाली अवधारणाओं के साथ प्रतिध्वनित होती हैं।

इन व्यक्तियों ने, दूसरों के बीच, भारतीय ज्ञान प्रणालियों और शेष विश्व कीजनता के बीच की खाई को पाट दिया है, पूर्वी दर्शन, आध्यात्मिक प्रथाओं और जीवन के समग्र दृष्टिकोणको बढ़ावा दिया है।

3.4 सारांश

पिछले कुछ वर्षों में, कुछ पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय ज्ञान प्रणाली के बारे में गलत व्याख्याएँ और रूढ़ियाँ कायम रखी हैं। ये गलतबयानी अक्सर सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों, सीमित समझ या भारतीय परम्पराओं की बारीकियों को समझने में विफलता के कारण उत्पन्न होती है। भारतीय ज्ञान की अधिक सटीक और सम्मानजनक समझ को बढ़ावा देने के लिए इन कमियों को पहचानना आवश्यक है। कुछ सामान्य गलत व्याख्याओं और रूढ़ियों में शामिल हैं.

जैसे हम किसी भी अनजान व्यक्ति से मिलने पर भय अनुभव करते है ऐसे ही एक संस्कृति जब दूसरी संस्कृति से मिलती है तो उसको जानने और समझने के लिए स्वयमं की संस्कृति को तटस्थ नहीं रख पाते ऐसा ही भारत पर अध्ययन करने वाले ज्यादातर भारतविदो के साथ हुआ.कुछ भारतविद तो भारत में इसाई मिशन को सपोर्ट करने वाले बौद्धिक उपकरण बने तो कुछ ब्रितानिया हुकूमत के दीर्घजीवन हेतु बौद्धिक ढांचा खड़ा कर रहे थे इन स्वरों के बीच

बहुत थोड़े से स्वतंत्र अध्येता भी थे जो सत्य असत्य का भेद करते उए अध्ययन कर रहे थे किन्तु मैकाले की शिक्षा नीति के कारण भारत के सामान्यजनो या पश्चिमी शिक्षा में पारंगत लोगो के लिए ये नकारात्मक बुद्धिजीवी आप्त प्रमाण की तरह स्वीकृत हो गये.जिससे देश और समाज को जोड़ने वाले तत्वों के कमजोर होने के सम्भावना प्रबल होती है

स्वामी विवेकानन्द ने अपने लेखों में इस बात का जिक्र किया है कि हिन्दू धर्म और भारत के बारे में ईसाई मिशनरी कैसी बातें फैलाते हैं। उन्होंने लिखा है, 'बच्चा स्कूल जाता है और पहली बात सीखता है कि उसका पिता मूर्ख है। दूसरी चीज सीखता है कि उसके दादा सनकी हैं। तीसरी चीज सीखता है कि उसके सभी शिक्षक पाखंडी हैं और चौथी बात सीखता है कि सभी पवित्र ग्रन्थ झूठे हैं। 16 साल का होते- होते, वह नकारात्मकता का पुतला बन जाता है।'

स्वामी विवेकानन्द ने ईसाई मिशनरियों के प्रोपगैंडा के बारे में अमेरिका में खुलकर बात की थी। उन्होंने कहा था, 'अगर पूरा भारत हिंद महासागर की तलहटी से पूरा कीचड़ निकालकर पश्चिमी देशों पर फेंक दे, तब भी वह उस हरकत का मामूली हिस्सा भर भी नहीं होगा, जो आप लोग हमारे साथ कर रहे हैं।'

अमेरिका से लौटने पर स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास यानी आज के चेन्नई में कहा था, 'यह बात सही नहीं है कि मैं किसी धर्म के विरुद्ध हूं। यह भी सही नहीं है कि मैं भारत में ईसाई मिशनरियों का शत्रु हूं। लेकिन मैं अमेरिका में धन जुटाने के उनके कुछ तरीकों का विरोधी हूं। बच्चों की स्कूली पुस्तकों में उन तस्वीरों का क्या मतलब है, जिनमें हिन्दू मां को अपने बच्चों को गंगा नदी में मगरमच्छों के सामने फेंकते हुए दिखाया जाता है?'

पश्चिमी ओरिएँटलिस्ट और इंडोलॉजिस्ट ने अक्सर भारतीय ज्ञान प्रणालियों, संस्कृति और इतिहास को गलत तरीके से प्रस्तुत और गलत व्याख्या की है।अकसर कुछ पश्चिमी विद्वान भारतीय संस्कृति को अपने सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों और पूर्वाग्रहों के चश्मे से देखते हैं, जिससे भारतीय सभ्यता की समझ खराब हो जाती है। वह पश्चिमी विद्वानों द्वारा भारतीय ज्ञान प्रणालियों के पाचनको इसके मूल की उचित स्वीकृति के बिना आलोचना करते हैं।

3.5 परिभाषिक शब्दावली

दर्शनशास्त्र- अस्तित्व, ज्ञान, मूल्य, तर्कबुद्धि, मन और भाषा जैसे मामलों से सम्बन्धित सामान्य और मूलभूत समस्याओं का अध्ययन है

ज्ञानमीमांसा –दर्शनशास्त्र कि एक प्रमुख शाखा है, जो ज्ञान का युक्तिबद्ध अध्ययन करती है।

इंडोलॉजिस्ट- भारतीय साहित्य, इतिहास, दर्शन आदि का अध्येता

ओरिएँटलिस्ट- ओरिएँटलिस्ट या प्राच्यवाद एक ऐसीविचारधारा है जिसके अन्तर्गत पश्चिम द्वारा अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान स्वयं को केन्द्र में रख कर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पूर्वी संस्कृतियों की स्थावर संरचना बनायी गयी थी।

यूरोसेंट्रिक- वह पक्षपातपूर्ण विचारधारा है जिसमे यूरोप को सारी अच्छी चीजों की जन्मस्थली माना जाता है तथा हर चीज को यूरोप के नजरिये से देखने की कोशिश की जाती है।

3.6 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. https://ia801303.us.archive.org/15/items/in.ernet.dli.2015.445146/2015.445146.Mother- India.pdf
2. https://ia904506.us.archive.org/8/items/an- era- of- darkness/An%20Era%20of%20Darkness.pdf
3. Collected Works of SriAurobindo: Vol. 15. Pondicherry: SriAurobindoAshram, 1998.
4. Collected Works of SriAurobindoVols 23- 24. Pondicherry: SriAurobindoAshram, 1999
5. Hymns to the Mystic Fire. Twin Lakes: Lotus Light Publications, 1996.
6. https://ia904702.us.archive.org/6/items/in.ernet.dli.2015.402673/2015.402673.Bhartiya- Sanskritke.pdf
7. Cultural Otherness: Correspondence With Richard Rorty. Shimla: Indian Institute ofAdvanced StudyAnd Munshiram Manoharlal, 1991.
8. 'Beatific Vision.' The Catholic Encyclopedia. http://www.ne¡dvent.org/ cathen/ 02364a.htm(accessed 30 March 2011).
9. 'Congregation for the Doctrine of the Faith.' Wikipedia, the Free Encyclopedia.

   http://en.wikipedia.org/wiki/Congregation_for_the_Doctrine_of_the_Fait
10. 'Eschatology'. In Encyclopedia Britannica. Chicago: Encyclopedia Brittanica, 1992.
11. Goldenberg, D.M. The Curse of Ham: RaceAnd Slavery in Early Judaism, Christianity,And Islam
12. (Jews, Christians,And Muslims from theAncient to the Modern World). Princeton: PrincetonUniversity Press, 2003.
13. Haag, J. 'From Tolerance to Respect'. Sacred Journey,The Journal on Fellowship of Prayer, 2008,Oct/Nov: 2- 3.
14. Harris, R., ed. NeoplatonismAnd Indian Thought. Norfolk: SUNY Press, 1981.
15. Haynes, S. R. Noah's Curse: The Biblical Justification ofAmercian Slavery.

3.7 बोध प्रश्न

1. ज्ञानमीमांसीय आक्रमण से क्या अभिप्राय है?
2. क्या आप ज्ञानमीमांसीय आक्रमण के मूल में ईसाई धर्म के विचारों का विशेष योगदान मानते है, स्पष्ट कीजिये ?
3. भारतीय परम्पराओंके विषय में नकारात्मक प्रचार करने वाले किन्ही तीन विचारको का नामोल्लेख कीजिए?
4. भारतीय ज्ञानपरम्परा के बारे में अरबो का क्या दृष्टिकोण था ?

5. भारतीय ज्ञानपरम्परा के बारे में पश्चिम का क्या दृष्टिकोण था?
6. कैथरीन मेयो कौन थी, उनके द्वारा लिखित पुस्तक में भारतीयों के बारे क्या विचार थे 2
7. भारतीय ज्ञानपरम्परा पर विश्व की नकारात्मक छवि के विरुद्ध धारा खड़ी करने वाले प्रमुख विचारकोंका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करें ?
8. महात्मा गाँधी द्वारा पश्चिमी सभ्यता की आलोचना किन तर्कों के आधार पर की गई विवेचन कीजिए?
9. मैकाले की शिक्षा ब्यवस्था ने भारत में किस प्रकार के परिणाम पैदा किये ?
10. क्या आप मानते हैं - वर्तमान विश्व पर भारतीय ज्ञान परम्परा का प्रभाव बढ़ रहा है?

इकाई 4 भारतीय ग्रन्थों के प्रति पाश्चात्य दृष्टि

इकाई की रुपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:-

- इंडोलोजी और उसका इतिहास जान पाएंगे।
- ओरिएंटल पुनर्जागरण को समझ पाएंगे।
- यूरोप में प्रथम भारतीयों ग्रन्थों के आगमन और उनके संस्थापकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- जर्मन इंडोलोजी के इतिहास को विस्तृत रूप से समझ पाएंगे।
- जर्मन महाभारत और भगवद्गीता के उद्गम के बारे में जान पाएंगे।
- इकाई से संबद्ध पारिभाषिक पदों को जान पाएंगे।
- आधुनिक युग के महत्वपूर्ण सिद्धांत जैसे उत्तर उपनिवेशवाद, प्राच्यवाद और नव-उपनिवेशवाद को समझ पाएंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय छात्रों! हिन्दू अध्ययन की पश्चिमी दृष्टि के इस प्रभाग में हम भारतीयों ग्रन्थों के प्रति पाश्चात्य दृष्टि के बारे में विस्तृत अध्ययन करेंगे। इस प्रभाग के सन्दर्भ कि शुरुआत में भारत और पश्चिम के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला जायेगा और यह समझने की कोशिश की जाएगी की कैसे यूरोप में मध्यकालीन युग के बाद औद्योगिक क्रांति और उपनिवेशवाद के शुरुआत के बाद औपनिवेशिक ताकतों ने भारत में सभी प्रकार से रूचि दिखानी शुरू की। हमे यह भलीभांति मालूम है की भारत में अंग्रेजी शासन के बाद कैसे भारतीयों को उनके अपने संस्कृति और ग्रन्थों के बारे में गुमराह करके और उनके मन में हीन भावना भर के भारतियों को भारतीय संस्कृति से दूर किया गया। भारत को सोने की चिड़िया के रूप में जाना जाता था और भारतीय दर्शन और संस्कृति की गूंज विश्व के चारों कोनों में सुनाई देती थी और एक औपनिवेशिक साजिश के तहत भारत में अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था जो मैकाले द्वारा ब्रिटिश संसद में प्रस्तावित की गयी थी और भारत में लायी गयी थी ने भारत और भारतीयता के बोध का सर्वनाश कर दिया। मैकाले की शिक्षा व्यवस्था ने भारत में यह सुनिश्चित किया की कोई भारतीय भारतीय संस्कारों के तरफ कम और पश्चिमी विचारों के प्रति ज्यादा जागरूक रहे। इस पाठ में अध्ययन के दौरान हम यह जानने की कोशिश करेंगे की कैसे जर्मन इंडोलोजी जिसकी शुरुआत ओरिएंट के प्रति जागरूकता के उद्देश्य से जर्मनी में अठारहवीं शताब्दी में हुई थी: कैसे इसने भारतीय महाकाव्यों का न केवल गलत सन्दर्भों में अर्थ निकाला बल्कि इसके उल्ट प्राचीन भारतीय साहित्यिक और दार्शनिक परंपरा पर जातिवादी और नस्लवादी होने के आरोपों को जबरदस्ती भारत और भारतीयों के मनोदशा पर मढ़ दिया। भारतीयता को पश्चिम की जिन दो सबसे बड़ी अवधारनाओं ने सबसे ज्यादा नुक्सान पहुँचाया है वो 'आर्यन इन्वेसन थ्योरी' और 'कास्ट सिस्टम' हैं। हम पश्चिम के विद्वानों द्वाराभारतीय ग्रन्थों पर किये गए अध्ययन में इन दोनों सैधांतिक दृष्टिकोणों के जड़ों को आसानी से ढूंढ सकते हैं और जिसका उल्लेख इस पाठ में भी कई जगहों पर किया गया है। आज़ादी के बाद भी पश्चिम ने ब्रिटेन के नव-उपनिवेशवादी सिद्धांतों से यह सुनिश्चित किया की भारत आने वाले वक़्त में भी पश्चिमी

धुरी के इर्द गिर्द घूमता रहे। हांलाकि हिन्दू अध्ययन के क्षेत्र में भारतियों द्वारा किये गए नए नए शोध कार्यों से यह संभव हो पाया है की पश्चिम की भारतीय संस्कृति के प्रति यह धूर्तता सभी भारतियों के समक्ष प्रस्तुत की जा सके। इस पाठ में हम इन सब दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए भारतीय ग्रन्थों के प्रति पाश्चात्य विचारों को समझने की कोशिश करेंगे।

4.2 परिचय

भारतीय सभ्यता, दर्शन और ग्रन्थों का प्रभाव हमेशा से पश्चिमी सभ्यता, दर्शन और ग्रन्थों पर रहा है। वैसे तो यह पारस्परिक संबंध यूनानी और रोमन सभ्यताओं के दौर से सर्वमान्य रहा है किंतु विशेष रूप से पश्चिम की भारत में रूचि प्रगाढ ईस्ट इंडिया कम्पनी की भारत पर हुकुमत और यूरोपीयउपनिवेशवाद के शुरुआत के साथ होती है। प्रमुख रूप से पुर्नजागरण काल यूरोपीय इतिहास का एक मुख्य बिंदु रहा है, और इसेयूरोपीय चिंतन और दर्शन में एक महत्वपूर्ण बदलाव के रूप में देखा जाता है। पुर्नजागरण काल के बाद से यूरोप के सारे चिंतन और दर्शन विधाओं में मनुष्य केन्द्र में आ गया और सैद्धांतिक रूप से 'एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक' या मानव केन्द्रित हो गया। प्रागैतिहासिक यूरोप (लगभग 800 ईसा पूर्व से पहले), शास्त्रीय पुरातनता (800 ईसा पूर्व से 500 ईस्वी तक)और मध्य युग (500-1500 ईस्वी) मे यूरोपीय चिंतन और मीमांसा रोमन, यहूदी और ईसाई धर्मग्रन्थों पर आधारित थी और इनमें धर्म संस्थानों की प्रमुखता थी। पुनर्जागरण काल में मार्टिन लूथर द्वारा प्रायोजित 'रिफॉरमेशन' या सुधार आन्दोलन जो मुख्यतः कैथोलिक चर्च की प्रथाओं को चुनौती देने तथा आसक्ति की बिक्री की आलोचना करने पर आधारित था यूरोप में एक बड़े बदलाव के लिए जिम्मेदार था। इस आंदोलन की वजह से न केवल धर्म ग्रन्थों और संस्थानों की विश्वसनीयता कमज़ोर होनी शुरु हुई बल्कि आधुनिकता की ओर यूरोप का यह पहला क़दम साबित होता है। आगे आधुनिकता की इस कड़ी में जो बड़ी यूरोपीय शक्तियाँ हैवे अपना औपनिवेशिक विस्तार करना शुरु करती हैं और यह मुख्य रूप से एशिया और अफ्रिका के ज्यादातर भागों में केन्द्रित था। उपनिवेशवाद के इन विस्तारों को बल मिला औद्योगिक क्रांति और इससे उपजने वाले पूंजीवाद से और धीरे धीरे यह पूरे यूरोप से विश्व के अन्यहिस्सों में फैल गया। एशिया और अफ्रीका की जो 'इंडिजेनस' या स्वदेशी विद्या, आचरण, ग्रन्य और सांस्कृतिक रिवाज हैं उनको इन यूरोपीय शक्तियों द्वारा औपनिवेशिक षड्यंत्र के तहत नीचा और औसत से भी निचले स्तर का दिखाया गया। भारतीय ग्रन्थों, विद्याओं,दर्शन पद्धतियों और धार्मिक और सांस्कृतिक अनुष्ठानों के प्रति पश्चिम की दृष्टि मुख्यतः इसी पूर्वाग्रह पर आधारित है जिसके बीज हमे औपनिवेशिक विस्तारवाद और इसके केन्द्र में स्थित पूंजीवाद में मिलते हैं। प्रायः जितनी भी औपनिवेशिक ताकतें इस आधुनिक युग में हुई हैं उन्होंने अपना विस्तार इन्हीं औपनिवेशिक हथकंडो का इस्तेमाल करके किया है जिसमे गुलाम राज्य की 'ओरिएंट' या 'अदर' कहा गया और औपनिवेशिक ताकतों ने अपने आप को 'आक्सीडेंट' कहकर संबोधित किया। 'ओरिएंट' और 'आक्सीडेंट' की यह जो द्विआधारी सोच है वह पूरे विश्व को दो हिस्सों में बांटती है— सभ्य व विकसित और असभ्यव पिछड़ा, जिसमे सभ्य को असभ्य के ऊपर शासन और दोहन करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। भारतीय ग्रन्थों के प्रति पश्चिमी धारणा और दृष्टिकोण इसी द्विआधारी सोचजो की दुनिया को दो हिस्सों में विभाजित करती है का परिणाम है और शताब्दीमें इसकी शुरुआतपश्चिम में जर्मन इंडोलोजी के रूप में जर्मनी में होती है जो बाद में भारतीय ग्रन्थों के प्रति पश्चिमी धारणा या औपनिवेशिक दृष्टिकोषा में प्रमुख सहभागिता करती है। पश्चिम की यह जो औपनिवेशिक विचारधारा पूर्व के देशों के लिए रही है उसका प्रखर

विरोध1960के दशक के बाद उत्तर-उपनिवेशवाद आंदोलन के रूप में होना शुरू हुआ। भारतीय ग्रन्थों के संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि आज़ादी मिलने के पहले और 1960 के दशक में उत्तर उपनिवेशवाद की शुरुआत के बाद से भारतीय ग्रन्थों के प्रति जो पश्चिम का जो पूर्वाग्रह रहा है उसका विरोध भारत में कई रूपों में हुआ है। लेकिन जो मुख्यधारा रही उसमे पश्चिमी औपनिवेशवाद का प्रभाव काफी गहरा हुआ और अधिकांश भारतीयों के मन में अंग्रेज यह हीन भावना बैठाने मे सफल रहे की भारतीय ग्रन्थ और दर्शन पश्चिम के ग्रन्थों और दर्शन पद्धतियों के मुकाबले नीचले और औसत दर्जे के हैं।साम्राज्यवाद की यह श्रेष्ठता की भावना लॉर्ड मैकाले के द्वारा लाई गई शिक्षा व्यवस्था का परिणाम था।यह धारणा आजाद भारत में भारतियों के मन में मौजूद रही और वो पश्चिमी संस्कृति और शिक्षा को भारतीय संस्कृति और शिक्षा से श्रेष्ठ व उच्चतर मानते रहे। औपनिवेशिक ताकतों द्वारा बनाई गई यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें गुलाम राज्यों को आज़ादी देने के बाद भी वैचारिक रूप से उन्हें इस तरह से अधीनस्थ बनाया जाता थाकी वे कभी अपने संस्कृति और धार्मिक रिवाजों को न समझ पाते और न महत्व दे पाते और साम्राज्यवाद द्वारा बनाई गई इसीव्यवस्था में ही फंसे रह जाते। इस व्यवस्था की उत्तर-उपनिवेशवाद के दौर में 'नव-उपनिवेशवाद' या 'नियो-कोलोनियलीज्म' कहा गया।

4.3 इण्डोलॉजी और उसका इतिहास

प्राचीन भाषाशास्त्र और उसके अध्ययन की शुरआत जर्मनी में नहीं हुई है बल्कि इसकी झलक में हमें प्लेटो द्वारा लिखे गए एक 'लेजेंड' या कथा में मिलती है जिसमे ईश्वर और एक कन्या के बीच संवाद है। इस कथा में एथेंस के राजा एरेक्थयूस की बेटी ओरेथिया का जिक्र है। जर्मन इंडोलोजी जो मुख्यतः अठारहवीं शताब्दी में शुरु होती है मूल रूप से ऐतिहासिक समालोचना या पाठ्य ऐतिहासिकता पर आधारित है। पश्चिम में ऐतिहासिक समालोचना का इतिहास इसाई धर्म ग्रन्थ बाइबिल के दौर में जाता है। मुख्यतः इस तरीके का प्रयोग बाइबिल का अध्ययन करने के लिए किया जाता था जिसमे धार्मिक अर्थों और सन्दर्भों से ज्यादा ऐतिहासिक घटनाओं के समसामियकता को ज्यादा महत्व दिया जाता था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है की बाइबिल में लिखे धार्मिक वक्तव्यों को समझने के लिए बाइबिल लिखने के दौरान घटी घटनाओं से जोड़कर देखा जाता था।यूरोप में इंडोलोजी की शुरुआत का सीधा सम्बन्ध 'ओरिएंटलिस्म' या प्राच्यवाद की प्राचीन युग में शुरुआत से है।दरअसल, जैसे ज्ञान और अज्ञान स्वयं निरपेक्ष नहीं हो सकते, वैसे ही एक महाद्वीप की दूसरे महाद्वीप के बारे में अज्ञानता भी निरपेक्ष नहीं हो सकती। जैसे उदहारण के तौर पर हम शायद कभी नहीं जान पाएंगे कि अलेक्जेंडर के साथियों ने एशिया के बारे में यूनानी अज्ञानता को किस बिंदु पर दूर किया था। मुख्य रूप से एरियन के माध्यम से जो जानकारी हम तक पहुंची है, उसमें भाषाई संपर्क की कमी का कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि कई दस्तावेज खो गए हैंया विकृत हो गए हैं। इन सबके बावजूद ऐसे बहुत से एतिहासिक प्रमाण हैं जो एशिया और यूरोप के बीच हुए सांस्कृतिक आदान-प्रदान को दर्शाते हैं। जैसेतीसरी शताब्दी में, अशोक के साम्राज्य में, मैसेडोनियन अभियान के परिणाम शीघ्र ही सामने आए: राजा मिलिंडा (मेनेंडर) और तपस्वी नागसेना का संवाद संचार का उतना ही स्पष्ट प्रमाण है जितना कि गांधार की कला का है। जैसा कि सिल्वेन लेवी ने कहा, "प्लोटिनस, पोर्फिरी और नियोप्लाटोनिस्टों का पूरा स्कूल कपिला और पतंजलि के तत्वमीमांसा को दर्शाता है। मणि और ग्नोस्टिक्स ने ईसाई धर्म में ब्राह्मण और बौद्ध भावना का परिचय दिया, जबकि नेस्टोरियनों का एक उपनिवेश भारत में गॉस्पेल लाया।"

फेस्टुगिएरे ने प्रदर्शित किया है कि दूसरी शताब्दी ईस्वी में रोम में कई एशियाई सिद्धांत प्रचलित थे, और फ़िलियोज़ैट ने दिखाया है कि सेंट हिप्पोलिटस के ईसाई धर्म ने उपनिषदों की भावना को फिर से खोजा और पश्चिम और पूर्व के बीच प्राचीन संचार की रेखा पर जोर दिया।

भारत स्वयं निषिद्ध और दुर्गम के अलावा कभी प्रकट नहीं हुआ था: इस प्रकार इसका रहस्योद्घाटन जबरदस्त, निर्णायक, अनूठा साबित हुआ। भारत को, सभी दिशाओं में, रोमैंटिक्स के बीच जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी, वह इस तथ्य से उत्पन्न हुई कि इसने, अपनी समग्रता में, भिन्न होने के महान प्रश्न को प्रस्तुत किया। एक अनूठे मॉडल के विपरीत, भारत हमेशा यूरोप की तरह ही समस्याओं को जानता था, लेकिन उनसे उसी तरह से नहीं निपटा था। भारत ने अपने सनातन संस्कृति को प्रस्तुत किया, जैसा कि मानव जाति के इतिहास में पहले केवल एक बार देखा गया था, एक ऐसा अतीत जो मरा नहीं था बल्कि आज की पुरातनता पर आधारित था और यह हमेशा बना रहा।

धीरे-धीरे, भारत को फारस, चीन या यहूदिया से नहीं, बल्कि मिस्र और असीरिया और रोम और ग्रीस से अलग किया जाने लगा, जिनके कई सम्राटों और क्रांतिकारियों ने खुद को पुनर्जीवित करने का दावा किया था, हालांकि वे केवल टैक्सिडर्मिस्ट थे।एक संपूर्ण विश्व जिसे ग्रीको-रोमन विरासत के साथ रखा जा सकता है, वो कोई दूसरी नहीं बल्कि भारतीय विरासत थी। एक पूरी दुनिया जो पूरी तरह से खो गई थी, कुछ ही वर्षों में पूरी तरह से ज्ञात हो गई। पहली बार भारत की छवि ब्रह्मांड के विन्यास में शामिल हुई। शायद किंवदंतियों में डूबे उस समय को छोड़कर, जब जानकारी से अधिक अफवाहें लोगों तक पहुंचतीं, कोई भी "सुसंस्कृत" व्यक्ति ने ब्रह्मांड के बारे में अपने विचारों में भारत को शामिल नहीं किया होता। ऐसा माना जाता है की यहूदिया को बाइबिल परंपरा के कारण शामिल किया गया होगा; फारस को उसके युद्ध और उसकी जादू की परंपराएँ के कारण; अरब अपनी विजयों और चिकित्सकों, धर्मयुद्धों और स्कूली लोगों के कारण; और, पिछले दो सौ वर्षों से, चीन, प्रतीत होता है कि अपने मिशनों के कारण यूरोप में अध्ययन का विषय बना होगा। केवल इंडिक दुनिया ही इस यूरोपीय अध्ययन के दीवार के पीछे रही। और फिर, इंडोलोजी के एक ही लहर में, यह पुरे यूरोप के सामने आ गया। पुरे विश्व को अधिक से अधिक पता चल गया कि भारत के बारे में क्या सोचना है, और बाद में कोई नहीं जानता था कि भविष्य में भारत के बारे में क्या सोचा जायेगा और पूर्व के देशों के अध्ययन में भारत कितना महत्वपूर्ण होगा।भारत अपनी एकजुटता और परिपक्वता के सामान्य स्तर, वर्तमान में शाश्वतता और मानवता के कई युगों को एक साथ अपनाने और एक साथ इतने सारे हितों को संलग्न करने की शक्ति में एक अतुलनीय इकाई बन गया जिसमे तत्वमीमांसा और महान कविता, धर्मशास्त्र और भाषा विज्ञान शामिल थे। सबसे पहले, संस्कृत के गूढ़लेखन के प्रयासों में ईऑन के हिस्से का दावा किया गया। इसने उन योग्य यात्रियों को आकर्षित किया जो संस्कृत का अध्ययन करके लौटे थे, भले ही वे इसके करीब न हों। एक ऐसे युग की पूरी तस्वीर यूरोप के सामने पेश की गई जिसके लिए कुछ भी तब तक विश्वसनीय नहीं था जब तक कि वो जानकारी पूर्ण न हो जाए। जिन देशों में यह चित्र प्रस्तुत किया गया था, उन देशों की चिंताएँ, चाहे वे दिखावटी आदिमवाद की चिंताएँ हों या रहस्यमय सिद्धांतों या जादू-टोना द्वारा जागृत आदर्शवाद और सर्वेश्वरवाद की चिंताएँहों, इन सारी चिंताओं के बावजूद इन्होंने भारतीय समग्रता को स्वीकार किया और इस चित्रण ने ऐसेरहस्मयी अध्यायों को खोल दिया जिनके बारे में माना जाता था कि अकेले ग्रीक द्वंद्वात्मकता में इन रहस्यों की कुंजी है।इस नए पाए गए भारतीय अतीत ने 1771 में क्रांति लाना शुरू कर दिया जब एंक्वेटिल-डुपेरॉन ने

ज़ेंड अवेस्ता को प्रकाशित किया, ऐसा पहली बार हुआ था कि कोई यूरोपीय विद्वान एशिया की दीवारों में से एक में सेंध लगाने में सफल हुआ था। तीस साल बाद यह घटना फलीभूत हुई जब कलकत्ता में विलियम जोन्स और उनके साथियों ने बंगाल में पहली **एशियाटिक सोसाइटी** की स्थापना की और प्रामाणिक संस्कृत ग्रन्थों का पहला अनुवाद किया। इसके बाद भाषाई प्रगति लगभग अविश्वसनीय गति से हुई। उन्नीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध उन उपलब्धियों से गूंज उठा जो आज भूले हुए रहस्य बन गए हैं। वर्ष 1875 एक प्रकार की सीमा रेखा प्रतीत होती है जिसके बाद उन क्षेत्रों में कुछमहत्वपूर्ण रहस्योद्घाटन हुए। ओरिएंट का हिस्सा, और विशेष रूप से भारत कातब तक तय हो गया था, जो की ज्ञान के वर्गीकरण और मानवतावादी आधार के समेकन से संबंधित थाउन प्रकाशनों द्वारा जो एक युग का सार प्रस्तुत कर रहे थे: डॉयचेलैंड में थियोडोर बेन्फी की **गेस्चिचटे डेर स्प्रेचविसेन्सचाफ्टन ओरिएंटलिसचेन फिलोलोजी** (जर्मनी में भाषाविज्ञान और ओरिएंटल भाषाविज्ञान का इतिहास) 1869 में म्यूनिख में प्रकाशित हुआ। पेरिस में 1870 में "**शेफ्स-डी'ओवरे डे टेस्प्रिट ह्यूमेन**" नामक श्रृंखला में एक "**बिब्लियोथेकओरिएंटेल**" जोड़ा गया था। 1875 में पूर्व की पवित्र पुस्तकें मैक्स मुलर द्वारा संपादित श्रृंखला, इंग्लैंड में दिखाई देने लगी, जिससे ये ग्रंथ सभी के लिए सुलभ हो गए। और 1876 में जेम्स फर्ग्यूसन ने लंदन में **हिस्ट्री ऑफ इंडियन एंड पास्टर्न आर्किटेक्चर** प्रकाशित किया, जो उनके **हिस्ट्री ऑफआर्किटेक्चर इन ऑल कंट्रीज** का तीसरा खंड था। दूसरी ओर, इस वीरतापूर्ण युग के समापन को दो विपरीत घटनाओं द्वारा चिह्नित किया गया था। 1868 में **इकोले डेस हाउट्स एट्यूड्स** की स्थापना की गई, और इंडिक अध्ययन को बर्गेन और बार्थ की कक्षाओं में अपने पाठ्यक्रम में प्रवेश करने की अनुमति दी गई। सामान्य स्वीकृति प्राप्त करने के बाद, नए मानवतावाद ने अधिक संकीर्ण रूप से विशेषज्ञता हासिल करना शुरू कर दिया, भारतीय अध्ययनों के भीतर प्रत्येक विविध अनुशासन ने अपने स्वयं के अधिग्रहणों का अधिक गहनता से विश्लेषण करना शुरू कर दिया।

4.4 ओरिएंटल पुनर्जागरण

ओरिएंटल पुनर्जागरण पहलेयूरोपीय पुनर्जागरण के विपरीत दूसरा पुनर्जागरण है जिसकी अभिव्यक्ति और विषय से रोमांटिक लेखक परिचित थे, जिनके लिए यह शब्द इंडिक पुनर्जागरण के साथ विनिमेययोग्य है। यह अभिव्यक्ति उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में संस्कृत ग्रन्थों के आगमन के कारण उत्पन्न माहौल के पुनरुद्धार को संदर्भित करती है, जिसने कॉन्स्टेंटिनोपल के पतन के बाद पंद्रहवीं शताब्दी में ग्रीक पांडुलिपियों और बैज़न्टीन टिप्पणीकारों के आगमन के समान प्रभाव उत्पन्न किया। "**दि ओरिएंटल रेनेसां**" वह शीर्षक है जो एडगर क्विनेट ने अपने **जिनी डेस रिलीजन** (1841) में एक महत्वपूर्ण अध्याय को दिया है जो इस घटना का जश्न मनाता है। वह एंक्वेटी और जोन्स की भूमिकाओं की तुलना लस्करिस से करते हैं, और हिंदू पांडुलिपियों की सुखद खोज की तुलना ग्रीक महाकाव्य **इलियड** और **ओडिसी** से करते हैं। क्विनेट के अनुसार अपनी खोजों के पहले उत्साह में, प्राच्यवादियों ने घोषणा की कि, समग्र रूप से, ग्रीस और रोम की तुलना में अधिक गहरा, अधिक दार्शनिक और अधिक काव्यात्मक पुरातनता एशिया की गहराई से उभर रही थी। क्विनेट ने, अपने जर्मन गुरुओं की तरहदेखा कि ओरिएंटल पुनर्जागरण ने नवशास्त्रीय युग के अंत को चिह्नित किया था जैसे कि शास्त्रीय पुनर्जागरण ने मध्ययुगीन युग के अंत को चिह्नित किया था, औरक्विनेट ने ये घोषणा की कि यह धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दुनिया का एक नया

सुधार होगा।इस सन्दर्भ में रेमंड श्वाब का मानना है की 1771 के बाद से ही दुनिया वास्तव में गोल हो जाती हैऔरआधा एशियाई बौद्धिक मानचित्र अब कोरा नहीं था। दूसरे शब्दों में, यह दूसरा पुनर्जागरण नहीं बल्कि पहला पुनर्जागरण था, जो देर से ही सही, अपनी तार्किक परिणति तक पहुंचा था। यूरोप पहले ही तीन बार प्राच्य एशिया की खोज कर चुका था, लेकिन ग्रूसेट के अनुसार, हर बार यूरोपीय भूमध्यसागरीय क्लासिसीज्म केवल एशिया में 'एनालॉगस क्लासिकिज्म' खोजना चाहती थी। यह दुर्लभ समयों में से एक था जब एक नए वातावरण के निर्माण को देखा जा सकता था जिसमे विद्वानों और संसाधनों के कुछ बार-बार संयोजन के परिणामस्वरूप, एक या दो पीढ़ियों के अचेतन मेंधीरे-धीरे एक व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार हुआ जिससे रचनात्मक विचारकों का क्षितिज और विचारों के वर्तमान आयामों में बदलाव की दस्तक दिखाई दी।दरअसल, **ज़ेंड अवेस्ता** का 1771 संस्करण बाइबिल और यूरोपीय शास्त्रीय परंपराओं से पूरी तरह स्वतंत्र एशियाई पाठ के पहले दृष्टिकोण का प्रतीक है। भाषाओं का इतिहास और भाषाओं के माध्यम से इतिहास दोनों ही इस कार्य से शुरू होते हैं, जिसे हम कह सकते हैं, विश्व इतिहास की शुरुआत भी थी। सबसे पहले केवल संभावित रूप से, ऐसा इतिहास निश्चित और अपरिवर्तनीय बन गया, जब 1784 में, पहले यूरोपीय इंडिक विद्वानों ने संस्कृत पढ़ना शुरू किया और 1785 में, **भगवद्गीता** का अनुवाद प्रकाशित किया और अनादिकाल से जो फसल पक रही थी, उसका समय अब आ गया था। आश्चर्य की बात यह है कि जिस गति से इस मांगलिक, परेशान करने वाली और अनूठी अवधारणा को सफलता मिली, इसकी त्रिगुणात्मक रहस्यमय प्रतिष्ठा ने धर्मशास्त्रियों, क्रांतिकारियों और कलाकारों का ध्यान आकर्षित किया। रोमान्टिक्स के लिए, जो चीज़ अनिवार्य रूप से विदेशी थी उसकी खोज हमेशा उस चीज़ की खोज से शुरू होती थी जो सबसे आदिम थी। प्राच्य मामलों में, आदिम की खोज सबसे पहले प्राचीन फारस के अवेस्ता में, फिर भारत के वेदों में, और बाद में मिस्र और असीरिया के कार्यों में की गई थी।यूरोप में भारत का मामला हमेशा सबसे चौंकाने वाला होता था।अठारहवीं शताब्दी के अंत में, **शकुंतला** के दयालुऔर जानकारियों से परिपूर्ण भारत (जेम्स डार्मेस्टेटर ने अपने दंभ में कालिदास की तुलना मारिवॉक्स से की थी) ने अठारहवीं शताब्दी के पहले चरणों के लिए एक आदर्श सांस्कृतिक सेतु की पेशकश की थी। गोएथे, हर्डर के साथ, इसे पार करने वाले कुछ स्वतंत्र लोगों में से एक थे। हालाँकि, कुल मिलाकर, पूर्व और पश्चिम के बीच पुल के निर्माताओं ने इस अवधि को बेकार जाने दिया। **शकुंतला** की यूरोप में काफी निंदा की गई थी, लेकिन पंडितों के कहने पर पहली बार अनुवादित **भगवद्गीता** पर प्रतिक्रिया काफी अलग थी। 1832 के अपने आरंभिक व्याख्यान में, बर्नौफ़ ने व्यापक आशाएँ व्यक्त कीं थी और बताया था: "यह भारत से भी अधिक है, सज्जनों, यह दुनिया की उत्पत्ति से, मानव प्रजाति के आदिम इतिहास से एक पृष्ठ है, जिसे हम प्रयास करेंगे एक साथ समझने के लिए।"

अठारहवीं सदी में यूरोप के विद्वान आंदोलन के तहत भारत की पश्चिमी छवि आदिम से समकालीन तक चली गई, जिसका अर्थ कुछ मामलों में अविश्वसनीय विस्मयता रही और कुछ मामलों में सम्मानात्मकरही।साहित्यिक जिज्ञासा और सार्वजनिक रुचि, जिसने विद्वान आंदोलन का यथासंभव सर्वोत्तम अनुसरण किया, और वह आंदोलन, आम तौर पर 1785 और 1870 के बीच क्रमिक पूर्वाग्रहों द्वारा चिह्नित किया गया था: सबसे पहले वेदवाद के लिए, जो लंबे समय तक उतना ही आविष्कार किया गया जितना ज्ञात था; फिर ब्राह्मणवाद के लिए; और फिर बौद्ध धर्म के लिए, जो 1840 के दशक में संस्कृत और पाली सिद्धांतों के

आगमन के बाद ही सुलभ हो सका। केवल बाद में ही पश्चिम अपने दार्शनिक फ्रेडरिक श्लेगल्स के पहले धुंधले, भारी-भरकम उच्चाटन से आलोचनात्मक आत्मसात और सख्त तुलनाओं तक पहुंच सका।

4.4.1 यूरोप में प्रथम भारतीय प्रामाणिक ग्रन्थों का आगमन

1784: 15 जनवरी को, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ने कलकत्ता में अपनी बैठकें शुरू कीं, इस प्रकार नए युग का पहला वर्ष मनाया गया। नवंबर में एक प्रमुख संस्कृत पाठ से सीधे पहला पूर्ण अनुवाद सोसायटी के तत्वावधान में सामने आया- जो विल्किंस की **भगवद्गीता** थी।

1785: लंदन में विल्किंस के काम का प्रकाशन। अंग्रेजी संस्करण का 1787 में एबे पैरौड द्वारा फ्रेंच में '**ला भगुआट-गीता, कंटेनेंट अन प्रिसिस डे ला मोरेल एट डे लारिलीजन डेस इंडिएन्स, डी'अप्रेस ला वर्जन एंग्लैइस डी एम. विल्किंस**' के रूप में पुनः अनुवाद किया गया था। विल्हेम श्लेगल के पाठ पर आधारित लैंजुइनैस का सीधे फ्रेंच में अनुवाद, मरणोपरांत 1832 में प्रकाशित हुआ था। श्लेगल का अपना युगांतकारी जर्मन अनुवाद 1823 में प्रकाशित हुआ था।

1786: एंक्वेटिल ने अपने **रेचेर्चेस सुर ल'इंडे** में चार उपनिषदों को प्रकाशित किया, जिसे जीन बर्नौली द्वारा संपादित एक श्रृंखला के हिस्से के रूप में बर्लिन में प्रकाशित किया गया था, जिसमें फादर जोसेफ टिफेनथेलर का डिस्क्रिप्शन **हिस्टोरिक एटजियोग्राफ़िक डी ल'इंडे** भी शामिल था, जो 1786 से तीन खंडों में प्रकाशित हुआ था। 1791 में एंक्वेटिल ने पचास उपनिषदों का अनुवाद किया, पहले फ्रेंच में (हालांकि इस संस्करण में प्रकाशित होने वाले केवल चार उपनिषद थे जो 1786 में प्रकाशित हुए थे) और फिर लैटिन में उनका प्रकाशन हुआ। उन्होंने इस कार्य को 1787 में पूरा किया, और पचास लैटिन संस्करण 1801-1802 में '**औप्नेखट'** शीर्षक के तहत प्रकाशित हुए। इस परियोजना का कलकत्ता की गतिविधियों से कोई संबंध नहीं था; एंक्वेटिल के संस्करण सीधे तौर पर संस्कृत से नहीं, बल्कि शाहजहाँ के बेटे दारा शिकोह के लिए तैयार की गई सत्रहवीं शताब्दी की फ़ारसी पांडुलिपि से लिए गए थे - जिसमें राजकुमार बर्नियर ने स्पष्ट रूप से चित्रित किया था। हालाँकि, कलकत्ता आंदोलन की तरह, '**औप्नेखट**', नवोदित इंडिक अध्ययनों को आगे बढ़ाने में अत्यधिक महत्वपूर्ण था।

1787: विल्किंस द्वारा '**हितोपदेश**' का अनुवाद, जिसका जोन्स ने भी अनुवाद किया था और जो 1807 में मरणोपरांत सामने आया। यूरोप में इस कार्य के कई पुनर्अनुवाद हुए, जहां यह पाठ सबसे व्यापक रूप से प्रसारित पाठों में से एक था।

1789: जोन्स द्वारा कालिदास की शीघ्र ही प्रसिद्ध हुई '**शकुंतला**'का अंग्रेजी अनुवाद। 1790 और 1807 के बीच इंग्लैंड में पाँच पुनर्मुद्रण और कई सारे पुनर्अनुवादहुए।

1792: जोन्स द्वारा '**गीता गोविंदा**' का अनुवाद, एशियाई शोध के तीसरे खंड में प्रकाशित। रहस्यवादी प्रेम की इस कविता का तत्काल और स्पष्ट प्रभाव पड़ा, विशेषकर प्रथम जर्मन रोमांटिक विद्वानों पर।

1794: जोन्स के **इंस्टीट्यूट ऑफ हिंदू लॉ** का मरणोपरांत प्रकाशन - कोलब्रुक के **डाइजेस्ट ऑफ हिंदू लॉ** से अलग, जो 1797 और 1798 में कलकत्ता में प्रकाशित हुआ था। जोन्स के

काम का प्रकाशन प्रमुख महत्व का था क्योंकि यह मुख्य रूप से नैतिक और न्यायिक था, इस कार्य को लंदन और कलकत्ता में कई बार पुनर्मुद्रित किया गया था। लोइसेलेउर-डेस्लॉन्गचैम्प्स द्वारा फ्रांसीसी अनुवाद 1833 में सामने आया; जोहान क्रिश्चियन हटनर द्वारा जर्मन अनुवाद 1837 में वेइमर में प्रकाशित हुआ।

1805: एशियन रिसर्च के आठवें खंड में वेद पर कोलब्रुक के 1805 के निबंधप्रकाशित हुए।

1808: हिंदुओं की भाषा और ज्ञान पर फ्रेडरिक श्लेगल का निबंध प्रकाशित हुआ।

1897: पॉल ड्यूसेन ने साठ उपनिषदों का प्रतिपादन किया, जो एंक्वेटिल से दस अधिक थे, लेकिन उनमें से पांच उन्होंने एंक्वेटिल के संस्करण से उधार लिए क्योंकि संस्कृत मूल अभी तक बरामद नहीं हुई थी।

4.4.2 प्रथम विद्वान: सर विलियम जोन्स

सर विलियम जोन्स (1746-1794) संस्कृत सीखने और वेदों का अध्ययन करने वाले पहले अंग्रेज थे। उनकी शिक्षा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हुई और यहीं पर उन्होंने कानून की पढ़ाई की और प्राच्य भाषाओं में भी अपनी पढ़ाई शुरू की, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्हें सोलह भाषाओं में महारत हासिल थी। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने के बाद, जोन्स 1783 में कलकत्ता चले गए। उन्होंने **रॉयल एशियाटिक सोसाइटीऑफ़ बंगाल** की स्थापना की और कई संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। जोन्स को अन्य धर्मों, विशेषकर वैदिक धर्म की आलोचना करने की प्रवृत्ति नहीं थी, जिसका वे आदर करते थे और आराधना करते थे।हालाँकि, जोन्स एक धर्मनिष्ठ ईसाई थे और खुद को बाइबिल कालक्रम के बंधनों से मुक्त नहीं कर सके। भारतीय इतिहास, विशेष रूप से चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल से लेकर सिकंदर के भारत पर आक्रमण तक के इतिहास के बारे में उनके सिद्धांत निश्चित रूप से धार्मिक पूर्वाग्रह के नज़रिए से उन्हें निर्देशित किए गए थे। उन्होंने **श्रीमद्भागवतम** को "एक प्रेरक कहानी" के रूप में भी वर्णित किया और दावा किया कि इसकी जड़ें ईसाई गोस्पेल में हैं, जिन्हें भारत में लाया गया था और, हिंदुओं के लिए दोहराया गया था, और उन्हें केशव की पुरानी कथा में शामिल किया था।हालाँकि, इस सिद्धांत को खारिज कर दिया गया था क्योंकि कृष्ण उपासना के रिकॉर्ड ईसा मसीह से सदियों पहले के हैं।1840 में जोन्स को फोर्ट विलियम की ब्रिटिश कॉलोनी में मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया था। यहां, 1846 में, उन्होंने कालिदास के प्रसिद्ध नाटक '**शकुंतला**' और 1851 में, उनकी मृत्यु के वर्ष **'द कोड ऑफमनु'** का अंग्रेजी में अनुवाद किया। उनके बाद उनके छोटे सहयोगी, सर हेनरी थॉमस कोलब्रुक, उनके स्थान पर बने रहे और उन्होंने हिंदू धर्म पर कई लेख लिखे।

प्रख्यात ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स मिल (दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता) जिन्होंने 1818 में ब्रिटिश भारत का अपना विशाल इतिहास प्रकाशित किया था, ने जोन्स की भारी आलोचना की। हालाँकि मिल कोई भारतीय भाषा नहीं बोलता था, उसने कभी संस्कृत का अध्ययन नहीं किया था, और कभी भारत नहीं आया था, भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रति उसका निंदनीय अभियोग उन सभी ब्रिटिशों के लिए एक मानक कार्य बन गया था जो भारत में सेवा करना चाहते थे। मिल का दृढ़ विश्वास था कि भारत का अतीत कभी भी गौरवशाली नहीं था और उन्होंने इसे एक ऐतिहासिक कल्पना के रूप में माना। उनके लिए, भारतीय धर्म का अर्थ था, 'जनन अंगों के प्रतीकों की पूजा' और भगवान का वर्णन करना, '...अश्लील कृत्यों की एक

विशाल श्रृंखला।' यह कहना पर्याप्त है कि जेम्स मिल जोन्स के साथ भारत के 'उच्च राज्य और सभ्यता की परिकल्पना' के लिए बिलकुल ही असहमत थे। मिल का ब्रिटिश भारत का इतिहास प्रसिद्ध फ्रांसीसी मिशनरी अब्बे डुबोइस की पुस्तक **हिंदू मैनर्स, कस्टम्सएंड सेरेमनीज़** से काफी प्रभावित था।

4.4.3 एच.एच. विल्सन

होरेस हेमैन विल्सन (1786-1860) को अपने समय का सबसे बड़ा संस्कृत विद्वानबताया गया है। उन्होंने अपनी शिक्षा लंदन में प्राप्त की और ईस्ट इंडिया कंपनीज़ की चिकित्सा सेवा में भारत की यात्रा की। वह 1811 से 1833 तक **एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल** के सचिव बने और संस्कृत से अंग्रेजी शब्दकोश प्रकाशित किया। वह 1833 में ऑक्सफोर्ड में संस्कृत के बोडेन प्रोफेसर और 1837 में **रॉयल एशियाटिक सोसाइटी** के निदेशक बने। उन्होंने **विष्णु पुराण**, **ऋग्वेद** का अनुवाद किया और हिंदुओं के धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियों पर व्याख्यानात्मक किताबें लिखीं। उन्होंने पूर्वी ग्रन्थों के कई अनुवाद संपादित किए और मिल को भारत का इतिहास संकलित करने में मदद की, हालांकि बाद में विल्सन ने मिल की इतिहासलेखन की आलोचना की। विल्सन के विचार इस सन्दर्भ में कुछ हद तक एक पहेली की तरह बन गए थेक्यूंकि उन्होंने प्रस्ताव दिया था कि ब्रिटेन को भारतीयों पर ईसाई धर्म थोपने और उन्हें अपनी पुरानी परंपराओं को अस्वीकार करने के लिए मजबूर करने से खुद को रोकना चाहिए। विल्सन का विचार था कि ईसाई धर्म को वैदिक संस्कृति का स्थान लेना चाहिए, और उनका मानना था कि भारतीय परंपराओं का पूरा ज्ञान उस रूपांतरण को प्रभावित करने में मदद करेगा। उन्हें पता था कि भारतीय अपनी संस्कृति और धर्म को छोड़ने में अनिच्छुक होंगे। विल्सन को उम्मीद थी कि प्रेरित, मेहनती प्रयास से वैदिक विचार की "विशिष्ट" प्रणाली को "ईसाई सत्य के 'इथुरियल भाले' द्वारा भ्रामक और झूठा दिखाया जाएगा। उदाहरण के तौर पर एक समय में हिंदू धार्मिक व्यवस्था का सर्वोत्तम खंडन करने के लिए वह दो सौ पाउंड का पुरस्कार देने के लिए भी तैयार थे। विल्सन ने फर्जी गुरु-शिष्य संबंध का उपयोग करके मूल वैदिक मनोविज्ञान का शोषण करने के लिए एक विस्तृत विधि भी लिखी थी।हाल ही में विल्सन पर अमान्य विद्वता का आरोप लगाया गया है। नताली पी.आर. सिर्किन ने दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं, जिससे पता चलता है कि विल्सन एक साहित्यिक चोरी करने वाले विद्वान थे। उनके अधिकांश महत्वपूर्ण कार्यों में से एक में एक मृत लेखक की पांडुलिपियाँ एकत्र की गई जिन्हें उन्होंने अपने नाम से प्रकाशित किया था, साथ ही बिना शोध के किए गए कई कार्य भी थे।

4.4.4 थॉमस बबिंगटन मैकाले

थॉमस बैबिंगटन मैकाले (1800-59) को भारत में अंग्रेजी शिक्षा शुरू करने के लिए जाना जाता है। हालाँकि वे स्वयं एक मिशनरी नहीं थे, फिर भी उनका मानना था कि ईसाई धर्म ही भारत की अज्ञानता की समस्या को ठीक करने की कुंजी है। हालाँकि उन्होंने स्वीकार किया कि उन्हें संस्कृत और अरबी का कोई ज्ञान नहीं है, लेकिन उन्होंने पूर्व के धार्मिक कार्यों को कमतर करने में संकोच नहीं किया। 1838 में लॉर्ड बेंटिक की अध्यक्षता में भारत की सर्वोच्च शासक परिषद पर कुछ बहस हुई थी। भारतीय लोगों की शिक्षा के लिए अंग्रेजों द्वारा स्थापित किए जाने वाले स्कूलों में संस्कृत और भारत के शास्त्रीय साहित्य, साथ ही क्षेत्रीय भाषाओं को पढ़ाने के महत्व के बारे में, परिषद के कुछ सदस्य हल्के ढंग से इसके पक्ष में थे, लेकिन परिषद्

के बैठक में मैकाले द्वारा व्यक्त, पूर्णतया जातीय-केन्द्रित और विरयासक्त दृष्टिकोण प्रबल हुआ। दूसरे शब्दों में, लॉर्ड मैकाले का मानना था कि ईसाई ज्ञान और चिंतन के प्रभाव से हिंदू अपने पूर्वजों के धर्म से मुंह मोड़ लेंगे और ईसाई धर्म अपना लेंगे। ऐसा करने के लिए, उन्होंने शिक्षित भारतीयों की विद्वता का उपयोग उनकी अपनी परंपराओं को उखाड़ फेंकने के लिए ताकत के रूप में इस्तेमाल करने की योजना बनाई, या उनके अपने शब्दों में -"रक्त और रंग में भारतीय, लेकिन स्वाद में, राय में, नैतिकता, बुद्धि में अंग्रेजी।" उनका दृढ़ विश्वास था किअंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाला कोई भी हिंदू कभी भी अपने धर्म से ईमानदारी से जुड़ा नहीं रहता है। इस लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए मैकाले एक सक्षम विद्वान चाहते थे जो वैदिक ग्रन्थों की इस तरह से व्याख्या कर सके कि नव शिक्षित भारतीय युवा देख सकें कि उनके मूल धार्मिक सिद्धांत अंधविश्वासी और वास्तव में कितने बर्बर थे। अंततः मैकाले को फ्रेडरिक मैक्स मुलर के रूप में ऐसा विद्वान मिल गया था जो उनके विचारों के अनुरूप काम कर सके।

4.5 प्रारंभिक इंडोलोजिस्ट

4.5.1 फ्रेडरिक मैक्स म्यूएलर

फ्रेडरिक मैक्स मुलर (1823-1900) का जन्म डेसौ में हुआ था और उनकी शिक्षा लीपज़िग में हुई, जहां उन्होंने 1846 में इंग्लैंड आने से पहले संस्कृत सीखी और पंडिता विष्णु सरमा के **हितोपदेश** का अनुवाद किया। चूंकि वह दरिद्र थे, इसलिए उनकी देखभाल बैरन वॉन बुन्सन ने की थी जो इंग्लैंड में प्रशिया के राजदूत थेऔर पूरी दुनिया को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने के बचकाने सुखद विचार में डूबे हुए थे। लंदन में ही मैक्स मुलर की मुलाकात मैकाले से हुई जो अभी भी अपने 'सही आदमी' की तलाश में था। म्यूएलर को सबसे पहले ईस्ट इंडिया कंपनी ने ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद करने का काम सौंपा था। कंपनी युवा मुलर को प्रिंट करने के लिए तैयार प्रत्येक पृष्ठ के लिए चार शिलिंग का भुगतान करने पर सहमत हुई थी। बाद में वह ऑक्सफोर्ड चले गए जहां उन्होंने पूर्वी धर्म पर कई पुस्तकों का अनुवाद किया। उनकी सबसे महान कृति उनकी श्रृंखला **द सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट** थी, जो पचास खंडों में प्रकाशित हुई थी, जिसका संपादन उन्होंने 1875 में शुरू किया था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अपने करियर के अंत तकअपने विद्वता के कारण मुलर ने अच्छी खासी रकम जमा कर ली थी। यह विडम्बना है कि जिस व्यक्ति के नाम पर पूरे भारत में भवन हैं और वहां उनका इतना सम्मान किया जाता है, उसने संभवतः वैदिक संस्कृति को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाया है। उनकी मृत्यु के समय किसी और ने नही बल्कि लोकमान्य तिलक ने उन्हें 'गो-तीर्थ (ऑक्सफोर्ड) के वेद-महर्षि मोक्ष-मूल भट्ट' के रूप में सम्मानित किया था। हालाँकि म्यूएलर का नाम भारत के प्राचीन ज्ञान की प्रशंसा करने के रिकॉर्ड में है, लेकिन उनके पत्र जो दो खंडों में छपे हैं, एक पूरी तरह से अलग कहानी बताते हैं। आम तौर पर व्यक्तिगत पत्र लेखक के अंतर्मन की सच्ची तस्वीर पेश करते हैं। हम यहां मुलर के कुछ कथन प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें भारतीय संस्कृति पर उनका सच्चा दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से प्रस्तुत होता है- "इतिहास यह सिखाता है कि संपूर्ण मानव जाति को ईसाई धर्म की सच्चाइयों को स्वीकार करने से पहले, समय की पूर्णता में, एक क्रमिक शिक्षा की आवश्यकता है। एक उच्च सत्य के प्रकाश के स्वीकृति से पहले, मानव तर्क की सभी भ्रांतियों को समाप्त करना होगा। दुनिया के प्राचीन धर्म केवल प्रकृति का दूध थे, जो कि समय के साथ जीवन की रोटी [ईसाई धर्म] द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना है... 'बुद्ध का धर्म जो की आर्यों की सीमाओं से बहुत आगे तक फैल गया है

दुनिया, और हमारी सीमित दृष्टि से, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इसने मानव जाति के एक बड़े हिस्से के बीच ईसाई धर्म के आगमन को धीमा कर दिया है। लेकिन उसकी दृष्टि में जिसके लिए हजारों साल एक दिन के समान हैं, वह धर्म, दुनिया के प्राचीनतम धर्मों की तरह, ईश्वर की सच्चाई के बाद मानव हृदय की अदम्य लालसा को मजबूत करने और गहरा करने के लिए अपनी त्रुटियों के माध्यम से मदद करके, मसीह का मार्ग तैयार करने का काम किया होगा।"

हालाँकि म्यूएलर को क्रिश्चियन लासेन और अल्ब्रेक्ट वेबर जैसे अनुभवहीन भारतविदों के समान श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है, जिनकी आर्य जाति की अवधारणाएँ मुख्य रूप से उनके उत्साही जर्मन राष्ट्रवाद से प्रेरित थीं, म्यूएलर की प्रेरणाएँ उतनी ही नकारात्मक थीं। म्यूएलर को वैदिक साहित्य की गलत व्याख्या करने के लिए भुगतान किया गया था ताकि भारतीयों को सबसे मूर्ख और सबसे खराब रूप में पाशविक बनाया जा सके। हालाँकि, हर कोई उस व्यक्ति की शैक्षणिक प्रतिभा से प्रभावित नहीं हुआ, जिसे 'मोक्सामुला भट्ट' के नाम से जाना जाता था। आर्य समाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद सरस्वती, मुलर के संस्कृत ज्ञान के स्तर से इतने निराश थे कि उन्होंने उसकी तुलना "चलने सीखने वाले बच्चे" से की थी। म्यूएलर की घोर अज्ञानता का एक और खुलासा करने वाली घटना थी जब एक ब्राह्मण प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान से मिलने के लिए भारत से आया था। जब उनका म्यूएलर से आमना-सामना हुआ और उन्होंने उनसे शुद्ध संस्कृत में बात की, तो मुएलर ने स्वीकार किया कि वह समझ नहीं पाए कि वह सज्जन क्या कह रहे थे!

4.5.2 सर मोनियर मोनियर-विलियम्स और द बोडेन चेयर

सर मोनियर मोनियर-विलियम्स (1819-1899) का जन्म बंबई में हुआ था, उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी के कॉलेज में पढ़ाई की और बाद में वहीं पढ़ाया। एच.एच. विल्सन की मृत्यु के बाद, मोनियर-विलियम्स ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के बोडेन प्रोफेसर बन गए। 1870 में मोनियर-विलियम्स ने एक व्याख्यान पर आधारित '**भारत में मिशनरी कार्य केसंबंध में संस्कृत का अध्ययन**' नामक पुस्तक लिखी, जो स्पष्ट रूप से ईसाई धर्म को बढ़ावा देने और वैदिक ग्रन्थों को बदनाम करने के लिए लिखी गई थी। उन्होंने 1894 में '**हिंदूइज्म**' नाम से एक और रचना भी लिखी, जिसे सोसायटी फॉर प्रमोटिंग क्रिस्चियन नॉलेज द्वारा प्रकाशित और वितरित किया गया था। उन्हें ज्यादातर उनके '**संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश**' और ऑक्सफोर्ड में भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति पर जानकारी का प्रसार करने वाली एक संस्था की स्थापना में पच्चीस साल बिताने के लिए जाना जाता है।

4.6 जर्मन इंडोलॉजिस्ट

1875 में, ऑगस्ट विल्हेम वॉन श्लेगल (दार्शनिक फ्रेडरिक श्लेगल के भाई) जर्मनी के बॉन विश्वविद्यालय में संस्कृत के पहले प्रोफेसर बने। इससे पहले, 1865 में उन्होंने **'हिन्दुओं कीभाषाओं और बुद्धि पर**' शीर्षक से एक रचना लिखी थी। दोनों श्लेगल भाइयों को संस्कृत से बहुत प्रेम था। एक अन्य संस्कृतविद् हर्न विल्हेम वॉन हम्बोल्ट अगस्त श्लेगल के सहयोगी बने, जिनके भगवद्गीता के संस्करण ने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया।सन 1884 में उन्होंने एक मित्र को लिखा: 'यह शायद दुनिया को दिखाने वाली सबसे गहरी और ऊंची चीज़ है।' उस समय महान जर्मन दार्शनिक आर्थर शोपेनहावर (1845-1917) ने उपनिषदों का लैटिन अनुवाद पढ़ा, जिसका फ्रांसीसी लेखक एंक्वेटिल डु पेरोन ने राजकुमार दारा शिकोह के फारसी

अनुवाद से '**सिर्रे-अकबर**'(महान रहस्य)नाम से अनुवाद किया था। वह उनके दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें 'उच्चतम मानव ज्ञान का उत्पादन' कहा, और उन्हें अलौकिक अवधारणाओं से युक्त माना। शोपेनहावर के लिए भारतीय उपनिषद प्रेरणा का एक बड़ा स्रोत थे। यह सर्वविदित है कि '**उपनेखत**' (उपनिषद) पुस्तक हमेशा उनकी मेज पर खुली रहती थी और वे रात को सोने से पहले उसका अध्ययन अवश्य करते थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य के उद्घाटन को 'हमारी सदी का सबसे बड़ा उपहार' कहा, और भविष्यवाणी की कि उपनिषदों का दर्शन और ज्ञान पश्चिम का पोषित विश्वास बन जाएगा। दुर्भाग्य से, सभी विद्वानों ने वेदों और उपनिषदों के कालातीत ज्ञान की सराहना नहीं की। कुछ विद्वान ईसाई धर्म और पश्चिमी दर्शन की श्रेष्ठता के प्रति इतने आश्वस्त थे कि उन्हें अपनी भावनाओं को सार्वजनिक रूप से बेशर्मी से व्यक्त करने में कोई हिचकिचाहट नहीं थी। 1925 में प्राग के जर्मन विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन के प्रोफेसर, मोरिज़ विंटरनित्ज़ (1863-1937) ने उपनिषदों की प्रशंसा के लिए शोपेनहावर की निंदा की थी। मुलर के एक साथी छात्र जर्मन इंडोलॉजिस्ट, रूडोल्फ रोथ थे। रोथ और मुलर दोनों ने प्रख्यात फ्रांसीसी संस्कृत प्रोफेसर यूजीन बर्नौफ के संरक्षण में एक साथ अध्ययन किया। रोथ ने वैदिक साहित्य पर एक थीसिस लिखी, जिसका नाम था, **ज़्यूर लिटरेचर अंड गेस्चिचटे डेस वेद**, और 1909 में उन्होंने यक्ष के निरुक्त शब्दकोश का अपना संस्करण प्रकाशित किया। हालाँकि, रोथ की रचनाएँ जर्मन अति-राष्ट्रवाद से भरी हुई थीं और उन्होंने दावा किया कि जर्मन भाषा विज्ञान के माध्यम से, वैदिक मंत्रों की व्याख्या निरुक्त की मदद से कहीं बेहतर की जा सकती है। रोथ ने इसी पूर्वाग्रही तरीके से कई अन्य चीजें लिखीं।

4.6.1 रिचर्ड गार्बे

एक अन्य जर्मन संस्कृतविद् रिचर्ड गार्बे (1857-1927) थे, जो ट्यूबिंगन विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर के पद पर कार्यरत थे। गार्बे ने 1885 में भारत की संस्कृति और ज्ञान से परिचित होने के लिए यात्रा की, जिसकी वे बहुत प्रशंसा करते थे। हालाँकि उनकी यात्रा एक कष्टदायक और निराशाजनक अनुभव थी। वह ब्रिटिश नागरिक नहीं थे, फिर भी गार्बे को जल्द ही अपने साथी यूरोपीय विद्वानों के प्रति सहानुभूति महसूस होने लगी। जबकि उन्होंने भारत में अपने मुख्य उद्देश्य का परिश्रमपूर्वक पालन किया, जो कि वाराणसी के पंडितों के साथ अध्ययन करना था, उनका रवैया एक विद्वान याचक के सम्मान के बजाय औपनिवेशिक अवमानना का हो गया था। गार्बे ने अनेक संस्कृत कृतियों का संपादन किया। इनके अलावा, 1914 में उन्होंने मिशनरियों के लिए एक रचना लिखी, जिसका शीर्षक था '**इंडियन अंड दास क्रिस्टेंटम**' और इस पुस्तक में उनका धार्मिक पूर्वाग्रह काफी स्पष्ट है।

4.6.2 वेबर, बोएह्लिंग्क, कुह्न और गोल्डस्टकर

प्रसिद्ध जर्मन इंडोलॉजिस्ट अल्ब्रेक्ट वेबर (1825-1901) एक कुख्यात नस्लवादी थे, जिनकी जर्मन राष्ट्रवादी प्रवृत्ति भारतीय दर्शन और संस्कृति पर काम के रूप में छिपी हुई थी। जब हम्बोल्ट ने भगवद्गीता की प्रशंसा की, तो वेबर को उनसे घृणा हुई थी। उनकी तत्काल प्रतिक्रिया यह अनुमान लगाने की थी कि महाभारत और गीता ईसाई धर्मशास्त्र से प्रभावित थे: "कृष्ण संप्रदाय का अनोखा रंग, जो पूरी किताब में व्याप्त है, उल्लेखनीय है लेकिन इसमें ईसाई पौराणिक कथाएं और अन्य पश्चिमी प्रभाव असंदिग्ध रूप से मौजूद हैं।"

दो संस्कृत विद्वान, फ्रांज लोरिंसर और ई. वाशबर्न हॉपकिन, वेबर की धारणा का समर्थन करते थे। हालाँकि, उनके सिद्धांत में किसी भी ठोस सबूत का अभाव था और इसे इतना हास्यास्पद

माना गया कि यूरोपीय विश्वविद्यालयों के अधिकांश विद्वानों ने अपने ईसाई झुकाव के बावजूद इसे खारिज कर दिया। फिर भी, इस गलत परिकल्पना के प्रचार ने अपना प्रभाव दिखाया और मुख्य रूप से पश्चिमी विद्वानों महाभारत को ईसाई युग से पहले का ग्रन्थ मानने में हिचकते रहे।

प्रसिद्ध बांग्ला लेखक बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक **कृष्णचरित** के अध्याय 4 में वेबर के बारे में इस प्रकार बताया है: "प्रसिद्ध वेबर निस्संदेह एक विद्वान थे, लेकिन मुझे लगता है कि जब उन्होंने संस्कृत का अध्ययन शुरू किया तो वह भारत के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण क्षण था। कल के जर्मन जंगली लोगों के वंशज भारत के प्राचीन गौरव से स्वयं को परिचित नहीं करा सके। इसलिए, यह साबित करने का उनका गंभीर प्रयास था कि भारत की सभ्यता तुलनात्मक रूप से हाल ही में उत्पन्न हुई थी। वे स्वयं को यह विश्वास करने के लिए राजी नहीं कर सके कि महाभारत की रचना ईसा मसीह के जन्म से सदियों पहले हुई थी।" वेबर और उनके सहयोगी ओटो बोएह्टलिंगक ने '**संस्कृत वोर्टरबच**' नामक प्रसिद्ध संस्कृत शब्दकोश तैयार किया। प्रोफेसर अर्न्स्ट कुह्न भी उनके सहायकों में से एक थे। मुख्यतया भाषाशास्त्र के काल्पनिक एवं ग़लत सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण यह कार्य अविश्वसनीय एवं भ्रामक था। यह शब्दकोष थियोडोर गोल्डस्टकर (1821-1872) द्वारा कड़ी आलोचना का विषय था, जो लंदन में यूनिवर्सिटी कॉलेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। गोल्डस्टकर की आलोचना से वेबर इतना परेशान हो गया कि उसने प्रोफेसर की सबसे कठोर शब्दों में आलोचना करना शुरू कर दी। उन्होंने कहा कि गोल्डस्टकर के **वॉर्टरबच** पर विचारने उनकी मानसिक क्षमताओं का पूर्ण विचलनदिखाया है, क्योंकि वह वैदिक विद्वानों के अधिकार को इतनी आसानी से खारिज करने के लिए तैयार नहीं थे। उनके अशोभनीय हमलों का जवाब देते हुए, गोल्डस्टकर ने रोथ, बोएह्लिंग्क, वेबर और कुह्न जैसे लोगों की सामान्य दर्जे की विद्वताको उजागर किया। हालाँकि, हमें यह समझने की गलती नहीं करनी चाहिए कि हेर गोल्डस्टकर वैदिक साहित्य के मुद्दे का समर्थन कर रहे थे। गोल्डस्टकर की अपने साथी भारतविदों के साथ झड़प पूरी तरह अकादमिक आधार पर थी। गोल्डस्टकर का विचार था कि भारत के लोग वैदिक धर्म के बोझ तले दबे हुए थे, जिसके कारण उन्हें दुनिया भर में 'तिरस्कार और उपहास' का सामना करना पड़ा। इस प्रकार उन्होंने भारतीयों को पश्चिमी मूल्यों के साथ फिर से शिक्षित करने का प्रस्ताव रखा। अपनी पुस्तक '**इंस्पायर्ड राइटिंग्सऑफ हिंदूइज्म**' में गोल्डस्टकर ने वेदों की वैधता पर हमला करते हुए कहा कि उनका उद्देश्य भारतीयों की नई पीढ़ी को प्रेरित करना था कि उनके धार्मिक विश्वास पिछड़े थे और यह केवल उनके शास्त्रों को विद्वतापूर्वक नष्ट करके ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः भारतीय नई पीढ़ी के लिए अपने चरित्र को सुधारने के लिए यूरोपीय मूल्यों को अपनाना ही एकमात्र सहारा होगा।

4.6.3 जर्मन इंडोलोजी और भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या

जर्मन इंडोलॉजी एक विशाल और विविध क्षेत्र है, जिसका विस्तार है वैदिक भजनों, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों, पुराणों, व्यवस्थित दर्शन (षड्दर्शन), भारतीय नाटक, कविता, साहित्य और व्याकरण और वैज्ञानिक ग्रन्थों के अध्ययन पर आधारित है। जर्मन इंडोलॉजी स्वयं को भारतीय ग्रन्थों तक पहुंच की एक अनूठी पद्धति के रूप में परिभाषित करती है औरजब यह परिभाषित करने की कोशिश की जाती है कि जर्मन इंडोलॉजी कैसे बनती है, तो हमें नस्ल या राष्ट्रीय पहचान के बजाय उनकी कार्यशैली और पद्धति को देखना होगा। शेल्डन पोलक ने माना है कि नस्लीय और पहचान के मुद्दों ने जर्मन इंडोलॉजी की कार्यप्रणाली को सूचित किया है, लेकिन इंडोलॉजी को "करने" की उनके इस पद्धति की अंतर्राष्ट्रीय स्वीकृति को स्पष्ट नहीं किया जा

सकता है।यदि कोई जर्मन इंडोलॉजी को "जर्मनों द्वारा किया गया इंडोलॉजी" के रूप में परिभाषित करता है, इसका मतलब इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि जर्मन इंडोलॉजिस्ट खुद को अपने अमेरिकी या ब्रिटिश सहयोगियों की तुलना में अद्वितीय मानते थे, बल्कि विशिष्टता की यह भावना एक अद्वितीय (और श्रेष्ठ) तरीका रखने की चेतना पर आधारित थी। हालाँकि, उस विधि पर एक संक्षिप्त नज़र उसके समस्याग्रस्त पूर्ववृत्त को दिखाने के लिए पर्याप्त है: ऐतिहासिक-महत्वपूर्ण विधि अठारहवीं शताब्दी के नव-प्रोटेस्टेंटिज़्म (न्यूप्रोटेस्टेंटिज़्मस) की रचना थी और इसलिए वैश्विक, उद्देश्यपूर्ण और धर्मनिरपेक्ष इंडोलॉजी के कार्य के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त थी। जिस तरह से जर्मन इंडोलॉजिस्ट खुद को समझते थे, उसमें कुछ मौलिक रूप से गलत था क्योंकि जर्मन इंडोलॉजी ने खुद को एक पद्धति (भाषाशास्त्र) के रूप में परिभाषित किया था, लेकिन वह पद्धति, बदले में, एक विशिष्ट ऐतिहासिक उत्पत्ति (जर्मन अकादमिक धर्मशास्त्र में), एक इतिहास बन गई। जर्मन इंडोलॉजी को भाषाशास्त्र के इतिहास के रूप में आगे बढ़ाया जाना था। अंततः यह कहा जा सकता है कि इंडोलॉजी एक गलत धारणा वाला धर्मशास्त्र है जो अपनी रक्षा के लिए अपूर्ण सकारात्मकता पर आधारित है, या यह एक स्थिर सकारात्मकता है जो अभी भी एक अव्यक्त धर्मशास्त्र द्वारा बाधित है। किसी भी मामले में, इसे केवल तभी विज्ञान कहा जा सकता है जब इससे हमारा तात्पर्य ज्ञान के तर्कसंगत, स्वयंसिद्ध और सार्वभौमिक रूप से प्रदर्शन योग्य निकाय के बजाय विज्ञान के संस्थागत और आधिपत्य वाले पहलुओं से होगा। जर्मन इंडोलोजी के इस पद्धति के इतिहास पर ध्यान केंद्रित करने से एक ऐतिहासिक पहलू भी उजागर होता है। हरमन ओल्डेनबर्ग, विलीबाल्ड किरफेल और पॉल हैकर जैसे इंडोलॉजिस्ट के सार्वजनिक बयानों से पता चलता है कि जर्मन इंडोलॉजिस्ट को सम्बंधित इतिहास के बारे में गलत जानकारी थी। हालाँकि इन्होंने ऐतिहासिक-आलोचनात्मक पद्धति को स्वीकार किया और उसकी सराहना भी की परन्तुवे अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के धर्मशास्त्रियों और बाइबिल आलोचकों जे.एस. सेमलर, जी.एल. बाउर और एफसी बाउर के काम में ऐतिहासिक-आलोचनात्मक पद्धति की उत्पत्ति से अनभिज्ञ थे। इस कारण से, भारतीय महाकाव्य, महाभारत और महाकाव्य के एक भाग, भगवद्गीता की जर्मन व्याख्याओं पर ध्यान केंद्रित करना सबसे उपयुक्त है। इन ग्रन्थों ने उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में जर्मन बौद्धिक हलकों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस प्रकार जर्मन महाभारत और भगवद्गीता अध्ययन के उत्थान और पतन की कहानी का पता लगाना एक साथ समग्र रूप से इस अनुशासन या अध्ययन क्षेत्र के भाग्य का पता लगाना है। इन महाकाव्यों के एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक संस्करण के पाठ्य परंपरा का एक व्यापक अवलोकन करने के बाद, कुछ प्रकार की परिकल्पनाओं (उदाहरण के लिए, आर्यन "यूरेपोस," मूल बार्डिक कथा) स्वतः खारिज हो जाती हैं। इसके अलावा, जब इस पाठ के लिए सुकथंकर द्वारा बनाए गए वंशावली और कुल परंपरा का अध्ययन करने पर, साथ ही साथ आलोचनात्मक संस्करण पाठ का भी अध्ययन करने पर, हमें पाठ की साहित्यिक आत्म-चेतना और व्याख्याओं के बीच एक विसंगति के बारे में पता चलता है।अतः भारतीय महाकाव्य पर जर्मन लेखकों की पाठ-ऐतिहासिक पद्धति, जिसे बार-बार "वैज्ञानिक" (विसेनशाफ्टलिच) कहा जाता था, एक पूर्वधारणा रहित विज्ञान से बहुत दूर है। हालाँकि इस विधा की शुरुआत जर्मनी में हुई, लेकिन इसका अनुप्रयोग अंतर्राष्ट्रीय था। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी, अंग्रेजी, डच और अमेरिकी विद्वानों ने पाठ-ऐतिहासिक पद्धति को शीघ्रता से आत्मसात कर लिया। अमेरिकी संस्कृतविद् एडवर्ड डब्ल्यू हॉपकिंस ने बर्लिन और लीपज़िग में अध्ययन किया(1878 और 1881 के बीच) और, अपनी वापसी पर, अमेरिका में इस

पद्धति की शुरुआत की। (उनसे पहले, विलियम ड्वाइट व्हिटनी ने बर्लिन में अल्ब्रेक्ट वेबर के तहत और 1850-53 तक तुबिंगन में रुडोल्फ वॉन रोथ के तहत ओरिएंटल भाषाओं का अध्ययन किया था और बाद में एक उच्च कार्य किया मैक्स मुलर के खिलाफ सार्वजनिक अभियान चलाकर, जिन्हें वह जर्मन शिक्षाविदों के खिलाफ लोकप्रिय मानते थे)। कई अन्य अमेरिकी संस्कृतिविदों (उदाहरण के लिए, जेम्स एल. फिट्जगेराल्ड) का भी वर्णन किया जा सकता है, जिन्होंने जर्मनी में जर्मन इंडोलॉजिस्ट के रूप में अध्ययन नहीं किया था। यद्यपि जर्मन इंडोलॉजी, अपने व्यवहार में, अंतर्राष्ट्रीय है, किन्तु अपने आवश्यक सूत्रीकरण और अपनी कार्यशैली में, यह जर्मन ही है। इस कारण से, हमारा जर्मन इंडोलॉजी के बारे में बोलना उचित है। हालाँकि, पाठकों को तीन बातें हर समय ध्यान में रखनी चाहिए:

1. यह विशेषण सख्ती से और विशेष रूप से ऐतिहासिकता के महत्वपूर्ण पद्धति पर आधारित है और कुछ एजेंडा का पालन करने वाले इंडोलॉजी को संदर्भित करता है जिसे जर्मन प्रोटेस्टेंटवाद से सबसे अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

2. यह अध्ययन पाठ-आधारित दृष्टिकोण अपनाता है, और इसके दावे पाठों और/या लेखकों के अत्यधिक सीमित समूह को संदर्भित करते हैं। क्या और किस तरह से इन दावों को अन्य क्षेत्रों (उदाहरण के लिए, वेद, पुराण) में काम करने वाले अन्य भारतविदों के काम तक बढ़ाया जा सकता है, यह एक अलग अध्ययन का विषय है।

3. चूंकि जर्मन इंडोलॉजी एक व्यापक शब्द है जो विभिन्न सैद्धांतिक धाराओं और दृष्टिकोणों को एकीकृत करता है (उदाहरण के लिए, इंडिस्चे लिटरेचर, इंडिस्चे फिलोलोजी, इंडिस्चे अल्टरटम्सकुंडे, ओरिएंटलिशे फिलोलोजी, वर्गलीचेंडे स्प्रेचविसेनशाफ्ट, संस्कृत फिलोलोजी, इंडोजर्मनिस्चे स्टडीयन), यहां विश्लेषण अधिक संकीर्ण रूप से उस हिस्से को संदर्भित करता है जिसमें इंडोलॉजी की पहचान भारतीय इतिहासलेखन की एक निश्चित परंपरा से होती है और जो भारत के इतिहास-लेखन में विशिष्ट वैचारिक और कट्टरपंथी एजेंडे का पालन करती है। इसलिए हम मुख्य रूप से इंडोलॉजी के टुबिंगन और बॉन स्कूलों पर ध्यान केंद्रित करेंगे।एफ.सी. बाउर, डेविड फ्रेडरिक स्ट्रॉस और इवैंजेलिकल धर्मशास्त्रियों के टुबिंगन स्कूल की परंपरा ने भारत के वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर धार्मिक लक्ष्यों को आगे बढ़ाने का काम किया। बॉन स्कूल शौकिया इतिहासकार और नस्ल के मानवविज्ञानी क्रिश्चियन लासेन के काम की वजह से, ऐतिहासिक जांच में सबसे अधिक रुचि रखता था, जिसमें हमे यह ध्यान में रखना चाहिए कि इतिहास के इन विद्वानों ने जो इतिहास बताया वे उनके दिमाग से बाहर शायद ही कभी अस्तित्व में आए हों।चूँकि यह (छद्म)ऐतिहासिक पद्धति के साथ धार्मिक, इवैंजेलिकल चिंताओं का संयोजन है जो जर्मन इंडोलॉजी के रूप में जाना जाता है, मुख्य रूप से जिसे तुबिंगन-बॉन अक्ष कहा जा सकता है, उस पर केंद्रित था। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि यह जर्मन दृष्टिकोण केवल टुबिंगन और बॉन तक सीमित था अपेक्षाकृत इसके विपरीत, इसे पूरे जर्मनी में अपनाया गया। हालाँकि, जिस पद्धतिगत दृष्टिकोण की बात यहाँ पर हो रही है वह बॉन स्कूल (क्रिश्चियन लासेन, विलीबाल्ड किरफेल, पॉल हैकर) के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के साथ टुबिंगन इंडोलॉजी (रिचर्ड वॉन रोथ, रिचर्ड गार्बे, हेनरिक वॉन स्टिटेनक्रोन) के धार्मिक-ऐतिहासिक (religionsgeschichtlich) परिप्रेक्ष्य को पार करने से उभरता है।

4.6.4 जर्मन गीता के स्वीकृति का पहला चरण

भारतविदों द्वारा भगवद्गीता के पुनर्निर्माण से पहले भी जर्मनी में गीता ग्रहण करने की परंपरा थी। गीता के शुरुआती अनुवाद ओरिएंट के साथ रोमांटिक आकर्षण के संदर्भ में सामने आए। जोहान गॉटफ्रीड हर्डर, फ्रेडरिक मेजर, फ्रेडरिक विल्हेम श्लेगल, ऑगस्ट विल्हेम श्लेगल, साथ ही दार्शनिक-राजनेता विल्हेम वॉन हम्बोल्ट ने गीता संस्करण या गीता अनुवाद और टिप्पणियाँ तैयार की थीं। 1792 के अपने ज़र्स्टरूट ब्लैटर में, जे.जी. हर्डर ने "**गेडनकेनआइनिगर ब्राह्मणेन**" (कुछ ब्राह्मणों के विचार) शीर्षक के तहत **भगवद्गीता** के छंदों के तीन संग्रह शामिल किए। संग्रह में गीता के अध्याय दो और तीन से कुल ग्यारह छंद शामिल थे और उन्हें अलग-अलग शीर्षक दिया गया था "**डाई वेरस्टोरबेनन**" (द डेड, छंद 2.11, 13, 14, और 15), "**ड्रेइफ़ेचर ज़स्टैंड**" (थ्रीफोल्ड कंडीशन, छंद 2.27), और "धर्म" (Religion,छंद 3.10, 11, 12, 13, 14, और 16)। भले ही उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने संग्रह को "**नचदिचतुंगेन**" (काव्य प्रस्तुतियाँ) की एक श्रृंखला के रूप में वर्णित किया और वास्तव में, छंदों में कई बदलाव किए, ये संग्रह जर्मन में गीता के सबसे शुरुआती अनुवादों में गिने जाते हैं। हर्डर की काव्यात्मक प्रस्तुति के बाद 1802 में उनके छात्र फ्रीडेरिच मेजर द्वारा जर्मन में गीता का पहला पूर्ण अनुवाद किया गया (यद्यपि संस्कृत के बजाय चार्ल्स विल्किंस के अंग्रेजी संस्करण से)। मेजर के अनुवाद में एक परिचय शामिल था जिसमें उन्होंने गीता के सिद्धांतों और प्लेटोनिक और स्पिनोज़िस्टिक दर्शन के बीच समानताएं बताईं। दार्शनिकता की यह परंपरा एफ. श्लेगल द्वारा जारी रखी गई, जिन्होंने अपने 1808 के अध्ययन, **डाईस्प्रेचे अंड वीशिट डेर इंडियर** में गीता का एक अंश अनुवाद जोड़ा। कविता के संक्षिप्त परिचय में, श्लेगल ने कहा कि कविता महाकाव्य का हिस्सा थी, लेकिन तर्क दिया कि, चूंकि युद्ध के अवसर और युद्ध के इतिहास का दार्शनिक प्रकरण की समझ पर कोई और प्रभाव नहीं पड़ता है इसीलिए गीताके कुछ सबसे महत्वपूर्ण खंड को उन्होंने नज़रंदाज़ कर दिया।यह पूर्वाग्रह गीता के पहले अध्याय के उनके अनुवाद में भी परिलक्षित हुआ। श्लेगल ने अध्याय के पहले उन्नीस छंदों को छोड़ दिया, जो युद्ध के लिए साहस का वर्णन करते हैं। उन्होंने चालीस से चौवालीस श्लोक भी छोड़े, जो कुलधर्म (परिवार के प्रति कर्तव्य) का उल्लंघन करने की बुराइयों से संबंधित हैं। (दोनों पहलुओं को भारतविदों की बाद की पीढ़ी द्वारा केंद्रीय माना गया) वास्तव में, श्लेगल के किताब का परिचय स्पष्ट करता है कि, उनके लिए, गीता की केंद्रीय चिंता युद्ध की वैधता या वीर नैतिकता के आदर्शों का रखरखाव नहीं था, बल्कि उनकी विषय वास्तु सामान्यतः मृत्यु थी। हालाँकि उसी वर्ष श्लेगल के कैथोलिक धर्म में रूपांतरण के कारण उनके अनुवाद पर ग्रहण लग गया, लेकिन गीता में उनकी रुचि के कारण संभवतः उनके भाई ए.डब्ल्यू. श्लेगल को अपना स्वयं का संस्करण और पहला पूर्ण संस्करण तैयार करने का अवसर मिला जो जर्मन के बजाय लैटिन में था। श्लेगल का गीता का संस्करण जर्मनी में प्रकाशित होने वाला पहला संस्करण नहीं था, लेकिन यह जर्मनी में भगवद्गीता को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार था। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में, गीता जर्मनी में एक शानदार शुरुआत के लिए तैयार दिखाई दी। वाइमर क्लासिकिज्म के महानतम बुद्धिजीवियों ने इसे अपनाया था और विल्हेम वॉन हम्बोल्ट,जो कीप्रशियाई शिक्षा के वास्तुकार थे उन्होंने इसे अपनी आधिकारिक मंजूरी दे दी थी।1826 में गीता की लोकप्रियता अपने चरम पर थी, और इसके बाद इसका सांस्कृतिक प्रभाव कम होता गया। 1827 में हम्बोल्ट के गीता लेख की हेगेल की समीक्षा के प्रकाशन के साथ, एक समीक्षा जिसमें, जैसा कि हेरलिंग कहते हैं, हेगेल ने भारतीय विचारों के लिए दरवाजा बंद कर दिया औरगीता ने जर्मनी में ग्रहण के एक लंबे कालखंड में प्रवेश किया।

गीता के साथ जर्मन व्यस्तता के प्रारंभिक चरण के बाद, जब उनतीस वर्षों के अंतराल में कम से कम चार आंशिक अनुवाद या संस्करण और दो पूर्ण अनुवाद (एक संस्करण भी) सामने आए, तो गीता का अस्तित्व व्यावहारिक रूप से जर्मन साहित्यिक और दार्शनिक रुचि के एक वस्तु के रूप में समाप्त हो गया। लासेन के 1846 संस्करण (श्लेगल के 1823 संस्करण का संशोधित संस्करण) को छोड़कर, 1905 में रिचर्ड गार्बे तक कोई भी भाषाविज्ञानी या दार्शनिक ने गीता के अनुवाद पर काम नहीं किया। वास्तव में, दार्शनिक चिंता की वस्तु के रूप में गीता फिर से उभरी 1906 में पॉल ड्यूसेन के अनुवाद और टिप्पणी के प्रकाशन के साथ, इसके बाद 1912 में लियोपोल्ड वॉन श्रोएडर के प्रकाशन के साथ। हालाँकि, यह परंपरा हमेशा कमजोर बनी रही और पूरी बीसवीं शताब्दी में हम्बोल्ट वॉन के स्तर का एक भी जर्मन दार्शनिक नहीं मिला।इससे भी अधिक चौंकाने वाला तथ्य यह है कि ठीक उसी समय जब गीता, भारतीय दर्शन पर हेगेल के हमलों के आवेग के तहत, अपने पथ से भटक गई, और उसे थियोसोफिस्टों के काम में एक नया घर मिल गया, जहां उसने एक तरह का आधा हिस्सा उनके कामों में ले लिया। 1827, जिस वर्ष हेगेल ने हम्बोल्ट की गीता की अपनी आलोचना प्रकाशित की, और 1905, जिस वर्ष गार्बे ने अंततः गीता को सार्वजनिक चेतना में पुनः प्रस्तुत किया, के बीच गीता के कम से कम सात अनुवाद या टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं, और लगभग सभी थियोसोफिक आदर्शों के प्रति सहानुभूति रखने वालों द्वारा प्रकाशित की गईं थीं। गीता टीकाकारों/अनुवादकों के इस नए समूह की चिंताएँ पिछली पीढ़ी की चिंताओं से बहुत अलग थीं। हालाँकि उनमें से किसी ने इसका उल्लेख नहीं कियाकिन्तुहेगेल की समीक्षा ने स्पष्ट रूप से उनके संस्करणों पर एक लंबा प्रभाव डाला। आश्चर्य की बात यह थी कि जिन लेखकों ने गीता पर हम्बोल्ट के निबंध का उल्लेख किया था, वे भी हेगेल की 1827 की समीक्षा पर किसी भी चर्चा से बचते रहे।स्पष्ट रूप से, किसी भी विद्वान ने प्रशिया राज्य के आधिकारिक दार्शनिक के साथ आमने-सामने जाने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास महसूस नहीं किया। इसके बजाय, गीता प्रशंसकों की नई पीढ़ी ने गीता की दार्शनिक प्रासंगिकता के सवाल को दरकिनार कर दिया और इसे एक साहित्यिक कृति के रूप में देखा - जो कि पूर्व की उदात्त भावना की अभिव्यक्ति थी, और जो कुछ मानवीय आदर्शों की सार्वभौमिकता को प्रमाणित करती थी। इस प्रकार सी. आर. एस. पाइपर, जिन्होंने 1834 में गीता का पहला पूर्ण जर्मन अनुवाद (संस्कृत से) प्रकाशित किया, ने इसमें कई सुंदर और उदात्त और वास्तव में दार्शनिक और धार्मिक विचार देखे और तर्क दिया कि ये ईसाई धर्म के सिद्धांतों के समानांतर काम कर सकते हैं।ओरिएंट को मानव संस्कृति का घर मानने की विद्वानों की लंबी परंपरा का अनुसरण करते हुए, पीपर ने [गीता] में निहित दर्शन को मूल स्रोत के रूप में देखने का तर्क दिया, जहाँ से चीनी, फारसी, मिस्र, यूनानी, रोमन और यहां तक कि प्रारंभिक और अंतिम युग में जर्मनों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से [दोनों] मार्गदर्शन लिया।पीपर के उत्तराधिकारी, एफ. लोरिंसर ने लिखा कि भगवद्गीता के रचयिता न केवल न्यू टेस्टामेंट के धर्मग्रन्थों से परिचित थे और अक्सर उनका उपयोग करते थे, बल्कि उन्होंने ईसाई विचारों को भी गीता के भावार्थों में बुना था । उनके अनुसार गीता को प्राचीन भारतीय भावना का सबसे प्रशंसित स्मारक, सबसे सुंदर और सबसे उदात्त उपदेशात्मक कविता, जिसे बुतपरस्त सांसारिक ज्ञान के सबसे सुंदर फूलों में से एक माना जा सकता है। इसे वर्णित करते हुए लोरिनसर ने तर्क दिया था कि गीता अपनी शुद्धता और प्राचीनतम सिद्धांतों के लिए ईसाई धर्म पर निर्भर है और इसाई धर्म से अलग करके इसकी व्याख्या नही की जा सकती है।

4.6.5 जर्मन महाभारत अध्ययन का जन्म

जर्मनी में महाभारत का स्वागत पाठ के अंशों के अनुवाद के साथ शुरू हुआ। भगवद्गीता के अलावा, श्लेगल ने अपने **डाई स्प्रेचे अंड वीशिट डेर इंडियर** (1808) में शकुंतला कथा के खंडों का भी अनुवाद किया और बोप ने आदिपर्व के हिडिम्बा प्रकरण का अनुवाद शामिल किया (शीर्षक "**डेर काम्फ मिट डेम रिसेन**" या "**द बैटल**" के तहत)अपने **उबेर दासकंजुगेशंससिस्टम डेर संस्कृतस्प्रे** (1816) में। बोप द्वारा आगे के लेख कुछ इस प्रकार हैं: अर्जुन की इंद्र के स्वर्ग की यात्रा, हिडिम्बा की मृत्यु, ब्राह्मण का विलाप, सुंद और उपसुंद, 1824 में नल और दमयंती का एक अंश; बाढ़, सावित्री, 1829 में द्रौपदी का अपहरण, अर्जुन की वापसी (इंद्र के स्वर्ग से); और 1838 में संपूर्ण नल और दमयंती। इन सभी कार्यों की शुरुआत महाभारत का परिचय देने वाली संक्षिप्त टिप्पणियों से की गई थी। हालाँकि, बोप की रचनाएँ मुख्य रूप से संस्कृत साहित्य के संकलन (पढ़ने के अभ्यास के लिए) के रूप में थीं; उनका परिचय महाकाव्य के अध्ययन में व्यवस्थित योगदान के लिए नहीं था। महाकाव्य के साथ पहला व्यवस्थित जुड़ाव 1837 में क्रिश्चियन लासेन पर उनके "**बीट्रेज ज़ूर कुंडे देसअल्टिंडिशेन अल्टरथम्स ऑस डेम महाभारत**" के पहले भाग के प्रकाशन के साथ छोड़ा गया था। इस प्रकार लैसेन को जर्मन महाभारत अध्ययन का संस्थापक कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। बोप के बाद ऐसे कुछ और आकर्षक अनुवाद हुए (रूकर्ट का 1839 के **ब्राह्मणिशेएर्ज़ाहलुंगेन** में सावित्री कथा का काव्यात्मक अनुवाद एक उल्लेखनीय कार्य है)। कुल मिलाकर लासेन के बाद महाभारत के जर्मन स्वीकृति ने एक अलग दिशा ले ली। हालाँकि प्रचुर पढ़ाई के बावजूद, महाभारत पर लासेन का काम विशेष रूप से नवीन नहीं था: एक बार निर्धारित होने के बाद, महाकाव्य पर उनके मूल विचार लगभग एक चौथाई सदी तक अपरिवर्तित रहे। इसके बावजूद, लासेन के पांडित्यपूर्ण, आत्मविश्वासी स्वर और जिस आत्मविश्वास के साथ उन्होंने प्राचीन भारत के बारे में स्थापित तथ्य के रूप में अटकलबाजी को सामने रखा, उसने विद्वानों की एक पीढ़ी को बहुत प्रभावित किया। अल्ब्रेक्ट वेबर, थियोडोर गोल्डस्टुकर, और एडॉल्फ होल्त्ज़मैन जूनियर, सभी ने प्राचीन भारतीय इतिहास और नृवंशविज्ञान के क्षेत्र मेंलासेन द्वारा किये गए पुनर्निर्माण को स्वीकार कर लिया। इन पुनर्निर्माणों में लासेन का केंद्रीय सिद्धांत यह था कि प्राचीन भारत में दो जातियाँ थीं: उत्तर से आक्रमण करने वाले गोरी चमड़ी वाले आर्य और भूमि के मूल निवासी गहरी चमड़ी वाले द्रविड़। प्रारंभ में, दोनों समूहों ने उपमहाद्वीप पर नियंत्रण के लिए लड़ाई लड़ी; इस संघर्ष में, आर्य, द्रविड़ों से शारीरिक और सैन्य रूप से श्रेष्ठ होने के कारण, द्रविड़ों को अपने अधीन करने में सक्षम थे। उनमें से जो सुदूर पर्वतीय क्षेत्रों में नहीं भागे (जहाँ वे आदिवासियों के रूप में रहे) वे भारतीय समाज की निचली जातियाँ बनकर रह गए। लासेन के इन दावों का मुख्य स्रोत महाभारत था, जिसे उन्होंने भारतीय प्रागितिहास में इस ऐतिहासिक संघर्ष के रिकॉर्ड के रूप में पढ़ा। हालाँकि बाद में महाभारत के अध्ययन को प्रचुर दार्शनिकता और उपदेशात्मक सामग्री से भर दिया गया, परंतु लासेन के अनुसार, महाकाव्य के मूल में अभी भी इस आदिकालीन संघर्ष की स्मृति संरक्षित है।लासेन ने इस केंद्रीय (नस्लीय) सिद्धांत को दूसरे सिद्धांत के साथ भी जोड़ा संभवतः आर्यों के एक युद्धप्रिय जाति के रूप में लोकप्रिय विचारों को चित्रित करते हुए, उन्होंने माना कि महाभारत मूल रूप से योद्धा जाति, क्षत्रियों की संपत्ति थी। उन सदियों के दौरान ही ब्राह्मण अनुष्ठान और थियोसोफिक प्रकृति की सामग्री जोड़कर, पाठ पर कब्ज़ा करने में सक्षम हुए। यद्यपि लासेन घोर ब्राह्मणवाद विरोधी नहीं है किन्तु बाद के विद्वानों की तरह लासेन ने ब्राह्मणों पर नकारात्मक विशेषताओं का आरोप लगाया।

महाकाव्य में लासेन की रुचि शुरू से ही ऐतिहासिक थी। जैसा कि उन्होंने अपने "**बीट्रेज**" के पहले भाग में लिखा है, "संपूर्ण महाभारत का प्रकाशन भारतीय अध्ययन की उन्नति के लिए एक महत्वपूर्ण घटना है;" इसके द्वारा भारत की सबसे प्राचीन परिस्थितियों के ज्ञान का सबसे समृद्ध भंडार हमारे लिए खोल दिया गया है। यह [अर्थात, महाभारत], रामायण से उतना ही ऊपर है जितना कि भूमि की प्राचीन भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियों, निवासियों की परंपराओं और रीति-रिवाजों के बारे में इसकी विविधता और विवरण, जैसा कि यह इसकी सीमा के संदर्भ में है। उन्होंने आगे दावा किया, महाभारत वह भारतीय कार्य है जिसमें प्राचीन इतिहास के अधिकतम [संख्या में] टुकड़े शामिल हैं; प्राचीन भारत के सार्वभौम इतिहास की जो रूपरेखा भविष्य में बननी है, वह बन सकती है, और महाभारत की सहायता से इसकी रूपरेखा तैयार की जाएगी।" लासेन ने निश्चित रूप से यह भी स्वीकार किया कि महाभारत पर काव्य के दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। लेकिन उन्होंने अपने आलेख में इस पहलू को नही छुआ है। महाकाव्य के साहित्यिक या काव्यात्मक दृष्टिकोण के संबंध में, लासेन ने इसे "अपरिहार्य" माना कि महाभारत को "पुरानी महाकाव्य कविताओं का संग्रह" माना जाना चाहिए। उन्होंने तर्क दिया, ये कविताएँकुरु और पांडवों के बीच युद्ध के महाकाव्य के एक निश्चित केंद्रीय बिंदु के आसपास जमा हुई हैं।

4.6.6 वीर महाकाव्य(Heroic Epic) के विचार

'हेल्डेंसेज' शब्द को लासेन द्वारा महाकाव्य अध्ययन में पहले ही पेश किया गया था, जिन्होंने अपने 1837 के लेख में भारतीय महाकाव्य को चित्रित करने के लिए इस शब्द का उपयोग किया था। लासेन ने महाभारत को '**निबेलुंगेनलीड**' जैसे सच्चे हेल्डेन्सेज के मानक के विरुद्ध नकारात्मक रूप से आंका, लेकिन एक सच्चे हेल्डेन्सेज का सकारात्मक लक्षण वर्णन प्रदान नहीं किया। यह कार्य एडॉल्फ होल्त्ज़मैन सीनियर पर छोड़ दिया गया था, जिन्होंने 1845 के अपने **इंडिशे सेगेन** में (दूसरा संस्करण 1854) ने अपने "**नचबिल्डुंग**" या कुरु संघर्ष की काव्यात्मक प्रस्तुति को उपशीर्षक दिया "**हेल्डेंजेडिक्ट**"—**वीर कविता**। होल्ट्ज़मैन सीनियर ने '**हेल्डेनोसेंज**' शब्द का भी प्रयोग भारतीय किंवदंतियों को संदर्भित करने के लिए भी किया।'**हेल्डेनोडिच**' शब्द को तब उनके भतीजे एडॉल्फ होल्त्ज़मैन जूनियर ने अपने **ज़ूरगेस्चिचटे अंड क्रिटिक देस** में अपनाया और लोकप्रिय बनाया।1892 का महाभारत और उसके बाद महाभारत अध्ययन में इस शब्द का आम उपयोग में प्रवेश हुआ।वीर महाकाव्य के बारे में होल्त्ज़मैन के विचार, विशेष रूप से तथाकथित ब्राह्मणवादी परिवर्तनों के प्रति उनके संदेहऔर धारणा का पश्चिम में लंबे समय तक स्वागत किया गया। उनकी महाभारत के "पौराणिक" पहलुओं की अप्रसंगिकता के बारे में टिप्पणियाँको उन्नीसवीं सदी के लगभग हर महाभारत विद्वान द्वारा प्रतिध्वनित किया जाने लगा था। 1978 के अंत तक, शिकागो संस्करण के अनुवादक जे. ए. बी वैन बुइटेनन के लिए यह दावा करना संभव हो गया थाकि सभी विद्वान पौराणिक हिंदू धर्म में रुचि नहीं रखते हैं अपितु कुछ विद्वान महाभारत को विश्व महाकाव्यों में से एक के रूप में देखते हैं। उनके लिए छठी शताब्दीका महाभारत संस्करण पूर्ण जानकारी का एक अमूल्य स्रोत था, और इसका बाद के संस्करणों के साथ समरूपीकरण विनाशकारी नहीं तो पूरी तरह से हानिकारक ज़रूर साबित हुआ।

फ्रांसीसी संस्कृतज्ञ मेडेलीन बिआर्डो जैसे कुछ विद्वानों को छोड़कर बाकि केविद्वानों ने महाभारत को उसके मौजूदा स्वरुप में या उसके दार्शनिक सिद्धांतों को गंभीरता से नही लिया।पश्चिम के विद्वानों के लिए महाभारत पहचान की राजनीति करने का एक माध्यम बन

गया और उन्होंने महाभारत के ऊपर भारतीय समीक्षा और समालोचना को पूरी तरह से नकार दिया।

4.6.7 इंडो-जर्मनिक महाकाव्य

तदांतर में अधिकांशतः नव-होल्ट्ज़मैनियन पद्धति को महाभारत अध्ययन के क्षेत्र में भारतविदों द्वारा भुला दिया गया था जिसमें एक अपवाद जेम्स एल. फिट्ज़गेराल्डथे, जो नव-होल्ट्ज़मैनियन स्थिति की वकालत करते थे औरएडॉल्फ होल्ट्ज़मैन जूनियर जो पश्चिमी महाभारत अध्ययन के इतिहास की प्रमुख हस्तियों में से एक थे, उन्होंने नव-होल्ट्ज़मैनियन पद्धति का प्रयोग महाभारत अध्ययन के क्षेत्र में जारी रखा। होल्ट्ज़मैन बाइबिल आलोचना के तरीकों को महाभारत अध्ययन में आयात करने वाले पहले व्यक्ति थे और उन्होंने महाभारत अध्ययन के क्षेत्र में पुनर्निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य किया। होल्त्ज़मैन ने आंशिक रूप से लासेन के भारतीय प्रागैतिहासिक का लेखा-जोखा को और एडॉल्फ होल्त्ज़मैन सीनियर के संयोजन को मिलाकर एक शक्तिशाली मिथक बनाया जो "**इंडोगर्मेनिक मूल महाकाव्य**" ("**इंडोगर्मानिस्चेस यूरेपोस**")भारतीय महाकाव्य की उत्पत्ति और केंद्र में मुख्य धुरी बन गई।होल्त्ज़मैन पुरे यूरोप में भारतीय महाकाव्य में हुए परिवर्तनों को समझाने के लिए आलोचनात्मक अभिव्यक्तियाँ जैसे "पुनर्क्रिया," "इन्वर्सन," और "प्रक्षेप" का प्रयोग करने वाले पहले समालोचक थे।ऐसा करते हुए, उन्होंने जर्मन की प्रमुख शैली और दिशा की स्थापना महाभारत अध्ययन के क्षेत्र में की और, अपने महान अनुवादक हॉपकिंस के माध्यम से, अंग्रेजी भाषी दुनिया में पहुंचे।उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, होल्त्ज़मैन की "यूरेपोस" अवधारणा का अनुसरण करते हुए, कई विद्वान जिनमे प्रमुख रूप से टुबिंगन के विद्वान रिचर्ड गार्बे ने होल्त्ज़मैन के तरीकों को भगवद्गीता के अध्ययन में स्थानांतरित किया।होल्ट्ज़मैन की तरह, रिचर्ड गार्बे गीता को एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में देखने लगेऔरउनकी तरह भगवद्गीता का पुनर्निर्माण करना अपने विद्वता का केंद्रीय उद्देश्य बना दिया। वॉन हम्बोल्ट के अनुसार, इन्ही सामूहिक प्रयासों के बाद यूरोप में गीता अब एक समग्र पाठ के रूप में प्रकट हुई जिसमें कईप्रभावशाली और विरोधाभासी वैचारिक संगम शामिल थे। तत्पश्चात यूरोप में महाभारत और भगवद्गीता के ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए मंच तैयार किया गयाऔर इंडोलॉजिस्ट की जर्मन प्रयोगशालाओं में महाकाव्यों के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई।1892 और 1895 के बीच प्रकाशित, होल्त्ज़मैन की **दास महाभारत अंड सीनथेइले**जो की महाभारत का चार खंडों का अध्ययनथा, सबसे पहले किए गए कार्यों में से एक था और भारतीय महाकाव्य पर एक व्यापक प्रकाश डालता था। इन चार खंडों में से, सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहला खंड था-**ज़ुर गेस्चिचते अंड कृतिक देस महाभारत**। होल्ट्ज़मैन ने लासेन और ब्रिटिश इतिहासकारों जैसे पूर्ववर्तियों के विचारों को अपनायाऔर वह जॉन मुइर और जे. टैलबॉयज़ व्हीलर से भी वे काफ़ी प्रभावित थे।महाभारत के "संशोधन" का एक संपूर्ण सिद्धांत और उसके साथ ही भारत में धर्मों के विकास पर होल्त्ज़मैन की पुस्तक का केंद्रीय खंड आधारित है। इस पुस्तक में धार्मिक और नैतिक आदर्शों में आए परिवर्तन का भारतीय महाकाव्य पर हुए प्रभाव का अवलोकन भी किया गया है। होल्ट्ज़मैन ने इस पुस्तक में दो मुख्य विषयों पर ध्यान केंद्रित किया है: प्राचीन इंडो-जर्मनिक दृष्टिकोण और ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण के बीच विरोधाभास, और, पहले के साथ आंशिक रूप से अतिव्यापी बौद्ध और ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण के बीचविरोधाभास। इस संयोजन मेंहोल्त्ज़मैन ने इंडो-जर्मनिक और बौद्ध दृष्टिकोण के बीच वास्तविक पूरकता को उजागर भी किया है। उनके अनुसार बौद्ध धर्म

इसके प्रति सहानुभूति रखता होगा कि मार्शल इंडो-जर्मेनिक महाकाव्य वास्तव में अपनी वीरतापूर्ण मौखिक कविता को लिखित रचना एक के रूप में संरक्षित कर रहा है।यदि लासेन जर्मन महाभारत अध्ययन का संस्थापक था तोहोल्त्ज़मैन जूनियर को, औचित्य के साथ, जर्मन महाभारत अध्ययन का जनक कहा जा सकता है।

4.6.8 आधुनिक महाभारत अध्ययन

लासेन ने मूल रूप से भारतीय महाकाव्य का विश्लेषण श्वेत आर्यो और काले मूल निवासियों के बीच एक ऐतिहासिक संघर्ष के साक्ष्य के रूप में किया था, जहां कौरव और पांडव, हालांकि आंशिक रूप से काल्पनिक थे, फिर भी ऐतिहासिक समूहों का प्रतिनिधित्व करते थे। लासेन ने पूरी तरह से स्पष्ट नहीं किया कि, यदि अर्जुन और पांडु नाम संदर्भ थे तो कैसे जैसा कि उन्होंने तर्क दिया, नायकों और पंचालों की त्वचा का सफेद रंग भी एक था, कौरवों और पांडवों के बीच संघर्ष को आर्य जनजाति और श्वेत आर्यो और काले मूल निवासियों के बीच संघर्ष के तौर पर मानचित्रित किया जा सकता था। निश्चित रूप सेयह सिद्धांतब्राह्मणवादी अधिग्रहण के रूप में जर्मन महाकाव्य के पृष्ठभूमि में प्रारंभिक रूप में पहले से ही मौजूद था।फिर भी, लासेन जिस चीज़ पर विश्वास करता था उसके बीच अंतर करने में सावधानी बरतता था जैसे उदहारण के तौर पर महाकाव्य मूलतः आर्य/द्रविड़ संघर्ष का एक स्पष्ट अभिलेख हैऔर उनका मानना था कि यह ब्राह्मण/क्षत्रिय संघर्ष का साक्ष्य तब बन गया जब ब्राह्मणों ने महाकाव्य पर अनजाने में कब्ज़ा करने की कोशिश की।लासेन के बाद, होल्त्ज़मैन सीनियर ने महाभारत युद्ध की व्याख्या पौराणिकऔर अर्धदिव्य नायकों के बीच युद्ध के संदर्भ में की। होल्ट्ज़मैन सीनियर ने इस प्रकार महाभारत की व्याख्या कीद्वैतवादी युगांतशास्त्रीय ढाँचे के संदर्भ में की थी। इसके अलावा होल्त्ज़मैन जूनियरकी अभिव्यक्ति मेंपुराने इंडो-जर्मनिक दृष्टिकोण और नया ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण के बीच संघर्ष के साक्ष्यमहाकाव्य के विचार के रूप में शामिल थे। लासेन के अनुसार, उन्होंने गोरी चमड़ी वाली उत्तरी जाति के रूप में इंडो-जर्मनों की जानकारी होल्ट्ज़मैन सीनियर से प्राप्त किए।हालाँकि, उन्होंने होल्ट्ज़मैन सीनियर के महाकाव्य को एक पौराणिक या साहित्यिक संघर्ष के रूप में मानने के विचार की उपेक्षा की और इसके बजाय महाकाव्य को एक वास्तविक संघर्ष के रिकॉर्ड के रूप में प्रचारित किया।सीनियर होल्त्ज़मैन ने इंडो-जर्मनिक लोगों के बारे में अपने विचारों को स्पष्ट रखने में सावधानी बरती थी और मुख्य रूप से जर्मनिक और नॉर्स महाकाव्यों पर उनके कार्यों में व्यक्त उनके विचारों को उन्होंने भारतीय महाकाव्य परंपरा के विचारों से अलग रखा था जबकि जूनियर होल्त्ज़मैन ने दोनों परम्पराओं को आपस में मिला दिया। उन्हें यह पता ही नहीं चला कि उनके चाचा सीनियर होल्त्ज़मैन दो अलग-अलग चीज़ों के बारे में बोल रहे थे- एक ओर, सामान्य इंडो-जर्मनिक परंपरा और ग्रीक मौखिक परंपरा और दूसरी ओर, एक सामान्य भारतीय महाकाव्य के बारे में था।फलस्वरूप होल्त्ज़मान सीनियर के जर्मन महाकाव्य के काल्पनिक अर्धदिव्य नायक अब होल्ट्ज़मैन जूनियर के महाकाव्य में इंडो-जर्मनिक योद्धा के प्रोटोटाइप बन गएथे।इस त्रिपक्षीय भ्रम के लिए जिसमे लासेन के छद्म ऐतिहासिक शोधों का भ्रम और होल्ट्ज़मैन सीनियर के साहित्यिक शोध और महाकाव्य के भ्रम के साथ अपने साहित्यिक शोधों के साथ शोध करते हुए, होल्त्ज़मैन जूनियर ने एक तीसरा, घातक जोड़ा: वहलासेन और होल्त्ज़मैन सीनियर के ब्राह्मणवादी संशोधन के सिद्धांतों को महाकाव्य कथा के साथ सम्मिलित कर दिया। लासेन के बाद,होल्ट्ज़मैन सीनियरब्राह्मणवादी अधिग्रहण की यांत्रिकी पर विस्तार करने वाले पहले व्यक्ति थे। होल्ट्ज़मैन सीनियर ने अपने 1845 के काम में, उस पाठ के संशोधन पर जोर दिया

जिसमेंमूल रूप से महाकाव्य के नायक कौरवों को आक्रामक के रूप में चित्रित किया गया था और पांडव, जो मूल रूप से महाकाव्य के खलनायक थे, को धार्मिक व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया गया था।उन्होंने इस संशोधन का श्रेय ब्राह्मणवादी सुधारकों को दिया, जो महिमामंडन में रुचिऔर युद्ध के अंतिम विजेताओं के साथ खुद को संरेखित करके रखते थे।होल्त्ज़मैन सीनियर, ने हालाँकि, इस सिद्धांत को राजनीतिक क्षेत्र से पाठ तक भी विस्तारित किया। विशेष रूप से,उन्होंने पाठ में कई बदलावों का हवाला दिया जो ब्राह्मणों द्वारा किए गए होंगे।इनमें से मुख्य था कौरवों के पूर्वज के रूप में व्यास के परिचय को स्थापित करना।होल्ट्ज़मैन सीनियर ने तर्क दिया कि यह तथ्य ब्राह्मणों का एक आविष्कार था, जो राजाओं को प्रभावित करने के लिए इन शक्तिशाली लोगों के साथ सहयोग करने के लाभ के बारे में समझाते थे। हालाँकि, होल्त्ज़मैन सीनियर ने माना था कि इन परिवर्तनों का प्रभाव कविता की मूल योजना पर नहीं पड़ा, जो अभी भी एक वीरतापूर्ण संघर्ष के विषय-वस्तु के आसपास आयोजित थी।

4.6.9 भगवद्गीता अध्ययन और होल्ट्ज़मैन की विरासत

होल्ट्ज़मैन जूनियर के इंडो-जर्मनिक महाकाव्य के विचारों ने उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में पश्चिमी भारतविदों के एक व्यापक स्पेक्ट्रम पर महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव डालाथा। उदाहरण के लिए, लगभग सभी लेखकों की इंडोलॉजिकल गीता किसी न किसी रूप में होल्ट्ज़मैन जूनियर की महाभारत की थीसिस पर आधारित थी जिसमें मूल रूप से महाभारत को ब्राह्मणवादी "प्रक्षेपों" के साथ एक युद्ध कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया था। निश्चित रूप से, इसथीसिस का उल्लेख लासेन ने 1837 में ही कर दिया था। लेकिन यह होल्त्ज़मैन ही थे जिन्होंनेलासेन के विचारों को कई "संशोधनों" के साथ एक व्यापक सिद्धांत में विस्तारित किया। उन्होंने कम से कम तीन महत्वपूर्ण बिन्दुओंका पता लगाया: दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व 172 के आसपास एक बौद्ध काव्य रचना, ईसा की तीसरी शताब्दी173 के आसपास एक वैष्णव-कृष्णवादी संशोधन, और दसवीं शताब्दी सीई 174 के आसपास अंतिम शैव पुराणिक पुनर्लेखन,इनसबसे एक व्यापक मैट्रिक्स बनाया गयाजो गीता विद्वानों के द्वारा कविता के भिन्न-भिन्न परतों के विश्लेषणों को समायोजित करने के लिए पर्याप्त था। विद्वान अब इस बात पर बहस कर सकते थे कि मूल महाकाव्य आधार में कोई छंद ऐसा है या नहींजिसमे वैष्णव धर्मशास्त्रीय संशोधन, या लोकप्रिय कृष्ण पंथ या बौद्ध लेखों का प्रभाव है।

4.7 उत्तर उपनिवेशवाद, प्राच्यवाद और नव-उपनिवेशवाद

4.7.1 उत्तर उपनिवेशवाद

साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और यूरोपीय उपनिवेशवाद के काट के रूप में 1950 के साम्राज्यवाद दशक के बाद गैर-यूरोपीय विद्वानों ने उत्तर उपनिवेशवाद की प्रस्तावना दी जो मुख्य रूप से यूरोपीय महाशक्तियों के औपनिवेशिक रणनीति के खिलाफ एक सशक्त मुहीम थी। यह मुहिम मूल रूप से अध्ययन की एक शाखा है जिसमें उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक और सामाजिक प्रभावों को समझा जाता है और किसी विदेशी शक्ति द्वारा किसी गैर यूरोपीय क्षेत्रों पर हुए कब्जे और उसके द्वारा स्थानीय लोगो के जीवन पर होने वाले प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है। इसमे उत्तर आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से उपनिवेशी या भूतपूर्व उपनिवेशी क्षेत्रों में सूचना व ज्ञान के प्रसार का अध्ययन किया जाता है और देखा जाता

है कि किस प्रकार बाहरी शक्ति स्थानीय लोगों की मानसिकता में हीन भावना उत्पन्न कर के उन पर लम्बे अरसे तक नियंत्रण रखते हैं। उत्तर –उपनिवेशवाद में विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा शासक सामाज और अधीन समाज की राजनैतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक छवियों को प्रस्तुत करते की शैलियों की भी देखा जाता है, क्योंकि यह भी विदेशी समाज द्वारा स्थानीय समाज को अधीन कर लेने का एक महत्वपूर्ण साधन होता है। उत्तर औपनिवेशिक सिद्धांत के आधारभूत प्रतिपादनों में से जो सबसे मुख्य प्रतिपादन है वो प्राच्यवाद है। जिसे हम 'ओरिएंटलिस्म' भी कहते हैं। प्राच्यवाद एक विचारधारा है जिसके अंतर्गत पश्चिम द्वारा अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान स्वयं को केन्द्र में रख कर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए पूर्वी संस्कृतियों की स्थावर संरचना बनायी गयी थी।

4.7.2 प्राच्यवाद का इतिहास

शुरुआती रूप में प्राच्यवाद का प्रयोग पूर्वी देशों की संस्कृतियों का अध्ययन और वर्णन करने के लिए पश्चिम के दार्शनिकों और लेखकों द्वारा किया जाता था। उन्नीसवीं सदी में अनेक युरोपीय लेखकों और साहित्यकारों ने उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया की यात्रा के अनुभवों तथा कलात्मक प्रभावों को अपनी रचनाओं में प्राच्यवाद के रूप में अभिव्यक्ति दी थी। अंग्रेजी भाषा मे 'ओरिएंट' शब्द, मिडिल फ्रेंच 'ओरिएण्ट' शब्द से लिया गया है और मूल रूप से यह शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'ओरिएन्स' से जुड़ा हुआ है। अगर मध्यकालीन साहित्य की भी बात की जाए तो अंग्रेज़ी के प्रख्यात कवि जेफ्री चौसर द्वारा **दमौन्क टेल** (1375) में इस शब्द का प्रयोग किया गया था।पहली बार 'ओरिएंटल स्टडीज' शब्द का प्रयोग फ्रांसीसी कलाकार लॉर्ड बायरन द्वारा 1812 में किया गया था। वैसे हो 'ओरिएंट' शब्द का प्रयोग पुनरर्जागरण काल से ही होता चला आ रहा है लेकिन इस शब्द को नया सन्दर्भ एडवर्ड सईद द्वारा प्रकाशित पुस्तक '**ओरिएंटलिस्म**' (1978) में मिला। सईद उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन के विकास में बुनियादी भूमिका निभाने वाले लेखकों में से एक थे। प्राच्यवाद को आधुनिक रूप में प्रस्तुत करने में सईद की बहुत बड़ी भूमिका रही है। सईद ने अरब और इस्लामी सभ्यता के संदर्भ में प्राच्यवाद का विश्लेषण करते हुए साम्राज्यवाद से प्राच्यवाद के गहरे संबंध और उसके राजनीतिक निहितार्थ को रेखांकित किया था। उनके द्वारा प्रवर्तित प्राच्यवाद की अवधारणा मानविकी के विभिन्न अनुशासन,इतिहास लेखन,संस्कृति-अध्ययन, साहित्य-सिद्धांत आदि में युरोकेंद्रीयता का प्रतिरोध रचने और पूर्वी सभ्यता व विचार की स्वायत्त दावेदारियों के लिए प्रयुक्त होती है।प्राच्यवाद का मानना है कि यूरोपीय विद्वानों और अनुसंधानकर्ताओं द्वारा अफ्रीका, एशिया और मध्य-पूर्व का किया गया चित्रण तथ्यों अथवा यथार्थ पर आधारित न हो कर कुछ पूर्व-निर्धारित रूढ़ियों पर आधारित है। यूरोपीय कलाकारों का चित्रण सभी पूर्वी समाजों को तर्कबुद्धि से वंचित, दुर्बल और स्त्रैण के रूप में दर्शाता है। इसके विपरीत, वह पश्चिम को बुद्धिसंगत, बलवान और पौरुषपूर्ण चित्रित करता है। यह दुराग्रह पश्चिमी विद्वत्ता में इतना रच-बस गया है कि बहुत से पश्चिमी प्रेक्षक भी इसे नहीं देख पाते हैं। साम्राज्यवादी प्रभुत्व के तहत बहुत से पूर्वी विद्वानों ने भी इसे आत्मसात कर लिया है। इस प्रक्रिया में पश्चिम सभ्यता का मानक बन गया है तथा प्राच्य असंगत हो गया है। इस प्रकार ऑक्सीडेंट (पश्चिम) ओरिएंट (पूर्व) को अपने विपरीत ध्रुव की तरह रचता है। प्राच्यवाद की अवधारणा अंतर्अनुशासनात्मक अनुसंधान का परिणाम है। जिसमें विभिन्न समाजविज्ञान के साथ ही तुलनात्मक साहित्य की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। फ़ूको की सत्ता और ज्ञान के अंतर्संबंधों के साथ-साथ एंटोनियो ग्राम्शी की वर्चस्व की अवधारणा ने इसके विकास में

महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसके अतिरिक्त कोलम्बिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफ़ेसर के रूप में सईद को नस्लवादी प्रभाव वाले रचनाकार अंर्स्ट रेनन का अध्ययन करते हुए ही यूरोकेंद्रीयता के उद्गम की पहचान हुई थी।

4.7.3 नव-उपनिवेशवाद

विकसित देशों था औपनिवेशिक ताकतों द्वारा विकासशील और अविकसित देशों के आंतरिक मामलों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किये जाने वाले असल हस्तक्षेप को नव-उपनिवेशवाद या 'नियोकोलोनिअलिस्म' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में विद्वानों का मानना है कि औपनिवेशिक ताकतों द्वारा गुलाम राज्यों में स्थापित ढांचे का इस्तेमाल उन्हें उनके आज़ादी के बाद वैचारिक रूप से गुलाम बनाये रखने में मदद करता है। द्वितीय विश्वयुद्ध तक पहुंचते-पहुंचते साम्राज्यवादी शक्तियां इतना अधिक कमजोर हो गई कि वे पराधीन राष्ट्रों पर अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण बनाए रखने में अयोग्य सिद्ध होने लगे। साथ में पराधीन देशों में निरन्तर उभर रही राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप उभरे स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भी साम्राज्यवादी शक्तियों को बहुत हानि पहुंचाई। दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुंचाया। वे अब इस स्थिति में नहीं रहे कि आन्दोलनकारी ताकतों से लोहा ले सकें। इसलिए उन्होंने अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण ढीला कर दिया और उपनिवेशी शासन का अन्त होने लगा। लेकिन इसके बाद एक नए प्रकार के साम्राज्यवाद का जन्म हुआ जिसे नव-उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है। स्वतन्त्र होने के बाद नवोदित राष्ट्र इस स्थिति में नही रहे कि वे अपना स्वतन्त्र आर्थिक विकास कर सके। उनके आर्थिक विकास में सहायता के नाम पर विकसित साम्राज्यवादी देशों ने डालर की कूटनीति जिसे हम 'डालर डिप्लोमेसी' कहते है, का प्रयोग करके उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर धीरे - धीरे पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और नए साम्राज्यवाद के जाल में ये देश इस कदर फंस गए कि आज तक भी वैचारिक रूप से वे विकसित देशों के ही पराधीन है। यह पूरी व्यवस्था अपने सामूहिक रूप में नव-उपनिवेशवाद कहलाई।कुछ इन्ही हथकंडों का इस्तेमाल पश्चिम द्वारा भारत के खिलाफ भी किया और न केवल आर्थिक, राजनैतिक, वैश्विक मोर्चों पर पीछे धकेलने की कोशिश की गई बल्कि उन देशों ने यह सुनिश्चित किया की सांस्कृतिक रूप से जिसमे भारत की प्राचीन और सनातन विद्वता और ज्ञान शामिल है कभी पश्चिमी संस्कृति और दर्शन के समक्ष खड़ीं न हो पाए। आधुनिक युग में जब पश्चिम के विद्वानों के द्वारा भारतियों ग्रन्थों के प्रति व्यक्त विचारों का हम अवलोकन करते हैं तो हमे उन विचारों में स्पष्ट रूप से नव उपनिवेशवाद की झलक मिलती है। चूँकि नव औपनिवेशिक साम्राज्य का दायरा बहुत बड़ा है, हमे आवशकयता है की पश्चिम के आख्यान के तिलिस्म को तोड़ने के लिए हमे उत्तर उपनिवेशवादी और प्रच्यावादी दृष्टिकोण को न केवल अपनाना होगा बल्कि समय समय पर उसमे जरुरी संशोधन भी करने होंगे।

4.8 सारांश

आजकल के आधुनिक भारतविद् 19वीं शताब्दी के अपने धर्मयुद्ध पूर्ववर्तियों के समान नहीं हैं, न ही कॉलेज के संस्कृत विभाग 'हिंदू धार्मिक प्रणाली के सर्वोत्तम खंडन' के लिए मौद्रिक पुरस्कार देते हैं। फिर भी मुलर और उनके समकालीनों के कई काल्पनिक सिद्धांतों को अभी भी पूर्ण तथ्य माना जाता है। स्वाभाविक रूप से, इंडोलॉजी के इन अग्रदूतों को उच्च सम्मान में रखा जाता है क्योंकि वे अध्ययन के उस क्षेत्र में पहले अग्रदूत थे। आज के अकादमिक हलकों

में, इंडोलॉजी के विद्वानों को दूसरों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने के लिए अपने व्यक्तिगत धार्मिक विचारों को थोपने में कोई दिलचस्पी नहीं है (आधुनिक शिक्षाविद् धर्मनिरपेक्ष रुख अपनाना पसंद करते हैं), न ही वे राजनीतिक और नस्लीय रूप से 'हिंदुओं' को अपने अधीन करना चाहते हैं। अपने पूर्ववर्तियों के निष्कर्षों को उनका अनुमोदन अधिकतर अकादमिक अभ्यास से बाहर है।

पहले, प्रारंभिक भारतविदों ने खुले तौर पर अपनी पक्षपाती राय व्यक्त की थी कि वैदिक ग्रंथ कपटपूर्ण और निरर्थक थे। आज विद्वान वैदिक ग्रन्थों को खारिज करने में इतने स्पष्ट और अहंकारी नहीं हैं, हालांकि वे समान निष्कर्षों को अधिक संयमित भाषा में व्यक्त करते हैं, जिससे अक्सर यह आभास होता है कि वे वैदिक संस्कृति के प्रति अनुकूल हैं। बहुत अधिक सूक्ष्म तरीके से, आधुनिक भारतविदों को अग्रदूतों का पूर्वाग्रह विरासत में मिला है, और यद्यपि आज का पूर्वाग्रह 'साम्राज्यवादी' या 'इवैंजेलिकल' के बजाय 'अनुभवजन्य' है, पर वह पूर्व के समान है। कुछ एकतरफा पूर्वाग्रह जो आधुनिक भारतविदों जैसे शेल्डन पोलाक, वेंडी डोनिगर इत्यादि को विरासत में मिले हैं, उन्हें इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1) धार्मिक पूर्वाग्रह के कारण, शुरुआती भारतविद् वेदों को पुराने नियम के शुरुआती हिस्से की तुलना में अधिक प्राचीनता देने और उन्हें 2500 ईसा पूर्व से आगे रखने के लिए अनिच्छुक थे। वास्तव में, उन्होंने वेदों का जो काल निर्धारण किया वह पूरी तरह से काल्पनिक और निराधार था।

2) ज्ञान की कमी के कारण, प्रारंभिक भारतविदों ने सभी वैदिक ग्रन्थों और उनमें पाए गए व्यक्तित्वों को पौराणिक कथाओं के दायरे में धकेल दिया। इसके अलावा, उनके अनुसार ये ग्रंथ कुछ बहुत बाद के अज्ञात व्यक्तियों द्वारा लिखे गए थे जिन्होंने अपने कार्यों का श्रेय 'पौराणिक' ऋषियों को दिया था।

3) प्रारंभिक भारतविद् आर्य आक्रमण के विचित्र और आधारहीन सिद्धांत को बनाने के लिए जिम्मेदार थे, जिसके अनुसार राजाओं के सौर और चंद्र राजवंशों के अस्तित्व को पूरी तरह से नकार दिया गया है। ऐसी धारणा पूरी तरह से नस्लीय, धार्मिक और राजनीतिक प्रेरणाओं पर आधारित थी। विडंबना यह है कि यह सिद्धांत आज भी पूरे उपमहाद्वीप के हर स्कूल में पढ़ाया जाता है!

4) प्रारंभिक भारतविद् वैदिक कार्यों के भ्रष्ट अनुवाद और वैदिक संस्कृति की गलत व्याख्या के लिए जिम्मेदार थे।

5) प्रारंभिक भारतविद् इस विचार को खारिज करने के लिए जिम्मेदार थे कि संस्कृत कम से कम इंडो-यूरोपीय भाषाओं की जननी थी; जैसा कि सबसे पहले फ्रांज बोप ने बहुत ही कुशलता से प्रतिपादित किया था, और अक्सर इस तथ्य का प्राचीन भारतीय लेखकों द्वारा उल्लेख किया गया है।

यह बेहद अफसोसजनक है कि कुछ आधुनिक भारतीय संस्कृत विद्वान ऐसे यूरोपीय भारतविदों को संस्कृत साहित्य के निष्पक्ष विद्वानों के रूप में महिमामंडित करना जारी रखते हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य अपने लिए ज्ञान प्राप्त करना था। इस निबंध में उपरोक्त तथ्य भारतविद्या अध्ययन के इन तथाकथित अग्रदूतों की सच्ची प्रेरणाओं को बहुत स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। हालाँकि, इससे भी अधिक अफसोसजनक बात यह है कि मैकाले का भारतीय सन्दर्भ में देखा हुआ सपना सच हो गया है - 'ब्राउन या अंग्रेजी साहबों' की एक जाति बनाने का उनका सपना

एक वास्तविकता बन गया है। हमे इस बात का भी ख्याल रखना होगा की यह सत्य जरुर है की अतीत से लेकर वर्त्तमान परिपेक्ष्य में अधिकांश पश्चिमी भारतविद पूर्वाग्रह और श्रेष्ठता के भावना से ग्रसित थे और उन्होंने भारतीय ग्रन्थों का सही विश्लेषण कभी नहीं किया लेकिन पश्चिम मे कुछ ऐसे भी भारतविद या विद्वान हुए जिन्होंने भारतीय ग्रन्थों को सही सन्दर्भ में समझाने की न केवल कोशिश की अपितु वे इस प्रक्रिया में भारतीय संस्कृति के काफी करीब पहुँच गए और भारतीय ग्रन्थों को काफी करीब से देखा और भारत के सनातन महत्व के बारे में बताया। ऐसे विद्वानों के सूची बहुत लम्बी तो नही है लेकिन उनमे कुछ प्रमुख नाम हैं: कार्ल युंग, मीर्सिया इलिआडे, जोसफ कैम्पबेल, हेनरिच ज़िम्मर, क्लौड लेवाई-स्ट्रॉस इत्यादि। आजकल, जबकि पश्चिमी दुनिया जीवन की जटिलताओं के उत्तर के लिए भारतीय दर्शन की ओर अपना रुख कर रही है, वैदिक संस्कृति के सबसे बड़े प्रतिद्वंदी स्वयं भारतीय हैं - 'धर्मनिरपेक्ष' राजनेता, पत्रकार, शिक्षाविद्, वास्तव में भारत की पूरी पश्चिमीकृत क्रीम और इससे भी अधिक विरोधाभासी बात यह है कि उनमें से अधिकांश कथित रूप से हिंदू हैं जो इस अद्वितीय भारतीय मानसिकता और मनोविज्ञान को पूर्णतया जाने बिना पश्चिम के अपने आकाओं को मसीहा मन बैठे हैं। इसका परिणाम एक आधुनिक भारतीय युवा है जो पश्चिम की नकल करता है।कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि भारत को भौतिक रूप से प्रगति करने के लिए पश्चिमी शिक्षा और नैतिकता को स्वीकार करना महत्वपूर्ण है। भारत में पिछले दस वर्षों में हिंसा, बलात्कार, चोरी और अन्य सामाजिक समस्याएँ बड़े पैमाने पर बढ़ी हैं। यह केवल नास्तिक पश्चिमोन्मुख शिक्षा के कारण है जिसे भारत ने अपने युवाओं पर थोप दिया है। वास्तव में, भौतिक गतिविधि के हर क्षेत्र में, भारत हास्यास्पद या विनाशकारी परिणामों के साथ पश्चिम की नकल करने की कोशिश करता है। मनोरंजन के क्षेत्र में, भारत दुनिया के किसी भी देश की तुलना में अधिक फिल्में बनाता है, फिर भी उन फिल्मों की सामग्री की तुलना मूर्खतापूर्ण ढंग से की जाती है, क्योंकि इन फिल्मों की सामग्री वासना और हिंसा को उकसाती है और ऐसा इसलिए है क्योंकि वे पश्चिमी फिल्मों पर आधारित हैं। भारत को भी 'संस्कृति उद्योग' से परिचित कराया गया है ताकि वह देख सके कि बाकी दुनिया कैसे व्यवहार करती है। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद से भारतीय ड्रेस कोड में भी काफी बदलाव आया है। भारतीय पुरुष पश्चिमी पतलून और शर्ट पहनते हैं। यदि वे कुछ पारंपरिक पहनते हैं, तो उन्हें 'पुराने ज़माने' का माना जाता है। आजकल भारत के प्रमुख शहरों में, युवा महिलाओं को साड़ी के बजाय टी-शर्ट और जींस पहने देखना असामान्य नहीं है। जीवनशैली में इतना बड़ा बदलाव आज भारतीय मानस को दर्शाता है। संक्षेप में, आज भारत के युवाओं को भारतीय होने पर शर्म महसूस करना सिखाया जाता है। वे अपने धर्म और अपने पूर्वजों द्वारा दी गई नैतिकता पर शर्मिंदा हैं। उन्हें यह विश्वास दिलाया गया है कि पश्चिमीकरण को अपनाना ही उनके जीवन में प्रगति करने का एकमात्र तरीका है। इस प्रकार, अंग्रेज अभी भी भारत के स्वामी हैं और धर्मांतरण करने वाले ईसाई भारतविदों ने जीत हासिल कर ली है। जब तक भारत अपनी गलती से नहीं जागता और अपनी आध्यात्मिक विरासत को फिर से खोजने का प्रयास नहीं करता, तब तक वह 'ब्राउन साहब' पैदा करता रहेगा और मैकाले और ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली के भूतों के अधीन रहेगा।

4.9 संदर्भग्रंथ सूची

सुभाष काक द्वाराआर्य और प्राचीन भारतीय इतिहास

डेविड फ्रॉले द्वारा भारत पर आर्य आक्रमण का मिथक

डेविड फ्रॉली द्वारा देवता, ऋषि और राजा

प्रोफेसर दिनेश अग्रवाल द्वारा द डेमिस ऑफ द आर्यन इन्वेज़न/रेस थ्योरी

पुरोहित भगवान दत्त द्वारा वेस्टर्न इंडोलॉजिस्ट: ए स्टडी इन मोटिव्स

सदापुता दास द्वारा विश्व दृष्टिकोण: वैदिक बनाम पश्चिमी

सत्स्वरूप दास गोस्वामी द्वारा वैदिक साहित्य में वाचन

डॉ. श्रीरंग गोडबोले द्वारा 19वीं सदी के पश्चिमी विद्वानों के उद्देश्य

प्रसाद गोखले द्वारा भारतीय इतिहास की प्राचीनता और निरंतरता

स्वामी बी.जी. द्वारा वैष्णव भारत नरसिंह महाराज

रूपा विलासा दास द्वारा सातवें गोस्वामी

विश्वा अद्लुरी और जोयदीप बागची द्वारा द नेय साइंस: अ हिस्ट्री ऑफ़ जर्मन इंडोलोजी

रोसने रोचेर और लूडो रोचेर द्वारा द मेकिंग ऑफ़ वेस्टर्न इंडोलोजी

4.10 बोध प्रश्न

1. इंडोलोजी से आप क्या समझते हैं? इसके संक्षिप्त इतिहास का उल्लेख कीजिये।
2. ओरिएंटल पुनर्जागरणसे आप क्या समझते हैं?
3. जर्मन इंडोलोजी के उद्गम और विकास पर विस्तारपूर्वक चर्चा कीजिये।
4. इंडोलोजी के क्षेत्र में निम्नलिखित विद्वानों के योगदान पर प्रकाश डालिए।
   i. सर विलियम जोन्स
   ii. एच. एच.विल्सन
   iii. थॉमस बबिंगटन मैकाले
   iv. रिचर्ड गार्बे
5. इंडो जर्मनिक महाकाव्य पर एक लेख लिखिए।
6. आधुनिक महाभारत अध्ययन के उद्गम पर प्रकाश डालिए।
7. निम्नलिखित को परिभाषित करिए-
   i. उतर उपनिवेशवाद
   ii. प्राच्यवाद
   iii. नव-उपनिवेशवाद

इकाई 5 स्वतन्त्र शोध पर पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अन्तर्गत स्वतन्त्र शोध के प्रत्यय पर विचार प्रस्तुत करते हुए सम्पूर्ण पाश्चात्य चिन्तनधारा में स्वतन्त्र शोध एवम् तत्बोध हेतु किये गये उपबन्धों का विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

- यहाँ इस बात की आवश्यकता पर बल दिया जायेगा कि ज्ञान की खोज की पूरी पाश्चात्य परम्परा में कहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त थी, क्या उसकी सीमाएँ निर्धारित कर दी गई थीं या तत्कालीन विभिन्नप्रतिबाधकों के द्वारा चिन्तन को प्रतिवारित करने का प्रयास किया गया था? इन्हींप्रश्नों के उत्तर स्वरूप प्राप्त विषयवस्तुओं का एक तार्किक एवम् ऐतिहासिक सर्वेक्षण कर विश्लेषण करना एवम् एक सन्तुलित निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करना है।

5.1 प्रस्तावना

किसी भी परम्परा में ज्ञान निर्मिती, उसकी प्राप्ति एवम् उसके प्रसारण की प्रक्रिया एवम् इनसे बने इतिहास का अध्ययन ही उस परम्परा की ज्ञानमीमांसा का सम्पूर्णता में निर्माणक होता है। पाश्चात्य परम्परा में ज्ञान को सत्य, प्रामाणिक एवं विश्वसनीय तो

माना जरूर गया, परन्तु इसके ऐतिहासिक काल–क्रम को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है किज्ञान का सर्जन, खोज एवं प्रसारण, विभिन्न शर्तों एवं प्रतिबन्धकों के कारण कभी भी पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं रहा है जिससे स्वतन्त्र शोध एवं तत्बोध की बड़ी समस्या रही है। स्वतन्त्र शोध के साथ–साथ स्वतन्त्र बोध श्रेय है, परन्तु स्वतन्त्र शोध पर किसी भी प्रकार का प्रतिरोध या प्रतिशोध वरेण्य नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान हेतु स्वतन्त्र शोध के सम्बन्ध में प्रतिबन्धकों के अध्ययन का तात्पर्य उस परम्परा में सत्य प्रामाणिकता एवं विश्वास का अवगाहन होता है। पाश्चात्य ज्ञान परम्परा की चिन्तनधारा के सर्वेक्षण से यह ज्ञात होता है कि ज्ञान में विश्वासएवम् आस्था को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ, परन्तुज्ञान के सत्य होने एवं प्रामाणिक होने के लिए विभिन्न काल–क्रमों में अलग–अलग सन्दर्भों को लेकर प्रतिबन्धकों की उपस्थिति के कारण ज्ञान एवं शोध की प्रस्थापना के लिए एक गहन संघर्ष की स्थिति रही। उन परिस्थितियों में प्रतिबाधकों एवम् उनके विरुद्ध ज्ञानानुयायियों के संघर्षों का व्यवस्थित, ऐतिहासिक एवम् अवधारणात्मक वर्गीकरणों के आधार पर एक समग्र दृष्टि का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य है, जिसमें प्राचीन पाश्चात्य चिन्तन परस्परा एवं दर्शन में सूकरात पूर्व दार्शनिकों एवं सुकरातोत्तर युग में ऐसे अनेक चितंको से लेकर मध्य मुग, आधुनिक युग एवं समकालीन दार्शनिकों के विचारों का पर्यवेक्षण एवं अनुशीलनोंपरान्त यह जानने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के स्वतन्त्र शोध की समस्या पर सत्य एवं प्रामाणिकता की समस्या रही है। अतः प्रतिबाधकों के अध्ययन एवं विश्लेषण हेतु केन्द्रीय विचार के रूप में ज्ञान के इन्हीं आयामों पर विभिन्न काल–खण्डों के सापेक्ष निम्नवत् विचार प्रस्तुत हैः

5.2 सुकरात के चिन्तन एवम् उनके प्रतिबन्धक तत्त्व

सुकरात यूनान के एक महान् चिन्तक थे जिनका जन्म एथेंस नगर में 470 ई० पू० में हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार सुकरात के ऐतिहासिक व्यक्ति होने पर प्रश्न है, लेकिन यह प्रश्न तब कमजोर पड़ जाता है, जब उनकी चर्चा एक दार्शनिक या विचारक सुकरात के सम्बन्ध में होते लगती है। यह बात उनके शिष्य प्लेटो के द्वारा रचित् संवादों (डायलॉग्स) से स्पष्ट हो जाती है। आगे भी हम देखने का प्रयास करेंगे कि सुकरात का यही गंभीर एवं नवोन्मेषी चिंतन प्रणाली मानव के व्यापक हित के बाद भी उनके जीवन को कैसे संकटाकीर्ण कर दिया जो उस समय के प्रतिगामी शासन एवं चिंतन के दुष्परिणाम–स्वरूप सुकरात के इहलीला की समाप्ति की कहानी बना।

5.2.1 सुकरात युग की समस्या

जिस युग में सुकरात पैदा हुए थे वह भौतिक चिंतकों एवं सोफिस्टों का युग था।थेलीज, एनेक्जिमेण्डर, एनेक्सीमेनीज, पाइथागोरस, जेनोफेनीज, हेराक्लाइटस, पारमेनाडिस एवं डेमोक्राइटस इत्यादि पूर्ववर्ती चितंकों ने भौतिकता पर जोर दिया जबकि इनके प्रयोजनमूलकता पर विचार सर्वप्रथम सुकरात ने शुरू की। इनके अतिरिक्त सोफिस्ट दार्शनिकों में प्रोटागोरस एवं गार्जियस आदि ने जिस तरह से वितण्डावादी तर्कों के द्वारा जनमानस की ज्ञान परम्परा को प्रभावित किया था, वह अत्यन्त ही हेय एवं दुःखद स्थिति में डालने वाली थी। सोफिस्ट मुख्यतः तीन प्रकार के थे। पहले वे जो वाक्पटु थे एवं भोग की वस्तुओं एवं राजसत्ता की प्राप्ति हेतु सतत प्रयत्नशील रहते थे। दूसरे, वे थे जो ज्ञान को आधार बताकर समझ विकसित् करने का प्रयास करते थे। शिक्षावृति के द्वारा जीवन–यापन करना चाहते थे। परन्तु उनकी शिक्षाएँ कमजोर, खण्डनीय एवं कुतर्कों पर आधारित हुआ करती थीं। तीसरे, वे

सोफिस्ट चिन्तक थे जो कविताओं, पहेलियो, द्वन्द्वन्याय आदि के द्वारा समाज में सम्मान एवं वर्चस्व बनाये रखने का प्रयास करते थे। इनकी मूल मान्यताएँ निम्नवत् थीं।

1) मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।
2) सत्य व्यक्ति सापेक्ष है।
3) किसी वस्तु का अस्तित्त्व नहीं है।
4) यदि है भी तो उसे हम जान नहीं सकते।
5) यदि उसे जानें भी तो उसका ज्ञान दूसरे को नहीं करा सकते।

सोफिस्टों की उपर्युक्त मान्यताएँ ही सुकरात के चिन्तन की समस्या थी क्योंकि इस प्रकार की ज्ञानमीमांसा के द्वारा न तो सत्य का एक सम्यक् रूप बनाया जा सकता था और न ही नैतिक जीवन के आधार के रूप में सदाचारों की उपयुक्त व्याख्या सम्भव थी। अतः सुकरात ने गंभीरता से इन प्रश्नों की प्रकृति एवं प्रवृत्ति पर विचार किया तथा इसके स्थानापन्न सिद्धान्तों की खोज की। उपयुक्त मान्यताओं के मानने के कारण सामाजिक जीवन में सहभाव एवं शान्तिप्रिय जीवन की स्थापना सम्भव न थी। इसलिए सुकरात ने उन्हें अस्वीकृत कर एक सार्वजनिन एवं तर्काधारित वैध निष्कर्षो से युक्त ज्ञान का आविष्कार करना चाहते थे जो स्वयं सद्‌गुण भी हो। उनकी घोषणा थी– 'सद्‌गुण ही ज्ञान है' सोफिस्ट चिन्तक अपनी स्थापनाओं को फलवादी दृष्टि से देखते थे। उनका मानना था कि उक्त मान्यताओं के आधार पर ही जीविका का निर्वहन होना चाहिए जबकि सुकरात ने इन दृष्टियों एवं मान्यताओं में त्रुटि को दिखाकर इनका खण्डन कियायहीं से सुकरात के अकाट्य तर्कों से पराजित होने के पश्चात् उनकी शत्रुता, अन्य कुटनीतिक एवं सता के लालची चिन्तकों–वचकों से बढ़ने लगी। यहाँ हम सर्वप्रथम इन सोफिस्ट मान्यताओं का विश्लेषण करेंगे जिन्हें सुकरात ने बदलने या छोड़ देने की वकालत की थी।

सुकरात के अनुसार यदि मनुष्य को सभी वस्तुओं का मापदण्ड मान लिया जाय तो एक गंभीर नैतिक–सामाजिक समस्या उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि इस जगत् में मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी हो सकता है, परन्तु इनके संचालन हेतु सभी विधानों का आधार नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाय तो मनुष्य अपने स्वार्थ एवम् आधिपत्यात्मकता के शिखर तक जाकर नियमों का उल्लंघन करने वाला एवं स्वेच्छाचारी हो सकता है। यह उसे एक अनियन्त्रित करने वाली शक्ति से जोड़ देने जैसा होगा औरऐसे में इस समाज एवं सम्पूर्ण जगत् का सन्तुलन बिगड़ सकता है। अतः मापदण्ड के तौर पर एक ऐसी शक्ति या सिद्धान्त का होना आवश्यक है, जिसमें स्वयं के साथ–साथ अन्यों के नियन्त्रण करने तथा नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करने, उसे धारण की क्षमता प्राप्त हो और ऐसी क्षमता किसी भी एक मनुष्य या कई मनुष्यों को मिलाकर भी नहीं प्राप्त की जा सकती। पुनश्च, वस्तुओं एवं जगत् के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी ज्ञानमीमांसा विकसित् करने से जगत् में व्यवहार करना एवं जीना कठिन हो जायेगा। हम एक–दूसरे के साथ ज्ञान के माध्यम से संचार करते है भाषा के प्रयोग से। ज्ञान की अनुभूति भाषा के माध्यम से निकलकर अन्यों तक पहुँचती है और हम एक–दूसरे के साथ अन्तक्रिया करते हैं। इसलिए यह कहना कि हम कुछ भी जान नहीं सकते और यदि जान भी गये तो इसका संचार नहीं कर सकते, एक प्रकार से घोर अज्ञेयता को प्रमाणित करने का प्रयास है जबकि लोक–व्यवहार में प्रतिदिन हम देखकर यह कह सकते हैं कि हमारा अनुभव सम्पूर्णता

में न सही, परन्तु प्रमाणों के साथ कुछ हद तक सटीक संचार कर लेते हैं। सबसे कठिन समस्या सुकरात के समकालीन चितंकों ने सत्य के स्वरूप को लेकर उठाया जिसमें सार्वभौमिकता, अनिवार्यता एवं सर्वस्वीकार्यता का सर्वथा अभाव था। यदि सत्य याज्ञान के स्वतन्त्र शोध को विभिन्न शर्तों से रहित एवं सार्वजनिनता से युक्त नहीं माना जाय तो वह ज्ञान या शोध सापेक्ष होगा जो निरपेक्षता, सार्वभौमिकता एवम् वैध ज्ञान या सत्यता की किसीभी कसौटी पर खरा नहीं उतर पायेगा। ऐसा ज्ञान सार्वकालिक न होकर क्षणिक एवं त्रुटिपूर्ण होगा। वह अनिवार्य न होकर प्रायिकएवम् अनिश्चित होगा। व्यक्ति–सापेक्ष ज्ञान सद्गुण नहीं, वरन स्वार्थ का स्वरूप ले सकता है।

5.2.2 ज्ञान एवं सत्य से सम्बन्धित सुकरात के विचार

सुकरात ने उन सभी प्रकार के ज्ञानों की समीक्षा की जो अन्य व्यक्तियों से प्राप्त होता है और स्वानुभूति से साम्य नहीं रखता। जिस ज्ञान को भौतिक वस्तुओं की तरह खरीदा जा सकता है उसमें सार्वजनिनता नहीं होती। सत्य ज्ञान वह है जिसकी साक्षात् अनुभूति स्वयं को होती है, और जिसे प्राप्त करने के लिए सतत् आत्म–परीक्षण की आवश्यकता होती है। सुकरात ने ज्ञान को धारणा (कॉन्सेप्ट) से उत्पन्न बताया है। उनका मानना है कि 'समस्त् ज्ञान हमारी अवधारणा से उत्पन्न होते हैं जो कि हमारे भीतर हैं। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए उनके प्रिय एवम् विद्वान् शिष्य प्लेटो ने 'धारणा' पद का बदलाव करते हुए उसकी जगह 'प्रत्यय' को स्वीकार किया और बतलाया कि 'सभी ज्ञान प्रत्यय से प्राप्त होते है जो हमारेभीतर और हमारे बाहर भी हैं।' वस्तुतः प्लेटो ने सुकरातद्वारा दिये गये ज्ञान के सम्बन्ध में यह कोई नयी बात नहीं की क्योंकि वे अपने गुरु का अत्यन्त सम्मान करते थे तथा अपने 52 वर्षो के अकादमिक जीवन में से लगभग 40 वर्षो तक अपने गुरु सुकरात के उपदेशों एवं शिक्षाओं का ही विभिन्न संवाद (डॉयलॉग्स) के रूप में से संकलन करते रहे। बाद के अंतिम 12 वर्षो में ही उन्होंने अपने विचार (यद्यपि कतिपय भिन्नता के साथ) पृथक् संवादों के माध्यम से लाये। यहाँ ज्ञान की निर्मिति के सम्बन्ध में प्लेटो ने केवल पदावली बदली है अर्थ–निरूपण के लिए तथा सर्वग्राह्य बनाने के लिएँ जोज्ञान स्वानुभूति से यानि स्वयं के धारणा से उत्पन हो रहा हो और उसकी संवादिता (कारेस्पॉन्डेन्स) दूसरों की धारणा से भी हो जाय तो उसकी वस्तुनिष्ठता एवं सार्वजनिनता बढ़ जाती है और वह सत्य की कसौटी पर खरा होने से सर्वस्वीकार्य भी बन जाता है। अन्यथा जब कोई अनुभूति इच्छा एवम् विभिन्न उपाधियों से युक्त होकर उपस्थित हो तो वह ज्ञान की कसौटी पर सापेक्ष एवं सोपाधिक होने के कारण सत्य एवं प्रामाणिक नहींहो सकता। सोफिस्टों की सबसे बड़ी समस्या थी ज्ञान के सम्बन्ध में 'विश्वास' तत्त्व को बाह्यशर्तो द्वारा युक्त कर सत्य घोषितकर दिया जाय, परन्तु यह सुकरात को स्वीकार नहीं था। सत्य ऐसा हो जिसकी प्रामाणिकता स्वान्तर्भूति से सिद्ध हो तथा प्लेटों के शब्दों में कहें तो इसे और व्यापक होकर दूसरों की अनुभूतियों से भी उतनी ही मात्रा मे प्रमाणित हो सके।

ज्ञान एवं सत्य के परस्पर इस सम्बन्या से स्पष्ट है कि यदि ज्ञान भिन्न–भिन्न व्यक्तियों का ज्ञान धारणा से उत्पन होने के कारण या प्रत्यात्मक होने से परस्पर संवादिता से सत्य प्रमाणित हो पाते हैं तो वह ज्ञान सत्य है, अन्यथा वह पृथक–पृथक व्यक्तियों की सापेक्षिक भावनाएँ सम्वेदनाएँ एवम् इच्छाएँ ही बन कर रह जाती हैं। ऐसे में व्यक्ति सापेक्ष सम्वेदनों की जिनकी प्रमाणिकता अर्थ अन्तरानुभूति से न हो तो यह निरपेक्ष भी नहीं हो सकते और यदि ज्ञान में निरपेक्षता अनिवार्यता एवं सार्वजनिकता न हो तो वह सद्गुण भी नहीं सकते। इस प्रकार सुकरात के चिन्तन में ज्ञान, अनैतिकता, परस्पर

सामञ्जस्य है।

5.2.3 धर्म एवं नैतिक प्रत्ययों से सम्बन्धित सुकरात के विचार

सुकरात ने सद्‌गुण की प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से बौद्धिकअन्तर्दृष्टि को आधार बनाया है। सुकरात की नैतिकता से सम्बन्धित प्रमुखतः निम्नवत्धारणाएँ हैं:

1) सद्‌गुण ज्ञान है, इसके विपरीत, बुराई या अनैतिक आचरण बौद्धिकभूल है, यानि दुर्गण अज्ञान है।

2) सद्‌गुण एक है।

3) अनैतिक आचरण सदैव अनैच्छिक होता है।

4) धर्म के क्षेत्र में विवेकपूर्ण सदराचा ही धर्म है।यह बौद्धिक ज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सकता है, जो अन्तरात्मा की आवाज बनकर निकली हो।

सुकरात ने धर्म को नीतिशास्त्र की एक शाखा के रूप में देखा था। जो कर्मकाण्ड एवं नैतिकता से शून्य हो, वह चाहे शास्त्रीय हो या लोक–प्रचलित उनकी सुकरात ने आलोचना की तथा बौद्धिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास कियाउनकी सर्वोपरि मान्यता यह थी कि बौद्धिक (धारणात्मक या अन्तरात्मा की आवाज) न हो, वह न तो धर्म हो सकता है और नहि कोई सद्‌गुण या नैतिकता। ऐसा उन्होंने इसलिए करना चाहा था क्योंकि उनके अनुसार, सद्‌गुण ज्ञान, धर्म एवं नैतिकता के प्रत्ययों में परस्पर एकता, सामंजस्य एवं सार्वजनिनता की प्रामाणिकता अवश्य दिखनी चाहिएसत्य ज्ञान एवं धर्म की इसी सार्वजनिन खोजों एवम् इनपर बल देने के कारण सुकरात पर मिथ्यारोप एवम् अनैतिक अभियोगलगाया गया जिसका उन्हें शिकार होना पड़ा। प्राचीन पाश्चात्य चितंन परम्परा में सुकरात के इस स्वतन्त्र चिंतन जिसमें सत्य, धर्म, न्याय एवं नैतिकता के वचन प्रमुख थे, कोराज्यसत्ता का दुरुपयोग करके बलात् प्रतिबन्धित करने का सबसे प्राचीन एवं पहला उदाहरण प्राप्त होता है।

स्वतन्त्र शोध एवं सत्य प्रतिवारित करने का यह बहुत ही दुःखद उदाहरण है। सुकरात न केवल एवं यूनान बल्कि सम्पूर्ण मानवता के नैतिक धरोहर है जिन्होंने अपने प्राण देकर भी सत्य एवं सत्य–वचन एवं स्वतन्त्र चिंतन परम्परा के प्रवाह को रुकने नहीं दियाँ लगभग सत्तर साल की आयु में सुकरात पर मुकदमा चलाने वाले, अभियोगियों में तीन नाम प्रमुख हैं: 1) अनीटस, जो एक एथेंस का तत्कालीन राजनेता था, 2) मेलिटस, जो एक दुःखान्तवादी कवि था तथा 3) लाइकन, जो एक वाक्पटु सोफिस्ट था। सुकरात के ऊपर तीन आरोप लगाये गए:

1) सुकरात राष्ट्रीय देवों की उपासना नहीं करते।

2) वे नये देवों कासृजन कर रहे हैं, और

3) वे अपने विश्वासों के अनुसार शिक्षा देकर एथेंस के युवकों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं।

सुकरात ने न्यायालय में अपना पक्ष स्वयं रखा एवम् उनके तर्कों के समक्ष अभियोजन पक्ष टीक न सका। तीनों आरोपों पर सुकरात ने अपना पक्ष रखते हुए उन्हें खण्डित कर दियाँ अपराध सिद्ध नहीं होने पर भी न्यायालय ने उन्हें प्राणदण्ड देने का फैसला कर दियाँ इस प्रकार सत्य को राजनीति के गंदे नाले में नहाये उन न्यायधीशों एवं राज्यसता केलोभियोंने देखा कि सत्य, न्याय एवं नैतिकता की नई एवं सार्वजनिनपरिभाषा के आ जाने से उनकी राज्यसत्ता काअबाध उपभोग रुक जायेगा, एतदर्थ उन्होंने सुकरात के साथ षड़यन्त्र कर मृत्युदण्ड के स्वरूप में जहर का प्याला

देकर सुकरात के शोधों पर विराम लगाने का प्रयास किया, परन्तु सुकरात ने अपने प्राणों को छोड़ते हुए भी सत्य एवं न्याय के अपने उस सार्वजनिन खोजों को नहीं छोड़ा जो आज भी पूरी दुनिया में ससम्मान स्वीकृत किया जाता है। सुकरात के इस घटना से आगे बढ़कर आधुनिक युग के ऐसे ही सत्यान्वेषी ब्रुनो की प्राणान्तक घटना भी हुई जो पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास में काले धब्बे बनकर आज भी उसकी गरिमामर्दन के प्रमाण हैं जिनका हम आगे क्रमिक सर्वेक्षण एवम् विश्लेषण करेंगे।

5.3 स्वतन्त्र अन्वेषण एवं मध्ययुगीन पाश्चात्य प्रतिबन्ध

महामानव सुकरात के यशस्वी एवं स्वतन्त्र अन्वेषणों की धारा उनके निधन के बाद भी रुकी नहीं। उनके विचारों के प्रवाह को उनके सुयोग्य शिष्य प्लेटो ने बड़ी स्पष्टता एवम् अपने गुरूतर प्रतिभा का परिचय देते हुए ज्ञान, सत्य, न्याय, धर्म एवं शुभ के प्रत्ययों का गंभीर विवेचन किया, जिसका प्रभाव आज भी पूरी दुनिया में गहरे रूप में दिखलाई देता है। प्लेटो ने ज्ञान को परिभाषित करते समय अपने गुरु सुकरात के मत में सावधानीपूर्वक परिवर्तन करके 'धारणा' (कानसेप्ट) के स्थान पर प्रत्यय (आइडिया) कर दिया तथा प्रत्ययों की सार्वजनिनता को ही ज्ञान बतलायाँ थीटीटस नामक अपने संवाद (डायलॉग्स) ज्ञान को एक सत्य प्रमाणिक विश्वास माना। ज्ञान की यही परिभाषा इतनी उम्दा है कि समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक एडमण्ड गेटियर ने सन् 1963 ई. में इस मान्यता पर प्रश्न चिन्ह खडा किया, और इसके उत्तर में अनेक विद्वानों ने नवीन शोध–पत्रों का सृजन कियाआज भी यह प्रश्न अपने पक्ष एवम् विपक्ष कोलेकर उसी ऊँचाई के साथ पूरी पाश्चात्य चिन्तन–परम्परा की ज्ञानमीमांसीय शाखा में खड़ा है। प्लेटो के इन महान चिन्तन–परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय उनके प्रिय एवम् आज के तथाकथित पाश्चात्य बौद्धिकता के नायक अरस्तू जो ज्ञान के कई विधाओं के जनक के रूप में ख्यात हैं, ने द्रव्य, आकार, कारणता सहित कई दार्शनिक, भौतिक, जीव विज्ञान तत्त्वमीमांसा तथा नीतिमीमांसा के गहन प्रश्नों पर अपने स्वतन्त्र शोध को आगे बढ़ायाँ इनकी तत्त्वमीमांसीय खोजों का सम्बन्द्ध बाद में प्रचलित हुए धर्मों में समादृत विचार के रूप में स्वीकार किया गया यद्यपि उनमें से कुछेक पर प्रतिक्रिया हुई एवं सुधार भी हुआ जिसका विवरण प्रसंगानुसार आगे किया जायेगा। अरस्तु द्वारा सृष्टिमीमांसा के सम्बन्ध भू–केन्द्रिक (जियोसेन्ट्रिक) सिद्धान्त दिया गया था जिसके अनुसार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी को माना गया था तथा समस्त् आकाशीय पिण्ड इसी पृथ्वी का चक्कर लगाते हैं। इस सिद्धान्त को इसाई धर्म में विशेष स्थान प्राप्त हुआ। इसी मान्यता के विपरीत खोज को लेकर एक बार पुनः मध्य–युग के अन्त में चर्च ने तर्क एवं सत्य से युक्त ज्ञान को प्रतिबन्धित करने का कुत्सित् प्रयास किया था।

अरस्तु का देहान्त 322 (ईसा पूर्व) में हुआ और यूनानी दर्शन अब धीरे–धीरे सुकरात–प्लेटो–अरस्तू के विचारों के ही इर्द–गीर्द थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ घूमता रहा। कोई विशेष नवीन ज्ञान न दे सका क्योकि इन त्रिदेवों का चिन्तनयूनानी दर्शन का शिखर था। अरस्तू के बाद पाश्चात्य जगत् में, दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र रोम एवं मिश्र बना जिसमे प्लोटिनस ने नव्य–प्लेटोवाद को आगे बढ़ायाँ ईसा के जन्म के बाद धीरे–धीरे प्लेटोवादी एवम् अरस्तवी चिन्तन का प्रभाव कम हो गयातीसरी, चौथी एवं पाँचवी शताब्दी में नव्य– प्लेटोवाद का खुब प्रभाव बना रहा। लेकिन ईसाई विचारों के साथ नव्य–प्लेटोवाद का संघर्ष बना रहा।

छठीं शताब्दी यानि सन् 529 ई0 में रोमन सम्राट जस्टिनीयन ने ईसाई धर्म और विचार

की रक्षा एवं प्रचार हेतु प्लेटो की एकेडमी एवं नव्य–प्लेटोवादी शिक्षण संस्थाओं को जो स्वतन्त्र दार्शनिक विचारों एवं शोध के केन्द्र थे, को बलपूर्वक बन्द करा दिया यह किसी स्वतन्त्र शोध पर प्रतिबन्ध का पाश्चात्य इतिहास में दूसरा बड़ा प्रयास था। यहीं से शिक्षा एवं चिन्तन का केन्द्र अब रोम बन गया जहाँ ईसाई धर्म अपने वर्चस्व की ओर बढ़ने लगा। यहीं पाश्चात्य चिन्तन–धारा में मध्य युग की शुरुआत हो गयी जो लगभग एक हजार वर्षों तक चलता रहा। मध्ययुग के चिन्तन की निम्न विशेषताएँ थीः

1) इस काल का चिन्तन एवं सत्यान्वेषण ईशकेन्द्रित (थियोसेन्ट्रिक) था।
2) ज्ञान में सत्य की प्रमाणिकता के लिए तर्क का स्थान बहुत ही कमजोर तथा विश्वास का अत्यधिक था।
3) चर्च का प्रभुत्व।

इस बात को यों स्पष्ट किया जा सकता है कि सत्य का या ज्ञान का अनुशीलन तब तक नहीं हो सकता जब तक आप चर्च प्रतिपादित ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर की सत्ता एवम् उनके वचन को अन्तिम प्रमाण न मान लें। अतः समस्त् स्वतन्त्र चिन्तन एक तरह से ईशकेन्द्रित होने से तर्क की एक सीमा द्वारा निर्धारित हो गया और ईसाईयत के धर्मशास्त्रोंएवं चर्च की सत्ता के विरुद्ध कोई भी तर्क नहीं दिया जा सकता था, भले ही इनमें निहित बातें कुर्तक एवम् अन्धविश्वास पर आधारित क्यों न हो। विश्वास का स्थान भी आस्था में परिणत चुका था। इस प्रकार सम्पूर्ण पाश्चात्य परम्परा के मध्य–युग का चिन्तन सीमित एवं प्रतिबन्धित सा लगने लगा था। यही कारण है कि इस युग की इसी नकारात्मक विशेषताओं के कारण इसे अंधकार–युग (*एरा ऑफ डार्कनेस*) भी कहा जाता है। भक्ति, आस्था एवम् विश्वास तो ठीक है।ये धार्मिक ज्ञान के निर्मिति के तत्त्व है, परन्तु इनका अंधभक्ति एवम् अंधविश्वास के रूप में परिणत हो जाना कभी भी स्वतन्त्र शोध, चिन्तन एवं सत्यान्वेषण हेतु स्वीकार्य नहीं हो सकता। इस युग का समय समय–विस्तार लगभग चौदहवीं–पंद्रहवी शताब्दी तक रहा। वैसे तो इस युग में स्वतन्त्र चिन्तन की सम्भावना बहुत कम थी, फिरभी कुछ दार्शनिक चिन्तन सन्त ऑगस्टीन, सन्त अक्वाइनस, सन्त अन्सेल्म, जॉन स्कोट्स आदि रहे। मानव सभ्यता को गति देने वाला कोई क्रान्त्रिक विचार नहीं आया।

5.4 पुनर्जागरण के अग्रदूत एवं पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्व

जब यह युग अपने अवसान की ओर था एवं धीरे–धीरे इस अन्धकार एवं सुषुप्ति से पुनर्जागरण की आहट आने लगी लगी थी, तभी कुछेक विज्ञान के चितंको ने चर्च एवम् ईसाईयत समर्थित प्रतिबन्धक तत्त्वों के विरुद्ध तर्क एवं प्रयोगों पर आधारित कुछ चिन्तन प्रारम्भ कर दिये जिनका एक बार पुनः राज्यसत्ता ने अपने कुतर्कों एवं राजनीतिक बल का प्रयोग कर स्वतन्त्र शोध को कुचलने का प्रयास किया

5.4.1 निकोलस कोपरनिकस के शोध एवम् उनका विरोध

मध्य–युग के अन्त में तर्क, विज्ञान एवं प्रयोगों पर आधारित सत्यं ही स्वीकार किया जाने लगा। आस्था एवं विश्वास के डोर कमजोर हो गये थे। तभी पुनर्जागरण काल के पोलिश खगोलशास्त्री निकोलस कोपरनिकस (1473–1543) ने खगोलीय घटना पर अपने विचार *कमेंटेरियोलस* नामक पुस्तक में प्रकाशित किये। कोपरनिकस ने एक क्रान्तिकारी सूत्र दिया कि पृथ्वी अन्तरिक्ष के केंद्र में नहीं है। यह स्थापना पहले से चली आ रही मान्यता के विरुद्ध थी। इससे पूर्व अरस्तू ने ब्रम्हाण्ड का भू–केन्द्रिक (*जियोसेन्ट्रिक*) मॉडल का सिद्धान्त दिया था हालाँकि उससे भी पूर्व पाइथागोरस से

कहा था कि पृथ्वी अग्नि के चारों ओर चक्कर लगाती है और हेराक्लाइटस नें कहा था कि पृथ्वी सूर्य के इर्द–गीर्द घूमती है, लेकिन यह सभी एक तरह की तत्त्वमीमांसीय संकल्पनाएँ थी। बाद में अरस्तू ने बताया कि पृथ्वी ही अन्तरिक्ष के केन्द्र में है और सूर्य इसके चारो ओर चक्कर लगाता है। इस विचार कोईसाई धर्म ने आत्मसात् कर लियाजब निकोलस कोपरनिकस कायह विचार आया कि पृथ्वी नहीं, वरन् सूर्य ही इस अन्तरिक्ष के केंद्र में है और पृथ्वी ही, सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है, तो ईसाई धर्मएवं चर्च की तरफ, से कहा गया कि यह बाइबिल में स्वीकृत सत्य को नकारा गया है। यद्यपि कोपरनिकस को वह परिणाम नहीं झेलना पड़ा, जो परिणाम सत्य के नवोन्मेष हेतु सुकरात, गैलीलियो एवं ब्रूनो को झेलना पड़ा था। एक कारण और था जिसमे बताया जाता है कि कोपरनिकरस का सम्बन्ध भी चर्च से था और उसने अपने इसे सिधान्त की पुष्टि के लिए गणितीय गणना नहीं करायी थी तथा यह किसी प्रयोग का परिणाम नहीं था। निकोलस कॉपरनिकस कीयह खोज रचनाशील तत्त्वमीमांसा या रचनात्मक परिकल्पना के सार्थक उपयोगिता की ओर अवश्य ही ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु इसकी महत्ता को दबाने के प्रयास के भय से भी सम्भव हो सकता है कि कोपरनिकस की अपनी पुस्तक *कमेंटेरियोलस* का प्रकाशन विलम्ब से हो पायाँ लेकिन यह अकेला कारण नहीं था। गणितीय गणना के अभाव में इस खोज हेतु तार्किकता का मुकम्मल अभाव भी जिम्मेदार रहा था। यह किसी सघन प्रयोगों पर भी आधारित नहीं था, जिससे निकोलस कोपरनिकस को अपने सिद्धान्त को लेकर आशंका सी बनी रही। यहीं कारण थे कि चर्च के प्रतिबन्धक तत्त्वों ने कॉपरनिकस की आलोचना की एवम् उनकी पुस्तकों पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया।

5.4.2 जिर्योदानो ब्रूनो केशोध एवम् उनका विरोध

सन् 1543 ई० में कॉपरनिकस के निधन के बाद इटली में जिर्योर्दानो ब्रुनो का जन्म सन् 1548 ई० में हुआ जिसने निकोलस कोपरनिकस से भी आगे बढ़कर सत्य ज्ञान का अन्वेषण, प्रकाशन एवम् प्रचार किया।ब्रूनो के दो तरह के विचार तत्कालीन चर्च, पोप एवम् धर्म के पाखंडियों को बुरा लगा। प्रथम, उन्होंने धर्म के अन्धविश्वासी तत्त्व को मानने से इनकार कर दिया तथा दूसरा कोपरनिकस के हैलियोसेन्ट्रिक मॉडल को स्वीकार करते हुए उसे सिद्ध करने का प्रयास कियाजहाँ कोपरनिकस ने केवल यह माना कि सूर्य इस अन्तरिक्ष के केंद्र में हैं एवम् पृथ्वी सहित अन्य सात ग्रह इसके चक्कर लगाते हैं, वहीं ब्रूनो ने कई ब्रह्माण्ड एवम् इसके केन्द्र में कई सूर्यों की बात कही तथा यह बतलाया कि सृष्टि सदैव वर्द्धमान है। कोपरनिकस की तुलना में ब्रूनो ने अधिक कठोरता से अन्धविश्वास को नकारकर विज्ञान की स्थापना करना चाहता था। इसके अतिरिक्त ईसा मसीह की दिव्यता पर भी इन्होंने प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दियाँ तब चर्च, पोप एवम् ईसाई धर्म के अनुयायियों को लगा कि ब्रुनो विधर्मी है। क्योंकि धर्म पर आक्रमण एवम् विज्ञान का समर्थन उन्हें चर्च की सत्ता का शत्रु बना दियाँ ईसाई मान्यता के अनुसार सूर्यकेन्द्रित (*हेलियोसेन्ट्रिक*) मॉडल न स्वीकार करके अरस्तवी प्रस्ताव वाले भू–केन्द्रित (*जियोसेन्ट्रिक*) मॉडल को बाइबिल में स्थान प्राप्त था। अतःब्रूनो का हेलियोसेन्ट्रिक मॉडल जो खगोलविषयक विचारों में क्रान्ति ला दिया था, को बाइबिल के विरुद्ध माना गया और ब्रूनोको चर्च ने अभियुक्त बनाकर मृत्यदण्ड की सजा सुना दी। सजा के तौर पर ब्रूनो को इस विश्व के इतिहास में सबसे क्रूरतम सजा दी गयी। ब्रूनो को जीवित जला कर मारा गयाब्रूनो के हेलियोसेन्ट्रिक मॉडल को बाद के कई खगोलशास्त्रियों ने अपना समर्थन दिया और इस खोज को विज्ञान एवम् तर्क पर आधारित माना।

5.4.3 गैलीलियो गैलीलाई के खोज एवम् उनका विरोध

सन् 1600 ई. में ब्रुनो की मृत्यु के पश्चात् एक बार पुनः इतालवी खगोलशास्त्री गैलीलियो, जिनका जन्म सन् 1554 ई. में हुआ था, ने टेलिस्कोप का आविष्कार किया एवम् खगोलशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त ही प्रामाणिक प्रयोगों पर आधारित एवम् गणितीय गणनाओं से सम्पुष्ट शोध कियाइन्होंने भी हेलियोसेन्ट्रिक मॉडल को ही आगे रखकर सत्य का उद्घाटन कियासच पूछा जाय तो बाइबिल की यह मान्यता थी कि पृथ्वी ही अन्तरिक्ष के केन्द्र में है और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। यह मान्यता उस समय की है जब तत्कालीन पश्चिमी लोगों के लिए तर्क–वितर्क और विज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। बाइबिल में जो बात लिख दी गई, वहीं अंतिम सत्य मान ली गई थी। लेकिन गैलीलियो गैलीलाई ने अपने गहन प्रयोगों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सूर्य पृथ्वी के नहीं, बल्कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। इस शोध के निहितार्थ स्वरूप यदि इस सूर्यकेन्द्रित (*हेलियोसेन्ट्रिक*) मान्यता को लोग स्वीकार करने लगते तो, बाइबिल एवम् पोप की बातें गलत सिद्ध हो जातीं। इस भय से आक्रान्त चर्च की सत्ता ने गैलीलियों पर धार्मिक पुस्तकों के अपमान का अभियोग लगाकर जेल में डाल दियाँ उन्हेंसजा के तौर पर आजीवन नजरबन्द रखा गया और 1642 में गैलीलियो की मौत हो गयी। गैलीलियों के मौत के लगभग 350 साल बाद पोप जॉन पॉल ने यह स्वीकार कर लिया कि गैलीलियो के शोध सही थे और चर्च का अभियोग गलत था। गैलीलियो द्वारा स्थापित सत्य को बाद के अन्य खगोलविदों ने भी अपनी मान्यता दी।इस प्रकारगैलीलियो को अपने सत्य पर आधारित शोधों की वजह से प्रतिबन्धक तत्त्वों से अपनी जान गंवानी पड़ी।

5.5 आधुनिक पाश्चात्य काल में स्वतन्त्र चिन्तन एवं प्रतिबन्धक तत्त्वों में बदलाव

दार्शनिक सत् एवम् सत्य के सम्बन्ध में स्वतन्त्र शोधों पर उपर्युक्त मध्ययुगीन चर्च–सत्ताका बल प्रयोग एवम् उनके अमानवीय व्यवहारों के उदाहरणों को देखने के बाद आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में स्वतन्त्र विचारणा की प्रक्रिया एवम् उसके सम्पूर्ण उद्देश्यों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होने लगता है कि बौद्धिक स्वतन्त्रता की सीमाएँ इस युग–धर्म के अनुरूप अपना स्वरूप बदल कर प्रकट हुई है।

मध्ययुग की वैचारिक असहिष्णुता बल–प्रयोगों को आगे करके प्रकट हुई थी चाहे वह रोमन सम्राट जस्टिनियन के द्वारा बलात् प्लेटो की अकादमी एवम् अन्य गैर–विचारधारा वाले चिन्तन की शिक्षण संस्थाएँ हो जिनको बन्द करा दिया गया, या युग के सम्पूर्ण चिन्तन को ईसाई– केन्द्रित करना हो, या इस युग के अन्त में निकोलस कोपरनिकस, जिर्योदानो ब्रुनो एवम् गैलीलियो गैलिलाई को यातनापूर्ण अपमान एवम् सजाएँ देना हो, ये सभी उदाहरण मानवीयता के निकृष्टतम स्तर के थे। इसके पूर्व प्राचीन कारण में सुकरात के साथ भी वहीं बलात् एवम् मृत्यु–दण्ड सम्पूर्ण यूरोपीय इतिहास एवम् ईसाई मान्यताओं को कलंक्ति करते हैं।

आधुनिक काल में ये प्रतिबन्धक तत्त्व या सत्य के प्रति असहिष्णुता का भाव हिंसक न होकर बौद्धिक एवम् सांस्कृतिक अन्ध–श्रद्धा (कल्चरल डॉग्मा) बनकर उभरा। रेने देकार्त जिसे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक कहा जाता है और उन्हें तार्किक एवम् दार्शनिक विधियों (विशेषकर सन्देह की विधि) के प्रयोग द्वारा सत्य की कसौटी खोजने एवम् अन्धविश्वासी चिन्तन की जड़ता से दर्शन को मुक्त करने का श्रेय प्राप्त है, ने अन्ततः चर्च की जड़ात्मक सोच से अपने को मुक्त नहीं कर पायाँ वस्तुतः देकार्त

ने सत्य की असंदिग्द्ध कसौटी के रूप में आत्मा या ज्ञाता (*कोजिटो*) को अवश्य एक तार्किक प्रतिष्ठा प्रदान की, परन्तु ईसाईयत के अनुकूल इसे ज्ञाता में ज्ञान की सहज या जन्मजात प्रत्ययों के धारक्ता को बतलाने के लिए ईश्वर की परिकल्पना को लाया जहाँ दर्शन की तार्किकता पुनः एक बार धर्म के बिना अधूरी प्रतीत होने लगी अतः वह अपने समस्त् वैज्ञानिक–तार्किक चिन्तन को परिकल्पनात्मक गर्त में धकेल देता है। यह सत्य के स्वरूप को धर्म के चादर से ढँकने का ही प्रयास है। यहाँ ईश्वर भावनाओं एवम् आस्था का विषय हो सकता था, परन्तु उसने द्रव्य के स्वरुप की तार्किक परिणति के रूप में ईश्वर को लाता है जिससे उसकी तत्त्वमीमांसा ज्ञानमीमांसा एवम् नीतिमीमांसा की नींव को मजबूती प्रदान की जा सके। देकार्तीय चिन्तन के द्वारा ईसाई दर्शन एवम् धर्मशास्त्र (क्रिश्चियन थियोलॉजी) की अरस्तवी पहचान पुनर्जीवित करने एवम् चर्च की सत्ता को प्रतिष्ठित करने का श्रेय देकार्त को एलेक्जेण्डरकायरे ने अपनी पुस्तक, *देकार्त उण्ड डाई स्कोलास्टिक* में करते हुए कहते हैं कि ''यह (देकार्त की कृति *मेडिटेशन* के सम्बन्ध में) एक कैथलिक ईसाई दार्शनिक की कार्य है जो ईश्वर एवम् चर्च की प्रतिष्ठाएवम् महिमा के लिए संघर्ष करता है और अनिश्वरवादियों, सन्देहवादियों एवम् मुक्त चिन्तकों के विपरीत सिद्ध करने की इच्छा रखता है।'' इसके अतिरिक्त देकार्त ने स्वयं ही अपनी कृति, *एपिस्टोला,* जिल्द–VII,पृ0 1, जो उनकी *मेडिटेशन* से पहले लिखी गयी थी, में संकेत करता है कि उसके दर्शन की रचना के उद्देश्य को उन ईसाई धर्म के दो सिद्धान्तों को नहीं मानने वालों (*नॉन क्रिश्चियन्स*) को राजी करना हैंः उनमें से पहला सिद्धान्त है ईश्वर का अस्तित्त्व एवम् दूसरा है– आत्मा की अमरता। देकार्त के सम्बन्ध में इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें आधुनिक पाश्चात्य दर्शन एवम् चिन्तन का जनक एक महज प्रचार के लिए बतलाया गया जो कि दुनिया में तर्क एवम् विज्ञान की विशेषताओं से ओत–प्रोत होकर ईसाई धर्म के अन्ध तत्त्व को एक स्वीकरणीय दर्शन के रूप में दिखाया जा सके।

आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन के बुद्धिवादी सम्प्रदाय के दूसरे चिन्तक बनेडिक्ट डी. स्पिनोजा ने देकार्त के दर्शन में द्रव्य की परिभाषा में उपस्थित विसंगति को दूर करने के उद्देश्य से ईश्वर की महिमा को और अधिक तर्कतः विकसित् करने का प्रयास कियाजहाँ देकार्त ने ईश्वर को निरपेक्ष द्रव्य तथा आत्मा और शरीर को सापेक्ष प्राय माना था, वहीं स्पिनोजा ने ईश्वर को एक मात्र द्रव्य माना तथा आत्मा और शरीर या चेतना एवम् जड़ की उसके दो गुण मान लियाईश्वर के सम्बन्धमें सर्वेश्वरवादी सिद्धान्त (*पान्थेयिस्टिक थियरी*) की रचना कर स्पिनोजा ने ईश्वर की महिमा का विस्तार किया तथा तत्कालीन चर्च की अपेक्षाओं को पूर्वापेक्षतया अधिकतर पुष्ट ही कियायही कारण है कि उसे ईश्वरोन्मत्त (*गॉड–इन्टॉक्सिकेटेड*) भी कहा जाता है। इस प्रकार दर्शन की रचना के पीछे चर्च को पुष्ट करना ही इनका भी उद्देश्य रहा।

इसी काल के बुद्धिवादी चिन्तक लाइब्नित्ज ने जड़ एवम् चेतन की सत्ता में विकसमान तारतम्य को दिखाने के लिए ईश्वर नामक द्रव्य का सहारा लिया जिसे चिदणु (*मोनड*) सिद्धान्त के द्वारा आम जन को समझाने का प्रयास कियावह ईश्वर को परम चिदणु या रानी चिदणु (*क्वीन मोनड*) मानता है। ईश्वर ही समस्त् जागतिक अभिव्यक्तियों का आधार है और विकास की चरम अवस्था तथा समस्त् जड़ एवम् चेतन सत्ताओं का अन्तिम लक्ष्य है। इस जगत् में कुछ भी अनियत नहीं, वरन 'पूर्ण स्थापित छन्द' के नियमानुसार सब कुछ नियत एवम् पूर्व–निर्धारित है। अतः लाइब्नित्ज ने भी गणित एवम् तर्क के अप्रतिम विद्वान होने के बाद भी स्वयं को चर्च, ईसाईयत एवम् ईश्वर (ईश–केन्द्रिकता) के लिए समर्पित कर देते हैं। यह उनका बौद्धिक विचलन है। ईसाईयत के लिए सत्य से विपथगमन है।

लाइब्नित्ज के समकालीन रहे विज्ञान के क्षेत्र में ख्यातिलब्ध वैज्ञानिक जिन्होंने गति के तीन नियम सहित गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त दिये, वही न्यूटन ने भी ईसाईयत के खोल से बाहर नहीं आ सके। उनके अनुसार, उनके विज्ञान सम्बन्धी सभी खोजों एवम् शोधों का श्रेय ईश्वर है। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर अपने विशाल ज्ञान–इन्द्रिय आकाश (स्पेस) के द्वारा समस्त् प्राकृतिक घटनाओं का ज्ञान करता रहता है जिससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यूटन जैसे मौलिक चिन्तक भी धर्म के क्षेत्र में आस्था के आधार पर अपने तर्कों को रचने के लिए विवश है जो सत्य के मार्ग से एक विचलन ही है।

आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन की धारा में बुद्धिवादी चिन्तन के अतिरिक्त ब्रिटीश अनुभववाद की भी चिन्तन धाराएँ थीं जिसमें एक आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद (*सब्जेक्टिव आइडियलिज्म*) के सिद्धान्तकार दार्शनिक जॉर्ज बर्कले हुए थे। इन्होंने सत्ता को अनुभवमूलक बताया तथा यह सुनिश्चित किया कि सत्ता होने के लिए अनुभवकर्त्ता के रूप में अन्ततः ईश्वर को ही अन्तिम रूप से माना जा सकता है। यदि ईश्वर नहीं तो सत्ता नहीं। ईसाई धर्मशास्त्र के प्रभाव के चलते इस तरह के प्रत्ययवाद को बाद के समकालीन चिन्तकों ने विज्ञानवाद या प्रत्ययवार के एक प्रतिनिधि सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया था। बर्कले में सत्ता अनुभवमूलक है (*एस्से ईस्ट परसिपाई*) के द्वारा ईश्वर को सर्वव्यापी बनाने का प्रयास किया था। इस प्रकार इन्द्रियानुभव भी अपने सत्य के निर्धारण के लिए एक ऐसे ईश्वर नामक प्रत्यय की अपेक्षा रखता है जिसको, किसी इन्द्रिय–ज्ञानसे जाना नहीं जा सकता। अतः यह भी सत्य के साथ एक धोखा थी।

5.6 समकालीन पाश्चात्य परम्परा में स्वतन्त्रचिन्तन के आयाम एवं प्रतिबन्धकों में बदलाव

पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में प्रबोध (इनलाइटेनमेण्ट) काल के अन्त में आये जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक हेगल ने एक बार पुनः अपने निरपेक्ष प्रत्ययवादी चिन्तनसे पूरे यूरोप को प्लेटोनिक दुनिया की ओर उन्मुख कर दियाँ यद्यपि हेगल की चिन्तन एवम् दार्शनिक प्रविधि का उपयोग कई दार्शनिकों ने किया, फिर भी उनके विरुद्ध तर्क, विज्ञान एवम् प्रयोगों पर आधारित जिन दार्शनिक समूहों का एक होना एवम् तत्त्वमीमांसीय चिन्तन का विरोधी स्वर उभरना एक नये चिन्तन परम्परा की आहट थी, ने दर्शन एवम् पाश्चात्य चिन्तन को नई दिशा दी। इसके नकारात्मक एवम् साकारात्मक दोनों आयाम हैं और दोनों की सीमाए भी हैं। प्रबोध काल में गणित, तर्क एवम् प्रयोगाधारित आधुनिक विज्ञान (*एक्सपेरीमेण्टल साइंस*) हावी होने लगा था। इस वैज्ञानिक भावना (साइंटिफिक टेंपर) एवम् 'विज्ञान'–वाद (*साइंटिज्म,* जो प्रत्ययवाद नहीं है) ने हेगलीय प्रत्ययवाद एवम् समस्त् प्रकार के तत्त्वमीमांसीय चिन्तन पर बड़ा प्रहार कियायहीं से समकालीन चिन्तन की पाश्चात्य प्रवृत्तियाँ उभरी एवम् दर्शन एवम् सम्पूर्ण पाश्चात्य जगत् को देशज एवम् सहज चिन्तनधारा पर कठोर बौद्धिक आक्रमण करप्रत्ययवाद का खण्डन करते हुए तत्त्वमीमांसा को निरर्थक घोषित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दियाँ इसने मानविकी, सामाजिकी, धर्म, विज्ञान एवम् राजनीति में स्वतन्त्रचिन्तन को इस हद का प्रभावित किया कि इन क्षेत्रों की दिशा ही बदल गयी। बहुत तरह के प्रतिबाधको' के आ जाने से सहज चिन्तन को गहरा धक्का लगा। ज्ञान के सभी अनुशासन स्वयं को विज्ञान एवम् तार्किक बनाने लगे। ऐसा हो गया कि मानो बिना विज्ञान को माने या वैज्ञानिक भावना का समावेश किये कोई भी अध्ययन का अनुशासन अपनी तेजस्विता एवम् स्वीकार्यता ही खो दिया हो। वैज्ञानिक भावाना पर आधारित होने के लिए निम्न विशेषताएँ धारित करना अनिवार्य हो गयाः

1) बाह्य वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करना (वस्तुवादी दृष्टि)।
2) इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान की सत्यता को प्रामाणिक मानना (अनुभववादी दृ ष्टि)।
3) जिसमे तर्क एवम् सत्यापनीयता पर जोर दिया जाय (प्रत्यक्षवादी/भाववादी दृ ष्टि)।
4) वैज्ञानिक अनुप्रयोगों की तार्किक व्याख्या हेतु आगमनात्मकनिष्कर्षों पर बल दिया जाना (आगमनवादी दृष्टि)।
5) सार्वजनिन बातोंएवम् तथ्यों को प्रमाण मानना (सार्वभौमिकतावाद यायूनिवर्सलिज्म)।
6) सिद्धान्तों, विधानों एवम् नियमों को प्रामाणिक मानना (सिद्धान्तवाद या *थियोरिज्म*)।
7) कारण–कार्य के नियम पर आधारित व्याख्या (कारणतावाद)।
8) प्रयोगों के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षो पर आधारित व्याख्या (प्रयोगवाद या *एक्सपेरिमेंटलिज्म*)।
9) तर्क के नियमों पर आधारित सत्य एवम् वैध निष्कर्षो वाली युक्ति की स्वीकार्यता (तर्कवाद)।
10) सम्पूर्ण तन्त्र के अध्ययन में क्रमबद्धता एवम् तास्तभ्यता का होना (*सिक्वेंसियलिज्म* एवम् *हारमोनिज्म*)।

इनके अतिरिक्त तर्कशास्त्र में विचार के नियम (लॉज ऑफ थॉट) होते हैं जिनपर उनके निष्कर्षो की वैधता टिकी रहती है। ये तीन है : 1) तादात्म्य के नियम– जैसे, अ, अ है। 2) व्याघात के नियम– ऐसा नहीं हो सकता कि अ, 'न–अ' हो तथा3) मध्यम परिहार के नियम, जैसे या तो अ'है या अ नहीं है। इसके बीच की कोई स्थिति नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों एवम् विज्ञान की आधुनिक विशेषताओं के खोजों के पश्चात् समकालीन चिन्तकों के समर्थकों एवम् अनुसन्धाताओं ने प्रत्यक्षवादी एवम् विज्ञानवादी–तर्कवादी होने के कारण तत्त्वमीमांसीय चिन्तनों को रोकने की बात की क्योंकि जॉर्ज एडवर्ड मूर ने 'सामान्य बुद्धि या व्यावहारिक बुद्धि की रक्षा'' (डिफेन्स ऑफ कॉमन सेंस) तथा 'प्रत्ययवाद का खण्डन' (रिफुटेशन ऑफ आइडियलिज्म) नामक दो शोध–पत्रों को तथा आल्फ्रेड जुल्स एयर ने तत्त्वमीमांसा का निरसन' (एलिमिनेशन ऑफ मेटाफिजिक्स) नामक निबन्ध को लिखकर परिकल्पनात्मक विचार की अर्थवत्ता, महत्ता एवम् अकादमिक प्रामाणिकता ही खत्म कर दी। यह समकालीन चिन्तन परम्परा में तर्क एवम् विज्ञान पोषित ऐसा प्रतिबन्धक तत्त्व था कि समस्त् देशज, सहज एवम् सर्जनशील परिकल्पनात्मक शक्ति के मानवीय उपयोग पर सीमाएँ निर्धारित सी हो गयी जिसका मानविकी तथा समाजिक विषयों एवम् धर्मसे सम्बंधित अध्ययनों के स्वतन्त्र चिन्तन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। अब सभी विषय अपनी विश्वसनीयता को बनाये रखने के लिए यह सिद्ध करने का प्रयास करने लगे कि वह भी विज्ञान है। यानि साइंटिज्म का नकारात्मक प्रभाव उस विषय के स्वतन्त्र चिन्तन के प्रवाह को प्रभावित करने लगा। वैज्ञानिक विश्वदृष्टि ठीक है, परन्तु वहाँ भी विज्ञान की विशेषताओं एवम् विधियों का उपयोग करना जहाँ विज्ञान की स्वयं की सीमा निर्धारित हो गयी हो, उपयुक्त नहीं लगता। इससे न तो उस विषय–विशेष के क्षेत्र के ज्ञान में बढ़ोतरी हो पाती है और न प्रामाणिकता ही। अतः इसी काल–क्रम के उत्तरोत्तर अनुशीलन के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो पाया कि विज्ञान एवम् गणित की पृष्ठभूमि से दर्शन के क्षेत्र

में आये चिन्तकों ने तत्त्वमीमांसा पर प्रतिबन्ध लगाने तथा उसके निरसन की वकालत करने लगे। इससे सर्जनशील तत्त्वमीमांसा जो स्वयं विज्ञान की निर्देशिका रही है, को रोक दिये जाने का प्रयास दर्शन के या यों कहें कि सम्पूर्ण समकालीन पाश्चात्य चिन्तन परम्परा के स्वतन्त्र अनुसन्धान में प्रतिबन्ध लगाने जैसा हो गयाज्ञान के परिक्षेत्र से दर्शन को अप्रासंगिक बताकर इसे सदा के लिए रोकने से देशज ज्ञान, मानविकी एवम् समाज विज्ञान के क्षेत्रों के चिन्तन में विकास को अवरुद्ध करने जैसा हो गया साइंटिज्म को बढ़ावा देने मात्र से ही हम दूसरे अनुशासनों के अध्ययन–अध्यापन को एक औपनिवेशिक दृष्टि से देखने लगते हैं और उनकी स्वायत्तता, सत्यता एवम् प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करने लगते हैं। ऐसी दृष्टि समकालीन चिन्तन के विचलन भरे प्रतिबन्धों के कारण ही सम्पूर्ण यूरोप की धरती पर उभरी और सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान–परम्परा को प्रभावित करने लगी।

5.7 सारांश

इन समस्त् प्रतिबन्धकों के उपस्थित रहने के कारण समय–समय पर पश्चिमी राज्य–सत्ता ने भी बौधिक–विमर्श या सुधार–प्रक्रिया के हिस्सा के नाम पर सच्च को उत्तर–सच्च के रूप में प्रस्तुत करने तथा अभिव्यक्ति एवम् सम्भाषण की आजादी पर भी प्रतिबन्ध लगाने से पीछे नहीं हटी है। लोकतन्त्र के आगमन के बाद भी इन प्रतिबन्धक तत्त्वों में मानव, समाज एवम् राष्ट्र की स्वच्छन्द प्रवाहशील धारा को अवरूद्ध करने का भरपूर प्रयास किया है। पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में समय–समय पर आये प्रतिबन्धकों के विभिन्न स्वरूपों पर समग्रता में विचार करने के पश्चात उनकी विशेषताओं के अनुरूप इन्हें सारांश रूप में निम्न प्रकारों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

1. अस्वीकरणवादः पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में ऐसा कई बार देखा गया कि सत्य के वास्तविक स्वरूप को अस्वीकार कर दिया गया जिसमें सुकरात का समय एवम् आगे की स्थितियाँ सम्मिलित रहीं हैं।

2. सन्देहवादः पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में चौथी ई० पू० के चिन्तक पाइरो एवम् आधुनिक युग के ब्रीटिश अनुभववादी ह्यूम ने बौद्धिक रूप से सत्य पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया था जो एक नम्र–प्रतिबन्धक (सॉफ्ट रेस्ट्रीक्सन) का ही काम किया है। यद्यपि इसके कुछेक लाभार्जक प्रयास भी हुए हैं।

3. पुनरीक्षणवादः पाश्चात्य परम्परा में कई बार ऐसे भी अवसर आये हैं जिसमें सिद्धातों/शोधों के पुनरीक्षण (*रिव्यू*) के नाम पर एक प्रकार से मौलिक शोधों को रोकने का प्रयास किया गया या तो उसकी दिशा ही बदल दी गई।

4. आधिपत्यवादः मध्यकाल के शुरुआती दिनों में रोमन सम्राट जस्टिनियन ने जिस तरह से अपनी राज्य–शक्ति के बल पर प्लेटोवादी एवम् नव्य प्लेटोवादी विचारधारा को नहीं मानने के कारण तत्कालीन ईसाई विचारधारा वाले विचार के आधिपत्य को कायम करने के लिए प्लेटो द्वारा स्थापित अकादमियों को जबरन बन्द करा दिया, उसे आधिपत्यवादी प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में जाना जा सकता है।

5. धर्मकेन्द्रिकतावादः मध्य युग में अपने विशेषणों के अनुरूप समस्त् स्वतन्त्र चिन्तन पर रोक थी। केवल ईशकेन्द्रित होकर ही चिन्तन को आगे बढ़ाया जा सकता था। चर्च, पोप, एवम् ईसाईयस के विरोध में स्वतन्त्र विचार चाहे वह धर्म के सम्बन्ध में हो या विज्ञान के क्षेत्र में हों, का भरपूर विरोध होता था। इस काल में

ब्रूनो एवम् गैलीलियो जैसे स्वतन्त्र अध्येताओं को तो अपने प्राणों की आहुति ही देनी पड़ गयी। कोपरनिकस एवम् न्यूटन आदि जैसे विज्ञान वेत्ता भी भयाक्रान्त रहें। अतः इस युग में प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में धर्मकेन्द्रिकतावाद ही उत्तरदायी माना जा सकता है।

6. **निरोधवाद**: आधुनिक युग के पश्चात यूरोप ने विज्ञान का खुला समर्थन शुरू कर दियाँ धर्म एवम् आस्था का प्रभाव घट गया, परन्तु विज्ञान में अन्ध–आस्था बढ़ने लगी और साइंटिज्म का प्रभाव इस प्रकार बढ़ा कि दर्शन एवम् अन्य विषयों के क्षेत्र में चिन्तन को प्रभावित करने लगा। सभी ज्ञानात्मक अनुशासन स्वयं को विज्ञान बनाने एवम् कहलाने में संलग्न हो गये। तत्त्वमीमांसीय चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु तर्क दिया जाने लगा। 19वीं शताब्दी के समकालीन विश्लेषणवादी विज्ञान–पोषित दार्शनिकों ने तो परम्परा से चली आ रही कई पुरा–विद्याओं की आवश्यकता ही खारिज कर दी और इस तरह से रचनाशील तत्त्वमिमांसा एवम् रचनात्मक परिकल्पना को भी निरुद्ध कर देने की बात कही, जो एक स्पष्टतः स्वतन्त्रचिन्तन एवम् शोधों के उद्भव एवम् उपयोग पर कठोर प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में देखे जा सकते हैं।

7. **श्रेष्ठतावाद**: पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठ मानते हुए उसे पूरी दुनिया में आदर्श, पवित्र एवम् श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए यूरोप ने अपने औपनिवेशिक विचार पूर्वी चिन्तनधारा पर थोपना प्रारम्भ कर दियाँ एशिया महादीप सहित दक्षिण अफ्रीकी देशों के अविकसित् अर्थ–तन्त्र एवम् मानव–त्रासदी को आगे रखकर उनके चिन्तन के समग्र इतिहास को बहुत ही न्यून करके आँकने की मानसिकता से थोपी जाने वाली विचारधारा जब पाश्चात्यवाद बनकर उभरी तो अपनी प्रतिद्वन्दी विचारधारा प्राच्यवाद को हीन समझकर उसे कई अवसरों पर प्रतिबन्धित करने का प्रयास भा किया गया जिसे हम श्रेष्ठतावादी प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में पहचान कर सकते हैं।

ज्ञान के स्वतन्त्र शोध पर पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्वों के विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूरी दुनिया को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाली पाश्चात्य चिन्तनधारा में उपस्थित इन प्रतिबन्धक तत्त्वों को देखकर उनके ज्ञानलोक में ये एक काले धब्बे की तरह प्रतीत होते हैं। फिर भी, यूरोप ने अनेक संघर्षों एवम् आत्म–बलिदानों से धर्म, मानविकी, सामाजिकी एवम् विज्ञान की सैद्धान्तिकी एवम् व्यवहारिकी ज्ञान परम्परा के क्षेत्र में समस्त् जगत् में अग्रगामी सोच का परिचय दिया है तथा पूरे विश्व में मानव–सभ्यता को एक अप्रतिम गति प्रदान की है। विश्व के कतिपय समीक्षक एवम् मानव विकास के इतिहास के सुविख्यात लेखकों ने यद्यपि इसे भौतिक संसाधनो वाले विकास को सही नहीं माना है। अध्यात्म एवम् जीवन के अन्य अनिवार्य अभिष्टों की असम्प्राप्ति या विषमप्राप्ति के कारण इसे असन्तुलित विकास ही कहा है।

5.8 मुख्य पद / शब्दावली

1. **स्वतन्त्र शोध**: मानव चेतना से निःसृत वैसे स्वाभाविक चिन्तन जो अपनी प्रमाणिकता के लिए मानव के स्वयं की अन्तश्चेतना पर आश्रित हो तथा सत्य होने के लिए तार्किक एवम् आनुभविक पृष्ठभूमि से पुष्ट हों।

2. **प्रतिबन्धक तत्त्व**: ऐसे शर्तों, सिद्धान्तों एवम् उपायों को प्रतिबन्धक तत्त्व कहते हैं जो अपनी उपस्थिति से किसी ज्ञान की सीमा का निर्धारण कर देते हैं, या उसकी दिशा बदल देते हैं, या उसे सम्पूर्णता में बन्द कर देते हैं।

3. प्रत्ययः विचार या विज्ञान जो चिन्तन का मूर्त रूप है, वस्तुतः वह वस्तु या भावों का अमूर्त रूप होता है। इनका अस्तित्त्व केवल वैचारिक होता है न कि वस्तुगत।

4. विज्ञानः विज्ञान अपने दार्शनिक अर्थों में प्रत्यय या विचार ही कहलाता है। इसका अर्थ तब बदल जाता है, जब आधुनिक युग में प्रयोगों पर आधारित ज्ञान, जो परिकल्पना के साथ–साथ एक क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित सैद्धान्तिकी का निर्माण करती है। तत्पश्चात् सत्य होने का दावा प्रस्तुत करती है।

5. दर्शनः ऐसे तत्त्व–ज्ञान को दर्शन कहते हैं जिसमें सत्य, असत्य, सत, असत्, एवम् वास्तविक, अवास्तविक सहित ज्ञान की प्रामाणिकता की कसौटियों के निमित्त समस्त् मूल प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

6. पाश्चात्यः प्राचीन यूनान, रोम, मिश्र एवम् बेबिलोन के क्रोड में विकसित् ज्ञान–परम्परा की धारा जो निरन्तर सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित करती रहीऔर ज्ञान के तथाकथित विकसित् विचार की मापक रेखा से खींची हुए विश्व को विभाजित कर एक विशेष सभ्यता जिसे यूरोपीय सभ्यता के नाम से जाना जाता है, को पाश्चात्य कहने का प्रचलन है। यानि जो सम्पूर्ण ग्लोब के पश्चिमी हिस्से में आ पड़ता हो, उसे पाश्चात्य कहा जाता है।

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. दयाकृष्ण, *पाश्चात्य दर्शन का इतिहास* (जयपुर : तृ० सं० 1993), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भाग 1.
2. राधाकृष्णन, एस.,*ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थॉट* (नई दिल्लीः 1989), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. टोला, फरनान्डो एवम् ड्रागोनेट्टी, कारमेन, *इन्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलॉस्फीज* (दिल्ली : 2013), मोतीलाल बनारसी दास।
4. कुह्न, टी.,एस.,*दी स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन* (शिकागोः 1962), यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
5. मार्क्स, जे.,*व्हाय आय एम नॉट अ साइंटिस्टः अंथ्रोपोलॉजी एण्ड मॉडर्न नॉलेज* (बर्कले सी0ए. : 2009), यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
6. ओलॉफ्सन, एफ. ए.,*नेचुरलिज्म एण्ड ह्युमन कंडीशनः अगेन्स्ट साइंटिज्म* (न्यू यार्क : 2001), राउटलेज।

5.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. पाश्चात्य चिन्तन परम्परा के ऐतिहासिक काल विभाजन पर प्रकाश डालें।
2. प्राचीन पाश्चात्य चिन्तन परम्परा के प्रतिबन्धक तत्त्वों की विवेचना कीजिए
3. मध्य काल के पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्वों का वर्णन कीजिए
4. समकालीन पाश्चात्य चिन्तन में प्रतिबन्धक तत्त्वों की विशेषताओं के सम्बन्ध में बतलाइएँ
5. प्रतिबन्धक तत्त्वों के आलोक में पाश्चात्य चिन्तन या ज्ञान की परमपरा की समीक्षा कीजिए।

खण्ड 6
विमर्श की पश्चिमी विधि

खण्ड 6 परिचय

हिन्दू विमर्श की केवल पश्चिमी दृष्टि को ही समझना पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके लिए पश्चिमी विधि को जानना भी आवश्यक है। हिन्दू विमर्श की पश्चिमी विधि में मार्क्सवाद से लेकर प्राच्यवाद की यात्रा करते हुए उत्तर– आधुनिकतावाद एवम् विखण्डनवाद तक की जानकारी पूरे खण्ड की छः इकाइयों में प्रस्तुत है। प्रथम इकाई में मार्क्सवादी दृष्टिकोण एवम् समालोचना सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। दूसरी इकाई में संरचनावादी दृष्टिकोण के विविध पक्षों का अध्ययन करने के लिए भारत के चित्रण में संरचनावादी दृष्टिकोण का वर्णन प्रस्तुत है। तीसरी इकाई प्राच्यवाद के स्वरूप का वर्णन करती है। पश्चिमी दृष्टि को समझने के लिए ऐतिहासिक अध्ययनों की ओर जाना पड़ता है। इस हेतु चौथी इकाई में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययनों के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भारत के ज्ञानात्मक पक्ष में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। इन प्रभावों के अध्ययन हेतु पॉचवीं इकाई में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति के प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया गया। इस खण्ड की अन्तिम इकाई उत्तर– आधुनिकतावाद एवम् विखण्डनवाद की है जिसके अध्ययन से आपको संस्कृति की न्यूवता के बढ़ते हुए स्वरूप के कारणों का पता चलेगा। इस प्रकार आप छठे खण्ड के अध्ययन के पश्चात् हिन्दू की अवधारणा के विषय में पश्चिमी विधि के विभिन्न आयामों का वर्णन करने में सफल हो पायेंगें।

इकाई 1 मार्क्सवाद दृष्टिकोण एवं समालोचना सिद्धान्त

संरचना

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- मार्क्सवाद को एक राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विचारधारा के रूप में परिभाषित कर सकेंगे
- साहित्य को व्याख्यायित करने में मार्क्सवाद की भूमिका समझ सकेंगे
- यह बता सकेंगे कि एक साहित्यिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप में मार्क्सवाद हमारे साहित्य के अध्ययन के अन्य दृष्टिकोणों से किस प्रकार भिन्न है

1.1 प्रस्तावना

मार्क्सवाद को कई तरीकों से परिभाषित किया गया है - एक दृष्टिकोण के स्वरुप में, एक वैश्विक दृष्टिकोण के स्वरूप में, एक सिद्धांत के स्वरुप में और एक दार्शनिक अभियान के स्वरुप में। यह उपरोक्त सब कुछ है, उस सन्दर्भ के अनुसार जिस पर हम बात करते हैं। उदहारण के लिए अगर हम राजनीतिक विकास के पक्ष पर बात कर रहे हैं, तो मार्क्सवाद एक दृष्टिकोण के रूप में उपयुक्त होगा। साहित्य में, मार्क्सवाद एक वैश्विक दृष्टिकोण की तरह उपयुक्त होगा, जो हमे रचनाकार के मानस और उसके विचारसंसार में झाँकने में सहायक होता है। सिद्धांत के रूप में मार्क्सवाद को एक आलोचनात्मक पद्धति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके माध्यम से हम लेखक की विचारधारा (इस शब्द पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे) का अन्वेषण करते हुए उसके वास्तविक आचरण पर उचित प्रश्न उठा सकते हैं, कि इसमें से कितना यथार्थ, तर्कसंगत अतएव स्वीकार्य है। यह अंतिम परिभाषा 'सामाजिक विज्ञान' के अंतर्गत जीवन और व्यवहार के अध्ययन के लिए अधिक प्रासंगिक है। अभियान या क्रिया की अवधारणा मार्क्सवाद को पूर्व के अन्य उन दर्शनों से अलग करती है , जो मात्र संसार की व्याख्या करते हैं,

"जबकि मुद्दा उसे बदलने का है ". अर्थात मार्क्सवाद का केंद्रबिंदु एक सामूहिक प्रयास से दुनिया को बदलना है।

यह परिभाषा यहीं समाप्त नहीं होती। उपरोक्त परिभाषा में कई और व्याख्याएं और विवरण जोड़े जा सकते हैं जिससे पद से जुड़े कई और पक्षों को उभारा जा सके। परन्तु आइए जानते हैं कि अब भी मार्क्सवाद विवादों का केंद्र क्यों है। हमारे समय में मार्क्सवाद को कैसे समझा जाए, यह समस्या काफी हद तक बीसवीं शताब्दी में समाजवादी और अन्य समाजों में यथार्थ परिस्थितियों (concrete situation) के लिए इस दृष्टिकोण के विभिन्न अनुप्रयोगों के कारण उत्पन्न हुई है।अक्टूबर क्रांति के बाद से हमने रूस में जो होते देखा है, वह चीन की घटनाओं से पूरी तरह भिन्न है। इसी तरह, पूर्वी यूरोप को हिला कर रख देने वाली उथल पुथल एक सम्पूर्ण नई राजनीति की ओर इशारा करती है। बीसवीं सदी में मार्क्सवादी प्रथा राज्य नियंत्रण, लोकतंत्र, बुर्जुआ राजनीतिक प्रवृत्तियों और आम तौर पर लोगों के बीच व्यक्तिवाद का एक सम्मिश्रण रही है। इस सब में, मार्क्सवादी नेतृत्व कई मामलों में कमज़ोर नज़र आता है, इस प्रकार इस प्रणाली के खिलाफ कई विद्रोहों को जन्म मिला। समाजवादी रूस के साथ-साथ पूर्वी यूरोप के कई अन्य देशों की स्थिति भी पलट गयी है। हम एक पूर्वकल्पित मार्क्सवादी ढांचे के तहत किसी मौलिक परिवर्तन के नाम पर उन घटनाओं को व्याख्यायित नहीं कर सकते जो वर्तमान विश्व पर छाई हुई हैं। वास्तव में, जैसे-जैसे हम उन राजनीतिक और दार्शनिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर विचार करते हैं, जिनसे आज हमारी दुनिया जूझ रही है, हमारी भाषा लड़खड़ा जाती है (पूर्वकल्पित मार्क्सवादी ढांचा जैसा शब्द इसका उदाहरण है)। समाजवादी देशों में मार्क्सवादी सिद्धांत के नाम पर हम यही देखते हैं। साथ ही, हम सत्ता के उन केंद्रों द्वारा मार्क्सवाद पर किए गए हमले को नजरअंदाज नहीं कर सकते, जो नस्लवाद, धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक असमानता का समर्थन करते हैं। यह सत्ता केंद्र पूंजीवादी हैं। उनके लिए मार्क्सवाद एक खतरनाक प्रतिद्वंद्वी है जो दुनिया में उनके नियंत्रण और वर्चस्व को ख़त्म करना चाहता है। उन दर्शनों को भी देखें जिनका ये केंद्र प्रचार करते हैं - व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद और अमूर्त अध्यात्मवाद, ये कुछ रणनीतिक दार्शनिक उपकरण हैं जिनका उपयोग वे मार्क्सवाद की प्रासंगिकता से ध्यान भटकाने के लिए करते हैं।

वर्तमान मार्क्सवाद विरोधियों द्वारा की गई मार्क्सवाद की आलोचना में कोई सार नहीं रह गया है। यह मात्र संकीर्ण, उबाऊ और उत्प्रेरित हैं। एक वर्ग ऐसा भी है जिसके पास मार्क्सवाद का कोई सकारात्मक विकल्प मौजूद नहीं है, परन्तु वो मात्र आलोचना हेतु मार्क्सवाद की चर्चा करते हैं और उसे अन्य उदारवादी- बुर्जुआ या कट्टरपंथी - सांप्रदायिक सिद्धांतों के समान सिद्ध करने में भी नहीं हिचकते। पूर्व में, खास कर प्रथम विश्वयुद्ध के समय, मार्क्सवादियों के सामने अन्य विचारक स्वयं को इतना शक्तिहीन तथा इतनी अनिश्चितता महसूस करते थे कि मार्क्सवादी कार्यान्वन से उदित विरोधाभास (इसमें कोई शक नहीं कि ये विरोधाभास बहुत गंभीर, हिंसक और चुनौतीपूर्ण हैं, जैसा उपरोक्त है) का पहला ही चिन्ह मिलते ही , अति उग्र प्रतिक्रिया देने की और प्रवृत्त होने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि आज रूस और पूर्वी यूरोपीय समाजवादी देशों में जो स्थिति है, उसने मार्क्सवाद के कई विरोधियों को व्यक्तिगत पहचान के मुद्दे को नए सिरे से उठाने का अवसर प्रदान कर दिया है। यदि निष्पक्ष रूप से सोचा जाए, तो आधुनिक विश्व में वैयक्तिकता के लिए सबसे बड़ा खतरा आधुनिक सीधे बाजारवादी और पूंजीवादी शक्तियों से देखा जा सकता है। अर्थात "पहचान" शब्द पूँजीवाद के पक्ष में निहित स्वार्थ द्वारा एक नए मुहावरे की तरह इस्तेमाल हो रहा है। इस बात से कौन इंकार कर सकता है

कि पूंजीवाद वैयक्तिकता को ख़त्म कर व्यक्ति की पहचान मात्र एक उपभोक्ता तक सीमित कर देता है जिसके पास कोई वास्तविक विकल्प नहीं रह जाता। जैसा कि हमने देखा है, यह व्यक्तियों को बाज़ार में विक्रय के लिए उपलब्ध उत्पाद और वस्तु में बदल कर समाज में मनुष्य को खारिज कर देता है। चीज़ें इतनी बिगड़ गई हैं कि आम आदमी तो छोडो, लेखक और कलाकार भी नौकरी से बेहतर कोई विकल्प नहीं चुनते, जिसे मात्र आजीविका के साधन के रूप में देखा जाना चाहिए था। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य, खासतौर से लेखकों और कलाकारों का, यह नहीं होना चाहिए। ऐसे लेखकों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है जो इतने संवेदनशील हैं कि मानव मानस और संवेदना पर पूँजीवाद के हानिकारक प्रभाव को देख सकते हैं। वे अपनी कविताओं, नाटकों और उपन्यासों में अपने तरीके से पूँजीवाद की आलोचना करते हैं और इसके संकीर्ण आत्मकेंद्रित दृष्टिकोण के प्रति अपनी घृणा प्रदर्शित करते है।

1.2 मार्क्सवाद क्या है?

मार्क्सवाद परिवेश में हो रही घटनाओं को व्यापक सामाजिक यथार्थ के एक भाग के रूप में देखता है। यह काफी सरल लग रहा है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चूँकि हम एक समाज में रहते हैं, हम जो कुछ भी सोचते हैं, महसूस करते हैं या विश्वास करते हैं, वह आवश्यक रूप से हमारे समाज का हिस्सा होगा और इसलिए, हमारे आस-पास की सामाजिक वास्तविकता को प्रतिबिंबित करता है। उत्पादन और वितरण की एक विशिष्ट प्रणाली के तहत संगठित समाज अपने सदस्यों पर अत्यधिक दबाव डालता है। साथ ही, मार्क्सवाद के अनुसार, किसी समाज में व्यक्ति और समूह गहराई से अपने समाज की आर्थिक और सामाजिक संरचनाओं के अनुसार ढले होते हैं लेकिन पूर्णतः असहाय नहीं होते। वास्तव में, विभिन्न वर्ग, धनी और निर्धन, एक दूसरे के साथ निरंतर संघर्ष में रहते हैं और जिस संरचना में वे अपना निर्वाह कर रहे हैं उसमें अपना वर्चस्व स्थापित करने या बनाए रखने का प्रयास करते हैं। मार्क्सवाद कहता है कि वर्ग संघर्ष किसी भी समाज का मूल है और समाज की किसी भी परिघटना को बिना इस सन्दर्भ के नहीं समझा जा सकता है। दार्शनिक स्तर पर, मार्क्सवाद ऐतिहासिक परिघटनाओं के आकलन और अध्ययन के लिए श्रेष्ठ, वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक अनुसन्धानात्मक-विश्लेषणात्मक विधि देता है। इन विधियों के अनुप्रयोग के माध्यम से, विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं की पड़ताल की जा सकती है और उन्हें उनकी पूर्णता में और उनके अंतर्संबंध को समझा जा सकता है। मार्क्सवादी अनुसन्धान और विश्लेषण की पद्धति द्वंद्वात्मक पद्धति कही जाती है जिसके तहत किसी परिघटना के प्रतिद्वंद्वी और विरोधी पक्ष एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया में एक-दूसरे बद्ध होते हैं। अर्थात यह कि जब दो पक्षों का संघर्ष हो, तो उनका अध्ययन और मूल्यांकन उस संरचना के संदर्भ में किया जाना चाहिए जिसने उन्हें उत्पन्न किया है। साथ ही, यह संघर्ष एक उर्वर और सकारात्मक संघर्ष होता है, जिसमे द्वंद्व सुलझाने का उद्योग देखा जा सकता है। द्वंद्वात्मक पद्धति दर्शाती है कि किस प्रकार किसी संरचना का अस्तित्व उसके विभिन्न परस्पर विरोधी पक्षों पर निर्भर करता है। द्वंदात्मक तरीके से देखने पर, कोई ऐतिहासिक परिघटना किसी परिघटना की उपज होती है, और किसी परिघटना की जन्मदात्री। इसलिए, मार्क्सवाद नसमाज और सामाजिक यथार्थ को बहुत गहरा अर्थ दे देता है, यह हमें इस तथ्य से अवगत करा देता है कि समाज एक जीवित और सतत परिवर्तनशील यथार्थ है जो इतिहास के नियमों जैसे वर्ग संघर्ष, सत्ता की भूमिका और कार्यप्रणाली और राजनीतिक संरचनाओं द्वारा समाज की मौलिक पुनर्संरचना द्वारा आबद्ध

होती है। संवृद्धि और विकास, विभिन्न समूहों, अंगों और वर्गों के मध्य हो रहे महत्वपूर्ण संघर्षों का परिणाम होता है। इसे अगर और बेहतर तरीके से कहें तो सामाजिक यथार्थ किसी समाज के विभिन्न अंगों के बारे में जानकारी मात्र से कहीं अधिक है, जिसे हम उसकी सम्पूर्णता में तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि समाज के "तथ्यों" और पहलुओं को उनके अंतर्संबंध में नहीं देखते। मैं यह कहना चाहता हूँ किसी समाज में ऐसा कुछ है जो हर परिघटना के पीछे के कारणों को व्याख्यायित कर सकता है। अतः किसी भी साहित्य के लेखक को समाज का गहन ज्ञान होना आवश्यक है।

1.3 सामाजिक विकास के दृष्टिकोण के स्वरुप में मार्क्सवाद

जैसा कि उपर्युक्त है, यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि किसी विशेष समय के समाज या सामाजिक संगठन को इतिहास में हो रहे परिवर्तन की श्रृंखलाओं का अंग समझना चाहिए। कई बार हमारा ध्यान इस तथ्य पर चला जाता है कि आर्थिक उत्पादन प्रक्रिया किसी व्यवस्थित मानव जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। लेकिन क्या हमें इस बात का एहसास है कि ये किस हद तक समाज में हमारे रहने की शैली को प्रभावित या निर्धारित करते हैं? मेरा उत्तर यह है कि एक सामाजिक संगठन काफी हद तक नियतिवादी होता है और उसकी विभिन्न एजेंसियां या अभिकरण अपने सदस्यों को 'बताती' हैं कि क्या करना है और क्या सोचना है।लेकिन दूसरी तरह से देखा जाए तो, नई घटनाएं या वाकये अक्सर सामने आते हैं और इस तंत्र या व्यवस्था के शासन को झूठा बता देती हैं। यह परिवर्तन की परोक्ष और छिपी हुई शक्तियों की ओर इशारा करता है जो समाज में हमेशा सक्रिय रहती हैं।

अब तक हमने मात्र समाज के नियतिवादी पहलू की बात की है। यहाँ हम जनता को परिवर्तन के एजेंट रूप में मान सकते हैं जो आज नहीं तो कल लोगों के विचार और कार्यशैली को परिवर्तित कर देता है। यह विचार कि लोग परिवर्तन के एजेंट के रूप में काम कर सकते हैं, व्यक्तिगत एजेंसी और व्यक्तियों की समाज के व्यवहार और सोच को प्रभावित करने और अंततः बदलने की क्षमता में विश्वास पर आधारित है। ये एजेंट यथास्थिति को चुनौती देने, न्याय की वकालत करने और अंततः मानव समाज की प्रगति और विकास में योगदान देने में महत्वपूर्ण हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तनों और मानव जीवन के बीच संबंध के इस बिंदु को स्पष्ट करने के लिए, आइए हम यूरोप में दो महत्वपूर्ण घटनाओं का उदाहरण लेते हैं - अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की फ्रांसीसी क्रांति और उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति। इन दोनों ने क्रमशः फ्रांस और इंग्लैंड के समाज पर अमिट छाप छोड़ी। फ्रांसीसी क्रांति ने मनुष्यों के बीच समानता के सिद्धांत को पहले से कहीं अधिक स्वीकार्य बना दिया, इसके लिए लोग अपना जीवन दांव पर लगा सकते थे। लोगों के बीच समानता का विचार नवीन और प्रेरणादायक था। इसने पदानुक्रम के प्रचलित मानदंडों का भी उल्लंघन करना शुरू कर दिया। जैसा कि सामान्य ज्ञान है, सामंती दासत्व के खिलाफ फ्रांसीसी जनता के विद्रोह ने बड़े पैमाने पर प्रगति की ताकतों को जन्म दिया, जिसने मुक्त उद्यम और लोकतंत्र का शासन स्थापित किया। अब तक उत्पीड़ित और हाशियाकृत फ्रांस की आम जनता ने केंद्र का रुख किया।साहित्य भी इस विकास से अछूता नहीं रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी कथा साहित्य की ऊर्जा और उत्साह को स्पष्ट रूप से अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में फ्रांस के सामाजिक उथल-पुथल से जोड़ा जा सकता है। तत्कालीन फ्रांसीसी उपन्यासों का केंद्रीय नायक कोई साधारण ग्रामीण या शहरी, एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति, एक

छोटा व्यापारी, एक क्लर्क या कवि नहीं तो और कौन है? तत्कालीन फ्रांसीसी लेखकों की मूल चिंता देश में आए व्यापक परिवर्तनों के मद्देनजर आम जनता के व्यवहार पर केंद्रित थी। हमें इन उपन्यासों की आम फ्रांसीसी बाजारू भाषा पर ध्यान देना चाहिए। यह आम मुहावरों से ओत-प्रोत, रोजमर्रा के अनुभवों की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

मैं यह नहीं कहता कि सभी लेखकों ने सामाजिक घटनाओं के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाया और उन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया, या कि वे सभी क्रांतिकारी थे। उनमें से कुछ ने अपने जीवन में एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण बनाए रखा।हालाँकि, ध्यान देने वाली बात यह है कि इन सभी ने समानता, ईमानदार प्रयास और सामूहिक उद्यम पर आधारित नए रिश्तों को ध्यान में रखा। उन्होंने लोगों की परिवर्तित धारणाओं की भी सराहना की। उनके लेखन ने इन विकासों को केंद्र में रखते हुए उन्हें फ्रांसीसी जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं के रूप में व्याख्यायित किया।

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति की बात करें तो हम कह सकते हैं कि यह फ्रांसीसी क्रांति जितनी दर्शनीय नहीं थी। इसमें कोई नायक और खलनायक नहीं था। न ही इसके बीच में ऐसी प्रतिस्पर्धी सेनाएं थीं जो राजनीतिक परिवर्तन के लिए लड़ रही हों। इसे 'क्रांति' इस अर्थ में कहा जाता है कि इसने जीवन की गति को निश्चित रूप से औद्योगिकता की ओर मोड़कर इंग्लैंड के सामाजिक परिदृश्य को बदल दिया। आजीविका का मुख्य साधन ग्रामीण उत्पादन और भूमि नहीं रह गई क्योंकि अधिक से अधिक लोग रोज़ी रोटी की तलाश में शहरों की ओर आने लगे।शहर ने प्रगति के नए रास्ते भी खोले। क्या हम भूल सकते हैं कि पूंजीवाद के तहत बड़े पैमाने पर उत्पादन के कारण, इंग्लैंड में जीवन अधिक से अधिक अंग्रेजी संसद द्वारा बनाए गए नए लोकतांत्रिक कानूनों द्वारा शासित होने लगा?

ऐतिहासिक रूप से, निस्संदेह, यह रुझान सत्रहवीं शताब्दी से चला आ रहा था, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति ने इस घटना को गति दी। ध्यातव्य है कि डिकेंस और जॉर्ज एलियट के उपन्यास एक ऐसे इंग्लैंड पर प्रकाश डालते हैं जिसके सामने प्रश्नों का एक बिलकुल नई श्रेणी है। डिकेंस के उपन्यासों को औद्योगिक क्रांति के संदर्भ में गरीबी और असमानता के उनके स्पष्ट, बेबाक चित्रण के लिए जाना जाता है। इन विषयों को उद्योग विस्तार से जोड़ने की उनकी क्षमता और उनकी नवीन कथा शैली उनके कार्यों को किसी भी पूर्वरचित रचना से अलग करती हैं। डिकेंस के उपन्यास स्पष्ट रूप से उन्नीसवीं सदी के मध्य में इंग्लैंड के यथार्थ जीवन पर आधारित हैं।उसी तरह, जॉर्ज एलियट के उपन्यासों में हमें ऐसे नायक मिलते हैं जिन्हें बड़े आराम से पहचाना जा सकता है - एक नई तरह की संवेदनशीलता और अंतरंग जीवन वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति। निस्संदेह, इंग्लैंड में औद्योगिक उत्पादन के विकास ने इस प्रभावशाली रचना शैली को प्रेरित किया। एक बार फिर, हम इस कथा में समाज का एक साधारण प्रतिबिंब नहीं देखते हैं, बल्कि परिवर्तन चक्र में फंसे समाज में कई अलग-अलग दृष्टिकोणों से उसकी समस्याएं देखते हैं । ध्यान देने की बात है कि औद्योगिक क्रांति के प्रभाव में, उस समय के अधिकांश लेखक आम जनता के प्रति सहानुभूति रखने लगे और उन्होंने गहन मानवेच्छाओं और मानवीय हितों को प्रस्तुत करने वाले पात्रों का चित्रण किया। उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों में दर्शाए गए उच्च वर्ग के पात्र तुलनात्मक रूप से फीके और बेजान लगते हैं। मुद्दा यह है कि महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विकास के दृष्टिकोण से देखा जाए तो साहित्यिक कृतियों ने एक सर्वथा नवीन विचार प्रस्तुत किया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से, साहित्यिक रचनाएँ मिथक या दंतकथाएँ नहीं हैं या कथानक-संरचना में उलझे हुए पात्र नहीं हैं, बल्कि वे महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों

के प्रतिरूप हैं। इस अर्थ में, कथा और कविता ऐसे क्षेत्र बन जाते हैं जिनमें परिवर्तन की प्रक्रियाएँ एक सघन अस्तित्व में वर्तमान रहती हैं।

1.4 धार्मिक-नैतिक आदर्शवाद तथा यांत्रिक भौतिकवाद की अपेक्षा मार्क्सवाद

यह तो सभी जानते हैं कि लगभग सभी धार्मिक दर्शन मनुष्य की संकीर्ण स्वार्थी प्रवृत्ति के व्यवहार के आलोचक हैं और लोगों के सांसारिक मोह से उबरने के महत्व पर जोर देते हैं। जब हम आदर्शवादी नजरिए से दुनिया को देखते हैं तो हम हमेशा चीजों को उस आदर्श के करीब मानते हैं, एक दोषहीन आदर्श, जो भौतिक घटनाओं का पूर्ववर्ती होता है। आदर्शवाद एक ऐसा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य है जो भौतिक दुनिया पर विचारों या अवधारणाओं की प्रधानता पर जोर देता है। आदर्शवाद के अनुसार, भौतिक संसार, एक अर्थ में, आदर्श रूपों या अवधारणाओं का प्रतिबिंब है। यह आदर्शों को पूर्ण और अपरिवर्तनीय मानता है। हालाँकि, आदर्शवाद प्राकृतिक और सामाजिक दुनिया की गतिशील और विकसित प्रवृत्ति पर पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं देता। वास्तव में, यह संसार विकास, क्षय, परिवर्तन और अनुकूलन की प्रक्रियाओं के साथ निरंतर परिवर्तनशील है। स्थिर, उत्तम आदर्शों पर केंद्रित आदर्शवाद, इन परिवर्तनों की जटिलता और तरलता को पूरी तरह से नहीं पकड़ सकता है। आदर्शों की पूर्णता पर आदर्शवाद का जोर, यथार्थ की उस गतिशील प्रवृत्ति की उपेक्षा करता है, जहां परिवर्तन न केवल सामान्य है बल्कि संसार को समझने और उसकी व्याख्या के लिए आवश्यक है। आदर्शवाद के अनुसार, परिवर्तन परिवेश में होता है, जिसे उस आदर्श के समान होना है जो नित्य है । समय और स्थान की बाधाओं से परे हमेशा एक समान रहने वाला स्थायी, नित्य आदर्श , परिवर्तन, विकास और प्रगति (जो मानव इतिहास और समाज की महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं) के कारकों के दायरे में नहीं आता। वास्तव में, सभी ऐतिहासिक घटनाओं में, सामाजिक, वैचारिक और सांस्कृतिक संरचनाओं की जटिलताएँ, मनोवैज्ञानिक-आध्यात्मिक अस्पष्टताएँ और विरोधाभास धार्मिक आदर्शवाद की पहुँच से बाहर रहते हैं। धार्मिक आदर्शवाद के लिए, ये ईश्वरत्व के पूर्ण आदर्श तक पहुँचने के मानवीय प्रयास की एक सरल अभिव्यक्ति होगी। साथ ही, धार्मिक आदर्शवाद 'सांसारिक अनुभवों' के पूरे समूह को झूठी और भ्रामक प्रथाओं (उदाहरण के लिए टी.एस.एलियट का "अनरियल सिटी") की नकारात्मक श्रेणी में रखता है जो आत्मा की प्रगति में बाधक होते हैं। यदि यह दृष्टिकोण सामाजिक जीवन के आधुनिक तरीकों, उसके उपयोगितावाद और उपभोक्तावाद की आलोचना करता है और उन्हें असंतोषजनक और अपूर्ण मानता है तो वह मानवीय सामाजिक संपर्कों की जीवनी शक्ति और जीवंतता को कम आंक रहा है।

आदर्शवाद का विलोम यांत्रिक भौतिकवाद है। यह मानव व्यवहार को समझने के लिए एक विशेष परिवेश पर अत्यधिक जोर देता है। अतः मार्क्सवाद इस दृष्टिकोण की आलोचना करता है। गद्य साहित्य में मानवीय आचरण के कई ऐसे विवरण हैं जहां पात्रों को तुच्छ लौकिक ब्योरों के माध्यम से चित्रित किया गया है, जिसमें तथ्यों के ढेर के बीच कोई महत्वपूर्ण संबंध स्थापित कर पाना मुश्किल है (उदाहरण के लिए, जॉर्ज एलियट के उपन्यासों में) . मार्क्सवाद इस दृष्टिकोण को नकारात्मक और निराशावादी कहकर खारिज कर देता है क्योंकि भौतिक अस्तित्व के अभिन्न अंग के रूप में 'मस्तिष्क' या 'आत्मा' इसमें अनुपस्थित हैं। वास्तव में, मार्क्सवाद मौलिक रूप से मन और पदार्थ के द्वैत की आलोचना करता है और इस बात पर

बहुत बल देता है कि मन "पदार्थ का एक विशिष्ट प्रकार" है, जो पदार्थ से इतर या स्वतंत्र नहीं है।

मार्क्सवाद मस्तिष्क-पदार्थ विवाद के हल के रूप में एक द्वंद्वात्मक भौतिकवादी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है जो मस्तिष्क और पदार्थ के अंतर्संबंध पर बल देता है। यह मानता है कि मन एक अभौतिक इकाई नहीं है, बल्कि पदार्थ के अस्तित्व का एक विशिष्ट साधन है, जो समाज की भौतिक स्थितियों में गहराई से निहित है। यह दृष्टिकोण मन और पदार्थ की पारंपरिक द्वैतवादी अवधारणाओं को चुनौती देता है और समाज और मानव चेतना के मार्क्सवादी विश्लेषणों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि हम विचार, संस्कृति, विज्ञान और विचारधारा में कोई वृद्धि और विकास देखते हैं, तो यह सामाजिक-ऐतिहासिक घटना का एक व्यापक प्रतिबिंब मात्र है, मानव मस्तिष्क में पदार्थ का एक संसार, जो बाकि सब की तरह इतिहास में किए गए मानव प्रयत्नों की उपज है। इस प्रकार यदि सांस्कृतिक-साहित्यिक, आध्यात्मिक-धार्मिक या मनोवैज्ञानिक-सामाजिक विमर्शों को उनके संबंधित क्षेत्र से इतर एक ऐतिहासिक घटना के संबंध में देखा जाए तो उनकी जटिलता और समृद्धि की परख और समझ दोनों हो सकती है। इस दार्शनिक दृष्टिकोण इस खंड के सभी साहित्यिक शैलियों और रचनात्मक विकास को प्रभावित किया। इसपर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

1.5 साहित्य में मार्क्सवाद की प्रासंगिकता

चूँकि मार्क्सवाद इतिहास के महत्व पर जोर देता है जिसके अंतर्गत विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, अतः यह साहित्य के अध्ययन को एक नया आयाम देता है। मार्क्सवाद की मदद से ही हम एक रचनाकार और उसके समाज के बीच के रिश्ते को समझते हैं। यह रिश्ता एक संवेदनशील व्यक्ति का अपने परिवेश के साथ का रिश्ता है। यह व्यक्ति वह है जो अपने आस-पास के लोगों की परिस्थितियों को लेकर चिंतित है। वह उनके जीवन में न केवल दर्द और पीड़ा, बल्कि क्रोध और प्रतिरोध की भावना के अस्तित्व को भी पहचानता है। साथ ही, उसने लोगों में आनंद मनाने, जश्न मनाने और खुश रहने की तीव्र इच्छा देखी है। यह उसे अपने लेखन में उदासी, बेचैनी के साथ-साथ क्रोध और खुशी की विभिन्न मानवीय भावनाओं को समेटने में सक्षम बनाता है। ऊपरी तौर पर, ये किसी व्यक्ति की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्तियाँ प्रतीत होती हैं।किन्तु, रचनाकार की प्रतिक्रिया की जड़ें उस समाज में हैं जिससे वह संबंधित है और इसलिए, उसके परिवेश की प्रकृति को प्रतिबिंबित करती है। मार्क्सवाद इस बिंदु पर ही नहीं रुकता बल्कि उत्पादन की शैली विशेष, शासकीय वित्तीय संरचना पर भी विचार करता है, जो पुरुषों और महिलाओं की गतिविधि को प्रमुखता से नियंत्रित करता है। मार्क्सवाद तीखे प्रहारों और सक्रिय गतिशीलता के माध्यम से अपने समाज को आकार देने में मनुष्यों की भूमिका का भी सटीक आकलन करता है।

अन्य सिद्धांत साहित्य से कैसे संबंधित हैं और वे क्या कार्य करते हैं? क्या वे विशेष रूप से सामाजिक पृष्ठभूमि पर जोर देते हुए इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते हैं कि 'साहित्य पूरी तरह से अपने परिवेश (यांत्रिक भौतिकवाद) से निर्धारित होता है, और कहते हैं कि व्यक्ति की इच्छा बिना किसी बाधा के किसी भी चीज से संचालित होती है और उनके अनुसार, इतिहास और समाज के नियमों के अधीन नहीं होती ? पहले मामले में, साहित्य को अपने काल की सटीक प्रतिकृति के रूप में देखा जाता है क्योंकि समाज द्वारा निर्धारण के सिद्धांत के अनुसार, वह इससे बेहतर या अलग कुछ नहीं हो सकता है। इस प्रकार, किसी साहित्यिक कृति में पात्रों, मतों

या दृष्टिकोणों की व्याख्या उस समाज की पूर्ण और निश्चित छवि के रूप में की जाती है जिसने इसे निर्मित किया है, इसमें किसी अन्य वैकल्पिक प्रस्तुतीकरण के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। दूसरे मामले में, व्यक्ति सभी सामाजिक बाधाओं से मुक्त हो जाता है और इस अवधारणा पर आधारित आलोचना रचना का अर्थ किसी अन्य उच्च सार्वभौमिक पटल से लगाता है। उदाहरण के लिए, इस प्रकार की आलोचना किसी विशेष रचना में मिथकों के संदर्भ को उसमें मौजूद अन्य चीजों से अलग कर उन्हें यादृच्छिक रूप से अतीत में मौजूद अन्य मिथकों से जोड़ सकती है। आधुनिकतावादी आलोचना में अधिकांश अराजकता इसी प्रवृत्ति के कारण अस्तित्व में है। किसी भी स्थिति में एक प्रभावी सांस्कृतिक प्रयास के रूप में साहित्य का महत्व क्षीण हो गया है। आलोचना और विरोध के साथ-साथ व्यापक जनता के रचनात्मक हितों को प्रस्तुत करने की साहित्य की क्षमता को पुनर्जीवित कर के, मार्क्सवाद इस सबसे पूर्ण और सार्थक मानवीय प्रयास को समाज और इतिहास के मापदंडों के भीतर ले आता है।

इसे स्पष्ट करने के लिए, मैं संक्षेप में बीसवीं सदी के आरंभिक लेखन की एक प्रवृत्ति का उल्लेख करता हूँ। इस लेखन में लेखकों की दो स्पष्ट एवं विशिष्ट धाराएँ देखने को मिलती हैं।पहली धारा में डब्ल्यू.एच.ऑडेन, सी. डे लुईस और लुइस मैकनीस जैसे कवि और दूसरी धारा में डब्ल्यू.बी.येट्स, एज़्रा पाउंड और टी.एस.एलियट जैसे कवि शामिल हैं। पहली धारा की आलोचनात्मक बुद्धि और जोश अपने काल की संकुचित और उथली संस्कृति के प्रति उनकी तीव्र घृणा से उत्पन्न होता है। वे स्पष्ट रूप से इस संकुचन का स्रोत धन और विशेषाधिकार को मानते थे। दूसरी ओर, येट्स, पाउंड और एलियट ने आम जनता पर विश्वास नहीं करते थे। ये कवि जनता के सामूहिक प्रयास में परिवर्तन की सम्भावना देखने में अक्षम रहे। वास्तव में, उन्होंने अपनी रचनाओं की प्रेरणा के लिए विशेषाधिकार प्राप्त अभिजात वर्ग का रुख किया, जो उनकी राय में सामान्य अज्ञानी जनता से आगे निकलने में सक्षम थे। उनकी कविताओं के पूर्ण अस्वीकृति के सशक्त स्वर को, मौजूद व्यवस्था के प्रति उनकी खुली नहीं तो मौन स्वीकृति से अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रवृत्ति का एक दिलचस्प पहलू यह है कि यही द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के काल में उभरे निंदनीय जड़हीन लेखन का आधार बनता है। हम यह पूछ सकते हैं कि बेकेट जैसा नाटककार आधुनिक समय में मानवता के प्रतीक के रूप में दो आवारा, आलसी और नाकारा मनुष्यों का प्रयोग क्यों करता है। इन प्रवृत्तियों को उस समय के वर्गीय यथार्थ से जोड़े बिना, हम उस शैली को पूर्णतः नहीं समझ सकते जिसमें लेखकों ने अपने परिवेश की व्याख्या की और उसके प्रति अपनी यथार्थपूर्ण प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। इस संदर्भ में, हम सैमुअल बेकेट के कार्यों से बर्टोल्ट ब्रेख्त के नाटकों के तीव्र विरोधाभास को नजरअंदाज नहीं कर सकते। जहाँ बेकेट के नाटक असंगत नाटकों की श्रेणी में आते हैं, इस अर्थ में नहीं कि उनमें अर्थ और महत्व की कमी है, बल्कि वे आधुनिक मानव अस्तित्व में केंद्रीय सिद्धांत के रूप में बेतुकेपन को दर्शाते हैं और उसी पर जोर देते हैं वहीँ ब्रेख्त के नाटकों को वीरतापूर्ण नाटक के रूप में जाना जाता है। ब्रेख्त आम जनता की साहस और दृढ़ता का उल्लेखनीय चित्रण करते हैं। ब्रेख्त के पात्रों में वीरता, दबाव झेलने की भावना काफी हद तक लेखक के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण है जिसके कारण आम जनता उन्हें एक शुद्ध क्रांतिकारी उत्साह की वाहक के रूप में दिखाई देती है। बेकेट और ब्रेख्त दोनों ही द्वितीय विश्व युद्ध के आसपास के काल के हैं। माना जा सकता है कि अपनी संवेदनशीलता और बुद्धिमत्ता के कारण, दोनों समान सामाजिक सरोकार प्रदर्शित करेंगे। हालाँकि, तथ्य यह है कि बेकेट उस पर ध्यान केंद्रित करता है जिसे आधुनिक समय में मानव भाग्य और मानव नियति कहा जा सकता है, जबकि ब्रेख्त उस समय की आम जनता में रचनात्मकता, महानता और वीरता को

सामने लाने का प्रयास करते हैं।

1.6 मार्क्सवाद और साहित्यिक आलोचना

साहित्य अध्ययन में, मार्क्सवाद ने बीसवीं सदी के आलोचकों को बहुत अधिक प्रभावित किया है और एक सबल और पूर्ण साहित्यिक सिद्धांत के विकास में भरपूर सहायता की है। उन्नीस सौ तीस के दशक में इंग्लैंड में कट्टरपंथी आलोचनात्मक प्रवृत्ति का ऐसा उद्भव, जिसने लेविस और उनके शिष्यों पर भी अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी, भौतिकवाद के प्रति निष्ठा के कारण एक सिद्धांत की व्यापक अपील और प्रामाणिकता की गवाही देता है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रभाव में, तीस, चालीस और बाद के दशकों के अधिकांश अंग्रेजी आलोचक साहित्य में ऐतिहासिक संदर्भ के महत्व पर ध्यान देने के लिए बाध्य थे। हमारे समय में, साहित्यिक आलोचना पर मार्क्सवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण ही उन्नीसवीं सदी के महान कथा लेखकों की रचनाओं को भावात्मक अभिमूल्यन के बजाय एक यथार्थ संदर्भ के तौर पर रखा गया है। यदि उन्नीसवीं सदी के महान कथा लेखक हमें मताग्रही धर्मयोद्धा के रूप में दिखाई देते हैं, तो इसका बड़ा श्रेय मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना द्वारा प्रचलित ऐतिहासिक सिद्धांत को दिया जाना चाहिए। हमें इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण आज स्वीकृति के लिए संघर्षरत विमर्शों के केंद्र में है। चाहे वह संरचनावाद हो, उत्तरसंरचनावाद हो, विखंडनवाद (डीकंस्ट्रक्शन)हो या इतिहास के अंत का सिद्धांत हो, उसका उद्देश्य हमेशा यह विचार है कि आम मेहनतकश जनता इतिहास का चेहरा बदल सकती है।

मार्क्सवाद ने समकालीन विचारक और आलोचक को अपनी लाचारी के संकीर्ण व्यक्ति-केंद्रित धारणा या आधुनिक विश्व में क्षय की अमूर्त नैतिकतावादी धारणा पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया है। जैसा कि हम जानते हैं, संरचनावाद भाषा, समाज और संस्कृति में उपस्थित दृढ प्रतिरोधी संरचनाओं की अवधारणा की बात करता है। हालाँकि, संरचनावादी सिद्धांत मूलतः नियतिवादी था क्योंकि इसमें मानवीय उपक्रम के मूल सिद्धांत (मार्क्सवाद की एक प्रमुख अवधारणा) की अनदेखी की गई थी। मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग के सशक्तिकरण द्वारा नियंत्रित सामाजिक वातावरण को चुनौती देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह सिद्धांत आधुनिक बुर्जुआ हितों द्वारा परिवर्तन के मार्क्सवादी विचार को नकारने का एक प्रयास था।

विखंडनवाद एक अलग प्रकार से मार्क्सवाद पर आक्रमण था। इसने प्रतिनिधित्व के केंद्रीय सिद्धांत लेखक या कथावाचक के अस्तित्व के विचार पर ही आक्षेप किया और पाठ में एक केंद्र की धारणा को खारिज कर दिया।साथ ही, पाठ पर (रचना या रचनाकार पर नहीं) विखंडनवाद के विशेष महत्त्व ने विशेष रूप से साहित्य की क्रांतिकारी भूमिका को लक्षित किया।

इन सिद्धांतों के सम्मुख, मार्क्सवादी आलोचना ने नए प्रश्नों के समाधान के लिए और भी अधिक परिष्कृत तर्क विकसित किए हैं। यह रेमंड विलियम्स, फ्रेडरिक जेम्सन और टेरी ईगलटन जैसे मार्क्सवादी आलोचकों के लेखन में प्रकट होता है, जो साहित्यिक कार्यों को उसके लेखक के साथ सार्थक ढंग से जोड़ते हैं। मार्क्सवाद ने साहित्यिक आलोचना की संस्कृति, विचारधारा, यथार्थवाद, आधुनिकतावाद, राजनीतिक अचेतन आदि की भौतिकवादी अवधारणाओं को विकसित करने में भी सहायता की है, जिससे बुर्जुआ सिद्धांतकारों के

आक्षेपों का प्रभावी ढंग से उत्तर दिया जा सके। मार्क्सवादी आलोचना हमें किसी साहित्यिक कृति के इर्द गिर्द लेखक और पाठक के प्रयासों को संयोजित करने की आवश्यकता के बारे में भी बताती है। यह एक कठिन किन्तु महत्वपूर्ण कार्य है जिसके लिए हमें अपने युग के सकारात्मक मानवतावादी आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य के अर्थ का सप्रयास निर्माण करने की आवश्यकता है।

मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना को किसी कार्य का विश्लेषण और व्याख्या कैसे करनी चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर के लिए, हम फ्रेडरिक जेम्सन का उल्लेख करते हैं जो कहते हैं, "संस्कृति के क्षेत्र में...... हमें ...... किसी दिए गए सांस्कृतिक पाठ की "उद्देशित संरचनाओं" (इसके रूपों और इसकी सामग्री की ऐतिहासिकता, इसकी भाषाई संभावनाओं के उद्भव का ऐतिहासिक क्षण, सौंदर्यशास्त्र का स्थिति-विशिष्ट कार्य) की प्रकृति के अध्ययन और कुछ भिन्न सा जो बजाय इसके उन व्याख्यात्मक श्रेणियों या कोडों को अग्रगामित कर देगा जिनके माध्यम से हम संबंधित पाठ को पढ़ते और समझते हैं, के बीच चुनाव करना पड़ता है।" यह प्रश्न वाजिब है। यहां दिलचस्प बात यह है कि चाहे अग्रगामिता के लिए लेखक-पाठ या पाठक-पाठ को चुना गया हो, चाहे लेखक के समय और संदर्भ का उपयोग पाठ को समझने के लिए किया जाता हो या पाठक द्वारा उसकी व्याख्या के लिए, मार्क्सवादी आलोचना समय के दोनों बिंदुओं पर जाती है। दरअसल, जेम्सन व्याख्या पर जोर ही इस कारण देता है कि मार्क्सवादी आलोचना के लिए कोई भी रचना अतीत और वर्तमान दोनों से जुड़ी होती है (यदि वह पहले लिखी गई हो) और इसे वर्तमान की उन आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए जो मौलिक परिवर्तन के विचार से जुड़ी हैं। इससे हमें उस आलोचना की अंतर्दृष्टि मिल जाएगी जिसका उद्देश्य ऐतिहासिक परिस्थिति को एक नई मौलिक दिशा देना है।

1.7 सारांश

अधिकांश दर्शन जो एक पारलौकिक शक्ति या जिसे आदर्श, मनस, चेतस, परमात्मा आदि कहते हैं, को मानव और प्राकृतिक अस्तित्व के केंद्र में मानते हैं,के विपरीत, मार्क्सवाद का दावा है कि प्रमुख महत्व पदार्थ का है और विचार, मन, आत्मा, आदि उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं । जहां इन पूर्ववर्ती दर्शनों को आदर्शवादी, आध्यात्मिक और पारलौकिक कहा जा सकता है, मार्क्सवाद भौतिकवादी और इहलौकिक होने का दावा करता है। भौतिकवाद को उपयोगितावाद,उपभोक्तावाद या सुखवाद नहीं समझना चाहिए। हम सभी जानते हैं कि उपयोगितावाद और उपभोक्तावाद जो किसी भी मानवीय मूल्य से रहित हैं, मात्र हमारी भौतिक आवश्यकताओं और अपेक्षाओं को पूरा करते हैं। आधुनिक पूंजीवादी युग में विकसित ये प्रवृत्तियाँ, मानव चरित्र की मात्र संकीर्ण, स्वार्थी और अवसरवादी विरूपण को दर्शाती हैं, जो कि वास्तव में सामाजिक, सामूहिक, रचनात्मक और भद्र है। आज जैसे-जैसे हम उपभोक्तावाद की सीमाओं से अवगत होते जाते हैं, हम धीरे-धीरे अनुचित उत्पादन और वितरण की उस दुनिया के गुलाम बनना बंद कर देते हैं जिसकी ही प्रेरक शक्ति लाभ-प्रयोजन है, न कि समान रूप से समाज के सभी सदस्यों की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति। यदि अतार्किक उत्पादन-वितरण और लाभ का उद्देश्य ही उपभोक्तावाद की अभिव्यक्ति है, तो मार्क्सवाद उन्हें अपनी अवधारणा के केंद्रीय सत्व के रूप में कैसे ग्रहण कर सकता है। इसी अर्थ में मार्क्सवादी भौतिकवाद और व्यक्ति-केंद्रित लाभ-प्रयोजन के पूंजीवादी सिद्धांत को विचार के दो पूर्णतः भिन्न और विरोधी मार्गों के रूप में देखा जाना चाहिए।

1.8 बोध प्रश्न

1. किसी साहित्यिक प्रवृत्ति और उसके समय के समाज के बीच मौजूद संबंधों पर चर्चा करें
2. "मार्क्सवाद अपने समाज को आकार देने में मनुष्य की भूमिका को दर्शाता है।" यह विचार बीसवीं सदी में एक साहित्यकार के दृष्टिकोण को किस प्रकार प्रभावित करता है?

1.9 शब्दावली

रूढ़िवादी दृष्टिकोण : अतीत की प्रवृत्तियों और मूल्यों से प्रेरणा लेना और वर्तमान और भविष्य की प्रवृत्तियों का विरोध करना।

विखंडनवाद : 1980 के दशक का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत। यह किसी साहित्यिक कृति में रूप की धारणा को यादृच्छिक मानते हुए खारिज़ करता है और सुझाव देता है कि पाठक को पाठ में छिपे हुए संकेतों की तलाश करनी चाहिए।

सिद्धांत के अंत का सिद्धांत: एक नई आलोचनात्मक प्रवृत्ति जो वर्तमान चर्चाओं में विचारधारा की वैधता को नकारती है। इस प्रवृत्ति के पीछे कारण यह हो सकता है कि बुर्जुआ दृष्टिकोण ने मार्क्सवाद जो सर्वहारा वर्ग की विचारधारा है, का सफलतापूर्वक विरोध करने की सारी उम्मीदें खो दी हैं।

यांत्रिक भौतिकवाद: इस दृष्टिकोण के अनुसार, जीवन की सामान्य घटनाओं का सीधा संबंध प्रधान सामाजिक शक्तियों से होता है। लोग अपने परिवेश में समाज के उत्पाद मात्र के रूप में बंधा हुआ जीवन जीते प्रतीत होते हैं। इसके अलावा, व्यक्तियों को उनकी प्रवृत्ति का गुलाम माना जाता है और इसलिए, वे इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर परिस्थितियों पर प्रतिक्रिया देते हैं।

दार्शनिक उपकरण: किसी प्रवृत्ति की क्षमता को सिद्ध या खंडित करने के लिए अवधारणाओं और तर्कों का उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाता है। आलोचनात्मक सिद्धांत से एक पारिभाषिक। आलोचकों और टिप्पणीकारों को हमेशा इस बात का अंदाज़ा रहता है कि कौन सा तर्क या अवधारणा (दार्शनिक उपकरण) अपेक्षित परिणाम देने वाला है।

रणनीतिक: रणनीति से. किसी योजना को क्रियान्वित करने तथा किसी विशिष्ट उद्देश्य हेतु उपयोगी।

इकाई 2 भारत के चित्रण में संरचनावादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप विमर्श की पश्चिमी विधि के रूप में संरचनावाद से परिचय प्राप्त करेंगे। इसके साथ ही, भारत की अवधारणा, इसका संरचनावादी चित्रण एवं भारतीय प्रत्युत्तर का भी अध्ययन प्रस्तुत होगा जिसके निम्नलिखित उद्देश्य होंगे:

1. संरचनावाद क्या है? इसके ऐतिहासिक उद्भव एवं विकास की संक्षिप्त रूपरेखा से अवगत होना।
2. भारत अध्ययन के रूप में भारत के भूगोल, इतिहास एवं संस्कृति की सामान्य विशेषताओं से अवगत होना।
3. संरचनावादी दृष्टि में भारत के चित्रण से परिचय प्राप्त करना।

4. उपर्युक्त दृष्टियों की एक समीक्षा प्रस्तुत करना तथा भारतीय प्रत्युत्तर से अवगत होना।

2.1 प्रस्तावना

भारत के चित्रण में संरचनावादी दृष्टिकोण के अध्ययन के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि संरचनावाद की विधियों को जान लिया जाए। इसके लिए संरचनावादी चिंतनधारा का उद्भव एवं उसके सैद्धांतिक विकास यात्रा पर एक संक्षिप्त परिचयात्मक विमर्श तथा इसके अन्तर्गत आने वाले पाश्चात्य चिंतकों के विचारों से भी अवगत हुआ जाए। तत्पश्चात् इसकी विधियों द्वारा भारत के सम्बन्ध में प्रस्तुत किए गए विचारों की प्रस्तुति तथा उसके उपरांत उन संरचनावादी दृष्टियों के सम्बन्ध में भारतीय प्रत्युत्तर को विमर्श का हिस्सा बनाया जाए। इस प्रकार भारत के सम्बन्ध में संरचनावादी दृष्टि की समग्र प्रस्तुति की जा सकती है।अपने संरचनावादी परियोजना के प्रभाव से पश्चिम ने भारत के संस्कृति, नृवंश विज्ञान, सामाजिकी मनोविज्ञान एवं भारतीयता की एक संपूर्ण छवि गढ़ने का प्रयास किया है। भारत अपने स्वरूप में प्रारंभ से ही तत्त्वविमर्शी मनीषा, अध्यात्म, परोपकार उदार एवं वसुधैव कुटुंबकम जैसे उच्च आदर्श में चित्रित होने वाला एक जीवंत राष्ट्र रहा है। भारत की समग्र एवं प्रतिनिधि संस्कृति के रूप में यहां दो प्रकार के विमर्श रहे हैं जिन्हें हम ब्राह्मण संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति के रूप में जानते हैं। इन संस्कृतियों की विशेषताएँ हैं कि ये एक दूसरे की पूरक रही हैं। यदि किसी एक की मिथकीय संरचना पर दूसरे ने प्रश्न उठाया तो उन बिन्दुओं पर एक व्यापक शास्त्रीय विमर्श चला। अगर किसी एक संस्कृति के तत्त्वमीमांसीय अपलाप ने अपनी प्रस्तुति दी तो उस पर दूसरी देशज संस्कृति का प्रतिपक्ष भी उपस्थित हुआ। इस प्रकार भारत की रचना मेंहिन्दू, बौद्ध, जैन आदि संस्कृतियों ने परस्पर संवाद के माध्यम से एक- दूसरे को समृद्ध कीं तथा सह-अस्तित्व में अपनी निरन्तरता को बनाए रखीं। ऐसे में भारत एवं भारत की संस्कृति एक सर्वसमावेशी तथा अनेकता में एकता प्रदर्शित करने वाली संस्कृति के सार्वभौम प्रतिमान हैं। अब यदि विमर्श की नवोदित पश्चिमी विधियों से इन देशज एवं एकनिष्ठ सातत्य वाले राष्ट्र भारत का चित्रण किया जाय तो निश्चित ही विसंगतिपूर्ण तर्क को देखने को मिलेगा जिसका तर्कसंगत प्रत्युत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है।अपने सनातन परम्परा में यह जिन तत्त्वों को सम्मिलित करता है, उनका पश्चिम ने अपने- अपने दृष्टियों से मूल्यांकन एवं चित्रण किया है। उन्हीं चित्रणों में से संरचनावादी चित्रण भी एक पश्चिमी विमर्श की दृष्टि है जो भारत के कई आयामों को चित्रित करती है। यहां हम उन्हीं बिन्दुओं पर क्रमशः इस अध्ययन की योजना के अनुरूप बिन्दुवार एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे जो निम्नवत् होगी।

2.2 संरचनावाद

पाश्चात्य बौद्धिक विमर्श के रूप में संरचनावाद एक ऐसा वैचारिक तन्त्र है जिसमे भाषा विज्ञान, अर्थ विज्ञान, संकेत विज्ञान एवं मनोविज्ञान के सहारे मानव, समाज, संस्कृति, राष्ट्र आदि का विश्लेषणात्मकअध्ययन किया जाता है। इस विधि का प्रयोग करके हम आधुनिक विद्याओं के अनेक अनुशासनों का अध्ययन कर पाते हैं। वस्तुत: यह अपने आदिम स्वरूप में अत्यंत ही प्राचीन है। अगर तुलना की दृष्टि से देखा जाए तो यह भारतीय चिंतकों में भाषा एवं अर्थ के अन्तर्संबन्धों पर व्यापक एवं गंभीर विमर्श उपस्थापित करने वाले प्राचीन आचार्य भर्तृहरि के व्याकरण- दर्शन एवं भाषा दर्शन में इसकी जड़ें उपस्थित हैं, लेकिन इनका लक्ष्य भाषा विज्ञान एवं संकेत विज्ञान (*सेमियोलॉजी*) से सम्बद्ध संरचनावाद से सर्वथा भिन्न है। पश्चिमी दर्शन की

वैचारिक आंदोलन के रूप में उद्भुत इस संरचनावादी चिंतन के सैद्धान्तिकीका विवेचन करने से पूर्व इसके संक्षिप्त ऐतिहासिक उद्भव से परिचित होना अनिवार्य है जिसे हम निम्न उपशीर्षकोंमें जानने का प्रयास करेंगे।

2.2.1 संरचनावाद का ऐतिहासिक उद्भव

इस अध्ययन योजना के अन्तर्गत हम जब पाश्चात्य विमर्श के रूप में संरचनावाद पर प्रकाश डालते हैं तो पाते हैं कि इसका उद्भव मानवीय चिंतन के उद्भव या यों कहें कि सृष्टि में मानव के अस्तित्व में आने ही जितना पुराना है, परंतु इस पद 'संरचनावाद' का तकनीकी अर्थों में प्रयोग जिसका 'कुञ्जी पद' के रूप में प्रयोग हुआ वह बीसवीं सदी के मध्य से फ्रांसीसी चिंतकों द्वारा हुआ। फिर भी, इस आंदोलन की जड़ इसके पूर्व में उन्नीसवीं सदी के आधुनिक भाषा विज्ञान के जनक स्विट्जरलैंड के चिंतक फर्दिनांद द सॉस्यूर के भाषा और अर्थ के परस्पर सम्बन्धों की संरचना से प्राप्त होती है। भाषाई संरचना का संजाल मानव मस्तिष्क की परिकल्पनात्मक शक्ति से भी सम्बन्धित है। यह सर्वप्रथम चिंतन के धरातल पर अर्थ को स्वरूप देने में भाषा के विभिन्न घटकों का प्रयोग करती है। तत्पश्चात् यह भाषाई व्यवहारों में प्रकट होती है। मानवीय मस्तिष्क की परिकल्पना संकेतों एवं लक्षणों के माध्यम से मिथको की संरचना कर लेती है। यह सत्य एवं मिथक के बीच बनती संरचना विभिन्न प्रकार के तर्कों के सहारे अवधारणा बना लेती है। विभिन्न संकेतों से प्राप्त उद्दीपनों या संवेदनों के बीच समानता, वैपरीत्य, समन्वय एवं क्रमिकता के द्वारा विभिन्न प्रकार की संरचना को मानस पटल पर उकेरती है। यह मानसिक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक एवं भाषाई तकनीक का प्रयोग कर अवधारणा- निर्माण में सक्षम हो पाती है। इन्हीं अवधारणाओं को विभिन्न भाषाई व्यवहारों के द्वारा व्यक्ति किसी वस्तु या घटना का चित्रण प्रस्तुत करता है। पश्चिम के संरचनावादी विमर्श को यदि देखा जाए तो संरचनावाद के शुरुआती चिंतकों में फर्दिनांद द सॉस्यूर (1857- 1913), रूसी भाषा वैज्ञानिक प्रिंस निकोलस सर्जेयेविच ट्राब्ट्जकोए (1890- 1938) और रोमन जैकब्सन (1896- 1982)जैसे भाषा वैज्ञानिकों के चिंतनों में संरचनावाद का प्रादुर्भाव हो चुका था। बाद के प्रमुख चिंतकों में क्लॉड लेवी- स्ट्रॉस जिसका जन्म बेल्जियम के ब्रूसेल्स में 1908 में तथा प्रयाण फ्रांस के पेरिस में 2009 में हुआ था, तथा रोलैंड बार्थेस (1915- 1980)जो एक फ्रांसीसी दार्शनिक एवं चिंतक थे और जिन्होंने संरचनावाद के चिंतन को प्रगाढ़ बनाया। धीरे- धीरे इस वैचारिक आंदोलन की समीक्षा हुई और 1970 के दशक में इसका एक समीक्षित एवं परिष्कृत रूप उत्तरसंरचनावाद के रूप में उभरा जिसके प्रमुख विचारकों में जैक्स देरीदा, जैक्स लैकन, मिशेल फूको तथा अपने उत्तरवर्ती विचारों में रोलैंड बार्थेस आदि शामिल हैं।वस्तुत: संरचनावाद का उदय भाषा विज्ञान के प्रमुख वैचारिकी एवं सूत्रों से हुआ। पश्चिम के फ्रांसीसी भाषाविद् एवं स्विस दार्शनिक सॉस्यूर ने यद्यपि सर्वप्रथम इसे पाठ्यक्रम में शामिल किया। इस विषय- क्षेत्र में अध्ययन, शोध एवं अध्यापन किया परंतु अपने जीवन काल में इसे कभी प्रकाशित नहीं कर सके। इनके मरणोपरान्त इनके शिष्यों द्वारा इनसे पाठित नोट्स के आधार पर उनके विचार (*कोर्स इन जनरल लिंगविस्टिक्स*) प्रकाश में आए और इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर क्लॉड लेवी- स्ट्रॉस तथा रोलैंड बार्थेस ने अपने संरचनावादी चिंतन के द्वारा एवं इसकी विधि का प्रयोग करते हुए संस्कृति एवं साहित्य से सम्बन्धित अपनी उपस्थापनाओं को प्रस्तुत किया। सॉस्यूर ने प्रतीकों के महत्त्व को बतलाते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि भाषा की इकाइयाँ केवल प्रतीक मात्र नहीं, बल्कि अर्थ देने में इनकी भूमिका जैसे होती है, वैसे ही संस्कृति के घटक भी केवल प्रतीक नहीं, अपितु एक सारगर्भित अर्थ प्रदान करने में सक्षम होते हैं जिनके विश्लेषण से उस

संस्कृति की संरचना का पता चलता है। संरचनावाद की मूल धारणाओं का प्रयोग अलग-अलग क्षेत्रों में पृथक्- पृथक् संरचनावादी चिंतकों द्वारा किया गया। जैसे, लेवी स्ट्रास ने संस्कृति के क्षेत्र में, बार्थेस ने साहित्य के क्षेत्र में, मिशेल फुको ने मानवशास्त्र के एवं उत्तरसंरचनावादी जैक्स लैकन ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग किया। एक बात यहाँ और महत्त्वपूर्ण है और वह यह है कि संरचनावाद की कुछ कमियों को नकारकर उत्तरसंरचनावाद का जन्म हुआ जो संरचनावाद की कुछ मुख्य मान्यताओं को आधार मानकर अपने सिद्धान्तों का अलग गठन करता है। इस चिंतनधारा को संरचनावाद का विरोधी न कह कर संरचनावाद का एक समीक्षित विस्तार कहना अधिक समीचीन होगा। इसके विचारकों में रोलैंड बार्थेस (उत्तरवर्ती चिंतन), जैक्स लैकन, मिशेल फूको एवं जूलिया क्रिस्टीना प्रमुख नाम हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ चिंतक हैं जिनके चिंतन में संरचनावादी तत्त्व विद्यमान हैं, जैसे डिल्यूज, गुआटारी, लियोटार्ड, बोड्रोलार्ड इत्यादि। वर्तमान मेंसंरचनावाद की तुलना में उत्तरसंरचनावाद अधिक प्रचलित है। अब हम संरचनावाद के सैद्धांतिकी एवं इसके विशेषताओं के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।

2.2.2 संरचनावाद का सैद्धांतिक विकास

संरचनावाद के सिद्धांत पर प्रकाश डालने से यह बात स्पष्ट होने लगती है कि यह एक बहुआयामी संज्ञानात्मक प्रक्रिया है जिसमें भाग लेने वाले कारकों में मानव मस्तिष्क की संरचना एवं उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक एवं तार्किक संयोजन या रचना का घटित होना एवं अर्थपूर्ण या अर्थवत्ता प्रदान करने वाली प्रक्रिया का होना, संकेत की भूमिका तथा वाह्य घटकों की भागीदारी के द्वारा एक समग्र अर्थग्राहक ज्ञान की उत्पत्ति का होना आवश्यक शर्तें हैं। यह संरचनावाद का एक सामान्य विश्लेषण है। इसे हम एक व्यावहारिक उदाहरण से यों समझ सकते हैं अर्थात् संरचनावाद किसी संस्कृति के बहुविध आयामों को समझने का एक तरीका है, जैसे कि मिथक, रीति- रिवाज, मानव, समाज और भाषा की संरचना आदि। वस्तुतः संरचनावाद एक ऐसा तुलनात्मक अध्ययन है जो भाषा की समझ एवं प्रतीक- तंत्रों के नियमों से उपजी संरचनात्मक विश्लेषणों के अध्ययन से बनी तार्किक संरचना है जिसके विधियों का प्रयोग कर हम लोग संस्कृति के विभिन्न घटकों का विश्लेषण एवं अध्ययन करते हैं। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि संरचनावाद सॉस्यूर के भाषाविज्ञान से सम्बन्धित अर्थ एवं ज्ञान प्रदायक संरचना से सम्बन्धित है जो मानवीय संज्ञानात्मक प्रक्रिया के केन्द्र में ज्ञान के संयोजक तत्त्व के रूप में मानव आत्मा (*ह्यूमन सोल* या *माइन्ड*) की नित्यता को नकारकर एक मिथकीय संरचना की ओर भी संकेत करता है क्योंकि अन्य पाश्चात्य ज्ञानमीमांसीय विश्लेषणों एवं अध्ययनों में आत्मा (*ह्यूमन माइंड*) को संयोजक (*को- ऑर्डिनेटर*) के रूप में जाना जाता रहा है। यदि बुद्धिवादी एवं अनुभववादी ज्ञानमीमांसा की बात करें तो दोनों प्रकार के प्रत्ययों को ज्ञान के रूप में संयोजनकर्ता के रूप में आत्म- तत्त्व को ही स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त आत्म- शक्ति (*पावर ऑफ माइंड*) के दो अन्य आयाम को भी डेविड ह्यूम ने स्वीकार किया है जिसे हम परिकल्पना (*इमेजिनेशन*) एवं स्मृति (*मेमोरी*) के रूप में जानते हैं। यह संरचनावादियों के ज्ञानमीमांसा से जुड़ी बात नहीं है, परंतु इनकी उपयोगिता इस रूप में समझी जा सकती है कि मानव मस्तिष्क या आत्म- शक्ति या चेतना की परिकल्पनात्मकता की भूमिका संरचनावाद में भी निहित है। यद्यपि संरचनावाद तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सत्ता के केन्द्र के रूप में आत्मा को अस्वीकार करता है। संरचनावाद की तार्किक संरचना में चाहे वह सत्य ज्ञान का स्वरूप निर्धारण हो या मिथकों के

ज्ञान की संरचना हो, इन दोनों में ही परिकल्पना की भूमिका विद्यमान होती है। आनुभविक ज्ञान की रचना में मानव चेतना की भूमिका तथा इसकी अभिव्यक्ति में भाषाई संरचना एवं व्याकरण नियमों की भूमिका अवश्य सुनिश्चित होती है। जिस प्रकार संरचनावादी ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत सत्य (*ट्रुथ*) या मिथक की रचनायें बनती हैं, ठीक उसी प्रकार इसे किसी संस्कृति की समझ में भी प्रयोग किया जा सकता है। जब इस सिद्धांत को लेवी- स्ट्रॉस संस्कृति की समझ के विश्लेषण में करते हैं तो उस सन्दर्भ में संरचनावाद का सम्बन्ध उन घटकों, मिथकों या सत्यों का तार्किकताओं से हो जाता है जो संस्कृति के निर्माणक धरातल के पीछे अवस्थित होते हैं। संरचनावाद की उपर्युक्त व्याख्या एक सामान्य एवं उसके आकारिक विश्लेषण पर आधारित है। सच पूछा जाए तो इसे अलग- अलग क्षेत्र के विशेषज्ञ दार्शनिक एवं चिंतकों ने अपने- अपने विशेषज्ञता के क्षेत्र से सम्बद्ध करके परिभाषित करने का प्रयास किया है, जैसे लेवी- स्ट्रॉस ने इसे संस्कृति की संरचनावादी व्याख्या पर लागू किया। मूलतः इसकी नियमावली तो सॉस्यूर के भाषा विज्ञान एवं लक्षण विज्ञान (*सेमियोलॉजी*) के ज्ञानमीमांसीय प्रविधियों से निकलती है।

चूँकि इस अध्ययन की योजना में भारत के चित्रण में संरचनावादी दृष्टिकोण को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत करना है, अतएव भारत के चित्रण का सम्बन्ध व्यापक अर्थों में भारत की संस्कृति से ही है, जिसमें भारतीय दर्शन, तर्क, रहन- सहन, रीति रिवाज, पहनावा तथा अन्य घटकों जो भारतीय संस्कृति का निर्माण करते हैं, के सन्दर्भ में ही संरचनावादी विचारों की प्रासंगिकता होगी। अस्तु, सांस्कृतिक संरचनावाद को समझने से पूर्व इसके भाषावैज्ञानिक स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है जो सर्वप्रथम पश्चिम की दुनिया मेंसॉस्यूर के चिंतन में प्रकाशित हुआ था।

2.2.2.1 फर्दिनांद द सॉस्यूर के भाषा विज्ञान में संरचनावाद

भाषाओं की उत्पत्ति एवं भाषा सम्बन्धी अन्य अध्ययनों के लिए सॉस्यूर से पूर्व भाषा के 'ऐतिहासिक परिवर्तन' की अध्ययन विधि प्रचलन में थी जिसके द्वारा यह पता लगाया जाता था कि कोई वर्तमान की प्रचलित भाषा किस पुरानी भाषा से विकसित हुई है या निकली है। भाषा के सम्बन्ध में ऐतिहासिक परिवर्तन के बारे में यह बात महत्त्वपूर्ण मानी जाती है कि किसी दो या दो से अधिक भाषाओं के बीच क्या समानता या भिन्नता है, जिसे तुलनात्मक विधि कहा जाता है। इसी प्रकार किसी एक भाषा में काल- क्रम की दृष्टि से कितना और कैसे परिवर्तन हुआ, इसका अध्ययन ऐतिहासिक अध्ययन कहलाता है। लेकिन, फर्दिनान्द द सॉस्यूर की अभिरुचि इस बात में थी की भाषा की आंतरिक संरचना क्या है? भाषाओं के बीच समानता या असमानता एवं उनके ऐतिहासिक रूप से परिवर्तित या विकसित होने की अध्ययन- प्रणाली से सॉस्यूर का कोई विरोध नहीं था, बल्कि उनका मानना था कि भाषाई अध्ययन में इन बातों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है, परंतु उनके द्वारा भाषा की किसी आंतरिक बनावट के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। सॉस्यूर का मानना था कि अगर हम भाषा के आंतरिक बनावट एवं गठन की सजावट का पता लगा लें तो अवश्य ही उसके द्वारा अर्थ की संरचना का पता लगाया जा सकता है। सॉस्यूर के अनुसार भाषा स्वयं में समकालिक रूप से स्वायत्त सत्ता है जिसकी समझ को निम्न द्वि- आधारी (*बाइनरीज*) युग्मों की सहायता से वर्गीकृत कर सकते हैं:

क) विशेष्य- विशेषक

ख) व्यक्तिगत- सामूहिक

ग) भाषण (*पैरोल*)- भाषीय नियम (*लैंग्वे*)

घ) समकालिक- ऐतिहासिक

ङ) तुलना- विनिमय

इनमें से प्रथम यानी विशेष्य- विशेषक तथा तृतीय यानी भाषण (*लैंग्वे*)- भाषाई नियम (*पैरोल*) की भूमिका संरचनावाद के सैद्धांतिक विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भाषा के स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों का विश्लेषण आवश्यक है जो क्रमशः 'वाचिक' एवं 'लिखित' हैं। लिखित स्वरूप का विश्लेषण व्याकरण एवं तर्कशास्त्र के नियमों से कर सकते हैं, जबकि वाचिक स्वरूप के विश्लेषण के सम्बन्ध में सॉस्यूर ने जिस भाषा विज्ञान के सिद्धान्तों का निर्माण किया, उसे ही भाषाई संरचनावाद का नाम दिया गया। सॉस्यूर के अनुसार भाषा का वाचिक रूप लिखित रूप से पूर्व की परिघटना है, अतः इसके स्वरूप की खोज एक मौलिकता की खोज होगी। सॉस्यूर भाषा के वाचिक स्वरूप के दो आयामों को प्रदर्शित करते हैं। पहला है *पैरोल* एवं दूसरा है *लैंग्वे*। यह दोनों ही शब्द फ्रांसीसी भाषा के शब्द हैं जिनके अर्थ क्रमशः 'उच्चरित शब्द' तथा 'जिह्वा' हैं। पैरोल व्यक्तिगत भाषण है तथा अलग- अलग व्यक्तियों के पैरोल से एक सामूहिक नियमन (*लैंग्वे*) का उभार होता है जिससे पैरोल अर्थपूर्ण (*मीनिंगफुल*) बन जाता है और उसे *लैंग्वे* कहते हैं। *पैरोल* और *लैंग्वे* को निम्न सारणी से समझ सकते हैं।

पेरोल	**लैंग्वे**
यह वैयक्तिक भाषण है।	यह सामूहिक नियमन है।
यह *लैंग्वे* का अंश/घटक है।	यह *पैरोल* से निर्मित ठोस एवं मूर्त रूप है।
यह अर्थहीन ध्वनि मात्र है।	यह सार्थक नियम- तंत्र है।
यह निर्विकल्पक अर्थहीन ध्वनि/शब्द श्रृंखला हैं।	यह सविकल्पक अर्थधारी नामधेय है।

पैरोल और *लैंग्वे* के बीच और उपर्युक्त भेदों के रहते हुए दोनों एक- दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े होते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व अर्थहीन है। यदि *पैरोल* न हो तो *लैंग्वे* एक मूक एवं अमूर्तों की श्रृंखला होगी तथा यदि *लैंग्वे* न हो तो *पैरोल* केवल अर्थहीन शब्द या ध्वनियों की श्रृंखला ही रह जाती है। इस प्रकार भाषा के वाचिक स्वरूप की संरचना को समझने के पीछे का तर्क यह है कि जो हम व्यक्तिगत शब्दोंच्चारण करते हैं उसके शब्दार्थों की संरचना हमें समाज या सामूहिकता से प्राप्त होती है और जो एक संरचित (*स्ट्रक्चरलिस्टिक*) अर्थवत्ता है। यही संरचनावाद की मूल निर्मिति है। अब चूँकि *पैरोल* की अर्थवत्तापरत: की कसौटी पर आश्रित है, अतः यह परत: यानी *लैंग्वे* की अर्थवत्ता की प्रमाणिकता का अनुगामी है। यहां संरचनावादी व्यवस्था या तंत्र के अनुसार यदि *लैंग्वे* में कहीं से दूषण आता है तो अवश्य ही *पैरोल* की अर्थवत्ता पर भी दूषण का प्रभाव होगा, और इस प्रकार यह पर्याप्त संभव है कि संरचनावाद का यह तंत्र एक स्वतंत्र व्यवस्था न होकर पराश्रित सह- अस्तित्व के निर्मिति का प्रतिमान होने के कारण सत्य की रचना या अभिज्ञान की जगह मिथक की संरचना को उपस्थापित कर दे।

पुन: भाषाई संरचनावाद को समझने के लिए सॉस्यूर ने 'प्रतीकों' की एक व्यवस्था के रूप में भाषा का अध्ययन किया। उनके अनुसार प्रतीकों का अस्तित्व दो रूपों में कार्य करता है। एक है- विशेष्य तथा दूसरा है- विशेषक। शब्द मात्र या ध्वनि विशेष्य के रूप में प्रतीक होते हैं,

जबकि उसका संप्रत्यय या अवधारणा विशेषक होते हैं। जैसे विशेष्य एवं विशेषक एक दूसरे के बिना समझे नहीं जा सकते, ठीक वैसे ही ध्वनि या शब्द एवं उनके संप्रत्यय भी अलग करके नहीं समझे जा सकते हैं। यह दोनों एक ही सिक्के के दो पृष्ठ- सतहों के समान हैं। इनमें एक के अस्तित्व का ज्ञान दूसरे के अस्तित्व के बिना संभव नहीं है। वस्तुतः ध्वनि या शब्द अपने आप में कोई प्रतीक नहीं होते हैं। वे प्रतीक तब बन जाते हैं जब वे किसी अवधारणा या संप्रत्यय को उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हम 'मेज' शब्द का उच्चारण करें तो इसकी ध्वनि तब विशेष्य बन जाती है जब वह 'मेज' की अवधारणा का या उसका संप्रत्यय उत्पन्न करती है। यहाँ मेज का उच्चारण यानी 'मेज' एक 'शब्द' के रूप में तथा 'संप्रत्यय या अर्थ' के रूप में दो प्रतीकों में अस्तित्व बना लेता है। इस तरह कोई भाषा की इकाई जो वाचिक रूप में प्रतीक उत्पन्न करती है, वह दो मनोवैज्ञानिक सत्ताओं को उपस्थापित करती है। यहाँ सॉस्यूर के अनुसार विशेषक किसी वस्तु को नहीं वरन् प्रतीक के रूप में एक अवधारणा या संप्रत्यय या अर्थ ही होता है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध स्वैच्छिक होता है। क्योंकि कई बार किसी ध्वनि या शब्द के अर्थ प्रचलित अर्थ से अलग अर्थ वहन करने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे शब्द या ध्वनि अपने प्रतीक को बदल लिए। जैसे, कई बार ऐसा कहा जा सकता है कि अमुक कक्षा के विद्यार्थी उल्लू हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उल्लू केवल उल्लुओं (पक्षियों) के लिए ही प्रयुक्त होगा, अपितु यह अपना प्रतीक बदलकर कुछ विद्यार्थियों पर लागू हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि 'उल्लू' शब्द से ध्वनित प्रतीक अब विद्यार्थियों पर आरोपित हो गया। पुन: इसे यों समझा जा सकता है कि 'उल्लू' की अवधारणा के संप्रत्यय निर्माण में समाज या किसी संस्कृति विशेष का योगदान होता है और वह अर्थ एक प्रतीक के रूप में कार्य करने लगता है जो किसी अन्य विशेष्य के साथ भी जाकर जुड़ सकता है। इस प्रकार भाषा, प्रतिकों की एक व्यवस्था के रूप में सामूहिक इच्छा या संस्कृति द्वारा संचालित एवं संचारित होती रहती है।

उपर्युक्त विवेचनों के अतिरिक्त सॉस्यूर ने भाषाई संरचनावाद को समझाने के लिए 'भिन्नताओं' की एक व्यवस्था के रूप में भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया है। पूर्व में विश्लेषित द्वि- आधारी युग्मों(*बाइनरीज*) के अतिरिक्त एक तीसरा द्वि- आधारी युग्म भी महत्त्वपूर्ण है जिसकी व्याख्या सॉस्यूर ने प्रस्तुत किया है। वह है स्वर- विज्ञान (*फोनोलॉजी*) तथा आकृति- विज्ञान (*मॉर्फोलॉजी*)। इन दोनों की अवधारणाओं की व्याख्या इसलिए की जाती है कि भिन्नताओं से सम्बन्धित भाषाई संज्ञान की व्यवस्था का ज्ञान किया जा सके। ध्वनि- विज्ञान किसी भाषा में प्रयुक्त सबसे छोटी इकाई एवं उससे बनी संरचना का अध्ययन है जबकि आकृति- विज्ञान भाषा में उत्पन्न होने वाले संपूर्ण संप्रत्यय या अर्थ की सबसे छोटी इकाई एवं उनसे बनी संरचनाओं का अध्ययन है। उपर्युक्त दोनों इकाइयों (ध्वनि- इकाई एवं अर्थ की आकृति- इकाई) का उपयोग या समझ विपरीत अर्थ रखने वाले शब्द- युग्मों से स्पष्ट होने लगता है। जैसे लाभ का अर्थ हानि से तथा हानि का अर्थ लाभ से; इसी प्रकार सुख का अर्थ दु:ख से तथा दु:ख का अर्थ सुख से स्पष्ट हो पाता है। यहभाषाई परिघटना या भिन्नताओं की व्यवस्था तब उत्पन्न होती है जब उपर्युक्त दोनों इकाइयाँ एक भाषाई तंत्र के रूप में प्रयुक्त हो पाती हैं।

सॉस्यूर ने भाषा विज्ञान की अवधारणाओं का विश्लेषण करते हुए इसके संरचनावादी दृष्टिकोणों की व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रतीकों के उपर्युक्त तीनों द्वि- आधारी- युग्मों (*पेयर्स ऑफ बाईनरीज*) के विवेचनों से यह स्पष्ट है कि भाषा विज्ञान का यह समकालीन अध्ययन सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययनों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संरचनावाद की

आधारशिला यही समकालीन भाषा विज्ञान है। इस बात का समर्थन क्लॉड लेवी- स्ट्रॉस तथा रोलैंड बार्थेस ने संरचनावाद की अवधारणा समझाते हुए माना है कि प्रतीकों की विभिन्न द्वि- आधारी वाली समकालीन भाषा विज्ञान सांस्कृतिक उत्पादों के रूप में एक विवेचना प्रस्तुत कर सकती है। सॉस्यूर ने भी इस भाषाई प्रतीक- व्यवस्था (*अरेंजमेंट ऑफ साइन्स* अर्थात् *सेमियोटिक्स*) के द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिघटनाओं के अध्ययन के लिए भाषाई संरचनावादी दृष्टिकोण को अग्रसारित करने की वकालत की है।

अब संरचनावादी समकालीन भाषा विज्ञान के विस्तृत विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि अगर सामाजिक- सांस्कृतिक अध्ययन की एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रणाली के रूप में उपयोग किया जाय तो संस्कृति का भाषा की आंतरिक संरचना से क्या सम्बन्ध है- इसे समग्रता में जान पाने में सहायता मिल सकती है, क्योंकि सामाजिक- सांस्कृतिक सम्प्रत्यय भीप्रतीक के रूप में देखे जाते हैं तथा इनका कोई सारतत्त्व नहीं है, परन्तु अपने सम्बन्धों के संजाल या जटिल बुनावट (*वीवींग*) से निर्मित एवं ज्ञापित होते हैं। इस प्रकार भाषाई संरचनावाद के विवेचन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि किसी भी सांस्कृतिक अध्ययन के लिए भाषा- विज्ञान एवं प्रतीक- विज्ञान की समझ अनिवार्य अपेक्षाएँ होती है।

2.2.2.2 सांस्कृतिक संरचनावाद

मानव एवं मानव समाज के विभिन्न उत्पादों के समुच्चय को संस्कृति के रूप में समझा जा सकता है। इसे द्वि- आधारी पद्धति से भी जान सकते हैं, जैसे प्रकृति- संस्कृति। प्रकृति (*नेचर*) मानव निर्मित नहीं है। यह मानव को पहले से प्रदत्त है। अब, जब मानव या समाज प्रकृति में कोई परिवर्तन लाकर उसे एक व्यवस्था या नियमन की सहायता से निर्मित एवं संचालित करता है तब वह संस्कृति (*कल्चर*) बन जाती है। अलग- अलग मानव समूहों की अलग- अलग संस्कृतियाँ हैं, परंतु उन सभी संस्कृतियों के निर्मिति की प्रक्रिया एक समान होती है। संस्कृति के विभिन्न घटक हैं जैसे- रहन- सहन, रीति- रिवाज, पहनावा- फैशन, खान- पान, उत्सव- त्यौहार, लोक- कथाएँ, लोक- गीत आदि वाह्य जीवन शैलियाँ। इनके अतिरिक्त संस्कृति की एक आंतरिक एवं सतह के भीतर संरचित बौद्धिक आयाम भी है जो इन बाह्य पक्षों को आधार प्रदान किये रहता है। यह संस्कृति का अपना दर्शन, चिंतन, मिथक एवं मानस पक्ष होता है। यही संस्कृति की आत्मा(*स्पिरिट ऑफ कल्चर*) है। यहाँ ध्यातव्य है कि संरचनावाद तत्त्वमीमांसा में सुचिंतित आत्म- तत्त्व को नहीं स्वीकार करता है। बल्कि, इसकी मान्यताओं के अनुरूप संस्कृति ही आत्म- तत्त्व के मिथकीय संरचना के लिए जिम्मेदार है। इसी से आत्मा जैसे या आत्मा- केन्द्रित चिन्तन- परम्परा की प्रक्रिया बनती चली आती है। ऐसे में यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि यह समझ लिया जाय कि सांस्कृतिक संरचनावाद क्या है? इसके लिए फ्रांसीसी संरचनावादी चिन्तकक्लॉड लेवी- स्ट्रॉस के विचारों को विवेचित करना अत्यन्त समीचीन होगा। स्ट्रॉस ने स्वीस भाषा वैज्ञानिक फर्दिनान्द द सॉस्यूर के भाषा वैज्ञानिक (*लिंग्विस्टिक्स*) एवं प्रतीक विज्ञान (*सेमियोटिक्स*) से गहरे रूप से प्रभावित था। उसने उन पद्धतियों का प्रयोग संस्कृति अध्ययन के लिए किया। यही कारण है कि स्ट्रॉस के संरचनावादी विचारों को सांस्कृतिक संरचनावाद (*कल्चरल सट्रक्चरलिज्म*) के रूप में जाना जाता है। स्ट्रॉस के अतिरिक्त इस कार्य को रोलैंड बार्थेस ने भी समर्थन दिया तथा सैद्धान्तिक पोषण प्रदान किया।

लेवी- स्ट्रॉस का मानना है कि भाषा, प्रतीकों एवं अर्थो केनिर्माण के पीछे संस्कृति का हाथ है। जैसे हम किसी समाज में व्यवहारों के सतत अभ्यास एवं प्रयोग से मिथकों की संरचना कर डालते हैं और यह मिथक एक सत्य के रूप में जाना जाने लगता है। इसके निर्माण की प्रक्रिया में हमारे मस्तिष्क के सांस्कृतिक संरचनावादी कारक काम करते हैं और हम इसे एक अर्थ देकर जो विभिन्नप्रतीकों की सहायता से प्राप्त होता है, संरचित कर लेते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि पश्चिमी ज्ञानमीमांसावादियों नेज्ञान के निर्माण के संयोजनकर्ता के रूप में एक चेतनशील केन्द्र 'आत्मा'(*सोल* या *माइन्ड*) को स्वीकार कर लेते हैं। परंतु, सांस्कृतिक संरचनावादियों के लिए चेतना का यह केन्द्र एकमिथकीय संरचना है जो प्रकृतितः सांस्कृतिक उत्पाद है जिसे कई बार ज्ञान के संयोजकत्वकारी भूमिका में खड़ा कर देते हैं। वस्तुतः यह विभिन्नसांस्कृतिक प्रतीकार्थोका समुच्चय है। यही नहीं, सांस्कृतिक उत्पादों या घटकोंके अध्ययन के सन्दर्भ में स्ट्रॉस ने यह पहचान करने का प्रयास किया और पाया कि सांस्कृतिक भिन्नता प्राकृतिक भिन्नताओं से प्रादुर्भूत होते हैं।

स्ट्रॉस विवाह- पद्धति, मिथक- रचना, टोटमवाद की मान्यताओं एवं जाति- प्रथाजैसी सामाजिक एवं सांस्कृतिक, परिघटनाओं की व्याख्या संरचनावादी प्रविधियों के द्वारा करने का प्रयास करते हैं। इनके विश्लेषण हेतु समानता एवं विपरीतता के अभिज्ञान हेतु तुलना, समन्वय एवं क्रमिकता को आधार बनाकर इनके निर्माणक घटकों एवं अर्थपूर्ण अभ्यास एवं व्यवहारों के अध्ययन पर बल देते हैं। उनका मानना है कि सांस्कृतिक घटकों के प्रतीक रूपों की बारंबारता एवं व्यवहार्यता ही उन्हें अर्थवत्ता प्रदान करती हैं जिससे भाषा की इकाई के प्रतीक एवं ध्वनि रूप (*फोनिम्स*) अर्थ वहन करने लगते हैं एवं यही अर्थ लेकर संस्कृति संरचित होने लगती है। कई बार हम इनमें इस तरह से रत हो जाते हैं कि हमें यह पता भी नहीं चलता कि यह अर्थवत्ता हमारे ही अभ्यासों एवं व्यवहारों से संरचित हैं। इस प्रकार संरचना का विश्लेषण प्रस्तुत करते समय संस्कृति को तथा संस्कृति के अध्ययन के समय संरचनावाद की पद्धति को ध्यान में रखना अनिवार्य होता है।

2.2.2.3 सांस्कृतिक उत्तरसंरचनावाद

हमने संरचनावाद के उद्भव के इतिहास में यह भी देखा है कि उत्तरसंरचनावाद 1970 से धीरे-धीरे एवं 1980 के दशकों में तेजी से उभरे एक ऐसी दार्शनिक चिंतनधारा है जो अपने उग्र आलोचक दृष्टियों के रूप में जानी जाती है। उत्तरसंरचनावाद संरचनावाद का विरोधी इसलिए है कि संरचनावादी मान्यताओं को उग्रतापूर्वक लागू करना चाहता है। यह संरचनावाद की कुछ मान्यताओं को समीक्षित करके कतिपय अन्य उत्कट मान्यताओं के साथ प्रचलित हुआ। हालाँकि वर्तमान में इसे कभी उत्तरआधुनिकतावाद के रूप में भी जाना- समझा जाता है। आज संरचनावाद की तुलना में यह अधिक प्रचलन में है। इसके तीन प्रमुख विचारक रहे हैं- जैक्स देरिदा, जैक्स लैकन एवं मिशेल फूको। इन्होंने अपने- अपने रुझान के अनुसार उत्तरसंरचनावादी दृष्टियों की दिशा मोड़ दी। जैक्स देरिदा, मार्टिन हाईडेगर के संवृत्तिशास्त्र(*फेनोमेनोलॉजी*) से, मिसेल फूको की पृष्ठभूमि सामाजिक इतिहास की एवं लैकन फ्रायड के मनोविश्लेषण(*साइकोएनालिसिस*) से प्रभावित होकर अपने- अपने उत्तरसंरचनावाद को सैद्धांतिक पोषण प्रदान किया। अब उत्तरसंरचनावाद की कुछ प्रमुख मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है, जिसके आधार पर यह सांस्कृतिक अध्ययन को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। यह निम्नवत् है:

1. एक आत्म- तत्त्व (*सोल*) या विषयी या ज्ञाता या ज्ञान के केन्द्र (*सब्जेक्ट* या *नोवर* या *लोकस आफ नॉलेज*) का विखण्डन करना।
2. वाचक या लेखक को लेखन या वाचन के रूप में रूपान्तरण करना।
3. किसी अर्थ या परिकल्पना का किसी चिंतक के लिए तत्क्षण उपस्थित होने की स्थिति का खण्डन करना। इसे उपस्थिति की तत्त्वमीमांसा का निराकरण कहते हैं।
4. किसी परिघटना की उत्पत्ति के निरपेक्ष या आत्यन्तिक आधार की खोज या अपेक्षा का खण्डन करना।
5. किसी भी आधुनिक ज्ञान की सत्यता के सम्बन्ध में अंतिम होने की अवधारणा (द *कांसेप्ट ऑफ फाइनल ट्रूथ अबाउट मॉडर्न क्लेम आफ नॉलेज*) का खण्डन करना।

उपर्युक्त मान्यताओं से यह स्पष्ट है कि उत्तरसंरचनावाद तत्त्वमीमांसीय सत्ताओं के ज्ञान की आधारशीला को या तो मिथकीय मानते हैं या सापेक्ष सत्य। सभी सांस्कृतिक घटक इस बात से अर्थवान होते हैं कि उनकी संरचना के आधार किसी अंतिम सत्ता द्वारा नहीं निर्मित होते हैं। संस्कृति एवं उसके घटक सापेक्ष संरचनाएँ हैं जो विविध आधारों की अपेक्षा रखती हैं। संस्कृति ही जब निरपेक्ष नहीं है या एक संरचित संप्रत्ययों की सत्ता का समूहन है तो इनसे निर्मित मिथक या तत्त्वमीमांसीय सत्ताएँ कैसे सत्य हो सकती हैं? अतः एक सांस्कृतिक सत्ता के रूप में तत्त्वमीमांसा का खण्डन संरचनावाद एवं उत्तरसंरचनावाद का एकनिस्ठ प्रयोजन है।

2.2.3 संरचनावादी दृष्टिकोण/प्रविधि

संरचनावाद एवं उत्तरसंरचनावाद के उद्भव, ऐतिहासिक विकास एवं विस्तृत सैद्धांतिक विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट है कि यह एक ऐसा बौद्धिक आंदोलन था जो अपने स्वरूप एवं विशिष्टताओंके अनुरूप किसी परिघटना, मानव, समाज एवं संस्कृति के अध्ययन हेतु अपनी दृष्टि या विधि का प्रयोग करता है। संरचनावादी दृष्टिकोण या अध्ययन निम्न प्रकार की विधियों का प्रयोग कर सांस्कृतिक उत्पादों का विवेचन प्रस्तुत करता है:

1. भाषा विज्ञान की विधि (*मेथड आफ लिंग्विस्टिक्स*)
2. प्रतीक विज्ञान की विधि (*मेथड ऑफ सेमियोटिक्स*)
3. अर्थ विज्ञान की विधि (*मेथड ऑफ सेमांटिक्स*)
4. समानताओं हेतु तुलना विधि (*कम्परेटिव मेथड फॉर सिमिलरीटीज*)
5. विपरीत युग्मों की द्वि- आधारी विधि (*मेथड ऑफ द बायनरीज ऑफ अपोजिट्स*)
6. समन्वयार्थ रूपान्तरण की विधि (*मेथड ऑफ ट्रांसफार्मेशन फॉर रिकॉन्सिलिएशन*)

हालांकि संरचनावाद की यह उपर्युक्त विधियाँ सम्मिलित रूप से न केवल संस्कृति अपितु किसी भी परिघटना का विश्लेषण एवं अध्ययन करती हैं। भाषा विज्ञान की आधारभूमि पर अवस्थित होकर संरचनावादी विधि के अन्तर्गत सभी प्रकार की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिघटनाओं के अध्ययन को जो सक्षम बनाता है। वह है, अर्थ विज्ञान। यही संरचना का आधार है। यह जिस विशेषण को व्याप्त करता है, वह एक जटिल संजाल का कार्य होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि संस्कृति के किसी घटक या मानव- व्यवहार का कोई अर्थ है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह एक नियमों के तंत्र (*सिस्टम ऑफ लॉज*) है जो इस अर्थ को संभव

कर पाता है। इसे हम एक अर्थ विज्ञान का विधान (*नोमोलॉजी ऑफ सेमांटिक्स*) कह सकते हैं। जिस प्रकार कोई भाषा, उदाहरणार्थ हिंदी, भाषा के नियम, ध्वनि या अक्षर को नियमबद्ध कर तथा व्याकरण के नियमों से सार्थक उच्चारण एवं अन्ततः एक सार्थक पद एवं वाक्य का गठन करते है, उसी प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक परिघटनाएँ जैसे विवाह, उत्सव आदि को सार्थक बनाने के लिए सांस्कृतिक नियमों की आवश्यकता होती है, अतः इस अर्थ में सांस्कृतिक घटनाएँ एक प्रतीक व्यवस्था के नियम- तंत्र से संरचित हो जाती है।

2.3 भारत: स्वरूप एवं अवधारणा

संरचनावाद के सम्बन्ध में एक व्यापक विवेचना के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया है कि विमर्श की पश्चिमी विधि के रूप में इसे एक ऐसे बौद्धिक आंदोलन के रूप में प्रचारित किया गया था कि इस विधि के प्रयोग से किसी भी अनुशासन विशेष कर मानव एवं समाज विज्ञान में निर्दिष्ट संस्कृति के गहरे रहस्य के यथार्थ स्वरूप का पता लगाया जा सकेगा। उनके भीतर अवस्थित गहरी संरचनाओं की पहचान एवं उनका विश्लेषणात्मक चित्रण किया जा सकता है क्योंकि संरचनावाद के दावे अनुभववाद, प्रत्यक्षवाद एवं अस्तित्ववाद के विरुद्ध था। फ्रांसीसी चिंतकों के द्वारा बीसवीं सदी के मध्य में चलाए गए इस बौद्धिक प्रयास ने प्राच्य संस्कृतियों के रहस्यात्मकताको उद्घाटित करने के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किए। उन संरचनावादी प्राचीन निरूपणों में भारतीय संस्कृति एवं भारत का भी चित्रण प्रस्तुत किया जाता रहा है। संरचनावादी दृष्टियों में भारत का चित्रण कैसा रहा है, इसे जानने से पूर्व हम भारत का स्वरूप जो प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक व्याप्त रहा है और जो उसकी अवधारणा का निर्माण करता है उसे जान लेते हैं ताकि संरचनावादी दृष्टियों में भारत के सम्बन्ध में उपस्थापित विचारों की वास्तविकताओं एवं दावे का परीक्षण किया जा सके।

2.3.1 भारत: नामकरण एवं अवधारणा

भारत का यह नामधेय 'भारत' कैसे पड़ा इस पर शास्त्रों में कई प्रकार के वर्णन प्राप्त है। भारतीय विद्वानों का शास्त्रसम्मत विचार है कि आर्यों के मूल निवास स्थान को ही भारत कहा गया। यही वैदिक संस्कृति का उत्सरहा और ऋग्वेद आदि शास्त्रों का ऋषियों ने साक्षात्कार (अनुभव) करके संकलन किया अर्थात् निर्माण किया। ऋग्वेद आदि शास्त्रों में जिन भौगोलिक स्थितियों का वर्णन है वह भूगर्भ विज्ञान एवं शास्त्रविदों के अनुसार अनुमानत: आज से लगभग 25000 से लेकर 50000 वर्ष पूर्व तक जाता है। यदि ऐसा ही है तो यह भारत की सनातनता का यह स्पष्ट परिचय देता है। महाभारत में भी आर्यों के आदि निवास स्थान भारतवर्ष को ही माना गया है, जो निम्नवत् यथोक्त है:

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः ।
अर्धयोजन विस्तारः पञ्चयोजनमायत:।।

परिमण्डलयोर्मध्ये मेरूरूत्तम पर्वत:।
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रुयते भारतवर्षभ।।

अर्थात् संसार में पवित्र हिमालय विख्यात है। इसमें आधा योजन चौड़ा, पाँच योजन परिधि (घेरे) वाला मेरू उत्तम पर्वत है, जहां पर सभी मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं ऐरावती, वितस्ता,

विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ प्रवाहित होती हैं। यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए और इसे (इस स्थान को) ही भारत वर्ष के रूप में सुना जाता है।

'हिमालयातसमारभ्य यावदिन्दू सरोवरम्। तं देव निर्मितं देशं हिन्दूस्थानं प्रचक्षते।।'इसी आर्यावर्त यानी हिमालय से लेकर इन्दू सरोवर (हिन्द महासागर) तक पहले देवनिर्मित भूमि (देश) को हिन्दुओं का निवास स्थान भी कहा कहा गया। अर्थात् आर्यावर्त ही हिन्दू का वास स्थान था। इस हिन्दुओं के निवास स्थान का नाम आर्यावर्त से भारतवर्ष कब से एवं कैसे पड़ा, इसका एक निश्चित वर्णन नहीं प्राप्त होता, क्योंकि इसकी सनातनता ही इसके कई संदर्भों को रेखांकित करती है। जैसे, यह वैदिक नामधेय हो सकता है। लेकिन, इतना तो अवश्य ही पुष्ट है कि यह किसी प्रतापी राजा या महर्षि भरत के नाम से भारत के रूप में प्रसिद्ध हुआ। शास्त्रों में इसके चार उल्लेख प्राप्त होते हैं। एक भरत ऋग्वेद में वर्णित जैन धर्म के आदि/प्रथम प्रवर्तक ऋषभनाथ के प्रतापी सुपुत्र भरत हुए (भरत: श्री ऋषभसूनु:)। अग्नि पुराण के अनुसार, (श्री ऋषभाद्भरतोऽभवत्) ऋषभ से भरत हुए। दूसरे भरत साकेत नरेश दशरथ के पुत्र एवं राम के भाई भरत हुए (भरत: श्री दशरथस्य कैकेयामुत्पन्न: श्री रामस्यानुज:)। तीसरे भरत चन्द्रवंशी दुष्यंत पुत्र भरत हैं (भरत: दुष्यंतपुत्र: चन्द्रवंश्य:)। महाभारत के आदिपर्व में लिखित है-

दुष्यंतस्तु तथा राजा पुत्रं शकुंतलमं तथा।
भरत: नामत: कृत्वा यवराजयेऽभ्यषेचवत्।।

चौथे भरत नाट्यशास्त्रके रचनाकार भरतमुनि हुए थे (नाट्यशास्त्र प्रवक्तां मुर्निभरत:)। नाट्शास्त्र में भरत मुनि के सम्बन्ध में कहा गया है:तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनि:। अब यहाँ प्रश्न यह है कि किस भरत के नाम पर भारत देश का नाम पड़ा? यह महत्त्वपूर्ण बात ध्यातव्य है कि ऋग्वेद के प्रख्यात भाष्यकार सायण ने ऋषभ पुत्र भरत को ही भारत नामधेय हेतु अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् एवं भारतीय संस्कृतविद् प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल ने भी अपने शोधों से स्पष्ट किया है कि 'नाभि' के पुत्र ऋषभ थे जो जैन धर्म के आदि प्रवर्तक थे और उनके पुत्र भरत थे जिन्हें अपना राज्य सौंपकर उन्होंने प्रव्रज्या ले ली थी। और इसी ऋषभ के प्रतापी सुपुत्र भरत के नाम पर इस आर्यावर्त का आगे चलकर भारत नाम पड़ा। अब भारत नामकरण वाला यह देश पहले से चला आ रहा था। इस प्रकार यह भारत के सनातन होने की प्रमाणिकता की गाथा को प्रस्तुत करता है। यह भारत नाम तो अत्यंत प्राचीन हुआ, जो अन्य कई देशों को भी अपने भौगोलिक सीमा में सम्मिलित करके अखण्ड राष्ट्र के नाम से जाना जाता था। इसकी भौगोलिक सीमा में सम्मिलित भू- भागों के नाम हैं- अफगानिस्तान, पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, तिब्बत, बांग्लादेश, वर्मा, इंडोनेशिया, मलेशिया, वियतनाम, कंबोडिया, जावा, सुमात्रा, मालद्वीप तथा अन्य छोटे- बड़े द्वीप जो आज स्वतंत्र देश बन चुके हैं। भारतीय ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता से 1947 ईस्वी में भारत से पाकिस्तान एवं बांग्लादेश भी स्वतंत्र हो गए। बाकी सभी तो पहले ही आज के भारत (*दैट इज इण्डिया*) से पृथक् अस्तित्व में आ चुके थे। इस प्रकार आज भारत अपने प्राचीन भौगोलिक सीमा को छोड़कर जिसे अखण्ड भारत कहा जाता था, वह बहुत ही सीमित क्षेत्र वाला राष्ट्र बन गया है।

पुनश्च,जब हम 'भारत के चित्रण' नामक पदबन्ध का प्रयोग करते हैं तो इससे ध्वनित अर्थ भारत का न केवल भूगोल, बल्कि व्यापक अर्थों में हम उसके इतिहास, समाज एवं संस्कृति को समझने का प्रयास करते हैं, क्योंकि संस्कृति पद के अन्तर्गत भारत की भौगोलिक सीमा एवं उसके बाह्य एवं आंतरिक सांस्कृतिक विरासत सब कुछ समाहित हो जाता है।

2.3.2 भारत के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय

भारत के स्वरूप एवं अवधारणा से परिचय के क्रम में सर्वप्रथम उन तत्त्वों को रेखांकित करना आवश्यक है जिनको केन्द्र में रखकर भारत का संरचनावादी चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। किसी भी संस्कृति के दो पक्ष होते हैं- एक बाह्य एवं दूसरा आंतरिक। बाह्य पक्ष से तात्पर्य संस्कृति के दृश्य कार्यों एवं व्यवहारों आदि से है, जैसे रहन- सहन, पोशाक, पहनावा, खानपान, भाषा- बोली, उत्सव- त्यौहार आदि। इन दृश्य परिघटनाओं एवं कार्यों के पीछे या आधार के रूप में उस संस्कृति का धर्म, दर्शन, चिंतन- परम्परा, मिथक, तर्क, विज्ञान, लेखन, साहित्य एवं अन्य बौद्धिक उत्पाद जो आंतरिक पक्ष के रूप में रहते हुए बाह्य पक्ष के उत्पादों, सुख- समृद्धि, विकास के नए मानदंडों, आदि को एकनिष्ठ सम्बन्धों के द्वारा जोड़कर संस्कृति की गति को निरन्तरता प्रदान करते हैं।

भारत एक ऐसे ही सनातन संस्कृति वाले जीवंत राष्ट्र का नाम है। इसके सांस्कृतिक भूगोल, इतिहास, राजनीति, दर्शन एवं ज्ञान- विज्ञान इसे पूरी दुनिया में विलक्षण बनाते हैं। यहाँ की संस्कृति सिंधु घाटी सभ्यता के क्रोड से निकलकर सनातन वैदिक संस्कृति के रूप में विकसित हुई। वैदिक संस्कृति से ब्राह्मण परम्परा की शुरुआत हुई और इसमें वेद, उपनिषद्, षड्- दर्शन, पुराण, महाकाव्य की चिंतनधाराएँ, आदि विकसित हुईं। ब्राह्मण संस्कृति के प्रतिपक्ष के रूप में श्रमण संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें बौद्ध, जैन, चार्वाक एवं आजीवक संप्रदाय के चिंतन हुए एवं इनकी अपनी संस्कृति विकसित हुईं। परंतु, इन दोनों संस्कृतियों के सह- अस्तित्व या सहभाव से प्राचीन भारत की एक समग्र एवं अखण्ड संस्कृति (*होलिस्टिक एण्ड इन्टिग्रल कल्चर ऑफ एन्सियन्ट भारत*) विकसित हुई। दुनिया की सर्वाधिक प्राचीनतम संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति का भी एक स्थान है। मध्ययुग के आगमन के साथ ही यहाँ की संस्कृतियों में बाहर से ईसाई, पारसी, यहूदी एवं इस्लाम का भी आगमन हुआ और यहां आकर वे भी भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गयीं। मध्य- युग के उपरांत औपनिवेशिक काल में पश्चिम की संस्कृतियों का संक्रमण हुआ और इसी काल के बाद से भारत के सम्बन्ध में संरचनावादी चित्रण की एक संगठित शुरुआत हो गयी। संरचनावादी प्रस्तुतियों में भारत को ऐसा दिखाया गया जो यह नहीं है। ऐसे में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों की संक्षिप्त रूपरेखा एवं उसकी विशेषताओं से परिचित होना अनिवार्य है।

2.3.3 भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व एवं उसकी मान्यताएँ

वैसे तो प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक यदि भारतीय संस्कृति के तत्त्वों पर विचार किया जाए तो इसकी व्यापकता का विवरण इस अध्ययन योजना के वितान की सीमा से बाहर हो जाएगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति की सनातनता एवं नैरंतर्य का विकास सिंधु घाटी की सभ्यता एवं संस्कृति से प्रारंभ होकर (हालाँकि भारतीय प्राचीन मनीषा की मानें तो यह संस्कृति स्वयं को सृष्टिकाल से ही साभीप्राय प्रादुर्भूत मानती है।) वैदिक संस्कृति, जैन एवं बुद्धकालीन संस्कृति, मौर्यकालीन संस्कृति, कुशाण- शुंग- सातवाहन कालीन संस्कृति, गुप्तकालीन संस्कृति, पल्लवकालीन संस्कृति, चोल कालीन संस्कृति, राजपूत कालीन संस्कृति, सल्तनत कालीन संस्कृति, विजयनगर साम्राज्य की संस्कृति, मुगलकालीन संस्कृति, ब्रिटिश औपनिवेशिक काल की संक्रमणीय संस्कृति से होते हुए वर्तमान में स्वातंत्र्योत्तर अद्यतन भारत की संस्कृति तक है। इन सबके विशेषताओं एवं मूलतत्त्वों की एक उभयनिष्ठ एवं भारतीय संस्कृति के सातत्यको प्रकाशित करने वाली सूचीप्रस्तुत की जा सकती है जिसके आधार पर हम भारत के

एक सकारात्मक, जीवंत एवं प्रतिनिधि स्वरूप को उपस्थापित कर पाने में सक्षम होंगे।

ये विशेषताएँ एवं मान्यताएँ निम्नवत् हैं:

1. **सनातन एवं गतिशील-** भारतीय संस्कृति सनातन है। ब्राह्मण परम्परा के पुरातन होना इसका प्रमाण है। बौद्ध धर्म में भी 'एस्स धम्मो सनन्तनो' ने भी इसका समर्थन किया। प्रासंगिकता एवं प्रगतिशीलता ही इस संस्कृति को सदैव गतिशील बनाए रखती हैं।
2. **उत्सव- प्रियता-** यह भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। यहाँ वर्षपर्यन्त त्योहार मनाए जाते है।
3. **योग एवं आध्यात्म-** आज भारतीय संस्कृति की इस विशेषता की मान्यता संपूर्ण विश्व में मिल रही है। भारत की यह सनातन खोज महर्षियों एवं मुनियों द्वारा प्रतिपादित होकर संपूर्ण संसार में स्वीकृत हो चुकी है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी अन्तरराष्ट्रीय योग दिवस (21 जून) को प्रत्येक वर्ष मनाने हेतु प्रतिबद्ध है।
4. **षोडष संस्कार-** भारतीय संस्कृति की अनूठी पहचान इसके सोलहसंस्कारों से मिलती है विशेषकर हिन्दू जीवन पद्धति में इसका अत्यंत महत्त्व है। स्त्री के गर्भधारण से लेकर व्यक्ति के जीवन के अंतिम संस्कार तक इनका विस्तार एक व्यापक हिन्दू जीवन शैली का परिचय देता है। यह क्रमशः**(क)** गर्भाधान संस्कार**(ख)** पुंसवन संस्कार**(ग)** सीमन्तोनयन संस्कार **(घ)** जातकर्म संस्कार**(ड.)** नामकरण संस्कार)**च)** निष्क्रमण संस्कार**(छ)** अन्नप्राशन संस्कार**(ज)** मुंडन संस्कार**(ञ)** कर्णवेधन संस्कार**(ट)** उपनयन संस्कार **(ठ)** विद्यारंभ संस्कार **(ड)** केशान्त संस्कार **(ण)**समावर्तन संस्कार **(त)**विवाह संस्कार **(थ)** विवाह अग्नि संस्कार**(द)** अंत्येष्टि संस्कार।
5. **पुरुषार्थ चतुष्टय-** भारतीय जीवन शैली में व्यक्तियों के लिए श्रेय एवं प्रेय कर्तव्यों के संपन्न करने के उद्देश्यों को इन्हीं चार पुरुषार्थों के रूप में चिन्हित किया गया है, जो क्रमशः धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष हैं।
6. **वर्णाश्रम एवं जाति व्यवस्था-** वर्णों की संख्या चार बताई गई है- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। ये चार वर्ण सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए प्राचीन भारत में बनाए गए थे जो आज के वर्तमान में उपघटित होकर हजारों जातियों में बँट चुके हैं। इनके अतिरिक्त व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन को सम्यक् तरीके से जीने के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था भी है जो क्रमशः हैं- ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं संन्यास आश्रम। यह प्रत्येक 25- 25 वर्षों के काल खण्डोंमें 100 वर्षों की व्यक्ति की जीवन- प्रत्याशा मानकर बनाया गया है। यह प्राचीन भारत के जीवन प्रबन्धन का एक सुंदर उदाहरण है।
7. **लोक- संस्कृति एवं लोक- जीवन-** भारतीय संस्कृति वैविध्यपूर्ण है। ग्राम संस्कृति नगरीय संस्कृति से भिन्न एवं कतिपय अर्थों में एक दूसरे की पूरक एवं सहज लोक व्यवहारों पर आधारित जीवन शैली के रूप में रूपान्तरित एवं विकसित होती रही हैं। यह आंचलिक संस्कृति भारतीय संस्कृति को समग्रता प्रदान करने में मदद करती है।
8. **कर्म एवं कर्म- फल नियम की मान्यताएँ-** भारतीय संस्कृति तीन प्रकार के कर्मों से सम्बन्धित कर्म- फल नियम को प्रस्तावित करती है जो क्रमशः संचित, प्रारब्ध एवं संचीयमानके रूप में व्यक्ति के भूत, वर्तमान एवं भविष्य जीवन के कर्म फलों से सम्बन्ध

रखते हैं। इस व्याख्या को समीचीन बनाने के लिए भारतीय मनीषा ने पुनर्जन्म की अवधारणा की संकल्पना दी है। इसके अतिरिक्त नैतिकता की पूर्व- मान्यताओं के रूप में तीन शर्तों को माना गया है, जो हैं- संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता एवं ईश्वर का अस्तित्व। इस तरह के तत्त्वमीमांसीय विचार भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के व्यापक तार्किक रूप में प्रस्तुत होने के उदाहरण हैं।

9. **तत्त्वमीमांसीय मान्यताएँ-** यह तत्त्वमीमांसीय विचार भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की केंद्रीय चिंतन धारा है इन्हें निम्नवत्प्रस्तुत किया गया है:

   क) नित्य एवं अजर- अमर आत्मा के अस्तित्व में विश्वास।

   ख) ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास। भारतीय संस्कृति बहुदेवाद एवं अवतारवाद में भी विश्वास रखती है।

   ग) पुनर्जन्म की संकल्पना में विश्वास। आत्मा की अमरता एवं कर्मफल नियम को सुसंगत बनाने के लिए भारतीय दर्शन इस अवधारणा को मान्यता प्रदान करता है।

   घ) परलोक (स्वर्ग, नरकादि) में विश्वास। भारतीय संस्कृति की एक सुंदर संकल्पना मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध में भी है जो जीवन में कृत कर्मों के पारितोषिक के रूप में इसेमर्त्य- लोक के अतिरिक्त अन्य लोकों में व्यक्ति का जीवन चलता रहता है।

   ङ) भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों में से एक- मोक्ष या निर्वाण या कैवल्य की अवधारणा है। यह परम पुरुषार्थ है और व्यक्ति के जीवन का चरम लक्ष्य है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् व्यक्ति जन्म- मरण या आवागमन के चक्र से सदा- सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है।

उपर्युक्त भारतीय संस्कृति की तत्त्वमीमांसीय संकल्पनाएँ अत्यंत परा- बौद्धिक चिंतन एवं अपरोक्षनुभूति के विषय हैं। हालाँकि पाश्चात्य विमर्श की संरचनावादी चिंतन इस भारतीय तत्त्वमीमांसीय चिंतनधारा की घोर आलोचना करती है।

2.4 संरचनावादी दृष्टियों में भारत का चित्रण

अब तक हमने इस इकाई की अध्ययन योजना के अनुसार संरचनावाद के उद्भव, सैद्धांतिक विकास एवं उसकी प्रविधि पर विस्तार से विचार किया है। इसके अतिरिक्त भारत का स्वरूप एवं अवधारणा तथा इसकी संस्कृतिक मूल मान्यताओं को रेखांकित करने का भी प्रयास किया है। पूर्व के अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि संरचनावाद एक ऐसा बौद्धिक आंदोलन था जो पश्चिमी सभ्यता में बीसवीं शताब्दी के मध्य में उभरा था तथा अस्तित्ववादी- साम्यवादी विमर्शों को स्थानापन्न करने के लिए आया था। यह भाषा- वैज्ञानिक, प्रतीकों एवं अपने स्वान्तर्भूत प्रविधियों के बल पर एवं अपने अन्तर्अनुशासनात्मक प्रतिबद्धताओं के सहारे संस्कृति अध्ययन का दावा करता है। इस बौद्धिक विमर्श ने पूरी दुनिया की संस्कृतियों को समझने एवं उनकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का एक प्रयास भी किया है। उसी क्रम में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने अपने विमर्शों में भारत की संस्कृति पर अपने आक्रामक विचार रखते हुए इसकी समीक्षा करने पर बल दिया है। इस प्रकार इस उपशिर्षक के अन्तर्गत हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि भारतीय संस्कृति को संरचनावादी दृष्टियों में कैसे चित्रित किया गया है?

संरचनावादी विचारकों ने भारतीय संस्कृति को चित्रित करने के लिए दो प्रकार के संरचनावादी

धाराओं का सहारा लिया है। पहला है- प्राच्यवादी संरचनावाद तथा दूसरा है- भाषाई संरचनावाद। भारत के चित्रण में वस्तुतः संरचनावाद भारतीय संस्कृति के उन सभी सामान्य विशेषताओं पर अपना ध्यान केंद्रित करता है जिसका हमने पूर्व में अवलोकन किया है। हम सर्वप्रथम भारत के सम्बन्ध में प्राच्यवादी संरचनावादी दृष्टिकोण को चिन्हित करते हैं।

2.4.1 प्राच्यवादी संरचनावाद में 'भारत'

प्राच्यवादी संरचनावाद का उदय पश्चिम (या *यूरोप*) की सभ्यता एवं संस्कृति में हुआ। इसका मुख्य केन्द्र फ्रांस एवं ब्रिटेन रहा। इसके लिए फ्रांस की नस्लीय श्रेष्ठतावाद एवं प्रभुत्ववाद तथा ब्रिटिश उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद प्रमुख रूप से जिम्मेदार हैं। 1978 ई0 में प्रकाशित एडवर्ड सईद की पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* में सर्वप्रथम प्राच्यवादी संरचनावाद के प्रविधियों पर प्रकाश डाला गया और यह बतलाने का प्रयास हुआ कि पश्चिमी संस्कृतियों की तुलना में पूरब की संस्कृतियाँ अविकसित, कुत्सित एवं हेय हैं। इन प्रयासों में देवभूमि भारत को भी लक्षित किया गया एवं यहाँ के लोक- जीवन, ग्रामीण संस्कृति, अध्यात्म, समाज- व्यवस्था, जीवन शैली आदि को लेकर पेंटिंग, मूर्तिकला, साहित्य के द्वारा एक कल्पित एवं मिथ्या दृष्टि बनाई गई। इस प्रकार भारत का एक निषेधात्मक चित्रण किया गया। पश्चिमी संस्कृति का यह अहंकार बहुत पुराना रहा है, परंतु अठारहवीं शताब्दी के बाद का पश्चिम अपने नए स्वरूप में एवं आधुनिकता के उदय के साथ ही इसे प्रचुरता में संगठित करके पूरे विश्व में प्रदर्शित करने का प्रयास किया। वास्तव में देखा जाए तो यूनानी चिंतन से जन्मी पश्चिम की संस्कृति रोमन संस्कृति के साथ पल्लवित- पुष्पित होकर चौदहवीं सदी तक ईसाइयत के प्रभाव में रहे मध्ययुगीन अंधकार से निकलकर पंद्रहवीं सदी के पुनर्जागरण से होते हुए जब आधुनिक युग में प्रवेश की तो सोलहवीं सदी से लेकर अठाहरवीं सदी के बीच यूरोप सहित पूरे पश्चिम में तर्क, प्रयोगधर्मी विज्ञान और औद्योगीकरण के उदय होने से विकास की एक भौतिकवादी धारा का प्रवाह हुआ जिसमें मदोन्मत्त अहंकार, झूठी श्रेष्ठतावाद, नस्लवाद, प्रभुत्वाद, साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद एवं वैश्विक शोषण हेतु आकण्ठ स्वार्थवाद का भी जन्म हुआ। इन्हीं नकारात्मक अभीप्पासाओं को केन्द्र में रखकर संपूर्ण प्राच्य संस्कृतियों का पश्चिम ने निषेध चित्रण प्रारंभ किया। प्राच्यवाद के नाम पर भारतीय उपनिवेश को अपने अधीन करके लंबे समय लगभग दो शताब्दियों तक शोषण का शिकार बनाया गया।

फ्रांसीसी राष्ट्रवादी विचारक जोसेफ अर्नेस्ट रेनन के विचारों में उनके पक्षपातपूर्ण संरचनाओं में भारत सहित पूरी पूर्वी संस्कृति एक असभ्यों के समाज वाली संस्कृति थी। फ्रांसीसी कलाकारों में जैसे, जेरोम की पेंटिंग के आधार पर इसे सपेरों (*स्नेक चार्मर्स*) का देश, अन्यचित्रणों में कालीन विक्रेताओं, भारत के ग्राम्य संस्कृति के सम्बन्ध में हुए पेंटींग के द्वारा घूंघट वाली महिलाओं, मूर्तिकलाओं में उकेरितमूर्ति- चित्रों एवं गुफा चित्रों के आधार पर भारतीय महिलाओं की नग्नता एवं स्त्रैण पुरुषों वाले संस्कृति के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ के कुछेक यायावरी प्रजातियों को देखकर नटो का देश कहकर संबोधित किया गया। कुछ कलाकारों एवं विदेशी पर्यटकों के यात्रा- वृतांतों के आधार पर फ्रांस, ब्रिटेन एवं अमेरिकी इतिहासकारों ने तथा बाद में संरचनावादी आंदोलन की शुरुआत के साथ ही संस्कृतिविदों ने भारत का ऐसा चित्र संरचित किया जिसमें उन प्रतीकों को केन्द्र में रखकर आगमनात्मक अर्थनिरूपण का सहारा लिया गया जो कतई वास्तविक नहीं था और इन्हें भारत की प्रतिनिधानात्मक सांस्कृतिक चित्रण का रूप देने का प्रयास हुआ। इन्हें असभ्य, अविकसित एवं अलोकतांत्रिक करार देकर इन पर शासन की वकालत की गयी। इतना ही नहीं, अपितु इन्हें

शिक्षित करके यूरोपीय या पश्चिमीसंस्कृति का अनुगामी बनाने की वकालत की गई। भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा एवं उसके मूलतत्त्वों की अनदेखी की गई एवं एक परिकल्पित संरचना के आधार पर भारत का निषेधात्मक चरित्र गढ़ा गया जो प्राच्यवादी संरचनाओं का कुत्सित परिणाम था।

2.4.2 भाषाई एवं सांस्कृतिक संरचनावाद में 'भारत'

भारत के बाह्य पक्षों में संरचनावादी चित्रण के पश्चात् यह भी आवश्यक है कि इस बात का अभिज्ञान हो कि कैसे पश्चिमी संस्कृति भारतीय संस्कृति के आभ्यांतरिक पक्षों की प्रस्तुति करती है। हम देखेंगे कि यहां भी पश्चिमी संस्कृति भारत के दर्शन, चिंतन एवं सांस्कृतिक विश्वासों एवं मान्यताओं पर तीखी प्रतिक्रिया के साथ इसका उपहास उड़ाती है। जैसा कि हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि संरचनावाद अपने वैचारिक प्रतिबद्धताओं के अनुसार किसी भी तत्त्वमीमांसीय उपस्थिति का खण्डन करता है। इसके अनुसार किसी निरपेक्ष सत्ता, ज्ञान के संयोजन के रूप में क कर्त्तापन (*एजेंसी*) के बोध, किसी परिघटना के सतह के नीचे किसी अज्ञात आत्यन्तिक या परम सत्ताकी खोज एवं अंतिम ज्ञात सत्य का खण्डन करता है। यह वाचक के मिथकता को भी नकारता है एवं इसे वाचन के रूप में रूपान्तरित कर देता है। इस प्रकार संरचनावादी अपने कसौटियों से भारत के दर्शन एवं चिंतन परम्परा में प्रचलित तत्त्वमीमांसीय विचारों का खण्डन करता है।

भारतीय संस्कृति के दार्शनिक चिंतन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा के केन्द्र में अवस्थित आत्मा या ज्ञाता या कर्त्ता को एक अनिवार्य सत्ता के रूप में माना गया है। लेवी-स्ट्रास का संस्कृतिक संरचनावाद एवं सॉस्यूर के भाषाई संरचनावाद की कसौटियों के आधार पर किसी भी आत्म- तत्त्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। संरचनावादियों एवं उत्तरसंरचनावादियों के अनुसार यह एक मिथकीयसत्ता है जो सांस्कृतिक प्रतीकों से निर्मित या संरचित हो जाता है। स्ट्रॉस सहित अन्य सभी संरचनावादियों ने विषयी के रूप में किसी संरचित सत्ता को नकारा है। इसे ज्ञान के संयोजक, कर्मों के कर्त्ता एवं नैतिक प्रत्ययों के मानदंड के रूप में नित्य आत्मा का खण्डन किया है। जैसा कि हम जानते हैं कि भारतीय दर्शन में आत्म- तत्त्व दार्शनिक चिंतन की आत्मा (*स्पिरिट ऑफ फिलॉसफी*) है। ऐसे में संरचनावादियों द्वारा इसके विरुद्ध तर्क उपस्थापित करना और इसे मिथक मानना भारतीय संस्कृति के मूल चरित्र का आपलाप करना हुआ। चूँकि आत्मा की अमरता एवं नित्यता के अस्तित्वबोधकता से तर्कत: आपादित पुनर्जन्म का सिद्धांत भी भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के मूलधाराओं में से एक है जो कर्म- नियम एवं कर्म- फल के सिद्धांत को तार्किक रूप से प्रतिफलित करता है, इसका भी संरचनावादी कसौटियों के आधार पर खण्डन हो जाता है। इस प्रकार संरचनावादी चित्रणों एवं व्याख्याओं द्वारा भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख सिद्धान्तों आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म में विश्वास का निराकरण हो जाता है। इसी के साथ भारतीय सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि मुक्ति या मोक्ष की अवधारणा का आधार सूत्र नित्य आत्मा की सत्ता ही है।

पुनश्च, स्वर्ग- नरकादि का विचार भी सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यों से ही प्रतिकीकृत होकर परलोक-इहलोक का द्वि- आधारी वैपरीत्य के रूप में अर्थ संरचित हो जाता है। किंतु, ऐसा विचार संरचनावाद के द्वि- आधारी अर्थवत्ता निर्माण की प्रक्रिया के अनुरूप है जो इस पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है। इसका हम अगले उपशिर्षक में मूल्यांकन करेंगे।भारतीय संस्कृति बहुदेववादी एवं अवतारवादी रही है। बहुदेववाद का प्रमाण ऋग्वैदिक देवताओं के उल्लेख से लेकर लोक-

संस्कृतियों में व्याप्त मान्यताओं में प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति के दो महाकाव्यों रामायण एवं महाभारत में तथा विभिन्न पौराणिक कथाओं में ईश्वर एवं उनके विभिन्न अवतारों की अवधारणा का विधान हुआ है। संरचनावाद इन्हे मानव- मस्तिष्क द्वारा संरचित सत्ता मानता है जो विभिन्न सांस्कृतिक मिथकीय प्रतीकों से बन जाते हैं। इस प्रकार यह भारतीय संस्कृति के रीढ़ कहे जाने वाले सिद्धांत- 'ईश्वर एवं अवतारवाद' की अवधारणा को पूरी तरह से विखंडित कर देता है।

2.4.3 संरचनावादी दृष्टिकोण में वर्ण, आश्रम एवं जाति के प्रत्यय

भारतीय संस्कृति के वर्ण, आश्रम व्यवस्था एवं जाति सम्बन्धी विचारों की मान्यता को पूरी दुनिया में सर्वाधिक निकारने का प्रयास किया गया है। संरचनावादी चिंतक भी इसे आज के परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक तत्त्व के रूप में इसकी सामाजिकता एवं प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं, क्योंकि संरचनावाद विशुद्ध अस्तित्व के स्थान पर सह- अस्तित्व को महत्त्व देता है और उनका मानना है कि भारतीय संस्कृति की इस मान्यता के अनुसार शांतिपूर्ण सह- अस्तित्व का सामाजिक जीवन असफल हो सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि संरचनावादी आंदोलनों से निर्मित तार्किक प्रणाली या विमर्श की पश्चिमी विधि भारतीय संस्कृति को नकारने का प्रयास करती है या तो इसका निषेधात्मक चित्रण प्रस्तुत करती है।

2.5 भारत के सम्बन्ध में संरचनावादी चित्रण का भारतीय प्रत्युत्तर

भारत के चित्रण के सम्बन्ध में संरचनावादी दृष्टिकोण को यदि पूर्वपक्ष माना जाए तो इसका भारतीय प्रत्युत्तर उत्तरपक्ष होगा। अब हम एक- एक करके संरचनावादी दृष्टियों में भारतीय संस्कृति के निषेधात्मक चित्रणों की प्रस्तुतियों का भारतीय दृष्टि से विखण्डन करेंगे।

सर्वप्रथम अगर हम प्राच्यवादी- संरचनावादी चित्रण को देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारत के सम्बन्ध में पेंटिंग, गुफा- चित्रों, पर्यटकों की यात्रा- वृतान्तों एवं साहित्यिक फंतासियों से गढ़ा गया चित्रण पक्षपातपूर्ण है। जिस पक्षपात रहित होने के नाम पर संरचनावादी आंदोलन की शुरुआत हुई थी वह फ्रांसीसी नस्लवादी श्रेष्ठता, ब्रिटिश साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद तथा संपूर्ण पश्चिमी संस्कृति के प्रभुत्ववाद की नकारात्मक एवं स्वार्थपरक कृत्यों का संजाल बनकर संपूर्ण पूर्वी सहित भारत की संस्कृति को अपने कुत्सित प्रयासों द्वारा विश्व- पटल पर कलंकित करने का काम किया। इसके अलावा जिस भारतीय उपादानों एवं उदाहरणों के द्वारा एक कल्पित भारतीय छवि की संरचना हुई वह भारत के मुख्यधारा की संस्कृति नहीं है, वह जरूर भारतीय लोक- संस्कृति के सबसे अंतिम व्यक्तियों के यायावरी संस्कृति का प्रतीक हो सकती है, लेकिन वह प्रतिनिधि भारतीय संस्कृति नहीं कहीं जा सकती। ऐसे में किसी विशेष दृष्टांत के द्वारा सामान्य निष्कर्ष निकालने पर कोई तर्क सामान्यीकरण या आगमनात्मकता के तर्कदोषों से ग्रसित हो जाता है। अतएव प्राच्यवादी संरचनावाद की दृष्टि में भारत का चित्रण एक काल्पनिक फंतासी से युक्त, पक्षपातपूर्ण एवं तर्कदोषों से दूषित चित्रण है जिसे कोई भी बौद्धिक व्यक्ति प्रथमदृष्टया नकार सकता है, जैसा कि एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* में भी दिखाने का एक सत्प्रयास किया है।

सांस्कृतिक संरचनावाद का दूसरा सबसे बड़ा आक्षेप भारतीय संस्कृति की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि को लेकर है जिसमें एक नित्य आत्मा का अस्तित्व एवं उसकी अमरता, ईश्वर की सत्ता में

विश्वास तथा लोक- परलोक की कल्पना के साथ ही बहुदेववाद, अवतारवाद में विश्वास आदि को लक्षित करके किया गया है। चूँकि संरचनावाद अपने सैद्धांतिक मान्यताओं एवं तार्किक प्रतिबद्धताओं के कारण तत्त्वमीमांसा को नकार देता है। इसके अनुसार आत्मा, ईश्वरादि जैसी समस्त सत्ताएँ सांस्कृतिक प्रतीकों के द्वारा मानव मस्तिष्क में सृजित होकर मिथक का रूप ले लेती हैं, जिनका वस्तु जगत् से कोई लेना- देना नहीं होता है। इन आक्षेपों का भारतीय दर्शन ने विस्तार से खण्डन करते हुए अपना पक्ष प्रस्तुत किया है। उन सबकी यहाँ प्रस्तुति आतिविस्तार के कारण संभव नहीं है, परंतु इतना आवश्य कहा जा सकता है कि यदि आत्म- तत्त्व की तात्त्विक मान्यता को नकार दिया जाय तो न केवल ज्ञान, नैतिकता एवं वैयक्तिक अनन्यता (*पर्सनल आईडेंटिटी*) की समस्या अवश्य उपस्थित हो जाएगी। इसका दूसरा भारतीय प्रत्युत्तर संरचनावाद की अपनी विखण्डनात्मक प्रविधियों को लेकर भी है, जो मिथकों की अधिरचना (*सुपरस्ट्रक्चर*) से सम्बन्धित है। यदि प्रतीकों के विज्ञान का कोई स्पष्ट एवं तार्किक नियमावली नहीं है तो केवल यह कह देने मात्र से सिद्ध नहीं हो जाता कि सांस्कृतिक प्रतीक ही मिथकीय संरचनाओं हेतु जिम्मेदार हैं। संरचनावाद पर अनैतिहासिक, नियतत्त्ववादी एवं अनमनीय होने के कारण तथा प्रतीकों की प्रणाली के नियमावली का स्पष्ट न होना इसके आधार को कमजोर करता है। संरचनावाद यह भी मानता है कि सरंचनाएँ द्वि- आधारी विपरीतार्थकों की सहायता से अर्थ- ग्रहण का कार्य करती हैं। अगर भारतीय संस्कृति को समग्रता में देखा जाए तो इसके पूर्वपक्ष के रूप में ब्राह्मण संस्कृति तथा उत्तरपक्ष के रूप में श्रमण संस्कृति और पुन: इनके परस्पर संवादों से बनी भारतीय संस्कृति में संरचनावादी दृष्टि से प्रश्नोत्थान की बहुत ही कम गुंजाइश बनती है, क्योंकि यह तो उन्हीं की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण- श्रमण एवं श्रमण- ब्राह्मण की द्वि- आधारी वैपरीत्यों से अर्थग्राहकता को प्राप्त कर एक समन्वित एवं संवादयुक्त संस्कृति का रूप है। अतः इससे भी संरचनावादी तर्कों से भारतीय संस्कृति के निषेधात्मक वर्णन का खण्डन हो जाता है।

पुनश्च, तत्त्वमीमांसा को कभी भी इसकी संपूर्णता में निरसन नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वयं संरचनावादी प्रतीक अपने अर्थग्रही प्रवृत्तियों में परिकल्पना को अवश्य एक स्थान देते हैं। रचनात्मक तत्त्वमीमांसा (परिकल्पना की संगठित मीमांसा) हमेशा से ही किसी भी संस्कृति के लिए उसके भीतर होने वाले दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक चिंतनों के लिए मार्गदर्शिका के रूप में कार्य करती है। अत: इसका सर्वथा त्याग किया ही नहीं जा सकता, जबकि संरचनावाद न केवल भारतीय तत्त्वमीमांसा अपितु तत्त्वमीमांसा के किसी भी स्वरूप का विरोधी है जो स्वीकार्य नहीं हो सकता।

जब संरचनावादी दृष्टि से भारतीय संस्कृति पर अलोकतांत्रिक होने का आरोपण किया जाता है तब यह आरोप औपनिवेशिक मानसिकता का परिचय देते हुए श्रेष्ठतावादी पक्षपात से ग्रसित होकर कतिपय यूरोपीय विद्वानों के द्वारा पश्चिम की सभ्यता से लोकतंत्र सीखने की वकालत की जाती है। उनके लिए भारतीय उत्तर यह है कि भारत दुनिया का सबसे पुराना लोकतंत्र रहा है। बल्कि, यह लोकतंत्र का जनक है। बौद्ध संघ की व्यवस्था एवं लिच्छवी जो बज्जि महाजनपद (वैशाली गणराज्य) के नाम से जाना जाता है, इसे दुनिया का प्राचीनतम लोकतंत्र होने का गौरव प्राप्त था। इस प्रकार भारतीय संस्कृति एक जीवंत, सकारात्मक एवं लोकतांत्रिक संस्कृति रही है।

उपर्युक्त खण्डन के पश्चात् भारतीय संस्कृति के उन पक्षों को भी रखना आवश्यक है जो इसकी वैश्विक स्वीकार्यता के आधार बनाते हैं। भारतीय संस्कृति अपनी समग्रता में अहिंसा, करुणा,

मैत्री, परोपकारिता, सहिष्णुता एवं विविधता में एकता वाली संस्कृति है। यह वसुधैव कुटुंबकम एवं शांतिपूर्ण सह- अस्तित्व (सहभाव) की भावना वाली सर्वसमावेशी समन्वयवादी संस्कृति के रूप में सदैव गतिशील एवं जीवंत रही है। इसमें वैश्विक सभ्यता को प्रदान करने हेतु अनेक सांस्कृतिक तत्त्व विद्यमान हैं जिनपर प्रत्येक भारतीय गौरव- बोध कर सकता है।

2.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचनों का सार प्रस्तुत करते हुए हम कह सकते हैं कि संरचनावाद पश्चिमी विमर्श का एक ऐसा बौद्धिक आंदोलन था जो बीसवीं सदी के लगभग मध्य अर्थात् 1960 एवं 1970 के दशक में सर्वप्रथम फ्रांस की धरती पर जन्म लिया एवं आज यह उत्तरसंरचनावाद के रूप में अधिक प्रचलित है। स्विस भाषा वैज्ञानिक फर्दिनांद द सॉस्यूर के भाषा- विज्ञान के आधार पर लेवी- स्ट्रॉस, मिशेल फूको आदि विचारकों द्वारा विकसित होकर संस्कृति अध्ययन का व्यापक दावा करने वाला यह सिद्धांत अपने पूर्व मान्यताओं को आंशिक रूप से नकारने एवं आशिक रूप से स्वीकारने, किंतु उसके साथ तार्किक संघर्ष करते हुए बौद्धिक प्रतिबद्धताओं के अनुसार भारत का जो चित्रण प्रस्तुत करता है वह उसका निषेधात्मक प्रतिफल है, क्योंकि संरचनावाद स्वयं में कई आक्षेपों के कारण एक सम्यक् समीक्षा की अपेक्षा रखता है। भारत एवं भारतीय संस्कृति के चित्रण के सम्बन्ध में संरचनावादी दृष्टिकोंण नकारात्मक ही रहा है जिसे हमने परीक्षण एवं मूल्यांकन के पश्चात् इसे अयथार्थ, पक्षपातपूर्ण एवं अतार्किक पाया है। अध्ययन की यह पश्चिमी विधि भारत अध्ययन में सर्वथा असफल प्रतीत होती है इस विधि अर्थात् संरचनावादी विमर्श की भारत के प्रति इसकी दृष्टि की एक सम्यक् समीक्षा के पश्चात् भारत के चित्रण में भारत के उन बिन्दुओं पर भी विमर्श हुआ है जो संरचनावाद का भारतीय प्रत्युत्तर हैं।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. **संरचना-** यहाँ यह एक विशेष पारिभाषिक पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो शब्दों एवं ध्वनि के माध्यम से प्रतीकों की एक प्रणाली की सहायता से सतह के पीछे एक विशेष अर्थ- ग्रहण द्वारा विश्लेषण का प्रयास करता है। इसके सैद्धान्तिकी का ही नाम संरचनावाद है। यह एक भाषा वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो संस्कृति एवं अन्य अध्ययनों में प्रयुक्त होती है।
2. **उत्तरसंरचनावाद-** संरचनावादी मान्यताओं को और अधिक उग्रता के साथ प्रस्तुत करने एवं तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं के निरसन के नवीन तरीकों पर आधारित संरचनावाद का विस्तारित अवस्था है जो 1980 के दशक में पश्चिमी विमर्श का हिस्सा बना।
3. **पैरोल-** प्रख्यात भाषा विज्ञानी सॉस्यूर के अनुसार भाषा के वाचिक रूप के दो पक्षों में से एक जिसे फ्रांसीसी भाषा में *पैरोल* कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'बोला गया शब्द'। *पैरोल* में बोलने की प्रक्रियाओं का संग्रह है। यह व्यक्तिगत होता है। हर व्यक्ति का अपना- अपना *पैरोल* होता है।
4. **लैंग्वे-** सॉस्यूर के अनुसार भाषा के वाचिक स्वरूप का दूसरा पक्ष *लैंग्वे* होता है। इसका शाब्दिक अर्थ जिह्वा से लिया जाता है। कई *पैरोल* से *लैंग्वे* बनता है। अर्थात् यह कई सामूहिक व्यक्तियों के प्रयोगार्थ प्रचलित अर्थवत्ता निर्धारक ठोस एवं मूर्त रूप है।
5. **सेमियोलॉजी-** यह चिन्हों या प्रतीकों की एक प्रणाली के अध्ययन का विज्ञान है जिसका महत्त्व सांस्कृतिक अध्ययन के अर्थ- विश्लेषण में सर्वाधिक एवं सर्वमान्य है।

6. **तत्त्वमीमांसा-** भारतीय संस्कृति के अंग, भारतीय दार्शनिक चिंतन में मौलिक द्रव्यों की खोज एवं मान्यता के रूप में आत्मा, ईश्वर, लोक- परलोक, स्वर्ग- नरक आदि की अवधारणाओं की अध्ययन व्यवस्था को तत्त्वमीमांसा कहते हैं। ऐसा आरोप लगता रहा है कि उनके विचारअयथार्थ एवं संरचित होते हैं।
7. **संस्कृति-** जो हमें स्वभावत: प्राप्त है, वह प्रकृति है तथा इस प्रकृति में आवश्यक परिवर्तन लाकर इसे प्रयोगार्थ प्रचलन में लाना संस्कृति है। संस्कृति का सामान्यतः अर्थ रहन-सहन, पोशाक- पहनावा, खान- पान, भाषा- बोली, साहित्य- कला, विज्ञान, दर्शन, रीति-रिवाज, व्यक्ति- समाज आदि से लिया जाता है। यह मानविकीय अध्ययन का एक सबसे व्यापक रूप से विचरणीय विषय एवं अनुशासन है।
8. **द्वि- आधारी वैपरीत्य (बाइनरीज ऑफ अपोजिट्स)-** यह सॉस्यूर के भाषा विज्ञान एवं स्ट्रॉस के संरचनावाद में प्रतीकों के अर्थ निर्धारण हेतु एक ऐसा विपरीतार्थक शब्द–समूह है, जिससे अर्थग्राहकता एवं तदनन्तर एक संरचना की प्राप्ति होती है।

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. डेविड रॉबी, (1973)*स्ट्रक्चरलिज्म: एन इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. गैरी गटिंग, (2001)*फ्रेंच फिलासफी इन ट्वेंटीएथ सेंचुरी*, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. पीटर कॉव, (1988)*स्ट्रक्चरलिज्म: द आर्ट ऑफ़ द इंटेलिजिबल*, ह्यूमैनिटीज प्रेस इंटरनेशनल।
4. रिचर्ड हारलैंड, (1987)*सुपरस्ट्रक्चरीज्म: द फिलॅसॉफी ऑफ स्ट्रक्चरलिज्म*, मेथ्यून एँड कं0।
5. बाबू गुलाबराय, (1974- 75),*भारतीय संस्कृति*, रविंद्र प्रकाशन ग्वालियर।
6. रामधारी सिंह दिनकर, (1956)*संस्कृत के चार अध्याय*, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
7. गोविंद चंद्र पाण्डेय (2018),*बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*, उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान लखनऊ।

2.9 बोध प्रश्न

1. संरचनावाद के ऐतिहासिक उद्भव का विवेचन कीजिए।
2. संरचनावादी विधि के रूप में इसके सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
3. उत्तरसंरचनावाद क्या है? यह संरचनावाद से कैसे भिन्न है? व्याख्या कीजिए ।
4. पैरोल एवं लैंग्वे के बीच भेद कीजिए।
5. संस्कृति किसे कहते हैं? इसके मूलतत्त्वों की विवेचना कीजिए।
6. भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को समझाइए।
7. संरचनावाद एवं उत्तरसंरचनावाद की समीक्षा कीजिए।
8. भारत के स्वरूप एवं अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
9. संरचनावादी दृष्टिकोणों में भारत कैसा चित्रित है? व्याख्या एवं मूल्यांकन कीजिए।
10. संरचनावादी दृष्टि में भारत के चित्रण पर भारतीय प्रत्युत्तर को रेखांकित कीजिए।

इकाई 3 प्राच्यवाद का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में प्राच्यवाद के विभिन्न आयामों, अवधारणाओं, उसके उद्भव एवं विकास केसाथ-साथ वर्तमान संदर्भों की दृष्टियों में प्राच्यवाद का क्या स्वरूप है- इस बात का गहन अध्ययन होगा जिसके निम्नलिखित उद्देश्य होगें:

1. प्राच्यवाद की आधारभूत अवधारणा से परिचय प्राप्त करना।
2. प्राच्यवाद का भूगोल एवं अवधारणात्मक उद्भव को जानना।
3. अन्तर- अनुशासनात्मक अनुसंधान के परिणामस्वरूप प्राच्यवाद के सम्बन्ध में विभिन्न मतों से परिचय प्राप्त करना।

4. सत्ता एवं ज्ञान- शक्ति का प्रयोग एवं प्राच्यवाद से इसके सम्बन्धों का उद्घाटन एवं विवेचन।
5. अवधारणाओं के आधार पर सम्पूर्ण वैश्विकसंस्कृतियों, ज्ञान- शक्तियों एवं सभ्यताओं का पूर्वी एवं पश्चिमी के रूप मे विभाजन की रूपरेखा से परिचय प्राप्त करना।

6.अन्त में, इस अवधारणा के द्वारा भारत सहित विश्व के देशों जिन्हें 'पूर्वी' की संज्ञा से अभिहित करने की कुटनीति का प्रयोग हुआ, उससे परिचय प्राप्त करना एवं स्वयं की अस्मिता की पहचान तथा अपने महत्त्व को विश्व- पटल पर रखने के प्रयासों से अवगत होना।

3.1 प्रस्तावना

यदि पूरी पृथ्वी को पूर्वी एवं पश्चिमी या प्राची एवं प्रतीची के रूप में दो भू- भागों में बाँटकर पृथक्- पृथक् आंकलन या अध्ययन किया जाय तो हम पाते है कि प्राची एवं प्रतीचि के पार्थक्य- बोध के मुख्य आधार- बिन्दु हैं- उनकी कलाएँ, साहित्य, संस्कृति, विज्ञान एवं तर्क, उन्नत एवं खुशहाल जीवनशैली, आयु- प्रत्याशा इत्यादि। प्राची के अध्ययन को प्राच्यवाद (*ओरिएँटलिज्म*) एवं प्रतीचि के अध्ययन को प्रतीच्यवाद या पाश्चात्यवाद (*ऑक्सीडेंटलिज्म*) कहा जाता है। *ओरिएँटलिज्म* एवं *ऑक्सीडेंटलिज्म* क्रमश: अग्रेजी शब्द *ओरिएँट* एवं *ऑक्सीडेंट* से बने हैं। परंतु, यह अर्थ केवल भूगोलवाची नहीं है। इसे जब हम एक सिद्धांत या अवधारणा के रूप में अध्ययन करते हैं, तो यह भौगोलिक सीमा से बाहर आकर एक व्यापक आकार ले लेता है, और यही अर्थबोध प्राच्यवाद एवं प्रतीच्यवाद के स्वरूप का निर्माण करता है और एक राजनितिक- सांस्कृतिक सिद्धांत बन जाता है। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि प्रतीच्यवाद या पाश्चात्यवाद के प्रभेदक तत्त्व के रूप में दो बातें स्पष्ट है- पहली है, आधिपत्यवादी अहंकार एवं प्रतिक्रियावाद जिससे प्रतीचि की प्रतिक्रियास्वरुप प्राच्यवाद का तथा प्राची के विरूध प्रतिक्रिया से प्रतीच्यवाद या पाश्चात्यवाद का उभार हुआ। दूसरी बात है- अपने महात्म्य को केन्द्र में रखकर स्वयं की अस्मिता का बोध या आत्म- गौरव का बोध। इस प्रकार के गौरव- बोध के कारण भी पूरब के विद्वानों ने प्राच्यवाद एवं पश्चिम के विद्वानों ने पाश्चात्यवाद की अवधारणा को विकसित करने में एक कारक के रूप में अपनी पहचान खड़ा किया। इस प्रकार प्रतिक्रियावाद एवं आत्म- गौरव बोध के कारण ही प्राच्यवाद एवं प्रतीच्यवाद की अवधारणाओं का विकास हुआ।

3.2 प्राच्यवाद की आरंभिक रूपरेखा

अब प्राच्यवाद के सम्बन्ध में व्यापक समझ बनाने के लिए भारतीय, एशिया के अन्य स्थानिक एवं यूरोपीय विद्वानों के कार्यों, साहित्यों एवं अन्तर्अनुशासनात्मक अध्ययनों के निदर्शन एवं समीक्षा के पश्चात् प्रमुख रूप से तीन प्रकार की अवधारणाएँ सामने निकल कर आती हैं। जिनका विवेचन अनिवार्य है। सर्वप्रथम पश्चिम के उपनिवेशवादियों ने पूर्वी संस्कृतियों, जिसे विशेष कर प्राची के रूप में चिन्हित किया, वे थीं एशिया, मध्य- पूर्व एवं अफ्रीका की संस्कृतियाँ। इन्हें ही निशाने पर रखकर प्रतिक्रिया स्वरूप इन्हें हेय दिखाने के उद्देश्य से एवं स्वयं को श्रेष्ठ बताकर अपना वर्चस्व सिद्ध करके प्राच्यवाद के नाम पर पूरब की एक सोची-समझी नकारात्मक छवि गढ़ी गई जिसमें मिशेल फूको के ज्ञान एवं सत्ता के अन्तर्सम्बन्धों के साथ-साथएँटोनियो ग्राम्सी की आधिपत्यवादी विचार तथा भारतीय सदंर्भों में निकोलस डीर्क

एवं रोनाल्ड इंडेन सहित हमिशा दुबोशी, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक आदि ने प्राच्यवाद की अवधारणा विकसित की। इसमें यूरोपीय संस्कृति एवं पश्चिम के लोगों को अधिक संपन्न एवं श्रेष्ठ तथा पूरब के लोगों की छवि एक अविकिसित या यायावरी नट एवं जादू टोने में विश्वास वाली निम्न किस्म की हेय दृष्टि की संस्कृति के रूप में चित्रित किया गया है। प्राच्यवाद के सम्बन्ध में एक दूसरी विचारधारा है जिसमें यह कहा जाता है कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी चिंतकों ने पूरब की संस्कृतियों से प्रभावित होकर (विशेषकर भारतीय सन्दर्भ में) उनके साहित्य एवं संस्कृतियों को महत्त्व प्रदान करने के उद्देश्य से रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की एवं व्यवस्थित तरीके से प्राच्यवाद का अध्ययन प्रारंभ किया। प्राच्यवाद की अवधारणा के विकास के सम्बन्ध में एक तीसरी बात है कि जिसमें यह कहा जा सकता है कि जब उपनिवेशवादियों ने प्राच्यवाद के नाम पर एवं पश्चिम के वर्चस्ववादियों नेपूरब का हेय चित्रण प्रारंभ किया तो पूरब के लोगों ने अपना पुनरावलोकन प्रारंभ किया। यह बात विशेष रूप में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना एवं भारतीय शास्त्रों एवं भारत अध्ययन की शुरुआत से स्पष्ट है। सुषुप्त भारतीय पुन:जागृत हुए एवं आत्म- गौरव- बोध के कारण भारतीय प्राच्यवाद को पुनर्जीवित किया। यह राष्ट्रवादी सोच के उभार के कारण हो सका जिसमें राजाराममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द एवं राधाकृष्णन जैसे विद्वानों का नाम अग्रगण्य है। प्राच्यवाद के इस संक्षिप्त रूपरेखा से परिचित होने के पश्चात् अब हम इसे व्यापक ढंग से समझने के लिए कतिपय उपखण्डों में इसके स्वरूप का विवेचन निम्नवत् प्रस्तुत करेंगे।

3.3 प्राच्यवादी अवधारणा का उद्भव एवं विकास

ओरिएँटलिज्म (प्राच्यवाद) शब्द पश्चिमी अध्ययन, अध्यापन एवं लेखन का परिणाम है। 1978 में प्रकाशित पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* जिसके लेखक एडवर्ड डब्ल्यू॰ सईद हैं, ने प्राच्यवाद के सम्बन्ध में एक व्यापक अध्ययन को प्रस्तुत किया और इसके अर्थों और सिद्धान्तों में विस्तार दिया। सईद के पहले भी प्राची और प्रतीचि के मिश्र देश के रास्ते से इनके मिलन होते रहने के बाद भी भेद बना रहा। हाँलाकि यदि प्राचीन तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन किया जाए तो बहुत स्पष्ट रूप से दोनों के मिलन एवं परस्पर चिंतन के बहुत से बिन्दुओं पर साम्य भी प्राप्त होते हैं, लेकिन ज्योहीं प्रतीचि का आधुनिक एवं भौतिक विकास हुआ त्योहीं एक प्रभेदक दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया और आधुनिकता से मिश्रित साम्राज्यवादी अहंकार ने पूरब की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के लिए एक अच्छे भौगोलिक शब्दावली के माध्यम से (जो *ओरिएँटलिज्म* या प्राच्यवाद है) कुत्सित भाव का संप्रेषण अपने बहुमुखी प्रयासों में सम्मिलित किया। एडवर्ड सईद की पुस्तक आने से पहले कला, नृत्य, नाटक, फिल्मों, पेंटिंग, कविताओं एवं औपन्यासिक रचनाओं में भी पूर्वी संस्कृति को हेय बनाने, उसकी छवि एक कल्पित, भ्रामक एवं विभिन्न पूर्वाग्रहों से जोड़कर निर्मित करने में तथाकथित यूरोप या पश्चिमी संस्कृति एवं सत्ता ने कोई कोर- कसर नहीं छोड़ा। फ्रांसीसी कलाकार लॉर्ड बायरन ने 1812 ई॰ में '*ओरिएँटल स्टडीज*' पद का प्रयोग किया था। इसके अतिरिक्त यूरोप के अन्य भू- भागों में भी पूर्वी यानी मध्य- पूर्व, अरब, इस्लाम, देवभूमी भारत एवं उत्तरी अफ्रीका की संस्कृतियों की हेयता का वर्णन पश्चात्य पेंटिंग, कलाओं, मूर्तियों एवं साहित्यिक कृतियों में प्रचुरता में देखने को उपलब्ध था। औपनिवेशिक काल में यह घृणा एवं कूटनीति का बहसियाना अंदाज बढ़ता गया। बाद में कोलंबिया विश्वविद्यालय में अंग्रेजी एवं तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन करते हुए एडवर्ड सईद ने नस्लवादी प्रभाव से युक्त फ्रांसीसी राष्ट्रवादी विचारक जोसेफ अर्नेस्ट रेनन के विचारों की गंभीरता एवं पूरब की संस्कृतियों के प्रति उनके पक्षपातपूर्ण व्याख्याओं को

प्राच्यवादी व्याख्या के रूप में लिया एवं उस नकारात्मकता को समग्रता में दिखाने का एक सुगठित प्रयास अपनी पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* (1978 ई॰ में प्रकाशित) में किया। यह पूर्वी संस्कृति के नाम पर मध्य- पूर्वको एक हेय संस्कृति बताने के तर्कों का विश्लेषण एवं उसके वास्तविक स्वरूप की रूपरेखा एवं प्राच्यवाद के नाम पर संपूर्ण आक्रमणों की चर्चा करती है तथा प्राच्वाद के तत्कालीन स्वरूप एवं समस्याओं का मूल्यांकन करती है। सईद ने ही एक तरीके से प्राच्यवाद को कुन्जी पद के रूप में व्यवस्थित तरीके से पहली बार प्रयोग किया है। अतएव प्राच्यवाद के उद्भव एवं उसके सैद्धांतिक विकास को समझने के लिए एडवर्ड सईद के सिद्धान्तों का विवेचन आवश्यक है। हालाँकि उनकी चिंता मध्य- पूर्वकी ज्यादा है, लेकिन प्राच्यवाद के सैद्धांतिक विकास की यात्रा तब तक पूरी नहीं हो सकती, जब तक भारतीय प्राच्यवाद को भी नहीं जान लिया जाय। उसके साथ ही, समय एवं परिस्थिति के सापेक्ष प्राच्यवाद के स्वरूप एवं अर्थों में बदलाव भी आया है। प्राच्यवाद के कारणों के उद्भव एवं उसके सैद्धांतिक विकास यात्रा पर निम्न उपखंडों में प्रकाश डाला जाएगा।

3.3.1 प्राची का प्रतीचि द्वारा निषेधात्मक चित्रण

प्रतीचि का प्राची के सम्बन्ध में एक विचार यह है कि प्राची सपेरों, कालीन विक्रेताओं एवं घूंघट वाली महिलाओं का देश है। यही उनकी सभ्यता एवं संस्कृति है। लेकिन यहां प्रश्न यह है कि इस तरह का चित्रण चाहे पश्चिमी सभ्यता के लेखन में, कला में, पेंटिंग में, नृत्य- नाटक आदि या साहित्य में आया है तो क्या यह पूरब के वास्तविकता का चित्रण है और क्या यह चित्रण संपूर्ण पूर्वी समाज, जिसे पश्चिम समझने या कल्पित करने का कुत्सित प्रयास कर रहा है, उसका प्रतिनिधित्व कर रहा है? उत्तर हमेशा नकारात्मक ही होगा। ऐसा चित्रण कई तर्कदोषों से ग्रसित है। जिस तर्क एवं ज्ञान- शक्ति के बल पर पश्चिम अपनी श्रेष्ठता बोध के अहंकार से गर्वित है उसी तर्कदोष के पाश में बँधकर पूरब का चित्रण कर रहा है। यह आगमनात्मकता की समस्याग्रस्त युक्ति को शिरोधार्य कर स्वयं को विद्वज्जगत् में उपहास के पात्र बनने से अधिक नहीं है। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी से पहले पश्चिमी पर्यटकों द्वारा पूर्वी देशों के भ्रमण, खोज एवं अधूरे पर्यटन ज्ञान की एक काल्पनिकता एवं अल्पता में प्राप्त कुछ विशेष दृश्यों के आधार पर आंशिक घटनाओं को सामान्यीकृत करना एवं किसी संस्कृति विशेष के विकास, जीवन- शैली एवं उनके लक्ष्यों की सर्वोच्चता से परिचित हुए बिना एक कल्पित चित्र की रचना करना समकालीन पश्चिमी संस्कृति (*वेस्टर्न कल्चर*) का अभिन्न हिस्सा बनने लगा था। पश्चिम की यही फतांसी पूरब, जिसमें मध्य- पूर्व, उत्तरी अफ्रीका, एशिया (अलग- अलग पश्चिम के यूरोपीय देश अपने- अपने प्राच्यवादी विचारों में एशिया के अलग- अलग भू- भागों को निशाना बनाते हैं) के प्रति घृणा, हीनताएवं विकास के तथा- कथित आधुनिक कसौटी को आगे करकेजिस छवि की रचना की, उसे ही प्राच्यवाद (*ओरिएन्टलिज्म*)कहा जाने लगा जैसा कि विशेष रूप से एडवर्ड डब्ल्यू॰ सईद की पुस्तक का कथ्य है। किन्तु, पूरब एवं पश्चिम की संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन के परिणाम स्वरूप एवं उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि प्राचीन एवं मध्यकाल के बीच भी दोनों संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के बीच संवाद हुआ था जो आधुनिक कुत्सित एवं कल्पित तथाकथित यूरोपीय प्राच्यवादियों के इस चित्रण से पूर्व था जिसे हम धार्मिक, दार्शनिक एवं कला के तुलनात्मक अध्ययन में पा सकते हैं। प्राचीन यूनान एवं भारत- भूमि के बहुत से तत्त्वमीमांसीय एवं सृष्टिमीमांसीय, साहित्य, पेंटिंग्स एवं कला के अन्य बहुश्रुत रूपों में उपलब्ध साम्य प्राची के उन्नत कथानक का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। लेकिन फिर, पूर्वी संस्कृति पर इस प्रकार का

वैचारिक आक्रमण जिसे पश्चिमी प्राच्यवाद के रूप में गढ़ा गया, यह साम्राज्यवादी, प्रभुत्ववादी एवं शासकत्व के अहंकार से जनित एक नकारात्मक शैली की व्याख्या ही थी जिसे *ओरिएँटलिज्म* नाम से अभिहित किया गया।

3.3.2 प्राच्यवाद एवं शासन की राजनीति

प्राच्यवादी अवधारणा के उद्भव में राजनीति की भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों तरह की उपस्थिति देखी जा सकती है। एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक में यह तर्क देने का प्रयास किया है कि पूरब एवं पश्चिम के बीच भेद के लिए शासन या सत्ता की राजनीति भी जिम्मेदार रही है क्योंकि यूरोपीय राजनीति ने पूरे विश्व पर नियंत्रण के उद्देश्य से अन्तरराष्ट्रीय राजनीति को एक वैचारिक पक्ष के रूप में उभारा। विशेष रूप से इसे भारत के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। ब्रिटिश प्राच्यवाद का उद्देश्य ही था कि प्राची की अवधारणा में भारत का अध्ययन किया जाय और उसे भारतीयता के आकारिक ढांचे में रहकर लंबे समय तक कैसे शासन सत्ता में बने रहा जाय। इस बात की गारंटी के लिए एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई एवं भारत अध्ययन की शुरुआत के साथ ही ब्रिटिश प्राच्यवाद भारतीय गरिमा के अनुरूप इसको समझने वाले साहित्यों विशेषकर संस्कृत भाषा में लिखे पुरातन साहित्यों का अनुवाद एवं उनकी गहन गवेषणाएँ भारतीय सन्दर्भ में प्राच्यवाद को काफी प्रतिष्ठित करने में कामयाब रही। यद्यपि ब्रिटेनवासियों का उद्देश्य भारतीय प्राच्यवाद के गौरव को बढ़ाने में नहीं, अपितु इसके ज्ञान के माध्यम से पाश्चात्य स्वार्थ की पूर्ति एवं शासन- सत्ता की निरन्तरता की प्रत्याशा में संपूर्ण ब्रिटिश प्रशासक लग गया था। इनमें 1794- 1815 के मध्य एशियाटिक सोसाइटी के सचिव एच0डी0 कोलब्रुक ने वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतियों, बौद्ध एवं जैन साहित्य के अध्ययन के साथ ही भारतीय लिपियों, प्राचीन सभ्यताओं जैसे सिंधु घाटी सभ्यता आदि का भी अध्ययन प्रारंभ कराया। इस प्रकार भारत केसमकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक लेखन को एक नई दिशा मिली। भारत अध्ययन में प्रमुख नाम मैक्समूलर, पाल डायसन, जॉर्ज थीबो, विलियम जोन्स, मोनियर विलियम्स,जॉन विल्सन, विन्टरनीट्ज, मॉरिस ब्लूमफील्ड आदि आता है। इसके अतिरिक्त थॉमस रीज डेविड्स के प्रयासों से लंदन में 1881 में पाली टेक्स्ट समिति की स्थापना हुई जिसने पालि साहित्य विशेषकर थेरवादी बौद्ध एवं बुद्धवचनों यथा त्रिपिटक आदि का अंग्रेजी में अनुवाद एवं उनका अध्ययन भारतीय प्राच्यविद्या के अध्ययन को सकारात्मक गति प्रदान की। यहाँ यह बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि कतिपय यूरोपीय एवं ब्रिटिश प्राच्यवादी भारत- अध्ययन के पश्चात् भारत एवं प्राची के निषेधात्मक अर्थों को छोड़कर एक सकारात्मक भूमिका में भी कार्य किया जिससे भारत के आत्म- गौरव- बोध को एक नया आयाम मिला एवं भारतीय भी सजग होकर अपनी विस्तृत अस्मिता के अनुसंधान हेतु फिर से पुराविद्या के विमर्श की ओर उन्मुख हो सके। इस प्रकार ब्रिटिश हस्तक्षेप के पश्चात् भारतीय संदर्भों में प्राच्यवाद एक नई नवीन ऊर्जा से युक्त होकर सकारात्मक दिशा की ओर बढ़ने लगी। स्वतंत्रता आंदोलन के राष्ट्रवादी एवं प्राच्यवाद समर्थक विद्वानों के इस सकारात्मक प्रयास के कारण राष्ट्रवाद को भी एक नई ऊर्जा मिली जिसकी भूमिका स्वतंत्रता की प्राप्ति में उल्लेखनीय रही है। लेकिन, पूरब के सम्बन्ध में नकारात्मक सोच रखने वाले यूरोपीय विद्वानों एवं प्रशंसकों की लंबी सूची है जो कूटनीतिक एवं प्रभुत्ववादी अहंकार एवं स्वार्थ की राजनीति से प्रेरित होकर समूचे मध्य- पूर्व, एशिया एवं अफ्रीका को एक कल्पितएवं भ्रामक तस्वीर के रूप में प्रस्तुत करते रहे एवं उनके अर्थ- तंत्र पर कब्जे के लिए तरह- तरह के षड्यंत्रकारी विचारों एवं सिद्धान्तों को मानविकी एवं सामाजिकी अध्ययनों का हिस्सा बनाते रहे।

3.3.3 प्राची का निषेध चित्रण एवं इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया

कला इतिहासकार लिंडा नोचलीन के सुप्रसिद्ध लेख 'द इमेजिनरी ओरिएँट' (प्रकाशित 1983 ई0 में) के प्रकाशन के पश्चात् पाश्चात्य ललित कलाओं में प्राची के चित्रित चरित्र का मूल्यांकन शुरू हुआ। यह पाया गया कि प्राची का चित्रांकन पाश्चात्य कलाओं में ज्ञान एवं सत्ता- प्रभुत्व के अहंकार का परिणाम है। प्राची का एक व्यापक एवं सामान्य चरित्र वह नहीं है जो पाश्चात्य कलाओं में प्रस्तुत हो रहा है। इस बात को लेकर प्राची से लेकर प्रतीचि तक कला समीक्षकों में एक प्रतिक्रिया हुई एवं कलाकारों और समीक्षकों ने यह प्रश्न उठाया कि कैसे प्राच्य संस्कृति को एक निष्क्रिय एवं बर्बर प्रजा वाली संस्कृति के रूप में कला के माध्यम से संरचित किया जा रहा है? 1879 में एक फ्रांसीसी पेंटर जिन लियोन जेरोम ने एक ऐसे नग्न युवा को अपने पेंटिंग में चित्रित किया जो गले में सर्प लपेटे हुए बांसुरी बजा रहा था। जेरोम ने इस चित्रांकन के द्वारा दुनिया में यह संदेश देने का प्रयास किया कि ऐसी नग्नता एक नियमित एवं सार्वजनिक घटना है जो प्राची का सार्वभौम चित्र खींचती है। उसने ऐसा माना जैसे मानो यही प्राचीवासियों की वास्तविक एवं अविकसित संस्कृति हो। एडवर्ड सईद की पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* आने से लगभग 100 साल पहले ही नकारात्मक प्राच्यवादी संरचना के विरुद्ध कलाकारों में प्रतिक्रिया होनी शुरू हो गई। इसके उदाहरण हेनरीएट ब्राउनी और ओस्मान हामदी बे जिन्होंने अपनी क्रमशः 1860 में प्रकाशित *अ विजिट: हैरम इंटेरियर,* कोन्सटान्टिपोल जिसमें ब्राउनी ने हैरम दृश्य में एक स्त्री को पूरी तरह से कपड़े में दिखाने का प्रयास किया और नकारात्मक प्राच्यवादी संरचना के विरुद्ध एक संदेश दिया। ओस्मान हामदी ने भी *अ यंग अमीर स्टडीईंग* (प्रकाशित 1878)में इस्लामीक वैदुष्य का चित्रांकन किया जो नकारात्मक प्राच्यवादी संरचना का विखण्डन था।

3.3.4 पश्चिमी प्राच्यवादी संरचना में साम्राज्यवादी एवं उपभोक्तावादी प्रभाव

पश्चिमी प्राच्यवाद के उद्भव एवं विकास के कतिपय कारणों में से एक एवं आधुनिक कारण साम्राज्यवादी एवं उपभोक्तावादी संरचनावाद भी है। उन्निसवीं सदी के उत्तरार्ध से संपूर्ण यूरोप में दिखने वाले साम्राज्यवादी विस्तार, सत्तात्मक प्रभुत्ववाद, औद्योगिक पूंजीवाद, वैश्विक पर्यटन, व्यापक उपभोक्तावाद एवं एक बड़े आबादी का औपनिवेशिक प्रभाव वाला सोच इस तथाकथित प्राच्यवाद को एक अविकसित एवं अवास्तविक छवि गढ़ने में बहुत बड़े कारक के रूप में चिन्हित हुए हैं। मध्य- पूर्व एवं एशिया विशेषकर भारत, चीन, जापान एवं तुर्की की कला, फैशन एवं डिजाइन से युक्त दरी, वस्त्र एवं अन्य देशज वस्तुओं की उपभोक्ता के रूप में क्रय शक्ति से सम्पन्न पूरा यूरोप स्वयं को यह दिखाने के प्रयास में था कि समस्त प्रकार की शक्तियाँ एवं आधुनिक विकास पाश्चात्य संस्कृति के ही पास हैं। प्राची केवल अंकिचन उत्पादक के रूप में एवं अविकसित छवि लिए पश्चिम का मुंह देख रहा है। इनके अतिरिक्त वैश्विक मेलों एवं प्रदर्शनियों की शुरुआत होना भी प्राची के स्वरूप चित्रण में भूमिका अदा करता रहाहै। 1851 मेंक्रिस्टल पैलेस में हुए सांस्कृतिक राष्ट्रीय प्रदर्शनी जो बीसवीं सदी तक चलती रही एवं पेरिस में 1867 में लगी प्रदर्शनीने यह लोगों में विश्वास निर्मित करने वाले कारकों में से एक रहीं जिसके तहत गैर- पश्चिमी लोगों की संस्कृतियों एवं जीवन- शैलियों की अन्यता (*अदरनेस*) को वस्तुनिष्ठ बनाती है। इस प्रकार के दृष्टिगत अभ्यासों ने प्राच्यवाद का मिथकीय चित्र प्रस्तुत करने में अपनी अहम भूमिका को रेखांकित किया है।

3.3.5 प्राच्यवाद के विविध प्रकार

प्राच्यवादी अवधारणा के उद्भव एवं उसके विकास के विभिन्न पड़ावों को देखते हुए इसके प्रकारों पर भी एक दृष्टिपात करना आवश्यक है ताकि इसका संपूर्णता में स्वरूप निर्धारण हो सके। इतना तो स्पष्ट है कि एडवर्ड सईद की पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* जिसका हिंदी अनुवाद 'प्राच्यवाद' के रूप में होता है के सदियों पहले से ही प्राच्यवादी अवधारणा निर्मित हो चुकी थी और नई- नई आधारभूत शर्तों एवं परिस्थितियों के साथ लगातार निर्मित भी हो रही थी। पूरी पश्चिमी सभ्यता के ऐतिहासिक अवलोकन को आधार बनाकर यदि विश्लेषित किया जाय तो पाश्चात्य प्राच्यवादी अवधाराणाओं में सूक्ष्म भिन्नताओं के साथ-साथ प्राय: समानताएँ ही थी जो प्राची का मिथकीय चित्र बना रही थी। इनमे फ्रांसीसी प्रच्यवाद, ब्रिटिश प्राच्यवाद, जर्मन प्राच्यवाद, रसियन प्राच्यवाद एवं विभिन्न आधुनिक पॉप संस्कृति (*पॉप कल्चर*)के विकसित होने से बनी प्राच्यवादी संरचनाएँ प्रमुख हैं जिनका संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत है।

उन्नीसवीं सदी के पूर्व ही हम देख चुके हैं कि प्राच्यवादी अवधारणाओं का उदय विभिन्न रूपों में हो चुका था। फ्रांसीसी प्राच्यवाद की बात की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यातायात के साधनों के विकसित हो जाने से फ्रांसीसी पर्यटकों को विशेषकर कलाकारों के मध्य- पूर्व, एशिया एवं विशेष रूप से अफ्रीकी देशों की यात्राएँ करने एवं उनके सांस्कृतिक जीवन शैलियों के विभिन्न रूपों को पेंटिंग, साहित्य एवं अन्य बौद्धिक कार्यों के प्रतिवेदनों से प्राच्यवाद के दो चित्र उभरते हैं। यदि आधुनिक फ्रांस के पूर्व के प्राच्यवादी उल्लेखों का विशेषण किया जाए तो उसमें पूरब का उतना विभत्स चित्रांकन नहीं हुआ है बल्कि कुछ सकारात्मक पक्षों को भी उकेरा गया है जो इसके वास्तविकता के परिचायक हैं। परंतु, जब से आधुनिक फ्रांस का उदय हुआ तब से जो प्राची की स्वरूप- संरचना प्राप्त होती है उसमें जेरोम के मास्टर पेंटिंग का नकारात्मक प्रभाव वाला प्राच्यवादी चित्रण अधिक प्राप्त होते हैं। कुछेकनग्नता को सामान्यीकृत कर संपूर्ण प्राची का अविकसित, विकराल एवं घृणास्पद चित्रण पक्षपातपूर्ण एवं जानबूझकर स्वार्थपूर्ति एवं फ्रांसीसी श्रेष्ठता के लिए गढ़ा गया।

इसी प्रकार ब्रिटिश प्राच्यवाद में प्रमुख रूप से कला के साथ-साथ राजनीति एवं साहित्यिक हस्तक्षेपों का भी योगदान रहा है। मुख्यत: उन्नीसवीं सदी में उभरी ब्रिटिश प्राच्यवादी विमर्श और अरब, इस्लाम, इजिप्ट एवं अन्य पूर्वी देशों एवं विशेषकर भारत के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। भारत के अध्ययन के लिए संस्कृति पर जोर दिया गया। भारतीय उपनिवेश के अंग्रेजी प्रभाव में लाने के लिए यहां की संस्कृतियों के अध्ययन के रूप में प्राचीन दार्शनिक एवं साहित्यिक कृतियों का अंग्रेजी में अनुवाद के साथ-साथ अध्ययन एवं अध्यापन का विषय बनाया गया। इसके पीछे एक बड़ी कुटनीति भारतीयों पर लम्बे समय तक शासन की कुत्सित मनसा थी, परन्तु यह पूरी नहीं हो सकी और भारतीय प्राच्यवाद की दिशा तब बदल गयी जब भारतीयों में राष्ट्रवाद का धुन चढ़ा और इसकी वजह से स्वयं के अस्मिता बोध से प्रभावित होकर सकारात्मक भारतवादी विमर्श का जन्म हुआ जिसके विद्वानों में भारतीयों के साथ-साथ ब्रीटीश एवं अन्य यूरोपीय विद्वान भी शामिल थे।

रसियन प्राच्यवाद मूल रूप से मध्य एशिया तक केंद्रित था। इसमें मंगोलों को केंद्रित करके कलाओं एवं पूर्वी संस्कृतियों के मिश्रित प्रभाव वाले विषयों (*थीम्स*) को भी केन्द्र में रखकर प्राच्यवादी संरचना का गठन हुआ। रूस की परिस्थिति एवं अपनी भौगोलिक स्थिति की वजह से रूसी प्राच्यवाद का स्वरूप फ्रांसीसी एवं ब्रिटिश प्राच्यवाद से भिन्न था, परंतु एक गवेषक

निकोलाई प्रझेवाल्स्की ने प्राची को एक अन्यता (*अदरनेस*) या बाहरी या हेय एवं साम्राज्यवादीविशेषताओं से युक्त छवि के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था।

यदि जर्मन प्राच्यवाद की विशेषताओं को देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि जर्मन प्राच्यवाद राजनीति से प्रेरित नहीं था। प्राची के मूल स्वरूप एवं साहित्यों में रुचि थी। ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी प्राच्यवाद की तरह उपनिवेशवादी एवं साम्राज्यवादी प्रभाव उत्पन्न करने वाली स्थिति नहीं थी। उत्तरवर्ती अमेरिकी प्राच्यवाद की तरह जर्मन प्राच्यवाद भी पुरातन भारत एवं अन्य प्राच्यविद्याओं के अधिकृत बौद्धिक मनीषा के रूप में स्वयं को स्थापित कर लिया था। सच पूछा जाए तो जर्मन *ओरिएँटल* विद्वानों ने प्राच्यविद्या के अध्ययन में एक प्रतिमान-संस्थापक के रूप में अपनी छवि गढ़ी। द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू होने तक जर्मन प्राच्यवाद व्यावहारिक रूप से चुनौतीपूर्ण नहीं था। जर्मन प्राच्यवाद मुख्यतः धार्मिक एवं दार्शनिक विमर्श को ही केन्द्र में रखकर प्राच्यवाद का एक विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। हाँ, बाद के अध्ययनों से यह पता चला कि इसमें कुछ फंतासी के भी अंश मिले हुए हैं। अमेरिकी प्राच्यवाद की अत्यधिक रुचि चीनी एवं जापानी संस्कृतियों की ओर था। साम्राज्यवादी एवं वर्चस्ववादी धारणा के साथ-साथ अमेरिकी प्राच्यवाद बहुतायत में स्वयं को बौद्धिक रूप में प्रस्तुत करते रहने का प्रयास करता रहा।

विभिन्न प्रकार से यूरोपीय प्राच्यवादी विमर्श के स्वरूपों पर प्रकाश डालने के पश्चात् यह जानना भी आवश्यक है कि पाश्चात्य प्राच्यवादी विमर्श जो एडवर्ड सईद के नामकरण (*ओरिएँटलिज्म*) के पूर्व एवं पश्चात् में जैसा है, वह एक तथ्य है या कल्पना? इसका एक समेकित स्वरूप किसे कहा जा सकता है?इस पर निम्नवत्विचार किया जा सकता है।

3.3.6 पश्चिमी प्राच्यवाद: वास्तविकता या कल्पना

संपूर्ण पाश्चात्य प्राच्यवादी विमर्श एवं अन्य भौतिक संस्कृति के प्रकारों की संरचना को मुख्य रूप से दो दृष्टियों के माध्यम से इसके उद्भव का मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रथम यह कि संस्कृति या सभ्यता का ज्ञान कभी उसमें रचे- बसे बिना कुछेक दृश्यों से संभव नहीं है। अतः दूर बैठे पश्चिमी भू- भाग के संस्कृतिविद् या प्राच्यविद्, प्राच्यवाद के नाम पर इसे विदेशी मानकर बहुधा नस्लीय, स्त्रैण एवं कामुक संरचनाओं द्वारा निर्मित करने का प्रयास करते हैं जो वास्तविकता से कहीं परे एवं उनके पक्षपातपूर्ण एवं छद्मश्रेष्ठतावादी सोच का परिणाम है। द्वितीय, यह कि जिस कला साहित्य एवं प्रदर्शनों द्वारा प्राची का चित्रण प्रारंभ हुआ जिनमें जेरोम की पेंटिंग, द *स्नेक चार्मर एँड हिज ऑडियंस* को प्राची का प्रतिनिधि स्वरूप में प्रयोग हुआ, उसमें कई त्रुटियां थीं। उनमें कुछ दृश्यों के आधार पर विशेष से सामान्य निष्कर्ष की रचना करना, उन पूर्वी स्थान का स्पष्ट एवं नकली अरबी एवं मिलावटी तथ्यों को कल्पित करके वास्तविक संरचना के रूप में प्रदर्शित करने से और बार- बार के प्रदर्शन और व्यापारिक लाभ के लिए प्रचार- प्रसार करने के कारण जो प्राच्यवाद की नकारात्मक छवि निर्मित हुई, वह वस्तुत: प्राची का वास्तविक स्वरूप नहीं है जो सामान्यत: विशेषीकृत एवं उसका एक सार्वभौम प्रतिनिधित्व उपस्थापित करता हो। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में फोटोग्राफी के आविष्कार ने भी प्राच्य वास्तविकता का चित्र प्रस्तुत करने में कोई बड़ी सकारात्मक भूमिका नहीं निभाया। पाश्चात्य कलात्मक परिकल्पना को और आगे करते हुए नए किस्म की फंतासी-चित्रण से प्राची का एक लंपट प्रजा एवं क्रोधित तानाशाह, नग्न स्त्रियों एवं स्त्रैण मर्दों वाले देश तथा एक बर्बर एवं अशिक्षित, अविकसित एवं अलोकतांत्रिक संस्कृति के रूप में प्राच्यवादी

अध्ययन कल्पित होता गया जो यहां के कुछेक हिस्सों में चलते रहने वाली स्थानिक संस्कृति का आंशिक सच रहा हो, परंतु बड़े हिस्से के रूप में जिस अरब, इस्लाम एवं भारतीय मनीषा तथा चीनी एवं जापानी धर्म एवं दर्शन जो यहां की संस्कृतियों का आंतरिक पक्ष, या यों कहें कि प्राची की अन्तरात्मा (*स्पिरिट ऑफ द ओरिएँट*) कहा जा सकता है, को जानबूझकर छोड़ दिया गया तथा नकारात्मक एवं एकांगी प्रस्तुतियों के द्वारा प्राच्यवाद का एक कल्पित चरित्र निर्मित किया गया। यह प्राची के ज्ञानपक्षीय आयामों को कहीं से स्पर्श नहीं दे सका। द्वितीय विश्व युद्ध के कुछ वर्षों से पूर्व से लेकर इसके आगे की कुछ वर्षों में अवश्य ही ऐसा रहा जिसमें जर्मन एवं अमेरिकी प्राच्यवाद कुछ कम नकारात्मक होते हुए स्वयं को बौद्धिक धरातल पर लाते हुए सकारात्मक होने का एक प्रयास किया। एडवर्ड सईद और लिंडा नोचलिन सहित कई संस्कृतिविदों ने प्राच्यवाद के पश्चिमी दृष्टिकोणों की भारी आलोचना की है। अब पाश्चात्य प्राच्यवाद के उद्भव एवं विकास की एक सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद पूर्वी अध्येताओं के अनुसार उभरे प्राच्यवाद के उद्भव के संक्षिप्त स्वरूप पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

3.3.7 पूरब की दृष्टि में प्राच्यवाद

पश्चिमी प्राचीवादी चित्रण के बाद पूरब की संस्कृतियों में पाश्चात्य संस्कृति के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही दिखने लगी। प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। एक तो यह देखा जा सकता है कि पश्चिम की संस्कृतियों विशेषकर संपूर्ण यूरोप की कमियों, उसके नकारात्मक पहलुओं की एक श्रृंखला की खोज शुरू हुई और उसे प्रतीच्यवाद या पाश्चात्यवाद का नाम दिया जाने लगा। तुलनात्मक अध्ययनों में इसे अत्यंत ही हेय रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। दूसरी ओर जो पश्चिमी प्राच्यविदों ने कहा उससे पूरब के लोगों एवं विद्वानों ने आत्मावलोकन किया तथा अपनी संस्कृतियों की वास्तविकता को जानकर इसे आत्मगौरव के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास प्रारंभ कर दिया। इस सन्दर्भ में भारतीय प्राच्यवाद विशेष दृष्टव्य है। अंधकार- युग की गहरी निद्रा से उठकर आधुनिक बने पश्चिम के लिए तर्क (रीजन) का प्रयोग एक नवीन कसौटी के रूप में कार्य कर रहा था। इसके उत्तर में भारतीय न्याय एवं नव्य-न्याय की तर्क- परम्परा का पुनरान्वेषण से यह संपूर्ण पश्चिम के आकादमिक जगत् को बतलाने के लिए पर्याप्त था कि प्राच्यवाद का वास्तविक स्वरूप होना कैसा चाहिए। न केवल इतना ही अपितुहिन्दू- दर्शन की शास्त्रीय परम्परा एवं पुरातन भारतीय शास्त्र परम्परा के नवीन अनुवादों एवं अध्ययनों के परिणामस्वरुप भारतीय राष्ट्रवादी चिंतन का उभार हुआ जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में भी रही तथा स्वदेशी, स्वराज एवं अपने शास्त्रों का पूर्व ज्ञान सभी एक साथ प्रारंभ हो गए। इस सन्दर्भमें न केवल भारत, अपितुकतिपययूरोपीय विद्वानों ने भी समर्थन दिया और यह माना कि पाश्चात्यवादी प्राच्यवाद अवास्तविक है। इसी कारण से *ओरिएँटलिज्म*(प्राच्यवाद) कोहटाकर *री- ओरिएँटलिज्म*(पुन: प्राच्यवाद) की वकालत शुरू हुई *री- ओरिएँटलिज्म* पद का प्रयोग सर्वप्रथम लिसा लाउ और एना क्रिस्टीना मेंडेस ने *ओरिएँटलिज्म* के परिकल्पित आख्यानों *(मेटानरेटिव)*को विखंडित कर प्राची के वास्तविक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए एक वैकल्पिक एवं शास्त्राश्रित आख्यानों को उपस्थापित करता है जो वास्तव में भारत के पुरातन एवं सनातन साहित्य, संस्कृति एवं ज्ञान का यथार्थ एवं प्रतिनिधि प्रस्तुति है। *ओरिएँटलिज्म* की प्रतिक्रिया में यद्यपि *री-ओरिएँटलिज्म* की अवधारणा आ गई, लेकिन यह दोनों ही औपनिवेशिक प्रभाव वाले परकीय नाम हैं जो अफ्रीका, मध्य-पूर्व एवं एशिया की प्रमुख संस्कृतियों यथा चीनी ,जापानी, भारतीय आदि के आंशिक दुर्गुणों एवं दोषों को दिखाकर यूरोपीय वर्चस्व को सिद्ध करने के उद्देश्य दिया गया बद- नाम (*बैड-*

नेम) था। अब आज के समय में प्राचीवासियों विशेषकर भारतीयों के लिए प्राच्यवाद का सकारात्मक अर्थ रखने वाला एवं उसके वास्तविक स्वरूप को निरूपित करने वाले शास्त्रीय अध्ययनों के लिए प्रयोग ही स्वीकार है।हालाँकि कुछ विद्वानोंके द्वारा इसेऔपनिवेशिक मानसिकता की उपज के कारण इसका प्रयोग छोड़कर इसे भारत अध्ययन एवं हिन्दू अध्ययन के एक भाग के रूप में देखा जा रहा है। एक अवधारणा के रूप में प्राच्यवाद के उद्भव से सम्बन्धित कल्पनिकताओं एवं वास्तविकताओं के विवेचन के पश्चात् अब यह जानना आवश्यक है कि पश्चिमी एवं पूर्वी प्राच्यवादके अन्तर्गत किन- किन विषय- वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत किया जाता है, अर्थात् उनका वर्ण्य- विषय क्या है? इसकीचर्चा हम निम्न उप-शीर्षकोंमें करेंगे।

3.3.8 पश्चिम के प्राच्यवादी विमर्श के विषय

पश्चिमी प्राच्यवाद के विमर्श की विवेचना से पूर्व हम इसके उद्भव एवं विकास का इतिहास देख चुके हैं। पश्चिम में यह विमर्श ज्यों- ज्यों बढ़ता गया और यातायात के साधनों के विकास तथा संचार के नवीन साधनों के आने के साथ ही लोगों में जिस तरह से पूरे विश्व की संस्कृति के प्रति रूझान पैदा हुआ, उससे वास्तविकताओं को छिपाना अब आसान नहीं रहा और इस तरह प्राच्यवाद के पश्चिमी संरचना में भी समय- समय पर वृहत्तर बदलाव आया और वह भी अमेरिकी प्राच्यवादी अध्येताओं के अध्ययनों एवं अनुसंधानों के पश्चात् उसके स्वरूप एवं विषय- वस्तु दोनों में बदलाव हुए। एडवर्ड सईद एवं पश्चिमी प्राच्यवाद के अन्य अध्येताओं को केन्द्र में रखकर यदि प्राच्यवाद के उद्भव एवं विकास के ऐतिहासिक चरणों के वर्गीकरण का प्रयास करें तो इसे निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है और तदनन्तरतत्सम्बन्धी प्राच्यवादी विमर्शों को भी उपस्थापित किया जा सकता है।

3.3.8.1 प्रथम चरण: पुरातन/शास्त्रीय अवस्था (*क्लासिकल फ़ेज*)

एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* में स्पष्ट रूप से यह कहा है कि प्राच्यवाद केवल औपनिवेशिक शासन का उत्पाद नहीं है, वरन् यह तो उस काल में अधिक प्रखर होकर प्रकट हुआ था। इस अवधारणा का जन्म तो यूनान में प्राचीन काल में ही हो चुका था। लेकिन औपनिवेशिक युग के पूर्व यह विमर्श यूनानी चिंतन में विचारको के नवीन सिद्धान्तों, अन्वेषण एवं अवधारणा निर्माण में शुरुआती साहित्यिक लेखनों के विमर्श के रूप में उभरा था। सईद एक उदाहरण में यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि कैसे एस्किलस (480 ई० पूर्व) ने फारसियों को यूनानियों की तुलना में सीमांत (*सबाल्टर्न*) पहचान वाले'अन्य' (*द अदर*) के रूप में की है। सलामीस नामक युद्ध के हवाले से यह बताने का प्रयास किया कि पारसी लोग यूनानियों की तुलना में कमजोर, असंगठित एवं स्त्रैण हैं जो हारने के लिए ही अपनी पूर्वी पहचान बन चुके हैं। यह प्राचीन यूनानी साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन सेनिकलने वाला केवल एक उदाहरण नहीं है, अपितु यूनानियों एवं भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृतियों की तुलना भी इसी तरह की छवि गढ़ने वाले उदाहरणोंमें हुई है। इस सन्दर्भ में यूनान की तुलना में भारतीय संस्कृति को कमतर करके ऑका गया है तथा एक समय एवं आदर्श संस्कृति के रूप में यूनान की संस्कृति को समझा गया है। भारतीयों को यूनानीसंस्कृति के अनुकरण एवं उससे प्रभाव प्राप्त कर स्वयं को सुसभ्य बनाने का श्रेय देने के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। ऐसा कतिपय विद्वान हैं जो यह मानते हैं की यूनानी सभ्यता भारतीय सभ्यता से श्रेष्ठ थी, लेकिन प्राचीन इतिहास की अनेक घटनाएँ ऐसी है जो यह बतलाने के लिए पर्याप्त हैं कि भारतीय शास्त्रीय चिंतन परम्परा यूनानियों

की तुलना में कहीं अधिक उन्नत एवं उससे पूर्व की है। कुल मिलाकर यदि समग्रता में शास्त्रीय अवस्था (*क्लासिकल फेज*) को देखा जाए तो इसकी दो विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं जिसमें यूनानियों के विस्तारवादी शासन एवं आध्यात्म रहित ज्ञान के दंभ पर अपनी श्रेष्ठ छवि बनाने का प्रयास किया था एवं समस्त पूर्वी क्षेत्रों विशेषकर एशिया की संस्कृतियों की तुलना स्वयं से हेय संस्कृति के रूप में की थी। भारत आकर सिकंदर का पराजित होना एवं यूनानी शासक मिनांडर आदि का भरतीय बौद्धाचार्य नागसेन से प्रश्न पूछना एवं भारतीय आचार्य की गुरूत्ता स्वीकार करना यूनानी संस्कृति के झूठे दावे को खारिज करनेके लिए पर्याप्त हैं। उस अवस्था में यूनानियों के चिंतन का केंद्रीय विषय के रूप में बल- प्रयोग द्वारा शासन करना शमिल था वहाँ दर्शन के क्षेत्रों में जो उन्नति हुई थी उसका साम्य भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में पहले से उपलब्ध था। वहां के आचार्योंके भारत आगमन एवं निवास कर शिक्षा लेने के भी प्रमाण हैं, फिर भी कुछ आधुनिक पाश्चात्य विचारक भारतीय दर्शन एवं संस्कृति को ही यूनानी संस्कृति एवं चिंतन से प्रभावित मानते हैं जो उसी पाश्चात्य प्राच्यवादी मानसिकता का परिचायक है। यह पूरब के विरूद्ध पश्चिमी दृष्टि की कुटिलता है।

3.3.8.2 द्वितीय चरण: आधुनिक अवस्था (*मॉडर्न फ़ेज*)

पश्चिमी प्राच्यवादी संरचना का दूसरा एवं उग्र रूप आधुनिक काल जो फ्रांसीसी एवं ब्रिटिश उपनिवेशों का केन्द्र था, ने पूर्वी संस्कृति को बहुत ही विकृत रूप प्रदान करने का प्रयास किया। इस अवस्था (*फ़ेज*) में यूरोकेंद्रीयता प्रचंड रूप में हावी थी। नवीन तर्क- प्रणाली का विकास, प्रायोगिक विज्ञान का उदय तथा सैन्य एवं आर्थिक महाशक्ति के रूप में उभरे यूरोप ने पूर्वी संस्कृतियों को अपने नियंत्रण में लेने तथा उनका आर्थिक दोहन करने के उद्देश्य से प्राच्यवादी अवधारणा को एक संगठित तरीके से प्रस्तुत किया।

फ्रांसीसी दार्शनिक एवं इतिहासकार मिशेल फूको ने ज्ञान को एक दार्शनिक के तौर पर शक्ति का पर्याय माना है। यह ज्ञान- शक्ति ही सत्ता का प्रदायक है। इस तरह एडवर्ड सईद का यह तर्क है कि फ्रांसीसी ज्ञान- शक्ति ने पूरब को अपने नियंत्रण में लेने के लिए इस प्राच्यवादी विमर्श को खड़ा किया जिसका उद्देश्य प्राची को एक 'अन्य' (*द अदर*) या 'सीमांत' (*सबाल्टर्न*) संस्कृति के रूप में कल्पित करना था। इस प्रकार संपूर्ण यूरोप ने राजनीतिक सैन्य- शक्ति, सामाजिकी, वैज्ञानिक, काल्पनिक एवं वैचारिक विधियों का प्रयोग कर प्राच्यवादी संरचना को मूर्त रूप दिया जो अब तक समय- समय पर अपना स्वरूप बदलकर अस्तित्व में है। फ्रांसीसी प्राच्यवाद वहां के पेंटिंग के कल्पित विचारों एवं दार्शनिक साहित्योंकीरचनाओं में पाश्चात्य दम्भ का कुत्सित उत्पाद है। इस प्राच्यवादी संरचना के कारण के रूप में फ्रांसीसी लोगों में नस्लवादी, आधिपत्यवादी, भौतिकतावादी एवं भोगवादी सोच को देखा जा सकता है जिसके कारण उन्होंने संपूर्ण पूर्वी संस्कृति को जड़, विकृत एवं हेय बनाकर पश्चिम की संस्कृति को विकसित एवं सभ्य बताकर उनके अनुगामी होने के लिए प्रेरित किया था, ताकि उनकी आकंडभोगवादी संस्कृति एवं आधिपत्यात्मक सुख की निरन्तरता बनी रहे। आधुनिक युग की शुरुआत में नेपोलियन का (1798 ई०) इजिप्ट पर हमला, मध्य- पूर्व, सामी संस्कृति, अरब एवं मुस्लिम संस्कृति की सामाजिक राजनीतिक आख्यानों ने आधुनिक युग की प्राच्यवादी कल्पना को हवा दी। तत्पश्चात्फ्रांसीसी पेंटिंग्स एवं साहित्यिक रचनाओं का कुतर्क (*सोफ़िज्म*) संपूर्ण पूर्वी समाज को दासियों के समाज के रूप में चित्रित करने लगा। फ्रांसीसी प्राच्यवादी रचना सिल्वेस्टर डी सेकी के तर्कों से एडवर्ड सईदने अरब एवं मुस्लिम संस्कृति की कल्पित संरचनावाद को दिखलाया है।

ब्रिटिश प्राच्यवादी विमर्श की परम्परा, सर विलियम जोन्स से शुरू होकर कई प्राच्यविदों तक आती है जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। इन ब्रिटिश प्राच्यविदों के दो रूप सामने आते हैं। पहले में वे प्राच्यविद हैं जो केवल निष्ठुर आधिपत्यवादी, नस्लवादी एवं भोगवादी आकांक्षाओं से प्रेरित होकर प्राच्यवादी तर्कों की रचना में अनुरक्त थे। दूसरे वे ब्रिटिश प्राच्यविद थे जिन्होंने अपने उपनिवेशों के साथ उनकी संस्कृतियों के अध्ययन एवं शोध के द्वारा उन्हें अपने पक्ष में करके अपनी सत्ता- सुख की निरन्तरता को कायम रखने के लिए कार्य किया। इस कारण से *ओरिएँटलिज्म* की जगह अब *री- ओरिएँटलिज्म* लेने लगा। इसका उद्देश्य था कि पूर्वी (*ओरिएँटल*) संस्कृतियों को उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कराया जाए जिससे हम प्राच्यवाद की पुनर्रचना कर सकें। विशेष रूप से भारतीय संस्कृत साहित्यों में उपलब्ध दर्शन एवं धर्म के अध्ययन पर जोर देकर इसकी शुरुआत मानी जा सकती है। लिसा लाउएवं एना मेंडेस की विचारों में पल्लवित *री- ओरिएँटलिज्म* भारतीय एवं अन्य प्राची की उनकी वास्तविकताओं को प्रकाशित करने का एक प्रयास प्रकाश में आता है, परंतु यह नाम भी पूरब की संस्कृतियों को स्वीकार नहीं हो सका क्योंकि यह भी औपनिवेशिक सत्ता का प्रतीक था। प्राच्य संस्कृतियों की कृतियों के सुसंगठित अध्ययन से उभरे प्राची के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से ब्रिटिश सहित संपूर्ण यूरोप अब यह समझ चुका था कि प्राची का आध्यात्म, दर्शन, धर्म एवं संस्कृति वह नहीं है जो ब्रिटिश या यूरोकेन्द्रित संरचनाओं में प्रदर्शित है, वरन् एक उन्नत तर्कशील दर्शन की नीव ही प्राची का प्रतिनिधि हो सकता है। अतएव अब ब्रिटिश एवं यूरोपीय संरचनाओं में कूटनीतिक प्रयासों का समावेश होने लगा तथा *ओरिएँट* का नए ढंग से चित्रण प्रारंभ हुआ जिसमें थोड़ी उदारता, थोड़ी उपभोक्तावादी संस्कार एवं थोड़ी आधुनिक होने का दम्भ शामिल था। ब्रिटिश प्राच्यवादी विमर्श का केन्द्रबिन्दु भी आंतरिक रूप से भोगवादी, भौतिकवादी एवं अलोकतांत्रिक ही था। केवल दिखावे के लिए सभ्य परंतु आचरण में कभी भी अपने उपनिवेशों के प्रति नस्लीय भेदभाव एवं 'अन्य' के रूप में दृष्टि रखने के अलावा कोई सहानुभूतिपूर्णव्यवहार विकसित न हो सका। इसके कारण स्पष्ट है। ब्रिटिश एवं यूरोप पूरब को हमेशा हेय ही समझता रहा जो प्राच्यवाद का केंद्रीय प्रेरक तत्त्व था।

3.3.8.3 तृतीय चरण: समकालीन अवस्था (*कंटेंपररी फ़ेज*)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूरी दुनिया में अमेरिकी वर्चस्व और सैन्य- शक्ति की स्वीकारोक्ति बनने लगी और इस बदले हालात में यूरोपीय प्राच्यवादी अमेरिकी नीतियों के प्रभाव में प्राच्यवाद की नई प्रस्तुति देने लगे। एडवर्ड सईद के अनुसार जब ब्रिटिश और फ्रांसीसी आधिपत्य की जगह अमेरिकी आधिपत्य का बोलबाला बढ़ा तो प्राच्य संस्कृतियों वाले देशों में निवर्तमान सामाजिक- राजनीतिक समस्याओं को देखते हुए प्राच्यवादी विमर्श के नये आख्यान *(नरेटिव)* गढ़े गए। इसकी सर्वप्रमुख विशेषताएँ यह थी कि चीन, जापान, भारत जैसे एशियाई संस्कृतियों के प्रति थोड़ी उदारता को अपने व्यापारिक उद्देश्यों एवं बाजारवाद की नीति के कारण पूर्ववर्ती आक्रामकता की जगह उदारवादी समीक्षा की जाये एवं कट्टर प्राच्यवादी विशेषताओं को अरब देशों, मुस्लिम एवं सामी स्थानक संस्कृतियों की तरफ मुखर हो चला जाय। इस प्रकार मुस्लिम देशों की एक कट्टर एवं अतिवादी छवि गढ़ी गई। कुछेक समकालीन घटनाओं ने प्राच्यवाद की दिशा कट्टरपंथी छवि बनाने की ओर मुड़ गई क्योंकि इस्लामिक एवं अरब देशों को छोड़कर लगभग अन्य सभी संस्कृतियों ने ईसाइयत के साथ सह- अस्तित्व बनाने में विश्वास की। इस वजह से प्राच्यवादी धार कट्टरपंथी विचारधारा के लिए प्रयुक्त होने लगी। लेकिन ऐसा भी नहीं था कि अमेरिकी प्राच्यविदों ने अन्य एशियाई देशों या

संस्कृतियों को हेय देखना बंद कर दिया। एडवर्ड सईद ने अपने पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* के तीसरे अध्याय के अन्त में प्राच्यवाद के अद्यतन स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है जो निम्नवत् प्रस्तुत है। यह पश्चिमी प्राच्यवादी चित्रण का अमेरिकी संस्करण ही उसके प्रभुत्ववादी एवं अन्यथाबोधक (*सेंसऑफ अदरनेस*) चरित्र को प्रदर्शित करता है।

3.3.8.4 चतुर्थ चरण: नवीनतम अवस्था (*लेटेस्ट फ़ेज*)

एडवर्ड सईद के अनुसार मानवीय ज्ञान दो प्रकार के होते हैं। पहला शुद्ध ज्ञान तथा दूसरा राजनीतिक ज्ञान। जब हम किसी वस्तु या घटना के सम्बन्ध में यथा रूप सूचना लेते हैं या उसे प्राथमिक स्तर पर ग्रहण करते हैं तब वह शुद्ध ज्ञान कहलाता है और इस ज्ञान को जब जानबूझकर किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे संरचित करते हैं तो वह राजनीतिक ज्ञान बन जाता है। यह ज्ञानात्मक संरचना नकारात्मक चरित्र की होती है। प्राच्यवाद की अवधारणा भी वही राजनीतिक ज्ञान है। इस प्रकार अमेरिकी प्राच्यवाद जो इस समय संपूर्ण यूरोप का प्रतिनिधि प्राच्यवाद बन गया है एक गहरे राजनीतिक ताने-बाने से बुना गया ज्ञान है। यह निवर्तमान विश्व को दो भौगोलिक भू- भागों में बाँटकर एक ऐसे कल्पित अवधारणा को बनायी गयी है कि अब प्राच्यवाद अपनी नवीनतम संस्करण में जिस प्राची के कल्पित चरित्र को प्रदर्शित करता है,वह या तो कट्टर है या अरब और इस्लाम की संस्कृतियों तक सीमित है। अन्य एशियाई संस्कृतियाँ अपना मूल्यांकन पश्चिमी संस्कृतियों के कसौटियों के आधार पर करना चाहती हैं। तात्पर्य यह है कि तथाकथित अमेरिकी संरचनावादी दृष्टि में जिस प्राच्यवाद की अद्यतन छवि गढ़ी जा रही है, वह अब अपना अस्तित्व पाश्चात्य संस्कृति के रूप देखना चाहता है।पुन: इस बात को यों समझा जा सकता है कि अमेरिकी प्राच्यवाद अब प्राची (*ओरियेंट/इस्ट*) की संस्कृति को प्रतीचि या पश्चिम (*ऑक्सिडेंट/वेस्ट*) की संस्कृति में विगलित होते देखना चाहता है और पाश्चात्य लक्ष्य (*वेस्टर्न गोल*) को प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार आधुनिक प्राची स्वयं का प्राचीकरण करने हेतु पाश्चात्य का अनुकरण मात्र (*इमिटेशन वेस्ट*) है। यह प्राच्यवाद की एक और खतरनाक एवं समस्याग्रस्त चित्रण है जो गुप्त प्राच्यवाद (*लेटेन्ट ओरिएँटलिज्म*) की जगह प्रकट प्राच्यवाद (*मेनिफेस्ट ओरिएँटलिज्म*) के रूप में अपना स्थान बना रहा है। अमेरिकी वर्चस्व के कारण अब लगभग पूरा यूरोप इसी प्राच्यवाद का समर्थक बन बैठा है।

3.9 पूरब की दृष्टि में प्राच्यवादी विमर्श के विषय

पूरब की कल्पित छवि गढ़ने की प्रतिक्रिया में पूर्वी और पश्चिमी दोनों विद्वानों में एक बदलाव देखने को मिलता है। कुछ पश्चिमी विचारकों ने प्राच्यवाद को वास्तविक मानकर पुन: प्राच्यवाद (*री- ओरिएँटलिज्म)* की बात करने लगे, जो पूर्ववर्ती प्राच्यवाद की आलोचना पर आधारित है, लेकिन इसे भी पूर्वी विद्वानों ने अस्वीकृत करते हुए पुराने प्राच्यवाद का ही एक विस्तार माना है। सच पूछा जाए तो कोई भी पूरब की संस्कृति स्यवं को प्राच्यवाद नाम से अभिज्ञात होना पसंद नहीं करती। इसके स्थान पर पूरब लगभग सभी संस्कृतियों जैसे अरब, मुस्लिम, चीनी, जापानी, भारतीय आदि अपने घरेलू नामधेय से अपना अध्ययन एवं पहचान बनाना चाहती हैं। भारत में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई एवं अब तो प्राच्यवाद को एक कल्पित पश्चात्य दृष्टि के रूप में ही जाना जाता है। इसके स्थान पर बल्कि अब भारत अध्ययन एवं हिन्दू अध्ययन जैसे संबोधन अधिक पसंदीदा बन गए हैं। प्राच्यवादी दृष्टि एवं निरूपणों को अब एक वैश्विक समस्या के रूप में देखा जा रहा है और अब तो एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* में इसका एक व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करके स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिम

कभी भी पूरब का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकता।

पूरब की संस्कृतियों की दृष्टि में पूरब का चित्रण उनके आत्म- बोध एवं गौरव को ध्यान में रखकर प्रतिनिधि विचारों, चिंतनों, धार्मिक क्रियाकलापों, रहन- सहन, खान- पान तथा पहनावा आदि को देखते हुए ही संभव हो सकती है। उनके भाषाई प्रवृत्तियों एवं साहित्यिक कृतियों आदि को ध्यान में रखकर ही पूर्वी संस्कृतियों का चित्रण या वर्णन हो सकता है। भारत के अवधारणात्मक बोध के लिए यहां की भाषा विशेषत: संस्कृत, पाली एवं तमिल, तेलुगू आदि में निहित साहित्यों के अध्ययन के बिना संभव नहीं है। इनका प्रतिनिधि दार्शनिक विषय- वस्तु अपनी सम्पूर्णता में आध्यात्मिक, नैतिक, तार्किक एवं सर्वसमावेशी रही है। इसी प्रकार हर प्राच्य धार्मिक संस्थाओं की मूल भावना में कहीं भी मानव- द्रोह नहीं है। भारतीय सहीष्णुता और आध्यात्मवाद की ऊँचाई पूरी दुनिया में देखी जा सकती है। सर राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक *ईस्टर्न रिलिजन एँड वेस्टर्न थॉट* तथा *हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ* में भारतीय संस्कृति की उच्चस्थ चिंतन परम्परा का विशद विवेचन किया है। यही भारत की दृष्टि में दार्शनिक एवं धार्मिक विमर्श का केन्द्रबिन्दु है जो प्राच्यवादी चित्रण से नितांत भिन्न है क्योंकि प्राच्यवादी चित्रण पाश्चात्य प्रतिक्रियात्मक संरचना का एक विभत्सपरिणाम है।

3.10 सारांश

एडवर्ड सईद एवं कई अन्य विद्धानोंके अनुसार प्राच्यवाद पूर्वी संस्कृतियों के सम्बन्ध में एक काल्पनिक एवं नकारात्मक विचारों वाला राजनीतिक ज्ञान है जो प्राचीन काल से लेकर अद्यतन तक कई चरणों में विकसित हुआ है। पूरी दुनिया के भूगोल को पूरब और पश्चिम के रूप में बंटवारे का आधार वस्तुत: भौगोलिक न होकर सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रहा है। प्राच्य से ध्वनित होने वाला भौगोलिक क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका के पिछड़े क्षेत्र, मध्य- पूर्व का सामी क्षेत्र अरब एवं एशिया है। इन्हें ही यूरोपीय चित्रों में 'प्राची' एवं इनमें बसने वाली संस्कृतियों के निर्माणक सिद्धान्तों को प्राच्यवाद का नाम दिया गया। एडवर्ड सईद प्राच्यवादी विचार के उद्भव का इतिहास यूनानी चिंतकों से ही ग्रहण करते हैं, लेकिन इसे आधुनिक काल में औपनिवेशिक सत्ता के केन्द्र में रहे फ्रांस और ब्रिटेन के ही इतिहासकार एवं संस्कृतिविदों ने प्राच्यवादी कल्पना को एक संगठित रूप दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत यह प्राच्यवादी चित्रण फ्रांसीसी एवं ब्रितानी प्रभुत्व के समाप्त होने तथा अमेरिकी प्रभुत्व के स्थापित हो जाने से अपने अद्यतन संस्करण में अमेरिकी प्राच्यवाद के रूप में ही जाना जाता है। प्रच्यवादी मान्यताओं का मूल मंतव्य निम्नवत् है:

1. प्राची एवं प्रतीचि के विभाजक सिद्धांत के रूप में प्राच्यवाद एक ऐसा काल्पनिक चित्रण है जो पाश्चात्य वर्चस्व को कायम रखने एवं प्राच्य संस्कृति को अपने नियंत्रण में रखने की राजनीतिक मंशा से संरचित हुआहै।
2. पश्चिम प्राच्यवादियों को पिछड़े, नग्न, स्त्रैण आदि विभत्स रूपों में चित्रित करता है।
3. प्राच्यवाद पश्चिम (*वेस्ट*) द्वारा पूर्व (*ईस्ट*) को हेय, स्थावर एवं विकृत संस्कृति के रूप में चित्रित करने का नकारात्मक बौद्धिक राजनीति का परिणाम है।
4. प्राच्यवाद का मानना है कि पूरब का कोई प्रतिनिधि ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमिमांसा नहीं है जिसे आदर्श के रूप में आगे ले जाया जा सके।

5. प्राच्य संस्कृतियों का भविष्य अब इस बात में है कि वह अपना मूल्यांकन पाश्चात्य मानदंडों पर करें तथा पाश्चात्य आदर्श को प्राप्त करने का अपना लक्ष्य निर्धारित करें।

उपर्युक्त चित्रण से प्राच्यवाद को एक निषेधात्मक एवं वर्चस्वादी सिद्धांत के रूप में ही जाना जाता है जो अब पूर्वी संस्कृतियाँ स्वयं को इस नाम से एवं इन चित्रणों से भिन्न मानती है। यूरोपीय केंद्रीयता के परिणामस्वरूप एवं अमेरिकी अद्यतन रूपान्तरण के साथ प्राच्यवाद पूर्वी संस्कृतियों के अध्ययन का पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण है जिसे एक समस्या के रूप में देखा जाता है क्योंकि इसका प्रभेदक दर्शन ही इस केंद्रीय विषय पर आधारित है कि कैसे पूरब को एक 'अन्य' (*द अदर*) या 'सीमांत' (*सबाल्टर्न*) के स्थान पर बनाए रखा जाए।

3.11 पारिभाषिक शब्दावली

1. **प्राची (*ओरिएँट/ईस्ट*)-** सम्पूर्ण दुनिया को भौगोलिक आधार पर प्राची या पूरब के नाम से बांटकर उसमें सांस्कृतिक एवं राजनीतिक अथर्वत्तासे युक्त करने वाली एक अवधारणा है जिसमें उत्तरी अफ्रीका, मध्य पूर्व एवं एशिया को सम्मिलित किया जाता है। यह नाम विशेष अर्थसूचक पद के रूप में प्रयुक्त होता है जो एक सांस्कृतिक भूगोल को दर्शाता है।
2. **प्रतीचि (*ऑक्सीडेंट/वेस्ट*)-** यह प्राची के विपरीत एक सांस्कृतिक भूगोल की अवधारणा है जिसमें संपूर्ण यूरोप सहित फ्रांसीसी, ब्रितानी एवं अमेरिकी वर्चस्व को दिखाया जाता है।
3. **प्राच्यवाद (*ओरिएँटल*)-** प्राची या पूरब की संस्कृतियों से सम्बन्धित होने को प्राच्य कहा जाता है।
4. **प्राच्यवाद (*ओरिएँटलिज्म*)-** यूरोपीय वर्चस्व को केन्द्र में रखकर पूर्वी संस्कृतियों यथा, मध्य- पूर्व, उत्तरी अफ्रीका एवं एशिया के सम्बन्ध में एक काल्पनिक चरित्र का चित्रण तथा पूर्वी संस्कृतियों पर अपनी वर्चस्ववादी प्रवृत्ति एवं सत्ता कायम रखने वाला नकारात्मक राजनीतिक सिद्धांत है जिसकी संरचना प्राचीन पाश्चात्य काल से लेकर आधुनिक पाश्चात्य काल तकहोता आ रहा है।
5. **पाश्चात्यवाद/प्रतीच्यवाद (*ऑक्सीडेंटलिज्म*)-** प्राच्य संस्कृतियों द्वारा प्रतिक्रियास्वरूप पश्चिमी संस्कृति को लक्षित करके उसका एक नकारात्मक चित्रण के रूप में प्रयोग किया जाना ही पश्चात्यवाद कहलाता है। यह प्राच्यवाद के विपरीत अर्थ में प्रयोज्य एक राजनीतिक- सांस्कृतिक सिद्धांत है।
6. **अन्य (द *अदर*)-** यह एक सांस्कृतिक एवं नृजातीय अध्ययन के हिस्से के रूप में मुख्य-धारा के सामाजिक संरचना से भिन्न वंचित एवं अंकिंचन समाज का प्रतिनिधि अर्थ देने वाला बहिष्कृत समाज का संबोधन है। प्राच्यवादी अध्ययनों में यह यूरोपीय संस्कृति से भिन्न पूर्वी संस्कृतियों के लिए प्रयुक्त हुआ है।
7. **सीमांत (*सबाल्टर्न*)-** एडवर्ड सईद सहित अन्य प्राच्यवादी समीक्षकों ने 'सीमांत' पद का तकनीकी अर्थ समाज के उस हिस्से से लिया है जो मुख्य धारा से बहिष्कृत होकर समाज के हासिये पर चला गया है और सुविधाओं से वंचित एवं पिछड़ा है।
8. **आख्यान (*नरेटिव*)-** यह एक प्रकार की कहानी रचनाकी शैली है जिससे कोई वक्ता अपने वास्तविक विचारों को पात्रों एवं कथानकों से निर्मित करता है।

9. **उपाख्यान (*मेटा- नरेटिव*)-** यह एक काल्पनिक पात्रों एवं कथानको से संरचित एक अवास्तविक कहानी है जो किसी वास्तविक घटनाओं की भ्रामक समझ के लिए तैयार की जाती है। किसी बड़ी कहानी के अंदर उसे उचित ठहराने के लिए एक छोटी कहानी की रचना को *मेटानरेटिव* कहते हैं।

10. **शुद्ध ज्ञान (*प्योर नॉलेज*) -** यह ज्ञानमीमांसा का एक ऐसा प्रकार है जिसे हम ज्ञान को प्रक्रियागत ढंग से प्राप्त करते हैं और यह एक आकारिक रूप में रहता है। इसका प्रायोगिक रूप कई प्रकार का हो सकता है। यह लेखक के अपने मंतव्य से स्वतंत्र एवं यथार्थ होता है।

11. **राजनीतिक ज्ञान (*पॉलिटिकल नॉलेज*)-** एडवर्ड सईद की शब्दावली में राजनीतिक ज्ञान शुद्ध ज्ञान का उपोत्पाद है जो उसके प्रयोग के परिणामस्वरूप दिखाई देता है। इसमें लेखक अपने मंतव्य को शामिल करके अपनी आवश्यकताओं के अनुसार संरचित कर लेता है। यहां प्राच्यवादी संरचना एक राजनीतिक ज्ञान है।

12. **ज्ञान- शक्ति वर्चस्वाद (*नॉलेज- पावर हेजेमनी*)-** फ्रांसीसी दार्शनिक मिशेल फूको ने कहा था कि ज्ञान ही शक्ति है। इस सिद्धांत के उपयोग से फ्रांसीसी विचारकों ने प्राच्य संस्कृति के सम्बन्ध में एक वर्चस्ववादी संरचना का विकास किया जिसका प्राच्यवाद के सिद्धांत निर्माण में प्रयोग हुआ। यह सिद्धांत यह बतलाता है कि ज्ञान के द्वारा या उसके संरचित प्रयोग से राज्य सत्ता को प्राप्त किया जा सकता है।

13. **नस्लवाद (*रेसिज्म*)-** यह एक ऐसा विश्वास है जिसमें कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी विशेष नस्ल के लोग दूसरी नस्ल के लोगों से उत्कृष्ट गुणों वाले होते हैं। जब एक नस्ल के लोग दूसरी नस्ल के लोगों के साथ भेदभाव एवं पक्षपातपूर्ण व्यवहार नस्लीय आधार पर करते हैं तो इसे नस्लवाद की संज्ञा दी जाती है। पूरा यूरोप इस नस्लवादी प्रयोग से पूर्वी संस्कृतियों को हेय समझता है।

14. **अव्यक्त प्राच्यवाद (*लेटेंट ओरिएँटलिज्म*)-** एडवर्ड सईद के अनुसार अव्यक्त प्राच्यवाद अचेतन नकारात्मकता है। यह एक पूर्वी संस्कृतियों के सम्बन्ध में ऐसे कल्पित विचारों का समूह है जो उसकी वास्तविकता से अलग अपास्थापित करती है। पूर्वी संस्कृति की सैद्धांतिक संरचना के रूप में उसे कमजोर, पिछड़े, अंधविश्वासी, संपेरे आदि जैसे नकारात्मक चित्रण का गुप्त रूप है।

15. **व्यक्त प्राच्यवाद (*मैनिफेस्ट ओरिएँटलिज्म*)-** एडवर्ड सईदके अनुसार यह प्राच्यवाद का राजनीतिक ज्ञान है जो अव्यक्त प्राच्यवाद के सहारे वास्तविक दुनिया के व्यवहारों में देखने को मिलती है। व्यक्त प्राच्यवाद अपने व्यावहारिक रूप में भेदभाव, पक्षपातपूर्ण, वर्चस्ववाद, नस्लवाद एवं सत्ता के दर्प से संचालित होने वाला कार्यरूप है। यह प्राच्यवाद का प्रकट रूप है।

3.12 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू॰, (2019), *ओरिएँटलिज्म,* पैंग्विन रेंडम हाउस, इण्डिया,प्रथम प्र॰1978, यू॰ के॰।

2. नोचलीन,लिण्डा, (1983),‘द इमेजिनरी ओरिएँट’ आर्ट इन अमेरिका,जिल्द नं॰ 5,पृ॰ 118- 31 ।

3. मैकफी, एल॰ (2002)प्राच्यवाद, लंदन, लॉन्गमैन पी॰।
4. राधाकृणन, एस॰ (1940), *ईस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, इण्डिया।

3.13 बोध प्रश्न

1. प्राची एवं प्रतीचि के सांस्कृतिक भूगोल के बीच भेद कीजिए।
2. प्राच्यवाद के उद्भव एवं विकास को समझाइए।
3. प्राच्यवादी अवधारणा के क्या- क्या उद्देश्य है?
4. फ्रांसीसी प्राच्यवाद क्या है? विवेचन कीजिए।
5. ब्रिटिश प्राच्यवाद की व्याख्या कीजिए।
6. प्राच्यवादी सन्दर्भ में 'अन्य' को समझाइए।
7. प्राच्यवादी संरचना के दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डालिए।
8. एडवर्ड सईद के अनुसार शुद्ध ज्ञान एवं राजनीतिक ज्ञान के बीच भेद कीजिए।
9. अव्यक्त प्राच्यवाद किसे कहते हैं? व्याख्या कीजिए।
10. व्यक्त प्राच्यवाद क्या है? समझाइए।

इकाई 4 तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

- इस अध्ययन या विधि के प्रयोग के द्वारा किसी विशेष देश और काल से परे जाकर ऐतिहासिक घटनाओं की तुलना की जाती है जिसके द्वारा घटनाओं को समझने हेतु व्याख्याएँ, सिद्धान्त निर्माण एवम् वर्तमान सन्दर्भों में उसकी प्रासंगिकता का पता लगाया जाता है।
- इस अध्ययन के द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक एवम् संस्थाओं की प्रक्रियात्मक विकास से सम्बन्धित ऐतिहासिक बदलावों का पता लगाया जाता है।
- इस अध्ययन की प्रविधि के द्वारा पार–सांस्कृतिक एवम् पार–ऐतिहासिक व्याख्याओं के लिए वास्तविक सामान्य सिद्धान्तों के विकास का पता चलता है।
- इस अध्ययन के प्रयोग के द्वारा अनुसन्धान हेतु लिये गये दो प्रतिदर्शों के बीच वास्तविक समानताओं एवम् विभिन्नताओं का पता लगाने के पश्चात् उनके बीच समन्वय की सम्भावनाओं का प्रयास किया जाता है।
- इस अध्ययन की विधि के प्रयोग के द्वारा स्थानिक एवम् कालिक घटना की

प्रक्रियाओं के अध्ययन हेतु पर्याप्त एवम् अनिवार्य कारणों का पता लगाकर उनका तर्क–निर्माण या अन्य ज्ञानमीमांसीय अनुमानों में प्रयोग किया जाता है।

4.1 प्रस्तावना

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन या विश्लेषण को एक नवीन शोध प्रविधि के रूप में जाना जाता है। इस प्रविधि का प्रयोग, जैसा कि हमने इसके उद्देश्यों में स्पष्ट कर दिया है– ऐतिहासिक परिघटनाओं, सामाजिक परिवर्तन के कारकों एवम् व्याख्या हेतु कारणता एवम् अनुमानात्मक ज्ञान हेतु तार्किक युक्तियों के निर्माण एवम् सिद्धान्तों की संरचना में इसका प्रयोग किया जाता रहा है। यद्यपि इसके समर्थकों, प्रयोगकर्त्ताओं एवम् व्याख्याकारों ने अपने ऐतिहासिक एवम् तुलनात्मक अध्ययनों में प्रविधि के रूप में प्रमुखता से स्थान दिया है, तथापि इस प्रविधि का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय पर बहुत कम अध्ययन किया गया है। यही कारण है कि इस प्रकार के अध्ययनों के स्वरूप पर प्रकाश डालने की महती आवश्यकता है जिसे हम आगे के कई खण्डों में स्पष्ट करने का प्रयास करेंगें।

आज के अन्तर–अनुशासनात्मक अध्ययन के वातावरण एवम् आवश्यकताओं के अनुरूप तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की प्रविधि का प्रयोग विभिन्न अनुशासनों एवम् विषयों के क्षेत्रों में हो रहा है। लेकिन यदि इसकी ऐतिहासिकता को देखा जाय तो यह एक समाज विज्ञान की विशिष्ट विधि के रूप में प्रयुक्त होता आ रहा है। यह समाज विज्ञान के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होकर उनका अध्ययन एवम् अनुसन्धान प्रस्तुत करता है।

इस अध्ययन के तीन केन्द्रीय विचार–बिन्दु हैं– कारणता की पहचान, समय के साथ बदलती प्रक्रियाएँ एवम् तुलना। इस प्रकार हम इस विधि का प्रयोग कर या इन अध्ययनों की सहायता से तीन प्रकार से सिद्धान्त–निर्माण कर सकते हैं। पहला है– व्यापक कारणता के विश्लेषण के रूप में तुलनात्मक इतिहास की प्रस्तुति। दूसरा है– किसी सिद्धान्त के समानान्तर दिखने वाला तुलनात्मक इतिहास की प्रस्तुति एवम् तीसरा है– सन्दर्भों एवम् विषय–वस्तुओं के विपरीत या भिन्न तुलनात्मक इतिहास की प्रस्तुति। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के अन्तर्गत होने वाले अनुशीलन में इन केन्द्रीय विचार बिन्दुओं के अतिरिक्त आवश्यकता के अनुसार अन्य विधियों एवम् विचार–बिन्दुओं को भी समाहित किया जा सकता है जो प्राक्कल्पना से लेकर निष्कर्ष तक पहुंचते हुए सिद्धान्त निर्माण की भूमिका में अहम होते हैं। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अनुसन्धान के अन्तर्गत उपर्युक्त विषयवस्तुओं पर अगले खण्डों में विस्तार से चर्चाएँ होगीं। इनके अतिरिक्त इन अध्ययनों या विधि की कठिनाइयाँ क्या है? इस पर भी विचार प्रस्तुत किया जायेगा तथा इस अध्ययन के भविष्य पर भी विचार प्रस्तुत होंगे जो निम्नलिखित में उपखण्डों में सुचिंतित है।

4.2 तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की संक्षिप्त वैचारिक विकास–यात्रा

कतिपय विद्वानों ने तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों के ऐतिहासिक विकास के तीन चरणों को रेखांक्ति किया है। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अनुसन्धान का पहला चरण इस बात से सम्बन्धित था कि समाज आधुनिक कैसे बना, जो वैय्यक्तिक एवम् विवेकशील व्यवहारों पर आधारित होता है? इस प्रकार की चिन्तनधारा के प्रमुख विचारक हैं– अलेक्सिस डी० टोकेविले, कार्ल मार्क्स, एमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर और डब्ल्यू० ई०

बी० डू बोइस। दूसरे चरण ने ऐतिहासिकता से परे सिद्धान्तों पर प्रतिक्रिया दी और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि सामाजिक तन्त्र कैसे समय के साथ विकसित् हुईं बिना स्थिर रहे। इस तरह के विचारों को प्रस्तुत करते वाले विद्वानों में राइनहार्ड बेंडिक्स, बैरींगटन मूर जूनियर, स्टीन रोक्कन, थेडा स्कोकपॉल, चार्ल्स टिली, माइकल मान्न और मार्क गाउल्ड। इन अध्ययनों का तीसरा चरण या वर्तमान स्वरूप तुलनात्मक–ऐतिहासिक अनुसन्धानों का सैद्धान्तिक झुकाव प्रायः किन्तु हमेशा उत्तर–संरचनात्मक नहीं होता है। इस चिन्तनधारा के प्रभावशाली लेखकों एवम् विचारकों में फिलिप गोर्स्की, जेम्स महोनी, अन्न लॉरा स्टॉलर और जूलिया एडम्स शामिल हैं।

प्रारम्भ में यह समाजशास्त्र की एक विधि के रूप में प्रचलित हुआ, परन्तु महोनी एवम् रुश्चमेयर ने इसे बहुविषयक विशेषताओं के विकसित् होती परम्परा की पहचान में तुलनात्मक–ऐतिहासिक विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत कियाआज यह समाजशास्त्र के अतिरिक्त इतिहास, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र एवम् अन्य समाजिकी एवम् मानविकी विषयों में धड़ल्ले से प्रयुक्त होने वाली विधि बन चुकी है। हाँ, यह अवश्य ही अन्य की तुलना में समाजिकी के विषयों में विशेष स्थान रखती है।

4.3 तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों का पारिभाषिक स्वरूप

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन में वस्तुतः कई तुलनात्मक विधियों का प्रयोग होता है। जैसे, सामान्यतः तुलनात्मक विधियाँ जिनका प्रयोग तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों के लिए होता है उनमें आख्यान शैली, मिल की प्रायोगिक विधियाँ, जार्ज बूल की विधि, सांख्यिकीय विधियाँ, नृवंशशास्त्रीय, प्रयोगात्मक, ऐतिहासिक आदि विधियाँ शामिल हैं। इनके अतिरिक्त भी आवश्यकता के अनुसार एवम् सन्दर्भों से सुसंगत हो कर अन्य शोध अध्ययन की विधियों का भी समावेश किया जा सकता है। ये सभी तुलना की विधियाँ स्थितियों, घटनाओं एवम् तथ्यों की तुलना कर समानता एवम् विभिन्नता का पता लगाने तथा उनके द्वारा कारणात्मक कारकों का अनुसन्धान करती हैं। अतएव तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन का स्वरूप कुछ इस प्रकार का बन जाता है जिसमें बहुआयामी स्थितियों एवम् तथ्यों का अध्ययन सम्भव हो पाता है। कारणात्मक अध्ययन में यह देखा जाता है कि किसी अध्ययन–तन्त्र (*सिस्टम ऑफ स्टडी*) में प्रर्याप्त एवम् अनिवार्य कारण के रूप में कौन से तथ्य हैं? इनके अतिरिक्त तन्त्रों (*सिस्टम*) के वर्णनात्मक एवम् व्याख्यात्मक तर्कों का भी निर्माण किया जाता है। इस प्रकार तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन विभिन्न कालक्रमों एवम् ऐतिहासिक कालखण्डों के सापेक्ष सम्यक तुलना की विधियों का प्रयोग कर एक सन्तुलित शोध अध्ययन की विधि के रूप में समाज विज्ञान के केन्द्रीय अध्ययन–व्यवसाय का विषय बन गया है। इस प्रकार यदि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों का समग्रता में स्वरूप उपस्थापित करना हो तो इस कथित शोध–अध्ययनों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डालना होगा जिसकी आगे चलकर तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की विशेषताएँ एवम् उसकी एक स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया जा सके जो निम्नवत है:

4.3.1 आन्तरस्थितिक अध्ययन

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम आन्तरस्थितिक आध्ययन (*विदिन–केस स्टडीज*) को समझ लिया जाय। किसी भी विशेष स्थिति (*केस*) के अन्तर्गत किन्हीं विशेष कारकों जो कारणात्मक, प्रक्रियात्मक एवम् संरचनात्मक प्रकार के होते हैं, का अध्ययन इस विधि के द्वारा सम्पन्न किया

जाता है। आन्तरस्थितिक कारकों के अध्ययन में आख्यान (*नरेटिव*) शैली का भी महत्त्व है। इसके द्वारा दिये गए नमूनों की तुलना (*पैटर्न मैचिंग*) करके कारणों का पता लगाया जाता है। तुलनात्क–ऐतिहासिक अध्ययनों में प्रयुक्त होने वाले उन समस्त् ऐसी विधियाँ जिनमें कालिक प्रक्रियाओं के सापेक्ष अध्ययन नहीं किया जाता है, उनका भी आख्यानों के माध्यम से काल–क्रम के सापेक्ष घटनाओं या प्रदत नमूनों की तुलना करके इतिहास के सन्दर्भों को ग्रहण करते हुए कारणों का पता लगाया जाता है। इस तरह यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आन्तरस्थितिक अध्ययन के द्वारा तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन सम्भव है क्योंकि यह विज्ञान–सम्मत कारणात्मक कारकों एवम् नमूना सादृश्य के द्वारा स्थापित नियमों का तथा संरचनागत वैज्ञानिक अध्ययन का आधार तैयार करता है। इसलिए यह एक वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा का प्रकार बन जाता है जिसे प्रत्यक्षवाद कह सकते हैं। ऐतिहासिक विकास के क्रम में दार्शनिक प्रत्यक्षवाद का विकास विज्ञान एवम् उसके प्रयोगमूलक परिणामों के प्रत्यक्षीकरण पर आधारित था, अतः इसे लोक–मान्यता एवम् शिक्षित समाज में त्वरित स्थान मिलता गयासमकालिन पाश्चात्य परम्परा में आगे चलकर एक और चिन्तनधारा आयी जिसे उत्तर–आधुनिक चिन्तन–धारा के नाम से जानते है। उसमें उत्तर–आधुनिक ज्ञानमिमांसा जो प्रत्यक्षवादी एवम् विज्ञानसम्मत विचार–बिन्दुओं के विरुद्ध यह स्थापित करने का प्रयास करती है कि सामाजिक–सम्बन्धों की संरचनाओं की जटिलता के कारण नियम (*लॉज*) एवम् वैज्ञानिक पद्धति से स्पष्ट नहीं बनायी जा सकती अतः उनमें कारण एवम् प्रक्रियागत नियमों की पहचान करना एवम् सिद्धान्त निर्माण सम्भव नही है। यहाँ हम देख पा रहे हैं कि उत्तर–आधुनिक ज्ञानमीमांसा के द्वारा आन्तरस्थितिक अध्ययनों की रूपरेखा के विपरीत विचार होने के कारण कारणात्मक उपागमों का अध्ययन असम्भव बताया जा रहा है। अतः उत्तर–आधुनिक ज्ञानमीमांसीय शोध अध्ययन की विधि विज्ञान विरोधी होने से आन्तरस्थितिक अध्ययन एवम् तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन से सम्बद्ध नहीं हो सकता, अपितु इनके विरुद्ध खड़ा नजर आता है।

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन समाज के विभिन्न इकाईयों के साथ–साथ विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का भी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। जैसे– राज्य, अर्थतन्त्र, धर्म, वर्ग, जाति, सामाजिक आंदोलन तथा बड़े समूहों की क्रियाओं का अध्ययन आदि। ये हैं दीर्घस्तरीय (*मैक्रो–लेवल*) सामाजिक संरचनाएँ जिनका अध्ययन तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि से होता है। इनके अतिरिक्त मध्यवर्ती स्तर की सामाजिक संरचनाएँ या संस्थाएँ भी इस विधि के द्वारा विश्लेषित की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सूक्ष्मस्तरीय सामाजिक इकाईयों का अध्ययन सम्भव नहीं हो सकता। वरन् इन सूक्ष्मस्तरीय सामाजिक इकाईयों का भी अध्ययन तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि से हो सकता है जिसके लिए आन्तरस्थितिक अध्ययन (*विदिन केस मेथड*) की आवश्यकता पड़ती है। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के संस्थापक विद्वानों में से एक मैक्स वेबर का मानना है कि वैय्यक्तिक घटनाओं के कारणात्मक विश्लेषणों के लिए भी तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के अन्तर्गत होने वाले आन्तरस्थितिक विश्लेषणों का उपयोग होता है, जिससे हम किसी भी सामाजिक इकाईयों या संरचनाओं का अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों का स्वरूप मुख्यतः मध्यवर्ती स्तर एवम् दीर्घस्तरीय सामाजिक संस्थाओं के साथ–साथ सूक्ष्म सामाजिक इकाईयों का भी आन्तरस्थितिक अध्ययन कर कारणात्मकता एवम् प्रक्रियागत विकास जो इतिहास के कालक्रम में हो सकते हैं, का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार मानव–जीवन को प्रभावित करने वाली समस्त् उन

घटनाओं का तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन कर सकते हैं जो संरचनागत ढंग से सूक्ष्म, मध्य एवम् दीर्घस्तरीय सामाजिक इकाईयों या समूहों के उदाहरण हैं। यानि व्यक्ति के रूप में मानव एवम् उसके सरल सम्बन्धों से लेकर विश्वस्तर के समस्त् सामाजिक इकाई एवम् समूहों का अध्ययन तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत कर सकता है, यदि वह तुलना के कारणात्मकता, प्रक्रियात्मकता एवम् संरचनात्मकता से सम्बंधित नियमों की खोज एवम् स्थापना कर सकें जो तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन का मूल हैं।

यहाँमुख्य ध्यातब्य यह भी है कि कोई अध्ययन तुलनात्मक मात्र हो जाने से ही तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन नहीं बन जाता। उदाहरणस्वरूप एडवर्ड सईद की पुस्तक *ओरिएँटलिज्म* (1978) एवम् अन्य उत्तर–आधुनिक अध्ययन भी जिसमे तुलनात्मक विधि का प्रयोग है, परन्तु उन्हें तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनमें मध्य एवम् दीर्घस्तरीय समूहों की तुलना तो मिलती है, परन्तु समाज–वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है। इसी तरह औपनिवेषिक विरासत् का सांख्यिकीय विश्लेषण पर एस्मोगलू जॉनसन एवम् रॉबिनसन की रचना में तुलना तो देखा जा सकता है, परन्तु इसमें आन्तरस्थितिक अध्ययन (*विदिन–केस स्टडीज*) नहीं प्राप्त होता। पुनः टिली की रचना *द कान्टेन्सस फ्रेंच* (1986) में समाज वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयोग है तथा आन्तरस्थितिक विधि (*विदिन–केस मेथड*) का भी प्रयोग है, परन्तु स्पष्ट रूप से स्थितियों के भीतर (*इन्टर–केस कम्पैरीजन*) नहीं है जिसके चलते इसे तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त सीमाओं एवम् पारिभाषिक शर्तों को यदि ध्यान में रखकर तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की रूपरेखा पर विचार किया जाय तो इसके स्वरूप–निर्धारण के लिए समाज विज्ञान की उन अन्य पारम्परिक शोध अध्ययन की विधियों की भी तुलना एवम् उनके स्वरूप पर एक संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है जिसका विवरण अब हम निम्न उपशीर्षकों में प्रस्तुत करेगें।

4.3.2 सामान्य विधिमूलक (*नोमोथेटिक*) अध्ययन

सामान्य विधिमूलक या *नोमोथेटिक* (*नोमोस* का अर्थ विधि से है) यह एक ग्रीक शब्द है व्याख्याएँ यद्यपि प्राकृतिक विज्ञान की परिघटनाओं के सम्बन्ध में ठीक तो हैं, परन्तु समाज–विज्ञान की जटिलताओं एवम् उनके इकाईयों एवम् संस्थाओं की व्याख्यामूलक विधि के रूप में *नोमोथेटिक* या विधिमूलक पद्धति का प्रयोग अन्य विज्ञानों की तुलना में न्यूनतम सत्य का दावा करने वाले निष्कर्षों के कारण अति–सामान्यीकरण के दोष से ग्रसित् हो जाते हैं। यद्यपि इस विधि के प्रयोग में कई नमूनों/स्थितियों (*केसेज*) का विश्लेषण एवम् उनके बीच की वैज्ञानिक विधानों को पहचान कर सामान्यीकरण का प्रयास किया जाता है, परन्तु सामाजिक विज्ञान की संरचनागत/ढाँचागत जटिलता एवम् उनके बीच के सम्बन्धों की जटिलताओं के कारण विधिमूलक अध्ययन न केवल कठिन है, वरन् बहुस्थितिक (*मल्टीपल–केस*) तथा आन्तरस्थितिक तुलना (*इंन्टर–केस कम्पैरीजन*) के द्वारा सामान्यीकृत विधानों के निर्माण का प्रयास करता है। अतः *नोमोथेटिक* या विधिमूलक अध्ययन जिन दो प्रमुख विधियों का प्रयोग करता है, वे हैं– सांख्यिकीय एवम् नियन्त्रित प्रयोगशाला–विधि। अतः तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के अन्तर्गत विधानात्मक तुलना हेतु उपर्युक्त दो विधियों यथा–सांख्यिकीय एवम् प्रयोगमूलक अध्ययन की आवश्यकता होती है जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार प्रस्तुत है।

4.3.3 सांख्यिकीय अध्ययन / विधि

समाज विज्ञान में औपचारिक रूप से सर्वाधिक प्रचलन में या परम्परा में सांख्यिकीय अध्ययन की विधि है। इस विधि के द्वारा नियन्त्रित प्रायोगिक अध्ययन को भी प्रयोग में लिया जाता है। इस विधि के द्वारा परिणामों में आने वाले विभिन्नता को न्यूनतम स्तर तक ले जाकर एवम् आन्तरस्थितिक तुलना के द्वारा बहुत हद तक सामान्यीकरण के विधान प्राप्त कर लिये जाते हैं। इस प्रकार सांख्यिकीय अध्ययन के द्वारा किसी शोध के परिणामों में होने वाले विचलन को भी कम किया जा सकता है जो विधानमूलक सिद्धान्तों (*नोमोथेटिक*) की रचना में बहुत ही सहायक होते हैं। चूँकि विधानमूलक सिद्धान्त रचनाओं के द्वारा ही तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन का लक्ष्य प्राप्त कर समाज एवम् सामाजिक जगत् की विश्वदृष्टि तैयार करने में सहायता प्राप्त होती है, अतः सांख्यिकीय अध्ययन का सम्बन्ध तुलनात्क–ऐतिहासिक अध्ययन के साथ, अत्यन्त गहराई से जुड़ा हुआ है।

शोध–अध्ययन की परम्परा में अन्य विधियों की तरह सांख्यिकीय विधि की भी आलोचना होती है। इसमें सर्वप्रथम यह आपत्तिजनक समझा जाता है कि सांख्यिकीय औसत् के अनुरूप वास्तविक जगत् में कोई अस्तित्ववान कारक है या नहीं। यदि नहीं, तो परिणाम सार्थक नहीं प्रतीत होंगे दूसरी आपत्ति होती है कि किसी नमूने की तुलना कब, कहाँ एवम् किस स्थिति (*केस*) में की जाय? यह निर्णय कर पाना भी कठिन होता है। ऐसे में आन्तरस्थितिक अध्ययन होने के बावजूद भी दो या अधिक नमूनों की परस्पर तुलना नहीं हो पाती। इस प्रकार विधानात्मक कारणों की तलाश एवम् सामाजिक प्रक्रियागत संरचनाओं की समझ में त्रुटि होना सम्भव हो सकता है। तीसरी आलोचना इस बात की होती है कि इस अध्ययन–विधि का प्रयोग समाज विज्ञान के अध्ययन में यदि किया जाता है तो आँकड़ों की अनुपलब्द्धता की समस्या आती है। सभी सामाजिक प्रक्रियाओं एवम् परिघटनाओं के आँकड़े नहीं मिल सकते क्योंकि वे विचारात्मक (*आइडियोग्राफिक*) प्रकार के भी हो सकते हैं। अतः इस अध्ययन की भी अपनी सीमाएँ है।

4.3.4 प्रायोगिक अध्ययन / विधि

आनुभविक अध्ययन (*इम्पिरिकल स्टडी*) समाज–विज्ञान की अति अनिवार्यता है। इसमें नियन्त्रित प्रयोग की विधि को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। विशेषरूप से मनोविज्ञान एवम् नृविज्ञान के क्षेत्र में प्रयोगात्मक अध्ययन का बहुत ही महत्त्व है। इनमें सन्तुलित प्रयोगों के पश्चात् एकत्रित आँकड़ों के विशलेषण के लिए सांख्यिकीय अध्ययन को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। यहाँ इस बात पर बल दिया जाता है कि प्रयोग एवम् उनके परिणाम से प्राप्त आंकडे न्यूनतम त्रुटि वाले हों, नहीं तो सांख्यिकीय अध्ययनों का परिणाम एवम् अन्ततः समाज–विज्ञान के तथ्यों के रूप में कारणात्मकता, इकाईयों एवम् संस्थाओं या घटनाओं की संरचनात्मकता तथा प्रक्रियागत अध्ययनों की समझ भी प्रभावित हो सकती हैं। प्रयोगात्मक अध्ययन में प्रश्नावली निर्माण से लेकर मानव एवम् समाज की जटिलताओं एवम् उनसे सम्बन्धित अन्य अन्तर्विषयात्मक परिप्रेक्ष्य को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता होती है। इससे आँकड़ों के एकत्रीकरण एवम् उनकी शुद्धता की गारंटी सुनिश्चित हो पाती है। इस विधि की भी अपनी सीमाएँ हैं। पहली समस्या तो यह है कि जटिल सामाजिक प्रक्रियाओं एवम् परिघटनाओं जिनका व्यक्ति एवम् समाज को बड़े पैमाने पर प्रभावित करने वाले कारक है, कोप्रयोगमूलक अध्ययन का विषय बनाना अत्यन्त कठिन होता है। दूसरी समस्या यह है कि कई बार नैतिक कारणों से भी कुछ विषयों के सम्बन्ध में

प्रयोग की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है जो एक समाज–वैज्ञानिक दृष्टिकोण (*अप्रोच*) से बंचित् हो जाता है। ऐसे में तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के प्रत्यक्षवादी निष्कर्षों से बंचित् होकर अपनी व्याख्या के लिए केवल वैचारिक (*आइडियोग्राफिक*) अध्ययन मात्र पर आधारित होने से समाजिक दुनिया के अध्ययनों की सच्चाई में कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। कई बार प्रयोगिक चयन की कठिनाइओं को देखते हुए प्राकृतिक प्रयोग (*नैचुरल एक्सपेरिमेंट*) या कई बार चिन्तन प्रयोग (*थॉट एक्सपेरिमेण्ट*) का भी प्रयोग किया जाता है जिसमें प्रयोग के नाम पर अनिश्चितता एवम् परिणामों में त्रुटि की सम्भावना बढ़ जाती है जो समाज–विज्ञान के अध्ययनों के विपरीत परिणाम देने वाला बन जाता है।

4.3.5 विशिष्ट वृत्यात्मक/आन्तरस्थितिक अध्ययन

अभी अभी हमने यह देखने का प्रयास किया है कि सामान्य विधानात्मक अध्ययन के अर्न्तगत दो प्रमुख विधियों का अध्ययन किया जाता है। पहली, सांख्यिकीय विधि तथा दूसरी प्रयोगात्मक विधि का अध्ययन जिन्हें *नोमोथेटिक मेथड* भी कहते हैं। इसके पश्चात् हम विशिष्ट वृत्यात्मक अध्ययन जिसे *आइडियोग्राफिक मैथड* भी कहा जाता है, का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे जो निम्नवत् होगा।

नोमोथेटिक अध्ययन के द्वारा हम एक सामान्य विधानात्मक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करते है जबकि *आइडियोग्राफिक* अध्ययन या विशिष्ट वृत्यात्मक अध्ययन के द्वारा किसी विशेष घटना, स्थिति या इकाई के अन्तर्गत विशेष रूप से गहराई में जाकर अध्ययन किया जाता है। इसे *केस–स्पेसिफिकस्टडी* भी कहते हैं। इस प्रकार के शोध अध्येताओं को यह विश्वास रहता है कि जटिल सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए अन्य पूर्वोक्त विधियाँ उपयुक्त नहीं है, बल्कि उनमें निहित कारणों के लिए मानव इच्छा–स्वातंन्त्र्य एवम् कारणबहुलता (*मल्टीकॉजल्टी*) की भूमिका होती है। अतएव इनका अध्ययनविशिष्ट–वृत्यात्मक विधि से ही किया जा सकता है। इस विधि के द्वारा हम तुलना करके दो या दो से अधिक स्थितियों में किन–किन समानताओं एवम् विभिन्नताओं को लेकर *केस–स्टडी* कर सकते है, इसका विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार, हम देखते है कि इस विशिष्ट वृत्यात्मक (*आइडियोग्राफिक*) अध्ययन के द्वारा आन्तरस्थितिक (*विदिन–केस स्टडी*) उपागमों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ आन्तरस्थितिक विधि के अन्तर्गत दो प्रमुख अध्ययनों के स्वरूप पर चर्चा करेंगे जो क्रमशः नृजातीय (*एथनोग्राफिक*) एवम् ऐतिहासिक (*हिस्टॉरिकल*) विधियाँ हैं।

4.3.6 नृजातीय अध्ययन/विधि

इस अध्ययन का सर्वाधिक उपयोग संस्कृति से सम्बन्धित अवधारणाओं की समझ के लिए होता है। इसलिए यह मानवशास्त्र के अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधि है। इस अध्ययन प्रणाली के दो घटक हैं जिनमें से प्रथम के अन्तर्गत प्राथमिक आँकड़ों को जुटाने के लिए प्रश्नावली इत्यादि की तैयारी कराकर उसका सर्वेक्षण कराया जाता है। दूसरे घटक के अर्न्तगत आंकड़ों का विश्लेषण एवम् उनके आधार पर निष्कर्ष की प्राप्तियों का प्रर्दशन या प्रस्तुतिकरण किया जाता है। इसमें आख्यान शैली का भी प्रयोग किया जाता है जो प्रायः सामान्यीकृत विचार नहीं उत्पन्न करते, परन्तु इसकी गुणवत्ता आँकड़ों की एवम् विश्लेषणकर्त्ता तथा शोध अध्येताओं की त्रुटिरहित प्रयासों का ही परिणाम होता है। अन्यथा इन विधियों के उपयोग में त्रुटि के कारण निष्कर्ष की प्राप्तियों में बहुत ही अविश्वसनीयता एवम् अनावश्यक तथ्यों का समावेश हो जाता है।

इस विधि या अध्ययन के दो उल्लेखनीय बिन्दु हैं– पहला, कि यह किसीसांस्कृतिक विषय से सम्बन्धित परिघटनाओं की विशेषताओं एवम् प्रक्रियाओं का गहराई तक उतर कर वर्णन करता है, तथा दूसरा कि यह जटिल से जटिल परिघटनाओं का भी सक्षमता के साथ एक विश्लेषण प्रस्तुत कर सकता है। इस अध्ययन की कुछ कमियाँ भी हैं, जैसे– इस अध्ययन की विधि का प्रयोग किसी ऐतिहासिक परिघटना के लिए नहीं हो सकता। पुनः यह अध्ययन विधि किसी विशिष्ट अध्ययन–क्षेत्र से सर्वाधिक सम्बंधित होने के कारण स्थिति–विशिष्ट (*केस–स्पेसिफिक*) हो जाती है, अतः यह विधि–विज्ञान से सम्बन्धित व्याख्याएँ देने में असमर्थ दिखती है। इस विधि की अन्य कमियों में एक कमी यह भी है कि शोध–अध्येता के द्वारा चयनित किसी अति–सम्वेदनशील मुद्दों के विश्लेषण तथा मानव के धार्मिक भावनाओं आदि से सम्बन्धित किसी बिन्दु पर आँकड़े एकत्रित करने हेतु प्रतिभागियों की उदासीनता या असहयोग के कारण किसी व्यक्ति के निजी जीवन से सम्बन्धित जानकारियाँ नहीं मिल पाती। इस प्रकार ऐसा अध्ययन अधूरा रह जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस अध्ययन प्रणाली की भी अपनी सीमाएँ एवम् विषय–क्षेत्र निर्धारित हो जाते हैं तथा तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि से सीधे तौर पर सम्बद्ध नहीं होने की स्थिति बन जाती है।

4.3.7 ऐतिहासिक अध्ययन

ऐतिहासिक अध्ययन या इतिहासलेखन किसी परिघटना या इतिहास के वर्ण्य विषय का किसी काल एवम् स्थान के परिप्रेक्ष्य में आँकड़ों के संकलन एवम् आँकड़ों के विश्लेषण के आधार पर सम्पन्न होता है। किसी काल–क्रम में उपेक्षित विषय के सम्बन्ध में आँकड़ों का संकलन करना, उनका विश्लेषण करना एवम् एक वैध निष्कर्ष पर पहुंचना इतिहासलेखनका केन्द्रीय विषय है। आंकड़ों के संकलन से लेकर वैध निष्कर्ष के निर्धारण तक की सारी प्रक्रिया बहुआयामी एवम् जटिल समस्याओं से ग्रसित् रहती हैं। आँकड़ों की निर्धारण पद्धति में उनका कालिक एवम् स्थानिक परिप्रेक्ष्य निर्धारित करना अत्यन्त ही कठिन एवम् विभिन्न प्रकार की आपत्तियों से ग्रसित् होते हैं। ऐसे में कई अन्य उपयुक्त विधियों का भी आवश्यकता के अनुसार उनका प्रयोग किया जाता है। उसके पश्चात् आँकड़ों के विश्लेषण में विज्ञान सम्मत एवम् कतिपय मानविकीय अध्ययन विधियों का प्रयोग कर कथ्यों से तथ्यों का निरूपण (*इन्टरप्रिटेशन*) एवम् उपस्थापन (*प्रेजेन्टेशन*) करना भी बहुआयामी योग्यता की माँग रखता है, क्योंकि अधिकतर इतिहासलेखन में विवाद का विषय निरुपण या व्याख्या को लेकर उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष को ही केन्द्र में रखकर होता है।

इतिहास की प्रकृति अन्तर्विषयी होने के चलते इतिहास के अध्ययन की विधि भी अन्तर्विषयात्मक हो जाती है। नृजातीय या मानवशास्त्रीय अध्ययन की तरह ही ऐतिहासिक अध्ययन भी समाज के जटिल परिघटनाओं के अनुशीलन को केन्द्र में रखकर प्रयुक्त होता है। इन दोनों का लगभग प्रयोज्य विषयों में काफी हद तक समानता भी है और अगर इन दोनों के बीच भेद है भी, तो इस बात की, कि नृजातीय अध्ययन अद्यतन घटनाओं एवम् समस्याओं को लेकर चलता है, जबकि ऐतिहासिक विधि भूत की घटनाओं को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। ऐतिहासिक अध्ययन भी नृजातीय अध्ययन की तरह ही विशिष्ट स्थितियों का अध्ययन करता है और यही कारण है कि यह *केस–स्टडी* होने के कारण विधि–विज्ञानात्मक समान्यताओं की व्याख्या हेतु बहुत ही कमजोर उपागम बनकर रह जाता है। अन्य अध्ययन विधियों की तरह ही ऐतिहासिक अध्ययन की विधि की भी अपनी कमजोरियाँ है। जैसे कि आँकड़ों

के संकलन में विशिष्टता होने के कारण किसी काल एवम् स्थानवाची परिघटनाओं के विशेष सन्दर्भ में ही इनका महत्त्व रहता है। इनका प्रयोग दूसरी विधा के अध्ययन के लिए भी अग्रसारित हो सकता है, ऐसा कहना थोड़ा कठिन बन जाता है।

4.3.8 मिल की प्रायोगिक विधियाँ

जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने अध्ययन की प्रायोगिक विधियों में कारण–कार्य–सम्बन्ध को जानने का प्रयास किया था। यह आगमनात्मक अनुमान की विधियाँ भी कहलाती हैं। किन्हीं दो घटनाओं या स्थितियों में परस्पर तुलना के द्वारा उनमें उपस्थित कारकों के बीच समानता, विभिन्नता एवम् सहचर्य का प्रदर्शन करते हुए उन घटनाओं या स्थितियों में कारण एवम् उनके परिणाम या कार्य का पता लगाने के लिए मिल ने पाँच प्रकार की अनुसन्धानात्मक प्रविधियों का पता लगाया था जिसमे दो घटनाओं या कार्यों के बीच समान कारक की उपस्थिति को देखते हुये एक दूसरे का कार्य एवम् कारण के रूप में पहचान सुनिश्चित किया था जिसे हम तुलना की अन्वय विधि कहते है। इसी प्रकार तुलना के लिए प्रदत्त दो घटनाओं के आंकड़ों में समान रूप से दो कारकों की अनुपस्थिति की वजह से भी एक दूसरे का कारण कार्य माना जा सकता है जिसे हम व्यतिरेक विधि कहते हैं। पुनः उपर्युक्त इन दोनों घटनाओं में समानता की उपस्थिति एवम् विभिन्नता की अनुपस्थिति के कारण अन्वय–व्यतिरेक विधि के रूप में जाना जाता है। दो प्रदत्त घटनाओं के बीच यदि तीन–तीन कारक उपस्थित हों और उनके बीच दो अलग–अलग कारकों की परस्पर समान उपस्थिति से कारण–कार्य–सम्बन्ध की पहचान सुनिश्चित हो रही हो तो, दोनों घटनाओं के उदाहरणों में अवशेष एक–एक कारक एक दूसरे के कारण–कार्य–सम्बन्ध से युक्त हो जाते है जिन्हें मिल ने अवशेष विधि के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रकार आगमनात्मक अनुसन्धान की पाँचवी विधि के रूप में मिल ने सहचारी भिन्नता को स्पष्ट करते हुये यह बतलाया है कि किन्हीं दो घटनाओं के बीच विशिष्ट विभिन्नताओं के साहचर्य के आधार पर उनके बीच कारण–कार्य का पता लगया जा सकता है।

अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए उसने इस विधि के द्वारा जिस निष्कर्ष की स्थापना का प्रयास किया, वह किसी विशिष्ट उदाहरण से सामान्य घटनाओं के सम्बन्ध में अनुमान होने की वजह से सार्वकालिक वैधता की कमी को दर्शाता है। इस प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, अन्वय–व्यतिरेक की संयुक्त विधि, सहचारी भिन्नता एवम् अवशेष विधियों की सहायता से कारणता की भूमिका पर मिल ने गहनता से विचार किया है। परन्तु इतिहास के बोध हेतु यह प्रत्यक्षतः उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकता। ऐतिहासिक परिघटनाओं के सम्बन्ध में कारणबहुलता की भी भूमिका देखी जाती है, जबकि मिल के अनुसार एक ही कारण सार्वभौम रूप से सार्वकालिक एवम् सभी स्थितियों में अपनी उपस्थिति से कार्य या प्रभाव का प्रदर्शन कर सकते हैं जो ऐतिहासिक परिघटनाओं की सभी स्थितियों में लागू नहीं हो सकती। अतः मिल की कारण–कार्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाली विधियों की भी अपनी सीमाएँ हैं जो तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन में कदाचित् आंशिक रूप से अपनी भूमिका सुनिश्चित कर सकती हैं।

शोध अध्ययनों की उपर्युक्त विधियों के सम्बन्ध में विचार करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन अपने स्वरुपगत वर्णन के लिए इन समस्त् शोध की विधियों की सहायता या तो आंशिक रूप से या इनसे भिन्न रहते हुए समाज विज्ञान की एक विशिष्ट विधि के रूप में अवश्य ही प्रयोग में लेता है जिसके द्वारा कारणता, सामाजिक प्रक्रियायों एवम् विभिन्न प्रतिरूपों के परिवर्तनों के सामाजिक

अध्ययन में सहायता मिलती है। इनके अतिरिक्त सर्वाधिक विचारणीय विषय यह है कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन को तुलना एवम् इतिहास के विशेष सन्दर्भ में कैसे जाना जा सकता है, इसका स्वरूप क्या हो सकता है इत्यादि, इन तथ्यों पर निम्न बिन्दुओं पर विचार करके इसकी स्पष्टता और बढ़ा सकते हैं।

4.3.9 तुलना एवम् इतिहास के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन/विधि

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन तुलना एवम् आन्तरस्थितिक प्रविधियों को संयुक्त कर लेता है। इस तरह यह अध्ययन तुलनात्मक एवम् विधि–विज्ञानात्मक (*कम्परेटिव–नोमाथेटिक*), विचारात्मक–आन्तरस्थितिक (*आइडियोग्राफिक–विदिन–केस स्टडी*) विधियों से युक्त रहता है। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन सांख्यिकीय एवम् प्रायोगिक विधियों की तरह कारण निर्धारको हेतु तथा पुनश्च, नृजातीय तथा ऐतिहासिक विधियों की तरह विशिष्ट घटनाओं के कारण की खोज में प्रयुक्त होता है। हाँलाकि, तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन अन्य विधियों की तरह सामान्यतया परम्परागत रूप से नहीं जुड़ पाता है। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन किसी भी अन्य विधियों के साथ आवश्यकता के अनुसार एवम् विशेष सन्दर्भों में ही आंशिक रूप से जुड़ पाता है। तात्पर्य यह है कि यह अध्ययन समस्त् प्रायोगिक एवम् ऐतिहासिक विधियों के मध्यमार्गीय संयोजन को ही स्वीकार कर पाता है। प्रायोगिक विधि को इसकी सम्पूर्णता में नहीं स्वीकार करने के दो कारण हैं। पहला कि यह वास्तविक जगत् की घटनाओं के वास्तविक विश्लेषण एवम् ठोस शोधमूलक प्रश्नों पर आश्रित होता है, जबकि समाज–विज्ञान अपनी जटिलताओं के कारण ही विज्ञान की ठोस अध्ययन प्रणाली से अछूता रह जाता है। इसका दूसरा कारण यह है कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन नैतिक एवम् व्यावहारिक अभिप्रायों के चलते किसी सामाजिक या ऐतिहासिक मुद्दे को नियन्त्रित तरीके से अध्ययन का विषय नहीं बना सकता।

इसी प्रकार तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन उपर्युक्त विधियों की तरह ही नृजातीय एवम् ऐतिहासिक तथ्यों के अध्ययन के लिए भी परम्परागत रूप से प्रयुक्त होने वाली विभिन्ना विधियों के मध्यमार्गीय प्रयोग की वकालत करता है। ऐतिहासिक विधि काप्रयोग तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन हेतु प्रायशः इसलिए किया जाता है कि अध्ययन हेतु आँकड़ो को इकट्ठा एवम् उनका विश्लेषण किया जा सके। अब हम यहाँ पर देख सकते हैं कि यद्यपि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन पृथक्–पृथक् नृजातीय एवम् ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विधियों का प्रयोग कर सकता है, परन्तु ऐतिहासिक विधि के प्राथमिक आँकड़ों का प्रयोग न करके द्वितीयक आँकड़ों का प्रयोग होता है, जबकि तुलना के द्वारा समाज–विज्ञान के कारणात्मक पहलुओं को खोजने में सहायता मिलती है। इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन से प्रक्रियागत परिवर्तनों का वर्णन एवम् निरूपण तथा तुलनात्मक विधि के द्वारा कारणात्मक नियमों की सामान्य विज्ञानमूलक व्याख्याएँ हो जाती हैं। अन्ततः, हम देख पाते हैं कि यह अध्ययन आख्यानों के द्वारा कारण–प्रक्रिया तथा प्रक्रिया के द्वारा कारण–नियमों का एवम् प्रतिरूप–साम्य के द्वारा सिद्धान्तों का परीक्षण कर पाता है। यहाँ हम कह सकते हैं कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के अन्तर्गत तुलना की बहुत सारी विधियों तथा इतिहास की भी बहुत–सारी विधियों का सम्मिलित प्रयोग कर एक सटीक निष्कर्ष तर्क पहुंचने का प्रयास किया जाता है।

पुनः, विचारात्मक (*आइयोग्राफिक*) एवम् विधि–विज्ञानात्मक (*नोमोथेटिक*) व्याख्याओं के सन्दर्भ में भी तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन को समझा जा सकता है। यहाँ द्रष्टव्य है कि आन्तरस्थितिक विधि विचारात्मक ज्ञान, जबकि तुलनात्मक अध्ययन विधि–विज्ञानात्मक ज्ञान की प्रस्तुति करता है। जब हम इन्हें एक साथ जोड़कर प्रयोग करते हैं तो विचारात्मक एवम् विधि–विज्ञानात्मक दोनों प्रस्तुतियाँ कमजोर हो जाती हैं। तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के द्वारा विचारात्मक (*आइडियोग्राफिक*) ज्ञान की गहनता प्राप्त की जाती है। स्कोकपॉल, टिली एवम् सोमर्स ने तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन का लक्ष्य विचारात्मक प्रस्तुति को ही बतलाया है। फिर भी, विचारात्मक ज्ञान की प्राप्तियाँ तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन में न्यूनतम तथा इतिहास एवम् ऐतिहासिक समाजशास्त्र में अपेक्षाकृत अधिकतम होता है। विचारात्मक प्राप्तियों से भिन्न विधि–विज्ञानात्मक (*नोमोथेटिक*) अध्ययन बहुस्थितिक ज्ञान की प्राप्तियों की प्रस्तुति देता है जो तुलनात्मक विधि की अच्छाई है। लगभग समाज–विज्ञानी *नोमोथेटिक* व्याख्या (यानि विधि–विज्ञानात्मक अध्ययन) को *आइडियोग्राफिक* व्याख्या (यानि विचारात्मक अध्ययन) की तुलना में अधिक तार्किक एवम् विज्ञान सम्मत मानते हैं। तथापि उपयोगिता एवम् वर्ण्य–विषयों की दृष्टि से *नोमोथेटिक* व्याख्याएँ *आइडियोग्राफिक* व्याख्याओं की तुलना में कमतर स्वीकार की जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि *नोमोथेटिक मेथड* आन्तरस्थितिक अध्ययन को छोड़कर चलता है। वहीं पर यदि *आइडियोग्राफिक* को देखें तो यह भी *नोमोथेटिक* व्याख्याओं को सामान्यतः बाधित करता है। हाँलाकि स्कोकपॉल ने इन दोनों विधियों–*आइडियोग्राफिक* एवं *नोमोथेटिक* के बीच सन्तुलन लाने की वकालत करते हैं, क्योंकि इसके द्वारा अध्ययन की सटीक व्याख्या एवम् उसकी समग्रता में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन इन दोनों का मध्यवर्ती स्थिति में रखकर अध्ययन करना भी आलोचनाओं से परे नहीं है, इसका कारण यह है कि दोनों परम्परा के चिन्तक प्रतिपक्षियों की कमियों की ओर नजर रखते हैं।

इस प्रकार अधिकांश विद्वानों का यह मानना है कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के लिए *आइडियोग्राफिक* (विचारात्मक) एवम् *नोमोथेटिक* (विधिमूलक या विधि–विज्ञानात्मक) व्याख्याएँ अनिवार्य एवम् महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि समाज विज्ञान के सूक्ष्म इकाईयों से लेकर स्थूल संस्थाओं के अध्ययन के लिए विशिष्ट एवम् सामान्य अध्ययन की प्रस्तुतियों वाले इन दोनों विधियों की जरूरत पड़ती है। अतः एक के लिए दूसरे का परिहार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार बहुमत में विचारकों की चिन्तनधारा में तुलना एवम् इतिहास के सम्यक् अध्ययन के लिए *आइडियोग्राफिक* एवम् *नोमोथेटिक* व्याख्याएँ तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की युग्मित रुप से अपरिहार्य शर्तें हैं।

4.4 तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययनों की कठिनाइयाँ

उपर्युक्त परिभाषीय व्याख्याओं के आलोक में यदि तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की कठिनाइओं पर दृष्टिपात किया जाय तो हम पाते हैं कि इस अध्ययन–विधि की प्रमुख कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं– (क)तुलना एवम् विश्लेषण के लिए ली गई सामाजिक इकाईयों का चयन करना एवम् उन्हें परिभाषित करना (ख) विभिन्न घटनाओं एवम् स्थितियों की अन्तराश्रितता (ग) उन घटनाओं एवम् स्थितियों का प्रतिनिधित्व नहीं करना जो तुलना के लिए अन्य सन्दर्भों से ग्रहित होते हैं जिसके कारण यह असफल प्रतित होता है (घ) देश एवम् काल के सापेक्ष अवधारणा या सिद्धान्त निर्माण एवम् मापन इत्यादि की विश्वसनीयता एवम् वैधता की समस्या (ड.) आंकड़ों का अभाव जो

लम्बे समय से रहा हो एवम् नयी आ रही समस्याओं की आवश्यकताओं के अनुसार उनका अभाव (च) ऐतिहासिक लेखन एवम् संरक्षण की समस्या (छ) देश एवम् काल के सापेक्ष उपलब्ध आकड़ों के प्रयोग की समस्या जो उचित् सन्दर्भों के साथ उपलब्ध हों (ज) विभिन्न चिन्तनधाराओं में सामाजिक शोध अध्ययन की विधियों की बहुलता एवम् उनके प्रयोगार्थ चयन की समस्याँ इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन समस्याओं के चलते इस अध्ययन की कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं।

4.5 तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन का भविष्य

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन की उपर्युक्त विवेचनात्मक रूपरेखा एवम् कठिनाईओं कोदृष्टिगत रखते हुए सामाजिक प्रक्रियाओं, कारणात्मक विवेचनों एवम् विभिन्न प्रतिमानों के सम्बन्ध में अध्ययन की विधियों में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अध्ययन की विभिन्न प्राविधिक अस्पष्टताओं के बावजूद इसकी अनिवार्य प्रयोज्यता इसके भविष्य को रेखांक्ति करती है। जटिल सामाजिक समस्याओं के अध्ययन एवम् तत्पश्चात् देश एवम् काल के सापेक्ष सर्वमान्य सिद्धान्तों या विंध्यात्मक नियमों की रचना किसी एक विधि के प्रयोग सें सम्भव नहीं है। अतएव तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन परम्परा में विभिन्न विधियों के प्रयोग से सूक्ष्म से लेकर जटिल तक तथा विशिष्ट से लेकर सामान्य तक विभिन्न सामाजिक विषयों का अध्ययन करने के कारण तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि हमेशा अपने महत्त्व को बतलाती रहेगी। किसी एक दृष्टि की तुलना में एक ही तथ्य के सम्बन्ध में कई दृष्टियों से विचार करने पर उसके परिपक्व स्वरूप का पता चल जाता है। अतः यह विधि सम्माजिक विज्ञान के अध्ययन हेतु वैज्ञानिक से लेकर मानवशास्त्रीय विचारों की प्रस्तुति के लिए सर्वाधिक उपादेय प्रतीत होती है।

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के स्वरूप पर गहनता से विचार करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विधि अकेले न तो तुलनात्मक है और न ही ऐतिहासिक। इन दोनों विधियों को एक साथ संयुक्त कर लेने के पश्चात् इनके तकनिकी अर्थों में महत्त्वपूर्ण बदलाव देखने को प्राप्त होता है। इसके परिभाषीय शर्तों एवम् स्वरूप पर प्रमुखता से विचार करने पर यह वर्तमान में प्रयोग में लायी जाने वाली अनेक अनुसन्धान की विधियों में प्रमुख स्थान रखती है। हाँ, यह अवश्व है कि मानविकी विषयों की तुलना में समाज विज्ञान एवम् उसमे भी विशिष्ट रूप से समाजशास्त्र के अध्ययन में बहुधा प्रयुक्त होने वाली विधि है। यही कारण है कि कई बार इसे समाजशास्त्रीय विधि के रूप में भी जाना जाता है। इस विधि का महत्त्व तब बढ़ जाता है जब यह विज्ञान सम्मत एवम् मानविकी अध्ययनों के क्षेत्र में प्रयोग में लायी जाने वाली अनेक विधियों का उपयोग करती है, परन्तु उनके विशिष्ट ऐकांतिक प्रयोगों से अपनी पृथकता बनाते हुये एक समग्र शोध–अध्ययन की विधि (*होलिस्टिक रिसर्च मेथड*) के रूप में प्रस्तुत करती है जिससे सामाजिक शोध की समझ की गहराई में जाने में मदद मिलती है। इस प्रविधि का प्रमुख झुकाव वैज्ञानिक व्याख्याओं हेतु उपयुक्त तर्कों की संरचना तैयार करना होता है।

4.6 सारांश

तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन सामाजिक जगत् के विभिन्न प्रत्ययों एवम् उनकी प्रक्रियागत परिवर्तनों एवम् कारणात्मक सम्बन्धों के विचारों के अध्ययन हेतु प्रयोग में लायी जाने वाली विभिन्न शोध–अध्ययन की प्रविधियों में से एक है। इस अध्ययन कीविधि को समझने के लिए शोध–विधि हेतु प्रयोग में लायी जाने वाली विभिन्ना

विधियों की परम्पराओं के अध्ययन के अन्तर्गत कतिपय समाज वैज्ञानिक विधियाँ जैसे–सांख्यिकीय, प्रयोगशाला विधि, नृजातीय अध्ययन, जॉन स्टुअर्ट मिल की प्रायोगिक विधियाँ, तुलनात्मक एवम् ऐतिहासिक विधियों के एकल अवधारणात्मक प्रयोगों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जता है कि तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि में इन सबका एक सम्मिलित प्रयोगमूलक योगदान है। या यों कहें कि यह अध्ययन इन समस्त् पूर्वोक्त वर्णित विधियों का एक सम्यक् मिश्रण है। सम्पूर्णता में इसकी व्याख्या करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो पाता है कि यह विधि विचारात्मक (*आडियोग्राफिक*) एवम् विधि–विज्ञानात्मक (*नोमोथेटिक*) विभाजनों के अध्ययन विधियों के स्पष्ट विभाजन एवम् उनके सन्तुलित प्रयोग पर बल देने वाला अध्ययन है। ऐसा इसलिए भी है कि *नोमोथेटिक* व्याख्याएँ विज्ञानमूलक होने के कारण कारणात्मक प्रक्रियाओं के नियम तथा *आइडियोग्राफिक* व्याख्याऍ इतिहास एवम् देश–काल के सापेक्ष उपस्थित नृजातीय एवम् मानवीकी के विशिष्ट अध्ययनों की प्रस्तुति देती है। इस अध्ययन के समर्थक विचारकों का बहुमत दोनों के सन्तुलन एवम् तार्किक चयन के पश्चात् वर्णनात्मक एवम् निरूपणात्मक ज्ञान–तन्त्र (*सिस्टम ऑफ नालेज*) की प्रस्तुति के उवाचक हैं। वर्तमान में समाज–विज्ञान के विभिन्न उप–विषयों में अन्तर–अनुशासनात्मक अनुशीलन में बहुत ही लोकप्रिय अध्ययन के रूप में तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि की गणना की जाती है।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

क) **विधि**– आँकड़ों के संकलन एवम् विश्लेषण से लेकर निष्कर्ष तक पहुंचने की तकनीकि प्रक्रिया को मानविकी एवम् सामाजिकी विषयों के अध्ययन को विधि कहते है। इसका व्यापक अर्थ नियम एवम् सिद्धान्तों की संरचना से है।

ख) **आन्तरस्थितिक विधि या अध्ययन**– किसी परिघटना की विशेष स्थिति के सापेक्ष किया गया तकनीकी अध्ययन जिसे *विदिन–केस स्टडी* कहते हैं। यह किसी तन्त्र के भीतर गहनता से किये गये अध्ययन की प्रक्रिया है।

ग) **सांख्यिकीय विधि**– आंकिक आँकड़ो की सहायता से किया गया वह तकनीकी अध्ययन जो विभिन्न, कारको, चरों एवम् अचरों के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

घ) **नृजातीय अध्ययन/विधि**– समाज वैज्ञानिक विधि का एक उप प्रकार जो विभिन्न मानव–समूह के कला, शास्त्र एवम् मौखिक इतिहास के सहारे की जाने वाली तकनीकी विधि या प्रक्रिया है जिसमें मानव जीवन के साथ–साथ उसकी संस्कृति एवम् विकास की स्थिति का आंकलन प्रस्तुत किया जाता है।

ड.) **प्रयोगमूलक विधि**– शोध अध्ययन की वह प्रक्रिया जो सामाजिक वर्ण्य विषयों पर विज्ञानमूलक तरीके से अध्ययन की स्वीकृति प्रदान कर उनमे तर्कतः वैध उपस्थापनाओं को प्रस्तुति करती है। यह विधि एक संकल्पनामूलक अनुप्रयोगों के पश्चात् प्राप्त परिणाम के सापेक्ष सिद्धान्त निर्माण एवम् सत्यता के कथन को स्पष्ट करती है जो विज्ञान में आस्था का सबसे प्रबल कारक है।

च) **ऐतिहासिक विधि**–इस विधि को इतिहास लेखन की विधि भी कहते हैं। इतिहास के अध्ययन हेतु यह सर्वाधिक प्रयोज्य एवम् अन्य सामाजिक उपागमों के अध्ययन में भी महत्त्वपूर्ण प्रविधि हैं। इसमें आख्यान शैली के प्रयोग से विभिन्न आँकड़ो का विश्लेषण होता है। इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न निरूपणों के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान तन्त्र को समझने में सहायता प्राप्त होती है।

छ) **तुलनात्मक विधि**– सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक विभिन्न समाजिकइकाईयों के बीच कारणात्मक, प्रक्रियात्मक एवम् प्रतिमानमूलक समानताओं एवम् विभिन्नताओं का अध्ययन इस विधि के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यह तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन विधि हेतु अनिवार्य प्रक्रियामूलक विधि है।

ज) **विचारात्मक** (*आइडियोग्राफिक*) **व्याख्याएँ**– यह विभिन्न प्रकार की जटिल समस्याओं के भीतर लघु स्थितियों के अन्तर्गत किसी विशिष्ट परिघटना में कारणात्मक व्याख्याओं का अध्ययन है। यह विधि या अध्ययन किसी बड़े आकार के प्रतिमानों को अपना विषय नहीं बनाता।

झ) **विधि विज्ञानात्मक** (*नोमोथेटिक*) **व्याख्याएँ**– यह विचारात्मक अध्ययन की तरह ही कारणमूलक अध्ययन की प्रक्रिया है, परन्तु इसके प्रतिमानों (*मॉडल्स*) का आकार बड़ा एवम् जटिल होता है। यह उसकी तुलना में अत्यधिक विज्ञान–सम्मत एवम् तार्किक होता है। इसमें निष्कर्ष की सामान्यता पर बल दिया जाता है।

ञ) **तुलनात्मक–ऐतिहासिक विधि**– यह शोध अध्ययन की सूक्ष्म से लेकर जटिल स्तर की समाज–विज्ञान से सम्बद्ध विभिन्न विषयों का एवम् परम्परा से प्राप्त विभिन्न शोध विधियों की सहायता या प्रयोग करके प्रमुख रूप *आइडियोग्राफिक* एवम् *नोमोथेटिक* व्याख्याओं के सन्तुलन पर बल देने वाली विधि है।

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

i) महोनी, जे०, रुश्चेमेयर डी० (सम्पा०) 2003, *कॉम्परेटिव हिस्टॉरिकल एनालिसिस इन द सोशल साइंसेज,* कैम्ब्रीज, यू० के० कैम्ब्रीज यूनिवर्सिटी प्रेस।

ii) महोनी, जे० रुश्येमेयर डी०, 2003, *कम्परेटिव हिस्टॉरिकल एनालिसिसः अचीवमेण्ट्स एण्ड एजेण्डाज*।

iii) गोल्डथोर्पे, जे० एच्०, 2000, *ऑन सोसियोलॉजीः नम्बर्स, नरेटिव एण्ड दि इन्टिग्रेशन ऑफ रिसर्च एण्ड थियरी,* आक्सफोर्ड, यू० के०, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

iv) जेरींग जे०, 2001, *सोशल साइंस मेथडोलॉजी : अ क्राइटेरियल फ्रेमवर्क,* कैम्ब्रीज, यू० के०, कैम्ब्रीज यूनिवर्सिटी प्रेस।

v) अब्राम, फिलिप्स, 1992, *हिस्टॉरिकल सोशियोलॉजी,* इथाका न्यू यार्क, कार्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस।

vi) एडम एण्ड ट्यूने, 1970, *द लॉजिक ऑफ कॉम्परेटिव सोशल इन्क्वायरी,* न्यू यार्क।

4.9 बोध प्रश्न

i) तुलनात्मक विधि पर प्रकाश डालिएँ

ii) ऐतिहासिक विधि का विवेचन कीजिए

iii) आन्तरस्थितिक अध्ययन क्या है? समझाइए

iv) विचारात्मक (*आइडियोग्राफिक*) व्याख्याएँ क्या है? सौदाहरण समझाइए

v) विधिमूलक (*नोमाथेटिक*) व्याख्याएॅ किसे कहते हैं? विवेचन कीजिए

vi) तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन के विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में वैचारिक विकास को रेखांक्तिकीजिए

vii) प्रत्यक्षवाद क्या है? समझाइए

viii) तुलनात्मक–ऐतिहासिक अध्ययन को सविस्तार विवेचन कीजिए

ix) इतिहासलेखन क्या है? इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत कीजिए

x) शोध–अध्ययन को समझाइए।

इकाई 5 मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति का प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप निम्नलिखित विचारों को भलीभांति समझ सकेंगे

- मनोविश्लेषणवाद क्या है?
- फ्रायड के सिद्धांत और उनकी प्रमुख रचनाएँ
- लाकां का मनोविश्लेषण में योगदान

- युंग के सिद्धांत
- मनोविश्लेषण का नारीवादी पक्ष

5.2 मनोविश्लेषणवाद : एक परिचय

मनोविश्लेषण मनोचिकित्सा की एक शाखा है, जो मानसिक विकारों का इलाज 'चेतन और अचेतन तत्वों के परस्पर क्रिया के अन्वेषण से' करती है। इस विधि के अनुसार, मनोविकारों से पीड़ित को खुल कर बात करने की स्वतंत्रता दी जाती है, जिससे कि उसके दबे हुए भय और द्वंद्व जो विभिन्न समस्याओं का कारण हैं, अचेतन में दबे रहने के बजाय सचेत मन में लाए जा सके और इसको माध्यम बनाकर उसका इलाज किया जा सके। इस पद्धति का आधार मन, प्रवृत्तियाँ, और यौनिकता(sexuality) को व्याख्यायित करने वाले विशिष्ट सिद्धांत हैं । इस सिद्धांत के प्रणेता महत्त्वपूर्ण ऑस्ट्रियाई मनोचिकित्सक, सिगमंड फ्रॉयड (1856- 1939) हैं।

5.1.1 मनोविश्लेषणवाद : उत्पत्ति और विकास

मनोविश्लेषणवाद का उद्भ्रम सिगमंड फ्रायड की रचनाओं से हुआ है, जिन्होंने 19वीं सदी के अन्त में अचेतन मन, दमन और लैंगिकता के विचारों का अन्वेषण किया। फ्रायड के अनुयायियों ने इस सिद्धांत को आगे बढ़ाते हुए नव- फ्रायडियन और उत्तर- फ्रायडियन सिद्धान्तों जैसे कई विविध दृष्टिकोणों को जन्म दिया। मनोविश्लेषणवाद अब भी समकालीन पद्धतियों और अनुसंधान के साथ सामंजस्य बिठाते हुए, मनोविज्ञान और चिकित्सा को प्रभावित कर रहा है। वर्तमान में "मनोविश्लेषणवाद" एक सिद्धांत मात्र नहीं है अपितु इस क्षेत्र में विभिन्न शाखाओं और दृष्टिकोणों का विकास हो चुका है। कुछ थेरेपिस्ट पारम्परिक फ्रायडियन सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करते हैं, जबकि अन्य समकालीन चिकित्सकीय पद्धतियों के अनुसार मनोविश्लेषणात्मक अवधारणाओं को अनुकूलित और संशोधित करते हैं। समकालीन मनोविश्लेषक अपने सिद्धान्तों और चिकित्सकीय दृष्टिकोणों को सिद्ध करने के लिए प्रयोगात्मक अनुसंधान पर आश्रित हैं।

5.2 सिगमंड फ्रॉयड : मानसिक प्रक्रियाएँ

सिगमंड फ्रॉयड ने चिकित्सा का अध्ययन वियना विश्वविद्यालय से किया और 1881 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने एक न्यूरोलॉजिस्ट के रूप में प्रशिक्षण लिया किन्तु बाद में उनकी रूचि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण में हो गई। फ्रॉयड ने चिकित्सा क्षेत्र में शुरुआत एक न्यूरोलॉजिस्ट के रूप में ही की थी और कुछ समय तक वियना जनरल अस्पताल में कार्यरत रहे। इसके बाद उन्होंने न्यूरोलॉजी में निजी प्रैक्टिस की शुरुआत की और मनोविश्लेषण की पद्धति विकसित की, जिसने मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक नई क्रांति को जन्म दिया । उन्होंने अचेतन मन की अवधारणा, इडिपस कॉम्प्लेक्स और दमित विचारों और इच्छाओं को उजागर करने में सपनों की भूमिका, आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धांतो का विकास किया। "द इंटरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स" (1899), "द साइकोपैथोलॉजी ऑफ एवरीडे लाइफ" (1901), और "थ्री एसेज ऑन द थ्योरी ऑफ सेक्सुएलिटी " (1905) फ्रॉयड की कुछ सबसे प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

1938 में, ऑस्ट्रिया में नाज़ी सत्ता के आने पर, फ्रायड और उनके परिवार को वियना से पलायन करना पड़ा। इसके उपरांत वे लंदन में बस गए, जहाँ फ्रायड ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष बिताए। वर्तमान में अधिकतर विद्वान इस पर सहमत हैं इस विधि के चिकित्सात्मक मूल्यों

की अपनी सीमायें है, और यह भी कि फ्रॉयड के सिद्धान्तों में गंभीर पद्धतिक अनियमित त्रुटियाँ हैं। हालांकि, अब भी फ्रॉयड के सिद्धांत एक प्रमुख सांस्कृतिक प्रभाव के रूप में मौजूद है, और स्व पर हमारे विचारों को वह काफी हद तक प्रभावित करते है।

हम आगे के तीन अनुच्छेदों में फ्रॉयड के प्रमुख विचारों को समझेंगे। फ्रॉयड के सम्पूर्ण कार्य का आधार अचेतन की अवधारणा है, जो चेतना से परे मस्तिष्क का एक हिस्सा है और हमारे कार्यों को सशक्त रूप से प्रभावित करता है। फ्रायड ने अचेतन की अवधारणा को जन्म नहीं दिया, किन्तु उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि हमारे जीवन में अचेतन की एक निर्णायक भूमिका होती है। 'निग्रह' (रेप्रेशन) की धारणा भी इसके साथ सम्बद्ध है , जो अनसुलझे विवाद, अस्वीकृत इच्छाओं , या कष्टप्रद पूर्व घटनाओं को 'भूलने' या उनको नज़रअंदाज़ करने की प्रक्रिया है, ताकि वे सचेत मन की पहुँच से बाहर, अचेतन क्षेत्र में धकेल दिए जाएँ। इसके समान ही एक प्रक्रिया है 'उदात्तीकरण' (सब्लिमेशन), जिसके द्वारा निग्रहित सामग्री को किसी भव्य चीज़ के रूप में 'प्रोन्नत' कर दिया जाता है या किसी 'भद्र' चीज़ के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। सरल शब्दों में समझें तो मन की निग्रहित वासनाओं को एक भद्र कलेवर में प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणतः, यौन इच्छाएँ , गहन धार्मिक अनुभवों या लालसाओं के रूप में उदात्तीकृत अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकती हैं। फ्रॉयड ने बाद में मानस को दो के बजाय तीन खण्डों में बांटने का सुझाव दिया :- अहम (ego) पराहम (super ego),और इदं (id), जो क्रमशः चेतन, अवचेतन और अचेतन के अनुरूप थे।

फ्रॉयड के बहुत से विचार यौनिकता के पहलुओं से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए, 'शैशव यौनिकता'(child sexuality) की अवधारणा के अनुसार यौनिकता किशोरावस्था से नहीं बल्कि शैशव में ही आरंभ हो जाती है, विशेषकर शिशु के माता- पिता के सम्बन्ध के माध्यम से। इसके साथ इडिपस मनोग्रंथि या कुंठा भी जुडी हुई है , जिसमे, फ्रॉयड के अनुसार, पुरुष शिशु के मन में पिता को प्रतिस्थापित करने की इच्छा होती है। फ्रायडियन अन्तर- पीढ़ीगत संघर्ष के कई रूपों को ओडिपस कुंठा के चिह्न के रूप में भी देखते है, जैसे कि व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा, जिसे फ्रायडियन अर्थों में माता- पिता के अनुग्रह के लिए या सरल शब्दों में कहें तो उनके लाड के लिए होने वाली भाई- बहनों के बीच की प्रतिस्पर्धा का परिणाम है। (जैसा कि इडिपस मनोग्रंथि की विचारधारा से पता चलता है, फ्रॉयडियन सिद्धांत आमतौर पर अपने पूर्वाग्रहों में गहन पुरुषवादी मानसिकता लिए हुए है)। एक और महत्त्वपूर्ण विचार है कामेच्छा या लिबिडो का, जो यौन इच्छा और सभी व्यवहारों की प्रेरणा शक्ति है। क्लासिकल फ्रॉयडियन सिद्धांत में इसके तीन कामोद्दीपक क्षेत्र(erogenous zones) होते हैं: मौखिक(oral), अपानिक(anal) और शिश्निक(phallic) । व्यक्ति की कामेच्छा/लिबिडो एक स्वाभाविक वृत्ति का अंग होती है जिसे बाद में फ्रॉयड ने एरोस (ग्रीक 'प्रेम' के देवता) कहा, जिसका अर्थ होता है जीवन वृत्ति , और विपरीत है थानातोस (ग्रीक 'मृत्यु' के देवता), जिसका अर्थ होता है मृत्यु वृत्ति, जो बेशक विवादास्पद है।

कई बीज शब्द हैं जिन्हें **मानसिक प्रक्रियाओं** से सम्बन्धित कहा जा सकता है, जैसे कि स्थानांतरण (ट्रांस्फरेन्स)। स्थानांतरण, एक ऐसी घटना है जिसमें विश्लेषित रोगी मनोविश्लेषण के दौरान याद आई हुई भावनाओं को मनोविश्लेषक के प्रति पुनर्निर्देशित करता है। अतः अतीत में माता- पिता के प्रति महसूस की गई शत्रुता या दुश्मनी की भावनाएँ फिर से सक्रिय हो कर विश्लेषक के प्रति निर्देशित हो सकती हैं। ऐसी ही एक प्रक्रिया **प्रक्षिप्ति** (प्रोजेक्शन) है, जिसमें हम स्व के कुछ पहलुओं (मुख्यतः नकारात्मक) को स्वीकार नहीं कर पाते और उन्हें दूसरों पर

आरोपित कर देते हैं, उदाहरणस्वरूप, हमारी अपनी वासनाएँ या द्वंद्व, इस प्रकार 'अस्वीकृत' हो जाते हैं। इन दोनों को एक रक्षा तंत्र(defence mechanism) के रूप में देखा जा सकता है, यानी कष्टप्रद स्वीकारोक्तियों या प्रतीतियों से बचने के लिए प्रयुक्त मानसिक प्रक्रियाएँ। ऐसी ही एक और प्रक्रिया आवरण स्मृति (screen memory) है, जो कोई सामान्य महत्त्वहीन स्मृति होती है जो किसी महत्त्वपूर्ण (किन्तु कष्टप्रद) स्मृति को ढक लेती है, ताकि उस पीड़ा से बचा जा सके। इन मानसिक प्रक्रियाओं का एक प्रसिद्ध उदाहरण फ्रॉयडियन भूल (फ्रॉयडियन स्लिप) भी है, जिसे फ्रॉयड ने खुद 'पैराप्रैक्सिस' कहा था, जिसके द्वारा अचेतन मन की दबी भावनाओं को जीवन के नित्य प्राकृतिक घटनाओं के माध्यम से निकलने का मार्ग मिलता है, जैसे कि जुबान फिसलना, कलम फिसलना या अन्य अनायास अनजान क्रियाएँ।

5.2.1 द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ ड्रीम्स

इंटरप्रिटेशन ऑफ़ ड्रीम्स प्रक्रिया में कई बीज प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं। विस्थापन (displEcement) इसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है जिसके द्वारा एक व्यक्ति या घटना को किसी अन्य व्यक्ति या घटना द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यह अन्य व्यक्ति/घटना उस मूल व्यक्ति/घटना से किसी न किसी रूप में, शायद किसी श्रुतिसम शब्द के कारण, या किसी प्रकार से प्रतीकात्मक प्रतिस्थापन के कारण, सम्बन्धित या सम्बद्ध होती है। एक अन्य प्रक्रिया संघनन (condensation) की भी इसमें अहम् भूमिका होती है, जिसके द्वारा एक छवि स्वप्न में नज़र आती है जिसमें एक से अधिक लोग, घटनाएँ या अर्थ समाहित होते हैं। सपनों में अक्सर कई स्वप्न- विचारों के संयुक्त रूप होते हैं और प्रकट सपने के एक ही तत्व में समाहित हो जाते हैं (उदाहरणतः प्रतीक) . यह प्रक्रिया साहित्य के ही समान है। इस प्रकार, पात्र, प्रेरणा, और घटनाएँ स्वप्न में बहुत 'साहित्यिक' तरीके से प्रस्तुत होती हैं, जिसमें स्वप्न कार्य द्वारा अमूर्त विचारों या भावनाओं का यथार्थपरक दृश्यों में अनुवाद होता है। स्वप्न, साहित्य की तरह, आमतौर पर स्पष्ट संवाद नहीं करते। दोनों प्रत्यक्ष या सीधी वार्ता से बचते हुए, परोक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संवाद करते हैं, और समय, स्थान या व्यक्ति के मूर्त स्वरुप के माध्यम से अर्थ का प्रस्तुतीकरण करते हैं।

फ्रॉयड का मानना है कि सपनों में दो प्रकार की सामग्री होती है, प्रत्यक्ष (मैनिफेस्ट) और गुप्त (लेटेंट)। प्रत्यक्ष स्तर का सपना स्वतः स्पष्ट होता है, उसे किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु गुप्त / प्रच्छन्न स्वप्न इतना सरल नहीं होता, उसमें जटिलता का समावेश होता है। वही वह वास्तविक विचार होता है जो सचेत या स्वच्छंद रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वह निग्रहित/दमित या "सेंसर्ड" है। इसीलिए फ्रायड ने स्वप्न को "निग्रहित इच्छा की प्रच्छन्न पूर्ति " कहा है (SE 7: 85)। विकृतियाँ (डिस्टोर्शन्स) वो इच्छाएँ हैं जो अक्सर अजीब और अस्पष्ट सपनों का रूप ले लेती हैं, ताकि स्वप्न का वह निषिद्ध अर्थ पहचाना न जा सके। फ्रॉयड के अनुसार स्वप्न- कार्य (dre.M- work) एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें नींद के दौरान, जब स्वप्न सेंसर कम सतर्क होता है, या यूँ कहें कि थोड़ा ढीला पड़ जाता है, तब अचेतन सामग्री को एक प्रच्छन्न(disguised) या कोडित (coded) अभिव्यक्ति का मार्ग मिल जाता है। यह स्वप्न- कार्य संघनन और विस्थापन आदि कई प्रमुख प्रक्रियाओं का प्रयोग कर अचेतन सामग्री को स्वप्न की प्रत्यक्ष सामग्री में आरोपित कर देता है। दूसरे शब्दों में, स्वप्न- कार्य वह काम करता है जिसे कई (फ्रॉयड समेत अनेकों) विद्वान एक साहित्यिक गतिविधि के समान मानते हैं, जिसमें रूपक(metaphor), लक्षणालङ्कार (metanomy) आदि विचित्र रूप में अचेतन में छिपी गुप्त इच्छाओं को प्रस्तुत करते हैं। विश्लेषक को विश्लेषित के सपनों की प्रत्यक्ष

सामग्री को पूर्णतः समझने के लिए गुप्त स्तर के अचेतन और निग्रहित अर्थ तक पहुंचना आवश्यक होता है। यह एक कठिन और दीर्घ प्रक्रिया है, और अधिकाँश लोग अक्सर विश्लेषक की व्याख्याओं का विरोध करने लगते हैं। विश्लेषक का एक कुशल व्याख्याता होना भी आवश्यक है, जो सहज रूप से सपने से मूल इच्छा की ओर लौट सके। स्वप्न महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि उनमें उन मानसिक लक्षणों की कुंजी होती है जो मनुष्य की मौलिक भावनाओं जैसे संतुष्टि या उत्पीड़न के प्रथम अनुभव के दौरान उत्पन्न होते हैं। इसीलिए बचपन के यौन अनुभव मूलतः महत्त्वपूर्ण होते हैं।

5.2.2 थ्री एसेज ऑन द थ्योरी ऑफ़ सेक्सुअलिटी

"थ्री एसेज ऑन द थ्योरी ऑफ़ सेक्सुअलिटी" फ्रायड की एक महत्त्वपूर्ण रचना है जो मानव यौनिकता के विकास और मनोविश्लेषण के साथ इसके सम्बन्ध का अन्वेषण करता है। पुस्तक में तीन निबन्ध शामिल हैं, जिनमें से प्रत्येक यौनिकता के सिद्धांत के विभिन्न पहलुओं की जांच करता है।

पहले निबन्ध, "द सेक्शुअल एबरेशन्स" में, फ्रायड ने चर्चा की है कि यौन विपथन या विकृतियाँ वो व्यवहार हैं जो मानव लैंगिकता की मानक अभिव्यक्ति से इतर होते हैं। वे यौन विकृतियों के विभिन्न रूपों को वर्गीकृत करते है, जिनमें समलैंगिकता, फेटिशिस्म (fetishism), परपीड़न रति(sadism) और स्वपीड़ासक्ति (masochism) शामिल हैं। फ्रायड का मानना है कि ये विचलन यौन ऊर्जा के स्थानांतरण (displEcement) या आसक्ति(fixation) के परिणामस्वरूप होते हैं और अक्सर उनकी उत्पत्ति का स्रोत बचपन के अनुभवों और संघर्षों में होता है।

दूसरा निबन्ध, "शैशव यौनिकता"(child sexuality), शैशव यौनिकता की अवधारणा पर प्रकाश डालता है, जिसमें दावा किया गया है कि बच्चे छोटी उम्र से ही यौन इच्छाओं और प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करते हैं, भले ही वह आदिम और अविकसित रूप में हो। फ्रायड ने "polymorphous perversity" का सिद्धांत दिया, जिसमें बताया कि बच्चों में यौन इच्छाओ की एक विस्तृत श्रृंखला होती है जो उस समय तक वयस्क यौन मानकों में व्यवस्थित नहीं होती है। उनका मानना है कि शैशव यौनिकता के शुरुआती अनुभव वयस्क यौन विकास और मानसिक विकारों को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

तीसरा निबन्ध, "The Transformation of Puberty", किशोरावस्था के दौरान होने वाले यौन विकास का अन्वेषण करता है, जिसमें ईडिपस कुंठा की भूमिका पर जोर दिया गया है। फ्रायड ने ईडिपस कुंठा को बच्चे के मनोवैज्ञानिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण के रूप में पेश किया है। इस चरण के दौरान, बच्चे विपरीत लिंगी अभिभावक के लिए तीव्र और अक्सर अचेतन, यौन इच्छाओं का अनुभव करते हैं और समान लिंगी अभिभावक के साथ प्रतिद्वंद्विता का अनुभव करते हैं। वह चर्चा करते हैं कि कैसे ईडिपस कुंठा के समाधान से पराहं का विकास होता है और सामाजिक मानदंडों और मूल्यों को आत्मसात किया जाता है, जो किसी व्यक्ति की यौन और नैतिक पहचान को आकार देता है।

संक्षेप में, "Three Essays on the Theory of Sexuality" मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत में एक मूलभूत कार्य है। यह तत्कालीन सामाजिक मानदंडों और मान्यताओं को चुनौती देता है और उन अवधारणाओं को पेश करता है जो मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और यौनिक अध्ययन

में प्रभावशाली हैं। फ्रायड के शैशव यौनिकता, यौन विपथन और ईडिपस कुंठा आदि विचारों का मानव विकास और व्यवहार की हमारी समझ पर स्थायी प्रभाव पड़ा है।

5.2.3 बियॉन्ड द प्लेज़र प्रिंसिपल

"बियॉन्ड द प्लेज़र प्रिंसिपल" (1920) से पहले फ्रायड ने आनन्द सिद्धांत, (जिसके अनुसार मानव व्यवहार मुख्यतः आनन्द की खोज और दुःख से बचने की कोशिश पर आधारित है) पर विशेष बल दिया था। किन्तु अपने इस लेख में उन्होंने "मृत्यु वृत्ति" या "थानाटोस" की अवधारणा पेश की, जो बताती है कि, मनुष्य में जीवन- वृत्ति (इरोस) के साथ-साथ, मृत्यु, विनाश और आक्रामकता की ओर एक मौलिक प्रेरणा मौजूद होती है। यह मृत्यु वृत्ति या थानातोस आनन्द सिद्धांत के साथ एक सह- अस्तित्व में विद्यमान रहती है, और कभी- कभी इनके मध्य संघर्ष भी होता है। फ्रायड आघातजन्य मानसिक विकार(traumatic mental disorder), दुःस्वप्न (bad dre.Ms) और पूर्वदीप्ति (flashback) जैसे पुनरावृत्त व्यवहारों का भी अन्वेषण करता है, जिन्हें सिर्फ आनन्द सिद्धांत द्वारा आसानी से समझा नहीं जा सकता है। उनके अनुसार ये व्यवहार मृत्यु वृत्ति से सम्बन्धित आघातजन्य अनुभवों को दोहराने की विवशता से सम्बद्ध हो सकते हैं। यह निबन्ध फ्रायड के पूर्व सिद्धान्तों से एक महत्त्वपूर्ण पलायन का प्रतीक है और मानव प्रेरणाओं और व्यवहारों की समझ का विस्तार करता है।

5.2.4 द ईगो एँड द इड

"द ईगो एँड द इड" (1923) में, फ्रायड ने मन के संरचनात्मक तंत्र पर विस्तार से बात की है। वह इसमें तीन घटको की बात करते हैं : इदं (id), अहं(ego) और पराहम् (superego) । इदं मानस के आदिम और सहज भाग का प्रतिनिधित्व करता है, जो आनन्द सिद्धांत के अनुसार काम करता है और इच्छाओं की तत्काल संतुष्टि चाहता है। दूसरी ओर, अहं मन का सचेतन, तर्कसंगत और यथार्थोन्मुख पक्ष है, जो बाह्य यथार्थ की बाधाओं के अनुसार इदं की इच्छाओं को संतुलित करता है। यह यथार्थवादी सिद्धांत के अनुसार कार्य करता है, कार्यों के परिणामों पर विचार करता है और आवश्यकता पड़ने पर संतुष्टि को विलम्बित करता है। पराहम्, तीसरा घटक, मानस का नैतिक हिस्सा है, जो सामाजिक मानदंडों, मूल्यों और नैतिक मानकों को आत्मसात करता है। यह विवेक के रूप में कार्य करता है और इदं की इच्छाओं और अहं के यथार्थवादी विचारों के बीच मध्यस्थता करता है। फ्रायड इस बात पर भी चर्चा करता है कि कैसे इन तीन घटकों के बीच संघर्ष आंतरिक मनोवैज्ञानिक संघर्षों और रक्षा तंत्र की अवधारणा को जन्म देता है जिसका प्रयोग अहं इन संघर्षों को प्रबंधित करने और व्यक्ति को भावनात्मक संकट से बचाने के लिए करता है।

ये दोनों निबन्ध मनोविश्लेषण के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं और मनोविज्ञान में प्रभावशाली बने हुए हैं। वे मानव व्यवहार और प्रेरणा की जटिलताओं को गहराई से ससमझने में सहायक हैं। मनोविज्ञान के क्षेत्र और मानव विचार और व्यवहार के अध्ययन में मृत्यु वृत्ति, मानस की संरचना और रक्षा तंत्र पर फ्रायड के कार्यों का स्थायी प्रभाव पड़ा है ।

5.2.5 उत्तर फ्रायड मनोविश्लेषणवाद

यद्यपि फ्रायड की बाद की रचनाएँ, खासकर 'सिविलाइजेशन एँड इट्स डिस्कंटेंट्स' और 'मोसेस एँड मोनोथेइज़्म', अत्यंत वैचारिक थे। इसने मनोविश्लेषण, सांस्कृतिक आलोचना और

मानव व्यवहार को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

'सिविलाइजेशन एँड इट्स डिस्कंटेंट्स (1930) में, फ्रायड सभ्य समाज में व्यक्तिगत इच्छाओं और सामाजिक बाधाओं के बीच मौजूद मूलभूत तनाव से जूझते है। वह आनन्द सिद्धांत, जो व्यक्तिगत इच्छाओं और संतुष्टि को संचालित करता है, और यथार्थवादी सिद्धांत, जो सामाजिक मानदंडों और बाधाओं को लागू करता है, के बीच संघर्ष का गहराई से अन्वेषण करते है। फ्रायड का तर्क है कि आनन्द के लिए अन्तर्निहित मानवीय इच्छा अक्सर सभ्य जीवन की मांगों और प्रतिबंधों से टकराती है। वह आक्रामकता और विनाशकारी मानव प्रवृत्ति की की भूमिका का भी अन्वेषण करते है, और यह प्रस्तावित करता है कि ऐसी प्रवृत्ति मानव मानस के आवश्यक घटक हैं। यह पुस्तक प्रसन्नता की खोज और मानव पीड़ा के मनोवैज्ञानिक स्रोतों को भी छूती है। यह अन्ततः मानव सभ्यता के मूल्यों और मनुष्य द्वारा समाज में रहने के लिए चुकाई गई कीमत पर प्रश्न उठाता है।

हालाँकि इन रचनाओं में व्यक्तिगत विचारधारा के बजाय परम्परा और धर्म में उत्पत्ति के साथ मुख्य रूप से आध्यात्मिक विचारधारा पर चर्चा की गई, तब भी फ्रायड इस बात से सहमत थे कि मनोविज्ञान एक विज्ञान है। किन्तु इन विचारों (विशेषकर ईडिपस और बन्ध्यीकरण को लेकर) के महत्त्व पर सबके मत समान नहीं हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में मान्यता पाते ही मनोविश्लेषण को विभाजन, मतभेद और सामूहिक झुकावों/ रुझानों का सामना करना पड़ा जिसने फ्रायड के प्रभुत्व को ख़त्म किया और मनोविश्लेषण को विस्तार दिया साथ ही इसे लोकप्रिय भी बनाया। 1913 में फ्रायड के साथ कार्ल युंग का मतभेद मुख्यतः यौनिकता और अचेतन के सिद्धांत पर था। चूँकि यह विवाद मनोविश्लेषणवाद के विकास के आरंभ में ही हुआ था, आम तौर पर संशोधनवादी युंग की बाद की रचनाओं को फ्रायडियनवाद नहीं मानते। फ्रायड के तथ्यशास्त्रीय प्रभुत्व को सबसे बड़ा झटका उनकी बेटी अन्ना और डी. डब्ल्यू. विनीकॉट, ओटो रैंक और मेलानी क्लाइन जैसे स्व- सम्बन्धपरक सिद्धांतकारों से लगा। एक ओर तो वैयक्तिक सबन्धपरक सिद्धांतकार इदं और अचेतन के बजाय अहं के गतिशील गुणों पर ज्यादा ध्यान देते हैं, दूसरी ओर वस्तुनिष्ठ सम्बन्धपरक सिद्धांतकार ईडिपस कुंठा को प्राथमिकता देने के बजाय मां- बच्चे के रिश्ते पर जोर देते हैं। वस्तुनिष्ठ सम्बन्धपरक सिद्धांत विशेष रूप से प्रभावशाली रहा है। अन्य सिद्धांतकारों ने खंडित स्व को संगठित करके सम्पूर्ण अहम् को पुनः प्राप्त करने की कोशिश की, विशेष रूप से आर डी. लैंग और हाइंज़ कोहुट की "self- psychoUnalysis" में। जैक लाकां ने इनमें से कुछ क्रमागत विकासों पर प्रश्न उठाए, विशेष रूप से अहं शिक्षाशास्त्र पर, जो उनके लिए "स्वायत्त अहं के समाजशास्त्रीय काव्यशास्त्र के आवेग में भटक गया था" . इस और इस जैसे कई कारणों के कारण उन्होंने "वापस फ्रायड की ओर " (back to freud) का नारा दिया, मुख्यतः उनके ईडिपस कुंठा और अचेतन जैसे मूल सिद्धान्तों की ओर।

5.3 जैक लाकां (13 अप्रैल 1901 - 9 सितम्बर 1981)

जैक लाकां मनोविज्ञान के क्षेत्र में अपनी प्रभावशाली छाप छोड़ने वाले फ्रांसिसी मनोविश्लेषक थे। उन्होंने एक मनोचिकित्सक के रूप में शुरुआत की लेकिन बाद में मनोविश्लेषण के क्षेत्र में आ गए और अपना अनूठा सैद्धांतिक ढांचा विकसित किया। लाकां को फ्रायडियन अवधारणाओं की पुनर्व्याख्या के लिए जाना जाता है, जिसमें उन्होंने "दर्पण चरण" (mirÙor stage) का विचार दिया, जो स्व के निर्माण और मानव मनोविज्ञान में भाषा की भूमिका का

अन्वेषण करता है। उन्होंने अचेतन को समझने में भाषा और भाषा विज्ञान के महत्त्व पर जोर दिया और "प्रतीकात्मक क्रम"(symbolic order) की अवधारणा पेश की। लाकां के जटिल और अक्सर विवादास्पद विचारों ने लाकांई मनोविश्लेषण को जन्म दिया, जो मनोविज्ञान, साहित्य और सांस्कृतिक सिद्धांत के क्षेत्र में अब भी अपना प्रभाव बनाए हुए है।

5.3.1 यथार्थ (द रियल)

जैक लाकां के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत में, "***द रियल***" की अवधारणा मानव अनुभव के एक आवश्यक लेकिन आसानी से समझ न आने वाले आयाम का प्रतिनिधित्व करती है। यथार्थ अस्तित्व का एक मूलभूत पहलू है जो भाषा, प्रतिनिधित्व और प्रतीकीकरण से परे मौजूद है। यह प्राकृतिक, मौलिक, सम्पूर्ण वास्तविकता का क्षेत्र है, जो अक्सर कष्टप्रद और बेचैन करने वाले अनुभवों से जुड़ा होता है। "द रियल" (यथार्थ) वह है जिसे शब्दों, अवधारणाओं या प्रतीकों द्वारा पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह पूर्व- भाषाई और पूर्व- प्रतीकात्मक दुनिया की विशृंखलता और सघनता का प्रतिनिधित्व करता है, जहां स्व और अन्य के बीच की सीमाएँ स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं होती हैं। लाकां की "द रियल" की अवधारणा भाषा और प्रतीकवाद के पारम्परिक मनोविश्लेषणात्मक महत्त्व को चुनौती देती है। यह मानवीय व्यक्तिनिष्ठता और अनुभव की पूर्ण गहराई को व्यक्त करने में भाषा की सीमाओं को रेखांकित करती है। "द रियल" हमारे अस्तित्व का वह मूल है जो इसे पूरी तरह से समझने या प्रस्तुत करने के हमारे प्रयासों को अवरुद्ध करता है, जो हमें दुनिया और स्व की हमारी समझ में अन्तर्निहित सीमाओं की निरन्तर याद दिलाता रहता है।

5.3.2 प्रतिबिम्ब चरण (मिरर स्टेज)

जैक लाकां के क्रन्तिकारी विचारों की शुरुआत व्यक्ति और व्यक्तिनिष्ठता और शैशव विकास के मिरर स्टेज (प्रतिबिम्ब चरण) से हुई।"मिरर स्टेज" जैक लाकां के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है, जो यह दर्शाती है कि मानव व्यक्तिनिष्ठता का गठन स्व की दृश्य भावना के साथ गहराई से सम्बद्ध है। यह चरण आमतौर पर शैशवावस्था के दौरान ही आता है जब एक बच्चा पहली बार दर्पण या अन्य परावर्तक सतह पर अपने प्रतिबिंब का सामना करता है। लाकां का मानना है कि यह क्षण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहीं आत्म- पहचान और अहं के विकास की प्रक्रिया की शुरूआत होती है।

मिरर अवस्था के दौरान, बच्चा दर्पण में अपनी एक आदर्श और सुसंगत छवि देखता है, जो उनके खंडित और अधूरे भौतिक शरीर के बिल्कुल विपरीत होती है। यह आदर्श छवि बच्चे के स्व- बोध के लिए एक सन्दर्भ बिन्दु बन जाती है और उनकी भविष्य की पहचान के लिए एक टेम्पलेट के रूप में कार्य करती है। लाकां का तर्क है कि दर्पण छवि के साथ यह प्रारंभिक पहचान "संपूर्णता" या "काल्पनिक एकता" की भावना पैदा करती है, लेकिन यह व्यक्ति की इस आदर्श आत्म- छवि का उनके द्वारा जिए गए अपूर्ण यथार्थ के साथ सामंजस्य बिठाने के चिरंतन संघर्ष की ज़मीन भी तैयार करती है। इस प्रकार लाकांई सिद्धांत में व्यक्तिनिष्ठता और स्व- अस्तित्व के निर्माण में प्रतिबिम्ब चरण एक मूलभूत क्षण है।

5.3.3 प्रतीकात्मक चरण (सिंबॉलिक स्टेज)

जैक्स लकौं के मनोविश्लेषणात्मक ढांचे में, "***प्रतीकात्मक चरण***" मानव व्यक्तिनिष्ठता और भाषा अधिग्रहण के विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रतिबिम्ब चरण का अनुसरण करता है और प्रतीकों और भाषा की दुनिया में प्रवेश का प्रतीक है। इस

चरण के दौरान, जो आमतौर पर शैशवावस्था में होता है, बच्चा भाषा सीखना शुरू कर देता है और संस्कृति, सामाजिक मानदंडों और प्रतीकात्मक व्यवस्था के दायरे में प्रवेश करता है।प्रतीकात्मक चरण की विशेषता वस्तुओं, अवधारणाओं और लोगों के प्रतिनिधित्व के रूप में शब्दों, नामों और प्रतीकों के महत्त्व को बच्चे द्वारा पहचानना है। भाषा प्राथमिक माध्यम बन जाती है जिससे व्यक्ति संचार करते हैं और सामाजिक दुनिया में संचलन करते हैं। लाकां इस बात पर जोर देते हैं कि प्रतीकात्मक चरण तब भी होता है जब बच्चा इच्छाओं के दायरे में पदार्पण करता है, क्योंकि उनकी इच्छाएँ सामाजिक मानदंडों और भाषाई संरचनाओं द्वारा ही आकार लेती हैं।

लाकांई सिद्धांत में प्रतीकात्मक चरण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह उस बिन्दु को चिह्नित करता है जिस पर व्यक्ति भाषा और संस्कृति के जटिल जाल में उलझ जाता है, जिससे उनकी पहचान, रिश्ते और स्वयं की समझ प्रभावित होती है। यह लाकां के मनोविश्लेषणात्मक मॉडल में मानव अनुभव के काल्पनिक, प्रतीकात्मक और वास्तविक आयामों के बीच चल रहे परस्पर क्रिया के लिए मंच तैयार करता है।

5.3.4 अचेतन (अनकॉंसियस)

लाकां का मानना था कि अचेतन एक भाषा की तरह संरचित है और यह मानवीय व्यक्तिनिष्ठता को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उन्होंने तर्क दिया कि अचेतन दमित स्मृतियों या प्रवृत्तियों का भंडार मात्र नहीं है, जैसा कि फ्रॉयड ने कहा, बल्कि प्रतीकों और संकेतकों की एक संरचित प्रणाली है। उनका मानना था कि अचेतन भाषाई और प्रतीकात्मक तत्वों के एक नेटवर्क के माध्यम से संचालित होता है, और भाषा के माध्यम से ही हम अपनी इच्छाओं, कल्पनाओं और अस्तित्व का निर्माण करते हैं। उनके विचार में, अचेतन मुख्य रूप से प्रतीकात्मक सूची में रहता है, जहां भाषा और सांस्कृतिक प्रतीक हमारे विचारों और इच्छाओं को आकार देते हैं। लाकां की इच्छा का सिद्धांत अचेतन से बहुत निकट सम्बन्ध रखता है। उन्होंने प्रस्तावित किया कि मानव इच्छा कभी भी पूरी तरह से संतुष्ट नहीं होती है क्योंकि यह एक मौलिक अभाव के इर्द- गिर्द संरचित होती है, जिसे अक्सर "ऑब्जेक्ट पेटिट ए" objet petitA (इच्छा का वस्तु- करण) कहा जाता है। यह अभाव ही अचेतन इच्छाओं और प्रेरणाओं के मूल में है, और यह व्यक्तियों को प्रतीकात्मक क्षेत्र के माध्यम से लगातार अर्थ और संतुष्टि की तलाश करने के लिए प्रेरित करती है।

5.3.5 लाकांई मनोविश्लेषण में शिश्न (फैलस)

लाकांई मनोविश्लेषण में, शिश्न की अवधारणा केवल शारीरिक सन्दर्भ के बजाय एक प्रतीकात्मक महत्त्व रखती है। उन्होंने प्रतीकात्मक क्रम के भीतर शिश्न को अभाव और वासना के प्रतीक के रूप में पेश किया। यह किसी विशिष्ट अंग का प्रतिनिधित्व नहीं करता है बल्कि उस अप्राप्य वस्तु की वासना का प्रतीक है जिसे व्यक्ति सदैव तलाशता रहता है। लाकांई सिद्धांत में शिश्न एक ऐसा केंद्रीय तत्व बन जाता है, जो मानव व्यक्तिनिष्ठता में अन्तर्निहित अपूर्णता और बंध्याकरण की चिंता को दर्शाता है। लाकां ने तर्क दिया कि प्रतीकात्मक क्रम, भाषा और सामाजिक मानदंडों के माध्यम से संरचित, एक व्यक्ति के व्यक्तित्व और वासना की भावना को आकार देता है, जिसमें लिंग शक्ति और अभाव के सूचक के रूप में कार्य करता है। नतीजतन, शिश्न तलाश मानव मनोविज्ञान में एक प्रेरक शक्ति बन जाती है, जो लाकांई विचार- सिद्धांत में भाषा, वासना और व्यक्तिनिष्ठता के निर्माण के बीच की जटिल परस्पर क्रिया को

दर्शाती है।

फ्रायड ने शिश्न की अवधारणा को केवल बन्ध्यीकरण और ईडिपस तक सीमित रखा था जबकि लाकां इसे और विस्तार देते हैं। वे भी शिश्न के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, और इसे अधिकृत श्रेष्ठ स्वाभाविक प्रतिक्रिया (अधिकार, तर्क, शक्ति) के स्वाभाविक प्रतिक्रियात्मक योग के सिद्धांत का रूप देते हैं। फ्रायड ने इसे व्यक्ति तक सीमित रखा था, वहीं लाकां ने उसे समाज तक विस्तृत कर दिया। शिश्न कोई कल्पना नहीं है, न कोई वस्तु, न कोई अंग: इसलिए यह संकेतक है जो प्रभावों को अपने सम्पूर्णता में नामित करने के लिए प्रयुक्त होता है, जैसा संकेतक उन्हें उनकी उपस्थिति द्वारा नामित करता है" (एक्रिट्स 275)। प्रतीकात्मक कार्य से बाहर निकलने का एकमात्र संभावित तरीका ज्यूसेंस (परमानन्द) है। मदन सरूप के अनुसार, जौइसेंस मानव को एक मानसिक यथार्थ का पीछा करने का अवसर प्रदान करता है जो भाषाई अभिव्यक्ति के प्रति उदासीन है, जिसमें आनन्द और मृत्यु का चिंतन दोनों शामिल हैं।हालाँकि, जौइसेंस भाषा से मुक्ति का भ्रम पैदा कर सकता है, संभावित रूप से यथार्थ की जगह अर्थ को प्रतिस्थापित करके एक भ्रम का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

5.4 कार्ल युंग (26 जुलाई 1875 - 6 जून 1961)

स्विस मनोचिकित्सक और मनोविश्लेषक कार्ल युंग ने मनोविश्लेषण का एक अद्वितीय और प्रभावशाली दृष्टिकोण विकसित किया जो फ्रायडियन सिद्धांत से काफी भिन्न था। युंग का मनोविश्लेषण, जिसे अक्सर विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान कहा जाता है, सामूहिक अचेतन के महत्त्व पर जोर देता है - जो हमारे पूर्वजों से विरासत में मिले साझा प्रतीकों, आदर्शों और अनुभवों का भंडार है। उनका मानना था कि यह सामूहिक अचेतन मानव व्यवहार, विचारों और सपनों को आकार देता है, जो तमाम संस्कृतियों में मिथकों, धर्मों और कला में पाए जाने वाले सार्वभौमिक विषयों और प्रतीकों को जन्म देता है। फ्रायड के विपरीत, युंग ने अचेतन मन के रचनात्मक और सकारात्मक पहलुओं पर जोर दिया, और इसे रचनात्मकता, आध्यात्मिकता और व्यक्तिगत विकास के स्रोत के रूप में देखा।

युंग के सिद्धांत की केंद्रीय अवधारणा मूलादर्श (आरकेटाइप) है, जो सार्वभौमिक प्रतीक और विषय हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में मिथकों, कहानियों और सपनों में दिखाई देते हैं। ये मूलादर्श , नायक या मातृ स्वरुप की तरह, मौलिक मानवीय रूपांकनों का प्रतिनिधित्व करते हैं और साहित्य और संस्कृति में विभिन्न पात्रों और आख्यानों की नींव के रूप में काम करते हैं। जंग ने तर्क दिया कि मनोवैज्ञानिक विकास और आत्म- साक्षात्कार के लिए इन मूलादर्शों का सामना करना और अपनी चेतना में उनका एकीकरण करना महत्त्वपूर्ण है।

इसके अलावा,युंग ने वैयक्तिकरण की प्रक्रिया का विचार पेश किया, जो सम्पूर्ण सच्चा स्व बनने की दिशा में एक आजीवन यात्रा है। वैयक्तिकरण में अचेतन तत्वों का चेतना में एकीकरण करना शामिल है, जिससे मानस के विरोधी पहलुओं, जैसे चेतन और अचेतन, या पुरुषत्व और स्त्रीत्व को संतुलित किया जा सके। सामूहिक अचेतन, आदर्श और व्यक्तित्व पर युंग के बल ने न केवल मनोचिकित्सा बल्कि साहित्य, पौराणिक कथाओं और धार्मिक अध्ययन जैसे क्षेत्रों को भी प्रभावित किया है। उनका दृष्टिकोण मानव चेतना और व्यवहार की समझ में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

5.5 जिल डेलुज(18 January 1925 – 4 November 1995) और फेलिक्स ग्वाट्टारी (30 मार्च 1930 - 29 अगस्त 1992)

जिल डेल्यूज़ और फेलिक्स ग्वाट्टारी ने ओडिपस कुंठा की महत्त्वपूर्णता पर गंभीर आक्षेप किया है। "एँटी- ओडिपस" में डेल्यूज़ और ग्वाट्टारी का तर्क है कि "ओडिपसाइज्ड विषय" एक साम्राज्यवादी विषय है,जो असंदिग्ध रूप से पूंजीवादी और फासीवादी सत्ताओं का शिकार है। उनका तर्क है कि ओडिपस संरचना, जो 'मम्मी, डैडी और मैं' त्रिकोण का प्रतीक है, पूंजीवादी सामाजिक पुनर्निर्माण में निहित व्यक्तिवाद और निजी प्रकृति का समर्थन करती है। उनका मानना है कि ओडिपस संरचना पूंजीवाद के साथ संरेखित है, जो पारम्परिक संरचनाओं को नष्ट करता है और नए दर्शन और अर्थों को जन्म देता है। डेल्यूज़ और ग्वाट्टारी का दावा है कि सच्ची वासना तीव्रता के किसी परिपथ में नहीं है, जैसा कि फ्रायड और लाकां सुझाव देते हैं, बल्कि प्रतिबिंबित प्रवाह की एक श्रृंखला में है। वे मानव वासना को एक स्वतःस्फूर्त रूप से उभरती हुई "वासना मशीन" के रूप में देखते हैं जो पूरे सामाजिक संस्था में फैली हुई है, जो वासना के माध्यम से यथार्थ का उत्पादन करती है।

वे मानवीय वासना को सामाजिक संस्था के भीतर एक सहज और विकेन्द्रीकृत शक्ति के रूप में देखते हैं। वासना एक रचनात्मक और उत्पादक शक्ति है। उनका तर्क है कि वासना के परिणाम या उत्पाद उस में योगदान करते हैं जिसे वे दुनिया का "यथार्थ" मानते हैं। डेल्यूज़ और ग्वाट्टारी के लिए, यथार्थ वासना की उत्पादक प्रकृति के माध्यम से आकार लेता और उत्पादित होता है। "वासना और उसका कलेवर एक ही चीज़ हैं: मशीन" वासना और उसकी अभिव्यक्तियों की अविभाज्यता को व्यक्त करता है। वे इच्छा की तुलना एक मशीन से करते हैं और उसके यांत्रिक और उत्पादक गुणों पर जोर देते हैं। "वासना का कलेवर" वासना के बाह्य भावों या उत्पादों का प्रतिनिधित्व करता है, और दोनों को एक ही मशीनी प्रक्रिया के परस्पर जुड़े घटकों के रूप में देखा जाता है।

5.6 जूलिया क्रिस्टेवा (24 June 1941) : ऐब्जेक्शन और मातृ शरीर

जूलिया क्रिस्टेवा, प्रमुख फ्रांसीसी मनोविश्लेषक, साहित्यिक सिद्धांतकार और नारीवादी दार्शनिक हैं, जिन्होंने कई प्रभावशाली मनोविश्लेषणात्मक अवधारणाएँ पेश कीं। उनके प्रमुख विचारों में से एक भाषा और संचार के भीतर "लाक्षणिक" और "प्रतीकात्मक" की अवधारणा है। लाक्षणिकता भाषा के मौखिक- पूर्व, लयबद्ध और भावनात्मक पहलुओं को संदर्भित करती है, जो लय, हाव- भाव और इशारों जैसे शारीरिक अनुभवों में निहित होती है। यह अभिव्यक्ति के अराजक और अरैखिक तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत, प्रतीकात्मकता औपचारिक व्याकरण और अर्थ से जुड़े भाषा के संरचित, तर्कसंगत और व्यवस्थित पहलुओं का प्रतिनिधित्व करता है। क्रिस्टेवा के अनुसार, प्रभावी संचार में इन दो आयामों के बीच परस्पर क्रिया शामिल होती है, जो मानवीय अभिव्यक्ति की जटिलता को उजागर करती है।

जूलिया क्रिस्टेवा की "**ऐब्जेक्शन**" की अवधारणा उन चीज़ों के प्रति मनुष्यों की आंतरिक, भावनात्मक प्रतिक्रिया का अन्वेषण करती है जो स्थापित सीमाओं और श्रेणियों का अतिक्रमण करते है। ऐब्जेक्शन से तात्पर्य उस संत्रास, भय और घृणा की भावना से है जो किसी

ऐसी चीज़ का सामना करते समय अनुभव की जाती है जो स्व और पर, शुद्ध और अशुद्ध, मानवीय और अमानवीय के बीच की सीमाओं को धुंधला कर देता है। इस अवधारणा में अक्सर मानव शरीर, शारीरिक कार्यों और वर्जनाओं से सम्बन्धित अनुभव शामिल होते हैं।

क्रिस्टेवा के अनुसार, एब्जेक्शन मानवीय अवस्था का एक मूलभूत हिस्सा है। यह हमारे अस्तित्व की नाजुक प्रकृति और नश्वरता के भान से सम्बद्ध है। एब्जेक्शन के उदाहरणों में शारीरिक तरल, क्षय, मृत्यु, या ऐसा कुछ भी हो सकता है जो व्यवस्था और सामान्य की भावना को चुनौती देता है। उनका तर्क है कि व्यक्तिगत अस्तित्व और सामाजिक मानदंडों के निर्माण के लिए अस्वीकृति का सामना करना आवश्यक है। एब्जेक्शन की प्रक्रिया के माध्यम से ही समाज वर्जित, अनुचित या सामाजिक अस्वीकार्यता नियत करता है। साहित्य और कला में, एब्जेक्शन की अवधारणा का उपयोग अक्सर मजबूत भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने और सामाजिक मानदंडों को चुनौती देने के लिए किया जाता है। लेखक और कलाकार पारम्परिक कथाओं को अतिक्रमित करने और दर्शकों में आत्मनिरीक्षण को प्रेरित करने के लिए जुगुप्साजन्य तत्वों का उपयोग करते हैं तथा मानव अस्तित्व के उन पहलुओं को उजागर करते हैं जिन्हें आमतौर पर दबा दिया जाता है या अनदेखा कर दिया जाता है।

क्रिस्टेवा की "**मातृ शरीर**" की खोज माँ- बच्चे के रिश्ते के महत्त्व और भाषा, पहचान और व्यक्तिनिष्ठता पर इसके प्रभाव पर प्रकाश डालती है। अपनी रचनाओं में, क्रिस्टेवा किसी व्यक्ति के विकास के शुरुआती चरणों में मातृ शरीर को एक मौलिक और प्रभावशाली उपस्थिति के रूप में महत्त्व देती है।

यह नारीवादी मनोविश्लेषक मातृ शरीर के साथ अनुभवों और अंतःक्रियाओं को किसी व्यक्ति की स्वयं की भावना को गहराई से आकार देने वाला मानतीं हैं। मातृ शरीर पोषण और पृथक्कीकरण दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि बच्चे को शुरू में मां के साथ एक सहजीवी सम्बन्ध का अनुभव होता है, लेकिन अन्ततः उसे अपनी पहचान स्थापित करने के लिए वैयक्तिगत और अलग होना पड़ता है। मातृ शरीर के साथ यह जटिल सम्बन्ध व्यक्ति के मानस का मौलिक पक्ष बन जाता है, जो जीवन भर भावनात्मक प्रतिक्रियाओं, इच्छाओं और पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। इसके अलावा, उन्होंने यह भी बताया कि मातृ शरीर भाषा अधिग्रहण और प्रतीकात्मक संरचनाओं के निर्माण को कैसे प्रभावित करता है। उनका मानना है कि बच्चे के शब्दों की समझ से पहले ही माँ के भाषण की लय और स्वर प्रारंभिक भाषाई विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मातृ आवाज़ भाषा का मूलभूत पक्ष बन जाती है, जो परिचय, सुरक्षा और संचार की प्रारंभिक संरचना का प्रतिनिधित्व करती है।

5.7 अन्य नारीवादी मनोविश्लेषणात्मक आलोचक

नारीवादी दार्शनिक और मनोविश्लेषक **लूस इरिगारे(3 May 1930)**, पुरुष- केंद्रित दृष्टिकोण लेकर पारम्परिक मनोविश्लेषण की आलोचना करती हैं। वह नारी व्यक्तिनिष्ठता को पहचानने और महत्त्व देने की आवश्यकता पर जोर देती है और ओडिपस कॉम्प्लेक्स जैसी अवधारणाओं को चुनौती देती है जो नारी अनुभवों को नजरअंदाज करती हैं। इरिगारे एक अद्वितीय महिला भाषा के विकास की वकालत करती है और पुरुष- संरचित भाषा में महिलाओं की आवाज़ को शांत कर देने के इतिहास पर प्रकाश डालती है। उनका काम स्त्री यौनिकता और वासना को उनकी अवस्था पर समझने और लिंग पहचान और अभिव्यक्ति की अधिक समावेशी समझ

को बढ़ावा देने के महत्त्व को रेखांकित करता है।

एक अन्य अग्रणी नारीवादी मनोविश्लेषक नैन्सी चोडोरो ने लिंग विकास की समझ को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। उनका काम लिंग अस्तित्व के निर्माण पर, विशेषकर माताओं के साथ, शुरुआती रिश्तों के प्रभाव पर जोर देता है। चोडोरो के सिद्धांत पारम्परिक फ्रायडियन अवधारणाओं को चुनौती देते हुए यह दावा करते हुए कि बच्चे विशेष रूप से परिवार के भीतर सामाजिक संवाद के माध्यम से स्व की भावना विकसित करते हैं। उनका तर्क है कि जिन समाजों में महिलाएँ मुख्य रूप से देखभाल करने वाली भूमिका निभाती हैं, वहां बच्चे, विशेषकर लड़के, स्व की अधिक स्वतंत्र और विशिष्ट भावना विकसित करते हैं। इसके विपरीत, जिन परिवारों में देखभाल की ज़िम्मेदारियाँ अधिक समान रूप से साझा की जाती हैं, लड़के पोषण और भावनात्मक अभिव्यक्ति की बेहतर क्षमता के साथ बड़े होते है। चोडोरो की अन्तर्दृष्टि लिंग भूमिकाओं और पहचान को आकार देने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों को उजागर करती है, व्यक्तिगत मनोविज्ञान और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच जटिल परस्पर क्रिया पर प्रकाश डालती है, यही कारण है कि उनका काम नारीवादी मनोविज्ञान के क्षेत्र में मूलभूत है।

5.8 सारांश

मनोविश्लेषण, 19वीं सदी के अन्त में सिगमंड फ्रायड द्वारा स्थापित एक मनोवैज्ञानिक और चिकित्सीय संरचना है जो जैक लाकां, कार्ल युंग और जूलिया क्रिस्टेवा जैसी प्रमुख हस्तियों के योगदान के माध्यम से विकसित हुआ है। फ्रायड के मूलभूत विचारों ने अचेतन मन की भूमिका पर जोर देते हुए यह दावा किया कि मानव व्यवहार दमित इच्छाओं और अनसुलझे संघर्षों से प्रभावित होता है। ओडिपस कॉम्प्लेक्स, एक केंद्रीय अवधारणा की बात की जो पारिवारिक रिश्तों से उत्पन्न होने वाले अचेतन संघर्षों पर प्रकाश डालती है।

एक प्रमुख फ्रांसीसी मनोविश्लेषक जैक लाकां ने भाषाई और संरचनात्मक तत्वों का परिचय देते हुए फ्रायडियन अवधारणाओं की पुनर्व्याख्या की। उन्होंने प्रतीकात्मक क्रम और यथार्थ पर जोर देते हुए तर्क दिया कि भाषा व्यक्तिनिष्ठता को आकार देती है। दर्पण चरण, एक लाकांई अवधारणा, किसी की छवि की पहचान के माध्यम से अस्तित्व निर्माण का अन्वेषण करती है। लाकां ने लिंग की प्रतीकात्मक भूमिका को भी भाषा, इच्छा और सामाजिक संरचनाओं से जोड़कर देखा।

स्विस मनोचिकित्सक कार्ल युंग ने विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अपने सिद्धांत के साथ मनोविश्लेषण का विस्तार किया। युंग ने सामूहिक अचेतन की खोज की और सुझाव दिया कि साझा प्रतीक, या आदर्श, मानवीय अनुभवों और व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिक पूर्णता प्राप्त करने की प्रक्रिया और वैयक्तिकरण पर उनके काम ने चेतन और अचेतन तत्वों के एकीकरण पर जोर दिया।

जूलिया क्रिस्टेवा, एक मनोविश्लेषक और भाषाविद्, मनोविश्लेषण के लिए एक नारीवादी दृष्टिकोण लेकर आईं। उनका काम पारम्परिक द्वैतवादी संरचनाओं को चुनौती देते हुए भाषा के लाक्षणिक और प्रतीकात्मक आयामों पर केंद्रित था। क्रिस्टेवा ने पारम्परिक सीमाओं और पहचानों को बाधित करने वाले असुविधाजनक तत्वों की खोज करते हुए, एबजेक्ट की अवधारणा पेश की। मनोविश्लेषण के मातृ और स्त्री पहलुओं पर उनके विचारों ने नारीवादी

सिद्धान्तों में योगदान दिया।

संक्षेप में, मनोविश्लेषण, फ्रायड के साथ शुरू हुआ, और लाकां की संरचनात्मक पुनर्व्याख्या, युंग के आदर्शों के समावेश और क्रिस्टेवा के नारीवादी योगदान के माध्यम से इसका महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। जबकि फ्रायड ने अचेतन और ओडिपस कॉम्प्लेक्स के साथ आधार तैयार किया, लाकां ने सैद्धांतिक ढांचे को भाषाई रूप से विस्तारित किया, जंग ने सामूहिक प्रतीकों की खोज की, और क्रिस्टेवा ने एक नारीवादी आलोचना जोड़ी। ये विविध दृष्टिकोण मनोविश्लेषण के क्षेत्र को समृद्ध करते हैं, मानव मनोविज्ञान की जटिलताओं और भाषा, प्रतीकों और अचेतन मन के बीच परस्पर क्रिया में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

5.9 पारिभाषिक शब्दावली

5.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

इवान्स, डेलन. एन इंट्रोडक्टरी डिक्शनरी ऑफ़ लकानियन सायकोनालिसिस. रूटलेज, 1996.

बेर्री, पीटर. बिगिनिंग थ्योरी: एन इंट्रोडक्शन टू लिटरेचर एँड कल्चरल स्टडीज. मेनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017.

फ्रायड, सिग्मंड. द इंटरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स. दिल्ली ओपन बुक, 2012.

फ्रायड, सिग्मंड. मैक्लिंटॉक, डेविड. सिविलाइजेशन एँड इट्स डिस्कंटेंट्स. पेंगुइन, 2002.

- - - द साइकोपैथोलॉजी ऑफ एवरीडे लाइफ. डिजिरीड्स डॉट कॉम, 2005.

- - - थ्री एसेज ऑन द थ्योरी ऑफ सेक्सुएलिटी. मार्टिनो फाइन बुक्स, 2011.

थूरश्वेल, पामेला. सिग्मंड फ्रायड. रूटलेज, 2000.

वॉघ, पेट्रिसिआ. लिटरेरी थ्योरी एँड क्रिटिसिज़्म. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2014.

युंग, कार्ल. ड्रीम्स. रूटलेज, 2001.

होमर, सीन. जॉक लकान. रूटलेज, 2004.

5.11 बोध प्रश्न

1. मनोविश्लेषण से आप क्या समझते हैं ?
2. मानव व्यक्तित्व को समझने में स्वप्न की भूमिका रेखांकित कीजिए।
3. इदं, अहं और पराहं की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
4. मानव व्यक्तित्व के विकास में प्रतिबिम्ब चरण की भूमिका का महत्त्व स्पष्ट करें।
5. जूलिया क्रिस्टवा की एब्जेक्शन की अवधारणा को स्पष्ट करें।

इकाई 6 उत्तर-आधुनिकतावाद एवं विखण्डनवाद

इकाई की रूपरेखा

6.1 उत्तरआधुनिकतावाद : एक परिचय

उत्तरआधुनिकतावाद (पोस्टमॉडर्निज़म) व्यापक तौर पर कई अकादमिक शाखाओं , जैसे साहित्य, दृश्य कला, वास्तुकला, दर्शनशास्त्र, सामाजिक सिद्धांत, इतिहास, एवम् सांस्कृतिक अध्ययन में दृष्ट एक विश्वव्यापी आन्दोलन रहा है, और इसकी प्रत्येक शाखा ने उत्तर-आधुनिकता के अनगिनत रूपों को जन्म दिया जिनमें से कई आंदोलनों के उद्देश्य एक- दूसरे के विपरीत प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ से ही, उत्तर- आधुनिकतावाद एक अत्यंत अस्थिर अवधारणा रही है जिस कारण इसे परिभाषित करना भी कठिन रहा है। सर्वप्रथम इस अवधारणा का इस्तेमाल इतिहासकार आर्नोल्ड टॉयनबी ने अपने "अ स्टडी ऑफ हिस्ट्री" (1947) में किया था। तब से इस शब्द का प्रयोग वास्तुकला में बड़े पैमाने पर हुआ (इस अवधारणा को चार्ल्स जेनेक्स ने अपनी पुस्तक "द लैंग्वेज ऑफ पोस्ट- मॉडर्न आर्किटेक्चर" (1975) में लोक प्रचलित बना दिया) और वहीँ से धीरे धीरे अन्य क्षेत्रों में यह 'एक सौंदर्यशास्त्रीय शैली', 'एक सांस्कृतिक परिस्थिति', 'एक आलोचनात्मक परम्परा' या 'एक वैश्विक आर्थिक परियोजना' के रूप में प्रचलित हो गया। यह शब्द विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न अर्थ रखता है उदाहरणार्थ : पुनःपूर्ति का साहित्य the literature of replenishment (जॉन बार्थ), 'मौन का नवीन सौंदर्यशास्त्र' 'a newAesthetics of silence' (हसन), 'मुद्रास्फीत अर्थव्यवस्था

का साहित्य' 'literature ofAn Inflationary economy' एवम् 'एक परिस्थिति'A 'condition' (ल्योतार्द), ' 'पूंजीवादी उत्तरार्द्ध का सांस्कृतिक प्रभुत्व'‘a late capitalist cultural dominant' (फ्रेडरिक जेम्सन), ' यथार्थ का अन्त' 'the end of real'(बौद्रिलार्द), एक युग जो 'इतिहास के अन्त '‘the end of history' की घोषणा करता है (फुकुयामा) ' 'आधुनिकतावाद की एक अधूरी परियोजना 'an incomplete project of modernity (हैबरमास), एक छलावा और वृहद्- आख्यानों के पृथकीकृत अन्त का एक सामग्रीकृत वृहद आख्यान 'an illusionAndA totalizing grand- narrative of detotalizing end of the grand- narratives' (ईगलटन) और 'एक दुर्भाग्यपूर्ण भूल 'an unfortunate mistake' (नौरिस) आदि इनमें से कुछ उदाहरण हैं।यह शब्द केवल अस्पष्ट और अनेकार्थी ही नहीं बल्कि यह परस्पर विरोधाभासी एवम् अन्तर्विरोधी तर्कों में ही उन्नत होता है। उत्तर-आधुनिकतावाद को परिभाषित करते हुए क्रिस स्निप- वाल्म्सली लिखते हैं कि :

यह आधुनिकतावाद से एक नाटकीय विराम और उसी का विस्तार है; यह मार्क्सवाद से एक उन्नत प्रगति है और मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों का अस्वीकार और त्याग है; यह मौलिक रूप से वामपंथी और नव- रूढ़िवादी है; यह उग्र और प्रतिक्रियावादी भी है; यह वृहद् - आख्यानों के विघटन की वकालत करता है और स्वयं ही, वृहद्- आख्यानों के अन्त का वृहद् आख्यान है; यह सांस्कृतिक और संज्ञानात्मक क्षेत्र पर सौंदर्यशास्त्र का प्रक्षेपण है; यह पूंजीवाद के उत्तरार्ध का सांस्कृतिक तर्क है; यह यथार्थ की क्षति है; यह सभी आलोचनात्मक, दार्शनिक मानकों का त्याग है; और यह दर्शन और प्रतिनिधित्व के क्षेत्रों की एक मौलिक आलोचना है। दूसरे शब्दों में, उत्तरआधुनिकतावाद अन्तर्विरोधों से भरा हुआ है और विरोधाभासों के माध्यम से ही कायम है।(405)

अतः, परिभाषा के अनुसार, यह शब्द पाठकों के सामने विरोधाभासी दृष्टिकोणों का एक समुच्चय प्रस्तुत करता है और एक साथ कई चीजों को संदर्भित करता है। परस्पर पूर्णतः भिन्न परम्पराओं और अवधारणाओं की विविधता एवम् बहुलता, उत्तर- आधुनिकतावाद को विशेष रूप से वर्गीकृत एवम् परिभाषित करने में बाधक हो जाती है।

6.2 आधुनिकतावाद बनाम उत्तर- आधुनिकतावाद

उत्तर- आधुनिकतावाद को कई तरीकों से परिभाषित किया जा सकता है।सर्वप्रथम अपने मूल स्तर पर यह द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की कालावधि के कलात्मक और साहित्यिक परम्पराओं के एक समुच्चय को संदर्भित करता है। ऐतिहासिक काल- विभाजन के इस स्तर पर, यह आधुनिकतावाद के उत्तरगामी सांस्कृतिक और साहित्यिक आंदोलन के रूप में उभरता है वह आंदोलन जिसके या तो विस्तार रूप में या प्रतिक्रिया के रूप में उत्तर आधुनिकतावाद उभरता हुआ प्रतीत होता है। आधुनिकतावादी आन्दोलन मोटे तौर पर बीसवीं सदी के तीसरे दशक में दृश्य कला, संगीत, साहित्य, नाटक आदि के आन्दोलनों का समवर्ती है। चरम आधुनिकतावादी दौर में, आंदोलन के प्रमुख नायकों ने कला और साहित्य की भूमिका को फिर से परिभाषित करने का प्रयास किया और कलात्मक उत्पादन के नए साधनों और रूपों के साथ प्रयोग किया। एक तरफ जहाँ टी.एस. एलियट, डब्ल्यू.बी.यीट्स और एज़्रा पाउंड आधुनिक दुनिया की विश्रृंखल स्थितियों को बिम्बित करने हेतु नए काव्य रूपों को विकसित करने का प्रयास कर रहे थे, वहीँ दूसरी ओर डी एच लॉरेंस, वर्जिनिआ वूल्फ और जेम्स जॉयस जैसे उपन्यासकारों ने मानव मन के आतंरिक व्यक्तिपरकता के अन्वेषण हेतु आंतरिक एकालाप

(इंटीरियर मोनोलॉग) और चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम ऑफ़ कॉन्सिसियसनेस्स) जैसी नई शैलियों का निर्माण किया। प्रभाववाद और व्यक्तिपरकता पर बल देना ही इसकी विशेषता है; संसार में हम क्या देखते हैं के बजाय हम संसार को कैसे देखते हैं का अन्वेषण; सौन्दर्यशास्त्रीय आत्म-चिंतन या आत्म- चेतना की ओर प्रवृत्ति; खंडित रूपों, विश्रृंखल आख्यानों और कोलाज संरचनाओं का उपयोग; और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात, नए कला रूपों के साथ प्रयोग करने की प्रवृत्ति। हालाँकि आधुनिकतावाद की यह रूपरेखा सर्व- समावेशी नहीं है, लेकिन यह आंदोलन की कुछ प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद किस हद तक इससे विकसित होता है या इसे एक प्रमुख सैद्धांतिक समस्या के रूप में चुनौती देता है? कई मायनों में, उत्तर- आधुनिकतावाद, आधुनिकतावाद की तरह ही अधिकांशतः समान विचारों जैसे संवेदनशीलता और आत्मचेतना, बिखराव और असंतोष (विशेष रूप से कथा संरचनाओं में), अस्पष्टता,समकालिकता, का अनुसरण करता है और विनिर्मित (डी- स्ट्रक्चर्ड) और विकेन्द्रित (डी - सेण्टरेड) विषयों पर बल देता है लेकिन इन प्रवृत्तियों के प्रति इसका दृष्टिकोण आधुनिकतावाद से भिन्न है। उदाहरणतः आधुनिकतावाद मानव व्यक्तिपरकता और इतिहास की एक खंडित दृष्टि प्रस्तुत करता है, मसलन द वेस्टलैंड, या वुल्फ की टू द लाइटहाउस पर विचार करें तो हम पाएँगे कि यह इस बिखराव को किसी दुखद रूप में,कोई क्षति जिस पर शोक किया जा सके, ऐसे रूप में प्रस्तुत करता है। कई आधुनिकतावादी लेखक इस विचार को बांधने की कोशिश करते हैं कि कलात्मक रचनाएँ उस एकता, सुसंगतता और अर्थ को पुनर्जीवित कर सकता है जो आधुनिक जीवन की विश्रृंखलता में खो गई है। कला वह कार्य करेगी जो अन्य मानव संस्थाएँ करने में विफल रहती हैं। संक्षेप में, मैथ्यू अर्नोल्ड के विचार का सन्दर्भ लें तो कला धर्म का स्थान ले लेती है। इसके विपरीत, उत्तर- आधुनिकतावाद, खण्डन, सामयिकता, या असंगति के विचार पर शोक नहीं मनाता, बल्कि इनका जश्न मनाता है। यदि संसार अर्थहीन है, तो आइए इसकी अर्थहीनता, बकवास और बेतुकेपन के साथ खेलें, या यूँ कहें की इसका मजाक बना दें। आखिर आवश्यकता ही क्या है सुसंगति, एकता और स्वरूप को खोजने की ? कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिकतावाद और उत्तरआधुनिकतावाद की तुलना करते हुए टीम वुड्स अपनी बहुचर्चित पुस्तक बिगिनिंग पोस्ट- मॉडर्निज़्म में कहते हैं :

उत्तरआधुनिकतावाद एक सचेत आधुनिकतावाद है, एक आत्मचिंतनशील आधुनिकतावाद, एक ऐसा आधुनिकतावाद जो स्वयं के लिए कुढ़ता नहीं है। उत्तरआधुनिकतावाद भी वही करता है जो आधुनिकतावाद करता है, अन्तर केवल इतना है कि यह पश्चातापी के बजाय उत्सवधर्मी है। इस प्रकार, अतीत की हानि, अस्तित्व के बिखराव और स्व- चेतना के पतन पर विलाप करने के बजाय, उत्तर आधुनिकतावाद इन विशेषताओं को सामाजिक अस्तित्व और व्यवहार की एक नई शैली के रूप में अपनाता है। अतः आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद के बीच के भेद को पदानुक्रमिक भेद या सौंदर्यशास्त्रीय परम्पराओं के एक अलग समुच्चय के बजाय मनोदशा या दृष्टिकोण के भेद के रूप में देखा जाता है।(8- 9)

इस प्रकार, यह परिभाषा उत्तर आधुनिकतावाद को, आधुनिकतावादी साहित्य द्वारा किए गए प्रयोगों के अतिरिक्त अतिवाद के साथ आधुनिकतावाद के प्रति मनोदशा या दृष्टिकोण में अन्तर के रूप में प्रस्तुत करता है। आधुनिक दुनिया में लगातार बढ़ते खण्डन, पूंजीवाद के निरन्तर प्रभुत्व और तकनीकी प्रगति के नाम पर तेजी से फैल रहे अमानवीयकरण के सम्मुख रचनाकार का उत्सवधर्मी दृष्टिकोण ही इसकी विशेषता है।

हालाँकि, उत्तर आधुनिकतावाद, न केवल जीवन और दुनिया के आधुनिकतावादी विश्वदृष्टिकोण को एक अलग स्वरुप में नवीनीकृत करता है, बल्कि यह तर्कसंगतता, कलात्मक प्रतिभा और व्यक्तिवाद के आधुनिकतावादी आदर्शों और सर्वप्रथम तो मानवतावाद और प्रबुद्धता के संपूर्ण वृहद् आख्यान को भी खारिज करता है। रूसो , कान्ट, हीगेल इत्यादि विचारकों के लेखन में परिलक्षित प्रबोधन कल्पना (एनलाइटनमेंट प्रोजेक्ट) ने प्रगति और मुक्ति के कथानक को समाहित करते हुए भविष्य के एक आदर्श, सुसंगत, व्यवस्थित समाज में समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के लक्ष्य के प्रति सर्वहित और बौद्धिक आत्मज्ञान सुनिश्चित करने के लिए मानव मन और तर्कक्षमता में अटूट विश्वास दिखाया। उत्तरआधुनिकतावाद एक संदेह के आख्यान को जन्म देता है और वृहद् आख्यानों जैसे विज्ञान, कानून, न्याय, लोकतंत्र, नैतिकता और सौंदर्यशास्त्र के अन्त की घोषणा करता है एवम् किसी ऐतिहासिक प्रगतिशील परिवर्तन की ओर ले जाने वाली चेतना और तर्क पर अविश्वास पैदा करता है। जीन फ्रेंकोइस ल्योतार्द ने अपनी सबसे प्रभावशाली पुस्तक द पोस्टमॉडर्न कंडीशन (1979) में तर्क दिया है कि काल्पनिक वृहद् आख्यान (speculative grand narrative) (उदाहरणार्थ : मानव जीवन अपने ज्ञानवृद्धि कर विकसित होता है) और उद्धारक वृहद् आख्यान (emancipatory grand- narratives) (उदाहरणार्थ : ज्ञान मानव स्वतंत्रता का आधार है) तात्कालिक उत्तर-औद्योगिक समाज और उत्तर- आधुनिक संस्कृति में अपनी विश्वसनीयता खो देते हैं। ल्योतार्द का तर्क है कि तर्क और विवेक के बजाय, उत्तरआधुनिकतावाद बाजार- संचालित वैश्विक अर्थव्यवस्था में ज्ञान, सत्य और स्वतंत्रता की प्रणाली को बनाए रखने के लिए दक्षता और लाभप्रदता के दोहरे मानदंड तैयार करता है।

सैद्धांतिक स्तर पर, उत्तरआधुनिकतावाद 1950 के दशक के बाद की उस नई सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का वर्णन करना चाहता है जिसे निंदात्मक रूप से 'पूंजीवादी उत्तरार्द्ध' दुनिया के रूप में जाना जाता है। वैश्वीकरण की अन्तर्निहित धाराओं, बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद का उद्भव, और नई संचार और सूचना प्रौद्योगिकियों में हुई प्रगति ने पश्चिमी समाजों का बड़े पैमाने पर उत्तर- आधुनिकीकरण किया। जो लोग उत्तर- आधुनिकतावाद को द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के ऐतिहासिक युग के रूप में देखते हैं, वे इसे केवल उस युग की समकालीन सांस्कृतिक स्थितियों की आलोचना के रूप में देखते हैं, जिसे वाल्टर बेंजामिन ने 'यांत्रिक उत्पादन' कहा था। ल्योतार्द ने उत्तर- आधुनिकतावाद को औद्योगिक युग से उत्तर- औद्योगिक युग में संक्रमण और इसके परिणामस्वरूप आधुनिक संस्कृति के उत्तर- आधुनिक संस्कृति में परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया, बॉड्रिलार्ड के लिए, यह वैश्विक संचार तंत्र के युग में यथार्थ की क्षति थी। जेम्सन ने इसे उद्यमशील बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद के युग के रूप में वर्णित किया। इन बातों पर चर्चा निम्नलिखित अनुभाग में की जाएगी। यदि आसान शब्दों में कहा जाये तो उत्तर-आधुनिकतावाद को एक वर्णनात्मक शब्द के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो समकालीन उत्तर आधुनिकता पर टिप्पणियां पेश करता मालूम पड़ता है।

6.3 आधुनिकता बनाम उत्तरआधुनिकता

अब तक हम सौंदर्य श्रेणियों के रूप में आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद पर चर्चा कर रहे थे। लेकिन एक और बहुत अलग पहलु पर बात करना बाकी है: आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता की सामाजिक स्थितियों के बीच का अन्तर। यदि आधुनिकतावाद और उत्तरआधुनिकतावाद को एक कलात्मक और सांस्कृतिक घटना के रूप में देखा जाए, तो

आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता व्यापक सामाजिक और राजनीतिक श्रेणियां हैं। आधुनिकता की उत्पत्ति कहाँ से मानी जाये, इस पर आलोचकों में गंभीर विवाद है।आधुनिकता की जड़ें पुनर्जागरण काल में ही शुरू हो गईं, जो अठारहवीं सदी के अन्त में, प्रबोधन काल के आसपास अपने पूर्ण स्वरुप में आई। बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध इसका शिखर माना जाता है, जिसे कथित तौर पर सांस्कृतिक और सामाजिक संगठन के नए रूपों द्वारा प्रतिस्थापित किया गया था जो वैश्वीकरण, तकनीकी- संचार और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अवधि की पुरानी धार्मिक और राजनीतिक परम्पराओं और मान्यताओं के पतन जैसे रुझानों के मद्देनजर सामने आए थे। वास्तव में, आधुनिकता को एक विश्वदृष्टिकोण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो अंधकार युग के पूर्व- आधुनिक समाजों से अलगाव का प्रतीक है, जो धार्मिक और पौराणिक मान्यताओं के आसपास बड़े पैमाने पर संगठित थे। आधुनिकता ने एक नए युग की शुरुआत की जो ईश्वरकेंद्रित होने के बजाय मानवकेंद्रित था और घोषणा की कि मनुष्य सभी चीजों की धुरी है। यह मानवीय तर्क और वैज्ञानिक तर्कसंगतता पर निर्भर था और सार्वभौमिक प्रगति और स्वतंत्रता के दोहरे आदर्शों पर आधारित था। हाल ही में, इसे औद्योगिक क्रांतियों और पूंजीवाद के शुरुआती विकास से भी जोड़ा गया है। चूँकि आधुनिकता के संस्थापना के क्षण कई हैं, इसलिए कहानियाँ भी हैं (मैं जानबूझकर 'कहानी' शब्द का उपयोग कर रहा हूँ क्योंकि आधुनिकता एक निर्मित विश्वदृष्टि है, हमारे चारों ओर की दुनिया को समझाने के लिए एक रूपक है) जो इसकी उत्पत्ति और विकास को चित्रित करने का प्रयास करती है। विकल्पों में से जो भी चुना जाए - चाहे पूंजीवादी संस्करण हो या आधुनिकता का मानवतावादी या प्रबोध संस्करण - उसकी मार्गदर्शक शक्ति और सिद्धांत हमेशा मानव जाति की निरन्तर प्रगति के लिए निरन्तर प्रयासरत रहती है। अमेरिकी सांस्कृतिक आलोचक मार्शल ब्रेमन आधुनिकता को निरन्तर परिवर्तन के काल के रूप में देखते हैं जो मानवता की तर्कसंगत प्रगति में विश्वास रखता है। विश्वयुद्धों के अनुभवों और दैनिक जीवन को उत्पाद बनाये जाने के प्रयास ने आधुनिकता द्वारा परिकल्पित स्वप्नलोक के सच को उजागर कर दिया। वैज्ञानिक प्रगति में आधुनिकतावादी विश्वास को तब गहरा झटका लगा जब यह स्पष्ट हो गया कि इन विचारों के कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सर्वनाश हो सकता है। लोगों ने महसूस किया कि मानवीय तर्क और वैज्ञानिक तर्कसंगतता के माध्यम से सार्वभौमिक प्रगति और मुक्ति का वादा केवल एक अप्राप्य विचार है और द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभवों ने संदेह को और अधिक पुख्ता कर दिया। वास्तव में, यह उन प्रमुख कारणों में से एक था जिससे उत्तर- आधुनिकता का जन्म हुआ क्योंकि इसने स्वयं को मानवतावादी और प्रबुद्धता मूल्यों के पतन के साथ-साथ संकट के काल के रूप में स्थापित किया। विश्वयुद्धों ने प्रबुद्धता के विश्वदृष्टिकोण को चुनौती दी जिसने पहले समान रूप से प्रभावी धार्मिक सिद्धान्तों पर सवाल उठाया था जो समाज में ज्ञान को निर्धारित और व्यवस्थित करते थे। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में समझी जाने वाली आधुनिकता की पूर्णरूपेण विफलता - औद्योगीकरण, शहरीकरण, 'प्रगति' और 'सभ्यता' इत्यादि ने उत्तर-आधुनिकता के जन्म की घोषणा की। उद्योग और प्रौद्योगिकी में भारी बदलाव, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, परिवहन, संचार और पूंजीवाद के अविश्वसनीय वैश्विक विस्तार ने इसे समसामयिक उत्तरआधुनिक बनाने में योगदान दिया। इन सभी ने, कम से कम पश्चिम के देशों के लिए, जिस दुनिया में वे रहते हैं, उसके बारे में उनकी धारणाएँ बदल दीं। हमेशा राजनीतिक रूप से समस्याग्रस्त रहे वृहद् आख्यान, जिनका उद्देश्य आसपास की दुनिया को समझाना था, समाज और स्वयं के हो रहे बिखराव को रोकने के लिए कोई शक्ति नहीं होने के कारण असफल रहे, और साथ ही साथ न्याय, संस्कृति और पहचान के लिए पारम्परिक दृष्टिकोण का

विघटन हुआ: सार्वभौमिक अब स्वीकार्य नहीं रहा; सत्य आकस्मिक, प्रासंगिक और अस्थिर पाया गया; यथार्थ मीडियाकृत रूप से प्रस्तुत किया गया था। यदि वैश्वीकरण ने दावा किया कि दुनिया सिकुड़ गई है, तो समान प्रभावशाली स्थानीय और जातीय संघर्ष और राष्ट्रीय सीमाओं के मुद्दे इस बात का खण्डन करते हैं। यदि विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने अपने आविष्कारों और खोजों के परिणामस्वरूप हुई प्रगति पर जोर दिया, तो इसके दूसरे स्याह पक्ष जैसे पर्यावरणीय समस्याएँ, परमाणु युद्ध के खतरे आदि ने वैज्ञानिक प्रगति के वृहद् आख्यान को चुनौती दी। ऐसे परस्पर विरोधी आख्यानों के और भी कई उदाहरण हो सकते हैं लेकिन मैं उन सभी को यहाँ उद्घाटित नहीं करूँगा। मैंने विरोधाभासी आख्यान के ये दो उदाहरण इसलिए दिए हैं ताकि उत्तर आधुनिकता की स्थिति को और बेहतर समझा जा सके, जो यह स्पष्ट करता है कि हमारे आस- पास की दुनिया इतनी जटिल है कि कोई भी एक, अचल अखण्ड आख्यान जिसका उद्देश्य स्थिरता और सुसंगतता हो, उसे समझा नहीं सकता। इस पूरी चर्चा से साफ़ पता चलता है कि उत्तर- आधुनिकतावाद और उत्तर- आधुनिकता के बीच अन्तर यूँ तो स्पष्ट प्रतीत होता है, लेकिन इसमें भी कुछ जटिलताएँ हैं। पहला जहाँ एक कलात्मक और सांस्कृतिक घटना को संदर्भित करता है वहीँ दूसरा समकालीन सांस्कृतिक स्थितियों से अधिक चिंतित है जिन्हें अलग- अलग तरीके से सिद्धान्तों में गूंथा गया है। उत्तर आधुनिकतावाद के निहितार्थो को बेहतर ढंग से समझने के लिए उत्तर आधुनिकतावाद के कुछ प्रमुख विचारकों और दार्शनिकों का परिचय देना आवश्यक है जो इस प्रकार हैं:-

6.4 उत्तर-आधुनिकतावाद के मानचित्र निर्माता

6.4.1 इहाब हसन: उत्तर-आधुनिकतावाद की अवधारणा की ओर

समकालीन कलात्मक प्रथाओं को संदर्भित करने के लिए उत्तर आधुनिक शब्द का प्रयोग करने वाले पहले लेखकों में से एक अमेरिकी साहित्यिक आलोचक इहाब हसन थे, जिनका उत्तर आधुनिकतावाद की बहस पर सूत्रात्मक प्रभाव बहुत अधिक रहा है। द लिटरेचर ऑफ साइलेंस: हेनरी मिलर और सैमुअल बेकेट (1967), द डिसमेम्बरमेंट ऑफ ऑर्फियस: टुवर्ड्स ए पोस्टमॉडर्न लिटरेचर (1971, 1982), और द पोस्टमॉडर्न टर्न: एसेज़ इन पोस्टमॉडर्न थ्योरी एँड कल्चर (1987), उनके कुछ अभूतपूर्व योगदान हैं जो उत्तर आधुनिकतावाद के सौंदर्यशास्त्र के विकास पर केंद्रित हैं । हसन उत्तर- आधुनिकता को एक आवधिक अवधारणा के रूप में उपयोग करते हैं जो युद्ध के बाद के मौन साहित्य और उसके उत्तर- आधुनिक संस्करण को पुराने युद्ध- पूर्व आधुनिक साहित्य से अलग करते हैं। अपने शुरूआती कार्यों खासकर लिटरेचर ऑफ साइलेंस में हसन मौन के एक प्रतिनिधित्व- विरोधी गैर - आधुनिक कैनन के गठन से चिंतित नज़र आते हैं और द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत के साहित्य में आवां- गार्द आधुनिकता से एक स्पष्ट भेद खोज निकलते हैं। उनके लिए, यह नया साहित्य यूरोपीय आधुनिकतावाद के भीतर व्याप्त एक प्रकार का विध्वंसक तनाव है, जो 'आत्म- विनिर्माण के आवेग' के साथ संभ्रांतवादी, रूढ़िवादी और सत्तावादी आधुनिकतावाद को खुली चुनौती देता है। वह लिखते है:

यह अब स्पष्ट तौर से ज़ाहिर है कि जहाँ आधुनिकता ने अपनी एक सत्ता का निर्माण कर लिया है, निश्चित रूप से इसी लिए क्योंकि कोई केन्द्र नहीं रह गया था, चीज़ों के बिखराव के साथ गहरी सहभागिता में उत्तर आधुनिकता ने अराजकता का रुख कर लिया है, (बर्टेंस से उद्धृत 36)

हसन आधुनिकतावाद और उत्तर- आधुनिकतावाद के बीच के सम्बन्ध को संबोधित करते हुए दोनों के बीच के अन्तरों पर योजनाबद्ध रूप से चर्चा करते हैं जो इस प्रकार हैं:

आधुनिकतावाद	**उत्तर- आधुनिकतावाद**
स्वच्छंदतावाद/प्रतीकवाद	पैटाफिजिक्स/दादावाद
रूप (संयोजक, बंद)	प्रतिरूप (विघटनकारी, खुला)
प्रयोजन	खेल
डिजाइन	संभावना
पदानुक्रम	अराजकता
लोगोस	थकावट/मौन
कला वस्तु/समाप्त कार्य	प्रक्रिया/प्रदर्शन/घटना
दूरी	भागीदारी
सृजन/संपूर्णीकरण	ह्रास/विखण्डन
संश्लेषण	प्रतिपक्षी
उपस्थिति	अनुपस्थिति
केन्द्रिकरण	फैलाव
शैली/सीमा	पाठ/अन्तर्पाठ
अर्थ विज्ञान	वक्रपटुता
पैराडाइम	सिंटग्म
हाइपोटैक्सिस	पैराटैक्सिस
रूपक	लक्षणालङ्कार
चयन	संयोजन
जड़/गहराई	प्रकंद/सतह
व्याख्या/पढ़ना	गलत व्याख्या/गलत पढ़ना
सिग्निफ़िएड	सिग्नीफाइर
सुपाठ्य (पाठकीय)	लिपिबद्ध (लेखकीय)
नैरेटिव/ग्रैंड हिस्टॉयर	एँटी- नैरेटिव/पेटिट इतिहास
मास्टर कोड	इडियोलेक्ट
लक्षण	इच्छा
प्रकार	म्यूटेंट
जननांग /फेलिक	पॉलिम्पोर्फस/ उभयलिंगी
व्यामोह/ पैरानोया	सिज़ोफ्रेनिया/ विखंडितमनस्कताग्रस्त
उत्पत्ति/कारण	अन्तर/निशान

परमेश्वर पिता,	पवित्र आत्मा
तत्वमीमांसा	विडंबना
नियति	अनिश्चितता
श्रेष्ठता	स्थिरता

(स्रोत: द डिसमेंबरमेंट ऑफ ऑर्फियस: टुवर्ड्स ए पोस्टमॉडर्न लिटरेचर 267- 68)

ये योजनाबद्ध द्विआधारी ध्रुवीकरण हालांकि शुरुआत में उपयोगी और काफी व्याख्यात्मक हैं, लेकिन विवाद से परे नहीं हैं। हसन ने अपने खेल, अवसर, फैलाव, पदानुक्रम, संयोजन, अन्तर, इच्छा और प्रक्रिया के साथ खुलेपन के लिए आधुनिकतावाद पर उत्तर आधुनिकतावाद को कठोरता और रूप, पदानुक्रम, स्वामित्व, दृढ़ संकल्प जैसे विचारों के साथ आधुनिकतावाद के समापन के खिलाफ विशेषाधिकार दिया। उनके लिए उत्तरआधुनिकता अनिवार्य रूप से आधुनिकता- विरोधी है और इसकी विशेषता है:

विधर्मिता, बहुलतावाद, उदारवाद, यादृच्छिकता, विद्रोह, विकृति। उत्तरार्द्ध में विनिर्माण की एक दर्जन वर्तमान शर्तों को भी शामिल किया गया है: ह्रास, विघटन, विखण्डन, विकेंद्रीकरण, विस्थापन, अन्तर, असंततता, विच्छेदन, अदर्शन, विघटन, अ - परिभाषा,रहस्योद्घाटन, डीटोटलाइजेशन, और प्रत्यायोजन। (डिजायर एँड डिस्सेंट 9)

6.4.2 जीन फ्रांसुआ ल्योतार्द : दी डिस्कोर्स ऑफ़ डिसॉलूशन ऑफ़ ग्रैंड-नैरेटिव्स

ल्योटार्ड निर्विवाद रूप से उत्तर- आधुनिक दर्शन की सबसे प्रभावशाली आवाज बने हुए हैं और उन्हें उत्तर- आधुनिकता के अपने अभूतपूर्व विश्लेषण के लिए उत्तर- आधुनिकतावाद के सौंदर्यशास्त्र का जनक और पथप्रदर्शक माना जा सकता है। द पोस्टमॉडर्न कंडीशन (1979), जस्ट गेमिंग (1979), द डिफरेन्ड (1983), और द इनहुमन: रिफ्लेक्शन्स ऑन टाइम (1988) उत्तर आधुनिक विचार और स्थापित मान्यताओं, राजनीतिक सिद्धान्तों और सांस्कृतिक प्रथाओं के लिए निरन्तर चुनौती के साथ समकालीन, राजनीति, कला और संस्कृति के बारे में सोचने के नए तरीकों को विकसित करने के मुद्दे पर उनके कुछ संस्थापक ग्रन्थ हैं। आधुनिक ज्ञान की स्थिति पर एक रिपोर्ट के रूप में कमीशन किया गया, द पोस्टमॉडर्न कंडीशन यह अन्वेषण करता है कि ज्ञान की समकालीन संरचनाओं द्वारा लोगों के जीवन और पहचान का निर्माण कैसे किया जाता है। यह पुस्तक एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिकल्पना के साथ शुरू होती है कि "जैसे- जैसे समाज उत्तर- औद्योगिक युग में प्रवेश करता है और संस्कृतियाँ उत्तर-आधुनिक युग में प्रवेश करती हैं, ज्ञान की अवस्था बदल जाती है" (the status of knowledge isAlteredAs societies enter what is knownAs the post industrialAgeAnd cultures enter what is knownAs the postmodernAge)। ल्योतार्द का तर्क है कि ज्ञान का कम्प्यूटरीकरण इसे एक 'सूचनात्मक कमॉडिटी' बनाता है और ज्ञान सार्वभौमिक मानव लक्ष्यों की पूर्ति का आधार नहीं रह जाता है बल्कि यह शक्ति बढ़ाने और लाभ कमाने के लिए विचारों में हेरफेर करने का एक साधन बन जाता है। ल्योतार्द ज्ञान के इस उपभोक्ताकरण के लिए पूंजीवाद और उपभोक्तावाद की निरन्तर प्रगति को जिम्मेदार मानते हैं, जो बदले में, वृहद् आख्यान के परिसमापन की ओर ले जाता है।ल्योतार्द के लिए, उत्तरआधुनिकतावाद को मेटा नैरेटिव के प्रति अविश्वास और उनके स्थान पर लघु इतिहास या

सूक्ष्मकथाओं के उद्भव के रूप में सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

मेटानैरेटिव्स, मोटे तौर पर, वैधता के पारलौकिक और सार्वभौमिक आख्यान हैं जो संरचना को व्यवस्थित करते हैं, कथा और भाषा के खेल के नियमों को निर्धारित करते हैं और किसी भी विमर्श की प्रामाणिकता, सच्चाई और सुसंगतता को मान्य या अमान्य करते हैं। विज्ञान, धर्म, साम्यवाद आदि जैसे ये वृहद्- आख्यान मूलभूत हैं, ये सभी यथार्थ के सम्पूर्ण व्याख्या की तलाश करते हैं और एकरूपता, सार्वभौमिक सहमति और सामान्य रूप से मानवता की प्रगति के लिए प्रयास करते हैं। वे मानव अस्तित्व की विविधता, असहमति और बहुरूपता को नजरअंदाज करते हैं।ल्योतार्द तर्क और स्वतंत्रता के सार्वभौमिक विचारों के साथ वृहद्- आख्यान को राजनीतिक रूप से समस्याग्रस्त मानते हैं। उनका दावा है कि पूंजीवाद के उदय और अपरिहार्य विस्तार के साथ-साथ सत्य और न्याय के अपने- अपने आदर्शों के साथ अटकलें और मुक्ति के आधुनिक वृहद्- आख्यान अपनी सार्वभौमिक लोकप्रिय अपील खो देते हैं और उनका अप्रचलन एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जिसमें दक्षता और लाभप्रदता की व्यावहारिकता सामाजिक संगठन को बदल देती है। वृहद्- आख्यान के विघटन के साथ, किसी व्यक्ति या समाज के लिए पहचान की कोई एकीकृत भावना नहीं रह जाती, व्यक्ति परस्पर विरोधी नैतिक और राजनीतिक संहिताओं का स्थल बन जाता है और सामाजिक बन्धन बाधित और खंडित हो जाता है। सार्वभौमिक आख्यानों को स्थानीय वैध शब्दजाल द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है, जिसमें एक भाषा खेल के नियम अनुबंधित रूप से निर्मित होते हैं, और केवल उस विशेष खेल तक सीमित होते हैं।

ल्योतार्द एक और महत्त्वपूर्ण बिन्दु रखते हैं, उत्तर आधुनिक की उनकी अवधारणा ऐतिहासिक उत्तराधिकार के बजाय एक सौंदर्य प्रथा/ शैली के रूप में है। अपने निबन्ध *प्रश्न का उत्तर देते हुए: उत्तर आधुनिकतावाद क्या है?* (Answering the Question: What is Postmodernism?) में ल्योतार्द एक विरोधाभासी घोषणा करते हैं : "एक कार्य आधुनिक केवल तभी बन सकता है जब यह सबसे पहले उत्तर- आधुनिक हो।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तर- आधुनिकतावाद, आधुनिकतावाद का अंतिम स्वरुप नहीं है, बल्कि नवजात अवस्था है, और यह अवस्था स्थिर है" (दी पोस्ट मॉडर्न कंडीशन 79)। इससे पता चलता है कि उत्तर आधुनिकतावाद ऐतिहासिक काल- विभाजन के बजाय सौंदर्य शैली का मामला है और जरूरी नहीं कि उत्तर आधुनिकता आधुनिकता के बाद ही आए। आधुनिकतावाद और उत्तरआधुनिकतावाद की तुलना करते हुए ल्योतार्द उत्तरआधुनिकतावाद को आधुनिकतावाद का संशोधित और मौलिक रूप मानते हैं। यथार्थवाद के विपरीत, जो एक प्रामाणिक प्रस्तुति का छलावा करता है, यह और कुछ नहीं बल्कि एक उम्दा अनुकरण है।ल्योतार्द आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद दोनों की पहचान अप्रस्तुतिकरण के सौंदर्यशास्त्र से करते हैं। लेकिन यहां उन्होंने कांट से उदात्त का विचार (आईडिया ऑफ़ सबलाइम)उधार लेकर दोनों को अलग किया है। उनके लिए, आधुनिकतावादी उदात्त 'किसी ऐसी चीज़ की ओर संकेत करता है जो स्वयं को प्रस्तुत नहीं होने देती (मालपास 48 में उद्धृत) लेकिन इससे पूर्व की स्थिरता के लिए उदासीन हानि की भावना भी जुडी है।। दूसरी ओर, वह उत्तर आधुनिक सौंदर्यशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित करते हैं:

वह जो आधुनिक में प्रस्तुति में अप्रस्तुत का आह्वान करता है, वह जो सही रूपों की सांत्वना से इनकार करता है, रूचि के मतैक्य का नकार ताकि असम्भव के प्रति उदासीनता के सामान्य अनुभव सम्भव हो सके, और नई प्रस्तुतियों में हस्तक्षेप करता है - उनमें आनन्द लेने के लिए

नहीं, बल्कि बेहतर ढंग से यह एहसास पैदा करने के लिए कि कुछ अप्रस्तुत है। (49)

ल्योटार्ड के लिए, उत्तर- आधुनिक उदात्तता (सबलाइम) दर्द और खुशी की विरोधाभासी भावना को उद्घाटित करती है, जो हास्य या दुखद की पारम्परिक धारणा को तोड़ती है और एक ऐसी कला का निर्माण करती है जो कला की स्थापित धारणाओं को बाधित करती है, भटकाती और चुनौती देती है। संक्षेप में कहें तो, ल्योतार्द यहां जिस बात का समर्थन कर रहे हैं, वह यह है कि उत्तरआधुनिकतावाद- विरोध की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाली एक सांस्कृतिक स्थिति है, और यह भी कि हमारा और साथ ही सौंदर्यप्रथा का मार्गदर्शन करने के लिए प्रत्यय का कोई निर्विवाद पूर्ण आधार नहीं है।

6.4.3 जीन बौद्रिलार्द: वास्तविकता की हानि (Loss of the Real)

यदि जीन फ्रेंकोइस ल्योतार्द उत्तर- आधुनिकतावादी दर्शन के जनक हैं, तो फ्रांसीसी दार्शनिक जीन बौद्रिलार्द उनके समकक्ष खड़े थे। उन्हें सामाजिक सिद्धान्तों के नए तरीकों और सबसे महत्त्वपूर्ण रूप से उपभोक्तावाद के तर्क द्वारा संचालित और तकनीकी द्वारा संचारित मीडियाकृत नई आधुनिकता के विश्लेषण के लिए जाना जाता है। अपनी पुस्तकों में, बौद्रिलार्द ने मार्क्सवाद, साइबरनेटिक्स, मनोविश्लेषण, सांकेतिकता और संचार सिद्धान्तों से विभिन्न अवधारणाओं को उधार लिया और विकसित किया। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में द मिरर ऑफ प्रोडक्शन (1975), सिम्बोलिक एक्सचेंज (1976), सिमुलक्रा और सिमुलेशन शामिल हैं।

बौद्रिलार्द के लिए, उत्तर आधुनिकता को उपभोक्तावादी पूंजीवाद की अभूतपूर्व वृद्धि और सर्वव्यापी आधिपत्यवादी वस्तुकरण द्वारा चिह्नित किया गया है। लेकिन यहां वे एक नई अवधारणा लाते हैं जो उत्पादन के तर्क को अनुकरण के तर्क से प्रतिस्थापित करती है। उनके लिए, उत्तर- आधुनिक दुनिया सिमुलक्रा की दुनिया है जहां वास्तविकता और अनुकरण के बीच का अन्तर करना लगभग असंभव है। ऐसे समाज में जहां जनसंचार माध्यमों और जनसंचार के माध्यम से छवियों का निरन्तर प्रवाह रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा बन जाता है, हम यथार्थ के घुमावदार चक्र में, छवियों के समाज में रहते हैं। संकेत की सास्युरवादी अवधारणा से आकर्षित होकर, बौद्रिलार्द ने संकेतन का एक नया सिद्धांत विकसित किया जो लगभग प्रतिनिधित्व- विरोधी है और यथार्थ और उसके प्रस्तुतीकरण की पूरी धारणा को उलट देता है। प्रतिनिधित्व के लिए 'सिमुलेशन' को प्रतिस्थापित करते हुए बॉड्रिलार्ड का मानना है कि उत्तर- आधुनिकता को संकेतन के चौथे क्रम द्वारा चिह्नित किया जाता है जिसमें संकेतक का संकेतित या वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, या, दूसरे शब्दों में, यह पूरी तरह से वास्तविकता को प्रतिस्थापित करता है [सिमुलेशन के प्रथम- क्रम में संकेत भौतिक यथार्थ का प्रस्तुतिकरण करते हैं; दूसरे क्रम के सिमुलेशन में संकेत यथार्थ को विकृत करते हैं; और संकेतन के तीसरे क्रम में, संकेत यथार्थ को छिपा देते हैं] । अर्थ के ह्रास की इस उत्तर- आधुनिक दुनिया में, जनसंचार और जनसंचार माध्यमों की दुनिया में संकेत की ससूरियन अवधारणा के तहत अन्ततः विघटन के साथ यथार्थ,अर्थ या इतिहास की सभी धारणाएँ नष्ट हो गई हैं।उत्तर- आधुनिकता पर विमर्श करते हुए बॉड्रिलार्ड लिखते हैं:

श्रम का अन्त उत्पादन का अन्त , राजनीतिक अर्थव्यवस्था का अन्त , संकेतक/संकेतित द्वंद्वात्मकता का अन्त जो ज्ञान और अर्थ के संचय की सुविधा देता है, संचयी प्रवचन का रैखिक वाक्य- विन्यास का अन्त। साथ ही विनिमय मूल्य/उपयोग मूल्य की द्वन्द्वात्मकता का

भी एक साथ अन्त जो एकमात्र चीज़ है जो संचय और सामाजिक उत्पादन को संभव बनाती है। प्रवचन के रैखिक आयाम का अन्त। वस्तु के रैखिक आयाम का अन्त। संकेत के शास्त्रीय युग का अन्त। उत्पादन के एक युग का अन्त। (सिंबॉलिक एक्सचेंज एँड डेथ 8)

यह विमर्श इतिहास में एक स्पष्ट विच्छेद का प्रतीक है और हम उस युग में प्रवेश कर गए हैं जिसे सिमुलेशन के युग के रूप में जाना जाता है जो यथार्थ और सिमुलेशन के बीच के अन्तर को मिटा देता है। बॉड्रिलार्ड का कहना है कि यथार्थ की क्षति 'अतियथार्थवाद' की ओर ले जाती है जिसमें सतह और गहराई के बीच का अन्तर ख़त्म हो जाता है; जहां वस्तुओं और उनके प्रतिनिधित्व के बीच अन्तर मिट जाता है और व्यक्ति केवल 'सिमुलैक्रा' रह जाता है - अर्थहीनता की एक पूरी स्थिति जिसमें स्व- संदर्भित संकेत उन चीजों से कोई समानता नहीं रखते हैं जिनका वे संकेत देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्रिलार्द सिमुलेशन और यथार्थ के 'मीडियाकरण' का वर्णन करने के लिए बड़े पैमाने पर उपभोक्तावाद की तकनीकी प्रगति से उत्पन्न अतियथार्थवाद को उत्तर- आधुनिकतावाद की विशेषता बताते हैं।

6.4.4 फ्रेडरिक जेम्सन : पूंजीवाद के उत्तरार्द्ध का सांस्कृतिक तर्क दी (कल्चरल लॉजिक ऑफ़ लेट कैपिटलिज्म)

फ्रेड्रिक जेम्सन उन चंद मार्क्सवादियों में से एक हैं, जिन्होंने समकालीन उत्तर- आधुनिकता में आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों की ताकत को पहचानने के साथ-साथ विपक्षी आलोचना के मार्क्सवादी विचार को जीवित रखा है। जेम्सन का सबसे महत्वाकांक्षी और प्रभावशाली काम पोस्टमॉडर्निज्म या द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म है। जेम्सन उत्तर- आधुनिकता के 'सांस्कृतिक तर्क' का भौतिकवादी विवरण प्रदान करते हैं। जेम्सन के लिए, आधुनिक और उत्तर आधुनिक को सांस्कृतिक प्रभुत्व के रूप में उद्घाटित किया गया है जो पूंजीवाद के चरण के प्रति प्रतिबिंबित सम्बन्ध में पाए जाते हैं।

अर्नेस्ट मंडेल की पुस्तक लेट कैपिटलिज्म (1975) से विचार से प्रेरित जेम्सन ने आधुनिक पूंजीवाद के विकास में एक त्रिपक्षीय चरण की चर्चा की : बाजार पूंजीवाद, एकाधिकार पूंजीवाद और बहुराष्ट्रीय या पूंजीवाद उत्तरार्द्ध, यथार्थवाद, आधुनिकतावाद और उत्तर- आधुनिकतावाद के साथ उनके सम्बन्धित सौंदर्यवादी परिणामों के रूप में। तीसरा चरण बहुराष्ट्रीय निगमों और प्रवाहमय बाजारों के युग को चिह्नित करता है जिसमें व्यापारिक बाधाएँ टूट जाती हैं जिससे उपभोक्ता की संख्या में बढोत्तरी के साथ ही साथ नए संचार मीडिया और तकनीक का उदय दुनिया के बुनियादी ढाँचे को मौलिक रूप से बदल देता है। पूंजीवाद उत्तरार्द्ध के इस सार्वभौमिकरण के साथ, संस्कृति और अर्थशास्त्र के बीच का अन्तर समाप्त हो गया है: सब कुछ कमॉडिफिकेशन के तर्क के अधीन है। जेम्सन की राय में उत्तर- आधुनिकता, पूंजीवाद उत्तरार्द्ध का सांस्कृतिक तर्क है जिसने जीवन के लगभग हर पहलू को अपनी चपेट में ले लिया है, जिससे कि "सौन्दर्यात्मक उत्पादन आज आम तौर पर कमॉडिटी उत्पादन में समाहित हो गया है" (सिम 22 में उद्धृत)। उत्तर आधुनिकतावाद पर जेम्सन के विचारों को समझने के लिए यह निबन्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहां जेम्सन बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ऐतिहासिक परिवर्तनों के अन्वेषण का प्रयास करते हैं और उत्तर आधुनिकतावाद को समकालीन संस्कृति पर पूंजीवाद उत्तरार्द्ध के प्रभावों के साथ जोड़ते हैं - जो कि कमॉडिफिकेशन के प्रभावों से घिरा हुआ है। हर कुछ जो है और नहीं भी है, यहां तक कि कला भी, इसके तर्क से बच नहीं पाती। उत्तर- आधुनिकतावादी कलाकार नए सौंदर्यवादी तरीके नहीं

बना सकते हैं: "ऐसी दुनिया में जहां शैलीगत नवाचार अब संभव नहीं है, मृत शैलियों की नकल करना, मुखौटों के माध्यम से और काल्पनिक संग्रहालय में शैलियों की आवाज़ में बोलना ही बाकी रह गया है"(कॉनर से उद्धृत 48)। इसलिए जेम्सन का तर्क है कि आधुनिकतावाद से उत्तर- आधुनिकतावाद की ओर का आंदोलन सौंदर्य प्रतिनिधित्व के प्रमुख तरीके के रूप में पैरोडी से पेस्टिच में बदलाव के जैसा ही है।

शैली की आधुनिकतावादी धारणा के विपरीत, जो इस विचार पर आधारित है कि कला के कार्य अद्वितीय, मौलिक और व्यक्तिगत रचनाएँ हैं, इसलिए उनकी पैरोडी की जा सकती है, उत्तर- आधुनिक पेस्टिच का तात्पर्य पैरोडी से जुड़े किसी भी विडंबनापूर्ण, उपहासपूर्ण पुन: बिना सन्दर्भ के अपरिष्कृत नकल से है। इसमें पैरोडी के गुप्त उद्देश्य, किसी विशेष अद्वितीय व्यक्ति या व्यक्तिगत शैली की नकल करने के व्यंग्यात्मक आवेग का अभाव है। जेमसन लिखते हैं, पेस्टीची बस एक, "पैरोडी है जिसने हास्य की भावना खो दी है" (कैम्ब्रिज से उद्धृत 48)।

6.4.5 उत्तर- आधुनिकतावाद के आलोचक : हैबरमास , नॉरिस, और ईगल्टन

आश्चर्य की बात नहीं है कि हर किसी ने उत्तर आधुनिकतावाद का स्वागत बाहें फैला कर नहीं किया है।हैबरमास के निबन्ध 'मॉडर्निज़्म :एन इन्कम्प्लीट प्रोजेक्ट ' उत्तरआधुनिकतावादियों की उनकी पूर्ण अस्वीकृति का संकेत देता है, जिन्हें बाद में उन्होंने आधुनिक जीवन और संस्कृति के बिखराव का जश्न मनाने के लिए 'नव- रूढ़िवादी' कहा। उन्होंने प्रबोधन परियोजना को फिर से सशक्त बनाने का प्रस्ताव करते हुए तर्क दिया है कि यद्यपि आधुनिकता के आख्यान - प्रबोधन और प्रगति के - पूरी तरह से सफल नहीं हुए, इसका मतलब यह नहीं है कि वे विफल हो गए हैं। आधुनिकता की परियोजना, यानी तर्क के माध्यम से संपूर्ण मानवता की मुक्ति और प्रगति, अभी भी अधूरी है और इसे अंजाम तक ले जाना होगा। हेबरमास, डेरिडा, फूको और ल्योतार्द पर आक्षेप करते हुए तर्क देते हैं कि समकालीन पूंजीवाद के तहत संस्कृति के विखण्डन के जश्न में ये 'युवा रूढ़िवादी' वास्तव में तर्क, सच्चाई और प्रगति के आदर्शों को अस्वीकार कर रहे हैं और इसलिए इन्हें समाप्त किया जाना चाहिए।

यदि ल्योतार्द को हैबरमास से विवादास्पद आलोचना मिली, तो बॉडरिलार्ड के प्रति क्रिस्टोफर नॉरिस की प्रतिक्रिया भी उतनी ही कड़वी रही है। व्हाट इस रॉंग विथ पोस्टमॉडर्निज़्म ? नामक एक निबन्ध में 'लॉस्ट इन द फनहाउस' शीर्षक के अन्तर्गत नॉरिस ने तर्कसंगतता से पीछे हटने और खाड़ी युद्ध नहीं हुआ (The Gulf ¡r did not take plEce) जैसे दम्भी और वक्रपटु घोषणाएँ करने के लिए बौद्रिलार्द को सिरे से खारिज कर दिया। नॉरिस बताते हैं कि बॉड्रिलार्डियन घोषणाएँ स्वयं अन्तर्निहित वैचारिक विरोध से बच नहीं सकती हैं। अपने विरोध को सारांशित करते हुए, नॉरिस का तर्क है: "यदि वह सत्य की सभी अपीलों को कमजोर करने में सफल हो जाता है... तो उसे सही मानने का कोई आधार नहीं हो सकता है। . . यदि वह सफल नहीं होता है... तो हम उसके मामले को अस्वीकार करने के समान रूप से हकदार हैं (सिम 24 में उद्धृत)।

टेरी ईगलटन ऐसे ही एक मुखर आलोचक रहे हैं जिन्होंने बड़े पैमाने पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उत्तर- आधुनिकतावाद पर हमला किया है। वह बताते हैं कि उत्तर आधुनिकतावाद भीतर से दोषपूर्ण है क्योंकि मेटानैरेटिव्स को डी- टोटलाइज करने के इसके दावे विरोधाभासी टोटलाइजिंग आख्यान पर आधारित हैं।अपनी प्रभावशाली पुस्तक द इल्यूजन ऑफ

पोस्टमॉडर्निज्म (1996) में उन्होंने उत्तर आधुनिकतावाद पर कुछ झूठे विरोधों पर आधारित होने का आरोप लगाया है:

अन्तर, बहुलता, विषमता की अपनी सभी बातों के बावजूद, उत्तर आधुनिक सिद्धांत अक्सर काफी कठोर द्विआधारी विरोधों के साथ संचालित होता है, जिसमें 'अन्तर', 'बहुलता' और संबद्ध शब्द सैद्धांतिक घेरे के एक तरफ स्पष्ट रूप से सकारात्मक होते हैं, और जो भी उनका प्रतिवाद हो (एकता, अस्तित्व, समग्रता, सार्वभौमिकता) दूसरी तरफ घातक रूप से सीमाबद्ध होते हैं। (सिम 25 में उद्धृत)

अन्त में, उत्तर आधुनिकतावाद के सम्बन्ध में इन उपरोक्त विचारकों द्वारा बताई गई महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को संक्षेप में कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

- उत्तरआधुनिकतावाद समकालीन पूंजीवाद की एक अपरिहार्य शाखा है। (जेम्सन)
- उत्तरआधुनिकतावाद प्रबोधन विरोधी है।
- उत्तरआधुनिकतावाद अनिवार्य रूप से आधार- विरोधी है और मूलभूत विश्वास प्रणालियों के प्रति संदेह का रवैया दिखाता है और इसकी विशेषता 'मेटानैरेटिव्स के प्रति अविश्वास' है।
- उत्तरआधुनिकतावाद समकालीन पूंजीवाद के तहत व्यक्तियों के बिखराव और ज्ञान के वस्तुकरण को रेखांकित करता है।
- उत्तरआधुनिकतावाद तत्व- विरोधी है और इस बात को खारिज करता है कि मानव होने का कोई प्राकृतिक या सार्वभौमिक सार ही नहीं है।
- यह यथार्थ की क्षति, विषय की मृत्यु और इतिहास की मृत्यु जैसे विचारों की वकालत करता है।
- कला और सौंदर्यशास्त्र में, उत्तर आधुनिकतावाद अनुकरण- विरोधी (काउंटर मिमेसिस) है।
- यह उच्च संस्कृति और तथाकथित जन या लोकप्रिय संस्कृति के बीच पुराने अन्तर के क्षरण को रेखांकित करता है। (जेम्सन)

6.5 विखण्डनवाद

विखण्डनवाद 20वीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी दार्शनिक जैक डेरिडा द्वारा विकसित एक दार्शनिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण है जो भाषा, अर्थ और यथार्थ की पारम्परिक धारणाओं को चुनौती देता है।यह विश्लेषण की एक विधि है जो भाषा, अर्थ और दुनिया को समझने की शैली के बारे में पारम्परिक धारणाओं को चुनौती देने और उन्हें खत्म करने का प्रयास करती है। यह दार्शनिक और साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा और तर्क के विश्लेषण से पश्चिमी दर्शन में मौलिक वैचारिक भेद, या "विरोध" पर सवाल उठाता है। सरल अर्थों में समझना चाहें तो यह "पाठ" और “अर्थ” के सम्बन्ध की बात करता है।

देरिदा के अनुसार, संकेतों और शब्दों की एक प्रणाली के रूप में भाषा का अर्थ केवल इन संकेतों के बीच विरोधाभास के कारण होता है। अर्थात अच्छे का अर्थ तभी समझा जा सकता है अगर बुरे का अस्तित्व हो। परिणामस्वरूप, अर्थ कभी मौजूद नहीं होता, बल्कि अन्य संकेतों

तक स्थगित कर दिया जाता है या किसी अन्य संकेत पर लाद दिया जाता है। विखण्डन मुख्यतः इस विचार का विरोध करता है, जो प्राचीन यूनानियों के समय से पश्चिमी दर्शन में निहित हैं और विशिष्ट रूप से "द्वैत" और "पदानुक्रमित" हैं, जिसमें शब्दों की एक जोड़ी शामिल है जिसमें जोड़ी के एक सदस्य को प्राथमिक या मौलिक माना जाता है , और अन्य गौण या प्रथम से व्युत्पन्न। उदाहरणतः स्त्री - पुरुष, प्रकृति- संस्कृति, शरीर - मन आदि। विपक्ष को "विखंडित" करने का अर्थ है पाठ में कल्पित (और कभी- कभी स्पष्ट रूप से व्यक्त किए गए) पदानुक्रमित क्रम और पाठ के अर्थ के अन्य पहलुओं के बीच तनाव और विरोधाभासों का अन्वेषण, विशेष रूप से वे जो अप्रत्यक्ष या अन्तर्निहित हैं या जो भाषा के आलंकारिक या प्रदर्शनकारी उपयोग पर निर्भर हैं।

विखण्डनवाद अर्थ की अन्तर्निहित अस्थिरता और तरलता को प्रकट करने की कोशिश करता है। यह कहता है कि अर्थ कभी भी निश्चित नहीं होता बल्कि उसकी कभी भी व्याख्या और पुनर्व्याख्या की जा सकती है।डेरिडा के अनुसार, व्याख्या एक अन्तहीन प्रक्रिया है, और किसी भी पाठ या अवधारणा की कोई अंतिम, निश्चित व्याख्या नहीं होती है। उन्होंने इस विचार को समझाने के लिए "डिफ्रांस" शब्द गढ़ा कि अर्थ स्थगित (deferred) (कभी भी पूरी तरह से मौजूद नहीं) और विभेदक (differential) (संकेतों और शब्दों के बीच अन्तर के माध्यम से निर्मित) दोनों है। यह अवधारणा इस बात पर जोर देती है कि भाषा में आधारभूत , निश्चित अर्थ की कमी होती है। डेरिडा का विखण्डनवाद पाठ के भीतर एक स्थिर, स्व- निहित अर्थ की धारणा को चुनौती देता है। पारम्परिक पश्चिमी दर्शन अक्सर भाषा और अर्थ के भीतर एक अन्तर्निहित सार या पूर्ण सत्य की खोज करना चाहता है, लेकिन विखण्डनवाद का तर्क है कि ऐसा प्रयास व्यर्थ है। इसके बजाय, डेरिडा का सुझाव है कि भाषा एक खुली प्रणाली है, और अर्थ लगातार परिवर्तित होता रहता है। विखण्डनवाद का दावा है कि सभी पाठ और अवधारणाएँ अस्पष्टता से भरी हैं, और उनका अर्थ कभी भी निश्चित नहीं बल्कि आकस्मिक होता है और उसकी पुनर्व्याख्या की जा सकती है। डेरिडा की "डीफ्रान्स" की अवधारणा भाषा में अन्तर और स्थगन के बीच गतिशील परस्पर क्रिया पर जोर देती है, और इसकी अस्थिरता को उजागर करती है। यह दृष्टिकोण संचार के सभी रूपों को शामिल करने के लिए "पाठ" की परिभाषा को व्यापक बनाता है और व्याख्या की भूमिका को रेखांकित करता है। स्थापित विचारों को चुनौती देकर और भाषा और विचार की जटिलताओं को उजागर करके विखण्डनवाद ने साहित्यिक सिद्धांत, दर्शन और सांस्कृतिक अध्ययन पर गहरा प्रभाव डाला है।

इसके अलावा, देरिदा का तर्क है कि "शास्त्रीय दार्शनिक विरोध में हम एक- दूसरे के शांतिपूर्ण सह- अस्तित्व से नहीं, बल्कि एक हिंसक पदानुक्रम से जूझ रहे हैं।दो शब्दों में से एक दूसरे को नियंत्रित करता है (स्वयंसिद्ध, तार्किक रूप से, आदि), या उसका पलड़ा भारी होता है। देरिदा के अनुसार, विखण्डन का पहला कार्य पाठ(पाठों) के अंदर इन विरोधों को ढूंढना और उन्हें पलटना है; लेकिन विखण्डन का अंतिम उद्देश्य सभी विरोधों को पार करना नहीं है, क्योंकि यह माना जाता है कि वे बोध के लिए संरचनात्मक रूप से आवश्यक हैं - विरोधों को सदा के लिए कभी ख़त्म नहीं किया जा सकता है, क्योंकि दोहरे विरोधों का पदानुक्रम हमेशा खुद को फिर से स्थापित कर लेता है।

इसके अलावा, विखण्डनवाद लिखित रचनाओं से परे "पाठ" की धारणा को संचार और अर्थ-निर्माण के सभी रूपों तक विस्तारित कर देता है, जिसमें बोली जाने वाली भाषा, छवियां, सांस्कृतिक प्रथाएँ और यहां तक कि दुनिया के प्रति हमारी समझ भी शामिल है। यह रेखांकित

करता है कि व्याख्या किसी भी पाठ को पढ़ने और समझने का एक बुनियादी पहलू है, और किसी भी पाठ की कोई एकमात्र, स्थिर व्याख्या नहीं होती है। उनका मानना है कि सभी ग्रन्थों में आंतरिक विरोधाभास और जटिलताएँ होती हैं, और ये विरोधाभास पाठ की खामियाँ नहीं बल्कि अन्तर्निहित विशेषताएँ हैं।

डेरिडा के अनुसार, विखण्डन का पहला कार्य पाठ(पाठों) के अंदर इन विरोधों को ढूंढना और उन्हें पलटना है; लेकिन विखण्डन का अंतिम उद्देश्य सभी विरोधों को पार करना नहीं है, क्योंकि यह माना जाता है कि वे बोध के लिए संरचनात्मक रूप से आवश्यक हैं - विरोधों को सदा के लिए कभी ख़त्म नहीं किया जा सकता है, क्योंकि दोहरे विरोधों का पदानुक्रम हमेशा खुद को फिर से स्थापित कर लेता है

विखण्डनवाद का प्रतिग्रह इसके बौद्धिक पूर्ववर्तियों, विशेष रूप से संरचनावाद और नई आलोचना से प्रभावित था। 1950 के दशक में फ्रांस में शुरू होकर, मानवविज्ञान में संरचनावादी आंदोलन ने विभिन्न सांस्कृतिक घटनाओं का विश्लेषण "संकेतों" की सामान्य प्रणालियों के रूप में किया और शब्दों और अवधारणाओं की "धातुभाषा" विकसित करने का प्रयास किया जिसमें विभिन्न संकेत प्रणालियों का वर्णन किया जा सके। विखण्डनवाद ने अलग, वैज्ञानिक धातुभाषाएँ बनाने की संभावना के विचार का प्रभावशाली रूप से खण्डन किया , अतः इसे "उत्तर- संरचनावादी" के रूप में वर्गीकृत किया गया।एँग्लो- अमेरिकी नई आलोचना ने कला के मौखिक रचनाओं (विशेष रूप से कविता) को शाब्दिक और गैर- शाब्दिक अर्थों के विभिन्न और विपरीत स्तरों से बने जटिल निर्माणों के रूप में समझने की कोशिश की, और इसने इन रचनाओं में विरोधाभास और विडंबना की भूमिका पर जोर दिया। इसके विपरीत, विखण्डनवादी दृष्टिकोण ने कला- रचनाओं को शाब्दिक और आलंकारिक अर्थों के सामंजस्यपूर्ण संलयन के रूप में नहीं, बल्कि विभिन्न प्रकार के अर्थों के बीच परस्पर प्रभावी संघर्ष का उदाहरण माना। यह आम तौर पर व्यक्तिगत रचनाओं का परीक्षण एक स्व- निहित कलाकृति के रूप में नहीं बल्कि अन्य साहित्यिक और गैर- साहित्यिक ग्रन्थों या विमर्शों के साथ सम्बन्धों के परिणाम के रूप में करते हैं। अन्त में, इस दृष्टिकोण ने उन शैलियों पर विशेष ध्यान दिया, जिनमें रचनाओं ने स्वयं उन वर्गों की अन्तर्निहित आलोचनाएँ की जिनका उपयोग आलोचकों ने उनका विश्लेषण करने के लिए किया था। विखण्डनवाद ने अमेरिका में 1970 और 80 के दशक में साहित्यिक सिद्धांत (जिसे अक्सर सिर्फ "सिद्धांत" के रूप में संदर्भित किया जाता है) द्वारा साहित्यिक अध्ययन के स्फुरण और परिवर्तन में एक प्रमुख भूमिका निभाई, जो भाषा की प्रकृति, अर्थ के उत्पादन , और साहित्य और मानव अनुभव और उसके इतिहास की संरचना करने वाले असंख्य विमर्शों के बीच के सम्बन्ध के प्रश्नों से सम्बन्धित था।

विखण्डनवाद ने स्वयं द्वारा प्रभावित सभी क्षेत्रों में भाषा के उपयोग के अलंकारिक और प्रदर्शनात्मक पहलुओं पर ध्यान आकर्षित किया, और इसने विद्वानों को न केवल एक पाठ क्या कहता है, बल्कि एक पाठ क्या कहता है और क्या करता है के बीच के सम्बन्ध और संभावित संघर्ष पर भी विचार करने के लिए प्रोत्साहित किया। विखण्डनवाद ने विभिन्न विषयों में, मौलिक विरोधों और आलोचनात्मक पदों के अन्वेषण और मुख्य उद्देश्यों के पुनः परीक्षण को भी प्रेरित किया। आम तौर पर, विखण्डनवाद उत्तर- संरचनात्मक और उत्तर- आधुनिक विमर्श के अन्य पहलुओं के साथ स्थापित बौद्धिक श्रेणियों के प्रति संदेह और निष्पक्षता की संभावना के प्रति संशय पैदा करता है। परिणामस्वरूप, इसके प्रसार को बड़े पैमाने पर विरोध

का सामना करना पड़ा। कुछ दार्शनिक, विशेष रूप से एँग्लो- अमेरिकन परम्परा के लोगों ने, इसे अस्पष्ट शब्दजाल कहकर खारिज कर दिया, जिनके प्रमुख दावे, स्पष्ट होने पर तो तुच्छ और निराधार थे। कुछ लोगों ने इस पर ग़ैर- ऐतिहासिक और अराजनीतिक होने का आरोप लगाया। साथ ही कुछ लोगों ने इसे कट्टरपंथी ज्ञानमीमांसीय सापेक्षवाद का नास्तिवादी समर्थन माना। ऐसे आक्षेपों के बावजूद, विखण्डनवाद ने विभिन्न बौद्धिक उद्यमों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

6.5.1 देरिदा और अपोहवाद

हालाँकि देरिदा को उत्तर संरचनावाद का जनक माना जाता है, पर उनका स्थान प्रमुख उत्तर आधुनिक विचारकों में भी है। उनके कुछ उल्लेखनीय कार्यों में "ऑफ़ ग्रामटोलॉजी," "राइटिंग एँड डिफरेंस" और "डिससेमिनेशन" शामिल हैं। अब भी डेरिडा के विचारों का विद्वानों द्वारा अध्ययन और उनपर बहस जारी है और उन्होंने समकालीन विचारों पर, विशेष रूप से उत्तर- संरचनावाद और उत्तर- आधुनिकतावाद के क्षेत्रों में एक स्थायी छाप छोड़ी है। अन्य उत्तरआधुनिक विचारकों की तरह देरिदा भी अर्थ के स्थायित्व को चुनौती देना चाहते हैं - यह विचार कि शब्द यथार्थ को द्योतित करते हैं। वह इस धारणा का विरोध करते हैं कि शब्द या चित्र किसी पूर्व विद्यमान यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। उत्तरआधुनिकतावाद हमेशा 'विभेद ' की धारणा का जश्न मनाता है, एक जटिल शब्द जिसका अर्थ ही है कि अर्थ शब्दों के बीच के विभेद से उत्पन्न होता है, कोई भी शब्द हमेशा अपने अर्थ के लिए अन्य शब्दों के विभेद पर निर्भर करता है, न कि यथार्थ के साथ उसके प्राकृतिक सम्बन्ध पर।

डेरिडा के विचार में,शब्द अपने अर्थ से अन्तर रखते (differ from) और अर्थ को स्थगित (defer) करते हैं, जिसके लिए देरिदा एक नवशब्द डिफरांस (differance) प्रस्तुत करते हैं।(words differ from (difference)And defer (deference) their meaning for which Derrida offersA neologism, *differance)* **अपोहवाद** की बौद्ध धारणा अन्तर की इस देरिदावादी परिकल्पना का अनुमान लगाती है कि अर्थ न केवल संकेतक (signifier) में मौजूद है बल्कि इसकी अनुपस्थिति पर भी निर्भर करता है। अपोह प्रकृति में निषेधात्मक (अभावात्मक) है। प्रसिद्ध बौद्ध सिद्धांतकार दिन्नागा का कहना है कि “सभी शब्द, सभी नाम, सभी अवधारणाएँ आवश्यक रूप से सापेक्ष हैं इसलिए असत हैं।

किसी शब्द का वर्णन केवल नकारात्मक रूप से ही किया जा सकता है। यह विपरीत अर्थ को अस्वीकार करके ही अपना अर्थ व्यक्त कर सकता है। 'गाय' का अर्थ है 'जो गाय के न होने को ख़ारिज करता हो " (शर्मा 136 में उद्धृत)। शांतरक्षित और कमलशिल, अन्य दो बहुत प्रसिद्ध बौद्ध सिद्धांतकारों का मानना है कि वैचारिक धारणाओं और मौखिक अभिव्यक्तियों का कोई वास्तविक आधार नहीं है। उनका मत है कि अपोह शब्द का बोधक है। वस्तुतः शब्द न तो पर्यायवाची हैं और न ही अ- पर्यायवाची।

6.6 सारांश

उत्तर आधुनिकतावाद अध्ययन के कई क्षेत्रों में व्याप्त एक विश्वव्यापी आंदोलन है। उत्तर आधुनिकता की कोई निश्चित परिभाषा देना बहुत कठिन है, यह कई परस्पर विरोधाभासी विचारों का समुच्चय है। यह आधुनिकता के विस्तार या प्रतिक्रिया के रूप में 20वीं शताब्दी में उदित एक साहित्यिक- सांस्कृतिक विचार परम्परा है जिसने बड़े स्तर पर विमर्शों और

परम्पराओं को प्रभावित किया। उत्तर आधुनिकतावाद मोटे तौर पर पश्चिमी दर्शन के इतिहास (लगभग 17वीं से 19वीं शताब्दी) के आधुनिक काल की बौद्धिक मान्यताओं और मूल्यों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। व्यापक संदेहवाद, व्यक्तिवाद या सापेक्षवाद, तर्क के प्रति सामान्य संशय और राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का प्रभुत्व जताने और बनाए रखने में विचारधारा की भूमिका के प्रति तीव्र संवेदनशीलता ही इसकी विशेषता है। यह प्रभाववाद और व्यक्तिपरकता पर बल देता है; संसार में हम क्या देखते हैं के बजाय हम संसार को कैसे देखते हैं का अन्वेषण करता है। इसने यथार्थ की क्षति, विषय की मृत्यु और इतिहास की मृत्यु जैसे विचारों की वकालत की। यह सौन्दर्यशास्त्रीय आत्म- चिंतन या आत्म- चेतना की ओर प्रवृत्त होता है तथा खंडित रूपों, विश्रृंखल आख्यानों और कोलाज संरचनाओं का उपयोग करता है। इसकी एक सबसे प्रमुख विशेषता नए कला रूपों के साथ प्रयोग करने की प्रवृत्ति भी है।अतीत की हानि, अस्तित्व के बिखराव और स्व- चेतना के पतन पर विलाप करने के बजाय, उत्तर आधुनिकतावाद इन विशेषताओं को सामाजिक अस्तित्व और व्यवहार की एक नई शैली के रूप में अपनाता है। यह इसी उत्सवधर्मी आधार पर आधुनिकतावाद से भिन्न है।

आधुनिकता ने एक नए युग की शुरुआत की जो ईश्वरकेंद्रित होने के बजाय मानवकेंद्रित था और घोषणा की कि मनुष्य सभी चीजों की धुरी है। यह मानवीय तर्क और वैज्ञानिक तर्कसंगतता पर एक अटूट विश्वास रखता था। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका ने इस विश्वास की नीव में दरार उत्पन्न कर दी। यह उत्तरआधुनिकतावाद के जन्म का मूल कारण था। उत्तरआधुनिकतावाद वृहद् आख्यानों की अवधारणा को सिरे से खारिज करने का प्रयास करता है। यह विज्ञान, कानून, न्याय, लोकतंत्र, नैतिकता और सौंदर्यशास्त्र जैसे वृहद् आख्यानों के प्रति एक संशय के भाव को जन्म देता है। इसने इन सभी वृहद् आख्यानों के तर्कों का खण्डन करते हुए उसके दुसरे पक्ष को प्रकाशित हुआ। अतः इसने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि सत्य का कोई निश्चित अस्तित्व नहीं है, यह मात्र दृष्टिकोण और विचारों पर निर्भर एक सामाजिक वैचारिक संरचना है। उत्तरआधुनिकतावादियों के अनुसार, यथार्थ एक वैचारिक संरचना है, वैज्ञानिक पद्धति और भाषा की एक कलाकृति। उनके लिए, युक्ति और तर्क भी केवल वैचारिक संरचनाएँ हैं और इसलिए केवल उन स्थापित बौद्धिक परम्पराओं के भीतर ही मान्य हैं जिनमें उनका उपयोग किया जाता रहा है।

समकालीन कलात्मक प्रथाओं को संदर्भित करने के लिए उत्तर आधुनिक शब्द का प्रयोग करने वाले पहले लेखकों में से एक अमेरिकी साहित्यिक आलोचक इहाब हसन थे, जिन्होंने उत्तर आधुनिकता और आधुनिकता के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया। ल्योतार्द को उत्तर आधुनिकता के सौंदर्यशास्त्र का जनक कहा जा सकता है। वे तर्क और स्वतंत्रता के सार्वभौमिक विचारों के साथ वृहद्- आख्यान को राजनीतिक रूप से समस्याग्रस्त मानते हैं, तथा उत्तर आधुनिकता को आधुनिकता का शैशव काल घोषित करते हैं। ल्योतार्द उत्तरआधुनिकतावाद को आधुनिकतावाद का संशोधित और मौलिक रूप मानते हैं। फ्रांसीसी दार्शनिक जीन बौद्रिलार्द ने मीडियाकरण की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए, सिमुलेशन तथा सिमूलकृ का सिद्धांत स्पष्ट किया जो यथार्थ के प्रस्तुतीकरण का एक अहम् सिद्धांत है। उन्होंने सिमुलेशन के युग की घोषणा की। फ्रेड्रिक जेम्सन उत्तर- आधुनिकता के 'सांस्कृतिक तर्क' का भौतिकवादी विवरण प्रदान करते हैं।उनके अनुसार उत्तर- आधुनिकता, पूंजीवाद उत्तरार्द्ध का सांस्कृतिक तर्क है जिसने जीवन के लगभग हर पहलू को अपनी चपेट में ले लिया है, जिससे कि "सौन्दर्यात्मक उत्पादन" आज आम तौर पर कमॉडिटी उत्पादन में समाहित हो गया है।

उत्तर आधुनिकता के विचार को पर्याप्त आलोचना का भी सामना करना पड़ा। हैबरमास ने आधुनिक जीवन और संस्कृति के बिखराव के उत्सव के लिए उत्तर आधुनिकता को 'नव-रूढ़िवादी' कहा। नॉरिस ने सत्य को खारिज करने के उत्तर आधुनिक तर्क को खारिज करते हुए तर्क दिया कि यदि कोई तर्क स्वयं को सिद्ध करने में सफल हो जाता है तो उसे सत्य क्यों न माना जाए और यदि वह सफल नहीं होता तो उसपर अविश्वास करने का पूर्ण अधिकार है। ईगलटन ने उत्तर आधुनिकता को झूठे विरोधों पर आधारित मान कर उसका खण्डन किया।

विखण्डनवाद उत्तर आधुनिक सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह विचारों की एक नई शैली थी जो भाषा, अर्थ और दुनिया को एक नए दृटिकोण से समझने का प्रयास करती है। इसे 1960 के दशक में फ्रांसीसी दार्शनिक जैक्स डेरिडा द्वारा प्रचारित किया गया था, जो दार्शनिक और साहित्यिक ग्रन्थों की भाषा और तर्क के गंभीर अन्वेषण से पश्चिमी दर्शन में मौलिक वैचारिक भेद, या "विरोध" पर सवाल उठाता है। यह भाषा तथा पाठ में अन्तर्निहित द्वैत और इस द्वैत से उत्पन्न पदानुक्रम पर प्रश्न उठाता है जो इस द्वैत के एक पक्ष को प्रमुख तथा दुसरे पक्ष को गौण सिद्ध करता है। यह प्रमुख पक्ष दुसरे पक्ष को नियंत्रित करता है। विखण्डनवाद के अनुसार अर्थ निश्चित नहीं होता अपितु वह सतत परिवर्तनशील है। उसकी दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या तथा पुनर्व्याख्या की जा सकती है।

6.7 पारिभाषिक शब्दावली

6.8 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

- कॉनर, स्टीवन, संपादक. द कैम्ब्रिज कम्पैनियन टू पोस्टमॉडर्न . न्यूयॉर्क: CUP, 2004.
- परांजपे, मकरंद. "पोस्टमॉडर्निज्म और इण्डिया." http://www.makUrand.com/, 7 मई 2011. वेब. 6 अप्रैल 2011.
- बौद्रिलार्द जीन. सिम्बॉलिक एक्सचेंज एँड डेथ . अनुवादक: इयान हैमिल्टन ग्रैंट. लंदन: सेज, 1998.
- बर्टेंस, हांस. द आइडिआ ऑफ़ द पोस्टमॉडर्न . लंदन: राउटलेज, 2005
- मैल्पास, साइमन. जीन फ्रांसुआ ल्योतार्द. न्यूयॉर्क: राउटलेज, 2007.
- ल्योतार्द, जीन- फ्रांसुआ . द पोस्टमॉडर्न कंडीशन : अ रिपोर्ट ऑन नॉलेज . अनुवादक: जिओफ बेनिंगटन और ब्रियन मास्यूमी. मैंचेस्टर: मैंचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984.
- वुड्स, टिम. बेगिनिंग पोस्टमॉर्डर्निस्म . मैंचेस्टर: मैंचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999.
- शर्मा, सी. डी. भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1987.
- सिम, स्ट्यूअर्ट, संपादक. द रूटलेज कंपनियन टू पोस्टमॉर्डर्निज़्म लंदन: राउटलेज, 2001.
- स्निप- वॉल्म्सली, क्रिस. "पोस्टमॉडर्निज्म". लिटरेरी थ्योरी एँड क्रिटिसिज्म : एन ऑक्सफ़ोर्ड गाइड में. संपादक: पैट्रिशिया वॉफ. न्यूयॉर्क: OUP, 2006. 405- 26.
- हसन, इहाब. द डिस्मेम्बरमेंट ऑफ़ ऑर्फियस : टूवार्ड अ पोस्टमॉडर्न लिटरेचर. 2nd एडिशन. मैडिसन: यूनिवर्सिटी ऑफ विस्कॉन्सिन प्रेस, 1982.

6.9 बोध प्रश्न

- उत्तर आधुनिकता से आप क्या समझते हैं ?
- आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता में अन्तर स्पष्ट करें।
- हैबरमास ने उत्तरआधुनिकता के खण्डन में क्या कहा है ? स्पष्ट करें।
- बौद्रिलार्द का सिद्धांत स्पष्ट करें।
- विखण्डनवाद का सिद्धांत स्पष्ट करें।

खण्ड 7
प्रवासी- हिन्दू भारतीयता

सप्तम खण्ड का परिचय

केवल भारत की भूमि में निवास करने वाले लोग ही इस पाठ्यक्रम में हिन्दू के रूप में नहीं दर्शाये गये हैं। बल्कि एक भौगोलिक सम्प्रत्यय के रूप में विश्व के अनेक भूभागों में निवास करते हुए हिन्दूओं को देखते हुए इस खण्ड में प्रवासी हिन्दू की भारतीयता का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय मूल से सम्बन्धित हिन्दू, जो विश्व के अनेक भू–भागों में निवास करते हैं उनके विषय में अध्ययन हेतु प्रथम इकाई का वर्णन प्रस्तुत है। यह वर्णन भारतीय प्रवासियों के धर्म और जातीय तादात्म्य से सम्बन्धित है। इस इकाई में आप उन प्रवासियों के धर्म विषयक मान्यताओं का अध्ययन करेंगें। दूसरी इकाई के अन्तर्गत वैश्विक हिन्दू प्रवासी के खान–पान, रहन–सहन और पहचान विषयक तथ्यों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। जिसके अध्ययन से आपको उनकी संस्कृति का बोध हो सकेंगा। अन्तिम इकाई प्रवासियों के साहित्य, उनकी संस्कृति, हिन्दू राष्ट्रवाद से सम्बन्ध रखती है। अतः इस खण्ड की तीनों इकाइयों का अध्ययन कर लेने के बाद आपको प्रवासी हिन्दू की संस्कृति का सम्यक बोध होगा और उनके साहित्य तथा पहचान और राष्ट्रवाद विषयक व्याख्या करने में भी आप सक्षम हो जाएंगे।

इकाई 1 भारतीय प्रवासी : धर्म और जातीय तादात्म्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप

- भारतीय प्रवासियों के प्रवासन की विभिन्न धाराओं को समझ सकेंगे।
- प्रवासी भारतीय किसे कहते हैं? इस अवधारणा को आप समझ सकेंगे।
- काश्मीर तथा हिन्दू बंधुआ प्रवासन को समझ सकेंगे।
- प्रवासी भारतीय के सांस्कृतिक एवं सामाजिक तादात्म्य के बारे में जान सकेंगे।
- त्रिनिदाद के प्रवासी तथा भारत के बीच सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

'भारतीय/हिन्दुस्तानी/इंडियन प्रवासी उन भारतवंशियों को कहा जाता है जो भारत से दुनिया के अन्य देशों में चले गये हैं। इन भारतवंशियों ने अपनी मातृभूमि यानि भारत/इण्डिया/हिन्दुस्तान के साथ अपने आत्मिक सम्बन्ध को बनाये रखा और पीढ़ी–दर– पीढ़ी इस सम्बन्ध का निर्वहन किया है। इस प्रकार उनका अपना एक समुदाय विकसित हुआ, जिसे भारतीय प्रवासी कहा जाता है। उत्तर भारत के कई गांवों के निवासी अपने गाँव और आस–पास के क्षेत्र को 'मुल्क देश' या 'अपनी मातृभूमि' कहते हैं। इसी प्रकार प्रवासी भारतीय समुदाय के लोग भारत को अपना 'मुल्क देश' या मातृभूमि कहते है।

भारतीयों के वैश्विक प्रवास का एक वृहद इतिहास है। सोलहवीं सदी के मध्य में जो लोग पंजाब, राजस्थान, गुजरात, दिल्ली, इलाहाबाद और बंबई से मध्य एशिया, काकेशस और रूस की ओर गये, उन्हें 'मुल्तानी', 'शिकारपुरी' और 'बनिया' जैसे नाम दिये गये। इन प्रवासियों ने एक प्रवासी व्यापारी संगठन का भी निर्माण किया। माना जाता है कि रोमानी/जिप्सी समुदाय जो यूरोप और अन्य जगहों पर खानाबदोश जिन्दगी जीते हैं, उनकी भी उत्पत्ति भारत में ही हुई है।

विश्व के विभिन्न देशों में बिना हिंसा और आधिपत्यवारी राजनीतिक, आर्थिक या सांस्कृतिक उद्देश्यों के भारतीयों द्वारा प्रवास करने और बसने का एक लंबा इतिहास है। प्रवासी भारतीय जीवन शैली की प्रमुख विशेषताओं में मजबूत और स्थिर पारिवारिक जीवन, अन्य संस्कृतियों/ जीवन शैली के प्रति सम्मान का भाव तथा दूसरों के साथ शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना आदि आते हैं।

ब्रिटिश शासन द्वारा अपने उपनिवेशों के बागानों की पूँजीवादरी श्रम की आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु अनुबन्धित श्रमिक योजना आरंभ की गई थी। इसी कालखण्ड में कई अनुबन्धित भारतीयों ने मुक्ति के उपरांत बेहतर जीवन की तलाश में यूरोपीय महानगरों (उदाहरण के लिये ब्रिटिश, फ्रांसीसी और इच उपनिवेशों के नागरिकों द्वारा क्रमशः लंदन, पेरिस और एम्सटर्डम) की यात्रा की। इसी क्रम में भारत से कई लोगों ने उच्च्च शिक्षा और नौकरी के उद्देश्य से लंदन प्रवास किया।

वर्तमान समय में भारतीय प्रवासी यूरोप में ज्यादा संख्या में दिखाई देने लगे हैं। नीदरलैण्ड में दूसरा सबसे बड़ा भारतीय समुदाय (जिन्हें हिन्दुस्तानी कहा जाता है) निवास करता है। यहाँ रहने वाले हिन्दुस्तानी सूरीनाम से आये प्रवासियों की दूसरी लहर है। प्रथमतः ये ब्रिटिश भारत से अनुबन्धित श्रमिक के रूप में सूरीनाम गये थे। इन सूरीनामी भारतीयों/हिन्दुस्तानियों के पूर्वजों जो मुख्य रूप से भोजपुरी, अवधी, मद्रासी और बंगाल क्षेत्रों के निवासी थे, ने अनुबन्ध अवधि के दौरान भारत छोड़ा था। भारतीयों में ब्रिटिश, डच, फ्रांसीसी आदि अन्य यूरोपिय निवासियों द्वारा अपने उपनिवेशों जैसे वेस्टठण्डीज (त्रिनिदाद, गुयाना, जमैका आदि द्वीपीय देश), मॉरीशस, फिजी, दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में मजदूरी करने के लिये ले जाया गया था।

भारतीय सूरीनाम के भारतवंशी स्वयं को 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं, जबकि अन्य प्रवासी भारतीय स्वयं को केवल 'भारतीय' कहते है। वह प्रचलित 'ईस्ट इंडियन' शब्द आम लोगों द्वारा नहीं बल्कि उन शिक्षाविदों द्वारा प्रयोग में लाया गया, जो खुद को भारतीय (सूरीनाम या नीदरलैण्ड के सन्दर्भ में 'हिन्दुस्तानी') कहते थे। इन भारतीयों को 'कुली' जैसे अपमानजनक शब्दों से पुकारा जाता था। हालाँकि ऐसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग अब राजनीतिक रूप से उचित नहीं रह गया है फिर भी अनुबन्धित भारतीयों और अफ्रीकी दासों की सामाजिक शब्दावली में ये शब्द अब भी पाये जाते हैं।

इन उपनिवेशों के स्वतन्त्र होने तक सामान्य भारतीय अनुबन्धित श्रमिकों और उनके वंशजों के मन और मस्तिष्क में भारत ही उनकी वास्तविक मातृभूमि बनी रही। स्वतन्त्रता के बाद की पीढ़ियों ने अपने जन्म देश को मातृभूमि और भारत को अपनी पैतृक मातृभूमि के रूप में पुकारना शुरू कर दिया।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ग्रामीण भारत से संसार के कई देशों में प्रवासन हुआ जो 1920 और 1930 के दशक तक चला। इस प्रवासन के व्यापक अध्ययन का पहला प्रयास ह्यूबग टिंकर द्वारा किया गया।

भारत/इण्डिया/हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक विदेशी शासन का स्थानीय निवासियों के मन–मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हें उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के आधात से निपटने के लिये कई प्रकार के मनोवैज्ञानिक उपाय विकसित करने के लिये मजबूर होना पड़ा।

'स्टॉकहोम सिण्ड्रोम के स्थान पर अब 'अपीजमेण्ट (Appeasement) शब्द का प्रयोग ऐसे सम्बन्धों के लिये किया गया है जो अपराधी और उसके बन्धक के बीच अपहरण, दुर्व्यवहार जैसी दर्दनाक स्थितियों में निर्मित होते हैं। 'स्टॉकहोम सिण्ड्रोम' या' अपीज़मेण्ट' शब्द की अर्थपरकता को जानकर यह समझा जा सकता है कि कई भारतवंशियों ने अपने उत्पोङकों की झूठी कहानियों को क्यों पूरी तरह से स्वीकार कर लिया है और वे अपने उत्पीड़कों के प्रति सद्भाव का प्रदर्शन करते हैं। यही कारण है कि कई प्रवासी भारतीय अपनी स्वदेशी परम्पराओं का अपमान भी करते हैं। इसी प्रकार कुछ प्रवासी अपने उत्पीड़कों को इसलिये धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने भारतवंशियों के हित की चिंता की, उन्हें शिक्षित किया और उन्हें भारत की गरीबी और जड़ परम्पराओं से मुक्ति दिलाते हुये आधुनिकता की दिशा में अग्रसर किया।

प्रवासी भारतीयों की सबसे बड़ी संख्या संयुक्त अरब अमीरात (UAE), संयुक्त राज्य अमेरिका (USA), सऊदी अरब, कनाडा, यूनाइटेड किंगडम, त्रिनिदाद, गुयाना, सूरीनाम, मॉरीशस, फिजी और दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में पायी जाती है, जिनमें पुराने और नये दोनों धाराओं के प्रवासी हैं। इन प्रवासी भारतीयों ने अपने प्रवास के देशों की अर्थव्यवस्था, राजनीति और संस्कृति में ऊँचा स्थान किया है। जब भारतीय मूल के ये व्यक्ति भारतीयता के आधार पर जन्म या निवास के प्रवासी देशों में अपना समुदाय बनाते हैं और भारत की सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर अपनी मातृभूमि या पैतृक मातृभूमि के साथ अपनी पहचान को जोड़ते हैं, तो इस प्रकार निर्मित समुदाय को 'प्रवासी भारतीय' कहा जा सकता है। आज 'प्रवासी भारतीय' एक ऐसा सामान्य शब्द है जो हम सभी व्यक्तियों और उनके वंशजों के लिये प्रयुक्त होता है जो आजादी के पहले या बाद में स्वेच्छा से या बलपूर्वक भारत से विस्थापित हुये। यूरोपीय औपनिवेशीकरण के कारण लगभग दस लाख भारतीयों को अनुबन्धित या बंधुआ मजदूर के रूप में दुनिया के विभिन्न भागों में जबरन पलायन करना पड़ा था।

एशिया के दक्षिण पूर्वी भागों में भारत का प्रभाव प्राचीन काल में इसाई युग से भी पहले उस समय फैला था, जब व्यापारिक सम्बन्धों के द्वारा इस पूरे क्षेत्र में भारत की धार्मिक परम्परा का प्रसार हुआ था। दक्षिण पूर्व एशिया की मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार की संस्कृतियों में इस प्रभाव को आज भी देखा जा सकता है। इस प्रभाव को इन देशों के राजघराने की भाषा, रीति–रिवाज, पवित्र स्मारक और चिह्नों में देखा जा सकता है। इस क्षेत्र में राजत्व और प्रशासन की हिन्दू अवधारणायें बहुत गहरी है जो दक्षिण पूर्व एशिया की शाही संस्कृति में निहित है और कुछ राज्यों में इस्लामीकरण के बाद भी दिखाई देती है।

1.2 अनुबन्धित भारतीय प्रवासी

उन्नीसवीं सदी की एक यूरोपीय श्रम योजना द्वारा भारतीयों का अनुबन्ध (एग्रीमेण्ट) के द्वारा प्रवासन हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य में दासता उन्मूलन के पश्चात यह योजना 1833 में शुरू हुई, जिसका मुख्यत यूरोपीय बागानों में श्रमिकों की अत्यधिक आवश्यकता को पूरा करने के लिये बनाई गई थी। बृज वी लाल के अनुसार कैरेबियन, हिन्द महासागर, अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र की औपनिवाशक सरकारों ने सस्ते श्रम आपूर्ति के

अन्य स्रोत विफल होने या अपर्याप्त साबित होने के बाद भारत की ओर रुख किया। 1834 में मॉरीशस गिरमि टिया भारतीयों को आयात करने वाला पहला उपनिवेश बना। जिसके ब्रिटिश गुयाना, 1838, 1845 में त्रिनिदाद और जमैका, 1850 के दशक में सेण्ट किट्स, सेण्ट लूसिया, सेण्ट विंसेण्ट और ग्रेनाडा जैसे छोटे भारतीय उपनिवेश, 1860 में नेटाल, 1873 में सूरीनाम और 1879 में फिजी आदि देशों में भारतीय गिरमिटिया के रूप में गये। अनुबन्ध के बयासी वर्षों के प्रवासन के दौरान, दस लाख से भी अधिक भारतीयों को इन उपनिवेशों में भेजा गया। इसी प्रकार थोड़े अलग प्रकार के अनुबन्ध के द्वारा मलाया, श्रीलंका और बर्मा आदि में भी बड़ी संख्या में गिरमिटिया मजदूरों का आयात किया गया।

अनुबन्धित प्रवास के अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुये भारतीयों ने अपने जीवन को वर्णन एक ऐसे नरक के रूप में किया है। जहाँ उनके पास कोई सम्मान या न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता था। उनका जीवन कठोर एवं क्रूर था। समुद्र पार करने से हुई अशुद्धता, सामाजिक–धार्मिक स्थिति की हानि और सामुदायिक बहिष्कार वाला उनका जीवन ही काला पानी की अवधारणा का निर्माण करता है। इसी कारण से कई अनुबन्धित भारतीयों में ऐसे भारत के बहिष्कार की भावना बलबती हुई, जो उनकी मातृ भूमि थी। यद्यपि यह धारणा बीतते समय और बढ़ते सम्पर्क के साथ क्रमशः कमजोर पड़ती जायेगी।

1.3 भारतीयों के प्रवासन की चार धाराएँ

आज के भारतीय प्रवास को समझने का एक तरीका उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की जानकारी से मिलता है, जिनके कारण इन प्रवासियों ने भारत को छोड़ा। भट्ट और भास्कर उन्नीसवीं सदी के बाद भारतीयों की चार प्रमुख धाराओं का वर्णन करते हैं –

1) उन्नीसवीं सदी के मध्य की पहली प्रवासी धारा (या पुराने प्रवासी) जिसमें अब प्रवासी भारतीयों की तीसरी से पाँचवीं पीढ़ी के वंशज शामिल हैं। ये अफ्रीका, दक्षिण पूर्व एशिया, फिजी और कैरेनियन देशों में ब्रिटिश और यूरोपीय उपनिवेशों के अनुबन्धित श्रमिकों के रूप में बागानों और रेलवे में काम करने के लिये ले जाये गये थे।

   इस प्रणाली के द्वारा लगभग 15 लाख भारतीय प्रवासित हुये। ऐसे कई प्रवासियों का भारत भूमि, भाषा और अन्य सांस्कृतिक विशिष्टताओं से सम्पर्क समाप्त हो गया। नये परिवेश के कारण उनमें काफी हद तक वर्ण और जाति की पहचान खत्म हो गई है।

   अलग–अलग पृष्ठभूमि के भारतवंशियों को समुद्र की लम्बी और कठिन यात्रा ने एक साथ ला दिया, जिससे 'जहाजी भाई या जहाज भाई' नामक एक नये सामाजिक सम्बन्ध का निर्माण हुआ। यात्रा के दौरान निर्मित ऐसे सम्बन्धों ने 'परिवार' की काल्पनिक जड़े बनाई, जो प्रवासियों के लिये एक ऐसी सामाजिक संरचना प्रदान की, जिसके अन्तर्गत नये प्रकार के परिवार और समुदाय विकसित हुये। औपनिवेशिक युग में बागान श्रमिक अन्य बागानों में काम कर रहे दूसरे भारतीयों से मिलने के लिये स्वतन्त्र होकर जा नहीं सकते थे। इस कारण उनके सामुदायिक सम्बन्ध, उनकी पहचान और मातृभूमि की उनकी स्मृति क्षीण होती गयीं।

2) दूसरी धारा के प्रवासी भारतीयों में वे कुशल और पेशेवर वर्ग के प्रवासी सम्मिलित है, जो बीसवीं सदी के मध्य से लेकर आज तक विकसित पश्चिमी देशों में रोजगार की तलाश में गये। ऐसे प्रवासी अपनी मातृभूमि के साथ निरंतर सम्पर्क में है और इस कारण वे अपनी जातीय और धार्मिक प्रथाओं को बचाये रखने में सफल हैं। ये प्रवासी यद्यपि लगभग पाँच दशकों से भारत से दूर है, लेकिन चूंकि प्रवासन की प्रक्रिया अभी जारी है, इसलिये उन्हें प्रवासी देशों में नये प्रवासी के रूप में पहचाना जाता है।

   पुराने और नये प्रवासी कई मायनों में एक दूसरे से अलग हैं। उनके गंतव्य देश, सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि, मातृभूमि के साथ उनके लगाव पूर्ण सम्बन्धों का स्तर, या उनके मूल निवास स्थान अलग है। उनके प्रवास के अनुभव भी अलग है। जहाँ नये प्रवासी भारतीयों ने भारत में अपने परिवार, गाँव–जवार, जाति, धर्म आदि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखा है, वहीं पुराने प्रवासियों में से अधिकांश ने अपनी मातृभाषा को तो भुला ही दिया है और साथ ही अपनी मातृभूमि से सम्पर्क भी खो दिया है। पुराने और नये प्रवासी भारतीयों के प्रवास के मुख्य कारण और बाहय परिस्थितियों इन दोनों धाराओं के मध्य के अन्तर की व्याख्या करने में सक्षम है–

   ''मूलतः यह गरीबी और निराशा थी, जिसने भारतीयों के अनुबन्ध की शर्तों से बन्धकर ब्रिट्रिश और अन्य यूरोपीय उपनिवेशों में काम करने को मजबूर किया। जबकि पश्चिम के औद्योगिक विकसित देशों में मुख्य रूप से शहरी मध्यम वर्ग, अंग्रेजी का ज्ञान रखने वाले और अत्यधिक कुशल कर्मियों का प्रवास हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत से प्रवासियों की इन दो धाराओं की सामाजिक स्थिति भी मिल रही है। समस्त रोजगार के नये उभर रहे क्षेत्रों में काम करने के लिये जाने वाले प्रशिक्षित पेशेवर और कुशल कार्मिक न केवल उच्च वर्गों से बल्कि उच्च जातियों से आते थे, जबकि पहली धारा के अनुबन्धित श्रमिक (गिरमिटिया) बड़े पैमाने पर निचली जातियों के वंचित वर्गों से आते थे।

   वर्तमान में जब कई देशों में उपनिवेशीकरण समाप्त हो गया है तो प्रवासियों को जीवन के नये आयाम दिखाई देने लगे हैं। जो उच्च प्रशिक्षित मध्यवर्गीय पेशेवर और अंग्रेजी जान से परिपूर्ण लोग बेहतर रोजगार की तलाश में अन्य देशों में प्रवास कर गये, वे अपनी जन्मभूमि से अपने निवास स्थल (प्रवासी देशों) तक आवागमन का खर्च वहन कर सकते थे। इसलिये यात्रायें बढ़ीं, नेटवर्किंग मजबूत हुई तथा नयी सही की संचार क्रांति में भी दुनिया भर के लोगों को तकनीक के आध्यम से जोड़ा है।

3) प्रवासी भारतीयों की तीसरी धारा को 'अस्थायी प्रवासी' के रूप में वर्णित किया गया है। चूंकि उन्हें मेजबान देश का नागरिक बनने की अनुमति प्राप्त नहीं है, इसलिये वे भारत के साथ एक घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखते हैं। ऐसे प्रवासियों की संख्या प्रवासी भारतीयों में काफी ज्यादा है। ये प्रवासी भारतीय मुख्य रूप सेवेडार्थ–कुशल और अकुशल श्रमिक है, जो 1960 और 1970 के दशक में आयी पेट्रोलियम पदार्थों की बढ़ी हुई मांग (जिसे तेल उछाल या Oil Boom कहा जाता है) के बाद पश्चिमी एशिया और खाड़ी देशों में काम करने के लिये चले गये। ये श्रमिक भारत में रह रहे अपने परिवार को आर्थिक रूप से सहायता प्रदान करते हैं। इनमें से ज्यादातर श्रामक केरल और आंध्र प्रदेश के रहने वाले हैं।

4) प्रवासी भारतीयों की चौथी धारा सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology I.T.) की लहर के कारण आई। इस लहर के कारण भारत के आई. टी. विशेषज्ञों की संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों में माँग बढ़ी। उनकी तकनीकी कुशलता ने उन्हें अच्छा पारिश्रमिक दिलाया और वे विदेशों में प्रवास कर गये। ऐसे प्रवासियों की बड़ी संख्या आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु से आती है। ये प्रवासी केवल रोजगार के बेहतर अवसर के लिये विभिन्न देशों में अल्पकाल के लिये जाते है और लगातार अपनी मातृभूमि की यात्रा करते रहते है। इन प्रवासियों की आवागमन की आधक मात्रा और अन्तरराष्ट्रीय पहचान इन्हें विशिष्ट बनाती है।

1.4 प्रवासी भारतीयों को समझने की तीन पद्धतियाँ

वर्टोवेक ने प्रवासी भारतीयों को निम्न तीन आधारों पर समझने का यत्न किया है – सामाजिक स्वरूप, चेतना का रूप और सांस्कृतिक समानता की एक इकाई के रूप के द्वारा।

1.4.1 सामाजिक स्वरूप के रूप में प्रवासी

यहूदी प्रवाली की अवधारणा में अपनी मातृभूमि से उनके दर्दनाक व ऐतिहासिक निर्वासन का दंश समाहित है। इसी प्रकार कई देशों में प्रवास के नकारात्मक अर्थों ने आदर्श 'प्रवासी' को 'मजबूर' जैसे नकारात्मक शब्दों से जोड़ दिया। ये प्रवासी विस्थापन, उत्पीड़न, अलगाव, हानि जैसी भावनाओं से जुड़े होने के बाद भी वापसी का सपना' पाले हुए हैं। वर्टोवेक ने प्रवासी भारतीयों के सामाजिक रूप का एक अन्य लक्षण भी बताया है। विशेष ऐतिहासिक और भौगोलिक सम्बन्ध एक 'विशेष प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध' मे जन्म देता है। किसी एक भौगोलिक स्थान से जुड़े होने कारण मनुष्यों में एक समान पहचान की भावना और उनमें अन्य स्थानों पर सह–जातीयता के साथ एकता की भावना भी मौजूद होती है। इसी प्रकार मेजबान समाज में नये प्रवासियों को पूरी तरह स्वीकार करने में एक प्रकार की असमर्थता या अनिच्छा भी होती है जिससे बहिष्करण या श्रेष्ठता या एक प्रकार की भिन्नता या अलगाव की भावना भी पैदा होती है। इस प्रकार की सामाजिक परिस्थिति प्रवासी भारतीयों को ऐसी जीवन शैली की ओर अग्रसर करते हैं, जिनमें व्यक्ति एक साथ कई समाजों में रहता है। ऐसी स्थिति में अक्सर राजनीतिक तनाव उत्पन्न होता –है, क्योंकि प्रवासी व्यक्ति अक्सर अपनी मातृभूमि और मेजबान देश के प्रति निष्ठा में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। ऐसे व्यक्ति और समूह घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय दोनों प्रकार की राजनीति में महत्वपूर्ण दबाव समूह के पैरवीकार बन सकते हैं। सामूहिक जातीयता की भावना भी नयी वैश्विक अर्थव्यवस्था में सफलता के लिये एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में सामने आयी है। प्रवासी समूहों में संसाधनों का सहअस्तित्व की भावना के साथ प्रयोग, ग्रहण का हस्तांतरण, विस्तारित परिवार, रिश्तेदार या सहजातीय सदस्यों के बीच पूँजी निवेश और सेवाओं के आदान–प्रदान के कारण आर्थिक समृद्धि दिखाई देती है।

भाषा और राज्य के आधार पर भारत में आंतरिक प्रवास भी होता रहा है। बिहार जैसे स्थानों से रोजगार की तलाश में गरीबों का निरंतर प्रवास भारत के विभिन्न शहरों में दीर्घ काल से हो रहा है इसी प्रकार धार्मिक महत्त्व के नगरों में भी आंतरिक प्रवास हुआ है। उदाहरण के लिये पवित्र शहर बनारस में तमिलनाडु से आये अलग भाषा और संस्कृति के प्रवासियों की अल्प संख्या पाई जाती है और उन्होंने बनारस के मंदिरों और पूजा की पद्धति को प्रभावित किया है।

1.4.2 प्रवासी एक पृथक् चेतना के रूप में—

सफ्रान और क्लिफोर्ड का मानना है कि प्रवासी आज के अन्तरराष्ट्रीय समुदायों में पाई जाने वाली एक जागरुकता है। यह भेदभाव और बहिष्कार के अनुभवों के कारण नकारात्मक हो सकता है या यह किसी ऐतिहासिक विरासत (जैसे भारतीय सभ्यता के आधार पर सकारात्मक हो सकता है या किसी समकालीन वैश्विक सांस्कृतिक या राजनीतिक शक्ति (जैसे इस्लाम) पर आधारित हो सकता है।

कोहेन के अनुसार साइबरस्पेस के युग में एक प्रवासी को कृत्रिम मस्तिष्क के माध्यम से, सांस्कृतिक कलाकृतियों के माध्यम से और एक साझा कल्पना के माध्यम से कुछ हद तक शांत बनाये रखा जा सकता है या बनाया जा सकता है। परंतु जब प्रवासी सदस्य, अपनी स्थिति से अवगत होकर मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय के मुद्दों पर भागीदार होने की प्रवृत्ति रखते हैं तब प्रवासी चेतना प्रतिरोध के रूप में कार्य करती है।

आशीष नंदी आत्म चेतना को परिवर्तन के उत्प्रेरक के रूप में देखते है। वह प्रवासी भारतीयों को पुरानी भारतीय पहचानों से सम्बन्धित पहचान निर्मित करने के प्रयत्न रूप में देखते हैं। उदाहरण के लिये, प्रवासी हिन्दू धर्म आर्थिक विशिष्ट और समरूप है और प्रवासी हिन्दुओं को धर्म की पश्चिमी अवधारणा की हीन भावना की छवि से अलग कर हिन्दू धर्म को फिर से परिभाषित करने के लिये मजबूर करती है। परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म का यह नया स्वरूप अधिक वैश्वीकृत, अधिक ब्राह्मणवादी और अधिक पाश्चात्य धर्म के निकट हो जाता है। यह नवीन धर्म कुछ समूहों और भारतीय राजनीति में सबसे नास्तिक तत्वों का समर्थन करता है।

1.4.3 सांस्कृतिक परिवर्तन की एक पद्धति के रूप में

प्रवासी भारतीयों को समझने का तीसरा तरीका वैश्वीकरण के लेन्स के माध्यम से है, जिसमें 'सांस्कृतिक वस्तुओं, छवियों और अर्थों का विश्वव्यापी प्रवाह होता है, जिसके परिणामस्वरूप क्रियोलाइजेशन, आगे—पीछे स्थानांतरण, पारस्परिक प्रभाव, नई प्रतियोगिताएं, बातचीत और स्थिरता की विविध प्रक्रियायें होती हैं। इस परिवर्तन को 'अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं का उत्पादन और पुनरुत्पादन भी कहा जाता है।

स्टुअर्ट हाल प्रवासी भारतीयों और सांस्कृतिक प्रस्तुतियों को समझने के लिये एक अन्य उत्कृष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि परिवर्तन और अन्तर की प्रक्रिया के माध्यम से 'प्रवासी पहचान' हमेशा खुद को नये सिरे से उत्पन्न और पुनरूत्पादित कर रही है। उनका कहना है कि पहचान 'पहले से ही पूर्ण तथ्य' नहीं है। बल्कि एक उत्पादन है, जो कभी पूरा नही होता, जो हमेशा प्रक्रिया में रहता है जिसका गठन आंतरिक होता है न कि वाह्य।

वैश्विक मीडिया और संचार 'सांस्कृतिक घटनाओं के प्रवाह और प्रवासी पहचान के परिवर्तन के लिये प्रमुख कारक हैं। उदाहरण के लिये दक्षिण एशियाई युवाओं के धर्म और व्यवहार में सांस्कृतिक निर्माण और पुनर्निर्माण होता है। वे मुख्यतः युवाओं को अपनी व्याख्या और विश्वास को अपनाने, धार्मिक मूल्यों की प्रकृति को समझने और धार्मिक—सामुदायिक गतिविधियों में भागीदारी के तरीकों के बारे में सचेत रूप से निर्णय लेने का संकेत करते हैं।

हॉल सांस्कृतिक पहचान को देखने के दो तरीके बताते हैं। एक दृष्टिकोण सांस्कृतिक पहचान को एक ऐसी साझी संस्कृति के रूप में देखता है, जो कई अन्य के अंदर छुपा हुआ, अधिक सतही या कृत्रिम रूप से थोपे गये स्वयं के रूप में एक सामूहिक और वास्तविक स्व के रूप में देखता है और जिसे साझा इतिहास और वंश वाले लोग समान मानते हैं। हमारी सांस्कृतिक पहचान इस परिभाषा की शर्तो के अनुसार ऐसे सामान्य ऐतिहासिक अनुभवों और साझा सांस्कृतिक संकेतों को दर्शाती है, जो हमें एक 'व्यक्ति' के रूप में प्रस्तुत करती है। ऐसे स्थिर व परिवर्तनीय सन्दर्भ इतिहास के निरंतर बदलते वर्गीकरण और उलटफेरों के वास्तविक ऐतिहासिक ढाँचे को दर्शाते हैं।

सांस्कृतिक पहचान के बारे में हॉल का दूसरा दृष्टिकोण यह स्वीकार करता है कि समानता के कई बिन्दु हैं। सघन और विशेष अन्तर वाले अन्य कई महत्त्वपूर्ण बिन्दु भी हैं जो हमारे वास्ततिक स्वरूप का निर्माण करते हैं। इतिहास के हस्तक्षेप ने भी हमारे स्वरूप को निर्धारित किया है। इस दूसरे पक्ष को स्वीकार किये बिना हम 'एक अनुभव, एक पहचान' के बारे में निश्चित रूप से कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं दे सकते। दूसरे अर्थ में, सांस्कृतिक पहचान का एक मानबिन्दु 'बनने' के साथ–साथ 'होने' का भी है। यह भविष्य के साथ–साथ अतीत से भी सम्बन्धित है। यह कोई चीज नहीं है जो पहले से मौजूद स्थान, समय, इतिहास और संस्कृति से परे हैं। सांस्कृतिक पहचान यदि कहीं से बनती है तो इतिहास से लेकिन प्रत्येक ऐतिहासिक वस्तु की तरह यह भी निरंतर परिवर्तन से गुजरती है।

अतीत के किली निश्चित समय में हमेशा के लिये निश्चित हो जाने की बजाये यह पहचान इतिहास, संस्कृति और शक्ति की निरंतर हो रही क्रीड़ा पर आधारित होती है। अतीत की पुनर्स्थापना जो प्रतीक्षारत है, और जब प्राप्त होगी हमारी शाश्वत अस्मिता के अनुभव को संरक्षित करेगी। अतीत के आख्यानों के अन्तर्गत ही हम विभिन्न प्रकार से अपने अस्तित्व और भविष्य की स्थितियों को ही हम अस्मिता नाम प्रदान करते है। इस दूसरे तरीके से ही हम 'औपनिवेशिक अनुभव' की गहन पीड़ा को भली प्रकार से समझ सकते हैं।

वैश्विक प्रवासन की इस बढ़ती प्रवृत्ति में लोगों को एक देश से दूसरे देश में प्रवास करते और वहीं नये समुदाय बनाते पाया गया है। प्रवासी और उनके वंशज अपनी मातृभूमि और जिस देश में वे रहते हैं, वहाँ अनुकूलन, आत्मसात और एकीकरण को अपनाते है, जिसके आधार पर उनके पहचान के विभिन्न स्वरूप प्रदर्शित होते है। 'हाइफ़रनेटेड/सम्मोहित पहचान' इसी प्रवृत्ति का एक परिणाम है। इसी प्रकार किसी की पहचान एंग्लो–इंडियन, अमेरिकी–हिन्दू, अमेरिकी–भारतीय, अफ्रीकी–अमेरिकी इत्यादि भी हो सकती है।

घनिष्ठ सम्बन्ध और मूल्य, पॉप संस्कृति, शिक्षा, कौशल जैसी बहुत सी चीजें साझी होने के कारण यह पूरा संसार ही एक परिवार बन गया है। भारतीय संस्कृति में इस वैश्विक परिवार का वर्णन बहुत पहले से प्राप्त होता है –

"अयम् निजः परोवेति, गणनाम् लघुचेतसाम्

उदार चरितानाम् त, वसुधैव कुटुम्बकम्।"

(हितोपदेश 3.1.71, महा उपनिषद 6–72)

अर्थात "संकीर्ण मानसिकता के व्यक्ति कहते हैं कि यह मेरा है, वह उसका है। जबकि उदार चरित्र वाले व्यक्तियों के लिये पूरा विश्व ही एक परिवार है।"

गिरमिटिया भारतीयों का अनुकूलन प्रवासी जीवन की पीड़ा और व्यथा से निबटने के उनके सांस्कृतिक दृष्टिकोण द्वारा सुगम हुआ। उदाहरण के लिये उन्होंने अपनी संस्कृति के दृढ़ दार्शनिक आधार, संस्कार और कर्मकांड, कर्म और ब्रहम की अवधारणाओं के द्वारा प्रवासी जीवन में संघर्ष की प्रेरणा और आत्मबल प्राप्त किया।

उत्प्रवास के नये स्थलों पर गिरमिटिया भारतीयों के लिये धरती माता और लोक (निवास और पहचान के क्षेत्र) एक जीवित वास्तविकता थे। इस नयी परिस्थिति में उन्होंने खेती करने अपने घर बनाने के पूर्व अपनी पारम्परिक संस्कृति के अनुसार सबसे पहले उन्होंने पृथ्वी को अनुष्ठान के द्वारा पवित्र किया। उन्होंने अपने देवताओं को स्थापित करने और उनके साथ लोकोत्तर सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करने के उद्देश्य से झंडे लगाये। अपनी पैतृक परम्परा के अनुसार उर्वरता और निरंतरता के प्रतीक रूप में पीढ़ी–दर–पीढ़ी अपने नवजात शिशु की गर्भनाल को केले के पौधे के नीचे गाड़ा। इस प्रकार उन्होंने नये स्थलों पर अपने पैतृक सम्बन्धों को मजबूत बनाये रखा और पितृ पक्ष के समय अपने पूर्वजों के प्रति अपने कर्तव्य को वार्षिक तर्पण के अनुष्ठान द्वारा पूरा करते रहे।

वेस्टठण्डीज के त्रिनिदाद में जन्मे भारतीय मूल के दूसरी पीढ़ी के सदस्य रखीन्द्रनाथ महाराज (रवि जी) द्वारा लिखी निम्नलिखित कविता पैतृक भूमि के प्राचीन सम्यागत मूल्यों के आधार पर प्रवासियों के अनुकूलन के लिये प्रयुक्त रचनात्मक रणनीति को दर्शाती है। कवि पलायन पर शोक मनाने की जगह उसका जश्न मनाता है। इसी तरह की प्रथा अफ्रीका, थाईलैण्ड, दक्षिण पूर्व एशिया, मैक्सिकों और अन्य समुदायों में भी पाई जाती है। एक नये प्रवासी के लिये पैतृक सभ्यता अपने स्थान और समय के लिये प्रासंगिक हिन्दू धर्म को जन्म देने के लिये बीज रूप में कार्य करती है –

कविता From Kala Pani do Gangadhara - 2004

"The SS Ganga carried Jahajees

On shiva Jatta

अर्थात "एस एस गंगा ने जहाजियों को ढ़ोया
जहाजियों ने जहाजी बंडल ढ़ोये
इन जहाजी बंडलों में लोटा छुपे थे
इन लोटों की पंदियों में
गंगा की तैरती बूँदें थी
गंगा की ये बूंदे बीज थी
इन बीजों में एक सभ्यता सोई थी
गंगा किनारे जन्मी हुई
गंगा अवतरित हुई
स्वर्ग लोक से,
शिव की जटा में
पाताल लोक में

आस्थयों का उद्दार करने के लिये
जैसे सगर के पुत्रों का किया
सूर्योदय के समय भागीरथी
लोटा को चरवाय के लिये उठाये
गंगा पाताल में गयी
लोटे कभी नहीं सूखे
और प्रतिदिन बहते रहे
जिस प्रकार गंगा धारा
श्वेत हिमालय में
त्रिदेवों की तीन चोटियों ने
अपने आसन बिछाये
शिव के त्रिशूल पर
और जय किया
पवित्र त्रिनिनाद का
'ऊँ नमः शिवाय'
लोटे अभी भी चमक रहे है
भागीरथी के हाथों द्वारा नीचे प्रदत्त
पीढी–दर–पीढ़ी
प्रतिदिन स्वर्ग की ओर ऊपर उठने
गंगा धारा से अभिषेक करने को
शिव की जटाओं का"

कुछ आलोचकों ने इस कविता की व्याख्या आत्मतोष प्राप्ति के एक कारक के रूप में की है। जबकि अन्य विश्लेषक इसे एक प्रकार से व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार जब अनुबन्धित प्रवासी भारतीयो को नये सामाजिक वातावरण में भेदभाव के संस्थागत स्वरूप का सामना करना पड़ता है तब ने अपनी अस्मिता का निर्माण करने के दृढ़ संकल्प के साथ अपने पैतृक राष्ट्रीय संस्कृति से जुड़ जाते हैं।

इन अनुबन्धित प्रवासियों में कई भारतीयों को दूसरे प्रवासन में उत्तरी अमेरिका और औपनिवेशिक मातृ देशों (इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड) की ओर पलायन करते देखा गया। प्रवासन की तीसरी प्रवृत्ति में कुछ लोग पारिवारिक सम्बन्धों, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से कई देशों में आते–जाते रहते हैं।

उदाहरण के लिये, भारतीय – गुयानावासियों ने जातीय संघर्षो, हिंसा और स्वतन्त्रता संघर्ष के कारण गुयाना से यूनाईटेड किंगडम की ओर दूसरा प्रवास प्रारंभ किया। यह स्वतन्त्रता से जुड़ी जातीय और राजनीतिक विचारधारा के कारण हुआ। आजादी के बाद बर्नहैम तानाशाही और भारतीयों के खिलाफ नस्लवादी बरताव के कारण यह प्रवासन लहर शुरू हुई। भारतीय प्रवासी, निराशा से भरकर गुयाना, सूरीनाम, त्रिनिदाद और अन्य कैरेबियाई देशों में चले गये। कईयों ने न्यूयार्क की ओर भी पलायन किया। अब गुयाना गणराज्य की सरकार अपने प्रवासियों को जोड़ने के प्रयत्नों और गुयाना की तेल सम्पदा के बाद भी भारतीयों को गुयाना लौटने के लिये आकर्षित नहीं कर पा रही है। यद्यपि कि गुयाना के कुछ प्रवासी व्यवसायी नये आर्थिक अवसरों का लाभ प्राप्त करने के लिये गुयाना वापस लौट आये हैं।

1.5 कश्मीर प्रवासी

भारत में कश्मीर प्रवासियों की व्यथा ऐसे लोगों की व्यथा है, जिन्हें हिंसक तरीके से अपनी भूमि से दूर और अलग–थलग कर पीड़ित किया गया और जिन्हें काफी नुकसान उठाना पड़ा। वे आज भी अपनी जन्मभूमि पर वापस लौटने का सपना संजोये हुये है। ये प्रवासी कई मायनों में यहूदी प्रवासियों से मिलते–जुलते हैं। कश्मीर प्रवासियों की पीड़ा का अध्ययन करने वाले रजत मित्रा बताते है कि विस्थापन की इस पीड़ा ने किस प्रकार उनकी कई पीढ़ियों के जीवन को प्रभावित किया है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलने वाली इस पीड़ा की उन्होंने ऐसे भावनाओं एवं विचारों के संचरण के रूप में परिभाषित किया है, जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी अति गोपनीयता, पुनक्रियात्मकता, अल्प प्रदर्शन और खामोशी के द्वारा होता है। यह पीड़ा तब खामोशी के द्वारा प्रदर्शित होती है जब पीड़ित व्यक्ति इस विषय पर बात करने से मना कर देते हैं। इस प्रकार उनकी संततियाँ इस पीड़ा और घटनाओं के सम्बन्ध में अपना काल्पनिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिये मुक्त होती है। मित्रा का तर्क है कि विस्थापन की यह पीड़ा ऐतिहासिक घटनाक्रम है और इसलिये इस ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिये।

कश्मीरी पंडितों की मौखिक परम्परा में औरंगजेब के सपने की लगातार चर्चा मित्रा को इस तथ्य को समझने की कुंजी प्रदान करता है कि औरंगजेब के धर्म परिवर्तन की हत्यारी रणनीति का कश्मीरी पंडित प्रतिरोध क्यों नहीं कर सके। मित्रा ने शोध किया और यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि इस सपने का सन्दर्भ जातीय स्मृतियों से जुड़ा है। लगभग तीन सौ साल पहले औरंगजेब ने यह सुना कि यदि एक कश्मीरी पंडित को इस्लाम परिवर्तित कर दिया जाये तो पूरे भारत को इस्लाम में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी विश्वास के कारण औरंगजेब ने अपने गवर्नर से सभी कश्मीरी पंडितों को इस्लाम में धर्मांतरित करने के आदेश दिये। उसका सख्त आदेश था कि भले ही किसी भी तरीके का इस्तेमाल करना पड़े लेकिन धर्मांतरण अवश्य किया जाये। ऐसी परिस्थिति में कुछ प्रमुख कश्मीरी नेता पंडित कृपाराम के साथ गुरु तेगबहादुर से मिलने गये और हिन्दू धर्म के अस्तित्व को समाप्त होने से बचाने के लिये उनका समर्थन माँगा। गुरु तेग बहादुर ने औरंगजेब के साथ कई बार बातचीत की, लेकिन जब गुरु ने धर्म परिवर्तन से मना कर दिया तो औरंगजेब ने गुरु तेग बहादुर और उनके अनुयायियों की हत्या का आदेश दिया।

मित्रा ने कश्मीरी पंडितों का विश्वास जीत लिया, जिससे वे अब तक छुपायी हुई बातों को खुलकर बताने लगे। तब उन्होंने जाना कि विस्थापन की यह पीड़ा केवल मनोवैज्ञानिक लक्षणों का प्रकटीकरण नहीं है, बल्कि इस पीड़ा को उस समय के ऐतिहासिक सन्दर्भ' में समझा जाना चाहिए। संभवतः यही बात उन सिख परिवारों के लिये भी कही जा सकती है, जो खुद को केवल 'विभाजित परिवार के रूप में वर्णित करते हैं। मित्रा ने बताया –

"आज मनोवैज्ञानिको ने यह शोध किया है और निष्कर्ष निकाला है कि इस पीड़ा को समझने के लिये, पाँच पीढ़ियों पूर्व हुये इसकी व्युत्पत्ति और क्रमश विकास को जानना होगा। इस प्रकार आपके परिवार में, आपके विस्तृत परिवार में पाँच पीढ़ियों पूर्व क्या हुआ, इसे समझा जा सकता है। तभी हम पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलने वाली पीड़ा के बारे में बात कर पायेंगे।"

यह पीड़ा तुरंत मुखरित नहीं हो पाती, क्योंकि यह पीड़ा दुनिया को समझने के हमारे तौर–तरीकों को नष्ट कर देती है। हमारी याददाश्ता और पुनस्मृति को विकृत कर देती है, और इसकी पुनर्प्राप्ति के लिये हमें समय और असाधारण सहायता की आवश्यकता होती है।

आधात एक ऐसी जबरदस्त घटना है, जो बलात्कार, दुर्घटना, आपदा, दंगों आदि के बारे में हमारी मानसिकता में मौजूद सुरक्षा की भावना को नष्ट कर देता है। ये सभी दर्दनाक घटनायें है। आघात कोई नियमित घटने वाली घटना नहीं है। यह एक ऐसी घटना है जो हमारे साथ अचानक घटित होती है और जिसे हमारा मस्तिष्क बर्दाश्त नहीं कर पाता और कभी–कभी जीवन भर के लिये प्रभावित हो जाता है।

अध्ययन का यह क्षेत्र उन सभी लोगों के लिये महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने निर्वासन, आक्रमण, युद्ध, बलात्कार, अस्तित्व के संकट जैसी उन परिस्थितियों का अनुभव किया, जिसके कारण उन्हें अपने देश के अंदर या बाहर प्रवास के लिये बाध्य होना पड़ा हो।

1.6 हिन्दू बंधुआ प्रवासी

शायद ही किसी ने बंधुआ प्रवासियों के बारे में सुना हो, जो 1550 से 1900 के बीच मध्य एशिया के प्रवासी भारतीय व्यापारियों का हिस्सा रहे। भारतीय व्यावसायिक परिवारों और उनके प्रतिनिधियों ने आधुनिक तूरान के आरंभिक काल में ग्रामीण और शहरी भागों में कृषि और ग्रामीण औद्योगिक उत्पादन के विकास के लिये भारतीय अर्थव्यवस्था का इंजन के रूप में उपयोग किया।

इस प्रकार आधुनिक भारत और तूरान (इस सन्दर्भ में भारत और ईरान) के मध्य के आर्थिक सम्बन्धों में ये भारतीय व्यावसायिक परिवार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे। अन्य लोग जैस देहाती खानानदोश तथा भारतीय और बुखारां के कारवां व्यापारी भी अन्तरक्षेत्रीय, व्यापार में लगे हुये थे, जो अफगान सीमा से भारत तक हजारों घोड़ों और अन्य वस्तुओं के वार्षिक परिवहन में जुटे हुये थे और बड़ी मात्रा में भारतीय माल विशेष रूप से सूत्रीवस्त्र और दासों को, तूरान के बाजारों तक ले जाते थे। भारतीय वस्त्र, दास और घोड़े, भारत और तूरान के मध्य के व्यापार के प्रमुख अंग थे। भारत और तूरान के बीच दासों का व्यापार अत्यंत महत्त्वपूर्ण था और तूरान के दास बाजारों में हिन्दुओं की काफी मात्रा में खरीद–बिक्री होती थी, जो आरंभिक आधुनिक भारत में इस्लामी विस्तार के परिणाम था।

1.6.1 रामायण और भारतीय प्रवासी

राम चरित मानस में वर्णित और विजय के पश्चात् भगवान राम की वापसी की कहानी, उन प्रवासी भारतीयों को मनोवैज्ञानिक रूप से बहुत प्रेरित करती थी, जो आरंभ में अपनी मातृभूमि वापस लौटने के लिये आशान्वित थे। रामायण पाठ ने उनकी नैतिकता और नैतिक मूल्यों के स्रोत के रूप में, विवाह, पारिवारिक सम्बन्धों, पारिवारिक बन्धन, एकता में ताकत, राजनीतिक नेतृत्व, सामुदायिक और राष्ट्रीय जीवन आदि की स्थापना के लिये एक मॉडल के रूप में कार्य किया। इस प्रकार प्रवासी समुदाय ने अपने सामाजिक–धार्मिक मूल्यों का निर्माण आरंभ किया। उन्होंने ऐसी राजनीतिक संरचनाओं का भी निर्माण किया जो उस जीवन को फिर से प्राप्त करने के लिये उद्देश्य से बनीं, जिसे वे अपनी मातृभूमि पर जिया करते थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी स्मृतियों को रचनात्मकता, अस्तित्व–रक्षा अनुकूलन और आत्मतोष के द्वारा तात्कालिक नयी परिस्थितियों के साथ जोड़ते हुये प्रवासी भूमि के साथ एकीकृत किया।

भगवान राम की यात्रा और उनके द्वारा किया गया संघर्ष प्रवासी भारतीयों की अनुबन्धित यात्रा के समान था। इसलिये इन भारतवंशियों ने अपने व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन में रामचरितमानस के समावेश के द्वारा मानसिक दृढ़ता प्राप्त की।

1.6.2 त्रिनिदाद और भारत के मध्य सम्बन्ध और वी.एस. नायपॉल

सर विद्याधर सूरज प्रसाद नॉयपाल का जन्म 1932 में त्रिनिदाद के यगुआनास शहर (जो गन्ने का एक बागान था) के एक रूढ़िवादी, उच्च–मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। लगभग आठ साल की उम्र में अपने परिवार के साथ वे पोर्ट ऑफ स्पेन शहर चले गये और वहाँ के उच्च माध्यमिक विद्यालय में उन्होंने हाई स्कूल की संस्थागत शिक्षा ग्रहण की। वे एक मेधावी छात्र थे। उच्च शिक्षा के लिये वे लंदन महासागर के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय चले गये और वहाँ उन्होंने अपना पूरा जीवन बिताया। वे त्रिनिदाद में रहने के लिये वापस कभी नहीं लौटे। वे एक मेधावी और ऊर्जावान लेखक थे।

नायपॉल ने औपनिवेशिक त्रिनिदाद के उन गरीब भारतीयों के जीवन का वर्णन किया जो उच्च शिक्षा और नौकरी के लिये ग्रामीण बागानों की अपनी दुनिया से पहले शहर की ओर और उसके बाद लंदन जैसे महानगरों में रहने के लिये चले गये। ये प्रवासी ऐसे नये स्थानों पर अपने नये जीवन की शुरुआत कर रहे थे। गिरमिटिया भारतीयों में उपनिवेशित देशों के महानगरों से प्रवास के ऐसे ही कदम उठाये। यह पहली प्रवासी धारा से दूसरे प्रवास की ओर अग्रसर लहर थी। यह दूसरा प्रवास भी बदलते वक्त के साथ नष्ट हो जायेगा और अन्य देशों की ओर हो रही तीसरी प्रवासी धारा में विलीन हो जायेगा। इस प्रकार कैरेबियन द्वीप समूहों से वे भारतीय जिनके पूर्वज पहले भारत से आये थे, वे बाद में लंदन और उसके बाद न्यूयॉर्क और फ्लोरिडा चले गये और वहाँ अपने साथी, हमवतन और परिवार के सदस्यों के साथ जुड़कर नये मजबूत प्रवासी समुदायों की स्थापना की। इस तरह ये प्रवासी वास्तव में तीसरे प्रवासी धारा के अंग होंगे। नायपॉल के नाना कैपिल्डियो त्रिनिदाद के एक चीनी उद्योग मालिक के साथ अनुबन्ध के द्वारा गिरमिटिया के रूप में बँधे हुये थे। उनके मुखिया/सरदार ने उनकी रिहाई के लिये भुगतान किया और उन्हें स्वतन्त्र कराया। जिसके एवज में कैपिल्लियो (एक ब्राह्मण) ने गोबिन की बेटी सूगी (एक प्रेस्बीटिरियन ईसाई) से शादी की और यगुआनास के मुख्य में शहर में जमीन प्राप्त की जहाँ उन्होंने बाद में सूखे सामान और शराब बेचने वाली एक छोटी सी दुकान शुरू की। शराब की मांग काफी ज्यादा थी क्योंकि गन्ना श्रमिकों के शरीर और आत्मा को आराम देने के लिये, इसकी जरूरत थी, जिसे बेचने वाली यगुआनास शहर की भारतीय समुदाय की यह पहली दुकान थी। सूगी ने कैपिल्डियो परिवार, जिसमें उसकी शादी हुई थी, के हिन्दू रीति–रिवाजों को पूरी तरह से अस्वीकृत कर दिया। इसके बाद भी वह एक अच्छी पत्नी सिद्ध हुई। कैपिल्डियो के विवाहेत्तर सम्बन्धों के कारण सुगीबार में देवी काली की पूजा करने लगी। अलौकिक शक्तियों के माध्यम से वह अपने पति को नियन्त्रित करना चाहती थी। कैपिल्डियो बाद में एक सफल पंडित जमींदार, गन्ना किसान और दूकान मालिक बन गये। उन्होंने भारत की कई यात्रायें की। भारतीय समुदाय को एक पुरोहित की आवश्यकता थी, और अतः कैपिल्डियों ने अपने परंपरागत ब्राह्मण कर्म को अपनाते हुये इस आवश्यता की पूर्ति की। पवित्र मातृभूमि भारत की उनकी यात्राओं ने एक धार्मिक विशेषज्ञ के रूप में उनका महत्त्व काफी बढ़ा दिया। इस प्रकार अनुबन्धित प्रवासी भारतीयों में पुरोहित की भूमिका और कार्य का विस्तार हुआ। इस भूमिका में पुरोहित ज्योतिषी, लौकिक और पारलौकिक जीवन का परामर्शदाता, मनोचिकित्सक,

व्याधियों से मुक्ति दिलाने वाला, व्यास (धार्मिक पुस्तकों का वाचन और उसकी व्याख्या करने वाला) विवाह तय कराने वाला मध्यस्थ, प्राचीन पवित्र जात का रोगमुक्ति और भौतिक कष्ट दूर करने के लिये प्रयोग करने वाला इत्यादि समाविष्ट थे।

1.7 सारांश

भारतीय प्रवासी दुनिया के सबसे बड़े, प्रवासी समुदाय उन्होंने विभिन्न वातावरणों में रहते हुये भी शांतिप्रिय, मेहनती, आर्थिक और शैक्षिक रूप से सफल समूह के रूप में उभरने के लिये अपने वातावरण का सदुपयोग किया है, और इस प्रकार वे अपने देश के लिये महत्त्वपूर्ण मानव संसाधन के रूप में समादृत है।

ये प्रवासी भारतीय भारत की विविधता का प्रतिनिधित्व करते है। उदाहरण के लिये वे भाषा, सांस्कृतिक मानदण्ड, आर्थिक शैक्षणिक एवं राजनीतिक रूपरेखा द्वारा प्रवासी समुदायों के मध्य एकता के एक मॉडल के रूप में विकसित हुये है। प्राचीन और समकालीन भारत की मूर्त और अमूर्त संस्कृति प्रवासी भारतीयों में समय के परिवर्तन के साथ और पुष्ट हुई है। प्रवासी भारतीय अपनी मातृभूमि यानि भारत के साथ अपने मजबूत सांस्कृतिक, आर्थिक और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध जोड़कर रखे हुये है। यूरोपीय उपनिवेश काल के अनुबन्धित भारतीय जैसे पुराने प्रवासी और उनके तीन–चार पीढ़ियों बार के वंशज भी अपने जन्म के देश को मातृभूमि और भारत को अपनी पैतृक मातृभूमि के रूप में स्वीकार करते हैं।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

हिन्दू बंधुआ प्रवासी –

वी. एस. नॉयपाल –

1.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामाग्री

1. Gautam , Dr. M K. "Indian Diaspora: Ethnicity and Diasporic Identity." European University Institute, 2013. https://hdl.handle.net/1814/29491 Retrieved from Cadmus, EUI Research Repository.
2. Ages, Arnold. "The Diaspora Dimension." SpringerLink. Accessed November 2, 2023. https://link.springer.com/book/10.1007/978-94-010-2456-3.
3. Cultural identity and diaspora - the University of Warwick. Accessed November 12, 2023. https://warwick.ac.uk/fac/arts/english/currentstudents/postgraduate/masters/modules/asiandiaspora/hallculturalidentityanddiaspora.pdf.
4. Kumar, Ashutosh. "Feeding the Girmitiya: Food and Drink on Indentured Ships to the Sugar Colonies." University of California Press, February 1, 2016. https://online.ucpress.edu/gastronomica/article/16/1/41/44921/Feeding-the-Girmitiya-Food-and-Drink-on-Indentured.
5. Oonk, Gijsbert, ed. *Global Indian diasporas: Exploring trajectories of migration and theory*. Amsterdam: Amsterdam Univ. Press, 2007.

6. Rampersad, Pandita Dr Indrani. “Ram Lila 1 and the Remaking of a New Caribbean Civilization: Nobel Prize Winner Derek Walcott.” Academia.edu, February 1, 2017. https://www.academia.edu/31103130/Ram_Lila_1_and_the_Remaking_of_a_New_Caribbean_Civilization_Nobel_Prize_Winner_Derek_Walcott.

7. Vertovec, Steven. *The Hindu Diaspora: Comparative Patterns*. London: Routledge, 2000.

1.10 बोध प्रश्न

1. प्रवासी भारतीय प्रवसन की विभिन्न धाराओं की विवेचना कीजिए?
2. प्रवासी भारतीय किसे कहते हैं?
3. प्रवासी भारतीयों के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिए?
4. हिन्दू बंधुआ प्रवासी अपने साथ किन–किन सांस्कृतिक तत्त्वों को ले गए?
5. त्रिनिदाद और भारत के मध्य सम्बन्ध के विषय में वी. एस. नॉयपाल के विचारों का विवेचन किजिए?

इकाई 2 वैश्विक हिन्दू प्रवासी: खाद्य संस्कृति एवं प्रवासी पहचान

इकाई की रूप रेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारतीय प्रवासियों के भीतर धर्म और जाति की पहचान के महत्त्व का अन्वेषण करने में सक्षम हो सकेंगे।
- भारतीय प्रवासी समुदायों की पहचान को आकार देने में हिन्दू धर्म की भूमिका का परीक्षण कर सकेंगे।
- विदेशी भूमि में अपनी धार्मिक और जातीय पहचान बनाए रखने में प्रवासी भारतीयों के सामने आने वाली जटिलताओं और चुनौतियों को समझ सकेंगे।
- भारतीय प्रवासियों के भीतर सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिशीलता पर धर्म और जाति के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।
- भारतीय प्रवासी समुदायों की विविधता और समृद्ध विरासत के प्रति सराहना को बढ़ावा देने में सक्षम हो सकेंगे।

2.1 परिचय

प्रिय विद्यार्थियों "भारतीय प्रवासी: धर्म और जातीय तादात्म्य" पर स्व- शिक्षण सामग्री में आपका स्वागत है। इस इकाई में, हम भारतीय प्रवासियों की आकर्षक दुनिया में उतरेंगे और इन समुदायों की पहचान को आकार देने में धर्म और जाति की महत्त्वपूर्ण भूमिका का पता लगाएँगे।

भारतीय प्रवासी से तात्पर्य भारतीय मूल के लोगों से है जो अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और परम्पराओं को लेकर दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बस गए हैं। अफ्रीका से लेकर अमेरिका तक, यूरोप से लेकर दक्षिण पूर्व एशिया तक, भारतीय प्रवासियों ने विविध समाजों में अपनी छाप छोड़ी है और संस्कृतियों की वैश्विक छवि में योगदान दिया है।

भारतीय समाज में धर्म और जाति का बहुत महत्त्व है। धर्म आध्यात्मिक मान्यताओं, अनुष्ठानों और नैतिक मूल्यों के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है, जबकि जाति जन्म और व्यवसाय के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण प्रणाली का प्रतिनिधित्व करती है। ये पहलू भारतीय संस्कृति के ताने-बाने में गहराई से अन्तर्निहित हैं और इन्होंने सदियों से व्यक्तियों और समुदायों की पहचान को आकार दिया है।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्ने

चूंकि भारतीय प्रवासी दुनिया भर में फैल गए हैं, इसलिए यह सवाल महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि धर्म और जाति उनकी पहचान को कैसे प्रभावित करते हैं। क्या प्रवासी समुदाय विदेशी भूमि में अपनी धार्मिक और जातीय पहचान बनाए रखते हैं? ये पहचानें बहुसांस्कृतिक परिवेश में कैसे विकसित और अनुकूलित होती हैं? अपनी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने में उन्हें किन चुनौतियों और जटिलताओं का सामना करना पड़ता है? ये कुछ प्रमुख प्रश्न हैं जिनका हम इस इकाई में अध्ययन करेंगे।

धर्म, जाति और भारतीय प्रवासियों के बीच अन्तरसम्बन्ध को समझकर, हम इन समुदायों द्वारा सामना किए गए विविध अनुभवों और संघर्षों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। हम उनके लचीलेपन, सांस्कृतिक समृद्धि और उनके मेजबान देशों में योगदान के लिए गहरी सराहना भी विकसित करते हैं।

इस पूरी इकाई में, हम हिन्दू धर्म पर विशेष ध्यान देने के साथ, भारतीय प्रवासियों के भीतर धार्मिक विविधता की जांच करेंगे। भारत में प्रमुख धर्मों में से एक के रूप में हिन्दू धर्म ने प्रवासी समुदायों पर एक अमिट छाप छोड़ी है, जिससे उनकी मान्यताओं, रीति- रिवाजों, त्योहारों और सामाजिक संरचनाओं पर प्रभाव पड़ा है। हम उन तरीकों का पता लगाएँगे जिनसे हिन्दू प्रवासी समुदायों ने अपनी धार्मिक परम्पराओं को संरक्षित और अभ्यास किया है, साथ ही ऐसा करने में उन्हें किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, हम विदेशी भूमि पर अपनी धार्मिक और जातीय पहचान बनाए रखने में भारतीय प्रवासियों के सामने आने वाली जटिलताओं पर चर्चा करेंगे। आत्मसातीकरण, संस्कृतिकरण, भेदभाव और रूढ़िवादिता कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनसे प्रवासी समुदाय जूझते हैं, जिससे उनकी अपनेपन की भावना और सांस्कृतिक संरक्षण पर असर पड़ता है। हम भारतीय प्रवासियों के भीतर धर्म और जाति द्वारा आकारित सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक

गतिशीलता का विश्लेषण करेंगे और उनके निहितार्थ को समझेंगे।

इस स्व- शिक्षण सामग्री के अन्त तक, आपको भारतीय प्रवासियों के भीतर धर्म और जाति की पहचान के महत्त्व की व्यापक समझ प्राप्त हो जाएगी। आपने नए वातावरण को अपनाते हुए अपनी सांस्कृतिक विरासत को बनाए रखने में प्रवासी समुदायों द्वारा सामना की जाने वाली चुनौतियों के प्रति भी सराहना विकसित की होगी।

तो, आइए हम भारतीय प्रवासियों, धर्म और जाति की पहचान के बीच जटिल सम्बन्धों का पता लगाने के लिए इस समृद्ध यात्रा पर निकलें। अपने ज्ञान का विस्तार करने, अपने दृष्टिकोण को चुनौती देने और विचारोत्तेजक चर्चाओं में शामिल होने के लिए तैयार हो जाइए।

2.2 भारतीय प्रवासी और धर्म

भारतीय प्रवासी दुनिया भर में फैला हुआ एक जीवंत और विविध समुदाय है। इसमें भारतीय मूल के व्यक्ति शामिल हैं जो भारत से चले गए हैं और अपनी सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं को लेकर विभिन्न देशों में बस गए हैं। धर्म भारतीय प्रवासियों के भीतर एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, जो पहचान, सामुदायिक एकजुटता और आध्यात्मिक मार्गदर्शन के स्रोत के रूप में कार्य करता है। इस खण्ड में, हम भारतीय प्रवासी के भीतर धार्मिक विविधता का पता लगाएँगे और प्रवासी समुदायों के बीच धार्मिक प्रथाओं के प्रतिधारण या अनुकूलन के पीछे के कारणों की जांच करेंगे।

भारतीय प्रवासियों के भीतर धार्मिक विविधता:

भारतीय प्रवासी की विशेषता हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, सिख धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म और अन्य सहित धार्मिक परम्पराओं की समृद्ध परम्परा है। प्रत्येक धार्मिक परम्परा की अपनी अनूठी मान्यताएँ, अनुष्ठान, प्रथाएँ और दर्शन हैं जिन्हें प्रवासी समुदायों द्वारा अपने नए घरों में ले जाया गया है। भारतीय प्रवासियों के भीतर धर्मों की विविधता भारत के बहुसांस्कृतिक और बहु- धार्मिक ताने-बाने को दर्शाती है।

धार्मिक प्रथाओं का प्रतिधारण और अनुकूलन:

प्रवासी समुदायों को अक्सर नए सांस्कृतिक वातावरण को अपनाते हुए अपनी धार्मिक प्रथाओं को बनाए रखने की चुनौती का सामना करना पड़ता है। इस नयी स्थिति में कई प्रवासी सदस्य अपनी सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित करने और इसे भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने के लिए अपनी धार्मिक परम्पराओं को बनाए रखने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास में वे सर्वप्रथम धार्मिक संस्थान, जैसे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और चर्च, प्रवासी समुदायों के भीतर पूजा, सामुदायिक समारोहों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए स्थान प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साथ ही, प्रवासी समुदाय स्थानीय सन्दर्भ के अनुरूप और विविध सांस्कृतिक प्रभावों को समायोजित करने के लिए धार्मिक प्रथाओं के अनुकूलन में भी संलग्न हैं।

अन्तरराष्ट्रीय धार्मिक नेटवर्क:

भारतीय प्रवासी अन्तरराष्ट्रीय धार्मिक नेटवर्क के माध्यम से भारत में धार्मिक संस्थानों और समुदायों के साथ मजबूत सम्बन्ध बनाए रखते हैं।

ये नेटवर्क प्रवासी भारतीयों और उनकी पैतृक मातृभूमि के बीच भौतिक दूरी को पाटते हुए विचारों, धार्मिक शिक्षाओं और सांस्कृतिक प्रथाओं के आदान-प्रदान की सुविधा प्रदान करते हैं।

वे अक्सर धार्मिक कार्यक्रमों, तीर्थयात्राओं और त्योहारों का आयोजन करते हैं जो प्रवासी सदस्यों के लिए उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक जड़ों से फिर से जुड़ने के लिए मंच के रूप में काम करते हैं।

प्रवासी पहचान में धर्म का महत्त्व:

धर्म प्रवासी समुदायों की पहचान को आकार देने, उन्हें अपनेपन, मूल्यों और साझा अनुभवों की भावना प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

धार्मिक त्यौहार और उत्सव प्रवासी सदस्यों को एक साथ आने, अपनी संस्कृति का जश्न मनाने और अपने सामुदायिक सम्बन्धों को मजबूत करने के अवसर के रूप में कार्य करते हैं।

धार्मिक प्रथाएँ नए सांस्कृतिक सन्दर्भ में रहने की चुनौतियों से निपटने वाले प्रवासी व्यक्तियों के लिए आराम, आध्यात्मिकता और मार्गदर्शन का स्रोत प्रदान करती हैं।

भारतीय प्रवासियों के भीतर धार्मिक विविधता इन समुदायों की अनुकूलनशीलता, लचीलापन और सांस्कृतिक समृद्धि को दर्शाती है। यह दर्शाता है कि कैसे धर्म प्रवासी सदस्यों को उनकी विरासत, समुदाय और पैतृक जड़ों से जोड़ने वाले एक महत्त्वपूर्ण धागे के रूप में कार्य करता है। निम्नलिखित अनुभागों में, हम भारतीय प्रवासी समुदायों की पहचान को आकार देने में हिन्दू धर्म की भूमिका पर गहराई से विचार करेंगे और विदेशी भूमि में अपनी धार्मिक और जातिगत पहचान बनाए रखने में उनके सामने आने वाली जटिलताओं और चुनौतियों का पता लगाएँगे।

2.2.1 हिन्दू धर्म और भारतीय प्रवासी

भारत में प्रमुख धर्मों में से एक के रूप में हिन्दू धर्म का दुनिया भर में भारतीय प्रवासी समुदायों पर गहरा प्रभाव रहा है। इस खण्ड में, हम हिन्दू धर्म की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जड़ों, दुनिया के विभिन्न हिस्सों में इसके प्रसार और प्रवासी समुदायों की पहचान और प्रथाओं पर इसके प्रभाव का पता लगाएँगे।

हिन्दू धर्म की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जड़ें:

हिन्दू धर्म की उत्पत्ति प्राचीनतम है और वह विभिन्न प्रकार की मान्यताओं, रीति- रिवाजों और दर्शन को समाहित करता है।

यह भारतीय इतिहास, संस्कृति और सामाजिक मानदंडों के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है और इसने भारतीय लोगों की पहचान को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

वेद, उपनिषद और अन्य पवित्र ग्रन्थ हिन्दू धार्मिक शिक्षाओं और प्रथाओं के लिए मूलभूत ग्रन्थ के रूप में काम करते हैं।

भारतीय प्रवासियों में हिन्दू धर्म का प्रसार:

सदियों के प्रवास के माध्यम से, हिन्दू धर्म भारत की सीमाओं से परे दुनिया के विभिन्न हिस्सों में फैल गया है।

भारतीय मजदूर, व्यापारी और व्यापारी अपनी धार्मिक प्रथाओं और मान्यताओं को अपने साथ सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिदाद और टोबैगो, फिजी, मॉरीशस, दक्षिण अफ्रीका और अन्य देशों में ले गए।

हिन्दू प्रवासी समुदायों ने अपनी नई मातृभूमि में मन्दिर और सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किए हैं, जो धार्मिक पूजा, सामुदायिक समारोहों और सांस्कृतिक संरक्षण के केन्द्र बिन्दु के रूप में कार्य कर रहे हैं।

भारतीय डायस्पोरा के भीतर हिन्दू धर्म का संरक्षण और अभ्यास:

हिन्दू प्रवासी समुदायों ने विदेशी भूमि में अपनी धार्मिक परम्पराओं को संरक्षित करने और उनका अभ्यास करने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किए हैं।

मन्दिर महत्त्वपूर्ण धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थानों के रूप में कार्य करते हैं, जो पूजा, धार्मिक समारोहों, त्योहारों और सामुदायिक कार्यक्रमों के लिए स्थान प्रदान करते हैं।

दिवाली, होली, नवरात्रि और अन्य हिन्दू त्योहार प्रवासी सदस्यों द्वारा बड़े उत्साह और जोश के साथ मनाए जाते हैं, जो उनकी सांस्कृतिक विरासत से जुड़ने के अवसर के रूप में काम करते हैं।

आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाए रखने और देवताओं से मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए पूजा (पूजा), ध्यान, योग और जप जैसे अनुष्ठानों का अभ्यास किया जाता है।

हिन्दू दर्शन और मूल्यों का प्रभाव:

हिन्दू दार्शनिक अवधारणाएँ, जैसे कर्म (कारण और प्रभाव का नियम), धर्म (कर्तव्य/धार्मिकता), और मोक्ष (मुक्ति), नैतिक ढांचे को आकार देते हैं और प्रवासी समुदायों के व्यवहार का मार्गदर्शन करते हैं।

आध्यात्मिकता, आत्म- बोध और ज्ञान की खोज पर जोर प्रवासी सदस्यों के भीतर प्रतिध्वनित होता है, जो जीवन और व्यक्तिगत विकास पर उनके दृष्टिकोण को प्रभावित करता है।

चुनौतियाँ और अनुकूलन:

हिन्दू प्रवासी समुदाय अपनी धार्मिक प्रथाओं को बनाए रखने और अपनी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने में विभिन्न चुनौतियों का सामना करते हैं।

भाषा की बाधाएँ, सांस्कृतिक आत्मसातीकरण और संसाधनों तक सीमित पहुंच धार्मिक शिक्षाओं और अनुष्ठानों को युवा पीढ़ी तक प्रसारित करने में बाधाएँ पैदा कर सकती हैं।

हालाँकि, प्रवासी समुदायों ने अपनी धार्मिक प्रथाओं में स्थानीय तत्वों और रीति- रिवाजों को शामिल करके अनुकूलनशीलता का प्रदर्शन किया है, जिससे हिन्दू धर्म के अद्वितीय समन्वित रूपों का उदय हुआ है।

हिन्दू धर्म प्रवासी समुदायों के लिए प्रेरणा, शक्ति और सांस्कृतिक एकता का स्रोत रहा है। यह उन्हें विदेशी भूमि में पहचान, समुदाय और आध्यात्मिक सांत्वना की भावना प्रदान करता है। अपनी धार्मिक प्रथाओं को बनाए रखने और अपनाने से, हिन्दू प्रवासी समुदाय अपनी समृद्ध विरासत को आगे बढ़ाना जारी रखते हैं और अपने मेजबान देशों के बहुसांस्कृतिक ताने-बाने में योगदान करते हैं।

निम्नलिखित अनुभागों में, हम प्रवासी समुदायों के भीतर धर्म और जाति से प्रभावित सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिशीलता पर प्रकाश डालते हुए, विदेशी भूमि में अपनी धार्मिक और जातीय पहचान बनाए रखने में भारतीय प्रवासियों के सामने आने वाली जटिलताओं और चुनौतियों पर प्रकाश डालेंगे।

आइए जीवित अनुभवों से लिए गए उदाहरणों के साथ हिन्दू धर्म और भारतीय प्रवासियों के बीच अन्तरसम्बन्ध पर चर्चा करें:

सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में मन्दिर

इसका एक उदाहरण अमेरिका के मैरीलैंड में श्री शिव विष्णु मन्दिर है। यह मन्दिर भारतीय प्रवासियों के लिए एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में कार्य करता है, जो धार्मिक पूजा से परे गतिविधियों की एक विस्तृत श्रृंखला की पेशकश करता है। यह शास्त्रीय संगीत और नृत्य प्रदर्शन, भाषा कक्षाएँ और योग सत्र जैसे सांस्कृतिक कार्यक्रमों की मेजबानी करता है। मन्दिर की वास्तुकला पारम्परिक भारतीय शैलियों को दर्शाती है, जो प्रवासी सदस्यों के लिए परिचितता और जुड़ाव की भावना प्रदान करती है।

त्यौहार समारोह

दिवाली के दौरान, दुनिया भर में भारतीय प्रवासी समुदाय रोशनी का त्योहार मनाने के लिए एक साथ आते हैं। उदाहरण के लिए, यूके के लीसेस्टर में, दिवाली समारोह भव्य होते हैं और विभिन्न पृष्ठभूमि के लोगों को आकर्षित करते हैं। उत्सव में जीवंत सड़क जुलूस, आतिशबाजी प्रदर्शन और भारतीय संस्कृति को प्रदर्शित करने वाले प्रदर्शन शामिल हैं। ये समारोह प्रवासी सदस्यों के बीच एकता और गौरव की भावना पैदा करते हैं, साथ ही मेजबान देश में सांस्कृतिक विविधता को भी बढ़ावा देते हैं।

धार्मिक प्रथाओं का अनुकूलन

सिंगापुर में, हिन्दू प्रवासियों ने अपनी धार्मिक प्रथाओं को स्थानीय सन्दर्भ में अनुकूलित किया है। एक उल्लेखनीय उदाहरण तमिल फसल उत्सव, पोंगल को सामुदायिक केन्द्रों या खुले स्थानों पर मनाने की प्रथा है। प्रवासी सदस्य पोंगल (एक मीठा व्यंजन) पकाने के लिए एक साथ आते हैं, स्थान को कोलम (चावल के आटे के डिज़ाइन) से सजाते हैं, और सांस्कृतिक प्रदर्शन में शामिल होते हैं। यह अनुकूलन समुदाय को सिंगापुर के बहुसांस्कृतिक ताने-बाने के साथ एकीकृत होने के साथ-साथ अपनी परम्पराओं को बनाए रखने की अनुमति देता है।

अन्तरराष्ट्रीय धार्मिक नेटवर्क

चिन्मय मिशन, स्वामी चिन्मयानन्द की शिक्षाओं पर आधारित एक विश्वव्यापी आध्यात्मिक संगठन, एक अन्तरराष्ट्रीय धार्मिक नेटवर्क के उदाहरण के रूप में कार्य करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया और भारत सहित विभिन्न देशों में केन्द्रों के साथ, चिन्मय मिशन आध्यात्मिक कक्षाएँ, प्रवचन और सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रदान करता है। प्रवासी सदस्य इन गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, अपनी जड़ों से जुड़े रहते हैं और हिन्दू दर्शन और प्रथाओं के बारे में अपनी समझ को गहरा करते हैं।

इन जीवित अनुभवों के आधार पर, हम देखते हैं कि कैसे हिन्दू प्रवासी समुदायों ने सांस्कृतिक

केन्द्र स्थापित किए हैं, धार्मिक प्रथाओं को अपनाया है, त्योहार मनाए हैं और अन्तरराष्ट्रीय धार्मिक नेटवर्क के साथ जुड़े हैं। ये उदाहरण प्रवासी भारतीयों के भीतर धर्म की गतिशील प्रकृति को उजागर करते हैं, यह दर्शाते हैं कि कैसे प्रवासी सदस्य अपने नए वातावरण को अपनाते हुए अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक विरासत को बनाए रखते हैं। यह उनकी पहचान को आकार देने और भारतीय प्रवासियों के भीतर अपनेपन की भावना को बढ़ावा देने में इन अनुभवों के महत्त्व को रेखांकित करता है।

2.2.2 इस्कॉन की भूमिका

इंटरनेशनल सोसाइटी फॉर कृष्णा कॉन्शियसनेस (इस्कॉन), जिसे हरे कृष्ण आंदोलन के नाम से जाना जाता है, भारतीय प्रवासी और हिन्दू धर्म के साथ इसके सम्बन्धों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस्कॉन एक वैश्विक आध्यात्मिक संगठन है जिसकी स्थापना 1966 में परम पूज्य एसी भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद ने की थी, जिसका उद्देश्य भगवान कृष्ण की भक्ति पर केंद्रित भक्ति योग की शिक्षाओं और प्रथाओं को बढ़ावा देना है।

कृष्ण भक्ति का प्रसार:

इस्कॉन ने भारतीय प्रवासियों और अन्य देशों के बीच कृष्ण भक्ति की प्रथा को फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके भक्त सक्रिय रूप से आउटरीच गतिविधियों में संलग्न हैं, जिसमें सड़क पर जप, पवित्र ग्रन्थों (जैसे भगवद गीता) का वितरण, और आध्यात्मिक समारोहों और त्योहारों का आयोजन शामिल है।

इस्कॉन द्वारा कीर्तन (भक्ति मंत्रोच्चार) को लोकप्रिय बनाने और जन्माष्टमी (कृष्ण का जन्म) और रथ- यात्रा (रथ उत्सव) जैसे त्योहारों के आनन्दमय उत्सव ने प्रवासी सदस्यों को आकर्षित किया है और उन्हें अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जड़ों से फिर से जुड़ने में मदद की है।

सांस्कृतिक संरक्षण:

इस्कॉन ने अपने विभिन्न मन्दिरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और शैक्षिक पहलों के माध्यम से भारतीय संस्कृति, संगीत, कला और साहित्य को संरक्षित और बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस्कॉन द्वारा स्थापित मन्दिर, जैसे भारत के वृन्दावन में प्रतिष्ठित कृष्ण बलराम मन्दिर, या लंदन, यूके में राधा कृष्ण मन्दिर, प्रवासी समुदायों के लिए सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में काम करते हैं, पूजा, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए जगह प्रदान करते हैं।

वैदिक दर्शन, धर्मग्रन्थ अध्ययन और संस्कृत भाषा कक्षाओं पर इस्कॉन का ध्यान प्रवासी भारतीयों के भीतर सांस्कृतिक परम्पराओं को भावी पीढ़ियों तक संरक्षित और प्रसारित करने में मदद करता है।

सामुदायिक सहायता और कल्याण:

इस्कॉन भारतीय प्रवासियों और व्यापक समाज की जरूरतों को संबोधित करते हुए सामुदायिक सहायता और कल्याण कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से संलग्न है।

खाद्य वितरण कार्यक्रमों (जैसे "जीवन के लिए भोजन" परियोजना), शैक्षिक छात्रवृत्ति, स्वास्थ्य सेवा और आपदा राहत प्रयासों जैसी पहलों के माध्यम से, इस्कॉन सामाजिक कल्याण और प्रवासी समुदायों की भलाई के लिए अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित करता है।

शिक्षा एवम् आध्यात्मिक मार्गदर्शन:

इस्कॉन वैदिक दर्शन, योग और ध्यान पर शैक्षिक संसाधन, सेमिनार और पाठ्यक्रम प्रदान करता है। ये पेशकशें आध्यात्मिक मार्गदर्शन और हिन्दू दर्शन और प्रथाओं की गहरी समझ चाहने वाले प्रवासी सदस्यों की पूर्ति करती हैं।

इस्कॉन के गुरुकुल स्कूल, जैसे यूके में भक्तिवेदांत मनोर गुरुकुल, एक वैकल्पिक शिक्षा प्रणाली प्रदान करते हैं जो छात्रों के समग्र विकास को पोषित करते हुए आध्यात्मिक शिक्षाओं के साथ अकादमिक अध्ययन को जोड़ती है।

भारतीय प्रवासियों के भीतर इस्कॉन की उपस्थिति और गतिविधियों का धार्मिक और सांस्कृतिक परिदृश्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसने आध्यात्मिक प्रेरणा, सांस्कृतिक संरक्षण, सामुदायिक समर्थन और शैक्षिक संसाधनों के स्रोत के रूप में कार्य किया है। इस्कॉन के साथ जुड़कर, प्रवासी सदस्य हिन्दू धर्म के साथ अपना सम्बन्ध गहरा कर सकते हैं, भगवान कृष्ण के प्रति भक्ति विकसित कर सकते हैं और वैश्विक आध्यात्मिक समुदाय के भीतर अपनेपन की भावना पा सकते हैं।

2.3 भोजन और भारतीय प्रवासी

जन प्रवासी भारतीयों के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जो उनकी सांस्कृतिक विरासत को जोड़ने, परम्पराओं को संरक्षित करने के साधन और सामुदायिक कनेक्शन के स्रोत के रूप में कार्य करता है। भारतीय प्रवासियों की पाक पद्धतियाँ और भोजन प्राथमिकताएँ भारतीय व्यंजनों की विविधता और इसकी क्षेत्रीय विविधताओं को दर्शाती हैं। आइए भारतीय प्रवासियों के भीतर भोजन की भूमिका को और अधिक विस्तार से जानें:

सांस्कृतिक पहचान और विरासत:

भोजन भारतीय प्रवासियों के लिए सांस्कृतिक पहचान के एक शक्तिशाली मार्कर के रूप में कार्य करता है। यह प्रवासी सदस्यों को उनकी भारतीय जड़ों के साथ सम्बन्ध बनाए रखने और उनकी सांस्कृतिक विरासत को भावी पीढ़ियों तक पहुंचाने में मदद करता है।

पारम्परिक व्यंजन और खाना पकाने की तकनीकें पीढ़ियों से चली आ रही हैं, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि प्रामाणिक स्वाद और पाक परम्पराएँ संरक्षित हैं।

भारतीय प्रवासी समुदाय अक्सर धार्मिक त्योहारों, शादियों और अन्य सामाजिक अवसरों के लिए इकट्ठा होते हैं जहां पारम्परिक व्यंजन तैयार किए जाते हैं और साझा किए जाते हैं, जिससे सांस्कृतिक बन्धन मजबूत होते हैं।

अनुकूलन और संलयन:

भारतीय प्रवासियों ने अपने व्यंजनों को स्थानीय वातावरण के अनुरूप बनाया है और इसमें स्थानीय सामग्रियों और स्वादों को शामिल किया है।

भारतीय और स्थानीय पाक प्रभावों को मिलाकर फ्यूज़न व्यंजन, प्रवासी समुदायों के भीतर उभरा है। उदाहरण के लिए, यूनाइटेड किंगडम में, चिकन टिक्का मसाला जैसे व्यंजन, जो भारतीय स्वादों का ब्रिटिश रूपान्तर है, लोकप्रिय और व्यापक रूप से मान्यता प्राप्त हो गए हैं।

प्रवासी सदस्य नई सामग्रियों, तकनीकों और स्वाद प्रोफाइल के साथ प्रयोग करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप अद्वितीय पाक रचनाएँ बनती हैं जो उनके बहुसांस्कृतिक अनुभवों को दर्शाती हैं।

पाक सम्बन्धी आदान-प्रदानः

भोजन सांस्कृतिक आदान-प्रदान और व्यापक समुदाय के साथ बातचीत के माध्यम के रूप में कार्य करता है। प्रवासी सदस्य अक्सर अपने दोस्तों और पड़ोसियों को भारतीय व्यंजनों से परिचित कराते हैं, पारम्परिक व्यंजनों, मसालों और खाना पकाने के तरीकों को साझा करते हैं।

भारतीय प्रवासियों द्वारा स्थापित भारतीय रेस्तरां और खाद्य व्यवसाय भारतीय व्यंजनों और संस्कृति को बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये प्रतिष्ठान विविध पृष्ठभूमि के लोगों को भारतीय स्वादों का अनुभव करने और उनकी सराहना करने का अवसर प्रदान करते हैं।

सामुदायिक और सामाजिक सामंजस्यः

भोजन भारतीय प्रवासियों के भीतर सामुदायिक निर्माण और सामाजिक सामंजस्य के लिए उत्प्रेरक के रूप में कार्य करता है। सामुदायिक कार्यक्रम, जैसे पोटलक डिनर, फूड फेस्टिवल और कुकिंग वर्कशॉप, प्रवासी सदस्यों को अपने पाक कौशल को साझा करने और विविध प्रकार के व्यंजनों का आनन्द लेने के लिए एक साथ लाते हैं।

सामुदायिक संगठन और मन्दिर अक्सर भोजन से सम्बन्धित गतिविधियों का आयोजन करते हैं, जैसे सिख गुरुद्वारों में लंगर (सामुदायिक रसोई), जहां समावेशिता और एकता को बढ़ावा देते हुए सभी को मुफ्त भोजन परोसा जाता है।

पारम्परिक व्यंजनों का संरक्षणः

सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने के साधन के रूप में भारतीय डायस्पोरा में पारम्परिक व्यंजनों और खाना पकाने की तकनीकों को महत्त्व दिया जाता है। पारिवारिक व्यंजनों का दस्तावेजीकरण करने और उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयास किया जाता है, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे समय के साथ नष्ट न हो जाएँ।

प्रवासी सदस्य पाक परम्पराओं को जीवित रखते हुए पारम्परिक व्यंजनों और खाना पकाने के तरीकों को सीखने के लिए खाना पकाने की कक्षाओं, कार्यशालाओं या ऑनलाइन प्लेटफार्मों में भाग ले सकते हैं।

भोजन भारतीय प्रवासियों के भीतर सांस्कृतिक पहचान की एक मूर्त और संवेदी अभिव्यक्ति के रूप में कार्य करता है। यह एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से प्रवासी सदस्य अपनी विरासत से जुड़ते हैं, नए वातावरण के अनुकूल होते हैं, सामुदायिक सम्बन्धों को बढ़ावा देते हैं और अपनी समृद्ध पाक परम्पराओं को व्यापक दुनिया के साथ साझा करते हैं। विविध और जीवंत भारतीय व्यंजन प्रवासी समुदायों के भीतर विकसित और फलते- फूलते रहते हैं, जिससे वैश्विक पाक परिदृश्य पर स्थायी प्रभाव पड़ता है।

2.4 भारतीय प्रवासियों द्वारा हिन्दू धर्म को अपनाना

प्रवासी भारतीयों द्वारा हिन्दू धर्म को अपनाना उनकी सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान का एक महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। यहां कुछ सन्दर्भ दिए गए हैं जो प्रवासी भारतीयों में हिन्दू धर्म को अपनाने और उसके पालन पर प्रकाश डालते हैं:

राजेश राय और पीटर रीव्स द्वारा संपादित "द इंडियन डायस्पोरा: ऐतिहासिक और समकालीन सन्दर्भ":

यह पुस्तक प्रवासी समुदायों द्वारा हिन्दू धर्म को अपनाने सहित भारतीय प्रवासियों के ऐतिहासिक और समकालीन पहलुओं की पड़ताल करती है। यह दुनिया भर में भारतीय प्रवासियों की धार्मिक प्रथाओं और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।

स्टीवन वर्टोवेक द्वारा संपादित "हिन्दू डायस्पोरा: ग्लोबल पर्सपेक्टिव्स":

निबंधों का यह संग्रह वैश्विक हिन्दू प्रवासी और हिन्दू धार्मिक प्रथाओं के साथ इसके जुड़ाव की जांच करता है। यह विभिन्न देशों में हिन्दू प्रवासी समुदायों के अनुभवों पर चर्चा करता है, उनके धार्मिक अनुकूलन, समुदाय- निर्माण प्रयासों और सांस्कृतिक संरक्षण पर प्रकाश डालता है।

स्टीवन वर्टोवेक द्वारा "द हिन्दू डायस्पोरा: तुलनात्मक पैटर्न":

इस पुस्तक में, वर्टोवेक दुनिया के विभिन्न हिस्सों में हिन्दू प्रवासी समुदायों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह उन कारकों की पड़ताल करता है जो प्रवासी सदस्यों द्वारा हिन्दू धर्म को अपनाने को प्रभावित करते हैं और जांच करते हैं कि प्रवासी सन्दर्भ में धार्मिक प्रथाओं और सांस्कृतिक परम्पराओं को कैसे बनाए रखा और परिवर्तित किया जाता है।

"ग्लोबल इंडियन डायस्पोराज़: एक्सप्लोरिंग ट्रैजेक्टरीज़ ऑफ़ माइग्रेशन एँड थ्योरी" गिज़्सबर्ट ओन्क द्वारा संपादित:

इस खण्ड में ऐसे अध्याय शामिल हैं जो हिन्दू धर्म को अपनाने और अभ्यास सहित भारतीय प्रवासियों के अनुभव के धार्मिक आयामों को छूते हैं। यह पता लगाता है कि प्रवासी समुदायों के भीतर धार्मिक पहचान और प्रथाएँ कैसे आकार लेती हैं और वे अपनेपन और सांस्कृतिक निरन्तरता की भावना में कैसे योगदान करती हैं।

परमजीत एस. जज द्वारा "इंडियन डायस्पोरा: वॉयस ऑफ ग्रैंडपेरेंट्स एँड ग्रैंडपेरेंटिंग":

यह पुस्तक भारतीय प्रवासी दादा- दादी की कहानियाँ प्रस्तुत करती है, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रसारण पर उनके अनुभवों और विचारों का दस्तावेजीकरण करती है। यह प्रवासी परिवारों के भीतर सांस्कृतिक सम्बन्धों और धार्मिक परम्पराओं को बनाए रखने में हिन्दू धर्म की भूमिका के बारे में अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है।

ये सन्दर्भ प्रवासी भारतीयों द्वारा हिन्दू धर्म को अपनाने और उसके अभ्यास के बारे में बहुमूल्य अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। वे विद्वतापूर्ण दृष्टिकोण, शोध निष्कर्ष और प्रत्यक्ष विवरण प्रदान करते हैं जो भारतीय प्रवासी समुदायों के भीतर धार्मिक गतिशीलता और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की गहरी समझ में योगदान करते हैं।

2.5 हिन्दू प्रवासी: सांस्कृतिक निरन्तरता और अनुकूलन

विभिन्न महाद्वीपों में फैले हिन्दू प्रवासी ने दुनिया भर में हिन्दू संस्कृति, आध्यात्मिकता और परम्पराओं का प्रसार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जैसे- जैसे हिन्दू विभिन्न देशों में चले गए, वे अपने साथ अपनी समृद्ध धार्मिक विरासत ले गए, जिससे जीवंत समुदायों का निर्माण हुआ जिन्होंने हिन्दू प्रथाओं को संरक्षित और अनुकूलित किया। यह निबन्ध सांस्कृतिक निरन्तरता बनाए रखने में हिन्दू प्रवासियों के महत्त्व, प्रवासी समुदायों के सामने आने वाली चुनौतियों और उनके द्वारा अपने नए वातावरण में हिन्दू धर्म को अपनाने के तरीकों की पड़ताल करता है।

सांस्कृतिक निरन्तरता: हिन्दू प्रवासी भारत की सीमाओं से परे हिन्दू सांस्कृतिक परम्पराओं को संरक्षित और प्रचारित करने में सहायक रहे हैं। इन समुदायों ने मन्दिरों, सांस्कृतिक संगठनों और त्योहारों की स्थापना की है, जो महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और धार्मिक केन्द्रों के रूप में काम करते हैं। इन संस्थानों के माध्यम से, प्रवासी भारतीयों ने प्राचीन रीति-रिवाजों, और धार्मिक प्रथाओं को जीवित रखा है।

चुनौतियाँ और पहचान निर्माण: हिन्दू प्रवासी समुदायों को अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। बहुसांस्कृतिक समाजों में रहते हुए, उन्हें अपनी भारतीय जड़ों और मेजबान संस्कृति के प्रभावों के बीच नेविगेट करना होगा। यह अन्तरसांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रवासी भारतीयों के लिए एक विशिष्ट पहचान बनाता है जो हिन्दू धर्म के तत्वों को अपनाए गए देश की सांस्कृतिक प्रथाओं और मूल्यों के साथ जोड़ता है।

अनुकूलन और समन्वयवाद: हिन्दू प्रवासियों ने स्थानीय संस्कृति के तत्वों को अपनी धार्मिक प्रथाओं में शामिल करके उल्लेखनीय अनुकूलन क्षमता का प्रदर्शन किया है। इस समन्वयवाद के परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म के नए रूपों का उदय हुआ है, जिसमें भारतीय परम्पराओं को मेजबान देश की स्थानीय परम्पराओं और मान्यताओं के साथ मिश्रित किया गया है। उदाहरण के लिए, कैरेबियन में हिन्दू समुदायों ने अफ्रीकी और कैरेबियाई सांस्कृतिक तत्वों को अपने धार्मिक उत्सवों में एकीकृत किया है, जिससे कैरेबियन हिन्दू धर्म का एक अलग रूप तैयार हुआ है।

अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क और वैश्विक चेतना: हिन्दू प्रवासी अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क के माध्यम से आपस में जुड़े हुए हैं जो धार्मिक शिक्षाओं, सांस्कृतिक प्रथाओं और सामुदायिक समर्थन के आदान-प्रदान की सुविधा प्रदान करते हैं। इंटरनेशनल सोसाइटी फॉर कृष्णा कॉन्शियसनेस (इस्कॉन) और चिन्मय मिशन जैसे संगठनों ने दुनिया भर में प्रवासी समुदायों को जोड़ने, हिंदुओं के बीच वैश्विक चेतना और एकता की भावना को बढ़ावा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

हिन्दू प्रवासी ने हिन्दू दर्शन, योग और आध्यात्मिकता के ज्ञान का प्रसार करते हुए भारतीय संस्कृति और शेष विश्व के बीच एक पुल के रूप में कार्य किया है। अपने लचीलेपन के माध्यम से, प्रवासी समुदायों ने नए वातावरण को अपनाते हुए सांस्कृतिक निरन्तरता बनाए रखी है। विविध सांस्कृतिक प्रभावों को संश्लेषित करने की क्षमता के परिणामस्वरूप दुनिया भर में हिन्दू धर्म की अनूठी अभिव्यक्तियों का विकास हुआ है। हिन्दू प्रवासी हिन्दू परम्पराओं को संरक्षित

और समृद्ध करने, आधुनिक दुनिया में उनकी दीर्घायु और प्रासंगिकता सुनिश्चित करने में अभिन्न भूमिका निभा रहे हैं।

सांस्कृतिक संरक्षण: हिन्दू प्रवासियों ने अपने नए वातावरण में हिन्दू संस्कृति को संरक्षित और बढ़ावा देने के लिए कई उपाय किए हैं। इसमें दिवाली और नवरात्रि जैसे सांस्कृतिक त्योहारों का आयोजन शामिल है, जहां प्रवासी सदस्य संगीत, नृत्य और भोजन के माध्यम से भारतीय परम्पराओं का जश्न मनाने और प्रदर्शित करने के लिए एक साथ आते हैं। प्रवासी समुदायों द्वारा स्थापित मन्दिर और सामुदायिक केन्द्र महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्रों के रूप में काम करते हैं, जो धार्मिक अनुष्ठानों, भाषा कक्षाओं, योग सत्रों और सांस्कृतिक प्रदर्शनों के लिए स्थान प्रदान करते हैं।

धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिक प्रथाएँ: हिन्दू प्रवासी भविष्य की पीढ़ियों तक हिन्दू मूल्यों और विश्वासों के प्रसारण को सुनिश्चित करने के लिए धार्मिक शिक्षा और आध्यात्मिक प्रथाओं पर बहुत जोर देते हैं। कई प्रवासी समुदायों ने संडे स्कूल या सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित किए हैं जो हिन्दू धर्मग्रन्थों, पौराणिक कथाओं और नैतिक मूल्यों पर कक्षाएँ प्रदान करते हैं। इन शैक्षिक पहलों का उद्देश्य युवा प्रवासी सदस्यों के बीच सांस्कृतिक गौरव और धार्मिक समझ की भावना पैदा करना है।

सामाजिक सेवा और सामुदायिक जुड़ाव: हिन्दू प्रवासी समुदाय सक्रिय रूप से सेवा (निःस्वार्थ सेवा) और करुणा के मूल्यों को अपनाते हुए सामाजिक सेवा और सामुदायिक आउटरीच पहल में संलग्न हैं। वे कम भाग्यशाली लोगों की सेवा करने और व्यापक समुदाय की भलाई में योगदान देने के लिए रक्तदान शिविर, भोजन अभियान और चिकित्सा शिविर आयोजित करते हैं। इस तरह की पहल न केवल हिन्दू धर्म की मूल शिक्षाओं को दर्शाती है बल्कि मेजबान समाज के भीतर सकारात्मक सम्बन्ध बनाने और अन्तर- धार्मिक समझ को बढ़ावा देने में भी मदद करती है।

अन्तर- पीढ़ीगत चुनौतियाँ: हिन्दू प्रवासियों के सामने आने वाली एक चुनौती पीढ़ियों के बीच धार्मिक और सांस्कृतिक प्रथाओं को बनाए रखना है। जैसे- जैसे युवा पीढ़ी बहुसांस्कृतिक वातावरण में बड़ी होती है, पारम्परिक हिन्दू प्रथाओं के कमजोर पड़ने या नष्ट होने का खतरा होता है। इसे संबोधित करने के लिए, प्रवासी समुदायों ने धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में युवा पीढ़ियों को सक्रिय रूप से शामिल करने के लिए इंटरैक्टिव कार्यशालाएँ, युवा शिविर और परामर्श कार्यक्रम जैसी नवीन रणनीतियां विकसित की हैं।

डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म की भूमिका: डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म और सोशल मीडिया के आगमन ने हिन्दू प्रवासियों को अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत को जोड़ने, साझा करने और बढ़ावा देने के लिए नए रास्ते प्रदान किए हैं। ऑनलाइन फ़ोरम, वेबसाइट और सोशल मीडिया समूह प्रवासी सदस्यों के बीच ज्ञान के आदान-प्रदान, नेटवर्किंग और समर्थन की सुविधा प्रदान करते हैं। इसने धार्मिक समारोहों में आभासी भागीदारी को भी सक्षम किया है, जिससे प्रवासी समुदायों को अपनी धार्मिक प्रथाओं से जुड़े रहने और आध्यात्मिक नेताओं से मार्गदर्शन प्राप्त करने की अनुमति मिलती है।

हिन्दू प्रवासी अपने नए वातावरण द्वारा प्रस्तुत अवसरों को स्वीकार करते हुए सांस्कृतिक निरन्तरता बनाए रखने की चुनौतियों का सामना करते हुए विकसित और अनुकूलन करना

जारी रखते हैं। अपने सामूहिक प्रयासों के माध्यम से, प्रवासी समुदायों ने गतिशील और संपन्न सांस्कृतिक स्थान बनाए हैं जो हिन्दू धर्म की समृद्ध छवि में योगदान करते हैं और प्रवासी सदस्यों के बीच अपनेपन की भावना को बढ़ावा देते हैं।

2.6 सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय गौरव

हिन्दू प्रवासी के कई सदस्यों के लिए, उनकी सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान भारत के लिए राष्ट्रीय गौरव की भावना के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। हिन्दू धर्म, भारत में प्रमुख धर्म होने के नाते, अक्सर एक सांस्कृतिक लंगर के रूप में कार्य करता है जो प्रवासी सदस्यों को उनकी भारतीय विरासत से जोड़ता है। भारत के साथ यह सम्बन्ध प्रवासी समुदाय के भीतर और उनके द्वारा अपनाए गए देशों में राष्ट्रवाद की भावना और भारतीय संस्कृति, परम्पराओं और मूल्यों को संरक्षित और बढ़ावा देने की इच्छा को बढ़ावा दे सकता है।

राष्ट्रवादी उद्देश्यों के लिए समर्थन: हिन्दू प्रवासी के कुछ सदस्य भारत में राष्ट्रवादी कारणों से सक्रिय रूप से संलग्न हैं, हिन्दू मन्दिरों की सुरक्षा, हिन्दू मूल्यों को बढ़ावा देने और सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण जैसे मुद्दों की वकालत करते हैं। यह समर्थन वित्तीय योगदान, पैरवी प्रयासों या भारत में राष्ट्रवाद से सम्बन्धित सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों में भागीदारी के माध्यम से प्रकट हो सकता है।

अन्तरराष्ट्रीय सक्रियता: हिन्दू प्रवासी, अपनी अन्तरराष्ट्रीय प्रकृति के कारण, सक्रियता में शामिल होने की क्षमता रखते हैं जो उनके द्वारा अपनाए गए देशों से परे तक फैली हुई है। वे हिन्दू राष्ट्रवाद से सम्बन्धित कारणों या भारत में हिंदुओं को प्रभावित करने वाले मुद्दों की वकालत करने के लिए विरोध प्रदर्शनों, रैलियों और जागरूकता अभियानों में भाग ले सकते हैं। सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म और ऑनलाइन समुदाय प्रवासी सदस्यों को राष्ट्रवादी उद्देश्यों के लिए एकजुट होने और अपना समर्थन व्यक्त करने के लिए चैनल प्रदान करते हैं।

प्रवासी भारतीयों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव: हिन्दू प्रवासी, विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण भारतीय आबादी वाले देशों में, भारतीय राजनीति पर प्रभाव डाल सकते हैं। वे राजनीतिक दलों या राष्ट्रवादी विचारधारा से जुड़े उम्मीदवारों को आर्थिक रूप से योगदान दे सकते हैं, और चुनाव अभियानों या धन उगाहने वाले कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग ले सकते हैं। कुछ प्रवासी सदस्य भारत में राजनीतिक प्रवचन और नीतियों को आकार देने के लिए अपने नेटवर्क और प्रभाव का भी उपयोग कर सकते हैं।

विवाद और बहस: यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दू प्रवासी और राष्ट्रवाद के बीच का सम्बन्ध विवादों और बहस से रहित नहीं है। राष्ट्रवाद, इसकी अभिव्यक्तियाँ और राजनीति में धर्म की भूमिका पर प्रवासी सदस्यों के बीच अलग- अलग विचार हैं। कुछ लोग राष्ट्रवाद के अधिक समावेशी और बहुलवादी स्वरूप के लिए तर्क देते हैं, जबकि अन्य अधिक विशिष्ट या विभाजनकारी दृष्टिकोण रख सकते हैं। ये बहसें हिन्दू प्रवासी के भीतर विचारों की विविधता और धर्म, पहचान और राष्ट्रवाद के अन्तर्संबन्ध पर चल रही बातचीत को दर्शाती हैं।

यहां हिन्दू प्रवासी और राष्ट्रवाद के बीच सम्बन्धों के बारे में जीवित अनुभवों के उदाहरणों के साथ कुछ और विवरण दिए गए हैं:

सांस्कृतिक त्योहार और उत्सव: हिन्दू प्रवासी अक्सर अपनी भारतीय विरासत को प्रदर्शित

करने और राष्ट्रीय गौरव की भावना को बढ़ावा देने के लिए सांस्कृतिक त्यौहार और समारोह आयोजित करते हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और यूनाइटेड किंगडम जैसे देशों में, बड़े पैमाने पर दिवाली समारोह आयोजित किए जाते हैं, जिसमें विविध पृष्ठभूमि के हजारों लोग शामिल होते हैं। ये आयोजन भारतीय संस्कृति, परम्पराओं और मूल्यों को प्रदर्शित करने, प्रवासी सदस्यों के बीच राष्ट्रीय पहचान की भावना को बढ़ावा देने और हिन्दू रीति- रिवाजों और मान्यताओं के बारे में जागरूकता पैदा करने के लिए मंच के रूप में काम करते हैं।

मानवीय और सामाजिक कार्यों में संलग्नता: हिन्दू प्रवासी के कई सदस्य राष्ट्रीय कर्तव्य और गौरव की भावना से प्रेरित होकर भारत में मानवीय और सामाजिक कार्यों में सक्रिय रूप से संलग्न हैं। वे वंचित बच्चों के लिए शिक्षा कार्यक्रम, स्वास्थ्य देखभाल परियोजनाओं और आपदा राहत प्रयासों जैसी पहल का समर्थन करते हैं। उदाहरण के लिए, केरल बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाओं के बाद, प्रवासी सदस्यों ने धन संचयन का आयोजन किया और अपने देश की भलाई के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए प्रभावित समुदायों को सहायता प्रदान की।

भारतीय हितों के लिए पैरवी: हिन्दू प्रवासी अक्सर भारतीय हितों और राष्ट्रवादी कारणों को बढ़ावा देने के लिए पैरवी के प्रयासों में लगे रहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में, प्रवासी संगठन और व्यक्ति भारत से सम्बन्धित नीतियों, जैसे व्यापार समझौतों, वीज़ा नियमों और भारतीय समुदायों को प्रभावित करने वाले मुद्दों को प्रभावित करने के लिए वकालत अभियानों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। ये प्रयास राष्ट्रवाद की भावना और वैश्विक मंच पर भारतीय हितों की रक्षा और उन्हें आगे बढ़ाने की इच्छा को दर्शाते हैं।

भारतीय राजनीति से जुड़ाव: हिन्दू प्रवासी के कुछ सदस्य राष्ट्रवादी राजनीतिक दलों और आंदोलनों का समर्थन और उनमें भाग लेकर भारतीय राजनीति से जुड़ते हैं। वे आर्थिक रूप से योगदान दे सकते हैं, उम्मीदवारों के लिए प्रचार कर सकते हैं और प्रवासी समुदाय के बीच समर्थन जुटा सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय चुनावों के दौरान, प्रवासी सदस्य अपने पसंदीदा राजनीतिक दलों का समर्थन करने के लिए रैलियां, घर- घर अभियान और धन उगाहने वाले कार्यक्रम आयोजित करते हैं, जिसका उद्देश्य राजनीतिक परिदृश्य को प्रभावित करना और राष्ट्रीय कथा को आकार देना है।

ऑनलाइन सक्रियता और सोशल मीडिया प्रभाव: सोशल मीडिया प्लेटफार्मों के उदय ने हिन्दू प्रवासियों को अपनी राय व्यक्त करने, बहस में शामिल होने और राष्ट्रवादी उद्देश्यों के लिए समर्थन जुटाने के लिए जगह प्रदान की है। प्रवासी सदस्य समाचार साझा करने, राष्ट्रीय मुद्दों पर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने और भारतीय संस्कृति और विरासत के बारे में जागरूकता बढ़ाने के लिए सोशल मीडिया प्लेटफार्मों का उपयोग करते हैं। ये ऑनलाइन स्थान आभासी समुदायों के रूप में कार्य करते हैं जहां राष्ट्रवाद, धर्म और भारतीय पहचान पर चर्चा होती है, जो प्रवासी भारतीयों के भीतर विचारों की विविधता को दर्शाती है।

2.7 हिन्दू प्रवासी और नागरिकता

हिन्दू प्रवासी और नागरिकता के बीच सम्बन्ध विचार करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि प्रवासी सदस्य अपने गोद लिए गए देशों में अपनी पहचान और कानूनी स्थिति को

नेविगेट करते हैं। यहां हिन्दू प्रवासी और नागरिकता के बीच सम्बन्ध पर कुछ विवरण दिए गए हैं:

दोहरी नागरिकता और विदेशी नागरिकता: भारत जैसे कई देश दोहरी नागरिकता की अनुमति देते हैं या विदेशी नागरिकों के लिए विशेष दर्जा प्रदान करते हैं। यह हिन्दू प्रवासी सदस्यों को अपने गोद लिए गए देश में नागरिकता प्राप्त करते समय अपनी भारतीय नागरिकता बनाए रखने की अनुमति देता है। दोहरी नागरिकता प्रवासी सदस्यों को कुछ अधिकार प्रदान कर सकती है, जिसमें भारतीय चुनावों में मतदान करने की क्षमता, संपत्ति का मालिक होना और अपने गृह देश के साथ सम्बन्ध बनाए रखना शामिल है। यह व्यवस्था प्रवासी सदस्यों को भारत और उनके द्वारा अपनाए गए देश दोनों से जुड़ाव की भावना बनाए रखने में मदद करती है।

प्राकृतिकीकरण और नागरिकता अधिग्रहण: जिन देशों में प्रवासी सदस्य स्थायी रूप से बसने का विकल्प चुनते हैं, वे अक्सर नागरिकता प्राप्त करने के लिए प्राकृतिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। इसमें आम तौर पर कानूनी आवश्यकताओं को पूरा करना शामिल है, जैसे एक निर्दिष्ट अवधि के लिए देश में रहना, भाषा और नागरिकता परीक्षण पास करना और नए देश के मूल्यों और जिम्मेदारियों के प्रति प्रतिबद्धता प्रदर्शित करना। नागरिकता प्राप्त करने से प्रवासी सदस्यों को अपने अपनाए गए देश के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में पूरी तरह से भाग लेने की अनुमति मिलती है।

सांस्कृतिक एकीकरण और नागरिकता: जैसे ही हिन्दू प्रवासी के सदस्य अपने गोद लिए गए देशों में जड़ें जमाते हैं, वे अक्सर अपनी हिन्दू पहचान बनाए रखते हुए स्थानीय संस्कृति में एकीकृत होने का प्रयास करते हैं। नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया में सांस्कृतिक एकीकरण महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योंकि प्रवासी सदस्य अपने अपनाए हुए देश की भाषा, रीति-रिवाज और मूल्यों को सीखते हैं। यह एकीकरण प्रक्रिया अपनेपन की भावना को बढ़ावा देने में मदद करती है और नागरिकता अधिकारों और जिम्मेदारियों के अधिग्रहण की सुविधा प्रदान करती है।

दोहरी पहचान और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध: हिन्दू प्रवासी अक्सर अपनी भारतीय विरासत और पहचान के साथ मजबूत सम्बन्ध बनाए रखते हैं, भले ही वे दूसरे देशों के नागरिक बन जाते हैं। वे सांस्कृतिक प्रथाओं में संलग्न हो सकते हैं, भारतीय त्योहार मना सकते हैं और प्रवासी समुदाय संगठनों में सक्रिय रूप से भाग ले सकते हैं। यह दोहरी पहचान प्रवासी सदस्यों को अपने अपनाए गए देश में अपनेपन की भावना, सांस्कृतिक विरासत और नागरिकता अधिकारों को नेविगेट करने की अनुमति देती है, साथ ही अपनी भारतीय जड़ों से जुड़ाव भी बनाए रखती है।

चुनौतियाँ और अवसर: नागरिकता प्राप्त करने और दोहरी पहचान की जटिलताओं से निपटने की प्रक्रिया हिन्दू प्रवासी के लिए चुनौतियाँ और अवसर दोनों प्रस्तुत कर सकती है। कुछ चुनौतियों में भाषा सम्बन्धी बाधाएँ, सांस्कृतिक आत्मसात्करण और विभिन्न कानूनी प्रणालियों में समायोजन शामिल हैं। हालाँकि, नागरिकता राजनीतिक भागीदारी, सामाजिक लाभों तक पहुंच और उनके द्वारा अपनाए गए देश के आर्थिक विकास और विविधता में योगदान करने की क्षमता भी प्रदान करती है।

यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि नागरिकता कानूनों और नीतियों की विशिष्टताएँ अलग-

अलग देशों में अलग- अलग होती हैं, और नागरिकता के साथ हिन्दू प्रवासी के अनुभव भी तदनुसार भिन्न होंगे। प्रवासी भारतीयों के भीतर विविध दृष्टिकोणों पर विचार करना भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कुछ सदस्य अपने गोद लिए गए देश में नागरिकता हासिल नहीं करने का विकल्प चुन सकते हैं और इसके बजाय विदेश में रहते हुए अपनी भारतीय नागरिकता बनाए रख सकते हैं।

2.8 हिन्दू प्रवासी और भारतीय पहचान

भारत के बाहर भारतीय पहचान को आकार देने और बनाए रखने में हिन्दू प्रवासी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यहां हिन्दू प्रवासी और भारतीय पहचान के बीच सम्बन्ध पर कुछ विवरण दिए गए हैं:

सांस्कृतिक संरक्षण: हिन्दू प्रवासी सक्रिय रूप से अपने अपनाए गए देशों में भारतीय संस्कृति, परम्पराओं और मूल्यों को संरक्षित और बढ़ावा देने में लगे हुए हैं। वे भारतीय त्योहार मनाते हैं, धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, योग और ध्यान का अभ्यास करते हैं, और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करते हैं जो भारतीय संगीत, नृत्य और व्यंजनों का प्रदर्शन करते हैं। भारतीय सांस्कृतिक प्रथाओं को सक्रिय रूप से संरक्षित और बढ़ावा देकर, हिन्दू प्रवासी अपने समुदायों के भीतर भारतीय पहचान की एक मजबूत भावना बनाए रखने में मदद करते हैं।

भाषा और संचार: भाषा भारतीय पहचान का एक अनिवार्य पहलू है, और हिन्दू प्रवासी अक्सर भारतीय भाषाओं को संरक्षित करने और भावी पीढ़ियों तक पहुंचाने के प्रयास करते हैं। कई प्रवासी सदस्य अपने बच्चों को अपनी मूल भाषा सिखाते हैं, भाषा कक्षाओं में भाग लेते हैं, और भाषा स्कूलों और सांस्कृतिक संगठनों का समर्थन करते हैं। भाषा भारतीय विरासत के लिए एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करती है और भारतीय पहचान से जुड़ाव और जुड़ाव की भावना को बढ़ावा देती है।

सामुदायिक संगठन और संस्थाएँ: हिन्दू प्रवासी सामुदायिक संगठनों, मन्दिरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना करते हैं जो भारतीय पहचान को संरक्षित करने के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में काम करते हैं। ये संस्थाएँ प्रवासी सदस्यों को इकट्ठा होने, धार्मिक अनुष्ठानों का अभ्यास करने, भारतीय संस्कृति के बारे में जानने और परम्पराओं को युवा पीढ़ी तक पहुंचाने के लिए जगह प्रदान करती हैं। वे सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित करते हैं जो प्रवासी समुदाय के भीतर भारतीय पहचान की भावना को मजबूत करते हैं।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान और एकीकरण: हिन्दू प्रवासी सक्रिय रूप से अपने समुदायों के भीतर और अपने द्वारा अपनाए गए देशों में व्यापक समाज के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान में संलग्न हैं। वे विभिन्न पृष्ठभूमि के लोगों के साथ अपनी सांस्कृतिक प्रथाओं, जैसे योग, ध्यान और पारम्परिक कलाओं को साझा करते हैं। यह आदान-प्रदान समझ, प्रशंसा और एकीकरण को बढ़ावा देता है, साथ ही भारतीय संस्कृति की समृद्धि को भी प्रदर्शित करता है और भारतीय पहचान की वैश्विक धारणा में योगदान देता है।

भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध: हिन्दू प्रवासी भारत के साथ गहरा भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध बनाए रखते हैं, जिसे अक्सर "मातृभूमि भावना" के रूप में जाना जाता

है। वे भारत दौरे के माध्यम से जुड़े रहते हैं, परिवार और दोस्तों के साथ सम्बन्ध बनाए रखते हैं और भारत में वर्तमान घटनाओं और विकास पर अपडेट रहते हैं। यह भावनात्मक जुड़ाव उनकी भारतीय पहचान को मजबूत करता है और बड़े भारतीय समुदाय से जुड़े होने की भावना को मजबूत करता है।

यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दू प्रवासी के भीतर भारतीय पहचान गतिशील और बहुआयामी है। भारतीय संस्कृति और परम्पराओं से जुड़ाव बनाए रखते हुए, प्रवासी सदस्य अपने अपनाए हुए देश की संस्कृति के तत्वों को भी एकीकृत करते हैं और अपने स्थानीय समुदायों के बहुसांस्कृतिक ताने-बाने में योगदान करते हैं। भारतीय पहचान को संरक्षित करने में हिन्दू प्रवासियों की भागीदारी प्रवासी सदस्यों के बीच भारत के प्रति गर्व और जुड़ाव की भावना को बढ़ावा देने में मदद करती है और वैश्विक भारतीय पहचान की विविधता और समृद्धि में योगदान करती है।

2.9 सारांश

अध्ययन सामग्री भारतीय प्रवासियों और उनकी धार्मिक और जातीय पहचान के बीच बहुमुखी सम्बन्धों की पड़ताल करती है। इसमें सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराओं का संरक्षण, नए वातावरण में अनुकूलन और मन्दिरों और सांस्कृतिक केन्द्रों जैसे संस्थानों की भूमिका शामिल है। प्रवासी त्योहारों, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और सामाजिक कल्याण गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, जो सभी उनकी भारतीय पहचान के साथ एक मजबूत सम्बन्ध बनाए रखने में मदद करते हैं। भारतीय संस्कृति की वैश्विक धारणा में प्रवासी भारतीयों के योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है। कुल मिलाकर, अध्ययन सामग्री भारतीय प्रवासियों की पहचान की गतिशील प्रकृति और उनके द्वारा अपनाए गए देशों और भारत दोनों पर इसके प्रभाव को रेखांकित करती है।

2.10 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. वर्टोवेक, स्टीवन, संपादक। . "Hindu Diaspora: Global Perspectives." रूटलेज, 2001.
2. वर्टोवेक, स्टीवन। "The Hindu Diaspora: Comparative Patterns." रूटलेज, 2000.
3. राय, राजेश, और पीटर रीव्स, संपादक। "The Indian Diaspora: Historical And Contemporary Contexts." ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017.
4. ओन्क, गिज्स्बर्ट, संपादक। "Global Indian Diasporas: Exploring Trajectories of MigrationAnd Theory." एम्स्टर्डम यूनिवर्सिटी प्रेस, 2007.
5. जज, परमजीत एस. "Indian Diaspora: Voices of GrandparentsAnd Grandparenting." पालग्रेव मैकमिलन, 2015.
6. खंडेलवाल, मीनाक्षी, संपादक. BecomingAmericUn, Being Indian:An Immigrant Community in New York City." कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस, 2002.
7. राज, धूलेका एस. "WhereAre You From? Middle- Class Migrants in the Modern World." कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 2003.
8. मिश्र, मारिया. "Vishnu on Freud's Desk:A Reader in Psycho Unalysis

And Hinduism." ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003.

9. मिश्र, विजय. "The Literature of the Indian Diaspora: Theorizing the Diasporic Imaginary." रूटलेज, 2007.

2.11 बोध प्रश्न

1. हिन्दू प्रवासी ने हिन्दू धर्म की वैश्विक धारणा में कैसे योगदान दिया है?
2. प्रवासी समुदायों के बीच धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने में हिन्दू मन्दिरों की भूमिका पर चर्चा करें।
3. नए सांस्कृतिक वातावरण को अपनाते हुए धार्मिक परम्पराओं को संरक्षित करने में हिन्दू प्रवासी भारतीयों के सामने क्या चुनौतियाँ हैं?
4. प्रवासी भारतीयों के बीच समुदाय और पहचान की भावना को बढ़ावा देने पर दिवाली और होली जैसे हिन्दू त्योहारों के प्रभाव का विश्लेषण करें।
5. वैश्विक स्तर पर हिन्दू प्रवासियों को जोड़ने और एकजुट करने में इस्कॉन (कृष्ण चेतना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सोसायटी) जैसे संस्थानों के महत्त्व का पता लगाएँ।
6. हिन्दू प्रवासी ने अपने मेजबान देशों के सांस्कृतिक परिदृश्य को कैसे प्रभावित किया है?
7. प्रवासी भारतीयों के भीतर हिन्दू धार्मिक प्रथाओं के अनुकूलन और विकास और पारम्परिक अनुष्ठानों पर उनके प्रभाव पर चर्चा करें।
8. जाति, भाषा और क्षेत्रीय विविधता जैसे कारकों पर विचार करते हुए हिन्दू धर्म और प्रवासी भारतीयों की पहचान के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करें।
9. हिन्दू प्रवासी द्वारा स्थापित अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क और सांस्कृतिक आदान-प्रदान पर उनके प्रभाव के कुछ उदाहरण क्या हैं?
10. हिन्दू प्रवासी और इसकी सांस्कृतिक बारीकियों के बारे में हमारी समझ में प्रवासी सिद्धांतकार कैसे योगदान देते हैं?

इकाई 3 प्रवासी साहित्य, संस्कृति, हिन्दू राष्ट्रवाद

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों, इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- प्रवासी चेतना और साहित्य के अन्तर्सम्बन्ध को समझ सकेंगे।
- प्रवासी साहित्य के विविध आयामों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- विभिन्न देशों के प्रवासी साहित्य का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रवासी संस्कृति और उसमें अन्तर्निहित भारतीयता को जान सकेंगे।
- राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणा को जान सकेंगे।
- हिन्दू राष्ट्रवाद के उद्भव एवं विकास को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

'प्रवास' शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है। 'हिन्दी–शब्द सागर 'शब्दकोश के अनुसार 'प्रवास' का अर्थ है, ''अपना घर या देश छोड़कर दूसरे देश में रहना, परदेश का निवास।'' 'मानक हिन्दी कोश' के अनुसार प्रवास का अर्थ है– ''अपनी जन्मभूमि छोड़कर विदेश में जाकर किया जाने वाला वास/यात्रा/सफर''। 'प्रवासी' शब्द प्रवास का विशेषण है जो मानव प्रवास करने के पश्चात् अपनी मातृभूमि से दूर जाकर दूसरे देश में बस जाता है, उसे प्रवासी कहते हैं। यूँ तो हजारों वर्षों से भारतीयों के प्रवास के प्रमाण मिलते हैं लेकिन वर्तमान में 'प्रवासी भारतीय' से अभिप्राय उन भारतवंशियों से है जो परिवार सहित भारत को त्यागकर विदेशों में निवास कर रहे हैं। इन प्रवासी भारतीयों में अपनी संस्कृति, भाषा एवं जन्मभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम पाया जाता है।

इसीलिए उनकी रचनाओं में भारतीयता का एक निथरा रूप दिखाई देता है। विदेश में प्रवास के कारण दूसरे देश की संस्कृति एवं समाज से उनका परिचय होता है और तब उन्हें अपनी भारतीय विशिष्टिताओं का विश्लेषण करने की एक तर्कपरक विश्लेषणात्मक दृष्टि प्राप्त होती है। प्रवासी भारतीय साहित्य इसी दृष्टि से उपजा हुआ साहित्य है।

3.2 प्रवासी चेतना और साहित्य

'प्रवास' शब्द मनुष्य की निरन्तर गतिशीलता का बोध कराता है। यह एक सदियों पुरानी और विश्वव्यापी प्रक्रिया है, जो इस धरा पर मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही प्रारम्भ हो गई थी। यह प्रक्रिया मानव जाति के इतिहास के साथ निरन्तर जुड़ी हुई है और इतिहास की नियामक प्रक्रियाओं में एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। मनुष्य द्वारा अपने निवास स्थान को छोड़कर नये स्थलों की तलाश की गई, जिसके द्वारा नये द्वीपों, देशों व महाद्वीपों का ज्ञान हुआ है। इन भौगोलिक खोजों ने मानव सभ्यता के इतिहास को रचने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मनुष्य के प्रवास के अनेक कारण रहे हैं, जो उसकी आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुरूप बदलते रहे हैं। इन कारणों में सुरक्षित एवं उज्ज्वल भविष्य की कामना, जीवन से जुड़ी बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धता, आर्थिक सम्पन्नता, कुशल राजनीतिक व्यवस्था जैसे कारक आकर्षक कारकों की भूमिका निभाते हैं तो दूसरी तरफ प्रवासी मनुष्य की निर्धनता, बेरोजगारी, भविष्य की चिन्ता, राजनीतिक अस्थिरता जैसे कारण प्रत्याकर्षक कारकों की भूमिका निभाते हैं।

जब मनुष्य प्रवास करता है तो वह अपनी जन्मभूमि एवं पीढ़ियों से प्राप्त संस्कार एवं जीवन–मूल्यों को अपनी मानसिकता का अंग बनाकर ही विदेशी धरा पर कदम रखता है। विदेश में रहते समय उसका सम्पर्क स्थानीय भाषाओं, जीवन मूल्यों एवं संस्कृतियों से होता है। इन परिस्थितियों में वह अपने देश से जुड़ी प्रत्येक वस्तु व इकाई के साथ भावनात्मक लगाव का अनुभव करता है और उसे ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। प्रवास के दौरान उसका सामना नस्लवादी चेतना, सांस्कृतिक विलगाव एवं संघर्ष, बेगानापन एवं स्थापित होने का संघर्ष आदि परिस्थितियों से होता है। ऐसी स्थिति में उसे विभिन्न स्तरों पर मानसिक सन्ताप भुगतना पड़ता है। इस परिस्थिति में मातृभूमि एवं संस्कृति के प्रति उसका लगाव और बढ़ जाता है। अपनी मातृभूमि पर उसकी वापसी सम्भव नहीं होती इसलिए मनुष्य प्रवासी देश, उसकी संस्कृति, जीवन मूल्य आदि से डटकर संघर्ष करता है। इस प्रकार उसकी अपनी विशिष्ट चेतना का निर्माण होता है जो दो विभिन्न देशों की संस्कृतियों एवं जीवन मूल्यों के संघर्ष से निर्मित होती है। इसे ही 'प्रवासी चेतना' कहा गया है। 'प्रवासी चेतना' को परिभाषित करते हुए पंजाबी साहित्य के प्रमुख आलोचक डॉ. सुरिंदरपाल सिंह लिखते हैं, ''बेगानी धरती पर रोजगार की तलाश में मानसिक तौर पर अस्थायी रूप से रहते हुए, स्थानीय स्थितियों और परिस्थितियों से दो–चार होते हुए पैदा हुए हालात को मानसिक सन्ताप के तौर पर भोग रहे लोगों की चेतना को ही प्रवासी चेतना का नाम दिया गया है।'' डॉ. पुशविन्दर कौर 'प्रवासी चेतना' का सम्बन्ध मनुष्य के इतिहास और प्रवासजनित समस्याओं से जुड़ा हुआ मानती है– ''प्रवासी चेतना का सम्बन्ध मनुष्य के वस्तुपरक इतिहास के साथ ही है, क्योंकि प्रवासी चेतना प्राप्त यथार्थ की शक्ल में प्रवासियों को पेश आने वाली समस्याओं और उनके द्वारा झेली परेशानियों से ही उपजती है।''

इस 'प्रवासी चेतना' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा लिखते हैं,

''अपनी भूमिको छोड़कर विदेश गया व्यक्ति पीढ़ी–दर–पीढ़ी प्रवासी ही रहता है। उसके मन में प्रवास की पीड़ा होती है। उसके मन में एक दुविधा निरन्तर बनी रहती है कियह नई दुनिया उसके लिए अधिक अच्छी है कि नहीं। वह अपनी भाषा, संस्कृति, अपने जीवन–मूल्यों को बराबर पकड़े रहना चाहता है। क्योंकि यही दूसरे देश में उसकी अपनी पहचान है। नये देश के मूल निवासी कभी भी उसे पूर्णरूप में स्वीकार नहीं कर पाते। रूप, रंग–भेद ही नहीं भाषा, खान–पान, आचार–विचार, रीति–रिवाज, जीवन–मूल्य का अन्तर विदेश में उसे अलग बनाए रखता है। यही प्रवास का दंश है। इसीलिए वह विदेश में भी छोटा स्वदेश बनाकर रहता है।''

प्रिय विद्यार्थियों, उपर्युक्त विश्लेषण से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रवासी मनुष्य में अपने मूल देश के प्रति प्रेम व नॉस्टेल्जिया का भाव रहता है। चूँकि प्रवासी चेतना में मूल देश के प्रति प्रेम व नॉस्टेल्जिया को सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त है इसलिए प्रवास में रचित् साहित्यिक कृतियों में अपने मूल देश के प्रति प्रेम, परम्परागत संस्कार, जीवन मूल्य आदि के प्रति मोह सम्वेदना का केन्द्रीय बिन्दु होते हैं। इस सन्दर्भ में पंजाबी आलोचक जोगिन्दर सिह पुआर लिखते हैं, ''इन साहित्यिक कृतियों में देश वापिस लौट आने की तड़प, बीते वक्त के लिए रागात्मकता की भावना और अपनी मिट्टी के प्रति मोह को प्रवासी चेतना का नाम भी दिया गया है।'' इस प्रकार 'प्रवासी साहित्य' में सैद्धान्तिक रूप से 'प्रवासी चेतना' का विद्यमान होना सर्वप्रमुख विशेषता मानी गई है। यहाँ तक कि भारत में रचे साहित्य एवं विदेशों में रचे प्रवासी साहित्य के मध्य विभाजक तत्त्व के रूप में 'प्रवासी'–चेतना' को ही स्वीकार किया गया है। 'प्रवासी चेतना' के चित्रण के अभाव में किसी साहित्य को प्रवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं होगा। 'प्रवासी चेतना' को प्रवासी साहित्य की आधारभूमि मानते हुए डॉ. हरमीत कौर लिखती हैं–''प्रवासी पंजाबी साहित्यकारों ने अपने प्रवासी जीवन–अनुभवों से ग्रहण की गई प्रवासी चेतना को लेकर एक विशेष प्रकार के साहित्य का सृजन किया है। इस साहित्य को प्रवासी पंजाबी साहित्य का नाम दिया गया है। यह प्रवासी पंजाबी साहित्य पंजाबी की मुख्य धारा के साहित्य से इस पक्ष से अलग है कि इसके मूल सरोकार प्रवास की समस्याओं से निकलते हैं, जिन्होंने प्रवासी चेतना को शिद्दत से अनुभव किया है और साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकट करने का प्रयास किया है।''

प्रिय विद्यार्थियों, इस विश्लेषण से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि 'प्रवासी–चेतना' और 'प्रवासी साहित्य' का परस्पर नाभि–नालबद्ध सम्बन्ध है।

3.3 प्रवासी साहित्य के विविध आयाम

सामाजिक चित्रण–साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। साहित्य समाज का दर्पणीय प्रतिबिम्ब हो या न हो किन्तु साहित्य का उत्स और उसकी सम्वेदना को निर्धारित करने वाले कारक समाज में ही अन्तर्निहित होते हैं। प्रवासी व्यक्ति की सामाजिक मान्यतायें उसके मूल देश के अनुरूप निर्मित होती हैं। प्रवास के पश्चात् उसका एक नये प्रकार के समाज के साथ परिचय होता है। ऐसी स्थिति में वह न केवल दोनों की तुलना करता है, बल्कि उसके मन–मस्तिष्क में एक गहरा द्वन्द्व उत्पन्न होता है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवारों की महत्ता, ग्रामीण समाज में निहित गहरी आत्मीयता, प्रकृति एवं पर्यावरण के साथ गहना तादात्म्य, हिन्दू संस्कृति और उसके विभिन्न मूल्य जो गहन सामाजिकता से ओत–प्रोत हैं उसे बरबस आकृष्ट करते हैं। प्रवासी साहित्य में भारतीय समाज के विविध इन्द्रधनुषी स्वरूप का दर्शन एक

महत्त्वपूर्ण सम्वेदना के रूप में अंक्ति मिलता है।

सांस्कृतिक चित्रण– भारतीय संस्कृति विश्व में अनूठी है। गहन नैतिक मूल्यों पर आधारित इस संस्कृति का आधार 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' है। यह भारतीय संस्कृति उपभोगवादी नहीं है बल्कि यह संस्कृति 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' पर आधारित है। धरती, नदी गाँव को माँ, वृक्ष, पर्वत को देवता के रूप में देखने वाली यह संस्कृति पश्चिम की प्रकृति दोहन करने वाली संस्कृति के एकदम विपरीत है। स्वयं में, अन्य मनुष्यों में, पशु–पक्षियों में यहाँ तक कि सम्पूर्ण चराचर जगत में परमात्म तत्त्व के दर्शन करने वाली यह संस्कृति 'सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म' के भाव को पूर्णतः आत्मसात किये हुए है। जब कोई भारतीय किसी अन्य देश में प्रवास करता है तो अपने मन में अपनी संस्कृति के प्रति विशेष मोह, लगाव व आदरभाव अवश्य रखता है। उसके अन्तरतम में अपनी संस्कृति के प्रति गहन निष्ठा का भाव यथावत बना रहता है। यही निष्ठा भाव एक प्रवासी भारतीय को अपनी संस्कृति के प्रति सजग, सतर्क रखने के साथ ही उससे जोड़े रखता है। इस कारण प्रवासी साहित्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण गहरे तादात्म्य के साथ किया गया मिलता है। यह लगाव कभी–कभी तो एक भारतवासी से भी ज्यादा सघन दिखता है क्योंकि प्रवासी भारतीय अपने समय की संस्कृति का अपने मन में संजोकर रखता है और समय के साथ हो रहे परिवर्तन की उसे जानकारी नहीं होती। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि प्रवासी भारतीय उस देश की संस्कृति के साथ अपनी संस्कृति की तुलना एवं मूल्यांकन भी करता रहता है। प्रवासी भारतीय साहित्य की इस प्रवृत्ति को रेखांक्ति करती हुई जया शर्मा लिखती हैं ''अपनी मातृभूमि में रहने वाले दूसरे भाइयों से अलग अप्रवासी मेजबान देश की सामाजिक, सांस्कृतिक परिदृश्य की अपने देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, भूमि से निरन्तर तुलना करते रहते हैं और इन्हीं सामाजिक, सांस्कृतिक विचार दृष्टियों से वे अपने गृहभूमि की संस्कृति का प्रस्तुतीकरण करते हैं और अपनी मेजबान संस्कृति के मायने समझते हैं और इस प्रकार अपनी कहानियों में प्रवासी रचनाकार 'भारत' और 'भारतीयता' का पुनर्निर्माण करते चलते हैं।''

धार्मिक चित्रण– मानव सभ्यता और संस्कृति का धर्म से अभिन्न सम्बन्ध है। धर्म ही मानव जाति को एक विशेष अस्तित्त्व प्रदान करता है। सनातन संस्कृति में तो धर्म को ही मनुष्य जाति की पहचान बताया गया है–

> ''आहार निद्रा भय मैथुनम् च समेतत् पशुर्भिर्नराणाम्
> **धर्मों हि एको अधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना।''**

समाजशास्त्र में भी समाज का आधार धर्म को ही स्वीकार किया गया है। समाज में धर्म ही मानव मूल्यों और आदर्शों को निर्धारित करता है तथा स्वयं ही रक्षक की भूमिका निभाते हुए इनकी रक्षा करता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। प्रवासी भारतीय विदेशों में निवास करते हुए अपनी मातृभूमि एवं संस्कृति से जुड़े रहना चाहते हैं, इसलिए वे धर्म का आश्रय लेते हैं। अतः प्रवासी भारतीयों ने विदेशों में बसने के पश्चात् अपनी धार्मिक अस्मिता को बनाए रखने हेतु सर्वप्रथम परस्पर सहयोग से अपने धार्मिक स्थानों का निर्माण किया इन धार्मिक स्थलों के परिसर में समय–समय पर होने वाले विभिन्न प्रकार के धार्मिक आयोजनों से प्रवासी भारतीयों में निकटता एवं एकता बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण सफलता मिली। इतना ही नहीं ये धार्मिक स्थान विदेश में बसे भारतीयों की धार्मिक पहचान एवं अस्मिता के प्रतीक बनकर भी उभरे। प्रवासी भारतीयों को धर्म से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दों जैसे–धार्मिक लगाव, धार्मिक स्थानों की स्थापना व महत्त्व,

धार्मिक स्थानों की राजनीति, हिन्दू धर्म के प्रति संशय एवं अवहेलनात्मक दृष्टि आदि का निरन्तर सामना करना पड़ता है। ऐसे सभी धार्मिक मुद्दों को प्रवासी साहित्य में अंक्ति किया गया है। प्रवासी भारतीय साहित्य में धार्मिक स्थिति का यथार्थपरक अंकन एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में प्राप्त होता है।

इनके अतिरिक्त प्रवासी भारतीय साहित्य में भारतीयों के प्रवास से सम्बन्धित अन्य बहुत से पक्ष मसलन उनकी आर्थिक परिस्थिति एवं राजनीतिक चेतना आदि भी सम्वेदना का महत्त्वपूर्ण अंग बनकर चित्रित हुए हैं। प्रवास का एक प्रमुख कारक गरीबी है, जिसके कारण प्रवास में भारतीयों को कठिन परिश्रम करते हुए, जीवन की मूलभूत सुविधाओं का अभाव झेलते हुए जीवनयापन करना पड़ता है। उन प्रवासी भारतीयों में आपसी एकता की भावना ने और उनकी पर्याप्त जनसंख्या ने उन्हें एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समुदाय के रूप में स्थापित कर दिया है। मॉरीशस आदि देशों में ही नहीं बल्कि विकसित् देशों में भी अब वे महत्त्वपूर्ण पदों पर पहुँच रहे हैं। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ऋषि सुनक इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। प्रवासी भारतीय साहित्य में इन सभी पक्षों का जीवन्त अंकन प्राप्त होता है।

3.4 विभिन्न देशों का प्रवासी भारतीय साहित्य

संसार के विभिन्न देशों में प्रवासी भारतीयों द्वारा निरन्तर साहित्य सृजन किया जा रहा है। साहित्य लेखन के इतिहास, साहित्यिक कृतियों की मात्रा व अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रवासी भारतीय साहित्य को दो प्रमुख भागों गिरमिटिया देशों एवं विकसित् देशों के आधार पर वर्गीकृत कर मूल्यांक्ति किया जा सकता है।

गिरमिटिया देशों का प्रवासी भारतीय साहित्य– मॉरीशस, फिजी, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिदाद व टोबैगो, दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों को गिरमिटिया देश कहा जाता है, जो मूलतः ब्रिटेन के उपनिवेश थे। इन देशों में अंग्रेजों ने कृषि व अन्य आर्थिक गतिविधियों के संचालन हेतु सस्ते श्रमिकों को ले जाने के लिए 'एग्रीमेण्ट' व्यवस्था लागू की थी। 'गिरमिट' शब्द वस्तुतः 'एग्रीमेण्ट' शब्द का ही विकृत रूप है। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए डॉ. विवेकानन्द शर्मा का कथन है– ''अंग्रेज इन्हें खेती तथा अन्य कार्य कराने के लिए 'कुली' के रूप में ले जाते थे। इसके लिए पाँच वर्षों का 'एग्रीमेण्ट' कराया जाता था, जिसे उच्चारण की सुविधा के लिए प्रवासी भारतीयों ने 'गिरमिट' में रूपान्तरित कर लिया इस प्रकार बाहर ले जाये जाने वाले इन प्रवासी भारतीयों में 'गिरमिटिया' कहा जाने लगा।''

मॉरीशस– मॉरीशस को 'लघु भारत' के रूप में भी सम्बोधित किया जाता है क्योंकि वहाँ भारतीय सभ्यता, संस्कृति, जीवन मूल्य, रहन–सहन, खान–पान आज भी लगभग अपने मूल स्वरूप में विद्यमान है। मॉरीशस का प्रथम भारतीय लेखक पण्डित आत्मा राम विश्वनाथ को माना जाता है जो 'हिन्दुस्तानी' पत्र का सम्पादन करने सन् 1912 में वहाँ पहुँचे थे। मॉरीशस की आरम्भिक हिन्दी कहानियों में सूर्यप्रसाद मंगर भगत की कहानी 'विनाश', वली मोहम्मद की कहानी 'अनबोलती चिड़िया, प्रो. बासुदेव विष्णु दयाल की कहानी 'लुईज', पं. तारकेश्वरनाथ चतुर्वेदी की कहानी 'इन्दो' तथा पं. जय प्रगास शर्मा की कहानी 'तारा' आदि सम्मिलित है। डॉ. वीरसेन जागासिंह ने अपने शोध के आधार पर 'तारा' को मॉरीशस की प्रथम भारतीय कहानी स्वीकार किया है। मॉरीशस की पहली हिन्दी कविता 'गणेशी' उपनाम धारी कवि द्वारा लिखित कविता 'होली' को माना जाता है। उपन्यास लेखन का आरम्भ कृष्णलाल बिहारी के सन् 1960 में प्रकाशित 'पहला कदम' नामक उपन्यास से माना जाता है। उपन्यास लेखन में

अभिमन्यु अनत को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है, उन्हें 'मॉरीशस का प्रेमचन्द' जैसी उपाधि से भी विभूषित किया गया है। इस सम्बन्ध में डॉ. कमल किशोर गोयनका का कथन उल्लेखनीय है– ''वे ही एकमात्र ऐसे हिन्दी लेखक थे, जिन्होंने प्रवासी भारतीय के रूप में सर्वाधिक साहित्य लिखा था तथा जो भारत और मॉरीशस की आत्मा को जोड़ने वाले साहित्य–सेतु थे। भारत के पाठकों का सम्बन्ध अभिमन्यु के साहित्य से 'दो शरीर एक आत्मा' वाला हो गया था, क्योंकि इतिहास की यातनाएँ और मुक्ति की आकांक्षा एवं संघर्ष लगभग एक–सा ही था। प्रेमचन्द और अभिमन्यु में यही समानता है कि दोनों ही धरती के लेखक हैं तथा वे अपने देश की जन–पीड़ा और जनमुक्ति के लेखक हैं। इस कारण वे मॉरीशस के प्रेमचन्द हैं।''

मॉरीशस के प्रवासी साहित्यकारों ने साहित्य की प्रत्येक विधा को अपनाया है और इसे एक नयी दिशा प्रदान की है। इस देश के प्रसिद्ध साहित्यकारों में जय नारायण राय, ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर', मुनीश्वर लाल चिन्तामणि, लक्ष्मी नारायण चतुर्वेदी, 'रसांपुज', मोहन लाल ब्रजमोहन, रामदेव धुरन्धर, भानुमति नागदान, प्रहलाद रामशरण, विष्णुदत्त मधु, सूर्यमंगर भगत, जयश्री दोसिया, हरिनारायण सीता, दीपचन्द बिहारी, अजमिल माताबदल, गिरिजानन रंगू, राजरानी गोबिन, हेमराज सुन्दर, धनराज शम्भू, धर्मवीर घूरा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

फिजी–फिजी में बसे भारतीय अपने साथ विभिन्न धार्मिक व साहित्यिक ग्रन्थ लेकर आये थे, जिनका अध्ययन एवं मन्न उनके दैनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया इस कारण भारत के साथ उनका लगाव आज भी उसी रूप में विद्यमान है। फिजी के प्रवासी भारतीयों की इस विशिष्टता को रेखांक्ति करते हुए शरद कुमार लिखते हैं ''भगवान राम की यह प्रजा अपने साथ मुल्ला दाऊद की 'चन्दायन', जायसी की 'पदमावत' और तुलसी की 'रामचरित मानस' की भाषाई संस्कृति अपने साथ लेकर जा रही थी। साहित्य के नाम पर इनके पास तुलसीकृत 'रामचरितमानस' थी, जिसके भजन आज भी फिजी के खेतों, गाँवों और शहरों में रामायण मण्डलियों द्वारा बड़े ही श्रद्धाभाव से गाये जाते हैं। भगवान राम ने एक सेतु रामेश्वरम् में बनाया था और दूसरा सेतु उनकी प्रजा ने 1879 में भारत और फिजी के लोगों ने बनायाँ मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि यह सेतु आज भी मजबूत है और भविष्य में भी रहेगा।

फिजी में हिन्दी साहित्य का विकास मॉरीशस जैसा नहीं हो पाया, जिसका कारण स्थानीय परिवेश एवं प्रकाशन की सुविधाओं का अभाव आदि है। इसके बावजूद इस देश में हिन्दी व हिन्दी साहित्य निरन्तर समृद्ध हो रहे हैं। फिजी के प्रथम भारतीय लेखक के रूप में तोताराम सनाढ्य को जाना जाता है, जिन्होंने अपने इक्कीस वर्षों के फिजी प्रवास के अपने अनुभवों को सन् 1914 में 'फिजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष', नाम पुस्तक में अंक्ति किया जोगिन्दर सिंह कंवल फिजी के अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, जिन्हें उनके साहित्यिक अवदान के लिए 'फिजी के प्रेमचन्द' उपाधि से विभूषित किया गया है जबकि कमला प्रसाद मिश्र को इस देश का राष्ट्रकवि होने का गौरव प्राप्त है। इस देश के प्रवासी साहित्य को दशा और दिशा प्रदान करने में एक उल्लेखनीय नाम डॉ. विवेकानन्द शर्मा का है। फिजी के अन्य महत्त्वपूर्ण भारतीय साहित्यकारों में पण्डित कमला प्रसाद, अमरजीत कंवल, सरस्वती देवी, बाबूराम 'अरुण' रामनारायण गोविन्द, काशीराम कुमुद, सलीम बख्श, ईश्वर प्रसाद चौधरी, पं. हरीश शर्मा, महावीर मिश्र, महेश चन्द्र शर्मा, ए. ए. शमीम, चन्द्रदेव सिंह, सुखराम, विजयेन्द्र सुधाकर, आर. एस. प्रसाद मुनि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सूरीनाम– भारत के उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यों से सूरीनाम जाने वाले भारतीय अपने साथ अपनी भोजपुरी, अवधी आदि बोलिया भी ले गये थे। वे स्थानीय भाषा का प्रयोग करते समय इन बोलियों के विभिन्न शब्दों का का भी प्रयोग करने लगे। इस कारण भाषा का एक मिला–जुला स्वरूप सामने आया जिसे 'सरनामी हिन्दी' अथवा 'सरनामी' नाम दिया गया है। सरनामी हिन्दी भोजपुरी, अवधी, मगही, ब्रज, डच, अंग्रेजी, उर्दू आदि का मिश्रण है जो आज सूरीनाम में जन साधारण की भाषा है।

सूरीनाम में सरनामी हिन्दी संचार का ही माध्यम नहीं है, बल्कि साहित्य सृजन का भी माध्यम है। इस प्रकार सूरीनाम में हिन्दी व सरनामी हिन्दी दोनों ही भाषाओं में साहित्य लेखन की एक समृद्ध परम्परा का निर्माण हुआ है। सूरीनाम में हिन्दी भाषा के महत्त्व के सन्दर्भ में डॉ. मुकेश कुमार मिरोठा का कथन है– ''सूरीनाम में हिन्दी भाषा की स्थिति सन्तोषजनक मानी जा सकती है। हिन्दी सूरीनाम के भाषिक व्यवहार और साहित्य में झलकती है। वहाँ पर सम्प्रेषण के माध्यम से रूप में हिन्दी का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। हिन्दी फिल्मों और साहित्य ने हिन्दी का प्रचार–प्रसार किया है। सूरीनाम में सामाजिक, सांस्कृतिक, परिवेशगत एवं भाषिक परिवेशगत विशेषताओं में हिन्दी का प्रचलन बढ़ा है।''

सूरीनाम के प्रथम भारतीय कवि मुंशी रहमान खान को स्वीकार किया जाता है। डॉ. पुष्पिता अवस्थी का मत इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है–''सूरीनाम में हिन्दी साहित्य के लेखन की शुरूआत मुंशी रहमान खाँ से होती है। दोहे और कुण्डलियों के वे यशस्वी कवि रहे हैं।'' सूरीनाम में हिन्दी साहित्य का लगभग सभी विधाओं में निरन्तर सृजन हो रहा है, जिसमें काव्य लेखन एक प्रमुख विधा के रूप में स्थापित है। सूरीनाम के महत्त्वपूर्ण लेखकों में प्रेमानन्द भोंदू, पण्डित सूर्यप्रसाद वीरे, रामदेव रघुवीर, जीतनाराइन, सुरजन परोही, आशा राजकुमार, संध्या भग्गू, अमर सिंह रमण, रामनारायण झाव, पं0 हरिदेव सहतू, पं0 रामाधार वैदिक संस्कराचार्य, सतनाराइन सिंह बलदेव, चन्द्रमोहन रणजीत सिंह, राजमोहन, महादेव खुनखुन, अमित अयोध्या, तेज प्रसाद खोई, मार्तिन हरिदास लछमन, उषा गोपी, पण्डिता सुशीला बलदेव मल्हू, तेज प्रसाद खेदूर, सुशीला सुक्खू, देवानन्द शिवराज, धीरज कंधई, रामदेव महाबीर चांदनी आदि के नाम आते हैं।

त्रिनिदाद व टोबैगो– इस देश में बसे भारतवंशियों ने हिन्दी एवं भारतीय संस्कारों को संजोकर रखा है। इन्होंने अपनी रचनाओं में भारतभूमि की स्मृतियों को सहेजकर रखा है और इनके साहित्य में भारतीयता का एक विशिष्ट रूप दिखता है। इस देश के भारतीय साहित्यकारों के योगदान को प्रो. सरोज सिन्हा ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है ''इस धरती के कई प्रवासी भारतीय लाल ऐसे हैं, जिन्होंने अपने अविरल श्रम साहित्य से हिन्दी भाषा का प्रचार–प्रसार किया है। आज की स्थिति यह है कि यहाँ हिन्दी अध्ययन के लिये पुस्तकालय व वाचनालय की समुचित् व्यवस्था है। हिन्दी में कुछ मासिक, साप्ताहिक पत्र–पत्रिकाओं के साथ दैनिक पत्रों का प्रकाशन हो रहा है। वहाँ से अनेक काव्य संग्रह, उपन्यास, नाटक और कहानी संग्रहों का भी प्रकाशन हुआ है।'' इस देश के प्रमुख साहित्यकार प्रो. हरिशंकर आदेश हैं, जिन्होंने साहित्य की लगभग हर विधा में साहित्य सृजन किया है। उनके महत्त्व को रेखांक्ति करते हुए डॉ. कमल किशोर गोयनका का कथन है, ''प्रो. आदेश की लगभग तीन सौ पुस्तकें छपी है– चार महाकाव्य (अनुराग, शकुन्तला, महारानी दमयन्ती व निर्वाण), अठारह खण्ड काव्य, मुक्तक की पचास पुस्तकें, ग्यारह कहानी संग्रह, दो उपन्यास, इकतीस नाटक, चार निबन्ध संग्रह, संगीत की तिरानबे पुस्तकें आदि। प्रो. हरिशंकर आदेश हिन्दी के

प्रवासी साहित्य में सर्वाधिक साहित्य की रचना करने वाले साहित्यकार हैं। महाकवि तो एक वही है और उनका साहित्यिक योगदान भी बहुत अधिक है।'' इस देश के अन्य प्रमुख साहित्यकारों में छोटकन लाल, कुमार सत्यकेतु, सुरेन्द्रनाथ जीवन महाराज, हीरामन फिलिप, हरी मानिक, लायड सिरजू, आर. एल. लखीराम, विष्णु बुधान, लखन साव, आइवन बिसेसर, जीतराम समूज, जॉन जोसेफ कांगली, तेज सिंह रामलखन, रिखी महाराज, आशा मोर, राधिका रघुवीर, कमला रामलखन, उषा प्रीतिमति बुडूसिह, इना बख्श, माला महाराज, फूलमति मानिक सिंह, जगजीत कौर वालिया, इन्द्रा रामलखन, डॉ. रामदत्त रामकिसुन, लीला गणेश, जेन्सी सम्पत, विष्णु बन्धान, कुआरी जोगी हुक्की आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन गिरमिटिया देशों के अतिरिक्त गुयाना व दक्षिण अफ्रीका में भी भारतवंशियों द्वारा निरन्तर साहित्य सृजन किया जा रहा है, किन्तु इन देशों में रचे जा रहे प्रवासी साहित्य पर कोई विशेष अनुसन्धानमूलक कार्य नहीं हुआ है। अतः इन देशों में रचे जा रहे प्रवासी साहित्य पर विशेष टिप्पणी करना सम्भव नहीं है।

विकसित् देशों का प्रवासी भारतीय साहित्य—

ब्रिटेन—ब्रिटेन में प्रवासी हिन्दी साहित्य लेखन का आरम्भ प्रेमचन्द के समकालीन डॉ. धनीराम प्रेम की कहानियों से हो गया था। उनके द्वारा रचित् विभिन्न कहानियों को भारतीय पत्रिकाओं में प्रमुखता से प्रकाशित किया गया ब्रिटेन में प्रवासी भारतीयों द्वारा रचित् साहित्य ने नब्बे के दशक में अपनी पहचान बनानी शुरू की। ब्रिटेन में हिन्दी साहित्य लेखन का आरम्भ कविता—लेखन से हुआ, जिसमें रमा भार्गव का 1985 में प्रकाशित काव्य संग्रह 'प्रवास की प्रतिछाया' नामक काव्य संग्रह उल्लेखनीय है। ब्रिटेन में कथा साहित्य का सृजन बीसवीं शती के अन्त में आरम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के प्रवासी साहित्यकार तेजेन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक देशान्तर की भूमिका में लिखा है। ''1999 तक ब्रिटेन के किसी भी हिन्दी लेखक का अपना कहानी संकलन नहीं प्रकाशित हुआ था।. . . . . . ब्रिटेन का पहला संकलित कहानी संग्रह 'मिट्टी की सुगंध' (सम्पादक—उषा राजे सक्सेना) का प्रकाशन 1999 में हुआ।'' इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य लेखन के लिये उपयुक्त साहित्यिक परिवेश निर्मित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य लेखकों की एक बड़ी संख्या उभरकर सामने आई, जिनमें सत्येन्द्र श्रीवास्तव, कृष्ण कुमार, निखिल कौशिक, नरेश भारतीय, प्राण शर्मा, निखिल कौशिक, भारतेन्दु विमल, गौतम सचदेव, रमा भार्गव, उषाराजे सक्सेना तेजेन्द्र शर्मा, दिव्या माथुर, कीर्ति चौधरी, शैल अग्रवाल, जकिया जुबैरी, कादम्बरी मेहना, कृष्णा अनुराधा, नीना पॉल, पुष्पा भार्गव, तोषी अमृता, राधाकान्त भारती, जय वर्मा, अचला शर्मा जयन्ती प्रसाद, विजय नायर, प्रतिमा डावर आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

अमेरिका—अमेरिका में हिन्दी साहित्य का आरम्भ साठ के दशक से माना जाता है। इस सम्बन्ध में प्रवासी साहित्यकार सुषम बेदी का मत है— ''अमेरिका का हिन्दी कथा साहित्य साठ के दशक में प्रकाश में आया, जब त्रिवेणी (उषा प्रियंवदा, सोमा वीरा, सुनीता जैन) ने विश्व में अमेरिका के कथा साहित्य से परिचित् करायाँ साठ के दशक में त्रिवेणी की लेखनी में अमेरिकी जीवन की झलक साफ दिखाई देती है। इन्होंने भारतीय हिन्दी साहित्य का परिचय एक ऐसे कथा—संसार से करवाया, जो इससे पहले हिन्दी साहित्य में अनजाना था।'' अमेरिका में कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, यात्रा वृत्तान्त व निबन्ध जैसी विभिन्न साहित्यिक विधाओं में साहित्य लेखन हुआ है। इस देश के प्रमुख साहित्यकारों में सुदर्शन प्रियदर्शिनी, शशि पाधा, इला प्रसाद, डॉ. सुधा ओम ढींगरा देवी नागरानी, अनिल प्रभा कुमार, सोमावीरा, पुष्पा सक्सेना, डॉ.

अंजना संधीर, रेखा मैत्र, कल्पना सिंह चिटनिस, पूर्णिमा गुप्ता, लावण्या दीपक शाह, डॉ. अनीता कपूर, राजश्री, उषा देवी विजय कोल्हटर, डॉ. वेदप्रकाश, 'बटुक', रामेश्वर अशान्त, गुलाब खण्डेलवाल, सुषमा मल्होत्रा, डॉ. भूदेव शर्मा देवेन्द्रनाथ शुक्ल, हरि बी. बिन्दल, श्याम नारायण शुक्ल, अमरेन्द्र कुमार, नरेन्द्र कुमार सिन्हा आदि के नाम उल्लेखनीय है।

कनाडा– हिन्दी भाषा व प्रवासी हिन्दी साहित्य कनाडा में धीरे–धीरे अपनी स्थिति को मजबूत कर रहे हैं। कनाडा में हिन्दी भाषा और प्रवासी हिन्दी साहित्य एवं उसके प्रचार–प्रसार में लगी संस्थाओं के महत्त्व का वर्णन करते हुए डॉ. कमल किशोर गोयनका का कथन है–''अमेरिका से जुड़े कनाडा में भी हिन्दी भाषा और साहित्य प्रवासी भारतीयों को एकसूत्र में बांधता है और वहाँ भी हिन्दी साहित्य की रचना एवं हिन्दी तथा पंजाबी आदि भारतीय भाषाओं के प्रचार–प्रसार का अनुकूल वातावरण बन गया है।. . . . . . . वहाँ 'हिन्दी परिषद', 'क्यूबेक हिन्दी संघ', 'विश्व हिन्दू परिषद', हिन्दी साहित्य परिषद', 'नागरी प्रचारिणी सभा', 'सद्भावना हिन्दी साहित्यिक संस्था आदि कई संस्थाएँ हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं हिन्दी भाषा साहित्य के प्रचार–प्रसार के लिए वर्षों से कार्य कर रही हैं।''

स्नेह कुमार कनाडा के प्रसिद्ध प्रवासी साहित्यकार हैं, जिन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में सृजन कार्य किया है। वे सन् 2004 से 'वसुधा' पत्रिका का प्रकाशन कर रही है, जिसमें उन्होंने न केवल कनाडा अपितु विश्व में फैले हुए हिन्दी रचनाकारों की रचनाओं को समय–समय पर प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त शैलजा सक्सेना, डॉ. हंसादीप, नरेन्द्र भागी, प्रो. सरन घई, ललित अहलूवालिया, भगवतशरण श्रीवास्तव, डॉ. रत्नाकर नराले, कृष्ण कुमार सैनी, समीर लाल, जसवीर कलरवी, भारतेन्दु श्रीवास्तव, सन्दीप त्यागी, हरदेव सोढ़ी, सुमन कुमार घई, अमर सिंह जैन, दीप्ति अचला कुमार, मधु वार्ष्णेय, इन्द्राधीर वडेरा तथा भुवनेश्वरी पाण्डेय आदि कई साहित्यकार हैं जो निरन्तर अपने रचना कर्म से हिन्दी भाषा एवं साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

इन देशों के अतिरिक्त अफ्रीका, यूरोप व एशिया के अन्य देशों के साथ खाड़ी देशों में भी हिन्दी साहित्य का सृजन हो रहा है। जिनके सम्बन्ध में शोधपरक लेखन का अभाव है और जिनकी संख्या अभी अल्प ही है। इस कारण प्रस्तुत पाठ में उस पर विचार नहीं किया गया है।

प्रवासी पंजाबी साहित्य– विकसित् देशों के भारतवंशी प्रवासियों में पंजाबियों की संख्या काफी ज्यादा है। ये पंजाबी ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका, जर्मनी, स्वीडन, डेनमार्क, स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रेलिया के साथ अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न देशों में फैले हुए हैं। इन देशों में बसे पंजाबी भाषी समुदाय द्वारा निरन्तर साहित्य सृजन किया जा रहा है जो विशिष्ट और मौलिक होने के साथ–साथ प्रवासी जीवनानुभवों का परिणाम है।

ब्रिटेन– ब्रिटेन के प्रवासी साहित्यकारों ने यूँ तो साहित्य की प्रत्येक विधा में लेखनकार्य किया है, किन्तु उनका अधिक झुकाव कथा साहित्य की ओर ही रहा है। ब्रिटेन में उपन्यास विधा का आरम्भ 1964 में प्रकाशित उपन्यास 'मेरा रूप मेरा नूर' से माना जाता है। जिसके लेखक मनजीत राणा हैं। अन्य प्रवासी साहित्यकारों में शिवचरण गिल, तरसेम नीलगिरि, हरजीत अटवाल, स्वर्ण चन्दन, रघुवीर ढंड, प्रीतम सिद्धू, हरबख्श मक्सूदपुरी, कैलाश पुरी, दर्शन सिंह धीर, मनिन्दर राणा, हरिन्दर सिंह बजाज, पिंकी ग्रेवाल, सोहन सिंह कमल, प्यारा सिंह जख्मी, गुरनाम गिल, महिंदरपाल सिंह धारीवाल, डी. आर. बस्सी, सुरिंदर देहलवी, अवतार सादिक, सुरजीत सहोता, के. सी.

मोहन, रत्न रीहल, गुरदयाल राए आदि के नाम उल्लेखनीय है।

अमेरिका– अमेरिका गदर आन्दोलन का केन्द्र रहा है और इस आन्दोलन के नेतृत्व कर्त्ताओं ने अपने लेखन के माध्यम से भारतवासियों में स्वदेश प्रेम और स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना जगाने का कार्य किया है। इस साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व सन्देह से परे है, जिसके महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए डॉ. सरबजीत सिंह का कथन है– ''ऐतिहासिक तौर पर अमेरिका की धरती से ब्रितानी उपनिवेशवाद से मुक्ति के लिए आरम्भ की गयी लडाई के दौरान रचा गया साहित्य बेशक प्रवासी साहित्य के वर्ग में न आता हो, परन्तु यह साहित्य ऐतिहासिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक महत्त्व वाला अवश्य है। अमेरिकी धरती पर रचे गए इस साहित्य की मुख्य चिन्ता भारतीय मनुष्य, समाज व संस्कृति के साथ अटूट रूप से जुडी हुई है।''

अमेरिका में रह रहे प्रवासी पंजाबी साहित्यकारों ने उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, यात्रा–साहित्य आदि विभिन्न विधाओं में साहित्य सृजन किया है। इस देश के प्रमुख साहित्यकारों में डॉ. जगजीत बराड, हरमिंदर सिंह चहल, प्रो. हरभजन सिंह, मनजीत कौर सेखो, नरजिंदर कौर ढिल्लो, मिन्नी ग्रेवाल, अमरजीत कौर पन्नू, परवेज संधू, गुड्डी धालीवाल, चरणजीत सिंह पन्नू, गुरदयाल सिंह संघा, बलदेव सिंह ग्रेवाल, अमरजीत दर्दी, कमरजीत सिंह मान, ज्ञानी करनैल सिंह, गुरप्रीत धालीवाल, हरिसिंह ढिल्लो इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।

कनाडा– कनाडा में प्रवासी पंजाबी साहित्य का आरम्भ छठें दशक से माना जाता है। केसर सिंह को यहाँ के पंजाबी साहित्य का जनक स्वीकार किया जाता है। इनका उपन्यास 'लहर वधदी गई' (लहर बढ़ती गई) उपन्यास 1953 ई. में प्रकाशित हुआ था। केसर सिंह के अधिकांश उपन्यासों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं एवं व्यक्तियों का वर्णन हुआ है। रविन्दर रवि को कनाडा का पृथक प्रवासी पंजाबी कहानीकार स्वीकार किया जाता है। इनका प्रथम कहानी संग्रह 'जित्थे दीवारा नहीं' (जहाँ दीवारें नहीं) शीर्षक से सन् 1978 में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् ऐसे बहुत से साहित्यकार कनाडा में रहने पहुँचे, जो भारत में रहते हुए साहित्य सृजन में जुड़े हुए थे। इन साहित्यकारों ने अपने प्रवासी अनुभवों को साहित्य की विभिन्न विधाओं में अंक्ति किया है। कनाडा के प्रमुख प्रवासी साहित्यकारों में बलवीर सिंह मोमी, हरभजन सिंह पवार बलबीर कौर संघेडा, नदीम परमार, सुशील कौर, जरनैल सिंह सेखा, त्रिलोचन सिंह गिल, अवतार रोडे, निर्मल सिंह मेहरोक, खोजी काफिर, इकबाल रामूवालिया, कुलजीत मान, मेजर मांगर, अवतार गिल, सुरजीत कलसी, डॉ. अमरजीत सिंह, कुलविन्दर खेहरा, हरचन्द सिंह बागड़ी, बरजिंदर ढिल्लो, अनमोल कौर, जोगिंदर सिंह शमशेर, कश्मीरा सिंह चमन, सतवंत दीपक, बरजिंदर गुलाटी, इकबाल माहल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रवासी पंजाबी साहित्य– विकसित् देशों के भारतवंशी प्रवासियों में पंजाबियों की संख्या काफी ज्यादा है। ये पंजाबी ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका, जर्मनी, स्वीडन, डेनमार्क, स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रेलिया के साथ अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न देशों में फैले हुए हैं। इन देशों में बसे पंजाबी भाषी समुदाय द्वारा निरन्तर साहित्य सृजन किया जा रहा है जो विशिष्ट और मौलिक होने के साथ–साथ प्रवासी जीवनानुभवों का परिणाम है।

ब्रिटेन– ब्रिटेन के प्रवासी साहित्यकारों ने यूँ तो साहित्य की प्रत्येक विधा में लेखनकार्य किया है, किन्तु उनका अधिक झुकाव कथा साहित्य की ओर ही रहा है। ब्रिटेन में उपन्यास विधा का आरम्भ 1964 में प्रकाशित उपन्यास 'मेरा रूप मेरा नूर' से माना

जाता है। जिसके लेखक मनजीत राणा हैं। अन्य प्रवासी साहित्यकारों में शिवचरण गिल, तरसेम नीलगिरि, हरजीत अटवाल, स्वर्ण चन्दन, रघुवीर ढंड, प्रीतम सिद्धू, हरबख्श मक्सूदपुरी, कैलाश पुरी, दर्शन सिंह धीर, मनिन्दर राणा, हरिन्दर सिंह बजाज, पिंकी ग्रेवाल, सोहन सिंह कमल, प्यारा सिंह जख्मी, गुरनाम गिल, महिंदरपाल सिंह धारीवाल, डी. आर. बस्सी, सुरिंदर देहलवी, अवतार सादिक, सुरजीत सहोता, के. सी. मोहन, रत्न रीहल, गुरदयाल राए आदि के नाम उल्लेखनीय है।

अमेरिका– अमेरिका गदर आन्दोलन का केन्द्र रहा है और इस आन्दोलन के नेतृत्व कर्त्ताओं ने अपने लेखन के माध्यम से भारतवासियों में स्वदेश प्रेम और स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना जगाने का कार्य किया है। इस साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व सन्देह से परे है, जिसके महत्त्व पर टिप्पणी करते हुए डॉ. सरबजीत सिंह का कथन है– ''ऐतिहासिक तौर पर अमेरिका की धरती से ब्रितानी उपनिवेशवाद से मुक्ति के लिए आरम्भ की गयी लडाई के दौरान रचा गया साहित्य बेशक प्रवासी साहित्य के वर्ग में न आता हो, परन्तु यह साहित्य ऐतिहासिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक महत्त्व वाला अवश्य है। अमेरिकी धरती पर रचे गए इस साहित्य की मुख्य चिन्ता भारतीय मनुष्य, समाज व संस्कृति के साथ अटूट रूप से जुडी हुई है।''

अमेरिका में रह रहे प्रवासी पंजाबी साहित्यकारों ने उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, यात्रा–साहित्य आदि विभिन्न विधाओं में साहित्य सृजन किया है। इस देश के प्रमुख साहित्यकारों में डॉ. जगजीत बराड, हरमिंदर सिंह चहल, प्रो. हरभजन सिंह, मनजीत कौर सेखो, नरजिंदर कौर ढिल्लो, मिन्नी ग्रेवाल, अमरजीत कौर पन्नू, परवेज संधू, गुड्डी धालीवाल, चरणजीत सिंह पन्नू, गुरदयाल सिंह संघा, बलदेव सिंह ग्रेवाल, अमरजीत दर्दी, कमरजीत सिंह मान, ज्ञानी करनैल सिंह, गुरप्रीत धालीवाल, हरिसिंह ढिल्लो इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।

कनाडा– कनाडा में प्रवासी पंजाबी साहित्य का आरम्भ छठें दशक से माना जाता है। केसर सिंह को यहाँ के पंजाबी साहित्य का जनक स्वीकार किया जाता है। इनका उपन्यास 'लहर वधदी गई' (लहर बढ़ती गई) उपन्यास 1953 ई. में प्रकाशित हुआ था। केसर सिंह के अधिकांश उपन्यासों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं एवं व्यक्तियों का वर्णन हुआ है। रविन्दर रवि को कनाडा का पृथक प्रवासी पंजाबी कहानीकार स्वीकार किया जाता है। इनका प्रथम कहानी संग्रह 'जित्थे दीवारा नहीं' (जहाँ दीवारें नहीं) शीर्षक से सन् 1978 में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् ऐसे बहुत से साहित्यकार कनाडा में रहने पहुँचे, जो भारत में रहते हुए साहित्य सृजन में जुड़े हुए थे। इन साहित्यकारों ने अपने प्रवासी अनुभवों को साहित्य की विभिन्न विधाओं में अंक्ति किया है। कनाडा के प्रमुख प्रवासी साहित्यकारों में बलवीर सिंह मोमी, हरभजन सिंह पवार बलबीर कौर संघेडा, नदीम परमार, सुशील कौर, जरनैल सिंह सेखा, त्रिलोचन सिंह गिल, अवतार रोडे, निर्मल सिंह मेहरोक, खोजी काफिर, इकबाल रामूवालिया, कुलजीत मान, मेजर मांगर, अवतार गिल, सुरजीत कलसी, डॉ. अमरजीत सिंह, कुलविन्दर खेहरा, हरचन्द सिंह बागड़ी, बरजिंदर ढिल्लो, अनमोल कौर, जोगिंदर सिंह शमशेर, कश्मीरा सिंह चमन, सतवंत दीपक, बरजिंदर गुलाटी, इकबाल माहल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

3.6 राष्ट्र की अवधारणा

राष्ट्र मृण्मय एवं चिन्मय तत्त्वों का सामाजिक रूप है। मृण्मय तत्त्व इसका मूर्त रूप हैं, जिसका सम्बन्ध देश के जन, भूभाग, पर्वत, वन, सरिता, पशु–पक्षी आदि से है। दूसरा

पक्ष देश की अखण्ड चिन्तन धारा से संयुक्त है। इस चिन्मय तत्त्व के दो पक्ष हैं। एक पक्ष सर्जनात्मक है जो देश की समूची परम्परा को निर्मित करता है इसमें देश का धर्म, दर्शन, अध्यात्म, साहित्य, संगीत, कला आदि आते हैं। दूसरा पक्ष संहारात्मक जिसकी दो स्तर पर सक्रियता है। राष्ट्र का अस्तित्त्व जब पराधीनता के कारण संकटग्रस्त् होता है तब संहारात्मक सृजन शक्ति से क्रान्ति कर उसकी प्रतिष्ठा की जाती है।
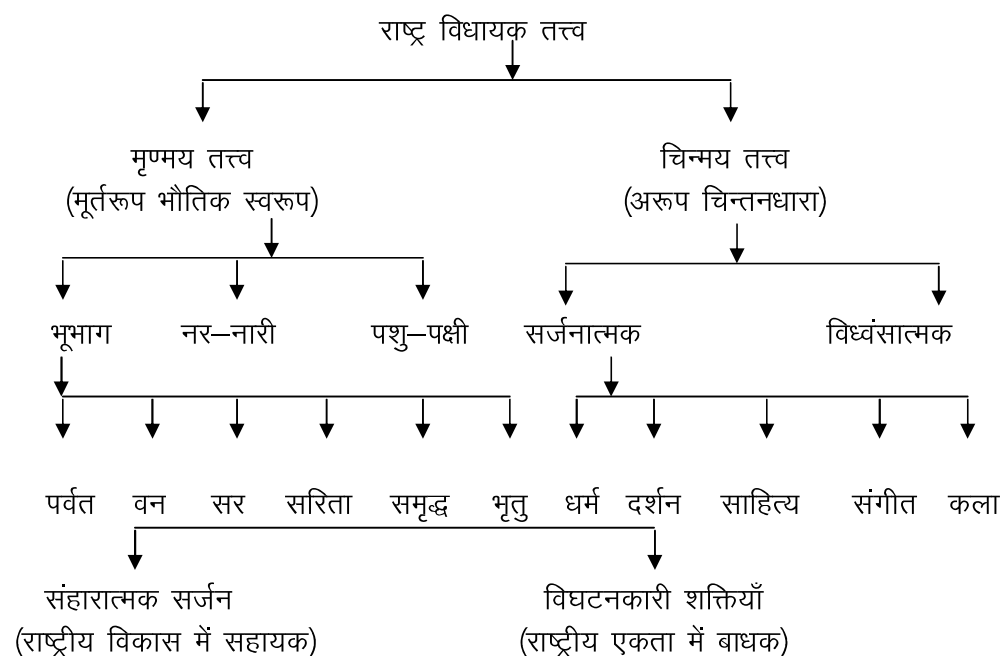
राष्ट्र के मृण्मय तत्त्वों से लगाव के कारण ही किसी समुदाय में राष्ट्र के प्रति प्रेम विकसित् होता है, जो उसके विचार प्रक्रिया का अंग बनते हुए चिन्मय तत्त्वों में परिवर्तित हो जाता है। अपनी धरती, प्रकृति, नदी आदि से प्रेम की यह भावना वैदिक समुदाय में भी थी और उन्होंने यहाँ की नदियों आदि को अपने से जुड़ा हुआ मानता रहा। इसे लक्षित करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा– "The LUnguage in which reference to the seven rivers is made in the Rigveda (x.75.5) is very significUnt no foreigner woud everAddressA river in such familiarAnd endaring termsAs my Ganga, my Yamuna, my Sarsa¡ti, unless by longAssociation he had devlopedAn emotionAbout it."

राष्ट्रवाद की अवधारणा–

राष्ट्र के प्रति भावनात्मक जुड़ाव राष्ट्रवाद के रूप में समझा जाता है। राष्ट्रवाद एक बहुअर्थी शब्द है। जय प्रकाश नारायण ने कहा है कि राष्ट्रीयता के दो तत्त्व होते हैं– प्रकट तथा अप्रकट तत्त्व उनकी मान्यता है कि राष्ट्र निर्माण वस्तुतः प्रकट तत्त्वों के आधार पर होता है जिसकी अभिव्यक्ति निम्नलिखित मानसिक प्रवृत्तियों के आधार पर होती है (क) उस मानसिक प्रवृत्ति का होना, जिसके आधार पर समूह एवं सम्प्रदाय की अनुरक्ति की अपेक्षा राष्ट्र की अनुरक्ति की सर्वोच्चता की भावना नागरिकों की सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति बन जाय। (ख) उस मानसिक प्रवृत्ति का पाया जाना जिसके आधार पर राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य अपने समूह अथवा सम्प्रदाय के हितों को राष्ट्रीय हित के समक्ष सहजता पूर्वक गौण माने (ग) उस मानसिक प्रवृत्ति का होना जिसके आधार पर राष्ट्र को प्रत्येक समूह एवं सम्प्रदाय के नागरिकों के हितों का सहज एवं स्वाभाविक ध्यान हो।

आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार ''वह जाति जिसके एक ही पूर्वज हों, जो एक ही भाषा बोलती है जिसका एक इतिहास, एक संस्कृति हो जो एक ही शासित् सीमित राज्य भूमि के निवासी हों राष्ट्र के अन्तर्गत आती है।''

राष्ट्रवाद वर्तमान में एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली सम्प्रत्यय है। यह सम्प्रत्यय न केवल सभ्यता, मानवता, औचित्य कृपा तथा भक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रत्युत स्वयं मानव जीवन से अधिक अर्थगर्भित है। यह किसी एक विशेष राष्ट्र के लिए ही नहीं अपितु सभी राष्ट्रों के लिये समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक परिधि तक ही परिसीमित नहीं होता, बल्कि जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित होता है। पशु और मनुष्य में यह अन्तर होता है कि मनुष्य केवल भोजन एवं प्रजनन तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि उसके अन्दर अपनी मातृभूमि के लिये, अपने राष्ट्र के लिए प्रेम होता है। यहाँ तक कि उसके सत्य एवं उसके ईश्वर बहुधा राष्ट्रीय बन जाते हैं। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्रभक्ति से 'आत्मा का उन्नयन' होता है जिससे व्यक्ति सामान्य व्यक्तियों की श्रेणी से ऊपर उठ जाता है। यदि किसी व्यक्ति की राष्ट्र के लिये मृत्यु हो जाती है तो उसे 'भव्य रमणीयता' से सम्बोधित किया जाता है। राष्ट्र के नाम पर अपने प्राणों का उत्सर्ग करने वालों को महान् व्यक्ति समझा जाता है। इतिहास में उसके कार्यों की प्रशंसा की जाती है।

3.7 भारत का राष्ट्रवाद

राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक 'दी कल्चर एण्ड आर्ट ऑफ इण्डिया' में लिखा है कि 'भारत के निवासियों को एक सूत्र में बाँधे रखने का काम धर्मसम्मत राज्य और धर्मसम्मत समाज की वैदिक धारणा के समान एक सार्वभौम अथवा चक्रवर्ती सम्राट के अधीन एकाधि राज्य की राजनीतिक धारणा ने भी किया है। इस अवधारणा का उद्‌भव भी वैदिक काल में ही हुआ था। भारत का आदर्श शस्त्रास्त्रों द्वारा एक साम्राज्य की स्थापना नहीं अपितु समृद्धि एवं अनुशासन द्वारा एक सांस्कृतिक राज्य का निर्माण करना था।'' स्पष्ट है कि भारत में प्रारम्भ से ही राष्ट्र का आधार धर्म एवं संस्कृति रहा है। आगे चलकर यही प्रवृत्ति औपनिवेशिक काल में विस्तार पाती है। बाल गंगाधर तिलक ने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की महानता पर आधारित राष्ट्रवाद का समर्थन किया था और उन्होंने हिन्दू धर्म को वेदान्त पर आधारित विश्व–धर्म के रूप में दर्शाया था। तिलक के शब्दों में–'ईश्वर तथा हमारा देश भिन्न नहीं है, हमारा देश ईश्वर का ही एक रूप है।'

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द भी धर्म को राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता का प्राण तत्त्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार–''हिन्दुओं के अनुसार वास्तविक वस्तु है व्यक्ति को मुक्त मार्ग पर बढ़ने के लिए पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता यही हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य है।. . . . . हमारा धर्म ही हमारे राष्ट्रीय जीवन का आधार है।. . . . . राष्ट्र का प्राण कहाँ है– वह धर्म में है। भारतीय राष्ट्र का प्राण धर्म है, उसका भाव धर्म है।'' पं. महामना मालवीय भी राष्ट्रवाद की किसी धारणा को नहीं स्वीकारते जो हिन्दू धर्म के आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो।'

3.8 हिन्दू राष्ट्रवाद : उद्‌भव एवं विकास

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के आरम्भिक दौर में ही राष्ट्रवादी विचारकों ने पूरे देश को एक सूत्र में गूँथने के लिए विभिन्न धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन चलाये। कांग्रेस के आरम्भिक दौर में लाल बाल पाल के नाम से प्रसिद्ध नेताओं– लाला

लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक एवं बिपिन चन्द्र पाल ने स्वतन्त्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया इनमें लाला लाजपत राय आर्यसमाज से प्रभावित थे और उन्होंने सुधारवादी आर्यसमाज आन्दोलन की स्थापना की। उनका मत था कि हिन्दू समाज को जाति व्यवस्था, महिलाओं की स्थिति और अस्पृश्यता से लड़ाई लड़ने की जरूरत है। उनका मानना था कि वेद हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है अतः सभी को वेदों को पढ़ने, सीखने और उनके मन्त्रों का उच्चारण करने की अनुमति दी जानी चाहिए बाल गंगाधर तिलक ने ब्रिटिश राज के विरोध में 'पूर्ण स्वराज' की मांग उठाई थी। भारतीय जनता के एकीकरण के लिये उन्होंने महाराष्ट्र में गणेश उत्सव तथा शिवाजी उत्सव सप्ताह मनाने की शुरूआत की। इन उत्सवों के माध्यम से वे जनता में देशप्रेम और अंग्रेजों के अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की चेतना भरने का कार्य किया विपिनचन्द्र पाल ने हिन्दू धर्म के सुधार का समर्थन किया था और जाति प्रथा का विरोध और विधवा विवाह का समर्थन किया था। इस प्रकार स्वतन्त्रता आन्दोलन अपने आरम्भिक दौर में ही हिन्दू चेतना से प्रभावित होता दिखाई देता है।

श्रीअरविन्द ने भी 1907 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बंगाल प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया अपने प्रसिद्ध उत्तरपारा भाषण में, उन्होंने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन के सार और लक्ष्य को इस रूप में अभिव्यक्त किया–''मैं अब यह नहीं कहता कि राष्ट्रवाद एक पंथ है, एक धर्म है। एक आस्था है, मैं कहता हूँ कि यह सनातन धर्म है जो हमारे लिए राष्ट्रवाद है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म के साथ पैदा हुआ है, उसी के साथ चलता है, उसी के साथ यह बढ़ता है। जब सनातन धर्म का पतन होता है तब राष्ट्र का पतन होता है और यदि सनातन धर्म नष्ट होने में सक्षम होता, तो सनातन धर्म के साथ ही यह भी नष्ट हो जाता'' अपने इसी भाषण में उन्होंने हिन्दू धर्म के व्यापक स्वरूप का भी वर्णन किया– ''जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि वह सार्वभौमिक धर्म है जो सभी को अपने में समाहित कर लेता है। यदि कोई धर्म सार्वभौमिक नहीं है तो वह शाश्वत भी नहीं हो सकता।. . . . यह एक ऐसा धर्म है जो विज्ञान की खोजों और दर्शन की अटकलों को शामिल करके और पूर्वानुमान लगाकर भौतिकवाद पर विजय प्राप्त कर सकता है।''

विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के रूप में भारत को एक हिन्दू राष्ट्र के रूप में निर्मित करने का सपना देखा। उन्होंने हिन्दू में भारतवर्ष के देशभक्त निवासियों के रूप में व्याख्यायित किया इस सम्बन्ध में उन्होंने हिन्दू, जैन, सिख और बौद्ध धर्म को एक और समान माना। उन्होंने भारत वर्ष की 'अखण्ड भारत' के रूप में परिकल्पना की जो सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के रूप में है। सावरकर ने हिन्दू को एक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक पहचान से जोड़ा।

केशव बलिराम हेडगेवार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, सावरकर, तिलक, श्रीअरविन्द आदि विचारकों से प्रभावित थे और उन्होंने हिन्दुओं की सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत् को भारतीय राष्ट्रीयता के आधार के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। हेडगेवार के अनुसार भारत एक प्राचीन सभ्यता है और भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष का उद्देश्य इसे 800 वर्ष के विदेशी शासन (पहले मुगल और फिर ब्रिटिश) से मुक्त कराना और हिन्दू राष्ट्र के रूप में स्थापित करना है।

श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने 21 अक्टूबर 1951 को भारतीय जनसंघ की स्थापना की और इसके पहले अध्यक्ष बने। यह दल भारत के मुसलमानों के तुष्टीकरण का विरोध करता था। इस दल ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये एक समान नागरिक संहिता का समर्थन किया गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगाना और जम्मू कश्मीर राज्य को संविधान में

प्रदत्त विशेष दर्ज को समाप्त करना इस दल के प्रमुख उद्देश्य थे। जनसंघ वैचारिक रूप से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के करीब था और व्यापक रूप से इसे हिन्दू राष्ट्रवाद की राजनीतिक शाखा माना जाता था।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के दूसरे प्रमुख एम. एस. गोलवलकर ने अपनी पुस्तक 'बंच ऑफ थॉट्स' में धार्मिक बहुलवाद पर बल दिया– ''जहाँ तक इस भूमि की राष्ट्रीय परम्परा का सवाल है, यह कभी नहीं मानती कि पूजा पद्धति में बदलाव के साथ, कोई व्यक्ति इस धरती का पुत्र नहीं रह जाता है और उसके साथ विदेशी जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए यहाँ इस भूमि में भगवान को किसी भी नाम से पुकारे जाने या कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस मिट्टी में सभी धर्मों और धार्मिक विश्वासों के लिए प्यार और सम्मान निहित है। वह इस मिट्टी का बेटा बिल्कुल नहीं हो सकता जो अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु है।

दीनदयाल उपाध्याय भारतीय जनसंघ के संस्थापक सदस्य थे। उन्होंने जनसंघ के अधिकारिक राजनीतिक सिद्धान्त का मसौदा तैयार किया गया, जिसे 'एकात्म मानववाद' के नाम से जाना जाता है। इस दर्शन में मानव, पशु या पादप वर्ग की सभी विभिन्न आत्माओं की एकता का विचार प्रस्तुत किया गया इसके द्वारा नस्ल, वर्ण, जाति तथा धर्म पर आधारित विविधता को अस्वीकार किया गया और सभी मनुष्यों को एक उस बड़े जैविक समुदाय का एक अंग माना गया जो राष्ट्रीय विचार की एक सामान्य चेतना को साझा करते हैं। यह दर्शन स्वदेशी संस्कृति को राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना के साथ एकीकृत करने का समर्थन करता है। इसके अनुसार भारत द्वारा अपनाए जाने वाले किसी भी राजनीतिक दर्शन या विकास के किसी मॉडल की पृष्ठभूमि का निर्माण भारतीय संस्कृति की मूलवस्तु तथा इसकी अद्वितीयता द्वारा किया जाना चाहिए

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के परवर्ती विचारकों एच. वी. शेषाद्रि और के. एस. राव आदि ने 'हिन्दू राष्ट्र' शब्द की गैर धार्मिक प्रकृति पर जोर दियाँ एच. वी. शेषाद्रि ने एक पुस्तक में लिखा–''चूँकि हिन्दू राष्ट्र एक धार्मिक अवधारणा नहीं है, इसलिए यह एक राजनीतिक अवधारणा भी नहीं है। इसे आम तौर पर एक धार्मिक राज्य या एक धार्मिक हिन्दू राज्य के रूप में गलत समझा जाता है। राष्ट्र और राज्य पूरी तरह से अलग है और इन्हें कभी भी मिश्रित नहीं किया जाना चाहिए'' हिन्दू राष्ट्र का सिद्धान्त पंथनिरपेक्षता एवं लोकतन्त्र की अवधारणाओं के साथ पूर्णतः साम्य रखता है।

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना के बाद हिन्दूत्व और हिन्दू राष्ट्र की चेतना का नया उभार दिखता है। भारतीय जनता पार्टी ने जनसंघ की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए अपनी राजनीति शुरू की और राम मन्दिर आन्दोलन के द्वारा भारत में हिन्दू चेतना के उभार को एक नयी दिशा प्रदान की। नब्बे के दशक में राम मन्दिर आन्दोलन पूरे देश में फैला था। लालकृष्ण आडवाणी ने रथयात्रा आरम्भ की, जिसमें भारत के वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी पूरी यात्रा में उनके साथ थे। इस आन्दोलन ने भारत में एक अलग किस्म की चेतना उत्पन्न की और राजनीति का एक नया अध्याय शुरू किया इसके परिणामस्वरूप अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में केन्द्र में एक ऐसी सरकार बनी जिसका चरित्र राष्ट्रीय था और जो हिन्दूत्व की बुनियाद पर अपनी विचारधारा निर्मित करता था। अटल बिहारी वाजपेयी ने हिन्दू होने के अपने अभिमान को अपनी रचनाओं में चित्रित किया उनकी प्रसिद्ध कविता है– 'हिन्दू तन–मन, हिन्दू–जीवन, रग–रग हिन्दू मेरा परिचय' जिसमें उन्होंने हिन्दू धर्म की मूल चेतना और भावना को स्वर दियाँ 1995 में अपने एक ऐतिहासिक फैसले में भारत के सर्वोच्च

न्यायालय ने हिन्दूत्व को एक जीवन पद्धति के रूप में व्याख्यापित किया ''आमतौर पर हिन्दूत्व को एक जीवनशैली या मन की स्थिति के रूप में समझा जाता है और इसे धार्मिक हिन्दू कट्टरवाद के रूप में समझा या समझा नहीं जा सकता है।'' इस प्रकार हिन्दूत्व राजनीति की मुख्य धारा में आ गया वाजपेयी और आडवाणी की विरासत् को नरेन्द्र मोदी द्वारा आगे बढ़ाया गया नरेन्द्र मोदी ने अपने प्रधानमंत्रित्व में भाजपा और जनसंघ के राजनीतिक वायदों में से प्रमुख जम्मू–कश्मीर की संविधान में विशेष स्थिति को समाप्त कर दिया है। इसी प्रकार रामन्दिर के निर्माण के लिये जो आन्दोलन नब्बे में चला था उसको परिणति तक पहुँचाया है। आज अयोध्या में श्रीराम मन्दिर का निर्माण हो रहा है और उसमें प्रभु श्रीराम (रामलला) की प्राण–प्रतिष्ठा हो चुकी है। भारत के प्रधानमन्त्री द्वारा अपनी धार्मिक आस्था एवं विश्वास को पर्याप्त महत्त्व और सम्मान दिया गया है। चुनावी लाभ के लिये तुष्टीकरण की नीति को त्यागकर 'सबाक साथ सबका विकास' के नारे के साथ भारत के विकास की एक नई पृष्ठभूमि तैयार की जा रही है।

3.9 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप प्रवासी साहित्य, संस्कृति और हिन्दू राष्ट्रवाद सम्बन्धी अवधारणाओं से अवगत हो पाये होंगे। आपने यह पढ़ा कि प्रवास मनुष्य जाति के विकास के इतिहास को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख कारक है। जब कोई मनुष्य अपने मूल देश से जीविकोपार्जन या अन्य कारणों से किसी दूसरे देश में जाकर रहने लगता है तो उस प्रक्रिया को प्रवास कहते हैं और ऐसा व्यक्ति प्रवासी कहलाता है। प्रवासी व्यक्ति अपनी मूल संस्कृति, भाषा एवं भूमि के प्रति गहन रागात्मकता का अनुभव करता है और उसे संजोकर रखना चाहता है। बेगानी धरती और संस्कृति से विलगाव का अनुभव करता प्रवासी भारतीय अपने मन में 'भारत' और 'भारतीयता' बचाकर रखता है। यही 'प्रवासी चेतना' कहलाती है।

प्रिय विद्यार्थियों, आपने इस इकाई में पढ़ा कि 'प्रवासी चेतना' ही 'प्रवासी साहित्य' की मूल सम्वेदना है। इसीलिए प्रवासी साहित्य में 'भारत' और 'भारतीयता' का सघन आत्मीयता से चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रवासी साहित्य में विस्थापन से जुड़ी पीड़ा और सांस्कृतिक संघर्ष का भी चित्रण मिलता है। आपने इसी क्रम में प्रवासी साहित्य के विभिन्न पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त की और विभिन्न देशों के प्रमुख प्रवासी साहित्यकारों का परिचय प्राप्त किया विभिन्न प्रवासी देशों में प्रवाहमान भारतीय संस्कृति का भी आपने अध्ययन किया।

इकाई के अन्तिम भाग में आपने राष्ट्रवाद की अवधारणा को समझा और भारतीयता के साथ उसके अन्तर्सम्बन्ध को परखा। आपने हिन्दू राष्ट्रवाद के विचार के आरम्भ और विकास का अध्ययन किया और जाना कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय ही हिन्दू मान्यताओं और प्रतीकों का प्रयोग जनता में एकता का भाव लाने के लिए किया जाने लगा था। आगे चलकर श्रीअरविन्द और हेडगेवार जैसे विचारकों ने राष्ट्रीयता को हिन्दूत्व के साथ जोड़कर देखा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना इसी विचार की परिणति थी। स्वाधीन भारत में जनसंघ एवं भारतीय जनता पार्टी के नेताओं और चिन्तकों– श्यामा प्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय आदि ने इस विचार को आगे बढ़ाने का कार्य किया राममन्दिर आन्दोलन और राममन्दिर का पुनर्निर्माण तथा राजनीति में हिन्दू प्रतीकों, मान्यताओं और आस्थाओं का प्रयोग इसी विचारधारा की उपज है।

3.10 पारिभाषिक शब्दावली

प्रवास–अपना देश छोड़कर दूसरे देश में निवास करना

प्रवासी– अपना देश छोड़कर दूसरे देश में निवास करने वाला व्यक्ति

भारतवंशी–भारत भूमि में उत्पन्न हुआ व्यक्ति एवं उसकी सन्ततियाँ

गिरमिटिया–भारत से दूसरे देश में मजदूरी के लिये 'एग्रीमेंट' करके गये हुए भारतीय

मृण्मय तत्त्व–भौतिक तत्त्व जो प्रत्यक्ष हैं

चिन्मय तत्त्व–वैचारिक तत्त्व जो अमूर्त हैं और चिन्तन से जुड़े हैं।

3.11 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. हिन्दी का प्रवासी साहित्य, कमल किशोर गोयनका, स्वराज प्रकाशन।
2. देशान्तर : प्रवासी भारतीयों की कहानियाँ, सम्पादक तेजिंदर शर्मा, हिन्दी अकादमी।
3. प्रवासी भारतीयों में हिन्दी की कहानी, सम्पादक डॉ. सुरेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ।
4. प्रवासी साहित्य : भाव और विचार, सम्पादक– संध्या, साहित्य संचय
5. प्रवासी हिन्दी कथा साहित्य, केदार कुमार मण्डल, ईशा ज्ञानदीप
6. मॉरीशस की हिन्दी कहानियाँ, सम्पादक– कमलकिशोर गोयनका, साहित्य अकादमी।
7. सूरीनाम का सृजनात्मक साहित्य, सम्पादक– पुष्पिता अवस्थी, साहित्य अकादमी।
8. बदेशी पंजाबी साहित, सम्पादक–डॉ. सुरिंदर पाल सिंह, गुरुनानकदेव यूनिवर्सिटी।
9. Hindu Nationalism : Origins, IdeologiesAnd Modern Myths, Chetan Bhatt, Berg Publishers.
10. Hindu Nationalism in India : IdeologyAnd Politics, Bidyut Chakrabarty, Bhu¡n Kumar Jha, Routledge.
11. The HIndu Nationalist Movement in India, christophe Jaffrelot, Columbia University Press.
12. Decolonizing the Hindu Mind, KoerÙoad East Rupa.
13. प्रवासी भारतीयों की हिन्दी सेवा, डॉ. कैलाश कुमारी, अविराम प्रकाशन
14. ब्रिटेन में हिन्दी, उषाराजे सक्सेना, मेधा बुक्स।
15. हिन्दी का भारतीय एवं प्रवासी महिला कथा लेखन, मधु संधु, नमन प्रकाशन
16. सागर पार भारतीय संस्कृति और हिन्दी, डॉ. कामला कमलेश, शिल्यायन
17. प्रवासी हिन्दी साहित्य : वैश्विक परिदृश्य, डॉ. नवनीत कौर, हरियाणा ग्रन्थ अकादमी
18. प्रवासी भारतीयों में हिन्दी की कहानी, सम्पादक– डॉ. सुरेन्द्र गम्भीर, भारतीय ज्ञानपीठ।

3.12 बोध प्रश्न

1. प्रवासी चेतना को बताते हुए प्रवासी साहित्य से उसके सम्बन्ध का विश्लेषण करिये?
2. गिरमिटिया देशों के प्रवासी साहित्य का परिचय दीजिए?
3. विकसित् देशों के प्रवासी साहित्य का परिचय दीजिए?
4. प्रवासी साहित्य के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कीजिए?
5. राष्ट्रवाद की परिभाषा देते हुए उसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
6. हिन्दू राष्ट्रवाद के विचार का स्वाधीनता पूर्व के विकास का वर्णन कीजिए?
7. हिन्दू राष्ट्रवाद विचार के स्वाधीनता पश्चात् विकास का वर्णन कीजिए?